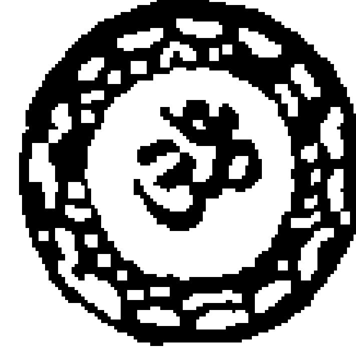




अथर्ववेद

चतुर्थ भाग

(अथर्ववेदके काण्ड ११ से १८ तक)

[मूल मंत्र, अर्थ, स्पष्टीकरण और सुभाषितोंका संग्रह
और उनके उपयोग करनेकी विधिके साथ]

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

अध्यक्ष- स्वाध्याय मण्डल, साहित्य-वाचस्पति, गीतालंकार

स्वाध्याय मण्डल, पारडी

★

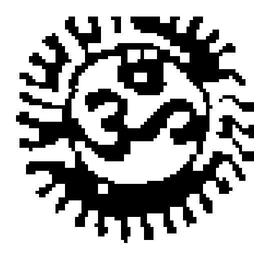
मूल्य १०) रु

प्रकाशक
वसन्त श्रीपाद सातवळेकर बी. ए.,
स्वाध्याय मंडल
पोस्ट- स्वाध्याय मंडल (पारडी) पारडी [जि. सूरत]

संवत् २०१५ : शक १८८० : सन् १९५८

तृतीय बार

मुद्रक :
वसन्त श्रीपाद सातवळेकर बी. ए.,
भारत मुद्रणालय स्वाध्याय मंडल
पोस्ट- स्वाध्याय मंडल (पारडी) पारडी [जि. सूरत]



अथर्ववेदके सुभाषित

सूक्ति-संग्रह

विभाग ४ काण्ड ११ से १८ तक

इस चतुर्थ भागमें काण्ड ११ से १८ तकके सुभाषितोंका संग्रह है। इसमें कुछ प्रकरण हैं। वस्तुतः इस विभागमें प्रकरण-विभागसे ही काण्ड विभाग है। इसलिये सुभाषित भी प्रायः इसी क्रमसे दिये हैं। कुछ सुभाषित उनके अर्थोंके अनुसार इधर उधर किये हैं। शेष काण्ड विभागके अनुसार ही रखे हैं। प्रथम ईश्वर विषयके सुभाषित देखो—

ईश्वर

उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम् (११।७।२)— ईश्वरमें द्यु, पृथिवी तथा जो बना है वह सब स्थिर रहा है।

ऋक्साम यजुरुच्छिष्टे (११।७।५)— ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेद इस ईश्वरमें रहे हैं।

नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः (११।७।१४)— नौ भूमियाँ सब समुद्र ईश्वरके आधारसे रहे हैं।

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च। भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले (११।७।१७)— सत्य ऋत तप राष्ट्र श्रम धर्म कर्म भूत भविष्य वीर्य लक्ष्मी, बलिष्ठका बल यह सब परमेश्वरके आधारसे रहा है।

यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः (११।७।२३)— जो प्राणसे जीवित है जो आंखसे देखता है जो द्युलोकमें या अन्यत्र देव हैं वे सब परमेश्वरसे उत्पन्न हुए हैं।

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे (११।७।२४)— ऋग्वेद सामवेद छन्द यजुर्वेदके साथ पुराण ये सब परमेश्वरसे बने हैं।

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे (११।७।२५)— प्राण अपान आंख कान भौतिक तथा अभौतिक पदार्थ ये सब परमेश्वरसे बने हैं।

आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे (११।७।२६)— आनंद मोद विशेष आनन्द प्रकाश आनन्द, सुख ये सब परमेश्वरसे ही बने हैं।

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे (११।७।२७)— देव पितर मनुष्य गंधर्व अप्सराएं ये सब परमेश्वरसे बनी हैं।

यो रोहितो विश्वमिदं जजान स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु (१३।१।१)— जिस देवने यह सब उत्पन्न किया वह तुम इस राष्ट्रके लिये उत्तम भरण-पोषण पूर्वक धारण करे।

द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः (१३।१।२६)— द्यु और पृथिवीका बनानेवाला एक देव है।

य इमे द्यावापृथिवी जजान यो द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते (१३।३।१)— जो द्यु और पृथ्वीको उत्पन्न करता है और जो सब भुवनोंका कवच चोला बनाकर पहनता है।

यो मारयति प्राणयति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा (१३।३।३)— जो जीवित रखता है और मारता है जिससे सब भुवन जीवित रहते हैं।

य इदं विश्वं भुवनं जजान (१३।३।१५)— जिसने यह सब भुवन बनाया है।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः (१३।३।२४)— जो आत्मबल देता है और जो बल देता है, सब देव जिसकी आज्ञा मानते हैं।

कीर्तिश्च यशश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च य एतं देवमेकवृतं वेद (१३।४।१४)— कीर्ति यश अवकाश ब्रह्मतेज अन्न खानपान यह सब उसको मिलता है जो इस एक देवको जानता है।

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते (१३।५।१६)— वह दूसरा तीसरा चौथा नहीं है।

स एष एक एकवृदेक एव (१३।५।२०)— वह देव एक है एकमात्र है केवल एक ही है।

सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति (१३।५।२१)— इसमें सब देव एकरूप होते हैं।

महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन् (१८।१।२)— बडे ईश्वरके पुत्रोंका धारण करनेवाले वीर पुत्र पृथ्वीपर ऐसे कुसंबंधका निषेध करते हैं।

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं जनानां राजानं भीममुपहत्नुमुग्रम् (१८।१।४०)— रथमें बैठनेवाले भयंकर उग्र शत्रुको मर्मस्थानमें मारनेवाले लोगोंके राजाकी स्तुति करो- रुद्रदेवकी स्तुति करो।

मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यमस्मत् ते नि वपन्तु सेन्यम् (१८।१।४०)— हे रुद्र! स्तुति करनेपर स्तुति करनेवालेको सुखी कर हमसे भिन्न दूसरे पर तेरा सैन्य हमला करे।

धन

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा। इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः (११।१।२८)— यह मेरा अविनाशी तेजस्वी सुवर्ण है यह मेरी कामधेनु है यह धन मैं ब्राह्मणोंमें धरता हूं। यह पितरोंमें स्वर्गीय मार्ग मैं करता हूं।

एतं शुश्रुम गृहराजस्य भागं (११।१।२९)— यह श्रेष्ठ घरका भाग है ऐसा हम सुनते हैं।

अथो विद्म निर्ऋतेर्भागधेयम्— और यह विपत्तिका मार्ग है ऐसा जानते हैं।

घृतेन गात्रानु सर्वा वि मृड्ढि (११।१।३१)— घीसे सब गात्र शुद्ध कर।

विश्वे देवा अभि रक्षन्तु पक्वं (११।१।३३)— सब देव पके अन्नका रक्षण करें।

धेनु सदनं रयीणां (११।१।३४)— गौ धनोंका घर है।

प्रजामृतत्वमुत दीर्घमायुः रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम (११।१।३४)— संतान अमरत्व दीर्घ आयु, धन पोषणके साधनोंके साथ तेरे पास आते हैं।

इषं दधानो, वहमानो अश्वैः, आ स द्युमां अमवान् भूषति द्यून् (१८।१।१७)— अन्नका धारण करनेवाला, घोडोंके वाहनसे आनेवाला तेजस्वी और बलवान् दिनोंको (अपने व्यवहारसे) सुशोभित करता है।

पत्नी

एमा अगुर्योषितः शुम्भमानाः (११।१।१४)— ये स्त्रियां सुशोभित होकर आ गई हैं।

उत्तिष्ठ नारि तवसं रभस्व— स्त्री उठ बलको धर।

सुपत्नी पत्या— पतिके साथ रहकर उत्तम पत्नी बन।

प्रजया प्रजावती— संतानसे संतानवाली हो।

अयं यज्ञो गातुविद् नाथविद् प्रजाविदुग्रः पशुविद् वीरविद् वो अस्तु— (११।१।१५)— यह यज्ञ आपके लिये मार्गदर्शक ऐश्वर्यवर्धक प्रजा देनेवाला, पशु देनेवाला उग्रता देनेवाला और पुत्र पौत्र देनेवाला हो।

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमाः (११।१।१७)— ये स्त्रियां शुद्ध पवित्र और पूजनीय हैं।

बह्वीं प्रजां बहुलान् पशून् नः— हमें संतान और बहुत पशु दे देवें।

ब्रह्मणा शुद्धा उत पूता घृतेन सोमस्यांशवस्तण्डुला यज्ञिया इमे (११।१।१८)— ज्ञानसे पवित्र घीसे शुद्ध, सोमके अंश ये चावल यज्ञके लिये योग्य हैं।

उदेहि वेदि प्रजया वर्धयैनां (११।१।२१)— हे वेदि! इसको उन्नत कर प्रजासे इस स्त्रीको बढाओ।

नुदस्व रक्षः— राक्षसोंको दूर कर।

प्रतरं धेह्येमाम्— इस स्त्रीको विशेष उन्नत कर।

धिया समानानति सर्वान्स्याम— जिससे हम सब समानोंसे विशेष हों।

अधस्पदं द्विषतस्पादयामि— द्वेष करनेवालोंको नीचे गिराते हैं।

मा त्वा प्रापत् शपथो माभिचारः (११।१।२१)— तुझे शाप प्राप्त न हो और वध भी तेरे पास न आवे।

अभ्यावर्तस्व पशुभिः सहैनाम् (११।१।२२)— इस पत्नीको पशुओंके साथ प्राप्त हो।

स्वे क्षेत्रे अनमीवा वि राज— अपने क्षेत्रमें नीरोग होकर विराजो।

अखंडां शुक्रामुप धेहि नारि तत्रौदनं सादय दैवानाम् (११।१।२३)— शुद्ध न टूटी थालीको दे स्त्री! चूल्हेपर रख उसमें देवोंके लिये अन्न पकाओ।

ते मा रिषन् प्राशितारः (११।१।२४)— इस अन्नको पीनेवाले नष्ट न हों। (उनमें रोग न हो।)

दयाशील स्त्री

अहं पचाम्यहं ददामि ममेदु कर्मन् करुणेऽधि जाया कौमारो लोको अजनिष्ट पुत्रोऽन्वारभेथां वय उत्तरावत् (१२।३।४७)— मैं पकाता हूं, मैं देता हूं मेरी पत्नी दयाके कर्ममें मग्न रहती है हमें कुमार पुत्र उत्पन्न हुआ है। उस अवस्था प्राप्त करता हुआ उच्च जीवन व्यतीत करो।

दान

ददामीत्येव ब्रूयात् (१२।४।१)— देता हूं देता ही कहना चाहिये।

पापसे बचाव

ते नो मुञ्चन्त्वंहसः (११।६।१-२२ — वे हमें पापसे बचावें।

न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनमृतं वदन्तो अनृतं रपेम (१८।१।४)— जो पहिले किया नहीं वह अब कैसा करें सत्य बोलनेवाले असत्य भाषण कैसे करें?

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति (१८।१।९)— देवोंके दूत यहां जो चलते हैं वे न ठहरते हैं न आंखें बंद करते हैं (वे पापीको पकडते ही हैं।)

●

पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् (१८।१।१४)— बहिनके पास जाना पाप कहलाता है।

पुत्रकामना

अग्नीदर्धं पचति पुत्रकामा (११।१।१)— पुत्रकी इच्छा करनेवाली माता ज्ञान बढानेवाला अन्न पकाती है।

अद्रोघाविता वाचमच्छ (११।१।२)— द्रोह न करनेवालोंकी रक्षा करनेकी भाषा बोल।

पृतनाषाट् सुवीरो येन देवा असहन्त दस्यून् (११।१।२)— सेनाका पराभव करनेवाला उत्तम वीर है, इससे देव शत्रुओंका पराभव करते हैं।

अजनिष्ठा महते वीर्याय (११।१।३)— बडे पराक्रम करनेके लिये जन्म लो।

अस्मै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ— सब पुत्रपौत्रोंके साथ रहनेवाला धन इसको दो।

विद्वान् देवान् यज्ञियां एह वक्षः (११।१।४)— हे विद्वान् यज्ञीय देवोंको यहां ले आ।

स्तृणुत द्विषतः सपत्नान् (११।१।५)— द्वेष करनेवाले सपत्नोंको दूर कर।

सजातांस्ते बलिहृतः कृणोतु (११।१।६)— सजातियोंको कर देनेवाले करे।

अनुष्कोर्मा महते वीर्याय (११।१।७)— महान् पराक्रम करनेके लिये ऊंची प्रेरणा कर।

गच्छेम सुकृतस्य लोकं (११।१।८)— पुण्यकर्म करनेवालेके लोकको हम जायं।

ऊर्ध्वं प्रजामुद्भरन्त्युदूह (११।१।९)— प्रजाका उद्धार करनेके लिये ऊपर उठाओ।

धिया समानानति सर्वान् स्याम (११।१।११)— बुद्धिसे हम सब समानोंसे आगे बढेंगे।

अधस्पदं द्विषतस्पादयामि— शत्रुको नीचे गिराते हैं।

पशु पालन

मा नो हिंसिष्ट द्विपदो मा चतुष्पदः (११।२।१)— हमारे द्विपाद चतुष्पादोंकी हिंसा न करो।

प्राण

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे (११।४।१)— जिसके अधीन सब है उस प्राणके लिये नमस्कार करता हूं।

य इदं विश्वं भुवनं जजान (१३।१।१५)— जिसने यह सब भुवन बनाया है।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः (१३।३।२४)— जो आत्मबल देता है और जो बल देता है, सब देव जिसकी आज्ञा मानते हैं।

कीर्तिश्च यशश्च अम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च य एतं देवमेकवृतं वेद (१३।५।१७)— कीर्ति, यश, जल, आकाश, ब्रह्मतेज, अन्न, खानपान यह सब उसको मिलता है जो इस एक देवको जानता है।

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते (१३।५।१६)— वह दूसरा, तीसरा, चौथा नहीं है।

स एष एक एकवृदेक एव (१३।५।२०)— वह देव एक है, एकमात्र है, केवल एक ही है।

सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति (१३।५।२१)— इसमें सब देव एकरूप होते हैं।

महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन् (१८।१।२)— वह ईश्वरके पुत्रोंका धारण करनेवाले और पुत्र पृथ्वीपर ऐसे कुलंवशका निर्वाह करते हैं।

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं जनानां राजानं भीममुपहत्नुमुग्रम् (१८।१।४०)— हृदयमें बैठनेवाले भयंकर तथा शत्रुओं सर्वत्रसे मारनेवाले लोगोंके राजाकी स्तुति करो- रुद्रदेवकी स्तुति करो।

मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यमस्मत् ते नि वपन्तु सेन्यम् (१८।१।४०)— हे रुद्र! स्तुति करनेपर स्तुति करनेवालेको सुखी कर। हमसे भिन्न दूसरे पर तेरा सैन्य हमला करे।

धन

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा। इदं धनं नि दध ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः (११।१।२८)— यह मेरा अविनाशी सुवर्ण है, यह मेरी कामधेनु है, यह धन मैं ब्राह्मणोंमें रखता हूं। यह पितरोंमें स्वर्गके मार्ग में करता हूं।

एतं सुधसं गृहराजस्य भागं (११।१।१९)— यह श्रेष्ठ भाग है ऐसा हम सुनते हैं।

अथो पितृ निर्मलेमर्गापेयम्— और वह निष्पाप मार्ग है ऐसा जानते हैं।

घृतेन गात्रानु सर्वा वि मृड्ढि (११।१।३१)— घीसे सब गात्र शुद्ध कर।

विश्वे देवा अभि रक्षन्तु पक्वं (११।१।३२)— सब देव पके अन्नका रक्षण करें।

धेनुं सदनं रयीणां (११।१।३४)— गौ धनोंका घर है।

प्रजामृतत्वमुत दीर्घमायू रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम (११।१।३४)— संतान, अमरत्व, दीर्घ आयु, धन पोषणके साधनोंके साथ तेरे पास आते हैं।

इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे। यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः (१०।८।२६)—

इदं वपावो, वद्ममासो मनीषां, मा स दुर्गा अमवान् भूपति युम् (१८।१।२७)— अपना धारण करनेवाला, लोगोंके आदमसे जानेवाला तेजस्वी और बलवान् दिनोंको (अपने व्यवहारसे) सुशोभित करता है।

पत्नी

एमा अगुर्योषितः शुम्भमानाः (११।१।१४)— ये स्त्रियां सुशोभित होकर आ गई हैं।

उत्तिष्ठ नारि तवसं रभस्व— स्त्री बल उठके कर।

सुपत्नी पत्या— पतिके साथ रहकर उत्तम पत्नी बन।

प्रजया प्रजावती— संतानसे संतानवाली हो।

अयं यज्ञो गातुविद् नाथवित्, प्रजाविदुग्रः पशुविद् वीरविद् वो अस्तु— (११।१।१५)— यह यज्ञ आपके लिये मार्गदर्शक, देवदर्शक, प्रजा देनेवाला, पशु देनेवाला, उग्रता देनेवाला और पुत्र पौत्र देनेवाला हो।

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमाः (११।१।१७)— ये स्त्रियां शुद्ध पवित्र और पूजनीय हैं।

बहुः प्रजां बहुमान् पशून् नः— हमें संतान बहुत पशु दे दे।

प्रजया शुद्धा उत पूता भूतेन सामस्पोषाय तन्तुला यज्ञिया इम (११।१।१८)— इनसे पवित्र बीते युग, सोमके अंश व बालक बढ़के लिये योग्य हैं।

उद्धेहि वेदिं प्रजया वर्धयैनां (११।१।२१)— हे वेदि! इनको ऊपर कर, बढ़ाने हम बीतो बढ़ाओ।

नुदस्व रक्षः— राक्षसोंको दूर कर।

मातृभूमि

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति (१२।१।१)— सत्य बृहत् ऋत उग्र वीरता दीक्षा तप ज्ञान और यज्ञ ये गुण मातृभूमिका रक्षण करते हैं।

सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु— वह भूत और भविष्यकी पालन करने वाली मातृभूमि हमारे लिये विशेष विस्तृत कार्यक्षेत्र देवे।

असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु (१२।१।२)— जिस मातृभूमिके मानवोंमें ऊंचा-नीचा होनेपर भी समानता बहुत है इस कारण लड़ते नहीं हैं।

पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः— हमारी मातृभूमि हमारे धनकी वृद्धि करे।

यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः (१२।१।३)— जिस मातृभूमिमें किसान मिलकर खेती करके अन्न उपजाते हैं।

सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु— वह हमारी मातृभूमि हमें अपूर्व पेय देवे।

सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु (१२।१।४)— वह हमारी मातृभूमि हमें गौओं और अन्नमें धारण करे।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे (१२।१।५)— जिस मातृभूमिमें प्राचीन पूर्वजोंने बहुत पराक्रम किये थे।

यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्— जिस मातृभूमिमें देवोंने असुरोंका पराभव किया था।

गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु— गौवें घोड़े और पक्षियोंका जो स्थान है वह मातृभूमि हमें ऐश्वर्य और तेज देवे।

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् (१२।१।७)— जिस मातृभूमिका रक्षण देव प्रमाद न करते हुए सदा करते रहते हैं।

सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा— वह मातृभूमि हमें प्रिय मधुर रस देवे और तेजसे युक्त करे।

यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः (१२।१।८)— जिस मातृभूमिकी कौशलयुक्त कर्मोंसे बुद्धिमान् लोग सेवा करते हैं।

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे— वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें तेज और बल धारण करे।

विष्णुर्यस्यां विचक्रमे (१२।१।१०)— विष्णु जिस मातृभूमिमें पराक्रम करता रहा।

इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः— शक्तिके स्वामी इन्द्रने जिस मातृभूमिको शत्रुरहित किया।

अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् (१२।१।११) —अपराजित अहत और अक्षत होकर मैं इस मातृभूमिका अध्यक्ष होऊंगा।

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः (१२।१।१२)— मेरी माता भूमि और मैं इस मातृभूमिका पुत्र हूं।

सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना (१२।१।१३)— वह हमारी मातृभूमि बढ़ाई जानेपर हमारा संवर्धन करे।

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद् योऽभिदासान्मनसा, यो वधेन। तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि (१२।१।१४)— हे मातृभूमे! जो हमारा द्वेष करता है जो हमपर सैन्य भेजता है जो मनसे हमें दास बनाना चाहता है जो वध करता है हे अनुगामी करनेवाली! उसका नाश कर।

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः (१२।१।१५)— तेरेसे उत्पन्न हुए मानव तेरे ऊपर संचार करते हैं। तू द्विपाद और चतुष्पादोंका पालन करती है।

तवेमे पृथिवि पञ्च मानवाः— ये पांचों प्रकारके मानव तेरे ही पुत्र हैं।

ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृतां। शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा (१२।१।१७)— धर्मसे धारण की हुई शुभकल्याणकारिणी मातृभूमिकी हम सर्वदा सेवा करेंगे।

मा नो द्विक्षत कश्चन (१२।१।१८)— हमारा कोई द्वेष न करे।

त्विषीमन्त संशितं मा कृणोतु (१२।१।२१)— मातृभूमि मुझे तेजस्वी और तीक्ष्ण करे।

भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः (१२।१।२२) —भूमिमें सब मनुष्य धारक पोषक अन्न खानेसे जीवित रहते हैं।

सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु— यह हमारी मातृभूमि मेरे अन्दर प्राण और दीर्घ आयु धारण करे और मुझे वृद्धावस्थातक जीवित रहनेवाला करे।

तेन मा सुरभिं कृणु (१२।१।२३)— मातृभूमी उस सुवाससे मुझे सुगन्धयुक्त करे।

तस्मै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः (१२।१।२६)— उस सुवर्ण अपने अन्दर धारण करनेवाले मातृभूमिके लिये मैं नमन करता हूं।

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु (१२।१।३०)— शुद्ध जल हमारे शरीरके लिये बहे।

यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः— जो दुष्ट है उसको अप्रिय अवस्थामें रखते हैं।

पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि— हे पृथिवी! पवित्रतासे मैं अपने आपको पवित्र करता हूं।

स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः (१२।१।३१)— सब दिशायें भूमपर चलनेवाले मुझे सुखदायक हो भूमिपर रहनेवाले मुझे कोई न गिरावे।

स्वस्ति नो भूमे भव (१२।१।३२)— हे मातृभूमे! तू हमारे लिये कल्याण करनेवाली हो।

मा विदन् परिपन्थिनः— शत्रु हमें न जाने।

वरीयो यावया वधम्— वध हमसे दूर जाय।

मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरी (१२।१।३४)— सबको आश्रय देनेवाली मातृभूमि! मेरी हिंसा न कर।

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः (१२।१।३९)— प्राचीनकालका इतिहास बनानेवाले ऋषियोंने जिसकी तेरी स्तुति गायी।

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे (१२।१।४०) — वह भूमि हमें वह धन देवे जो हम चाहते हैं।

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः (१२।१।४१)— विशेष प्रेरित हुए वीर जिस भूमिमें आनन्दसे गाते और नाचते हैं।

युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः— जिस मातृभूमिमें युद्ध किये जाते हैं और जिसमें दुन्दुभि बजता है।

सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नान्— वह मातृभूमि हमारे शत्रुओंको दूर करे।

असपत्नं मा पृथिवि कृणोतु— मातृभूमि मुझे शत्रु रहित बनावे।

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते (१२।१।४३) — जिस मातृभूमिके नगर देवोंके बनाये हैं, जिसके खेतमें मनुष्य नाना कार्य करते हैं।

प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु— प्रजापालक सब पदार्थोंको अपनेमें धारण करनेवाली हमारी मातृभूमिको प्रत्येक दिशामें रमणीय बनावे।

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे (१२।१।४४)— अनेक प्रकारका धनका खजाना धारण करनेवाली हमारी मातृभूमि हमें रत्न और सुवर्ण देवे।

वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना— धन देनेवाली प्रकाशमान् देवी मातृभूमि प्रसन्नचित्तसे हमें धन देवे।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् (१२।१।४५)— अनेक भाषा बोलनेवाले नाना धर्मोंवाले लोगोंको जो एक घरमें रहनेवालोंके समान धारण करती है।

सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती (१२।१।४५)— वह हमारी मातृभूमि न हिलनेवाली गौके समान हमें धनकी सहस्रों धाराएं देवे।

यच्छिवं तेन नो मृड (१२।१।४६)— जो कल्याण करनेवाला है उससे हमें सुख दे।

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे। यैः संचरन्ति उभये भद्रपापाः तं पन्थानं जयेम अनमित्रमतस्करं (१२।१।४७)— जो बहुतसे मार्ग आने-जानेके और रथके हैं जिनपर सज्जन और दुर्जन जाते हैं, वे मार्ग शत्रुरहित और चोररहित हों।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्। अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः (१२।१।५४)— मैं विजयी और अपनी मातृ

भूमिपर श्रेष्ठ हूं। सब प्रकारका पराक्रम करनेवाला प्रत्येक दिशामें विजयी हूं।

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्। ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते (१२।१।५६)— जो ग्राम हैं जो अरण्य हैं जो सभाएं और समितियां होती हैं जो युद्ध होते हैं उनमें मैं हे मातृभूमि! तेरे विषयमें उत्तम भाव रखनेवाला भाषण करूंगा।

यद्वदामि मधुमत्तद्वदामि (१२।१।५८)— जो बोलूंगा वह मीठा ही बोलूंगा।

त्विषीमानस्मि जूतिमान् अवान्यान् हन्मि दोधतः— मैं तेजस्वी हूं, और प्रगति करनेवाला हूं। जो हमारी भूमिको दुःख देते हैं उन शत्रुओंको मैं मारता हूं।

यत्त ऊनं तत्त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य (१२।१।६१)— हे मातृभूमि! जो तेरे अन्दर न्यून है उसकी परिपूर्णता सत्यका प्रथम प्रवर्तक प्रजापति करता है।

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः (१२।१।६२)— हे मातृभूमि! तुम्हारे अन्दर रहनेवाले लोग नीरोग रहें और तुम्हारी सेवा करनेके लिये तुम्हारे पास उपस्थित रहें।

दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमानाः— हम ज्ञानी हों और हमारी आयु दीर्घ हो।

वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम— हम तुम्हारे लिये अपना बली देनेवाले हों।

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् (१२।१।६३)— हे मातृभूमे! मुझे कल्याणसे संयुक्त कर।

संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्— मतिविज्ञ ज्ञानवाली होकर तू मुझे पृथिवीमें संपत्तिमें रख (भरपूर संपत्ति दो।)

युद्ध

ये बाहवो या इषवो धन्वनां वीर्याणि च। असीन् परशूनायुधं चित्ताकूतं च यद्धृदि। सर्वं तदर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरु उदारांश्च प्र दर्शय (११।९।१)— जो वीरोंके बाहु बाण धनुष्य पराक्रम तलवारें कुल्हाडियां आयुध, हृदयमें जो विचार हैं हे सेनापते! तू यह सब शत्रुओंको दिखाओ और स्फोटक बम भी दिखाओ। (जो देख कर शत्रु घबरा जाय और युद्धसे पराङ्मुख हो।)

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वम् (११।९।२)— उठो, तैयार हो जाओ।

संहिता गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राणि— जो हमारे मित्र हों वे उत्तम रीतिसे देखे और सुरक्षित रहें।

उत्तिष्ठतमा रभेथामादानसंदानाभ्याम् अमित्राणां सेना अभि धत्तम् (११।९।३)— उठो आरम्भ करके युद्ध शुरू करो और शत्रुकी सेनाको पकडो।

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह। भञ्जन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परि वारय॥ (११।९।५)— हे देवजन सेनापते! तू सेनाके साथ उठो। शत्रुकी सेनाको अपनी पकडोंसे पकडकर नष्ट कर।

उत्तिष्ठ सेनया (११।९।६)— सेनाके उठो।

प्रतिघ्नानाश्रुमुखी कृधुकर्णी च क्रोशतु। विकेशी पुरुषे हते (११।९।७)— छाती पीटती आंखोंमें अश्रुवाली कानमें आभूषण न हों ऐसी पुरुष मरने पर स्त्रियें आक्रन्दकी ध्वनि भी आक्रोश करें।

अथो सर्वं श्वापदं मक्षिका तृप्यतु क्रिमिः। पौरुषेयेऽधि कुणपे रदिते अर्बुदे तव (११।९।१०)— हे सेनापते तेरा आक्रमण होनेपर जो मृत रणक्षेत्रमें पडेंगे उनपर सब पशु, मक्खियां, क्रिमी तृप्त होते रहें।

मुह्यन्त्वेषां बाहवः चित्ताकूतं च यद्धृदि। मैषामुच्छेषि किं चन रदिते अर्बुदे तव। (११।९।१२)— हे सेनापति! तेरा आक्रमण होनेपर शत्रुओंमेंसे कोई न रहे उनके बाहु मोहित हों उनके मनमें जो हो वह भी नष्ट बने।

उद्वेपय त्वमर्बुदेऽमित्राणाममूः सिचः। जयांश्च जिष्णुश्चामित्रां जयताम् (११।९।१८)— शत्रुके सेनादलोंको कंपायमान करो शत्रुको जीतो उत्तम वीर विजयी हों।

तयार्बुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वरं वरम् (११।९।२०)— प्रेरित हुए शत्रुसेनाके मुख्य मुख्य वीरको मारो।

सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु— यह हमारी मातृभूमि मुझे प्राण और दीर्घ आयु धारण करे और मुझे वृद्धावस्थातक जीवित रहनेवाला करे।

तेन मा सुरभिं कृणु (१२।१।२३)— मातृभूमी उस सुगन्धसे मुझे सुगन्धयुक्त करे।

तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः (१२।१।२६)- उस सुवर्ण अपने अन्दर धारण करनेवाली मातृभूमिके लिये मैं नमन करता हूं।

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु (१२।१।३०)— शुद्ध जल हमारे शरीरके लिये बहे।

यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः— जो दुष्ट है उसको अप्रिय अवस्थामें रखते हैं।

पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि— हे पृथिवी! पवित्रसे मैं अपने आपको पवित्र करता हूं।

स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु, मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः (१२।१।३१)— सब दिशायें घूमनेवाले मुझे सुखदायक हों भूमिपर रहनेवाले मुझे कोई न गिरावे।

स्वस्ति नो भूमे भव (१२।१।३२)— हे मातृभूमे! तू हमारे लिये कल्याण करनेवाली हो।

मा विदन् परिपन्थिनः— शत्रु हमें न जाने।

वरीयो यावया वधम्— वध हमसे दूर जाय।

मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरी (१२।१।३४)— सबको आश्रय देनेवाली मातृभूमि! मेरी हिंसा न कर।

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः (१२।१।३९)- प्राचीनकालका इतिहास बनानेवाले ऋषियोंने वाणीसे तेरी स्तुति गायी।

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे (१२।१।४०)— वह भूमि हमें वह धन देवे जो हम चाहते हैं।

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः (१२।१।४१)— विशेष प्रेरित हुए और जिस भूमिमें आनन्दसे गाते और नाचते हैं।

युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः— जिस मातृभूमिमें युद्ध किये जाते हैं और जिसमें दुन्दुभि बजता है।

सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नान्— यह मातृभूमि हमारे शत्रुओंको दूर करे।

असपत्नं मा पृथिवी कृणोतु— मातृभूमि मुझे शत्रुरहित बनावे।

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते (१२।१।४३)— जिस मातृभूमिके नगर देवोंके बनाये हैं, जिसके क्षेत्रमें मनुष्य नाना कार्य करते हैं।

प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु— प्रजापालक सब पदार्थोंको अपनेमें धारण करनेवाली हमारी मातृभूमिको प्रत्येक दिशामें रमणीय बनावे।

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे (१२।१।४४)— अनेक प्रकारका धन खजाना धारण करनेवाली हमारी मातृभूमि हमें रत्न और सुवर्ण देवे।

वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना— धन देनेवाली प्रकाशमान् देवी मातृभूमि प्रसन्नचित्तसे हमें धन देवे।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् (१२।१।४५)— अनेक भाषा बोलनेवाले नाना धर्मोंवाले लोगोंको जो एक घरमें रहनेवालोंके समान धारण करती है।

सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती (१२।१।४५)— यह हमारी मातृभूमि न हिलनेवाली गौके समान हमें धनकी हजारों धाराएं देवे।

यच्छिवं तेन नो मृड (१२।१।४६)— जो कल्याण करनेवाला है उससे हमें सुख दे।

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे। यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं (१२।१।४७)— जो बहुतसे मार्ग आने-जानेके और रथके हैं जिनसे सज्जन और दुर्जन जाते हैं वे मार्ग शत्रुरहित और चोररहित हों।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्। अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः (१२।१।५४)— मैं विजयी और अपनी मातृ

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते (११।८।३२) —इसलिये ज्ञानी इस पुरुषको यह ब्रह्म है ऐसा मानता है।

सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते— सब देवताएँ यहाँ गोशालामें जैसी गायें रहती हैं वैसी रहती हैं।

रोग-निवारण

इदं सीसं भागधेयं त एहि (१२।२।१)— यह सीसा तेरा भाग्य है।

यो गोषु यक्ष्मः पुरुषेषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकमधराङ् परेहि— जो क्षयरोग गौओंमें और पुरुषोंमें होगा उसको तुम दूर कर।

यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि (१२।२।२)— क्षयरोगको और मृत्युको दूर करता हूँ।

निरितो मृत्युं निर्ऋतिं निररातिमजामसि (१२।२।३) —हम मृत्यु दुःख और शत्रुको दूर करते हैं।

यो नो द्वेष्टि तमद्ध्यग्ने— जो हमारा द्वेष करता है हे अग्ने ! उसे खा जा।

त्वा ब्रह्मणस्पतिरावपद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय (१२।२।६)— ज्ञान पति तुझे सौ वर्षकी दीर्घायु देवे।

ते ते यक्ष्मं सवेदसो दूराद्दूरमनीनशम् (१२।२।१०) — ये देव तेरे क्षयरोगको दूरसे दूर करके नष्ट करें।

शुद्धा भवत यज्ञियाः (१२।२।१)— शुद्ध और पूजनीय बनो।

इहेमे वीरा बहवो भवन्तु (१२।२।२१)— यहाँ ये वीर बहुत हों।

अभूद् भद्रा देवहूतिर्नो अद्य (१२।२।२२)— हमारी देव प्रार्थना आज कल्याणकारिणी हो गयी है।

प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय (१२।२।२२)— नाचने और हँसनेके लिये हम आगे बढ़ें।

सुवीरासो विदथमा वदेम— उत्तम वीर बनकर युद्धका विचार करेंगे।

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् (१२।२।२३)— मनुष्यप्राणियोंके लिये यह आयुर्मर्यादा मैंने दी है बीच बचकर इस आयु रूपी धनका कोई नाश न करे।

* [अथर्व ५ भा. ४]

शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन— सौ वर्षोंका दीर्घकाल लोग जीवित रहें और पर्वतके द्वारा (पीठकी रीढ़के द्वारा) मृत्युको दूर रखें।

आ रोहत आयुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति स्थ (१२।२।२४)— वृद्ध अवस्थाका स्वीकार करते हुए दीर्घायुको प्राप्त करो एकके पीछे दूसरे सिद्धितक यत्न करो।

तान् वः त्वष्टा सुजनिमा सजोषाः सर्वमायुर्नयतु जीवसाय— उत्तम जन्मवाला कल्याणी त्वष्टा आप सबको दीर्घ जीवनके लिये पूर्ण आयुतक ले जावे।

यथा न पूर्वमपरो जहाति धातरायूंषि कल्पयैषाम् (१२।२।२५)— जिस तरह पूर्व जन्मेके पूर्व पश्चात् जन्मा न मरे इस तरह हे धाता ! इनकी आयुकी योजना कर।

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः (१२।२।२६)— पत्थरोंवाली नदी वेगसे चल रही है हे मित्रो ! संभालो और वीरता धारण करो।

अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान्— जो दुःखदायी पदार्थ हैं उनको यहीं छोड़ दो हम पार होनेपर रोगरहित बल प्राप्त करेंगे।

उत्तिष्ठता प्र तरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम् (१२।२।२७)— उठो पार तैरो। हे मित्रो ! यह पत्थरोंवाली नदी वेगसे बह रही है।

अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान्त्स्योनानुत्तरेमाभि वाजान्— जो बुरे पदार्थ हैं उनको यहीं छोड़ दो जब हम पार हो जायेंगे तब सुखकारक भोगोंको प्राप्त करेंगे।

वैश्वदेवीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः (१२।२।२८)— सब देवोंकी उपासना अपना तेज बढ़ानेके लिये प्रारम्भ करो तुम शुद्ध पवित्र और मलरहित बनो।

अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम— पापके स्थानोंको दूर करते हुए सब वीरोंके समेत सौ वर्षतक आनंदसे रहेंगे।

अमित्रान् नो वि विध्यताम् (११।९।२६)— शत्रुओंको बींधो।

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं (११।९।२६) — उन शत्रुओंके तुम स्वामी हो उठो तैयार हो जाओ।

इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम्— इस संग्रामको जीतकर अपने स्थानपर जाकर सुखसे रहो।

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह। सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत। (११।१ ।१)— उठो अपने ध्वजोंसे तैयार हो जाओ हे सर्पो और इतर जनो! राक्षसोंपर हमला चढ़ाओ।

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह (११।१ ।५)— हे देवजन सेनापते! तू इस सेनाके साथ चढ़ाई कर।

जयामित्रान् प्र पद्यस्व (११।१ ।१८)— शत्रुको जीत और अपने अधीन कर।

तमसा त्वममित्रान् परि वारय (११।१ ।१९)— तू तमसास्त्रसे शत्रुका निवारण कर।

मामीषां मोचि कश्चन— इन शत्रुओंमेंसे किसीको न छोड़।

शितिपदी सं पतत्वमित्राणाममूः सिचः (११।१ ।१२) —इन शत्रुओंके सैन्यसमूहपर श्वेत पांववाली शक्ति गिरे।

मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणाम्— शत्रुकी सेनायें मोहित हों।

मूढा अमित्रा न्यर्बुदे जह्येषां वरं वरम् (११।१ ।२१)— हे सेनापते! शत्रुसेना मूढ बनी है इनके मुखिया वीरोंको मार।

अनया जहि सेनया— इस सेनासे जीतो।

यश्च कवची यश्चाकवचोऽमित्रो यश्चाज्मनि। ज्यापाशैः कवचपाशैरज्मनाभिहतः शयाम् (११।१ ।२२)— जो शत्रु कवचधारी है जो कवचसे रहित है जो रथपर बैठा है वह शत्रु ज्यापाशोंसे कवचपाशोंसे तथा रथके आघातसे मरा होकर सो जाय।

ये वर्मिणो येऽवर्माणो अमित्रा ये च वर्मिणः। सर्वांस्ताँ अर्बुदे हतान् श्वानोऽदन्तु भूम्याम् (११।१ ।२३)— जो कवचधारी अथवा कवचके बिना शत्रु हैं वे सब युद्धमें मरें और भूमिमें पड़े। उनके प्रेत कुत्ते खायें।

ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः। सर्वानदन्तु तान् हतान् गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः (११।१ ।२४)— जो रथी जो रथके बिना जो घोड़ोंवाले अथवा जो घोड़ोंके बिना शत्रु हैं उन सबको युद्धमें मरनेपर गीध, श्येन आदि पक्षी खायें।

सहस्रकुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानाम्। विविद्धा ककजाकृता (११।१ ।२५)— युद्धमें मारी गयी शस्त्रोंसे बींधी और विकृत आकारवाली होकर शत्रुसेना सहस्रों प्रेतोंसे युद्धभूमिपर शयन करे।

शरीर

इन्द्रादिन्द्रः सोमात्सोमो अग्नेरग्निरजायत। त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताऽजायत (११।८।९)— इन्द्रसे इन्द्र सोमसे सोम अग्निसे अग्नि त्वष्टासे त्वष्टा और धातासे धाता हुआ। (ये देव इस शरीरमें आकर रहे हैं।)

ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा। पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते (११।८।१) —पूर्व समयमें इन देवोंसे दस पुत्र देव उत्पन्न हुए। पुत्रोंको उन्होंने स्थान दिया और वे किस लोकमें भला रहने लगे हैं?

संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन्। सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् (११।८।१३) —सिंचन करनेवाले वे देव हैं जिन्होंने सब सामान इकट्ठा किया। सब मर्त्यको वीर्यधारणसे सिंचित करके वे सब देव शरीरमें आकर रहे हैं।

गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् (११।८।१८)— मर्त्यको घर करके सब देवपुरुष शरीरमें आकर रहे हैं।

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम्। शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः (११।८।२३) —विद्या अविद्या (विज्ञान), और जो उपदेश करने योग्य है, वह सब ज्ञान शरीरमें प्रविष्ट हुआ। यही ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेद है।

रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् (११।८।२९)— रेतको घी बनाकर देव पुरुषमें प्रविष्ट हुए हैं।

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते (११।८।३२) —इसलिये ज्ञानी इस पुरुषको यह ब्रह्म है ऐसा मानता है।

सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते— सब देवताएं यहां गोशालामें जैसी गायें रहती हैं वैसी रहती हैं।

रोग-निवारण

इदं सीसं भागधेयं त एहि (१२।२।१)— यह सीसा तेरा भाग है।

यो गोषु यक्ष्मः पुरुषेषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकमधराङ् परेहि— जो क्षयरोग गौओंमें और पुरुषोंमें होगा उसको तुम दूर कर।

यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि (१२।२।२)— क्षयरोगको और मृत्युको दूर करता हूं।

निरितो मृत्युं निर्ऋतिं निररातिमजामसि (१२।२।३) —हम मृत्यु दुःख और शत्रुको दूर करते हैं।

यो नो द्वेष्टि तमद्धि अग्ने— जो हमारा द्वेष करता है हे अग्ने! उसे खा।

त्वा ब्राह्मणस्पतिराधाद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय (१२।२।६)— ज्ञान पति तुझे सौ वर्षकी दीर्घायु देवे।

ते ते यक्ष्मं सवेदसो दूराद्दूरमनीनशन् (१२।२।१४) — वे देव तेरे क्षयरोगको दूरसे दूर करके नाश करें।

शुद्धा भवत यज्ञियाः (१२।२।११)— शुद्ध और पूज्य बनो।

इहेमे वीरा बहवो भवन्तु (१२।२।२१)— यहां ये वीर बहुत हों।

अभूद् भद्रा देवहूतिर्नो अद्य (१२।२।२२)— हमारी देव प्रार्थना आज कल्याणकारिणी हो गयी है।

प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय (१२।२।२२)— नाचने और हंसनेके लिये हम आगे बढें।

सुवीरासो विदथमा वदेम— उत्तम वीर बनकर युद्धका विचार करेंगे।

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् (१२।२।२३)— मानवप्राणियोंके लिये यह आयुर्मर्यादा मैंने दी है जीव बनकर इस आयु रूपी धनका कोई नाश न करे।

शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन— सौ वर्षोंका दीर्घकाल लोग जीवित रहें और पर्वतके द्वारा (पीठकी रीढके द्वारा) मृत्युको दूर रखें।

आ रोहत आयुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति स्थ (१२।२।२४)— वृद्ध अवस्थाका स्वीकार करते हुए दीर्घायुको प्राप्त करो एकके पीछे दूसरे सिद्धिके यत्न करो।

तान् वः त्वष्टा सुजनिमा सजोषाः सर्वमायुर्नयतु जीवनाय— उत्तम जन्मवाला ज्ञानी त्वष्टा आप सबको दीर्घ जीवनके लिये पूर्ण आयुतक ले जावे।

यथा न पूर्वमपरो जहाति धातरायूंषि कल्पयैषाम् (१२।२।२५)— जिस तरह पूर्व जन्मके पूर्व पश्चात् जन्मा न मरे इस तरह हे धाता! इनकी आयुकी योजना कर।

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः (१२।२।२६)— पत्थरोंवाली नदी वेगसे चल रही है हे मित्रो! संभलो और वीरता धारण करो।

अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान्— जो दुःखदायी पदार्थ हैं उनको यहीं छोड दो हम पार होनेपर रोगरहित बल प्राप्त करेंगे।

उत्तिष्ठता प्र तरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम् (१२।२।२७)— उठो और तैरो। हे मित्रो! यह पत्थरोंवाली नदी वेगसे बह रही है।

अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान्त्स्योनानुत्तरेमाभि वाजान्— जो बुरे पदार्थ हैं उनको यहीं छोड दो, जब हम पार हो जायगे तब सुखकारक भोगोंको प्राप्त करेंगे।

वैश्वदेवीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः (१२।२।२८)— सब देवोंकी उपासना अपना तेज बढानेके लिये आरंभ करो तुम शुद्ध, पवित्र और मलरहित बनो।

अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम— पापके स्थानोंको दूर करते हुए सब वीरोंके समेत सौ वर्षतक आनंदसे रहेंगे।

मृत्युं प्रत्यौहन् पदयोपनेन (१२।२।२९)— अपने आचरणसे मृत्युको दूर करते हैं।

मृत्योः पदं योपयन्त एत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः (१२।२।३०)— मृत्युके पांवको दूर करके, दीर्घ आयुको अति दीर्घ करके धारण करके चलो।

आसीना मृत्युं नुदता सधस्थेऽथ जीवासो विदथमा वदेम— आसनादि करके मृत्युको दूर करो और यदि जीवेंगे सभामें भाषण करेंगे।

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम्। अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे (१२।२।३१)— ये स्त्रियां उत्तम पत्नीवाली हों विधवा न हों अंजन और घी लगावें रोगरहित अश्रुरहित उत्तम रत्न धारण करनेवाली स्त्रियां प्रथम अपने घरमें ऊंचे आसनपर चढें।

दीर्घेणायुषा समिमान् सृजामि (१२।२।३२)— इनको दीर्घायुसे युक्त करता हूं।

प्राप्ताः गृहाः सं सृज्यन्ते स्त्रिया यन् म्रियते पतिः (१२।२।३९)— जब स्त्रीका पति मरता है तब घर पीछेवालोंसे युक्त होते हैं।

जीवानामायुः प्र तिर (१२।२।४५)— जीवितोंकी आयु दीर्घ कर।

एषां ऊर्जं रयिं अस्मासु धेहि (१२।२।४६)— इनका बल धन हमें दे।

दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि (१२।२।५५)— मैं इनको दीर्घायुसे युक्त करता हूं।

इमं जीवं जीवधन्याः समेत्य तासां भजध्वममृतं यमाहुः (१२।३।४)— जीवनको धन्य करनेवालो! इस जीवनलाभको प्राप्त होकर यहांका अमृत प्राप्त करो।

उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावत् (१२।३।१०)— श्रेष्ठ राष्ट्र सुप्रजासे अधिक श्रेष्ठ होता है

वनस्पतिः सह देवैर्न आगन् रक्षः पिशाचाँ अपबाधमानः (१२।३।१५)— राक्षस और पिशाचोंको दूर करता हुआ यह वनस्पति दिव्य शक्तियोंके हमारे पास आया है।

तेन लोकान्त्सर्वान् जयेम— इससे सब लोकोंको जीतेंगे।

विवाह

इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि (१४।१।२१)— यहां तेरी प्रजाके लिये समृद्धि प्राप्त हो, इस घरमें गृहकी पालक बन कर जागती रहे।

एना पत्या तन्वं सं स्पृशस्व— इस पतिके साथ अपने शरीरका स्पर्श कर।

इहैव स्तं, मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् (१४।१।२२)— यहीं रहो मत पृथक् होओ सब आयु होनेतक मिलकर रहो।

क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ— पुत्रों और नातियोंके साथ खेलते हुए अपने घरमें आनन्दसे रहो।

अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थानो येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम् (१४।१।३४)— कांटोंसे रहित सरल मार्ग हों जिससे हमारे मित्र कन्याके वर जाते हैं।

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्। पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्व अमृताय कम् (१४।१।४२)— उत्तम मन संतान और सौभाग्यकी आशा करनेवाली तू पतिके अनुकूल आचरण करनेवाली होकर अमरत्व प्राप्तिके लिये तू सिद्ध हो।

एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य (१४।१।४३)— वैसी तू पतिके घर पहुंचकर वहां सम्राज्ञी होकर रह।

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु। ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः (१४।१।४४)— श्वशुर देवर ननन्द सास इनके साथ सम्राज्ञी होकर रह।

दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु (१४।१।४७)— सविता तेरी दीर्घ आयु करे।

तेन गृह्णामि ते हस्तं मा व्यथिष्ठा मया सह प्रजया च धनेन च (१४।१।४८)— तेरा हाथ मैं ग्रहण करता हूं, मत घबरा मेरे साथ प्रजा और धनके साथ रह।

गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः (१४।१।५०)— मैं तेरा हाथ पकडता हूं, मुझ पतिके साथ वृद्धावस्थातक रह।

पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव (१४।१।५१)- तू मेरी धर्मसे पत्नी है मैं तेरा गृहपति हूं।

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद्बृहस्पतिः। मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम् (१४।१।५२) —यह स्त्री मेरे द्वारा पोषण करने योग्य हो बृहस्पतिने तुझे मुझे दिया है। मेरे साथ रहकर प्रजावाली हो और सौ वर्ष जीवित रह।

शिवा स्योना पतिलोके वि राज (१४।१।६४)— कल्याण करनेवाली सुखदायिनी होकर पतिके घर विराज।

दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् (१४।२।२)— इसका पति दीर्घायु होकर सौ वर्ष जीवित रहता है।

रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् (१४।२।४) — धन और पुत्रोंको तथा इस स्त्रीको अग्निने मुझे दिया।

या ओषधयो या नद्यो यानि क्षेत्राणि या वना। तास्त्वा वधु प्रजावतीं पत्ये रक्षन्तु रक्षसः (१४।२।७)— औषधियां, नदियां क्षेत्र और जो वन हैं वे सब पतिके लिये प्रजावाली तुझे राक्षसोंसे सुरक्षित रखें।

यस्मिन्वीरो न रिष्यति अन्येषां विन्दते वसु (१४।२।८)— वीर पुत्रका नाश नहीं होता और अन्योंकी अपेक्षा अधिक धन मिलता है।

स्योनास्मै भवन्तु वध्वै मा हिंसिषुर्वहतुमुह्यमानम् (१४।२।९)— इस वधूके लिये सब पदार्थ सुखदायी हों कोई सीधा जानेवाले इस रथका नाश न करे।

मा विदन्परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती। सुगेन दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः (१४।२।११)— जो शत्रु समीप प्राप्त होंगे वे इस दम्पतीको न जाने वे वधूवर सुखसे दुर्गम मार्गोंके पार जाय और इनसे शत्रु दूर हों।

सं काशयामि वहतुं ब्रह्मणा गृहैरघोरेण चक्षुषा मित्रियेण (१४।२।१२ — मैं पुकारकर कहता हूं कि वधूके रथको प्रेमपूर्वक मित्रकी दृष्टिसे देखें।

पर्याणद्धं विश्वरूपं यदस्ति स्योनं पतिभ्यः सविता तत्कृणोतु (१४।२।१२ — जो कुछ अनेक रंग रूपवाला यहां इसमें बंधा है वह पतिके लिये सुख कर हो ऐसा सविता करे।

शिवा नारीयमस्तमागन् (१४।२।१३)— यह कल्याणी नारी अपने घरको आ रही है।

प्रजापतिः प्रजया वर्धयन्तु— प्रजापति प्रजासे इसको बढावें।

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् तस्यां नरो वपत बीजमस्याम्। सा वः प्रजां जनयद्वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धमृषभस्य रेतः॥ (१४।२।१४)— यह नारी आत्मबलसे युक्त प्रजा उत्पन्न करनेवाली है इसमें पुरुष बीज बोवें यह आपके लिये संतान अपने गर्भाशयसे उत्पन्न करे, दूध और वीर्यवान् पुरुषका रेत धारण करे।

अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः। वीरसूर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना। (१४।२।१७)— प्रेमदृष्टि वाली पतिका नाश न करनेवाली सुख देनेवाली सुन्दर सेवा उत्तम करनेवाली घरोंके लिये सुख दायक वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली पतिको भाई रहे ऐसी इच्छावाली उत्तम मनवाली तुझ स्त्रीसे हम संपन्न हों।

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः। प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य। (१४।२।१८)— देवरका नाश न करनेवाली पतिका नाश न करनेवाली पशुओंका हित करनेवाली उत्तम नियमसे चलनेवाली तेजस्विनी संतानवाली वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली भाई देवर रहें ऐसी इच्छावाली कल्याण करनेवाली तू अग्निकी पूजा घरमें कर।

उत्तिष्ठेतः किमिच्छन्तीदमागा अहं त्वेडे अभिभूः स्वाद् गृहात् (१४।२।१९)— हे दुर्गति! तू यहांसे उठ यहां क्या चाहती है यहां क्यों आ गई है? मैं तेरा पराभव करूंगी अपने घरसे तुझे दूर करूंगी।

सुम्बेथी निर्ऋते याऽवगच्छोतिष्ठाराते प्र पत मेह रंस्थाः— हे दुर्गति ! तू इस वरको प्राप्त करना चाहती है वहांसे उठ दूर जा यहां न रममाण हो।

देवो घ्नन्तु रक्षांसि सर्वा (१४।२।२०)— अग्नि देव सब राक्षसोंको मारता है।

इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै सुज्येष्ठ्यो भवत् पुत्रस्त एषः— यहां संतान उत्पन्न कर इस पतिके लिये यह तेरा पुत्र बने।

सुमंगली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः। स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् (१४।२।२६)— उत्तम मंगल करनेवाली घरोंका दुःख दूर करनेवाली पतिकी सेवा उत्तम करनेवाली श्वशुरके लिये सुख देनेवाली सासके लिये हितकर देवी अपने घरमें प्रविष्ट हो।

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः। स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव (१४।२।२७)— श्वशुरके लिये पति और घरके लोगोंके लिये सब प्रजाके लिये सुखकर हो और इनका पोषण करनेवाली हो।

सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। सौभाग्यमस्यै दत्त्वा दौर्भाग्यैर्विपरेतन। (१४।२।२८)— यह वधू उत्तम कल्याण करनेवाली है आओ और इसे देखो इसको सौभाग्य देकर दुर्भाग्यको दूर करते हुए वापस जाओ।

या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि। वर्चो न्वस्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन। (१४।२।२९)— जो दुष्ट हृदयवाली तथा वृद्ध स्त्रियां हैं वे इस वधूको तेजस्वी होनेका आशीर्वाद दें और अपने घरको जांय।

आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै (१४।२।३१)— बिछौनेपर चढ उत्तम मनवाली इस पतिके लिये संतान उत्पन्न कर।

सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह (१४।२।३२)— हे स्त्री ! तू इस संसारमें सूर्यप्रभाके समान महत्त्वसे अनेक रंगरूपको प्राप्त होकर संतान उत्पन्न करके पतिके साथ आनंदसे रह।

मर्य इव योषामधिरोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम् (१४।२।३७)— मर्यके समान स्त्रीके साथ रह प्रजा उत्पन्न कर और यहां धनको बढाओ।

प्रजां कृण्वाथामिह मोदमानौ दीर्घं वामायुः सविता कृणोतु (१४।२।३९)— यहां प्रजा उत्पन्न करके आनंदसे रहो आप दोनोंकी आयु सविता देव लंबी करे।

अदुर्मंगली पतिलोकमा विशेमं शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे (१४।२।४)— दुष्ट भाव छोडकर पतिके घरमें प्रवेश कर द्विपाद और चतुष्पादके लिये कल्याण करनेवाली हो।

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ। सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः (१४।२।४३)— हास्यविनोद करनेवाले सुखदायी स्थानसे उठनेवाले उत्तम इंद्रियों और गौओंसे युक्त उत्तम बालबच्चोंवाले उत्तम घरवाले आयुष्य ये दो जीव प्रकाशमान उषःकालके समान प्रकाशते रहें।

मा वयं रिषाम (१४ २।५)— हमारा नाश न हो।

उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः। अव दीक्षामसृक्षत। (१४।२।५२)— पिताके घरसे पतिके घर जानेवाली ये कन्याएं दीक्षाका धारण करें इच्छासे रहें।

इयं नार्युप ब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका। दीर्घायुरस्तु मे पतिः जीवाति शरदः शतम् (१४।२।६३)— यह स्त्री धानका हवन करती हुई यह कहती है कि मेरा पति दीर्घायु हो और सौ वर्ष जीवे।

चक्रवाकेव दम्पती। प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् (१४।२।६४)— चक्रवाक पक्षीके जोडेके समान ये दम्पती ये उत्तम घरवाले प्रजाके साथ पूर्ण आयु प्राप्त करें।

अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूंषि तारिषत् (१४।२।६०)— हम पूज्य और शुद्ध बने और हमारी आयु दीर्घ हो।

अङ्गादङ्गात् वयमस्या अप यक्ष्मं नि दध्मसि (१४।२।६९)— इसके अंग-अंगसे हम रोग दूर करते हैं।

अमोऽहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक्त्वं, द्यौरहं पृथिवी त्वं। ताविह सं भवाव प्रजामा जनयावहै। (१४।२।७१)— मैं साम हूं तू ऋचा है साम मैं हूं और ऋचा तू है द्यु मैं हूं पृथिवी तू है यहां हम इकट्ठे रहें और प्रजा उत्पन्न करें।

प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय (१४।२।७५)— उत्तम ज्ञान प्राप्त करके घरमें जागती रह सौ वर्षकी दीर्घायुके लिये यत्न कर।

गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु— घरमें जा घरकी स्वामिनी होकर रह, सविता तेरी आयु दीर्घ करे।

व्रात्य

सोऽवर्धत स महानभवत् स महादेवोऽभवत् (१५।१।७)— वह बढ़ गया वह बड़ा हो गया, वह महादेव हुआ।

स देवानामीशां पर्यैत् स ईशानोऽभवत् (१५।१।५)—वह देवोंका अधिष्ठाता हुआ वह ईश्वर हुआ।

नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति लोहितेन द्विषन्तं विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति (१५।१।८)— नीलेसे वह अप्रिय शत्रुको घेरता है और लोहितसे द्वेषीको बींधता है ऐसा ब्रह्मवादियोंका कहना है।

शत्रु दूर करना

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून् (१३।१।३)— हे [illegible] मरुतो! तुम भूमिको माता माननेवाले इन्द्रसे युक्त होकर शत्रुओंका नाश करो।

सं ते राष्ट्रमनक्तु पयसा घृतेन (१३।१।८)— तेरा राष्ट्र दूध और घीसे भरपूर हो।

विशि राष्ट्रे जागृहि (१३।१।९)— प्रजामें तथा राष्ट्रमें जागते रहो।

गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि (१३।१।१२)— मुझे गोपालन और वीरपालनका सामर्थ्य दे।

सर्वा अरातीरवक्रामन्नेहीदं राष्ट्रमकरः सूनृतावत् (१३।१।२०)— सब शत्रुओंपर आक्रमण कर और इस राष्ट्रको आनन्दपूर्ण कर।

तया सहस्रान् विश्वरूपाञ्जयेम तया विश्वाः पृतना अभि ष्याम (१३।१।२२)— अनेक प्रकारके धन और बल जीतेंगे और उससे सब सैन्योंका पराभव करेंगे।

तौ रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम् (१३।१।३६)— कवि प्रमाद न करते हुए उस शक्तिका रक्षण करते हैं।

सपत्नानधरान् पादयस्व (१३।१।३१)— हमारे शत्रुओंको नीचे गिरा दो।

दुष्वप्न्यं तस्मिंछमलं दुरितानि च मृज्महे (१३।१।५८)— दुष्ट स्वप्न दुष्ट कल्पना और पापोंको हम शुद्ध करते हैं।

सुदृढ शरीर

सर्वाङ्ग एव सपरुः सतनूः सं भवति य एवं वेद (११।३।३२)— सब अंगोंसे युक्त सब पर्वोंसे युक्त, सब अवयवोंसे युक्त वह होता है जो यह ज्ञान जानता है।

दुःख दूर करना

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे। मयि तेजो वर्च आ धत्त देवीः (१६।१।१२-१३)— हे जलदेवता! तुम दृष्टिसे मुझे देखो तुम स्पर्शसे मेरी त्वचाको स्पर्श करो। मुझे तेज और आत्मबल धारण करो।

निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक् (१६।२।१)— दुर्गंधि दूर हो वाणी मीठी हो।

मधुमती स्थ मधुमतीं वाचमुदेयम् (१६।२।२)— मीठी वाणी हो मीठी वाणी हम बोलें।

सुश्रुतौ कर्णौ भद्रश्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम् (१६।२।४)— मेरे कान उत्तम ज्ञान सुनें मेरे कान कल्याणकारक मुझे कल्याणकारक वचन मैं सुनूंगा।

सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हासिष्टां सौपर्णं चक्षुरजस्रं ज्योतिः (१६।२।५)— उत्तम श्रवण

शक्ति और दूसरे सुखोंकी शक्ति मुझे न छोड़ें मस्तकके समान दृष्टि और बड़ा तेज मेरे पास रहे ।

मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम् (१६।३।१) धनोंका शिर स्थान तथा समानोंमें मैं श्रेष्ठ बनूं ।

रुजश्च मा वेनश्च मा हासिष्टां (१६।३।२)— तेज और कान्ति मुझे न छोड़े ।

मूर्धा च मा विधर्मा च मा हासिष्टाम्— श्रेष्ठ स्थान और विशेष धर्म मुझे न छोड़े ।

असंतापं मे हृदयं (१६।३।६)— मेरे हृदयको संताप न हो ।

प्राणापानौ मा मा हासिष्टं मा जने प्र मेषि (१६।४।५) —प्राण अपान मुझे न छोड़े मनुष्योंमें मैं नाशक न बनूं ।

अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसो वयं (१६।६।१ — आज हम विजय प्राप्त करेंगे प्राप्तव्यको प्राप्त किया है हम निष्पाप हुए हैं ।

द्विषते तत्परा वह शपते तत्परा वह (१६।६।६)— द्वेष करनेवालेको दूर कर शापकी देनेवालेको दूर कर ।

यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तस्मा एनद् गमयाम। (१६।६।४)— जिसका हम सब द्वेष करते हैं और जो हमारा द्वेष करता है उसको नीच पहुंचाते हैं ।

तऽमुष्मै परा वहन्तु अरायान् दुर्णाम्नः सदान्वाः कुम्भीका दूषिकाः पीयकान् (१६।६।७-८)— वे निर्धनता कष्ट आपत्तियां रोग दोष विपत्तियोंको दूर ले जांय ।

तेनैनं विध्याम्यभूत्यैनं विध्यामि निर्भूत्यैनं विध्यामि पराभूत्यैनं विध्यामि ग्राह्यैनं विध्यामि तमसैनं विध्यामि (१६।७।१)— उससे इस पापका वध करता हूं । दुर्गति पापीपन और रोगसे शत्रुको वींधता हूं । पराभवसे और अन्धकारसे शत्रुको वींधित करता हूं ।

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् (१६।८।१)— हमारे विजय उदय सत्य तेज ज्ञान आत्मतेज यज्ञ पशु प्रजा वीर हों । यह सब हमें प्राप्त हों ।

स ग्राह्याः पाशान्मा मोचि (१६।८।२)— वह शत्रु रोगके पाशोंसे न छूटे ।

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामि इदमेनमधराञ्चं पादयामि (१६।८।३)— इसका तेज बल प्राण, आयुको मैं घेरता हूं । इस शत्रुको नीचे गिराता हूं ।

वसुमान् भूयासं वसु मयि धेहि (१६।९।४)— मैं धनवान् होऊं धन मेरे पास रख ।

अभ्युदय

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसं । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितं । ईड्यं नाम ह्व इन्द्रमायुष्मान् भूयासम् । (१७।१।१) — सामर्थ्यवान्, बलवान् विजयी शत्रुको दबानेवाले शक्तिमान् विजयशाली सामर्थ्यसे जीतनेवाले भूमिको जीतनेवाले धन जीतनेवाले प्रशंसनीय स्तुत्य इन्द्रकी हम भक्ति करते हैं, मैं दीर्घायु बनूं ।

प्रियो देवानां भूयासं (१७।१।२)— देवोंको मैं प्रिय बनूं ।

प्रियः प्रजानां भूयासं (१७।१।३)— मैं प्रजाओंको प्रिय बनूं ।

प्रियः पशूनां भूयासं (१७।१।४)— मैं पशुओंको प्रिय बनूं ।

प्रियः समानानां भूयासं (१७।१।५)— मैं समानोंको प्रिय बनूं ।

द्विषंश्च मह्यं रध्यतु मा चाहं द्विषते रधं (१७।१।६) — शत्रुओंको मेरे हितके लिये वशमें कर परंतु मैं कभी शत्रुके अधीन न बनूं ।

सुमायां मा धेहि (१७।१।)— समतामें मुझे रख ।

स नो मृड सुमतौ ते स्याम (१७।१।८)— वह तू हमें आनंदमें रख तेरी उत्तम संमतिमें हम रहें ।

त्वमिन्द्रासि विश्वजित् सर्ववित् (१७।१।११)— हे इन्द्र । तू विश्वको जीतनेवाला और सबको जाननेवाला है ।

सपत्नान् मह्यं रन्धयन् (१०।१।१९)— मेरे लिये शत्रुओंका नाश कर।

अरद्विषः ऊर्ध्ववीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृत चरेयम् (१०।१।२७)— द्वेष रहित ऊर्ध्व वीर्यवान् होकर विविध कर्मोंको करता हुआ सहस्रायु होकर विचरूंगा।

सरस्वती

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने। सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् (१८।१।४१)— देव बननेकी इच्छा करनेवाले सरस्वतीकी प्रार्थना करते हैं यज्ञ शुरू होनेपर सरस्वतीकी प्रार्थना करते हैं उत्तम कार्य करनेवाले सरस्वतीकी प्रार्थना करते हैं सरस्वती-विद्या-धन देती है।

अनमीवा इष आ धेह्यस्मे (१८।१।४२)— नीरोग अन्न हमें दे।

सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि (१८।१।४३)— हजारों प्रकारका अन्नभाग और धनके साथ पुष्टि यजमानको दे।

पितृमेध

असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु (१८।१।४४)— जिन हिंसा न करनेवाले पितरोंने प्राणको प्राप्त किया है। अर्थात् जो प्राणधारी पितर हैं वे सत्य मार्गको जाननेवाले पितर बुलानेपर हमारी रक्षा करें।

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो यऽपरास ईयुः (१८।१।४६)— जो पूर्व और आधुनिक पितर हैं उनके लिये नमन करते हैं।

मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम (१८।१।५२)— हमने मनुष्य होनेसे जो पाप किया हो उसके लिये हे पितरो! हमारी हिंसा न करो।

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः (१८।२।२)— मार्ग करनेवाले प्राचीन पूर्वज ऋषियोंको यह नमन करता हूं।

स नो जीवेष्वा यमेद्दीर्घमायुः प्र जीवसे (१८।२।३)— वह यम हमें इस जीवित लोगोंमें जीनेके लिये दीर्घ आयु देवे।

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः। ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् (१८।२।१७)— जो शूर युद्धोंमें लडते हैं, युद्धोंमें जो अपना शरीर त्यागते हैं तथा जो हजारोंका दान करते हैं उनके पास तू जा।

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी। यच्छास्मै शर्म सप्रथाः (१८।२।१९)— हे पृथिवी! इसके लिये सुख देनेवाली हो कांटोंसे रहित रहनेके लिये स्थान देनेवाली हो और इसे विस्तृत स्थान और सुख दे।

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः। सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे (१८।२।३४)— जो गाडे गये जो बहाये गये जो जलाये जो ऊपर रखे उन सब पितरोंको हवि खानेके लिये हे अग्नि! ले आओ।

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा। तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते (१८।२।४८)— जलवाला द्युलोक सबसे नीचे है नक्षत्र जिसमें है वह मध्य स्थानमें है प्रद्यु नामक तीसरा द्युलोक है जिसमें पितर रहते हैं।

इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे। ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात् (१८।२।५६)— प्राण जिसका गया है उसको ले जानेके लिये मैं दो बैल (गाडीको) जोडता हूं। इन दोनोंसे यमके घर जाते हैं उनके साथ सभाको भी जाय।

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्। वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत। (१८।३।१३)— जो मानवोंमें प्रथम मरा, जो इस लोकमें प्रथम गया उस वैवस्वत यमराजको जो जनोंका संगमन करता है उसको हवि अर्पण कर।

कस्ये मृजाना अति यन्ति रिप्रमायुर्दधानाः प्रतरं नवीयः। आप्यायमानाः प्रजया धनेनाध

स्याम सुरभयो गृहेषु (१८।३।१७)— आपसे पवित्र होकर कलीव वसु धारण करके पापको दूर करते हैं। प्रजा और धनसे बढते हुए हम घरोंमें सुगंधियुक्त बनें।

वि श्लोक एति पथ्येव सूरिः शृण्वन्तु विश्वे अमृतास एतत् (१८।३।३९)— जैसा विद्वान् उत्तम मार्गसे जाता है वैसा मेरा श्लोक सीधा तुम्हारे पास पहुंचता है। यह सब अमर देव सुनें।

रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय (१८।३।४३)— दानी मनुष्यके लिए धन दो।

पुत्रेभ्यः पितरः तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात (१८।३।४३)— हे पितरो! पुत्रोंके लिये उसका धन दो वे यहां अन्न धारण करें।

रयिं च नः सर्ववीरं दधात (१८।३।४४)— सब वीर पुत्रोंके साथ हमें धन दो।

ते गृहासो घृतश्चुतः स्योना विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र (१८।३।५१)— ये घर घृतदायी होके मेरे सर्वदा इसके लिये शरण जाने योग्य हों।

इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् (१८।३।६१)— यहां ये वीर पुत्र बहुत हों गौओं और घोडोंसे युक्त मेरे अन्दर पुष्टि हो।

परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु (१८।३।६२)— मृत्यु दूर हो अमरत्व हमारे पास आवे।

आ रोहत दिवमुत्तमामृषयो मा बिभीतन (१८।३।६४)— हे ऋषियो! उत्तम द्युलोकमें चढो भयभीत न होओ।

मर्त्योऽयममृतत्वमेति तस्मै गृहान् कृणुत यावत्सबन्धु (१८।४।३७)— यह मर्त्य मनुष्य अमरत्व प्राप्त करता है, उसके लिये बान्धवोंसे युक्त घर करो।

एषो राजापियानां वरूण्यां ऊर्जो वर्चः सह ओजो न आगन्म्। आयुर्जीवेभ्यो विदधत् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय (१८।४।५३)— यह राजा वरूणका एकमेव रक्षक है। यह तेज बल, ओजके साथ हमारे पास आगया है यह जीवोंको आयु देता है सौ वर्षोंकी दीर्घायु करता है।

स्वाहाः सर्वे पितरो मादयध्वम् (१८।४।७०)— अपने सब अंशोंके साथ पितर स्वर्गमें आनन्द प्राप्त करें।

जीवेम शरदं शतानि त्वया राजन् गुपिता रक्षमाणाः (१८।४।७०)— हम सौ वर्ष जीवें हे राजन्! तेरे द्वारा सुरक्षित होंगे।

इस तरह ये सुभाषित चतुर्थ विभागमें हैं। पाठक इनका योग्य उपयोग करके अपना लाभ प्राप्त करें।

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

एकादशं काण्डम् ।

लेखक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर,

साहित्यवाचस्पति, वेदाचार्य, गीतालंकार

अध्यक्ष स्वाध्यायमंडल 'आनन्दाश्रम' पारडी (जि. सूरत)

तृतीय वार

[illegible]

स्याम सुरभयो गृहेषु (१८।३।१७)— यज्ञसे पवित्र होकर नवीन आयु धारण करके पापको दूर करते हैं। प्रजा और धनसे बढ़ते हुए हम घरोंमें सुगन्धियुक्त बनें।

वि श्लोक एति पथ्येव सूरिः शृण्वन्तु विश्वे अमृतास एतत् (१८।३।३९)— जैसा विद्वान् धर्म मार्गसे जाता है वैसा मेरा श्लोक सीधा तुम्हारे पास पहुंचता है। यह सब अमर देव सुनें।

रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय (१८।३।४३)— दानी मनुष्यके लिये धन दो।

पुत्रेभ्यः पितरः तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात (१८।३।४३)— हे पितरो! पुत्रोंके लिये उसका धन दो वे यहां अन्न धारण करें।

रयिं च नः सर्ववीरं दधात (१८।३।४४)— सब वीर पुत्रोंके साथ हमें धन दो।

ते गृहासो घृतश्चुतः स्योना विश्वाहास्मै शरणाः सन्तु (१८।३।५१)— वे घर घृतदायी सीधे को सर्वदा इसके लिये शरण देने योग्य हों।

इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् (१८।३।६१)— यहां ये वीर पुत्र बहुत हों गौओं और घोड़ोंसे युक्त मेरे अन्दर पुष्टि हो।

परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु (१८।३।६२)— मृत्यु दूर हो अमरत्व हमारे पास आवे।

मा रोहत दिवमुत्तमामृषयो मा बिभीतन (१८।३।६४) —हे ऋषियो! उत्तम द्युलोकमें चढ़ो भयभीत न होओ।

मर्त्योऽयममृतत्वमेति तस्मै गृहान् कृणुत यावत्सबन्धु (१८।४।३०)— यह मर्त्य मनुष्य अमरत्व प्राप्त करता है, इसके लिये बांधवोंसे युक्त घर बनाओ।

पर्णो राजापिधानं चरूणामूर्जो बलं सह ओजो न आगन्। आयुर्जीवेभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय (१८।४।५३)— यह राजा पर्ण अन्नपर रखनेका ढक्कन है। यह तेज बल, ओजके साथ हमारे पास आया है यह जीवोंको आयु देता है सौ वर्षोंकी दीर्घायु करता है।

साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम् (१८।४।६४)— अपने सब अंगोंके साथ पितर स्वर्गमें आनन्द प्राप्त करें।

जीवेम शरदं शतानि त्वया राजन् गुपिता रक्षमाणाः (१८।४।७०)— हम सौ वर्ष जीवें हे राजन्! तेरे द्वारा सुरक्षित होंगे।

इस तरह ये सुभाषित चतुर्थ विभागमें हैं। पाठक इनका योग्य उपयोग करके अपना लाभ प्राप्त करें।

२	३१	अथर्वा	रुद्रः	त्रिष्टुप्, १ परातिजागता विराड् जगती, २ अनुष्टुब्गर्भा पञ्चपदा पथ्या जगती; ३ चतुष्पदा स्वराडुष्णिक्; ४, ५, ७ १३, १५,१६ २१ अनुष्टुप्; ६ आर्षी गायत्री; ८ महाबृहती; ९ आर्षी; १० पुरःकृति त्रिपदाविराट्; ११ पञ्चपदा विराड् जगतीगर्भा शक्वरी; १२ भुरिक्; १४, १७–१९ २३, २६,२७ विराड् गायत्री; २० भुरिग्गायत्री; २२ विषमपादलक्ष्मा त्रिपदा महाबृहती; २४ २९ जगती; २५ पञ्चपदातिशक्वरी; ३० चतुष्पदा उष्णिक्; ३१ त्र्यव विपरीतपादलक्ष्मा षट्पदा जगती।
३	५६		ओदनः	
	(१ पर्याय ३१		बार्हस्पत्यौदन)	१ १४ आसुरी गायत्री, २ त्रिपदा समविषमा गायत्री; ३, ६ ९ आसुरी पङ्क्तिः, ४, ८ साम्नी अनुष्टुप्; ५, १२ १९, २५ साम्नी उष्णिक्, ७ १९–२२ प्राजापत्यानुष्टुप्, ९ १०–१८ आसुरी अनुष्टुप्, ११ भुरिगार्ची अनुष्टुप्, १२ याजुषी जगती, १३ २१ आसुरी बृहती, २४ त्रिपदा प्राजापत्या बृहती २६ आर्ची अनुष्टुप्, २७ (२८ २९) साम्नी बृहती, [२९ भुरिक्], ३ याजुषी त्रिष्टुप्, ३१ अल्पशःपङ्क्तिः याजुषी।
	(२ पर्यायः १८ „		ओदनः)	३२ १८ ४१ (प्र) ३२–३९ साम्नी त्रिष्टुप्, ३२ ३५, ४२ (द्वि) ३२ ४९ (तृ) ३३ ३४ ४७ ४८ (पं) एकपदा आसुरी गायत्री, ३२ ४१ ४३ ४७ (ष) दैवी जगती ३८ ४४ ४६ (द्वि) ३२ ३५–४३ ४९ [पं] आसुरी अनुष्टुप्, ३२ ४९ [पं] साम्नी अनुष्टुप् ३३ ४९ [प्र] आसुरी अनुष्टुप्, ४२ ४९ [पं] साम्न्यनुष्टुभः, ३३ ४९ [प्र] आर्ची अनुष्टुप्, ३७ [प्र] साम्नीपङ्क्तिः, ३१ ३६ ४ ४७ ४८ [द्वि] आसुरी जगती, ३४ ३७ ४१ ४३ ४५ [द्वि] आसुरी पङ्क्तिः ३४ (ष) आसुरी त्रिष्टुप्, ४५ ४६ ४८ (ष) याजुषी गायत्री, ३६ ४ ३७ (ष) दैवी पङ्क्तिः, ३८ ३९ (ष) प्राजापत्या गायत्री, ३९ (द्वि) आसुरी उष्णिक्, ४२ ४९ ४९ (ष) दैवी त्रिष्टुप्, ४९ [द्वि०] एकपदा भुरिक् साम्नी बृहती।
	[३ पर्यायः ७		]	५ आसुरी अनुष्टुप्, ५१ आर्ची अनुष्टुप्, ५२ त्रिपदाभुरिक्साम्नी त्रिष्टुप्, ५३ आसुरी बृहती, ५४ द्विपदा भुरिक् साम्नी बृहती, ५५ साम्नी उष्णिक्, ५६ प्राजापत्या बृहती।
४	२६	भार्गवो वैदर्भिः	प्राणः	अनुष्टुप्, १ शङ्कुमती; ८ पथ्यापङ्क्तिः, १४ निचृत्, १५ भुरिक्, २० अनुष्टुब्गर्भा त्रिष्टुप्, २१ मध्येज्योतिर्जगती, २२ त्रिष्टुप्, २६ बृहतीगर्भा।

५	२६	ब्रह्मा	ब्रह्मचारी	त्रिष्टुप्; १ पुरोऽतिजागतविराड्गर्भा; २ पंचपदा बृहतीगर्भा विराट् शक्वरी; ६ शाक्वरगर्भा चतुष्पदा जगती ७ विराड्गर्भा; ८ पुरोऽतिजागता विराड् जगती ९ बृहती गर्भा; १० भुरिक् ११ जगती; १२ शाक्वरगर्भा चतुष्पदा विराडतिजगती, १३ जगती; १५ पुरस्ताज्ज्योतिः; १४ १६ २२ अनुष्टुप्, २३ पुरो बार्हतातिजागतगर्भा; २५ एकावसाना आर्ची उष्णिक्; २६ मध्ये ज्योतिरुष्णिग्गर्भा।
६	२३ शन्तातिः	चन्द्रमा मन्त्रोक्ताः		अनुष्टुप्; २३ बृहतीगर्भा।
७	२७	अथर्वा	अध्यात्मं उच्छिष्टः	अनुष्टुप्; ६ पुरोष्णिग्बार्हतपरा; २१ स्वराट्; २२ विराट् पथ्या बृहती।
८	३४	कौरुपथिः	अध्यात्मं, मन्युः	अनुष्टुप्; ३३ पथ्यापंक्तिः।
९	२६	कांकायनः	अर्बुदिः	अनुष्टुप्; १ सप्तपदा विराट् शक्वरी त्र्यवसाना; ३ परोष्णिक् ४ त्र्यवसाना उष्णिग्बृहतीगर्भा परात्रिष्टुप् षट्पदातिजगती; ९ ११ १४ २३ २६ पथ्यापंक्तिः; १५ २२ २४ २५ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्वरी; १६ त्र्यव० पंचप० विराड् उपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्, १७ त्रिपदा गायत्री।
१०	२७	भृग्वंगिराः	त्रिषन्धिः	अनुष्टुप्; १ विराट् पथ्या बृहती २ त्र्यव० षट्प० त्रिष्टुब्गर्भातिजगती; ३ विराडास्तारपंक्तिः ४ विराट्; ८ विराट् त्रिष्टुप्; ९ पुरोविराट् पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्; १२ पंचपदा पथ्यापंक्तिः, १३ षट्पदा जगती, १६ त्र्यव० षट्पदा ककुम्मत्यनुष्टुप् त्रिष्टुब्गर्भा शक्वरी; १७ पथ्यापंक्तिः; २१ त्रिपदा गायत्री; २२ विराट् पुरस्ताद्बृहती, २५ प्रस्तारपंक्तिः।

इस प्रकार इन दस सूक्तोंके ऋषि देवता और छन्द हैं। इनमें अध्यात्म और युद्ध ये दो प्रकरण विशेष महत्त्वके हैं अतः पाठक इनका अधिक मनन करें। इस काण्डके पश्चात् के बारहवें काण्डमें मातृभूमिका वैदिक राष्ट्रगीत है और इस ग्यारहवें काण्डमें इसके पूर्व युद्धकी तैयारीका वर्णन है। इस तरह यह बडा मनोरंजक विषय इस काण्डमें है, इसका योग्य अध्ययन पाठक करें।

———



ॐ

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

एकादशं काण्डम्

ब्रह्मौदन सूक्त

(१)

अग्ने जायस्वादितिर्नाथितेयं ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा ।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वा मन्थन्तु प्रजया सहेह ॥ १ ॥
कृणुत धूमं वृषणः सखायोऽद्रोघाविता वाचमच्छ ।
अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवा असहन्त दस्यून् ॥ २ ॥
अग्नेऽजनिष्ठा महते वीर्याय ब्रह्मौदनाय पक्तवे जातवेदः ।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वाजीजनन्नस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ३ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (जायस्व) प्रकट हो। (इयं नाथिता अदितिः) यह प्रार्थना करनेवाली अदीन माता (पुत्र-कामा ब्रह्मौदनं पचति) पुत्रोंकी इच्छा करती हुई ज्ञान बढानेवाला अन्न पकाती है। (भूतकृतः सप्त ऋषयः) भूतोंको बनानेवाले सात ऋषि (इह त्वा प्रजया सह मन्थन्तु) यहां तुझे प्रजाके साथ मंथन करें ॥ १ ॥

हे (वृषणः सखायः) बलवान् मित्रो ! (धूमं कृणुत) धूआं करो अग्निको प्रदीप्त करो। (अद्रोघ-अविता वाचं अच्छ) द्रोह न करनेवालोंकी रक्षा करनेवाली भाषा बोलो। (अयं अग्निः पृतनाषाट् सुवीरः) यह अग्नि शत्रु-सैन्यको पराजित करनेवाला उत्तम वीर है। (येन देवाः दस्यून् असहन्त) जिससे देवोंने शत्रुओंको पराजित किया ॥ २ ॥

हे अग्ने! हे जातवेदः! तू (महते वीर्याय अजनिष्ठाः) बडा पराक्रम करनेके लिये प्रकट हुआ है। (ब्रह्म-ओदनाय पक्तवे) और ज्ञानवर्धक अन्न पकानेके लिये प्रकट हुआ है। (भूतकृतः सप्त ऋषयः त्वा अजीजनन्) भूतोंकी उत्पत्ति करने-वाले सात ऋषियोंने तुझे प्रकट किया है। (अस्यै सर्ववीरं रयिं नि यच्छ) इस माताके लिये सब प्रकारका धन प्रदान कर ॥ ३ ॥

भावार्थ- माता उत्तम वीर पुत्र होनेके लिये ईश्वरकी प्रार्थना करे उसके लिये पुष्टिप्रद अन्न पकावे। जगत्के निर्माण करने वाले सप्त ऋषि इस माताको सुप्रजा प्रदान करें ॥ १ ॥

बल प्राप्त कर यज्ञ कर, द्रोह करनेवालेकी भाषा न बोल तेजस्वी बन जिससे समरविजयी सुपुत्र होगा जो शत्रुओंको दूर भगा देगा ॥ २ ॥

तू बडा पराक्रम करनेके लिये उत्पन्न हुआ है। उत्तम अन्न द्वारा पाचकका कार्य कर सप्त ऋषियोंको संतोष करनेसे वे सब प्रकारके वीर माताको पुत्र सुपुत्र अपत्य प्रदान करेंगे और उत्तम धन देंगे ॥ ३ ॥



ॐ

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

एकादशं काण्डम्

श्रीमान् जमुनादासजी त्रिभुवनदासजी बम्बई वालों की ओर से भेंट।

ब्रह्मौदन सूक्त

(१)

अग्ने जायस्वादितिर्नाथितेयं ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वा मन्थन्तु प्रजया सहेह ॥ १ ॥
कृणुत धूमं वृषणः सखायोऽद्रोघाविता वाचमच्छ।
अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवा असहन्त दस्यून् ॥ २ ॥
अग्नेऽजनिष्ठा महते वीर्याय ब्रह्मौदनाय पक्तवे जातवेदः।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वाजीजनन्नस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ३ ॥

अर्थ— हे अग्ने! (जायस्व) प्रकट हो। (इयं नाथिता अदितिः) यह प्रार्थना करनेवाली अदीन माता (पुत्रकामा ब्रह्मौदनं पचति) पुत्रोंकी इच्छा करती हुई ज्ञान बढानेवाला अन्न पकाती है। (भूतकृतः सप्त ऋषयः) भूतोंको बनानेवाले सात ऋषि (इह त्वा प्रजया सह मन्थन्तु) यहां तुझे प्रजाके साथ मंथन करें ॥ १ ॥

हे (वृषणः सखायः) बलवान् मित्रो! (धूमं कृणुत) धूवाँ करो अग्निको प्रदीप्त करो। (अद्रोघ-अविता वाचं अच्छ) द्रोह न करनेवालोंकी रक्षा करनेवाली भाषा बोलो। (अयं अग्निः पृतनाषाट् सुवीरः) यह अग्नि शत्रुसेनाको पराजित करनेवाला उत्तम वीर है। (येन देवाः दस्यून् असहन्त) जिससे देवोंने शत्रुओंको पराजित किया ॥ २ ॥

हे अग्ने! हे जातवेदः! तू (महते वीर्याय अजनिष्ठाः) बडा पराक्रम करनेके लिये प्रकट हुआ है। (ब्रह्म-ओदनाय पक्तवे) और ज्ञानवर्धक अन्न पकानेके लिये प्रकट हुआ है। (भूतकृतः सप्त ऋषयः त्वा अजीजनन्) भूतोंकी उत्पत्ति करनेवाले सात ऋषियोंने तुझे प्रकट किया है। (अस्यै सर्ववीरं रयिं नि यच्छ) इस माताके लिये सब प्रकारका धन प्रदान कर ॥ ३ ॥

भावार्थ- माता उत्तम वीर पुत्र होनेके लिये ईश्वरकी प्रार्थना करे उसके लिये सुयोग्य अन्न पकावे। जगत्‌के निर्माण करनेवाले सात ऋषि उस माताको प्रजा प्रदान करें ॥ १ ॥

यज्ञ प्रारंभ कर, यज्ञ कर, द्रोह न करनेवाली भाषा न बोल, तेजस्वी बन जिससे शत्रुविजयी सुपुत्र होगा जो शत्रुओंको दूर भगा देगा ॥ २ ॥

तू बडा पराक्रम करनेके लिये उत्पन्न हुआ है। उत्तम अन्न द्वारा पालन करके सप्त ऋषियोंने तैयार करनेसे ये सब प्रकारके वीर माताओंको उत्तम सुपुत्र अवश्य प्रदान करेंगे और उत्तम धन देंगे ॥ ३ ॥

समिद्धो अग्ने समिधा समिध्यस्व विद्वान् देवान् यज्ञियाँ एह वक्षः ।
तेभ्यो हविः श्रपयं जातवेद उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥
त्रेधा भागो निहितो यः पुरा वो देवानां पितॄणां मर्त्यानाम् ।
अंशान् जानीध्वं वि भजामि तान् वो यो देवानां स इमां पारयाति ॥ ५ ॥
अग्ने सहस्वानभिभूरभीदसि नीचो न्युब्ज द्विषतः सपत्नान् ।
इयं मात्रा मीयमाना मिता च सजातांस्ते बलिहृतः कृणोतु ॥ ६ ॥
साकं सजातैः पयसा सहैध्युदुब्जैनां महते वीर्याय ।
ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति ॥ ७ ॥
इयं मही प्रति गृह्णातु चर्म पृथिवी देवी सुमनस्यमाना । अथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ ८ ॥

अर्थ—हे अग्ने ! (समिधा समिद्धः सं इध्यस्व) समिधासे प्रदीप्त हुआ तू प्रदीप्त हो । [यज्ञियान् देवान् आ इह वक्षः] यज्ञके योग्य देवोंको तू यहां ले आ । हे जातवेद ! (तेभ्यः हविः श्रपयन्) उनके लिये हवि पकाता हुआ [इमं उत्तमं नाकं अधिरोहय] इसको उत्तम स्वर्गपर चढा ॥ ४ ॥

[यः पुरा त्रेधा भागः निहितः] जो पहिले तीन प्रकारका भाग रखा है, वह (देवानां पितॄणां मर्त्यानां) देवोंका पितरोंका और मर्त्योंका है । [अहं वः तान् विभजामि] मैं तुम्हें उन भागोंको पृथक् पृथक् अर्पण करता हूं । [अंशान् जानीध्वं] उन भागोंको समझो । (यः देवानां सः इमां पारयाति) जो देवोंका भाग है वह इस स्त्रीको आपत्तिसे पार करेगा ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! (सहस्वान् अभिभूः इत् अभि असि) तू बलवान् और शत्रुका पराभव करनेवाला है । अतः [द्विषतः सपत्नान् नीचः न्युब्ज] द्वेष करनेवाले शत्रुओंको नीचे दबा । [इयं मात्रा मीयमाना मिता च] यह परीमाण मापा हुआ परिमित प्रमाणमें [ते सजातान् बलिहृतः कृणोतु] तेरे सजातीय वीरोंको तुष्ट कर देनेवाला बनावे ॥ ६ ॥

[पयसा सजातैः साकं एधि] तू दूधके साथ स्वजातियोंके साथ बढ । [महते वीर्याय एनां उत् उब्ज] बडे पराक्रमके लिये इसको तैयार कर । [ऊर्ध्वः नाकस्य विष्टपं अधि रोह] ऊंचा होकर स्वर्गके ऊपर चढ । [यं स्वर्गः लोकः इति वदन्ति] जिसे स्वर्ग लोक कहते हैं ॥ ७ ॥

[इयं मही पृथिवी देवी] यह बडी पृथ्वी देवता [सुमनस्यमाना चर्म प्रति गृह्णातु] शुभ विचारवाली होकर यह चर्मको अपनी रक्षाके लिये लेवे । इससे [अथ सुकृतस्य लोकं गच्छेम] हम पुण्य लोकको प्राप्त हों ॥ ८ ॥

भावार्थ—अग्नि प्रदीप्त कर उसमें हविका हवन कर इससे उत्तम स्वर्ग अवश्य प्राप्त होगा ॥ ४ ॥

देव पितर और मर्त्य इन तीनोंका भाग अन्नमें रहता है । अतः उनको यह भाग अर्पण करना उचित है ॥ ५ ॥

बलवान् और शत्रुका पराभव करनेवाला हो शत्रुओंको दूर भगा दे और वे तुष्ट कर दें ऐसा पराक्रम कर ॥ ६ ॥

बडा पराक्रम करनेके लिये तैयार हो । दूध पीकर स्वजातियोंके साथ पुष्ट हो । इस प्रकार पराक्रम करके स्वर्गके चोटीपर चढ ॥ ७ ॥

यह पृथ्वी बडी देवी है । अपना मन शुभसंकल्पयुक्त करके अपनी रक्षाके लिये तैयार रह जिससे पुण्यात्माओंका लोक प्राप्त होगा ॥ ८ ॥

एतौ ग्रावाणौ सयुजा युङ्ग्धि चर्मणि निर्बिन्ध्यंशून् यजमानाय साधु।
अवघ्नती नि जहि य इमां पृतन्यव ऊर्ध्वं प्रजामुद्भरन्त्युदूह ॥ ९ ॥

गृहाण ग्रावाणौ सकृतौ वीर हस्त आ ते देवा यज्ञिया यज्ञमगुः।
त्रयो वरा यतमांस्त्वं वृणीषे तास्ते समृद्धीरिह राधयामि ॥ १० ॥ (१)

इयं ते धीतिरिदमु ते जनित्रं गृह्णातु त्वामदितिः शूरपुत्रा।
परा पुनीहि य इमां पृतन्यवोऽस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ११ ॥

उपश्वसे द्रुवये सीदता यूयं वि विच्यध्वं यज्ञियासस्तुषैः।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि ॥ १२ ॥

अर्थ-[एतौ सयुजौ ग्रावाणौ] ये साथ रहनेवाले दो पत्थर [चर्मणि युङ्ग्धि] चमड़ा रखो। [यजमानाय साधु अंशून् निर्बिन्ध्य] यजमानके लिये सोमरसको कूटकर निकालो। [ये इमां पृतन्यवः] जो इस वीरपर हमला करते हैं उनका [निजहि] नाश कर। [अवघ्नती ऊर्ध्वं प्रजां उद्भरन्ती उदूह] कूटती हुई और भरणपोषण करती हुई प्रजाका उद्धार कर ॥ ९ ॥

हे वीर [सकृतौ ग्रावाणौ हस्ते गृहाण] उत्तम कर्म करनेवाले ये दो पत्थर हाथमें ले। [यज्ञियाः देवाः ते यज्ञं आगुः] पूज्य देव तेरे यज्ञमें आ गये। [यतमान् त्वं वृणीषे] जो तू मांगता है वे [त्रयः वराः] तीन वर हैं। [ताः समृद्धीः ते इह राधयामि] उन समृद्धियोंको तेरे लिये सिद्ध करता हूं ॥ १० ॥

(इयं ते धीतिः) यह तुम्हारा धारणस्थान है और [इदं उ ते जनित्रं] यह तेरा जन्मस्थान है। [शूरपुत्रा अदितिः त्वां गृह्णातु] शूर पुत्रोंकी अदीन माता तुझे स्वीकार करे। [ये पृतन्यवः इमां परा पुनीहि] जो सैन्यके साथ इस वीरको कष्ट देते हैं उनको दूर कर और [अस्यै सर्ववीरं रयिं नि यच्छ] इसको सब वीरोंसे युक्त धन दे ॥ ११ ॥

[यूयं द्रुवये उपश्वसे सीदत] तुम सब उत्तम औषधिके लिये बैठो। हे [यज्ञियासः] याजको! आप [तुषैः विविच्यध्वं] तुषोंको पृथक् करो। हम [समानान् सर्वान् श्रिया अति स्याम] सब समान लोगोंसे शोभामें श्रेष्ठ बनेंगे। और मैं [द्विषतः अधस्पदं पादयामि] शत्रुओंका स्थान नीचे करता हूं ॥ १२ ॥

भावार्थ- ये सोमरस निकालनेके पत्थर हैं। इनसे सोमका रस निकालो। जो सेना लेकर तुम्हारा नाश करना चाहते हैं उनका नाश कर और अपनी प्रजाका उद्धार कर ॥ ९ ॥

यज्ञके लिये जो योग्य देव हैं उनको इस यज्ञमें बुला। जिस विषयमें तुम्हारा मनन होगा उस वरोंको तुम प्राप्त होगे और उत्तम श्रेष्ठ समृद्धि मिलेगी ॥ १० ॥

यह जन्मभूमि है, यहां यज्ञमें सोमपान होता है, जो शत्रु तुमपर हमला करते हैं उनको नाश कर और यह वीरोंसे युक्त धन तुम्हें प्राप्त हो ॥ ११ ॥

जैसे तुषोंको दूर फेंक देते हैं वैसे शत्रुओंको भगा दो। समानोंमें शोभासे युक्त होकर श्रेष्ठ बनो ॥ १२ ॥

परेहि नारि पुनरेहि क्षिप्रमपां त्वा गोष्ठोऽध्यरुक्षद् भराय।
तासां गृह्णीताद् यतमा यज्ञिया असन् विभाज्य धीरीतरा जहीतात् ॥ १३ ॥
एमा अगुर्योषितः शुम्भमाना उत्तिष्ठ नारि तवसं रभस्व।
सुपत्नी पत्या प्रजया प्रजावत्या त्वागन् यज्ञः प्रति कुम्भं गृभाय ॥ १४ ॥
ऊर्जो भागो निहितो यः पुरा व ऋषिप्रशिष्टाप आ भरैताः।
अयं यज्ञो गातुविन्नाथवित् प्रजाविदुग्रः पशुविद् वीरविद् वो अस्तु ॥ १५ ॥
अग्ने चरुर्यज्ञियस्त्वाध्यरुक्षच्छुचिस्तपिष्ठस्तपसा तपैनम्।
आर्षेया दैवा अभिसंगत्य भागमिमं तपिष्ठा ऋतुभिस्तपन्तु ॥ १६ ॥

अर्थ- हे नारि! [परा इहि] दूर जा और [पुनः क्षिप्रं एहि] फिर शीघ्र आ जा। [अपां गोष्ठः भराय त्वा अधि अरुक्षत्] जलोंका स्थान भरनेके लिये तेरे लिये तैयार है। [तासां यतमा यज्ञियाः असन्] उनमें जो पूजनीय किंवा यज्ञके लिये योग्य जल है, उनका [गृह्णीतात्] स्वीकार कर और [धीरी इतराः विभाज्य जहीतात्] बुद्धिसे दूसरोंको पृथक् करके छोड दे ॥ १३ ॥

[इमाः योषितः शुम्भमानाः आ अगुः] ये स्त्रियाँ सुशोभित होकर यहां आगई हैं। हे नारि! [उत्तिष्ठ तवसं रभस्व] उठ और बलसे प्राप्त हो। तू [पत्या सुपत्नी] उत्तम पतिके साथ उत्तम पत्नी हो [प्रजया प्रजावती] उत्तम संतानसे प्रजावाली हो [यज्ञः त्वा आ अगन्] यज्ञ तेरे पास पहुंचा है [कुम्भं प्रति गृभाय] घडेका ग्रहण कर ॥ १४ ॥

हे [आपः] जलो! [वः यः ऊर्जः भागः पुरा निहितः] जो आपका बलवान् भाग पहिले रखा गया है, [ऋषिप्रशिष्टाः एताः आ भर] ऋषियोंकी आज्ञासे इसे भरकर ले आ। [अयं यज्ञः वः] यह यज्ञ आपके लिये [गातुवित् नाथवित् प्रजावित्] मार्गदर्शक ऐश्वर्यवर्धक प्रजाका देनेवाला, [उग्रः पशुवित् वीरवित् अस्तु] उग्रता देनेवाला, पशु देनेवाला और वीर बनानेवाला होवे ॥ १५ ॥

हे अग्ने! [यज्ञियः शुचिः तपिष्ठः चरुः त्वा अधि अरुक्षत्] यज्ञ योग्य पवित्र और तपःसामर्थ्यसे युक्त चरु तुझे प्राप्त हुआ है अतः तू [एनं तपसा तप] इसको अपनी उष्णतासे तपा। [आर्षेयाः दैवाः तपिष्ठाः] ऋषियों और देवोंसे उत्पन्न तपस्वी [इमं भागं अभिसंगत्य ऋतुभिः तपन्तु] इस भागके पास आकर ऋतुओंके अनुकूल तपावें ॥ १६ ॥

भावार्थ—स्त्री जावे और [illegible] और पूर्ण करके देवे। जलका स्थान [illegible] भर रखे। जो जल [illegible] ॥ १३ ॥

[illegible] स्त्री उत्तम पति प्राप्त करे, पुत्र उत्पन्न करे, घरका [illegible] और [illegible] ॥ १४ ॥

[illegible] ॥ १५ ॥

[illegible] देवताओंकी [illegible] और [illegible] ॥ १६ ॥

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमव सर्पन्तु शुभ्राः ।
अदुः प्रजां बहुलान् पशून् नः पक्तौदनस्य सुकृतामेतु लोकम् ॥ १७ ॥
ब्रह्मणा शुद्धा उत पूता घृतेन सोमस्यांशवस्तण्डुला यज्ञिया इमे ।
अपः प्र विशत प्रति गृह्णातु वश्चरुरिमं पक्त्वा सुकृतामेत लोकम् ॥ १८ ॥
उरुः प्रथस्व महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके ।
पितामहाः पितरः प्रजोपजाहं पक्ता पञ्चदशस्ते अस्मि ॥ १९ ॥
सहस्रपृष्ठः शतधारो अक्षितो ब्रह्मौदनो देवयानः स्वर्गः ।
अमूंस्त आ दधामि प्रजया रेषयैनान् बलिहाराय मृडतान्मह्यमेव ॥ २० ॥ (२)
उदेहि वेदिं प्रजया वर्धयैनां नुदस्व रक्षः प्रतरं धेह्येनाम् ।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि ॥ २१ ॥

अर्थ-[इमाः शुद्धाः पूताः यज्ञियाः योषितः] ये शुद्ध पवित्र और पूजनीय स्त्रियाँ [शुभ्राः आपः चरुम् अवसर्पन्तु] और स्वच्छ जल इस चरुके पास आजावें। [नः प्रजां बहुलान् पशून् अदुः] हमें संतान और उत्तम पशु देवें। [पक्तौदनस्य सुकृतां लोकं एतु] अन्नका पकानेवाला पुण्यलोकको प्राप्त हो ॥ १७ ॥

[ब्रह्मणा शुद्धाः उत घृतेन पूताः] ज्ञानसे पवित्र और जलसे वा घीसे पुनीत हुए [सोमस्य अंशवः तण्डुलाः] ये सोमके अंश जैसे चावल हैं। हे [आपः] जलो! [प्रविशत] तुम अन्दर प्रविष्ट हो जाओ। [वः चरुः प्रति गृह्णातु] तुम्हें यह चरु प्राप्त हो। [इमं पक्त्वा सुकृतां लोकं एत] इसको पकाकर पुण्यवानोंके लोकको जाओ ॥ १८ ॥

[उरुः महता महिम्ना प्रथस्व] बडा होकर बडे महत्त्वके साथ फैल जा। [सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके] हजारों पीठवाला होकर पुण्य लोकमें विराज। [पितामहाः पितरः प्रजाः उपजाः] पितामह पितर संतानें और उनकी संतानें ऐसा क्रम चले। [अहं पक्ता पञ्चदशः अस्मि] मैं पकानेवाला पन्द्रहवां होऊं ॥ १९ ॥

(सहस्रपृष्ठः शतधारः अक्षितः) हजारों पीठोंवाला सैकडों धाराओंवाला अक्षय, [ब्रह्मौदनः देवयानः स्वर्गः] ज्ञान बढानेवाले अन्नसे प्राप्त होनेवाला देवयान स्वर्ग है। [ते अमून् आदधामि] तेरे लिये इनको मैं धारण करता हूं। [एनान् प्रजया बलिहाराय रेषय] इनको संतानके साथ कर देनेके लिए सिद्ध कर। ये सब [मह्यं एव मृडतात्] मुझेही सुखी करें ॥ २० ॥

[वेदिं उदेहि] वेदिको बढाओ [एनां प्रजया वर्धय] इसकी प्रजासे वृद्धि कर। [रक्षः नुदस्व] राक्षसोंको भगा दो [एनां प्रतरं धेहि] इसको विशेष रीतिसे धारण कर [समानान् सर्वान् श्रिया अति स्याम] सब समानोंसे लक्ष्मीसे अधिक हम हों। [द्विषतः अधः पदं पादयामि] शत्रुओंको नीचे गिराता हूं ॥ २१ ॥

भावार्थ- जो स्त्रियां शुद्ध और पवित्र धार्मिक विचारकी हैं वे उत्तम अन्न तैयार करें। हमें उत्तम संतान और बहुत पशु प्राप्त हों। उत्तम अन्नका प्रदान करनेवाला पुण्यलोक प्राप्त हो ॥ १७ ॥

यह चावल पवित्र और उत्तम है, जल इसके साथ मिले, सब मिलकर पकाया जावे। सब लोग इससे आनन्द प्राप्त करें। ॥ १८ ॥

बडा महत्त्वका स्थान प्राप्त कर और पुण्यलोकमें विराजमान हो। पितामह पिता पुत्र पौत्र प्रपौत्र इस क्रमसे अपना वंशका विस्तार होता रहे। इसप्रकार अपने पंद्रह मनुष्योंका ज्ञान हो। और यह पद कि मैं पकानेवाला पन्द्रहवां हूं ॥ १९ ॥

यह अक्षय स्वर्ग है इन अन्नसे इस अन्नका धारण पोषण होता रहे। ये सब सुखकी वृद्धि करें और इनको अन्नके भागोंसे कर देनेवाले वीर बनें ॥ २० ॥

यज्ञ करो प्रजाकी वृद्धि करो, शत्रुओंसे दूर भगाओ। विशेषसे धारण करो, सब जातियोंको अपने समूह करके सबसे अधिक बन जाओ और शत्रुओंको दबा दो ॥ २१ ॥

अभ्यावर्तस्व पशुभिः सहैनां प्रत्यङेनां देवताभिः सहैधि ।
मा त्वा प्रापच्छपथो माभिचारः स्वे क्षेत्रे अनमीवा वि राज ॥ २२ ॥
ऋतेन तष्टा मनसा हितैषा ब्रह्मौदनस्य विहिता वेदिरग्रे ।
अंसध्रीं शुद्धामुप धेहि नारि तत्रौदनं सादय दैवानाम् ॥ २३ ॥
अदितेर्हस्तां स्रुचमेतां द्वितीयां सप्तऋषयो भूतकृतो यामकृण्वन् ।
सा गात्राणि विदुष्योदनस्य दर्विर्वेद्यामध्येनं चिनोतु ॥ २४ ॥
शृतं त्वा हव्यमुप सीदन्तु दैवा निःसृप्याग्नेः पुनरेनान् प्र सीद ।
सोमेन पूतो जठरे सीद ब्रह्मणामार्षेयास्ते मा रिषन् प्राशितारः ॥ २५ ॥
सोम राजन्त्संज्ञानमा वपैभ्यः सुब्राह्मणा यतमे त्वोपसीदान् ।
ऋषीनार्षेयांस्तपसोऽधि जातान् ब्रह्मौदने सुहवा जोहवीमि ॥ २६ ॥

अर्थ—[एनां पशुभिः सह अभि आवर्तस्व] इस स्त्रीको पशुओंके साथ प्राप्त हो। और [एनां देवताभिः सह प्रत्यङ् एधि] इस स्त्रीको देवताओंके साथ प्रत्यक्ष मिलो। [त्वा शपथः मा प्रापत्] तुझे शाप न मिले। [अभिचारः मा] वध न हो। [स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज] अपनी भूमिमें नीरोग होकर प्रकाशित हो ॥ २२ ॥

[ऋतेन तष्टा] सत्यसे बनाई, [मनसा हिता] मनसे रखी [एषा ब्रह्म-ओदनस्य वेदिः] यह ज्ञान बढानेवाले अन्नकी वेदी [अग्रे विहिता] आगे बनाई है। हे नारि! [शुद्धां अंसध्रीं उपधेहि] शुद्ध थालीको ऊपर रख और [तत्र देवानां ओदनं सादय] वहां देवोंका अन्न तैयार कर ॥ २३ ॥

[भूतकृतः सप्त-ऋषयः] भूतमात्रको बनानेवाले सात ऋषियोंने [अदितेः हस्तां यां एतां द्वितीयां स्रुचं अकृण्वन्] अदितिमाताका दूसरा हाथ जैसा यह चमस बनाया है। [सा दर्विः ओदनस्य गात्राणि विदुषी] वह कडछी अन्नके भागोंको जानती हुई [एनं वेद्यां अधि चिनोतु] इसको वेदीके मध्यमें रखे ॥ २४ ॥

[त्वा शृतं हव्यं देवाः उप सीदन्तु] तैयार हुए अन्नके पास देव आ बैठें। [अग्नेः निःसृप्य पुनः एनान् प्रसीद] अग्निसे चलकर फिर इन देवोंको प्रसन्न कर। [सोमेन पूतः जठरे सीद] सोमसे पवित्र होकर ब्राह्मणोंके पेटमें जा, [ते प्राशितारः आर्षेयाः मा रिषन्] तेरा प्राशन करनेवाले ऋषिपुत्र दुःखी न हों ॥ २५ ॥

हे [सोम राजन्] राजा सोम! [यतमे सुब्राह्मणाः त्वा उपसीदान्] जो उत्तम ब्राह्मण तेरे पास आ बैठेंगे [एभ्यः संज्ञानं आवप] इनको उत्तम ज्ञान दे। [तपसः अधि जातान् आर्षेयान् ऋषीन्] तपसे उत्पन्न ऋषिपुत्र ऋषियोंको [ब्रह्मौदने सुहवा जोहवीमि] ज्ञान बढानेवाले अन्नमें उत्तम बुलाने योग्योंको भी बुलाता हूं ॥ २६ ॥

भावार्थ—देवता और गौ आदि पशुओंके साथ स्त्रीको सुरक्षित रखो। शाप इसे कष्ट न दें। जिससे तुम्हें दुःख न हो अपनी मातृभूमिमें नीरोग होकर विराजते रहो ॥ २२ ॥

सत्यसे निर्मित मनसे सुरक्षित यह अन्नका स्थान है। यह अन्न शुद्ध पात्रमें रख और देवोंको अर्पण कर ॥ २३ ॥

जगत् का बनानेवाले सप्त-ऋषियोंने यह कडछी निर्माण की है। इस कडछीसे बारबार अन्न लेकर वेदीपर रख ॥ २४ ॥

अन्न तैयार करके देवताओंको समर्पण कर उससे वे प्रसन्न हों सोमके साथ अन्न ब्राह्मण खावें और खानेवाले दुःखी न हों ॥ २५ ॥

जो उत्तम ब्राह्मण हों उनको सौम्य और अन्न दिया जावे। तप करनेवाले ऋषिकोटियोंका सत्कार उत्तम अन्नसे किया जावे ॥ २६ ॥

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि ।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददादिदं मे ॥ २७ ॥
इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा ।
इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥ २८ ॥
अग्नौ तुषाना वप जातवेदसि परः कम्बूकाँ अप मृड्ढि दूरम् ।
एतं शुश्रुम गृहराजस्य भागमथो विद्म निर्ऋतेर्भागधेयम् ॥ २९ ॥
श्राम्यतः पचतो विद्धि सुन्वतः पन्थां स्वर्गमधि रोहयैनम् ।
येन रोहात् परमापद्य यद् वय उत्तमं नाकं परमं व्योम ॥ ३० ॥ (३)
बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतद् वि मृड्ढ्याज्याय लोकं कृणुहि प्रविद्वान् ।
घृतेन गात्रानु सर्वा वि मृड्ढि कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥ ३१ ॥

अर्थ- [इमाः शुद्धाः पूताः यज्ञियाः योषितः] ये शुद्ध और पवित्र स्त्रियां यज्ञके योग्य हैं। इनको [ब्रह्मणां हस्तेषु पृथक् प्रसादयामि] ब्राह्मणोंके हाथोंमें अलग अलग अर्पण करता हूं। [यत्कामः अहं वः इदं अभिषिञ्चामि] जिस कामनासे मैं तुम देवताओंके अभिषेकसे यह देता हूं, [मरुत्वान् सः इन्द्रः मे इदं ददात्] मरुतोंके साथ रहनेवाला वह इन्द्र मुझे वह देवे ॥ २७ ॥

[इदं हिरण्यं मे क्षेत्रात् पक्वं अमृतं ज्योतिः] यह सुवर्ण मेरे खेतसे पका हुआ अमर तेजही है। [एषा मे कामदुघा] यह मेरी इच्छाके अनुसार दुही जानेवाली गौ है। [ब्राह्मणेषु इदं धनं निदधे] ब्राह्मणोंको यह धन देता हूं [यः स्वर्गः पन्थां पितृषु कृण्वे] जो स्वर्गका मार्ग है उसे मैं पितरोंके लिये बनाता हूं ॥ २८ ॥

[जातवेदसि अग्नौ तुषान् आ वप] जातवेद अग्निमें तुषोंको डाल [कंबूकान् दूरं अपमृड्ढि] छिलकोंको दूर फेंक दो [एतं गृहराजस्य भागं शुश्रुम] यह श्रेष्ठ गृहस्थके घरका भाग है ऐसा हम सुनते हैं। [अथो निर्ऋतेः भागधेयं विद्म] इससे विपरीत अधोगतिका भाग है ऐसा हम समझते हैं ॥ २९ ॥

[श्राम्यतः पचतः सुन्वतः विद्धि] परिश्रमी अन्न पकानेवाले और सोमरस निकालनेवालोंको तू जान। [एनं स्वर्गं पन्थां अधिरोहय] इसको स्वर्गके मार्गपर चढाओ। यह [येन परं वयः आपद्य] जिससे परम आयुको प्राप्त होकर [उत्तमं नाकं परमं व्योम रोहात्] उत्तम स्वर्गरूप परम आकाशपर जा पहुंचे ॥ ३० ॥

हे अध्वर्यु ! [बभ्रेः एतद् मुखं विमृड्ढि] इस बर्तनका यह मुख स्वच्छ कर। [प्रविद्वान् आज्याय लोकं कृणुहि] जानता हुआ घीके लिये स्थान बना। [घृतेन सर्वा गात्रा विमृड्ढि] घीसे सब गात्र स्वच्छ कर। [यः स्वर्गः पंथां पितृषु कृण्वे] जो स्वर्गका मार्ग है उसको मैं पितरोंके लिये करता हूं ॥ ३१ ॥

भावार्थ- शुद्ध पवित्र यज्ञयोग्य स्त्रियोंको ब्राह्मणोंके हाथमें अलग अलग दिया जाय। अर्थात् एक एक ब्राह्मण एक एक स्त्रीका पाणिग्रहण करे। जो जिसकी इच्छा हो वह उसकी पूर्ण हो ॥ २७ ॥

यह सुवर्ण है और यह खेतमें पका हुआ उत्तम अन्न है। यह मैं ब्राह्मणोंको देता हूं। यह स्वर्गका ही मार्ग है ॥ २८ ॥

अग्निमें तुषोंको रख और छिलकोंको दूर फेंक। शेष उत्तम भाग घरका राजा है उसको सुरक्षित रख। अन्यथा विपत्तिका समय प्राप्त होगा ॥ २९ ॥

परिश्रम करो अन्न पकाओ, औषधियोंका रस निकालो इससे स्वर्गसुख मिलेगा आयु बढेगी और मोक्ष आनंद प्राप्त होगा ॥ ३० ॥

बर्तन स्वच्छ करके उसमें घी भरकर रखो। घीसे सब गात्र स्वच्छ होकर उत्तम सुख प्राप्त होगा ॥ ३१ ॥

अग्ने रक्षः समदमा एभ्योऽब्राह्मणा यतमे त्वोपसीदान्।
पुरीषिणः प्रथमानाः पुरस्तादार्षेयास्ते मा रिषन् प्राशितारः ॥ ३२ ॥
आर्षेयेषु नि दध ओदन त्वा नानार्षेयाणामप्यस्त्यत्र।
अग्निर्मे गोप्ता मरुतश्च सर्वे विश्वे देवा अभि रक्षन्तु पक्वम् ॥ ३३ ॥
यज्ञं दुहानं सदमित् प्रपीनं पुमांसं धेनुं सदनं रयीणाम्।
प्रजामृतत्वमुत दीर्घमायू रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम ॥ ३४ ॥
वृषभोऽसि स्वर्ग ऋषीनार्षेयान् गच्छ। सुकृतां लोके सीद तत्र नौ संस्कृतम् ॥ ३५ ॥
समाचिनुष्वानुसंप्रयाह्यग्ने पथः कल्पय देवयानान्।
एतैः सुकृतैरनु गच्छेम यज्ञं नाके तिष्ठन्तमधि सप्तरश्मौ ॥ ३६ ॥
येन देवा ज्योतिषा द्यामुदायन् ब्रह्मौदनं पक्त्वा सुकृतस्य लोकम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम् ॥ ३७ ॥ (४)

अर्थ- हे [अग्ने] अग्ने! [यतमे अब्राह्मणाः त्वा उपसीदान्] जो अब्राह्मण तेरे पास आकर बैठते हैं [एभ्यः समदमा रक्षः] इन सबसे राक्षसोंको भी दूर कर। [हे प्राशितारः पुरीषिणः] हे भोजन करनेवाले अन्नवाले [प्रथमानाः आर्षेयाः पुरस्तात् मा रिषन्] ऋषिपुत्र कभी न नष्ट हों ॥ ३२ ॥

हे [ओदन त्वा]! [आर्षेयेषु त्वा निदधे] ऋषिपुत्रोंमें तुझे रखता हूं। (अनार्षेयाणां अपि अत्र न अस्ति) जो आर्षभाव नहीं है उनका भाग यहां नहीं है। [मे गोप्ता अग्निः] मेरी रक्षा करनेवाला अग्नि है। [सर्वे मरुतः विश्वे देवाः च पक्वं अभि रक्षन्तु] सब मरुत् और सब देव इस परिपक्वकी रक्षा करें ॥ ३३ ॥

(यज्ञं दुहानं प्रपीनं सदं इत्) यज्ञ करनेवाला सदा समृद्ध; (रयीणां सदनं धेनुं) संपत्तिका घर ऐसी गौ है। (त्वा पुमांसं) तुझ पुरुषके पास (पोषैः प्रजाऽमृतत्वं उत दीर्घं आयुः) पुष्टियोंके प्रजाकी पुष्टि और उसकी दीर्घ आयु (रायः च उप सदेम) और धन लेकर आते हैं ॥ ३४ ॥

(वृषभः असि) तू बलवान् है तू (स्वर्गः असि) सुखदायक है। (आर्षेयान् ऋषीन् गच्छ) ऋषिपुत्रों और ऋषियोंके पास जा, (सुकृतां लोके सीद) पुण्यवानोंके स्थानमें रह। (तत्र नौ संस्कृतं) वहां हम दोनोंका सुसंस्कृत कर्म रहे ॥ ३५ ॥

हे अग्ने! (समाचिनुष्व) संग्रह कर। (अनुसंप्रयाहि) अनुकूलताके साथ मिलकर जा। (देवयानान् पथः कल्पय) देवोंके जानेयोग्य मार्गोंको तैयार कर। (एतैः सुकृतैः सप्तरश्मौ नाके तिष्ठन्तं) इन पुण्यकर्मोंके साथ सात किरणोंवाले स्वर्गस्थानमें रहनेवाले (यज्ञं अनुगच्छेम) यज्ञके अनुकूल होकर जावेंगे ॥ ३६ ॥

[येन ज्योतिषा देवाः द्यां उदायन्] जिस ज्योतिसे देव स्वर्गको चढ़े (ब्रह्मौदनं पक्त्वा सुकृतस्य लोकं) ज्ञान बढ़ानेवाला अन्न पकाकर पुण्यलोकको प्राप्त हुए [तेन स्वः आरोहन्तः] उससे स्वर्गपर चढ़ते हुए (उत्तमं नाकं सुकृतस्य लोकं) उत्तम सुखमय पुण्यलोकको (गेष्म) प्राप्त हों ॥ ३७ ॥

भावार्थ- जो ब्राह्मण आर्षेय उत्तम शत्रुओंको दूर भगा दे। उन ब्राह्मणोंको अन्न समर्पण करो जिससे वे पुष्ट हों ॥ ३२ ॥
अ[illegible] ऋषियोंके पास जो यहां [illegible] का भाग नहीं है। इससे सबकी रक्षा होगी ॥ ३३ ॥
गौ सब धनोंका घर है इससे प्रजाकी पुष्टि और दीर्घायु करनी चाहिये ॥ ३४ ॥
बलवान बनो स्वर्ग प्राप्त करो ऋषियोंके पीछे चलो पुण्यमें स्थान करो और अपने आपको सुसंस्कृत करो ॥ ३५ ॥
संग्रह करो, अनुकूल बनो देवमार्गसे जाओ पुण्य करो, सूर्यकिरणोंके स्थानमें रहो, यज्ञ करो यही सुखदायक मार्ग है ॥ ३६ ॥
तेजके साथ पुण्यलोक प्राप्त करो, स्वर्ग चढ़ो, इसीसे कल्याण प्राप्त होगा ॥ ३७ ॥

ज्ञान बढानेवाला अन्न।

मन्त्रका अर्थ ज्ञान है और ओदनका अर्थ अन्न है। विशेषतः चावलोंका पका अन्न ओदन है। मनुष्यकी ज्ञानशक्तिकी वृद्धि करनेवाला यह अन्न है इस कारण इसको ब्रह्मौदन कहते हैं। चावलोंके साथ उत्तम जल उत्तम दूध सोमादि औषधियोंका रस मिश्रित करके यह अन्न बनता है। बुद्धिवर्धक औषधियोंके रस इसमें सम्मिलित होते हैं, इससे ज्ञानकी वृद्धि और दीर्घ आयुकी प्राप्ति होकर पुष्टिभी मिलती है। गृहस्थियोंके लिये यह अन्न अत्यंत उत्तम है क्योंकि इससे वीर्यकी वृद्धि होनेके कारण पुत्रसमूहकी प्राप्ति करनेवाला यह अन्न है।

गृहस्थियोंको पुत्रोंका निर्माण करनेका मुख्य कार्य होता है। इसके लिये स्त्रियोंको " पुत्रकामा अदितिः " का आदर्श पालन करना चाहिये। सुपुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छा धारण करके तदनुसार धीमताके साथ मार्ग रखना चाहिये। घरमें और अपने राज्यमें अदीन होकर विराजना चाहिये। अदितिका आदर्श संपूर्ण आर्यस्त्रियोंके सम्मुख है। इनमें केवल सत्पुत्रोंकी ही कामना है। उनके कल्याणके लिये जो अन्न खाना चाहिये वही अन्न यह खाती है, वही अन्न पकाती है। अपने पुत्रोंके कल्याणके लिये ही यह सुयोग्य अन्न पकाती है। सुपुत्रोंके ज्ञानकी वृद्धि हो उनकी बुद्धि विकसित हो एतदर्थ यह प्रयत्न परिश्रम करती है। यही आदर्श आर्यस्त्रियोंको अपने सामने रखना चाहिये।

सात ऋषि इस संपूर्ण विश्वकी रचना करते हैं सात ऋषि आकाशमें हैं उनमें सात तत्त्व प्रधान हैं जिनके मेलसे यह जगत् बनता है। सात ऋषि प्राणादि तत्त्वोंके वाचक हैं जो इस विश्वके निर्माता सुप्रसिद्ध हैं। इनकी प्रसन्नतासे संतानकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है। यह एक महत्त्वका विज्ञान है। इन सात ऋषियोंका वर्णन इस सूक्तमें अनेक वार आ गया है। अतः इसकी खोज करके निश्चय करना चाहिये कि ये विश्वकी रचना कैसे करते हैं।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि यज्ञके लिये अग्नि प्रदीप्त करो द्वेषादिक भावना हरो। यह आत्मबल है और दूसरा इन्द्रबल है। इन दोनों बलोंसे मानवोंकी उन्नति होती है। वीर बनना ही बडाभारी बल है। इन सब प्रकारके बलोंसे सुपुत्र ऐसे बनेंगे कि जो [पृतनाषाड् सुवीरः] समरमें विजय करनेवाले और उत्तम वीर हों। जो अपने शत्रुओंको परास्त कर सकते हैं।

शत्रुओंको परास्त करना।

अपने शत्रुओंको परास्त करना एक महत्त्वपूर्ण कार्य इस संसारमें है। जिसके बिना मनुष्य क्षणमात्र जीवित रह नहीं सकता। मनुष्यके शत्रु आध्यात्मिक बौद्धिक मानसिक शारीरिक सामाजिक और राष्ट्रीय क्षेत्रोंमें होते हैं। उन सबको परास्त करनेसे ही मनुष्य उन्नत हो सकता है। इसलिये वेद यहां शत्रुओंके दमनपर इतना भार दे रहा है। पाठक इसका विचार करें और शत्रुको परास्त करनेका महत्त्व जानें।

तीसरे मंत्रमें कहा है (महते वीर्याय जज्ञिषे) मनुष्य बडा पुरुषार्थ करनेके लिये यहां उत्पन्न हुआ है। पुरुषार्थ करके अपने सब शत्रुओंको दूर भगा देवे। और (वर्चसे रयिं) सब प्रकारके वीरताके मार्गोंसे धन प्राप्त करे। यहां वेदका महत्त्व इस बातमें है कि यह केवल धन कमानेको नहीं कहता परंतु धनके साथ वीरत्वको प्राप्त करनेको भी कहता है क्योंकि वीरताके बिना धनकी रक्षा नहीं हो सकती। अतः जिस धनके साथ वीरता न होगी वह धन स्थिर नहीं रह सकेगा।

आगे चतुर्थ मंत्रमें कहते हैं कि यज्ञके योग्य देवोंको यज्ञमें बुलाओ। यहां सहायकोंको और सम्मान्योंको बुलाने तथा अपने पास करनेकी सूचना मिलती है। जो सहायता करनेवाले नहीं हैं उनको बुलाना नहीं है। जैसे (सादयो दिवान् निषेध। अथर्व ३। १५। ५) नाशक बल करनेवाले देवोंका निषेध करनेको कहा है। इससे भी सहायकोंको पास करने और विरोधकोंको दूर करनेकी सूचना मिलती है।

पंचम मंत्रमें कहा है कि अन्नमें देवों पितरों और मानवोंका भाग होता है। यह जिसका उसको देना मनुष्यका कर्तव्य है। एकका भाग दूसरेको देना उचित नहीं यही अन्याय और अधर्म है। मनुष्य अपने अन्नमेंसे इनका भाग इनको देवे और पश्चात् शेषका स्वयं भोग करे।

यह मंत्रका कथन है कि मनुष्य (सहस्वान्) बलवान बन उत्पन्न होवे [अभिभूः] शत्रुका पराभव करनेवाला बने। और [सपत्नान् नीचः कृणुष्व] शत्रुओंको नीचे दबाकर रखे उनको उठने न दे इतनाही नहीं परंतु उनको [बलिहृतः] करभार देनेवाले बनावे। अर्थात् जो पहिले शत्रुता करते थे वे अब इसको कर देनेवाले बनें। इतनी शक्ति इसको अपने अंदर बढानी चाहिये।

सप्तम मंत्रमें [महते वीर्याय] बडा पराक्रम करनेके लिये फिर सूचना दी है। तृतीय मंत्रमें यही बात कही थी वह फिर यहां दुहराई है। क्योंकि मानवी जीवनमें पराक्रमका स्थान बडाही ऊंचा है। [पयसा] दूध पीकर बलवान् बनना और बडा पराक्रम करना हरएकको उचित है। इसी तरह कर्मयोगका मार्ग खुल जाता है।

आगेके तीन मंत्रोंमें पत्थरोंद्वारा सोमरस निकालनेका वर्णन है। यह सोमरस सब प्रकारसे मनुष्योंका स्वास्थ्य बढानेवाला और उत्साह बढानेवाला है। यज्ञयागमें इसका हवन करके सब लोग इसका पान करते हैं। यह रस पिया जाता है दूधके साथ मिलाकर पीते हैं और भुने जौके साथ मिलाकर भी खाते हैं। अनेक रीतिसे इस रसका सेवन किया जा सकता है।

शूरपुत्रा स्त्री।

ग्यारहवें मंत्रमें आदर्श स्त्री शूरपुत्रा होती है ऐसा कहा है। स्त्रियोंको यह बात स्मरण रखनी चाहिये। पुत्र बडे शूर होने चाहिये। भीरु डरपोक नहीं होने चाहिये। गृहस्थियोंको इस बातका ध्यान रखना चाहिये। क्योंकि [सर्ववीरा एधि] सब वीरताके गुणोंके साथ यश प्राप्त करना गृहस्थीका धर्म है। और पुत्र होनेपरही सर्ववीर सुख यश प्राप्त होना संभव हो सकता है।

बारहवें मंत्रमें दो मंत्रभाग मुख्य हैं। [श्रिया सर्वान् अतिस्थाम] ऐश्वर्यसे सबसे बढकर हों और [द्विषतः पद अधः आसादयामि] शत्रुओंका स्थान नीचे करता हूं। आगे २१ वे मंत्रमें भी यही कहा है। सबही मनुष्योंको यही उपदेश सदा ध्यानमें धारण करने चाहिये। हरएक समय यही भाव मनुष्योंको अपने सन्मुख रखना चाहिये।

स्त्रियोंका कर्तव्य।

घरमें पानी भरना प्रथम कर्तव्य है। उत्तमसे उत्तम पानी घरमें भरना चाहिये। घडा लेकर उत्तम जल भरनेका काम भी करें स्त्रियां मिलकर पानी भरनेके लिये जांय। उत्तम जल घरमें लाना यह (वः ऊर्जो भागः) बल बढानेवाला भाग है। स्नान पशु आदिके लिये इसकी बडी आवश्यकता होती है। यह उपदेश मंत्र १६ तक किया है।

सोलहवें मंत्रमें (चरुः) चावल आदि अन्न पकानेकी आयोजना करनेका उत्तम उपदेश है (ऋतुभिः) ऋतुओंके अनुकूल अन्न तैयार किया जाय। जिसका सेवन करके सब मनुष्य लोग सुदृढ और दीर्घायु बनें।

सत्रहवें मंत्रमें कहा है कि स्त्रियां शुद्ध, पवित्र और सुंदर वस्त्र आभूषणादिसे युक्त होकर घरमें पानी लावें और अन्न पकावें, यज्ञमें उपस्थित हों उत्तम आतिथ्यसत्कार करें पशुओं और संतानोंको तृप्त करें और घरकी सब सुव्यवस्था करें। किसी तरह न्यूनता रहने न दें।

अठारहवें मंत्रमें चावल भी सोमरस आदिसे उत्तम रस अन्न तैयार करनेका उपदेश है। उत्तम अन्न पकाना स्त्रियोंका मुख्य गृहकर्म है।

उन्नीसवें मंत्रमें कहा है कि पितामह, पिता पुत्र आदि ११ पुरुषोंतक अविच्छिन्न वंश हो। घरमें ऐसा वातावरण रहना चाहिये और ऐसी सुव्यवस्था होनी चाहिये कि वंश बीचमें न टूटे, पुरुष दीर्घायु हों और अटूट वंश हो। पंद्रह पुरुषोंतक कमसे कम वंश अटूट रहे आगे जितना रहेगा उतना अच्छाही है, परंतु कमसे कम इतना तो अवश्य रहे। यह सब मनोबल अर्थात् ज्ञान बढानेवाले यज्ञसे होता है। ज्योतिष्टोमका अर्थ बुद्धिवर्धक यज्ञ है। इससे बुद्धि बढती है और बुद्धिसे यह सीधा मार्ग दीखता है। इससे मनुष्य (रक्षः दुरस्य) राक्षसोंको दूर कर सकता है और अपने आपको आगे बढा सकता है।

आगे बाईसवें मंत्रमें कहा है कि (सभयः अभिचारः मा प्रपत्) चोरी और हमलोंसे सब दूर रहें। शरीरमें रोग न हों। सब प्रकारसे कुशलता रहे। पाठक जान सकते हैं कि शरीरकी नीरोगिता शरीर शुद्ध रखनेसे होती है वाणीकी नीरोगिता बुरी गालियां आदि न होनेसे होती है और स्वभावकी नीरोगिता चोरी आदिके अपराध न होनेसे हो सकती है। शरीर, वाणी और स्वभाव नीरोग रहने चाहिये। यदि यह इच्छा है तो प्रयत्न निरंतर रखना चाहिये। कुपथ्यसे शरीरमें रोग होते हैं अपशब्दोंसे वाणी रोगी होती है और अपराधकी वृत्तिसे स्वभाव रोगी होता है।

पाठकोंको उचित है कि वे अपने इन सब क्षेत्रोंमें स्वास्थ्य रखनेका यत्न करें ।

तेईसवें मंत्रमें पाचक अग्नि अन्न तैयार होनेपर उसको परोसनेकी विधि बताती है । चौबीसवें मंत्रमें कलछीका उपयोग करके पात्रोंमें सींच करनेको कहा है । पचीसवें मंत्रमें कहा है कि—

प्राशितारः मा रिषन् ।

अन्न भक्षण करनेवाले दुःखी या रोगी न हों। अन्न ऐसा उत्तम हो कि जिससे खानेवाले तृप्त होकर पुष्ट होते जांय । पकानेवालेका यही कर्तव्य है कि खानेवाले उसे आनंदसे खाय और हजम करें और पुष्ट हों । ऐसा अन्न पकाकर उत्तम विद्वानोंको खिलाना चाहिये । यह सूचना २६ वें मंत्रमें कही है ।

विवाह ।

सत्ताईसवें मंत्रमें विवाहका विषय संक्षेपसे कहा है । स्त्रियां (शुद्धाः पूता योषितः यज्ञियाः) शुद्ध पवित्र और पूज्य हैं यह वाक्य यहां बहुतही महत्त्व रखता है । स्त्रियोंकी निंदा नहीं करनी चाहिये, उनकी घर घरमें पूजा होनी चाहिये। जहां इनकी पूजा होगी वहां पवित्रता रहेगी और पवित्रतासे उन्नति साध्य होगी । यह वर्णन स्त्रियोंका हमारे समाजमें कैसा स्थान है इसका स्पष्ट निर्देश कर रहा है ।

इन स्त्रियोंका विवाह ज्ञानियोंके साथ करना चाहिये । (ब्रह्मणां हस्तेषु प्र पृथक् सादयामि) ज्ञानियोंके हाथमें पृथक् पृथक् एक एकके हाथमें एक एककी देना योग्य है । एक पुरुष अनेक स्त्रियां न करे एकको अनेक पुरुषोंके साथ संबंध न करे । एक स्त्री एकही पुरुषके साथ रममाण हो और एक पुरुष एकही स्त्रीके साथ आनंदके साथ रहे । यह आदर्श गृहस्थाश्रमका वर्णन यहां अति संक्षेपसे व्यक्त किया है । इस मंत्रका 'पृथक्' शब्द बडा महत्त्वका है । इसी शब्दके कारण विवाहका नियम स्पष्ट हो जाता है ।

आगे अठ्ठाईसवें मंत्रमें गृहस्थाश्रममें कामधेनु (कामदुघा) रखनी चाहिये यह आदेश है। घर घरमें गौका पालन होना चाहिये । कामधेनु वह है कि जो इच्छा होनेके समय दूध देती है । घरमें छोटे बालक रहें और रोगी होंगे उनका पालन इस गौके दूधसे होगा । इस गौमाताका यह महत्त्व है।

गृहस्थियोंको तीन बातोंका ध्यान करना चाहिये । (ज्योतिः अमृतं हिरण्यं) तेजस्वी जीवन, अमरत्व और सुवर्ण । सुवर्ण अर्थात् सोनेका महत्त्व हरएक जानता है गृहस्थीके हरएक व्यवहारमें इसका काम पडता है । इसकी वैदिक और सार्वजनिक व्यवहार इससे साध्य होते हैं । अमृत नाम मोक्षका है, यही अमरत्व है। सब जगत् मृत्युसे घेरा गया है । उस मृत्युके पाशको तोडकर अमरत्व प्राप्त करना मनुष्यका जीवनोद्देश है । सब धर्म कर्म इसी उद्देश्यसे किये जाते हैं । इसी तरह तेजस्वी जीवन यहां व्यतीत करना चाहिये । इसी तरह (स्वर्गः पन्थाः कृणुते) स्वर्गीय मार्ग बनता है । स्वर्ग मार्गके ये तीन पडाव हैं। धन यहांके सुखके लिये चाहिये तेजस्वी जीवन यहांके सम्मानके लिये चाहिये और अमरपन पारमार्थिक उन्नतिके लिये चाहिये । स्वर्गका यह स्वरूप यहां पाठक देखें ।

गृहराज ।

उनतीसवें मंत्रमें गृहराजस्य भागं गृहराजके कार्यभागका वर्णन है । गृहराज घरका स्वामी है अथवा घरोंमें जो श्रेष्ठ घर है उसमें कैसा कार्य होना चाहिये ? दुष्टों और किंकरोंको अलग करके स्वच्छ पात्रोंको अपने पास रखना चाहिये । यही नियम सर्व व्यवहारको करनेके समय ध्यानमें रखना चाहिये । दुष्टोंको हटाना और सात्विकोंको अपने पास रखना चाहिये । पाठक जिस व्यवहारमें देखेंगे उस व्यवहारमें उत्तम सिद्धिका यही एकमात्र नियम है। पढाईमें भी देखिये तत्त्वज्ञानको स्वीकारना चाहिये उससे भिन्नोंसे दूर हटाना चाहिये ।

एक मार्ग निर्ऋतिका अथवा नाशका होता है और दूसरा उन्नतिका होता है । विनाश करनेवाले मार्गको दूर करो और उन्नतिके मार्गको अपने पास रखो यही सीधा सादा नियम है । जो इसको पालेंगे वे उन्नत होंगे इसमें संदेह नहीं है ।

(श्राम्यतः पचतः, सुन्वतः विद्धि) परिश्रम करनेवाले पकानेवाले और रस निकालनेवाले कौन हैं इसको जानो। परिश्रम करनेसेही मनुष्योंकी उन्नति होती है, अतः परिश्रम करनेका स्वभाव मनुष्यको अपनाना चाहिये परिपक्व बनना भी चाहिये । हरएककी परिपक्व अवस्था उत्तम होती है वही प्राप्त करनी चाहिये तथा रसग्रहण करनेका यत्न करना चाहिये । वनस्पतियोंमें सारभूत रस होता है उस सारभूत रसका ग्रहण करना चाहिये और अवशिष्ट साररहित भागको फेंक देना चाहिये । यह उपदेश व्यापक

इसीसे सिखनेही उपयोगी है। सर्वत्र पढनेके लिये ये तीन उपदेश अत्यन्त महत्त्वके हैं।

(घृतेन गात्रानु सर्वा विमृड्ढि) घीसे सब गात्रोंको मालिश करो। शरीरावयवोंकी सुस्थितिके लिये घीकी मालिश आवश्यक है। घीकी मालिश पावोंके तलोंपर करनेसे आंख उत्तम अवस्थामें रहते हैं, वृषणस्थानोंपर मालिश करनेसे वीर्यदोष नहीं होते, सिरपर मालिश करनेसे मस्तिष्क शान्त रहता है और गरमी हटती है, इसी तरह अन्यान्य अवयवोंपर मालिश करनेसे अनेक लाभ होते हैं। इसके अतिरिक्त विविध औषधियोंसे घृतको सुसंस्कृत करनेसे घीके गुण बढ जाते हैं। जैसा ब्राह्मी घृत बनानेसे उसकी मस्तकपर मालिश बुद्धिवर्धक और गर्मी हटानेवाली होती है, इसी तरह आमलकादि घृत तथा अन्यान्य घृत वैद्यशास्त्रमें प्रसिद्ध हैं। इनकी शरीरपर मालिश बडी लाभदायक है। यह बात इस घीसे मंत्रमें कही है।

पोषक अन्न।

अन्न घर घरमें पकाना चाहिये वह पोषक अन्न होना चाहिये (प्राशितारः मा रिषन्) उस अन्नके खानेवाले कभी दुःखी नहीं होने चाहिये, कभी दिग्मित नहीं होने चाहिये, कभी क्षीण नहीं होने चाहिये। ऐसा अन्न गृहस्थीके घरमें पकाना चाहिये यह सूचना १४ वें मंत्रमें की है।

जो अन्न परिपक्व किया हो वह (आर्षेयेषु निधेहि) ऋषि-सन्तानोंके अनुसार चलनेवालोंके लिये समर्पित करना चाहिये। न कि (अनार्षेयाना) अविद्वान् और दोषवान् लोगोंको कुछ समर्पण करना है। ऋषिसन्तानोंका संवर्धन करनेके लिये ही इस अन्नका समर्पण करना चाहिये।

घर कैसा हो।

घर ऐसा हो कि जहां (यज्ञं ब्रह्मणे) सदा यज्ञ होते रहें (सन्तु रयिमा) ऐश्वर्योंका स्थान हो, (सर्वैः अङ्गैः) पुष्टि और अभ्युदय क्षेत्र हो, (वीरैः प्रजाभिः) वीरों पुष्टिके साधनोंके साथ प्रजाजनोंकी अमृतत्व देनेवाला हो। जहां (धेनुः) गौ होती हो और अतिथियोंके साथ [होते आयुः] दीर्घायु लोग हों घर ऐसा हो। घरमें वे सब रहें। जहां धनकी कमी न हो ऐश्वर्य की समृद्धि हो, वीर पुत्र होवेंकी हों, हरएक दृढपुष्ट हो, तथा परस्परसंगतिसे ज्ञानयुक्त सब होता रहे, सब लोग आनंदप्रसन्न रहें, कोई दुःखी कभी न हो। यह उपदेश इस मंत्रमें है।

१५ वें मंत्रमें [सुपमा अपि] तू वलवान् है तू निर्बल नहीं है तू (स्वर्गः अपि) स्वर्गका अधिकारी है, तू सुखमय स्थानका अधिकारी है। अतः जिस मार्गसे जानेवाले गये और जिस मार्गसे जानेवालोंको उत्तम स्थान प्राप्त हुए उस मार्गसे तू जा। वही सुकृतियोंका लोक है, वहां जाकर तू हमारी सहायतामें रहो ध्येय है।

आगेके मंत्रमें कहते हैं कि (देवयानान् पथः अन्विहि) देवोंके जानेआनेके मार्गोंसे युक्त जो ये ही मार्ग तुम्हारे लिये जानेवालोंके लिये हैं (एतैः सुकृतैः गच्छ अनुक्रमेण) इन सुकर्मोंके साथ इसको आगेकी ओर जाना चाहिये। सुकृत करते करते आगे बढना चाहिये। सुकृत करनेमें पीछे हटना उचित नहीं है। सदा सत्कर्म ही मनुष्यमात्रका मार्गदर्शक हो। मनुष्य उससे पीछे न रहे।

जाय जो स्वर्गमें देव हैं वे इसी मार्गसे देवत्वको गये हैं। अतः मनुष्यको इसी मार्गका अवलंबन करना चाहिये।

इस तरह अनेक प्रकारका उपदेश इस सूक्तमें किया है, जिसका मनन करनेसे पाठकोंको यथार्थ सुख्य रीतिसे होन सकता है।

— —

रुद्र-देव।

[२]

[ऋषिः— अथर्वा । देवता-भव शर्व-रुद्र]

भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम्।
प्रतिहितामायतां मा वि स्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः ॥ १ ॥
शुने क्रोष्ट्रे मा शरीराणि कर्तमलिक्लवेभ्यो गृध्रेभ्यो ये च कृष्णा अविष्यवः।
मक्षिकास्ते पशुपते वयांसि ते विघसे मा विदन्त ॥ २ ॥
क्रन्दाय ते प्राणाय याश्च ते भव रोपयः। नमस्ते रुद्र कृण्मः सहस्राक्षायामर्त्य ॥ ३ ॥
पुरस्तात् ते नमः कृण्म उत्तरादधरादुत। अभीवर्गाद् दिवस्पर्यन्तरिक्षाय ते नमः ॥ ४ ॥
मुखाय ते पशुपते यानि चक्षूंषि ते भव। त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनाय ते नमः ॥ ५ ॥
अङ्गेभ्यस्त उदराय जिह्वाया आस्याय ते। दद्भ्यो गन्धाय ते नमः ॥ ६ ॥

अर्थ— हे [भवाशर्वौ] भव और शर्व ! हे उत्पादक और संहारक ! आप दोनों [मृडतं] हम सबको सुखी करें। [माभियातं] हमपर हमला न करें। आप दोनों [भूतपती, पशुपती] भूतोंके पालक और पशुओंके पालक हैं। [वां नमः] आप दोनोंको नमस्कार है। [प्रतिहितां आयतां मा वि स्राष्टं] धनुष्पर रखे और खींचे गये बाणको हमपर न छोडिये [नः द्विपदः चतुष्पदः मा हिंसिष्टं] हमारे द्विपाद और चतुष्पादोंकी हिंसा न करें ॥ १ ॥

जो [कृष्णाः अविष्यवः] काले और हिंसक कृमि हैं उन (शुने क्रोष्ट्रे) कुत्ते और गीदडोंके लिये तथा (अलिक्लवेभ्यः गृध्रेभ्यः) व्यर्थ शब्द करनेवाले गीधोंके लिये (शरीराणि मा कर्त) शरीरोंको मत करो। हे [पशुपते] पशुओंके पालक! [ते मक्षिकाः ते वयांसि] तेरी मक्खियां और कौवे (विघसे मा विदन्त) खानेके लिये हम सबके शरीरोंको न प्राप्त करें अर्थात् आप हमारे शरीरोंका इस तरह नाश न करें ॥ २ ॥

हे (भव) सबके उत्पादक देव ! [ते क्रन्दाय प्राणाय] तेरे गर्जनेवाले प्राणके लिये नमस्कार हो। [ते याः रोपयः] तेरे जो व्यथित करनेवाले हैं, हे [अमर्त्य रुद्र] अमर रुद्रदेव ! [सहस्राक्षाय ते नमः कृण्मः] सहस्र नेत्रवाले तुझ देवके लिये नमस्कार करते हैं ॥ ३ ॥

(ते पुरस्तात् उत्तरात् उत अधरात् नमः कृण्मः) तुझे आगेसे ऊपरसे और नीचेसे नमस्कार करते हैं। [अभीवर्गात् दिवः परि अन्तरिक्षाय ते नमः] घर ओरसे द्युलोक और अन्तरिक्ष लोकरूपी तेरे रूपके लिये नमस्कार करते हैं ॥ ४ ॥

हे पशुपते ! हे भव ! (ते मुखाय नमः) तेरे मुखके लिये नमस्कार है। (यानि ते चक्षूंषि) जो तेरी आंखें हैं, उनको नमस्कार है। तेरे (त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनाय नमः) त्वचा,रूप दर्शन और पीठके लिये नमस्कार है ॥ ५ ॥

(ते अङ्गेभ्यः उदराय जिह्वायै आस्याय) तेरे अंगों, उदर जिह्वा और मुखके लिये नमस्कार है (ते दद्भ्यः गंधाय नमः) तेरे दांतोंके लिये और गन्धके लिये नमस्कार है ॥ ६ ॥

अश्वा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना। रुद्रेणार्धकघातिना तेन मा समरामहि ॥ ७ ॥
स नो भवः परि वृणक्तु विश्वत आप इवाग्निः परि वृणक्तु नो भवः।
मा नोऽभि मांस्त नमो अस्त्वस्मै ॥ ८ ॥
चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दश कृत्वः पशुपते नमस्ते।
तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः ॥ ९ ॥
तव चतस्रः प्रदिशस्तव द्यौस्तव पृथिवी तवेदमुग्रोर्व१न्तरिक्षम्।
तवेदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणत् पृथिवीमनु ॥ १० ॥ (५)
उरुः कोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः।
स नो मृड पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः परो यन्त्वघरुदो विकेश्यः ॥ ११ ॥
धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिन्।
रुद्रस्येषुश्चरति देवहेतिस्तस्यै नमो यतमस्यां दिशीतः ॥ १२ ॥

अर्थ- (नीलशिखण्डेन वाजिना अश्वा) नील शिखावाले बलवान् अश्वसे (सहस्राक्षेण अर्धकघातिना रुद्रेण) हजारों आंखोंवाले अधके विनाशक रुद्रसे (मा समरामहि) हम कभी विरुद्ध न रहें ॥ ७ ॥

(सः भवः विश्वतः नः परिवृणक्तु) वह उत्पत्तिकर्ता सब ओरसे हमें सुरक्षित रखे। (आपः इव अग्निः) जल जैसे अग्निको घेरता है वैसाही (भवः नः परिवृणक्तु) उत्पत्तिकर्ता हमें घेर रखे। (नः मा अभि मांस्त) हमें नाश न करे, (अस्मै नमः अस्तु) इसको नमस्कार हो ॥ ८ ॥

हे पशुपते! (भवाय चतुः अष्टकृत्वः नमः) उत्पत्ति करनेवाले देवको चार बार तथा आठ बार नमस्कार हो। [ते दशकृत्वः नमः] तेरे लिये दसबार नमस्कार हो। (इमे पञ्च पशवः तव विभक्ताः) ये पांच पशु तेरे लिये रखे हैं, (गावः) गौवें (अश्वाः) घोडे, (पुरुषाः) पुरुष (अजावयः) बकरियां और भेडें हैं ॥ ९ ॥

(तव चतस्रः प्रदिशः) तेरी ये चारों दिशाएं हैं (तव द्यौः तव पृथिवी) तेरा द्यु और पृथ्वी लोक है (तव इदं उग्र उरु अन्तरिक्षं) तेरा ही यह बडा तेजस्वी अन्तरिक्ष है। (इदं सर्वं आत्मन्वत् तव) तेराही यह सब चेतनात्मक है (यत् पृथिवीं अनु प्राणत्) जो पृथिवीपर जीव धारण करता है वह सब तेरा ही है ॥ १० ॥ (५)

(यस्मिन् इमा विश्वा भुवनानि अन्तः) जिसमें ये सब भुवन हैं वह (वसुधानः अयं उरुः कोशः) वसुओंका निधानस्थानरूप यह विस्तृत बडा कोश (तव) तेराही है। हे (पशुपते) पशुपालक! (सः नः मृड ते नमः) वह तू हमें सुख दे तेरे लिये नमस्कार हो। (क्रोष्टारः अभिभाः श्वानः परः) सियार चीतल, कुत्ते सब दूर हों। (अघरुदः विकेश्यः) बुरे स्वरसे रोनेवाली बालोंको खोलकर चिल्लानेवाली स्त्रियां भी दूर हों अर्थात् ये शोकके प्रसंग हमारे पास न आवें ॥ ११ ॥

हे (शिखण्डिन्) चोटी धारण करनेवाले! तू [सहस्रघ्नि शतवधं हिरण्ययं हरितं धनुः बिभर्षि] हजारोंका नाश करनेवाला सैकडोंका वध करनेवाला सुवर्णमय चमकता धनुष्य धारण करता है। (रुद्रस्य इषुः देवहेतिः चरति) रुद्रका बाण देवोंका शस्त्र विचरता है वह (इतः यतमस्यां दिशि) जिस दिशामें हो (तस्यै नमः) उसको नमस्कार हो ॥ १२ ॥

योऽभियातो निलयते त्वां रुद्र निचिकीर्षति । पश्चादनुप्रयुंक्षे तं विद्धस्य पदनीरिव ॥१३॥
भवारुद्रौ सयुजा संविदानावुभावुग्रौ चरतो वीर्याय । ताभ्यां नमो यतमस्यां दिशीऽतः॥१४॥
नमस्तेऽस्त्वायते नमो अस्तु परायते । नमस्ते रुद्र तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥१५॥
नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा । भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः ॥१६॥
सहस्राक्षमतिपश्यं पुरस्ताद् रुद्रमस्यन्तं बहुधा विपश्चितम् । मोपाराम जिह्वयेयमानम् ॥१७॥
श्यावाश्वं कृष्णमसितं मृणन्तं भीमं रथं केशिनः पादयन्तम् । पूर्वे प्रतीमो नमो अस्त्वस्मै ॥१८॥
मा नोऽभि स्रा मत्यं देवहेतिं मा नः क्रुधः पशुपते नमस्ते ।
अन्यत्रास्मद् दिव्यां शाखां वि धूनु ॥ १९ ॥
मा नो हिंसीरधि नो ब्रूहि परि णो वृङ्ग्धि मा क्रुधः । मा त्वया समरामहि ॥२०॥ (१)
मा नो गोषु पुरुषेषु मा गृधो नो अजाविषु । अन्यत्रोग्र वि वर्तय पियारूणां प्रजां जहि ॥२१॥

अर्थ—हे रुद्र ! (यः अभियातः निलयते) जो हमला होनेपर छिप जाता है और (त्वां नि चिकीर्षति) तुझे नीचे करना चाहता है (विद्धस्य पदनीः इव) घायलके पदखोजके समान (तं पश्चात् अनु प्रयुंक्षे) उसके पीछेसे तू उसका पकडा लेता है ॥ १३ ॥

(भवारुद्रौ सयुजौ संविदानौ) उत्पत्ति करनेवाले और संहार करनेवाले देव मिलकर रहनेवाले ज्ञानी हैं । (उभौ) (उग्रौ वीर्याय चरतः) ये दोनों तेजस्वी पराक्रमके लिये विचरते हैं । (इतः यतमस्यां दिशि) वे यहांसे जिस दिशामें हों वहां (ताभ्यां नमः) उन दोनोंको नमस्कार हो ॥ १४ ॥

हे रुद्र [आयते परायते तिष्ठते आसीनाय] आनेवाले जानेवाले, ठहरनेवाले और बैठनेवाले [ते नमः] तुझे नमस्कार हो ॥ १५ ॥

[सायं प्रातः रात्र्याः दिवा नमः] सायंको सबेरे रात्रिके समय और दिनके समय नमस्कार हो [भवाय शर्वाय च च उभाभ्यां नमः अकरं] भव और शर्व इन दोनोंको नमस्कार करता हूं ॥ १६ ॥

[सहस्राक्षं विपश्चितं बहुधा अस्यन्तं रुद्रं] सहस्रनेत्र ज्ञानी बहुत प्रकारसे शस्त्र फेंकनेवाले रुद्रको [पुरस्तात् अतिपश्यं] आगे देखता हूं । [ईयमानं जिह्वया मा उपाराम] उस गतिमान्‌को हम अपनी जिह्वासे वर्जित न करें ॥ १७ ॥

[श्यावाश्वं कृष्णं असितं मृणन्तं] भूरे घोडेवाले काले बन्धनरहित कुचलनेवाले [भीमं केशिनः रथं पादयन्तं] भयंकर केशवाले रथको पावोंसे गिरानेवाले [पूर्वे प्रतीमः] पहिले प्राप्त करते हैं और [अस्मै नमः अस्तु] इसको नमस्कार हो ॥ १८ ॥

हे पशुपते ! [मत्यं देवहेतिं नः मा अभिस्राः] ज्ञानपूर्वक फेंका हुआ देवोंका शस्त्र हमारे पास न आवे । [नः मा क्रुधः, ते नमः] हमपर क्रोध न कर तेरे लिये नमस्कार हो । [अस्मत् अन्यत्र दिव्यां शाखां विधूनु] हमसे दूर दिव्य शाखाको फेंक ॥ १९ ॥

[नः मा हिंसीः] हमारी हिंसा न कर, [नः अधि ब्रूहि] हमें उपदेश कर, [नः परिवृङ्ग्धि] हमारी रक्षा कर [मा क्रुधः] क्रोध न कर [त्वया मा समरामहि] तेरे साथ हम विरोध न करें ॥ २० ॥ (१)

हे [उग्र] शूरवीर ! [नः गोषु पुरुषेषु अजाविषु मा गृधः] हमारी गौवें मनुष्य भेड बकरियोंके विषयमें लालच न कर । (अन्यत्र विवर्तय) दूसरे स्थानपर उनको लेजा । [पियारूणां प्रजां जहि] हिंसकोंकी प्रजाका नाश कर ॥२१॥

यस्य॑ त॒क्मा का॒सिका॑ हे॒तिरेक॒मश्व॑स्येव॒ वृष॑णः॒ क्रन्द॒ एति॑ ।
अ॒भि॒पू॒र्वं नि॒र्णय॑ते॒ नमो॑ अस्त्व॒स्मै ॥ २२ ॥
यो॑३ऽन्तरि॑क्षे॒ तिष्ठ॑ति॒ विष्ट॑भि॒तोऽय॑ज्वनः प्रमृ॒णन् दे॑वपी॒यून् । तस्मै॒ नमो॑ द॒शभि॒ः शक्व॑रीभिः ॥ २३ ॥
तुभ्य॑मार॒ण्याः प॒शवो॑ मृ॒गा वने॑ हि॒ता हं॒साः सु॑प॒र्णाः श॑कु॒ना वयां॑सि ।
तव॑ य॒क्षं प॑शुपते अ॒प्स्व॑१न्तस्तुभ्यं॑ क्षरन्ति दि॒व्या आपो॑ वृ॒धे ॥ २४ ॥
शिं॒शु॒मारा॑ अजग॒राः पु॑री॒कया॑ ज॒षा मत्स्या॑ र॒जसा॒ येभ्यो॒ अस्य॑सि ।
न ते॑ दू॒रं न प॑रि॒ष्ठास्ति॑ ते भव स॒द्यः सर्वा॒न् परि॑
पश्यसि॒ भूमिं॒ पूर्व॑स्माद्धंस्युत्त॑रस्मिन्त्समु॒द्रे ॥ २५ ॥
मा नो॑ रुद्र त॒क्मना॒ मा वि॒षेण॒ मा नः॒ सं स्रा॑ दि॒व्येना॒ग्निना॑ ।
अ॒न्यत्रा॒स्मद् वि॒द्युतं॑ पातये॒ताम् ॥ २६ ॥
भ॒वो दि॒वो भ॒व ई॑शे पृथि॒व्या भ॒व आ प॑प्र उ॒र्व॑१न्तरि॑क्षम् ।
तस्मै॒ नमो॑ यत॒मस्यां॑ दि॒शी॒३तः ॥ २७ ॥

अर्थ-[यस्य तक्मा कासिका हेतिः] जिसके हथियार ज्वर और खाँसी हैं [वृषणः अश्वस्य क्रन्दः इव एकं एति] बलवान् घोडेके हिनहिनानेके शब्दके समान निःशब्दतासे एक पुरुषपर जिसका हथियार जाता है [अभि पूर्वं निर्णयते] जो परिणाम निश्चय करता है, [अस्मै नमः अस्तु] इसके लिये नमस्कार है ॥ २२ ॥

[यः अन्तरिक्षे विष्टभितः तिष्ठति] जो अन्तरिक्षमें स्थिर रहता है और [अयज्वनः देवपीयून् प्रमृणन्] यज्ञ न करनेवाले देवोंके द्वेषियोंका नाश करता है (तस्मै दशभिः शक्वरीभिः नमः] उसके दश शक्तियोंसे हमारा नमस्कार है ॥ २३ ॥

(आरण्याः पशवः वने हिताः मृगाः) अरण्यमें रहनेवाले वनमें रहनेवाले मृग आदि पशु तथा (हंसाः सुपर्णाः शकुनाः वयांसि तुभ्यं) हंस गरुड शकुन और अन्य पक्षीगण ये सब तेरेही हैं। हे पशुपते! [तव यक्षं अप्सु अन्तः] तेरा पूज्य आत्मा जलोंके अन्दर है (तुभ्यं दिव्याः आपः वृधे क्षरन्ति) तेरे लिये दिव्य जल बढाईके लिये गिरते हैं ॥ २४ ॥

[शिंशुमाराः अजगराः पुरीकयाः] घडियाल अजगर मच्छ, (जषाः मत्स्याः रजसा येभ्यः अस्यसि) मछलियां और जलजन्तु मलिन प्राणी जिनपर तू अपना शस्त्र फेंकता है। इनमेंसे (न ते दूरं न ते परिष्ठा) दूर कोई नहीं है न कोई तेरेसे भिन्न स्थानपर है, तू सो (सर्वान् सद्यः परिपश्यसि) सबको एकही क्षण देखता है और (पूर्वस्मात् उत्तरस्मिन् समुद्रे भूमिं हंसि) पूर्वसे उत्तर समुद्रतक व्यापनेवाली सब भूमिपर आघात करता है ॥ २५ ॥

हे रुद्र! (तक्मना नः मा संस्राः] ज्वरसे हमें पीडा न हो, (विषेण मा) विषबाधा न हो [दिव्येन अग्निना मा] दिव्य अग्निसे कष्ट न हो। [अस्मात् अन्यत्र एतां विद्युतं पातय] हमसे भिन्न दूसरे स्थानपर इस बिजलीको गिरा ॥ २६ ॥

[भवः दिवः ईशे] भव द्युलोकका ईश्वर है [भवः पृथिव्याः] भव पृथ्वीका स्वामी है। [भवः उरु अन्तरिक्षं आपप्र] भव बडे अन्तरिक्षमें व्यापक है। वह (इतः यतमस्यां दिशि तस्मै नमः] यहांसे जिस दिशामें हो वहां हमारा नमस्कार उसके लिये है ॥ २७ ॥

भव राजन् यजमानाय मृड पशूनां हि पशुपतिर्बभूथ ।
यः श्रद्दधाति सन्ति देवा इति चतुष्पदे द्विपदेऽस्य मृड ॥ २८ ॥
मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा नो वहन्तमुत मा नो वक्ष्यतः ।
मा नो हिंसीः पितरं मातरं च स्वां तन्वं रुद्र मा रीरिषो नः ॥ २९ ॥
रुद्रस्यैलबकारेभ्योऽसंसूक्तगिलेभ्यः । इदं महास्येभ्यः श्वभ्यो अकरं नमः ॥ ३० ॥
नमस्ते घोषिणीभ्यो नमस्ते केशिनीभ्यः । नमो नमस्कृताभ्यो नमः संभुञ्जतीभ्यः ॥
नमस्ते देव सेनाभ्यः स्वस्ति नो अभयं च नः ॥ ३१ ॥(७)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

अर्थ- हे [राजन् भव] प्रकाशक देवराज ! [यजमानाय मृड] यजमानको सुखी कर, [पशूनां पशुपतिः हि बभूथ] तू पशुओंका स्वामी है। [यः श्रद्दधाति] जो श्रद्धा रखता है, [देवाः सन्ति इति] देवताएं हैं ऐसा मानता है, [अस्य द्विपदे चतुष्पदे मृड] उसके द्विपद और चतुष्पदोंको सुखी कर ॥ २८ ॥

[नः महान्तं मा हिंसीः] हमारे बडोंकी हिंसा न कर, [नः अर्भकं मा] हमारे बालकोंकी हिंसा न कर [नः वहन्तं मा] हमारे समर्थ पुरुषकी हिंसा न कर, [नः वक्ष्यतः मा] हमारे बढनेवाले बालकोंकी हिंसा न कर । [नः पितरं मातरं च मा हिंसीः] हमारे पिता माताकी हिंसा न कर, हे रुद्र [नः स्वां तन्वं मा रीरिषः] हमारे शरीरोंको दुःखी न कर ॥ २९ ॥

[रुद्रस्य ऐलबकारेभ्यः असंसूक्तगिलेभ्यः] रुद्रके भयानक शब्द करनेवाले अरसा शब्द करनेवाले [महास्येभ्यः श्वभ्यः] बडे मुखवाले कुत्तोंके [इदं नमः अकरं] यह नमस्कार करता हूं ॥ ३० ॥

हे देव ! [ते घोषिणीभ्यः केशिनीभ्यः] तेरी बडा शब्दघोष करनेवाली केश रखनेवाली, [नमस्कृताभ्यः संभुञ्जतीभ्यः] नमस्कारोंसे सत्कृत और उत्तम भोजन करनेवाली [ते सेनाभ्यः नमः] तेरी सेनाओंके लिये नमस्कार हो । [नः स्वस्ति अभयं च] हमारा कल्याण हो और हमारे लिये निर्भयता हो ॥ ३१ ॥ ७ ॥

प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥

भव और शर्वके सूक्तका आशय।

यह सूक्त " भव और शर्व " देवताके वर्णनपर है। कोई यहां यह न समझे कि भव और शर्व ये देवताएं परस्पर भिन्न हैं। ' भवाशर्वौ ' ऐसा द्विवचनी प्रयोग है तथापि एकही देवताके ये दो गुण हैं। सर्व विश्वमें व्यापनेवाली एकही देवता है वह सृष्टिकी उत्पत्ति करती है इसलिये उसका नाम भव है और वह उसका संहार करती है इसलिये उसी देवताका नाम 'शर्व' है।

पुराणोंमें भी भव और शर्व ये दो नाम एकही रुद्र देवके हैं यही बात वेदके इस सूक्तमें है और अन्यत्र भी जहां जहां भव शर्व आदि नाम आये हैं वहां ऐसाही अर्थ समझना योग्य है। इस सूक्तमें रुद्र, भव, शर्व, पशुपति आदि शब्द आये हैं जो उस एकही परमेश्वरके वाचक हैं।

प्रथम मंत्रमें इस देवताके दो गुणोंका स्मरण कराया है। यहां सूचना मिलती है कि यदि दो गुणोंके कारण एकही देवता के दो देव माने जा सकते हैं तो अनेक गुणोंके कारण एकही ईश्वरकी अनेक देवताएं मानना संभव है। वैदिक धर्ममें अनेक देवताओंकी कल्पना इस प्रकार एकही परमात्मापर आश्रित है। एक ईश्वरके अनेक गुणोंकी अनेक देवताएं मानी गयी हैं।

ईश्वरके मारक गुणको शर्व करके यहां कहा है वह देवता अपना मारक हिंसक अथवा विनाशक कार्य जिन साधनोंसे करती है उनकी गिनती इस सूक्तके अनेक मंत्रोंमें की है— कुत्ते गीदड सियार, मक्खियां गीधे बक काक मनुष्य बाण विद्युत् अग्नि ज्वर रोग ये मारकसाधन हैं। मक्खियोंको इनके सम्बन्ध साधनोंमें रखा है यह बात पाठक विशेष रीतिसे स्मरण रखें। मक्खियोंके कारण अनेक रोग फैलते हैं और प्राणियोंका संहार होता है। अतः रोगोंसे बचनेके लिये चारों ओर स्वच्छता करनी चाहिये जिससे मक्खियां न होंगी और मनुष्य रोगोंसे बचेंगे। इसी तरह अन्यान्य मारकसाधनोंके विषयमें जानना चाहिये। [मंत्र ९ देखो]

आगे मंत्र ७ तक इसके उपासकोंको नमस्कार कहा है। यह एक प्रभु देवताकी उपासना प्रकार है। चतुर्थ मंत्रमें इससे विरोध न हो ऐसी इच्छा प्रकट की है। यही बात आगेके कई मंत्रोंमें है (मा समरामहि) ऐसे शब्द आगेके कई मंत्रोंमें बारबार आगये हैं।

अष्टम मंत्रमें अनेकवार इसके लिये नमन किया है। दशम मंत्रमें कहा है कि इस रुद्रदेवताके आधीनही संपूर्ण विश्व है। इसी कथनसे विश्वनियामक देवकी मारकभावके मिषसे यह वर्णन है यहां कहा है ऐसा स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि सब विश्वका नियंता देव एकही है।

चौदहवें मंत्रमें भव और शर्व ये दो नाम फिर आये हैं। यहां द्विवचन देखनेसे ये दो देव परस्पर भिन्न हैं। ऐसी कई लोगोंको शंका हो सकती है परंतु ये दो देव गुणतः भिन्न एवं स्वरूपतः एक हैं इसका स्पष्टीकरण इसके पूर्व किया जा चुका है। आगे १९ वें मंत्रतक रुद्रदेवको नमनही किया है। आगे तीन मंत्रोंमें मृत्यु दूर करनेकी प्रार्थना है।

तेईसवें मंत्रमें रुद्रदेव इस अन्तरिक्षमें व्यापता है ऐसा कह कर देवविरोधियोंका नाश करता है यह भी कहा है। यह सर्वव्यापक देवका ही वर्णन निःसंदेह है। आगेके दो मंत्रोंमें सब प्राणी उसी एक देवके आधारसे रहते हैं वह देव सबके यमकर्मोंको देखता है और विनाशक शत्रुका नाश करता है इत्यादि वर्णन देखनेयोग्य है।

सत्ताईसवें मंत्रमें यह देव संपूर्ण विश्वपर अधिपति ईश है यह स्पष्ट शब्दोंसे कहा है। यह मंत्र पढते ही संपूर्ण विश्वका एक प्रभु है इसमें संदेह ही नहीं रह सकता। आगेके मंत्रमें यह देव (भव) विश्वका राजा है ऐसा कहा है। इसके अतिरिक्त (देवाः ...) देवोंकी शक्तियां इस जगत्में कार्य कर रही हैं ऐसा जो (स नः मृडाति) श्रद्धापूर्वक मानता है वही सुखी होता है यह कथन विशेष महत्त्वका है। इस जगत् का प्रभु एक है और उसकी अनंत शक्तियां इस विश्वमें कार्य कर रही हैं। यदि यह कल्पना पाठकोंको ठीक तरह हो जायगी, तो मनुष्यके विषयमें इस बातमें कोई संदेह ही नहीं है।

आगेके मंत्रोंमें सर्व साधारण निर्भयताकी प्रार्थना है। इस प्रकार इस सूक्तका आशय है।

— —

विराड् अन्न ।

[३]

(ऋषिः-- अथर्वा । देवता--ओदनः)

(१) तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम् ॥ १ ॥
द्यावापृथिवी श्रोत्रे सूर्याचन्द्रमसावक्षिणी सप्तऋषयः प्राणापानाः ॥ २ ॥
चक्षुर्मुसलं काम उलूखलम् ॥ ३ ॥
दितिः शूर्पमदितिः शूर्पग्राही वातोऽपाविनक् ॥ ४ ॥
अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः ॥ ५ ॥
कब्रु फलीकरणाः शरोऽभ्रम् ॥ ६ ॥
श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम् ॥ ७ ॥
त्रपु भस्म हरितं वर्णः पुष्करमस्य गन्धः ॥ ८ ॥
खलः पात्रं स्फ्यावंसावीषे अनूक्ये ॥ ९ ॥
आन्त्राणि जत्रवो गुदा वरत्राः ॥ १० ॥

अर्थ— (तस्य ओदनस्य बृहस्पतिः शिरः) उस अन्न का बृहस्पति सिर है [ब्रह्म मुखं] [illegible] ॥ १ ॥ [illegible] ॥ १० ॥

कृषमेव पृथिवी कुम्भी भवति राध्यमानस्यौदनस्य द्यौरपिधानम् ॥ ११ ॥
सीताः पर्शवः सिकता ऊबध्यम् ॥ १२ ॥
ऋतं हस्तावनेजनं कुल्योपसेचनम् ॥ १३ ॥
ऋचा कुम्भ्यधिहितार्त्विज्येन प्रेषिता ॥ १४ ॥
ब्रह्मणा परिगृहीता साम्ना पर्यूढा ॥ १५ ॥
बृहदायवनं रथन्तरं दर्विः ॥ १६ ॥
ऋतवः पक्तार आर्तवाः समिन्धते ॥ १७ ॥
चरुं पञ्चबिलमुखं घर्मो३ऽभीन्धे ॥ १८ ॥
ओदनेन यज्ञवचः सर्वे लोकाः समाप्याः ॥ १९ ॥
यस्मिन्त्समुद्रो द्यौर्भूमिस्त्रयोऽवरपरं श्रिताः ॥ २० ॥
यस्य देवा अकल्पन्तोच्छिष्टे षडशीतयः ॥ २१ ॥
तं त्वौदनस्य पृच्छामि यो अस्य महिमा महान् ॥ २२ ॥
स य ओदनस्य महिमानं विद्यात् ॥ २३ ॥
नाल्प इति ब्रूयान्नानुपसेचन इति नेदं च किं चेति ॥ २४ ॥
यावद् दाताभिमनस्येत तन्नाति वदेत् ॥ २५ ॥

जब [राध्यमानस्य ओदनस्य] पकाये जानेवाले चावलोंकी [इयं एव पृथिवी कुम्भी भवति] यही भूमि हंडी होती है और [द्यौः अपिधानं] द्युलोक ढक्कन होता है ॥ ११ ॥ [सीताः पर्शवः] हल की रेखाएं पसलियां [सिकताः ऊबध्यं] रेत और मलस्थान है ॥ १२ ॥ [ऋतं हस्तावनेजनं] सत्य ही हाथ धोनेका जल है [कुल्या उपसेचनं] नदी जलसिंचन है ॥ १३ ॥ [ऋचा कुम्भी अधिहिता] ऋग्वेदमंत्र द्वारा हंडी रखी गई है [आर्त्विज्येन प्रेषिता] ऋत्विजोंद्वारा हिलाई गई ॥ १४ ॥ [ब्रह्मणा परिगृहीता] अथर्ववेद द्वारा पकडी गई और [साम्ना पर्यूढा] सामवेदसे घेरी गई है ॥ १५ ॥ [बृहत् आयवनं रथन्तरं दर्विः] बृहत्साम मिलानेवाला है और रथन्तर साम कडछी है ॥ १६ ॥ [ऋतवः पक्तारः आर्तवाः समिन्धते] ऋतु पकानेवाले हैं और ऋतुके दिन आग प्रदीप्त करते हैं ॥ १७ ॥ [पञ्चबिलं चरुं घर्मः अभीन्धे] पांच मुखवाले देग को [illegible] जलाती है ॥ १८ ॥ [ओदनेन यज्ञवचः सर्वे लोकाः समाप्याः] ओदनसे यज्ञद्वारा सब लोक प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥ [यस्मिन् समुद्रः द्यौः भूमिः त्रयः] जिसमें समुद्र द्युलोक और भूमि ये तीनों [अवरपरं श्रिताः] ऊपर नीचे आश्रित हुए हैं ॥ २० ॥ [यस्य उच्छिष्टे षट् अशीतयः देवाः] जिसके शेषमें [illegible] देव [अकल्पन्त] समर्थ बने हैं ॥ २१ ॥ [तं ओदनस्य त्वा पृच्छामि] तुझसे मैं उस ओदनकी [illegible] पूछता हूं [यः अस्य महान् महिमा] जो इसका महान् महिमा है ॥ २२ ॥ [सः यः ओदनस्य महिमानं विद्यात्] वह जो इस ओदनकी महिमाको जानता है ॥ २३ ॥ वह [अल्पः इति न ब्रूयात्] थोडा है ऐसा न कहे [अनुपसेचनः इति न] जलरहित है ऐसा भी न कहे [इदं च किं च इति न] यह थोडा है ऐसा भी न कहे ॥ २४ ॥ [यावत् दाता अभिमनस्येत तत् न अतिवदेत्] जितनी दाताकी इच्छा हो उससे अधिक न कहे ॥ २५ ॥

ब्रह्मवादिनो वदन्ति पराञ्चमोदुनं प्राशी३ प्रत्यञ्चा३मिति ॥ २६ ॥
त्वमोदुनं प्राशी३स्त्वामोदुना३ इति ॥ २७ ॥
पराञ्चं चैनं प्राशीः प्राणास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह ॥ २८ ॥
प्रत्यञ्चं चैनं प्राशीरपानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह ॥ २९ ॥
नैवाहमोदुनं न मामोदुनः ॥ ३० ॥ ओदुन एवौदुनं प्राशीत् ॥ ३१ ॥ (८)

(२)ततश्चैनमन्येन शीर्ष्णा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । ज्येष्ठतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । बृहस्पतिना शीर्ष्णा । तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा ओदुनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः । सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ३२ ॥
ततश्चैनमन्याभ्यां श्रोत्राभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । बधिरो भविष्यसीत्येनमाह ॥ तं वा० । द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्याम् । ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् । एष वा० ॥ ३३ ॥

अर्थ- [ब्रह्मवादिनः वदन्ति] ब्रह्मज्ञानी लोग कहते हैं कि [पराञ्चं ओदनं प्राशीः प्रत्यञ्चं इति] दूर का चावल तुमने खाया अथवा समीप का खाया है ॥ २६ ॥ [त्वं ओदनं प्राशीः त्वां ओदनः इति] तूने अन्न को खाया अथवा अन्न ने तुझे खाया? ॥ २७ ॥ [पराञ्चं ओदनं प्राशीः] और तूने परला अन्न खाया है तो [त्वा प्राणाः हास्यन्ति इति एनं आह] तुझे प्राण छोड़ देंगे ऐसा इसे कहता है ॥ २८ ॥

[प्रत्यञ्चं च एनं प्राशीः] यदि सन्मुख का खाया है तो [अपानाः त्वा हास्यन्ति इति एनं आह] अपान तुझे छोड़ेंगे ऐसा इसे कहे ॥ २९ ॥ [न एव अहं ओदनं] नहीं मैंने अन्न को खाया और [न मां ओदनः] न मुझे अन्न ने खाया ॥ ३० ॥ परन्तु [ओदनः एव ओदनं प्राशीत्] अन्न ही अन्न को खाता है ॥ ३१ ॥ (८)

[ततः च एनं अन्येन शीर्ष्णा प्राशीः] पश्चात् इसका अन्य सिर से तू भक्षण करता [येन च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्] जिससे पूर्व ऋषियोंने भक्षण किया था उससे न खाता तो [ज्येष्ठतः ते प्रजा मरिष्यति इति एनं आह] ज्येष्ठ से प्रारंभ करके तेरी संतान मर जायगी ऐसा इसे कह। [तं वा अहं न अर्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चं] उस निःसन्देह मैंने उरली ओर और परली ओर प्राशन नहीं किया मैंने [बृहस्पतिना शीर्ष्णा] बृहस्पति रूपी सिर से [तेन एनं प्राशिषं] उससे इस अन्न का प्राशन किया [तेन एनं अजीगमम्] उससे इसको प्राप्त किया। यह [एषः ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः] यह अन्न परिपूर्ण है [सर्वतनूः] सब अंगों और सब जोड़ों से युक्त है। इस प्रकार [सः एवं वेद सर्वाङ्गः सर्वतनूः भवति] ऐसा जो जानता है वह सर्वांग और सब अंगों और जोड़ों से युक्त होता है ॥ ३२ ॥

[ततः च एनं अन्याभ्यां श्रोत्राभ्यां प्राशीः] जिनसे इसका प्राशन पूर्व ऋषियोंने किया था उनसे [अन्याभ्यां श्रोत्राभ्यां] भिन्न दूसरे कानोंसे भक्षण करोगे तो [बधिरः भविष्यसि इति एनं आह] बधिर हो जाओगे ऐसा इसे कहे। [तं वा० द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्यां] उसका मैंने द्युलोक और पृथ्वीलोक रूपी कानोंसे [ताभ्यां एनं प्राशिषं] उनसे मैंने भक्षण किया [ताभ्यां एनं अजीगमम्] उनसे इसको प्राप्त किया ॥ ३३ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यामक्षीभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
अन्धो भविष्यसीत्येनमाह । तं वा० । सूर्याचन्द्रमसाभ्यामक्षीभ्याम् । ताभ्यामेनं ०।०
॥ ३४ ॥ ततश्चैनमन्येन मुखेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । मुखतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह । तं वा० । ब्रह्मणा मुखेन । तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा० ॥ ३५ ॥
ततश्चैनमन्यया जिह्वया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । जिह्वा ते मरिष्यतीत्येनमाह ।
तं वा० । अग्नेर्जिह्वया । तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम् । एष वा० ।०।०॥ ३६ ॥
ततश्चैनमन्यैर्दन्तैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । दन्तास्ते शत्स्यन्तीत्येनमाह । तं वा०
ऋतुभिर्दन्तैः । तैरेनं प्राशिषं तैरेनमजीगमम् । एष वा० । ० ॥ ३७ ॥
ततश्चैनमन्यैः प्राणापानैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । प्राणापानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह ।
तं वा० । सप्तर्षिभिः प्राणापानैः । तैरेनं ०। ०।० ॥ ३८ ॥
ततश्चैनमन्येन व्यचसा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । राजयक्ष्मस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह
। तं वा ०। अन्तरिक्षेण व्यचसा । तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा ।०।०॥ ३९ ॥
ततश्चैनमन्येन पृष्ठेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । विद्युत् त्वा हनिष्यतीत्येनमाह ।
तं वा ०। दिवा पृष्ठेन । तेनैनं ०।०।०॥ ४० ॥

अर्थ- [यः अन्याभ्यां अक्षीभ्यां प्राशीः] ... [याभ्यां च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्] ... इसका सेवन किया था ... दूसरी आंखोंसे इसका सेवन किया तो [अन्धो भविष्यसि इति एनं आह] अन्धा हो जाओगे ऐसा इसे कहे। [तं ... सूर्याचन्द्रमसाभ्यां अक्षीभ्यां ताभ्यां एनं ...] उसको मैंने सूर्यचन्द्रमा रूपी आंखोंसे सेवन किया है ॥ ३४ ॥
[येन च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्] जिससे इसका पूर्व ऋषियोंने सेवन किया उससे भिन्न [ततः च एनं अन्येन मुखेन प्राशीः] दूसरे मुखसे इसका सेवन करोगे तो [मुखतः ते प्रजा मरिष्यति इति एनं आह] मुखसे तेरी सन्तान मर जायेगी ऐसा इसे कहना चाहिये। [तं वा ... ब्रह्मणा मुखेन तेन एनं प्राशिषं तेन अजीगमम्] इसका मैंने ब्रह्मके मुखसे सेवन किया और उससे इसको प्राप्त किया ॥ १५ ॥ (यया एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिससे पूर्वके ऋषियोंने भक्षण किया था उससे भिन्न [ततः च एनं अन्यया जिह्वया प्राशीः] दूसरी जिह्वासे इसका भक्षण करोगे तो [जिह्वा ते मरिष्यति इति एनं आह] तेरी जिह्वा मरेगी ऐसा इसे कहे।
[तं वा ... अग्नेः जिह्वया प्राशिषं] उसका मैंने अग्निकी जिह्वासे भक्षण किया ॥ १६ ॥

जिससे पूर्व ऋषियोंने इसका सेवन किया था उससे भिन्न [ततः च एनं अन्यैः दन्तैः प्राशीः] दूसरे दान्तोंसे इसका सेवन किया [दन्ताः ते शत्स्यन्ति इति] तेरे दांत टूट जायेंगे ऐसा इसे कहो। [तं ... ऋतुभिः दन्तैः] उसका मैंने ऋतुरूपी दांतोंसे भक्षण किया था ॥ १७ ॥ जिससे पूर्व ऋषियोंने इसका सेवन किया था उससे भिन्न [अन्यैः प्राणापानैः प्राशीः] यदि अन्य प्राणोंसे तूने इसका स्वीकार किया तो तेरे प्राण और अपान तुझे छोडकर देंगे ऐसा कहे। उसे मैंने [सप्तर्षिभिः प्राणापानैः] सप्तर्षिरूप प्राण अपानसे सेवन किया था ॥ १८ ॥

जिसने इसको पूर्व ऋषियोंने सेवन किया था उससे भिन्न [अन्येन व्यचसा प्राशीः] दूसरे अन्य प्राणोंसे प्राशन करोगे तो [राजयक्ष्म त्वा हनिष्यति] राजयक्ष्मा तेरा नाश करेगा ऐसा इसको कहे [तं वै ... अन्तरिक्षेण व्यचसा तेन एनं प्राशिषं ...] उसको मैंने अन्तरिक्षरूप व्यापक प्रसारसे सेवन किया और उससे प्राप्त किया ॥ १९ ॥ जिससे पूर्व ऋषियोंने भक्षण किया उससे भिन्न एस [पृष्ठेन] पृष्ठभागसे तू भक्षण करेगा तो [विद्युत् त्वा हनिष्यति] विद्युत् तेरा नाश करेगी ऐसा इसे कहे।
[तं वा ... दिवा पृष्ठेन ...] उसको मैंने द्युलोकरूपी पृष्ठसे भक्षण किया ॥ ४० ॥

—ततश्चैनमन्येनोरसा प्राशीर्येनं चैत पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । कृष्णा न राल्स्यसीत्येनमाह । त वा०। पृथिव्या उरसा ॥ तेनैनं ०।०।० ॥४१॥

ततश्चैनमन्यनोदरेण प्राशीर्येनं चैत पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । उदरदारस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह । तं वा०। सत्येनोदरेण ॥ तेनैनं ०।।० ॥४२ ॥

ततश्चैनमन्यनं वस्तिना प्राशीर्येनं चैत पूर्वे ऋषयःप्राश्नन्। अप्सु मरिष्यसीत्येनमाह। त वा०। समुद्रेण वस्तिना । तेनैनं ०।०।० ॥ ४३ ।

ततश्चैनमन्याभ्यामूरुभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैत पूर्वे ऋषय प्राश्नन् । ऊरू ते मरिष्यत इत्येनमाह । त वा ०। मित्रावरुणयोरूरुभ्याम् । ताभ्यामेत प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् ॥ एत त्वा ०।०।० ॥ ४४ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यामष्ठीवद्भ्यां प्राशीर्याभ्यां चैत पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्। स्रामो भविष्यसीत्येनमाह ॥ त वा० । त्वष्टुरष्ठीवद्भ्याम् ॥ ताभ्यामेनं ०।०।० ॥ ४५ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यां पादाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैत पूर्वे ऋषयः प्राश्नन् । बहुचारी भविष्यसीत्येनमाह । त वा ०। अश्विनोः पादाभ्याम् । ताभ्यामेनं ०।०।० ॥ ४६ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यां प्रपदाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैत पूर्वे ऋषयः प्राश्नन् । सर्पस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह । त वा ०। सवितुः प्रपदाभ्याम् । ताभ्यामेनं ०।०।०॥ ४७ ॥

जिसे पूर्व ऋषियोंने सेवन किया उससे भिन्न [अन्येन उरसा] छातीसे सेवन करोगे तो [कृष्या न राल्स्यसि इति] खेतीमें समृद्ध न होगा । [तं वै पृथिव्या उरसा] इसे मैंने पृथ्वीरूप छातीसे सेवन किया ॥ ४१ ॥

जिसको पूर्व ऋषियोंने उदरसे सेवन किया था उससे भिन्न [अन्येन उदरेण] दूसरे पेटसे तुम सेवन करोगे तो [उदर-दारस्त्वा हनिष्यति इति] पेटकी व्याधि अतिसाररोग तेरा नाश करेगा ऐसा इसे कहे॥ [तं वा सत्येन उदरेण ।] इसे मैंने सत्यरूप उदर द्वारा सेवन किया ॥ ४२ ॥

पूर्व ऋषियोंने जिसे सेवन किया था उससे भिन्न [अन्येन वस्तिना प्राशीः] दूसरी बस्तिसे तूने सेवन किया तो तू [अप्सु मरिष्यसि] जलमें मरेगा । [तं वै ...समुद्रेण वस्तिना] उसको मैंने समुद्ररूपी बस्तिसे सेवन किया ॥ ४३ ॥

जिसको पूर्व ऋषियोंने सेवन किया था उससे भिन्न [अन्याभ्यां ऊरुभ्यां प्राशीः] दूसरी जंघाओंसे उसका सेवन करोगे तो [ते ऊरू मरिष्यतः] तेरी जंघा [मर हो जायगी] [तं व ... मित्रावरुणयोः ऊरुभ्यां प्राशिषं —] इसका मैंने मित्रवरुणकी जंघाओंसे सेवन किया — ॥ ४४ ॥ पूर्व ऋषियोंने जिसे इसका सेवन किया था उससे भिन्न [अन्याभ्यां अष्ठीवद्भ्यां प्राशीः] दूसरी जानुओंसे सेवन करोगे तो तू [स्रामः भविष्यसि] लंगड़ा हो जायगा ऐसा इसे कहे। [तं वै त्वष्टुः अष्ठीवद्भ्यां] इसे मैंने त्वष्टाकी जानुओंसे सेवन किया ॥ ४५ ॥ जिसने पूर्व ऋषियोंने सेवन किया था उससे भिन्न [अन्याभ्यां पादाभ्यां] दूसरे पांवोंसे सेवन करोगे तो [बहुचारी भविष्यसि] तुम्हें बहुत चलना पड़ेगा । [तं वै ... अश्विनोः पादाभ्यां ...] इसको मैंने अश्विदेवोंके पांवोंसे सेवन किया ॥ ४६ ॥ जिसने पूर्व ऋषियोंने सेवन किया था उससे भिन्न [अन्याभ्यां प्रपदाभ्यां] दूसरे पंजोंसे तूने सेवन किया तो [सर्पः त्वा हनिष्यति] सांप तुझे काटेगा । [तं वै सवितुः प्रपदाभ्यां ...] इसे सविताके पंजोंसे मैंने सेवन किया ॥ ४७ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यां हस्ताभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। हस्तौ ते मरिष्यतीत्ये-
नमाह। तं वा ० । ऋतस्य हस्ताभ्याम्। ताभ्यामेनं ०।० ०। ४८ ॥

ततश्चैनमन्यया प्रतिष्ठया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। अप्रतिष्ठानोऽनायतनो मरिष्य-
सीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। सत्ये प्रतिष्ठाय। तयैनं प्रा-
शिषं तयैनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः
सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ४९ ॥ (९)

[२] एतद्वै ब्रध्नस्य विष्टपं यदोदनः ॥ ५० ॥

ब्रध्नलोको भवति ब्रध्नस्य विष्टपि श्रयते य एवं वेद ॥ ५१ ॥

एतस्माद्वा ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत प्रजापतिः ॥ ५२ ॥

तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत ॥ ५३ ॥

स य एवं विदुष उपद्रष्टा भवति प्राणं रुणद्धि ॥ ५४ ॥

न च प्राणं रुणद्धि सर्वज्यानिं जीयते ॥ ५५ ॥

न च सर्वज्यानिं जीयते पुरैनं जरसः प्राणो जहाति ॥ ५६ ॥ (१०)

अर्थ — जिनसे पूर्व ऋषि ने सेवन किया उनसे अन्य [अन्याभ्यां हस्ताभ्यां ...] दूसरे हाथोंसे यदि तूने इसका सेवन किया तो [हस्तौ ते मरिष्यतः] तेरे हाथ मर जायेंगे [तं वै ... ऋतस्य हस्ताभ्याम् ...] उसे मैंने सत्यके हाथोंसे सेवन किया ... ॥ ४८ ॥ जिससे पूर्व ऋषि ने इसका सेवन किया था उससे [अन्यया प्रतिष्ठया ...] दूसरी प्रतिष्ठासे यदि तूने सेवन किया तो [अप्रतिष्ठानः अनायतनः मरिष्यसि] तू प्रतिष्ठारहित और स्थानरहित होकर मरेगा ऐसा कहो। [तं वै ... सत्ये प्रतिष्ठाय] सत्यमें प्रतिष्ठित होकर मैंने सेवन किया जिससे यह सब अंगों और अवयवोंसे युक्त हुआ। जो यह जानता है वह भी सब अंगों और अवयवोंसे युक्त होता है ॥ ४९ ॥ (९)

[यत् ओदनः एतत् वै ब्रध्नस्य विष्टपम्] जो भात है वह सूर्यका स्थान है ॥ ५० ॥ [यः एवं वेद] जो ऐसा जानता है वह [ब्रध्नलोकः भवति] सूर्यलोकका निवासी होता है [ब्रध्नस्य विष्टपि श्रयते] स्वर्गमें रहता है ॥ ५१ ॥ [एतस्मात् ओदनात् प्रजापतिः त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत] इस भातसे प्रजापतिने तैंतीस लोकोंका निर्माण किया ॥ ५२ ॥ [तेषां प्रज्ञानाय यज्ञं असृजत] और उनके ज्ञानके लिये यज्ञको निर्माण किया ॥ ५३ ॥ [सः यः एवं विदुषः उपद्रष्टा भवति प्राणं रुणद्धि] वह जो इसके [illegible] होता है वह प्राणका नाश करता है ॥ ५४ ॥ [न च प्राणं रुणद्धि सर्वज्यानिं जीयते] न केवल प्राणका ही नाश करता है, परन्तु सब [illegible] ॥ ५५ ॥ (न च सर्वज्यानिं जीयते) सर्वनाश न होता, [illegible] नहीं परंतु (जरसः पुरा एनं प्राणः जहाति) बुढापेसे पूर्व इसको प्राण छोड जाता है ॥ ५६ ॥ (१०)

अन्नका महत्त्व।

अन्नके महत्त्वका वर्णन इस सूक्तमें [illegible] आलंकारिक भाषामें किया है। यह देखनेसे पता लगता है कि अन्न भी मनुष्यके समान [illegible] है। [illegible] यह जो कुछ है वह सब अन्न ही है। यही अन्नका विवरण है।

अन्न सेवन करना हो तो वैसा [illegible] अथवा सेवन किया करते हैं वैसाही करना चाहिये अन्यथा मनुष्यका नाश होगा। यह सूचना इस सूक्तमें विशेष महत्त्वकी है।

पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका मनन करें। इस सूक्तके मंत्रोंमें तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे कुछ बातें विचारणीय हैं। १० वें मंत्रमें एक प्रश्न पूछा है—

त्वं ओदनं प्राशीः त्वां ओदनाः इति ? (१०)

"तूने इस अन्नका भोजन किया अथवा इस अन्नने तेरा भक्षण किया ?" यह प्रश्न बड़ा ही विचारणीय है। हम जो अन्न खा रहे हैं वह हमें खा रहा है अथवा हम इस अन्नको भोग रहे हैं ? हम भोग भोग रहे हैं या भोग हमें [illegible] रहे हैं अथवा हम इन भोगोंका उपभोग ले रहे हैं ? कितना गंभीर प्रश्न है ! प्रत्येक मनुष्यको इसका विचार करना चाहिये। [illegible] "मनुष्य भोगोंको भोग रहा है"। इन भोगोंसे मनुष्यकी कितनी शक्ति क्षीण हो रही है ? [illegible] मनुष्य भोगोंका भोग ले रहे हैं [illegible] इसका कोई विचार नहीं करता ! कितना आश्चर्य है !

मनुष्यके [illegible] मनुष्यको ही खा रहे हैं। मनुष्यको चाहिये कि वह इनका भोग करके आनंद प्राप्त करे। परन्तु देखा है यह कि मनुष्य दुःखी हो रहा है। क्यों ऐसा होता है इसका विचार मनुष्यको करना चाहिये। इस मंत्रके प्रश्नमें यह महत्त्वपूर्ण भाव है। पाठक विचार करें कि इसके एकही प्रश्नमें कितना महत्त्वपूर्ण विचार [illegible] है। जो विचार [illegible] उसके लिये यह प्रश्न जीवनका परिवर्तन करनेवाला है।

इस प्रश्नका उत्तर ऐसा होना चाहिये यह बात इसी सूक्तमें कही है। देखिये उत्तर ऐसा है—

न एव अहं ओदनं न मां ओदनः। (३)

"न मुझे अन्नने खाया न मैंने अन्नको खाया।" अर्थात् हम दोनों ऐसे [illegible] एक दूसरेके साथ [illegible] दोनोंके [illegible] एक दूसरेपर बुरा प्रभाव नहीं हुआ। न मैंने अन्नको खा करके [illegible] अर्थात् आवश्यकताकी अपेक्षा अधिक नहीं खाया [illegible] वस्तुओंका संग्रह करके दूसरोंको वंचित रखा। और न ही अन्नने मुझे खाया अर्थात् न [illegible] होकर मेरा नाश करने लगा। मैं और अन्न साथसाथ रहे, एक दूसरेके सहायक हुए, एक दूसरेकी [illegible] एक दूसरेकी महिमा बढ़ाते हुए जगत्‌का उपकार करनेमें सहायक हुए।

पाठक इस उत्तरका विचार करें। क्या यह उत्तर पाठकोंके विचारमें मान्य हो सकता है ? पाठकोंके जीवनमें यह उत्तर [illegible] है या नहीं, इसका विचार पाठक ही करें। [illegible] एक दूसरेके [illegible] चाहिये, यह नियम यहां बताया है, एक दूसरेकी शक्ति घटानेवाले नहीं होने चाहिये। कितना उत्तम उपदेश है इसका मनन पाठक करें। यहीं इस सूक्तके तत्त्वज्ञानकी समाप्ति नहीं हुई। आगे मंत्र इनमें एकरूपता कहता है—

ओदन एव ओदनं प्राशीत्। (३१)

"अन्न ही अन्नको खाता है।" अर्थात् भक्ष्य और भोक्ता एकही तत्त्व है। जैसा भगवद्गीतामें कहा है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। (गी. ४।२४)

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।

मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ (गी. ९।१६)

"यही [illegible] है और यही सर्वकर्ता है।" यह जो गीतामें कहा वह इसी मंत्रके आधारसे कहा अथवा हम यों कह सकते हैं कि वेदके विचार और गीताके विचार यहां समान हैं।

[illegible] हम जो खाते हैं वह भी अन्नही है। पाठक विचार करेंगे तो उनको यह बात समझमें आ जाती है कि मनुष्य भी अन्नही है। [illegible] परन्तु [illegible] बदलनेसे [illegible] हो सकती है। [illegible]

[illegible] इस तरह विचार करके पाठक इस सूक्तके [illegible] बोध ले सकते हैं।

प्राणकी विद्या।

(४)

(ऋषिः— भार्गवो वैदर्भिः। देवता—प्राणः)

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥
नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे। नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते ॥ २ ॥
यत् प्राण स्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः। प्र वीयन्ते गर्भान् दधतेऽथो बह्वीर्वि जायन्ते ॥ ३ ॥
यत् प्राण ऋतावागतेऽभिक्रन्दत्योषधीः। सर्वं तदा प्र मोदते यत् किं च भूम्यामधि ॥ ४ ॥
यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्। पशवस्तत् प्र मोदन्ते महो वै नो भविष्यति ॥ ५ ॥
अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्। आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः ॥ ६ ॥
नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते। नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥ ७ ॥

(यस्य वशे) जिसके वशमें (इदं सर्वं) यह सब जगत् है उस (प्राणाय नमः) प्राणके लिये मेरा नमस्कार है (यः सर्वस्य ईश्वरः) जो प्राण सबका ईश्वर (भूतः) है और (यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं) जिसमें सब जगत् रहा है ॥ १ ॥

हे प्राण! (क्रन्दाय ते नमः) गर्जना करनेवाले तुझको नमस्कार है (स्तनयित्नवे) गर्जनेमें शब्द करनेवाले तुझको नमस्कार है। हे प्राण! (विद्युते) चमकनेवाले तुझको नमस्कार है और हे प्राण! (वर्षते) वृष्टि करनेवाले तुझको नमस्कार है ॥ २ ॥

हे प्राण! (यत् स्तनयित्नुना ओषधीः अभिक्रन्दति) जब तू मेघोंके द्वारा औषधियोंके सन्मुख बडी गर्जना करता है तब औषधियां (प्रवीयन्ते) तेजस्वी होती हैं (गर्भान् दधते) गर्भधारण करती हैं और (अथो बह्वीः विजायन्ते) बहुत प्रकारसे विस्तारको प्राप्त होती हैं ॥ ३ ॥

हे प्राण! (ऋतौ आगते) वर्षा ऋतु आते ही जब तू (ओषधीः अभिक्रन्दति) औषधियोंके प्रति गर्जना करता है; (यदा यत् किं च भूम्यां अधि तत् सर्वं प्रमोदते) तब सब जगत् आनंदित होता है, जो कुछ इस पृथ्वीपर है ॥ ४ ॥

(यदा प्राणः) जब प्राण (वर्षेण महीं पृथिवीं अभ्यवर्षीत्) वृष्टिद्वारा इस बडी भूमिपर वर्षा करता है (तत् पशवः प्रमोदन्ते) तब पशु हर्षित होते हैं [और समझते हैं कि] निःसंदेह अब (नः वै महः भविष्यति) हम सबकी वृद्धि होगी।

(अभिवृष्टाः ओषधयः) औषधियों पर वृष्टि होनेके पश्चात् वे औषधियां (प्राणेन समवादिरन्) प्राणके साथ भाषण करती हैं कि हे प्राण! (नः आयुः वै प्रातीतरः) तूने हमारी आयु बढा दी है और हम सबको (सुरभीः) सुगंधियुक्त (अकः) किया है ॥ ६ ॥

(आयते ते नमः अस्तु) आगमन करनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है (परायते नमः अस्तु) गमन करनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है। हे प्राण! (तिष्ठते) स्थिर रहनेवाले और (आसीनाय ते नमः) बैठनेवाले आपके लिये नमस्कार है ॥ ७ ॥

नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते।
पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय त नमः सर्वस्मै त इदं नमः ॥८॥
या ते प्राण प्रिया तनूर्यो ते प्राण प्रेयसी। अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे ॥९॥
प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्। प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न ॥१०॥
प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते। प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत् ॥११॥
प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते। प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम् ॥१२॥
प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते। यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते ॥१३॥
अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा। यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥१४॥
प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते। प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥१५॥
आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत। ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि ॥१६॥

अर्थ- हे प्राण ! (प्राणते) जीवनका कार्य करनेवाले तुझे नमस्कार है (अपानते) अपानका कार्य करनेवाले तेरे लिये नमस्कार है। (पराचीनाय) आगे चलनेके साथ (प्रतीचीनाय) पीछे हटनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है (सर्वस्मै त इदं नमः) सब कार्य करनेवाले तेरे लिये यह मेरा नमस्कार है ॥ ८ ॥

हे प्राण [या ते प्रिया तनूः] जो तेरा [प्राणमय] प्रिय शरीर है, [या ते प्रेयसी] और जो तेरे [प्राणापानरूप] प्रिय भाव हैं, तथा [अथो यद् तव भेषजं] जो तेरा औषध है वह [जीवसे नः धेहि] दीर्घजीवनके लिये हमें दे ॥ ९ ॥

[पिता प्रियं पुत्रं इव] जिस प्रकार प्रिय पुत्रके साथ पिता रहता है उस प्रकार [प्राणः प्रजा अनुवस्ते] सब प्रजाओंके साथ प्राण रहता है [यत् प्राणति] जो प्राण धारण करते हैं और [यत् च न] जो नहीं धारण करते, [प्राणः सर्वस्य ईश्वरः] उन सबका प्राण ही ईश्वर है ॥ १० ॥

[प्राणः मृत्युः] प्राण ही मृत्यु है और [प्राणः तक्मा] प्राण ही जीवनकी शक्ति है। इसलिये [प्राणं देवा उपासते] सब देव प्राणकी उपासना करते हैं। [प्राणः ह सत्यवादिनं] क्योंकि सत्यवादीको प्राण ही [उत्तमे लोके आदधत्] उत्तम लोकमें पहुंचाता है ॥ ११ ॥

प्राण [वि राट्] विशेष तेजस्वी है, और प्राण ही [देष्ट्री] सबका प्रेरक है इसलिये [प्राणं सर्वे उपासते] प्राण-की ही सब उपासना करते हैं। सूर्य चन्द्रमा और प्रजापति भी (प्राणं आहुः) प्राण ही हैं ॥ १२ ॥

(प्राणापानौ व्रीहियवौ) प्राण और अपान ही चावल और जौ हैं। (अनड्वान्) बैल ही (प्राणः उच्यते) मुख्य प्राण है। (यवे ह प्राणः आहितः) जौ में प्राण रखा है और (व्रीहिः अपानः उच्यते) चावल अपानको कहते हैं ॥ १३ ॥

(पुरुषः गर्भे अन्तरा) जीव गर्भके अन्दर (प्राणति अपानति) प्राण और अपानके व्यापार करता है। हे प्राण ! जब तू (जिन्वसि) प्रेरणा करता है तब वह (अथ सः पुनः जायते) जीव पुनः उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

(प्राणं मातरिश्वानं आहुः) प्राणको मातरिश्वा कहते हैं और (वातः ह प्राणः उच्यते) वायुका नाम ही प्राण है। (भूतं भव्यं च ह प्राणे) भूत भविष्य और जो कुछ वर्तमान कालमें था है वह सब प्राणमें (सर्वं प्रतिष्ठितं) रहता है ॥ १५ ॥

हे प्राण ! (यदा) जबतक तू [जिन्वसि] प्रेरणा करता है तबतक ही आथर्वणी आंगिरस दैवी और मनुष्यकृत [ओषधयः] औषधियां [प्र जायन्ते] बढती हैं ॥ १६ ॥

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्। ओषधयः प्र जायन्तेऽथो याः काश्च वीरुधः ॥१७॥
यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः। सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिँल्लोक उत्तमे ॥१८॥
यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः। एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत् सुश्रवः ॥१९॥
अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः।
स भूतो भव्यं भविष्यत् पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभिः ॥२०॥ [११]
एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदा चन ॥२१॥
अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥२२॥
यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः। अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते ॥२३॥

अर्थ- [यदा प्राणः महीं पृथिवीं अभ्यवर्षीत्] जब प्राण इस बडी भूमीपर वृष्टि करता है तब [ओषधयः वीरुधः याः काः प्रजायन्ते] औषधियां और वनस्पतियां बढ जाती हैं ॥ १७ ॥

हे प्राण ! [यः ते इदं वेद] जो मनुष्य तेरी इस शक्तिको जानता है और [यस्मिन् प्रतिष्ठितः असि] जिस मनुष्यमें तू प्रतिष्ठित होता है [तस्मै सर्वे बलिं हरान्] सब मनुष्य उसके लिये उस उत्तम लोकमें सबही सत्कारका समर्पण करते हैं ॥ १८ ॥

हे प्राण ! [यथा] जिस प्रकार ये [तुभ्यं सर्वाः इमाः प्रजाः बलिहृतः] सब प्रजाजन तेरा सत्कार करते हैं कि [यः] जो [सुश्रवाः] उत्तम यशवाली है और [त्वा] तेरा सामर्थ्य [शृणवत्] सुनता है [तस्मै बलिं हरान्] उसके लिये भी बलि देते हैं ॥ १९ ॥

[देवतासु आभूतः] दिव्य विभूतियोंमें जो व्यापक प्राण है वह ही [गर्भः अन्तः चरति] गर्भके अंदर चलता है। जो [भूतः] पहिले हुआ था [सः उ] वह ही [पुनः जायते] फिर उत्पन्न होता है। जो [भूतः] पहिले हुआ था [सः] वह ही [भव्यं भविष्यत्] अब होता है और आगे भी होगा। पिता [शचीभिः] अपनी सब शक्तियोंके साथ [पुत्रं प्रविवेश] पुत्रमें प्रविष्ट होता है ॥ २० ॥

[सलिलात् हंस उच्चरन्] जलसे ऊपर उठता हुआ [एकं पादं न उत्खिदति] एक पांवको उठाता नहीं। [अंग] हे प्रिय [यत् स तं उत्खिदेत्] यदि वह उस पांवको उठावेगा [न एव अद्य स्यात्, न श्वः न रात्री न अहः स्यात् न व्युच्छेत् कदाचन] तो आज कल रात्री दिन प्रकाश और अंधेरा कुछ भी नहीं होगा ॥ २१ ॥

(अष्टाचक्रं) आठ चक्रोंसे युक्त, (सहस्राक्षरं) हजारों अक्षरोंसे युक्त (एकनेमि वर्तते) एक नेमिवाला है, ऐसा यह प्राणचक्र (प्र पुरः नि पश्चा) आगे और पीछे चलता है। (अर्धेन विश्वं भुवनं जजान) आधे भागसे सब भुवनोंको उत्पन्न करके (यत् अस्य अर्धं) जो इसका आधा भाग शेष रहा है (कतमः सः केतुः) वह किसका चिन्ह है ? ॥ २२ ॥

हे प्राण ! [अस्य विश्वजन्मनः] सबको जन्म देनेवाले और इस सब (विश्वस्य चेष्टतः) हलचल करनेवालेका (यः ईशे) जो स्वामी है, उस (अन्येषु) अन्योंमें (क्षिप्रधन्वने) शीघ्र गतिवाले तेरे लिये नमस्कार है ॥ २३ ॥

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः। अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु ॥ २४ ॥
ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते। न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन ॥ २५ ॥
प्राण मा मत् पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि।
अपां गर्भमिव जीवसे प्राण बध्नामि त्वा मयि ॥२६॥ (१३)

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥२॥

अर्थ-(यः अस्य सर्वजन्मनः) जो सब जन्म वालोंके और (चेष्टतः सर्वस्य) हलचल करनेवाले सबका भी (ईशे) ईश है, वह [illegible] (अतन्द्रः) आलस्यरहित होकर (ब्रह्मणा धीरः) [illegible] हुआ प्राण (मा) मेरे साथ (अनु तिष्ठतु) रहा रहे ॥ २४ ॥

[सुप्तेषु] सब सोनेवालोंमें भी यह प्राण (ऊर्ध्वः) खड़ा रहकर [जागार] जागता है [ननु तिर्यङ् नि पद्यते] [illegible] नहीं। [सुप्तेषु अस्य सुप्तं] [illegible] (कश्चन न अनुशुश्राव) [illegible] नहीं है ॥ २५ ॥

हे प्राण ! (मत् मा पर्यावृतः) [illegible] (न मत् अन्यः भविष्यसि) [illegible] । [अपां गर्भं इव] [illegible] (जीवसे त्वा मयि बध्नामि) [illegible] ॥ २६ ॥

प्राणसूक्त समाप्त

द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥



प्राणका महत्व।

प्राणकी जो विद्या होती है उसको "प्राण विद्या" कहते हैं। मनुष्योंके लिये सब अन्य विद्याओंकी अपेक्षा प्राणविद्याकी अत्यंत आवश्यकता है। मनुष्यके शरीरमें भौतिक और अभौतिक अनेक शक्तियां हैं। उन सब शक्तियोंमें प्राणशक्तिका महत्व सर्वोपरि है। सब अन्य शक्तियोंके अस्त होनेपर भी इस शरीरमें प्राणका कार्य चलता है परंतु प्राणका अस्त होनेपर कोई अन्य शक्ति कार्य करनेके लिये रह नहीं सकती। इससे प्राणका महत्व स्वयं स्पष्ट हो सकता है।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें प्राण शब्दसे परमेश्वरकी विश्वव्यापक जीवन-शक्ति (Life energy) कही है। इस परमात्माकी जीवनशक्तिके आधीन यह सब संसार है इसीके आधारसे रहा है और इसीसे सब संसारका नियमन भी हो रहा है। समष्टि दृष्टिसे सर्वत्र प्राणका राज्य है। व्यष्टि दृष्टिसे प्रत्येक शरीरमें भी प्राणका ही आधिपत्य है। प्राणिमात्रके प्रत्येक शरीरमें जो जो इंद्रियादिक शक्तियां हैं तथा विभिन्न अवयव और इंद्रियां हैं सब ही प्राणके वशमें हैं। प्राणके आधार ही सब शरीर है। शरीरमें प्राणही सब इंद्रियों और अवयवोंका ईश्वर है क्योंकि उसीके आधारसे सब शरीर प्रतिष्ठाको प्राप्त हुआ है। प्राणके बिना इस शरीरकी स्थिति ही नहीं हो सकती। अर्थात् प्राणके बल होनेसे सब शरीर सुदृढ और नीरोग हो सकता है और प्राणके निर्बल होनेसे सब शरीर निर्बल हो सकता है। इसलिये प्राणका बल बढानेकी आवश्यकता है।

अपने शरीरमें श्वास उच्छ्वास रूप प्राण चल रहा है और उसके मार्गदर्शन यह कार्य करता है। सब इंद्रिय और अन्य अवयव मरजानेके पश्चात् भी कुछ देरतक प्राण कार्य करता है इसलिये सबमें प्राण ही मुख्य है और यह सबका आधार है। अपने प्राणको केवल साधारण श्वासरूप ही समझना नहीं चाहिये परंतु उसको महा विश्वशक्तिका अंश समझना उचित है। मनकी इच्छाशक्तिसे प्रेरित प्राण अपनी शरीरका आरोग्य संपादन कर देनेमें समर्थ होता है इस दृष्टिसे प्राणका महत्व सब शक्तियोंमें अधिक है। इसके महत्वको समझना और सदा मनमें धारण करना चाहिये। अपने प्राणके आधीन मेरा सब शरीर है प्राणके कारण यह स्थिर रहा है और इसका सब हलचल प्राणकी प्रेरणासे होता है इस प्रकारके भावको मैं उपासना करूंगा और उसको अपने आधीन करूंगा। प्राणायामसे उसको स्वाधीन करूंगा और तदनुकूल मनसे अपनी इच्छानुकूल अपने शरीरमें कार्य करूंगा। यह भावना मनमें धारण करके अपने प्राणकी शक्तिका चिंतन करना चाहिए।

यह प्राण जैसा शरीरमें है वैसा बाहर भी है। इस विषयमें द्वितीय मंत्र देखने योग्य है।

इस द्वितीय मंत्रमें मेघके गरजनेवाले मेघोंका नाम "क्रंद" है बडा गर्जना और विद्युत्पात जिससे होता है उन मेघोंका नाम स्तनयित्नु है। जबसे बिजली बहुत चमकती है उनको विद्युत् कहते हैं और वृष्टि करनेवाले मेघोंका नाम है वर्षा। ये सब मेघ अन्तरिक्षमें प्राणवायुको धारण करते हैं और वृष्टिद्वारा वह प्राण भूमिपर आता है। और वनस्पतियोंमें संचित होता है।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि अन्तरिक्ष स्थानका प्राण वृष्टिद्वारा औषधिवनस्पतियोंमें जाकर जगत्में जीवनका विस्तार करता है। प्राणकी यह शक्ति प्रत्यक्ष देखने योग्य है।

वृष्टिद्वारा प्राप्त होनेवाले प्राणसे न केवल वृक्षवनस्पतियां प्रफुल्लित होती हैं परंतु अन्य जीव जंतु और प्राणी भी बडे हर्षित होते हैं। मनुष्य भी इसका स्वयं अनुभव करते हैं। यह तृतीय मंत्रका कथन है।

अन्तरिक्षस्थ प्राणका वर्णन इस प्रकार चतुर्थ और पंचम मंत्रमें पाठक देखें और जगत्में इस प्राणका महत्व कितना है, इसका अनुभव करें। पहिले मंत्रमें प्राणका सामान्य व्यापक वर्णन किया है उसकी अन्तरिक्षस्थानीय एक विभूति यहां बता दी है। अब इसीकी वैयक्तिक विभूति सप्तम और अष्टम मंत्रोंमें बतायी जाती है।

श्वासके साथ प्राणका अंदर आगमन होता है और उच्छ्वासके साथ बाहर जाना होता है। प्राणायामके पूरक और रेचकका बोध "आयन्, परायन्" इन दो शब्दोंसे होता है। स्थिर (तिष्ठन्) रहनेवाले प्राणसे कुंभकका बोध होता है। और बाह्य कुंभकका ज्ञान "आसीन" पदसे होता है। "(१) पूरक, (२) कुंभक (३) रेचक और (४) बाह्य कुंभक ये प्राणायाम के चार भाग हैं। ये चारों मिलकर परिपूर्ण प्राणायाम होता है।

इसका वर्णन इस मंत्रमें "(१) जाग्रत् (२) तिष्ठत् (३) परावत (४) आसीन" इन चार शब्दोंसे हुआ है। जो अंदर आनेवाला प्राण होता है, उसको "जाग्रत् प्राण" कहा जाता है यही पूरक प्राणायाम है। जाने आनेकी गतिका विरोध करके प्राणको अंदर स्थिर किया जाता है उसको "तिष्ठत् प्राण" कहते हैं यही कुंभक अथवा अंतःकुंभक प्राणायाम होता है जो अंदरसे बाहर जाता है उसको "परावत प्राण" कहते हैं, यही रेचक प्राणायाम है। जब प्राण रेचकद्वारा बाहर निकलनेके पश्चात् उसको बाहर ही ठहराया "आसीन प्राण" द्वारा होता है यही बाह्य कुंभक है। प्राणायामके ये चार भाग हैं। इन चारोंके अभ्याससे प्राण वश होता है। यही इस प्राणदेवको स्वाधीन करनेका उपाय है। यही प्राणोपासनाकी विधि है।

प्राण नाम उसका है कि जो नासिकाद्वारा छातीमें पहुंचता है। अपान उसका नाम है कि जो नाभि के निम्न देशसे गुदाके द्वारतक कार्य करता है। इसलिये दो अन्य नाम "प्राणन" और "प्रतीर्णन" इन शब्दोंसे स्वाधीन रखनेका तात्पर्य प्राण और अपानको स्वाधीन करना है। अपानकी स्वाधीनतासे मलमूत्रोत्सर्ग उत्तम प्रकारसे होते हैं और प्राणकी स्वाधीनतासे रुधिरकी शुद्धि होती है। इस प्रकार इन दोनोंके वशीभूत होनेसे शरीरकी नीरोगता सिद्ध होती है। इस प्रकारकी प्राणकी स्वाधीनता होनेसे प्राणके अधीन सब शक्ति है इसका अनुभव होता है इसी कारणसे मंत्र कहता है कि "नमस्ते अस्तु [illegible]" अर्थात् 'तू सब कुछ है इसलिये तेरा सत्कार करता हूं'। शरीरका कोई भाग प्राणशक्तिके बिना कार्य नहीं कर सकता इसलिये सब अवयवोंमें सब प्रकारका कार्य करनेवाले प्राणका सत्कार करना चाहिये। हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने प्राणकी इस शक्तिका [illegible] को विचार पूर्वक इस शक्तिका स्मरण रखे क्योंकि निज आरोग्यकी सिद्धि इसीपर निर्भर है। इस प्राणका इतना महत्त्व है कि इसकी [illegible] जामनामें ही सब जीवन कार्य कर सकते हैं। परंतु इसके कमजोर होनेसे कोई जीवन कार्य नहीं कर सकता, यह प्राण सब औषधियोंकी औषधि है इस विषयमें नवम मंत्र देखनेयोग्य है।

अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमय और आनन्दमय ये पांच कोश हैं। इनको पांच शरीर भी कह सकते हैं। इन पांच शरीरोंमेंसे प्राणमय शरीरका वर्णन इस मंत्रमें किया है। "प्रिया तनूः" यह शब्दप्रयोग देखने योग्य है। जब हम इसपर प्रेम करते हैं, तब चाहते हैं कि यह प्राणमय शरीर बना रहे। प्राण और अपान ये इस शरीरके दो प्रेममय कार्य हैं। प्राणसे शक्तिका संवर्धन होता है और अपानसे विरोधी दोष दूर करके आरोग्यका संपादन होता है। प्राणके अंदर एक प्रकारका "भेषज" अर्थात् औषध है दोषोंको दूर करनेकी शक्ति नाम ([illegible]) औषध अथवा भेषज होता है। शरीरके सब दोष दूर करना और वहां शरीरमें आरोग्यकी स्थापना करना, यह पवित्र कार्य करना, प्राणका ही धर्म है। प्राणका दूसरा नाम "असु" है और इस शब्दका अर्थ वैद्य भी होता है।

इस प्राणमें औषध है यह वेदका कथन है। इसपर अवश्य विश्वास रखना चाहिये क्योंकि यह विश्वास अयथार्थ नहीं है अपनी निज शक्तिपर विश्वास रखनेके समान ही यह वास्तविक विश्वास है। मानस-चिकित्साका यह मूल है। पाठक इस दृष्टिसे इस मंत्रका विचार करें। अपनी प्राणशक्तिसे अपनी ही चिकित्सा की जा सकती है। 'मैं अपनी प्राणशक्तिसे अपने रोगोंको दूर करके आरोग्य प्राप्त करूंगा,' यह भाव यहां धारण करनेसे बड़ा लाभ होता है।

दशम मंत्रमें कहा है कि जिस प्रकार पुत्रका संरक्षण करनेवाला पिता रक्षा किया करता है उसी प्रकार प्राण सबका रक्षण करना चाहता है। सब प्राणियोंके शरीरोंमें अवस्थितियोंमें जाकर वहां रहकर सब प्राणियोंका रक्षण वह प्राण करता है। न केवल प्राण धारण करनेवाले प्राणियोंका परंतु जो प्राण धारण नहीं करते हैं ऐसे स्थावर पदार्थोंका भी रक्षण प्राणही करता है। अर्थात् कोई यह न समझे कि प्राणीरूपसे चलनेवाले प्राणियोंमें ही प्राण है परंतु स्थावर जंगम आदि पदार्थोंमें भी प्राण है और इन सब पदार्थोंमें रहकर प्राण सबका रक्षण करता है। प्राणका विशेष महत्त्व इस समझना चाहिये और उसको सब पदार्थोंमें व्यापक मानना चाहिए।

शरीरसे प्राण चले जानेसे मृत्यु होती है और जबतक शरीरमें प्राण कार्य करता है तबतक शरीरमें सामर्थ्य अथवा कार्यशक्ति रहती है यह प्रत्यक्ष अनुभव है। इस प्रकार एकही प्राण जीवन और मृत्युका कर्ता होता है। [illegible] इस मंत्रमें [illegible] प्रकट होता है। सब इंद्रियां प्राणकी ही उपासना करती हैं अर्थात् प्राणके साथ रहकर अपना अंदर बल प्राप्त करती हैं। जो इंद्रिय प्राणके साथ रहकर बल प्राप्त करता है वहही कार्य कर सकता है परंतु जो इंद्रिय प्राणसे वियुक्त होता है वह मर जाता है। यही प्राण उपास्य और यही इस उपासक है। सब देवोंमें महादेवकी शक्ति कैसी कार्य करती है इसका यहां अनुभव हो सकता है। प्राणही महादेव रुद्र, पशु आदि नामोंसे

बोधित होता है। व्यष्टिके शरीरमें प्राणकी उसकी विभूति है। सब समष्टिमें उसका व्यापक विश्वव्यापक प्राणशक्ति ही है। इस व्यापक प्राणशक्तिके आश्रयसे अग्नि, वायु, इन्द्र, सूर्य आदि देवगण रहते हैं और अपना कार्य करते हैं। व्यष्टिमें और समष्टिमें एकही नियम कार्य कर रहा है व्यष्टिमें प्राणके साथ इंद्रियां रहती हैं और समष्टिमें व्यापक प्राणशक्तिके साथ अग्नि आदि देव रहते हैं। दोनों स्थानोंमें दोनों प्रकारके देव प्राणकी उपासनासे ही अपनी शक्ति प्राप्त करते हैं। तीसरे देव समाज और राष्ट्रमें विद्वान् शूर आदि प्रकारके हैं वे सत्यवादी, सत्यनिष्ठ, सत्यपरायण और सत्याग्रही बनकर प्राणायामद्वारा प्राणोपासना करते हैं। प्राणही इनको उत्तम लोकमें पहुंचाता है। अर्थात् इनको श्रेष्ठ बनाता है। अर्थात् प्राणोपासनासे सबही श्रेष्ठ बनते हैं।

सत्यसे बलप्राप्ति।

कई लोग यहां पूछेंगे कि 'सत्यवादितादि प्राण उपासनाके साथ क्या संबंध है? उत्तरमें निवेदन है कि सत्यसे मन पवित्र होता है और उसकी शक्ति बढती है। प्राणकी शक्तिके साथ मानसिक शक्तिका विकास होनेसे बडा लाभ होता है। प्राणायामसे प्राणकी शक्ति बढती है और सत्यनिष्ठासे मनकी शक्ति विकसित होती है। इस प्रकार दोनों शक्तियोंका विकास होनेसे मनुष्यकी योग्यता असाधारण हो जाती है।

द्वादश मन्त्रका अब विचार कीजिये। प्राण विशेष तेजस्वी है। जबतक शरीरमें प्राण रहता है, तबतक ही शरीरमें तेज रहता है। प्राणके चले जानेसे शरीरका तेज नष्ट होता है। सब शरीरमें प्राणसे ही प्रेरणा होती है। बोलना हिलना चलना आदि सब प्राणकी प्रेरणासे ही होता है। अर्थात् शरीरमें तेज और प्रेरणा प्राणसे होती है। इसलिये सब प्राणीमात्र प्राणकीही उपासना करते हैं अथवा यों समझिए कि जबतक वे प्राणके साथ रहते हैं तबतकही उनकी स्थिति है तो जब वे प्राणका उपासना छोड देते हैं तब उनकी मृत्यु ही होती है। इच्छा न होनेपर भी सब प्राणी प्राणकी ही उपासना कर रहे हैं। यदि स्वाभाविक इच्छाके साथ प्राणोपासना की जायगी तो निःसंदेह बडा लाभ हो सकता है। क्योंकि इस जगत्‌का जो वैभव है वह प्राणसेही प्राप्त हुआ है। इसलिये अधिक वैभव प्राप्त करना है तो प्राणकी ही उपासना करनी चाहिये। प्राणायामका यही फल है। इस मन्त्रमें पर्जन्य से प्राण है। सूर्यकिरणोंके द्वारा पृथ्वीमें प्राण रखा जाता है और वह अपनी किरणोंसे औषधियोंमें प्राण रखता है। मेघ विद्युत आदि अपने अपने कर्मोंद्वारा पृथ्वीमें प्राण देते ही रहे हैं। अंतमें प्राणोंका प्राण जो ब्रह्मशक्ति परमात्मा है वही सच्चा प्राण है क्योंकि जीवनकी सब शक्तियोंका वह एक मात्र आधार है। यही कारण है कि वेदमें प्रजापति परमात्माका नाम प्राण ही है। अन्य पदार्थोंमें भी प्राण है इसका वर्णन इसी मंत्रमें इस प्रकार किया है—

मुख्य प्राण एकही है, उससे सबके शरीरमें प्राण और अपान कार्य करते हैं। इसी प्रकार वेदोंमें वेदकी शक्ति मुख्य है, उसी शक्तिसे ही व्यापक और जो आदि व्याप्त उत्पन्न होता है। "अनडुद्वान्" यह वेदवाचक शब्द प्राणका ही वाचक है। समझो कि शरीररूपी खेतमें यह प्राणरूपी बैलही खेती करता है और कर्षक किसान जीवात्मा है। शरीर खेत है, जीवात्मा किसान है प्राण बैल है और जीवनव्यवहाररूप खेती यही चल रही है। वेदमें अनडुद्वान शब्दका प्राण अर्थ है यह न समझनेके कारण कईयोंने यहां अर्थका अनर्थ किया है।

अनडुद्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम् ॥ (अथर्व० ४।११।१)

'प्राण ही पृथिवी और द्युलोकको आधार है,' यह वास्तविक अर्थ न लेकर 'बैलही पृथिवी और द्युलोकको आधार है,' ऐसा अर्थ कईयोंने समझा है। यदि पाठक इस अनडुत्सूक्तका अर्थ इस प्राणसूक्तके अर्थके साथ देखेंगे, तो उनको स्पष्ट पता लग जायगा कि यहां अनडुद्वान् अर्थ केवल बैल ही नहीं है प्रत्युत प्राण भी है। इसी कारण इस सूक्तमें प्राणको अनडुद्वान् कहा है। वह प्राण है और व्यापक आत्मा है, वह केवल न शारीरिक है। वायुमें प्राण और अपान अर्थात् प्राणके संपूर्ण लोकोंमें व्याप्त हैं। प्राणका जीवन सेवन करनेसे सब शरीरमें प्राणादिक आते हैं और अपने शरीरके अवयव अपना कार्य करते हैं।

गर्भके अंदर रहनेवाला जीव भी वहीं गर्भमें प्राण और अपानके व्यापार करता है। और इसलिये वहां उसका जीवन होता है। जब जन्मके समय प्राण जन्म होने योग्य प्रेरणा करता है, तब उसका जन्म प्राप्त होता है। अर्थात् जन्मके अनुकूल प्रेरणा करना प्राणके ही आधीन है। इस चतुर्दश मंत्रमें "स उ जायते" यह वाक्य पुनर्जन्म की कल्पनाका मूल वेदमें बता रहा है जीवात्मा पुनः पुनः जन्म धारण करता है वह जन्म प्राणकी प्रेरणासे होता है यह भाव इस मंत्रमें स्पष्ट है।

१५ वें मंत्रमें " मातरि-श्वा " शब्दका अर्थ माता के अंदर रहनेवाला, माताके गर्भमें रहनेवाला' है । माताके गर्भमें प्राणरूप अवस्थामें बाल रहता है इसलिये उसका नाम ' मातरिश्वा ' है । गर्भमें इसकी स्थिति प्राणरूप होनेसे इसका नाम ही प्राण होता है । इस कारण प्राण और मातरिश्वा शब्द समान अर्थ बताते हैं ।

' मातरिश्वा ' का दूसरा अर्थ वायु है । वायु वात आदि शब्द भी प्राणवाचक ही हैं । क्योंकि वायुरूप प्राण ही हम अंदर लेते हैं और प्राणधारण कर रहे हैं । प्राणका विचार करनेसे पता लग सकता है कि इसके आधारसे भूत भविष्य और वर्तमान का सारा जगत् रहता है । प्राणके आधारसे ही सब रहता है । प्राणके बिना जगत्में किसीकी भी स्थिति नहीं हो सकती । पूर्व-जन्म यह जन्म और पुनर्जन्म ये सब प्राणके कारण होते हैं । अर्थात् भूत भविष्य और वर्तमान कालमें जो कर्मोंके संस्कार प्राणमें संचित होते हैं उसके कारण यथायोग्य रीतिसे पुन-र्जन्मादि होते हैं ।

औषधियोंका उपयोग तबतक ही होता है कि जबतक प्राणकी शक्ति शरीरमें है । जब प्राणकी शक्ति शरीरसे अलग होने लगती है, तब किसी औषधिका कोई उपयोग नहीं होता । इसी सूक्तके मंत्र ९ में " प्राणही औषधि है कि जो बलिष्ठता देता है, " ऐसा कहा है उसका अनुसंधान इस १६ वे मंत्रके साथ करना उचित है ।

इस मंत्रमें "(१)आथर्वणीः, (२)आंगिरसीः, (३) दैवीः और (४) मनुष्यजाः" ये चार नाम चार प्रकारकी चिकित्साओंके बोधक हैं । इनका विचार निम्न प्रकार है-(१) मनुष्यजाः ओषधयः = मनुष्योंकी बनाई गई दवाईयाँ, अर्थात् क्वाथ, चूर्ण, अवलेह भस्म, रस आदि प्रकार की वैद्यों डाक्टरों और हकीमोंके बनाये हुवे हैं उनका समावेश इसमें होता है । ये मानवी औषधियोंके प्रकार हैं । इनसे श्रेष्ठ दैवी विधि है । (२) दैवीः ओषधयः-जल, तेज वायु आदि देवोंके द्वारा जो चिकित्सा की जाती है वह दैवी-चिकित्सा है । जलचिकित्सा, सौरचिकित्सा, वायुचिकित्सा विद्युच्चिकित्सा आदि सब दैवी चिकित्साके प्रकार हैं सूर्य चंद्र वायु आदि देवताओंके साक्षात् संबंधसे यह चिकित्सा होती है और आरोग्यकारक गुण प्राप्त होता है इसलिये इसकी योग्यता बडी है । इसके अतिरिक्त देवयज्ञ अर्थात् हवन आदि द्वारा जो चिकित्सा होती है उसका भी समावेश इसमें होता है । देवयज्ञद्वारा देवताओंकी प्रसन्नता करके, उन देवताओंके जो अंश अपने शरीरमें हैं उनका आरोग्य संपादन करना कोई अस्वाभाविक प्रकार नहीं है । यह प्रकार सुयुक्त और तर्कसम्मत भी है । (३) आंगिरसीः ओषधयः = अंगों अवयवों और इंद्रियोंमें एक प्रकारका रस रहता है जिसके कारण हमारे अवयव मांसपेशियोंकी स्थिति होती है । उस रसके द्वारा जो चिकित्सा होती है वह आंगि-रस-चिकित्सा कहलाती है । मानसिक इच्छाशक्तिकी प्रबल प्रेरणासे इस रसका अंगप्रत्यंगोंमें संचार करनेसे रोगोंकी निवृत्ति होती है । मानसिक चिकित्साका इसमें विशेष संबंध है । स्पर्श अथ-वा रसको संचालित करके मीरोगताके भावकी सूचना देना, तथा रोगादि निवृत्त करनेकी शक्तिकी प्रेरणा करनेके लिये उत्तेजित करना, इस विधिमें मुख्य है । बिना औषधके किये बाह्य साधनोंकी निरपेक्षता इसमें होनेसे इसका आंगिरस-चिकित्सा अर्थात् अपने निज अंगोंके रसद्वारा होनेवाली चिकित्सा कहते हैं । (४) आथर्वणीः ओषधयः = अ-थर्वा नाम है योगीका । मनकी विविध वृत्तियोंका निरोध करनेवाला चित्तवृत्तियोंको स्वा-धीन रखनेवाला योगी अथर्वा कहलाता है । इस शब्दका अर्थ (अ-थर्वा) निश्चल, अचल स्थिर मतिहीन ऐसा है । स्थित-प्रज्ञ स्थिरबुद्धि, स्थिरमति आदि शब्द इसका भाव बताते हैं । योगी लोग मन्त्रप्रयोगसे जो चिकित्सा करते हैं उसका नाम आथर्वणी-चिकित्सा होता है । ईश्वरके प्रेमसे परमेश्वरभक्तिसे, मानसशक्तिसे और आत्माके बलसे मंत्रसिद्धि होती है । यह आथ-र्वणी-चिकित्सा सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें जो कार्य होता है, वह आत्माकी शक्तिसे होता है इसलिये अन्य चिकित्साओंकी अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता है । इसमें कोई संदेह ही नहीं है । ये सब चिकित्साके प्रकार तबतक कार्य करते हैं कि जबतक प्राण शरीरमें रहना चाहता है । जब प्राण चला जाता है, तब कोई चिकित्सा फलदायक नहीं हो सकती । इस प्रकार प्राणका महत्त्व विशेष है ।

प्राणकी पुष्टि ।

जो मनुष्य प्राणकी पवित्रता करनेका अभ्यास करता है, प्राणके बलको विधिपूर्वक जानता है प्राणका बल प्राप्त करनेमें यशस्वी होता है और जिस मनुष्यमें प्राण उत्तम रीतिसे प्रतिष्ठित और स्थिर रहता है, उसका ही सब सत्कार करते हैं उसकी स्थिति

उत्तम लोकमें होती है और वहांका यश सर्वत्र फैलता है। प्राणायाम द्वारा जो अपने प्राणको प्रसन्न और स्वाधीन करता है उसका यश सब लोकोंमें बढता है। इस सूक्तके मंत्रमें कहे [illegible] का अर्थ [illegible] पूजा, भोग, शक्तिप्रदान आदि प्रकारका है। सब अन्य देव प्राणको ही पूजते हैं इस बातका अनुभव अपने शरीरमें भी आ सकता है। नेत्र, कर्ण, नासिका आदि सब अन्य इन्द्रियां प्राणकी ही पूजा करते हैं। प्राणकी उपासनासे ही सामर्थ्य शक्ति इनमें प्रकट होती है। इसी प्रकार प्राणायामकी साधना करनेवाले योगीका सत्कार अन्य सज्जन करते हैं और उनके उपदेशसे प्राणोपासनाका मार्ग जानकर अपने कल्याणका पथ पाते हैं। यही कारण है कि प्राणायाम करनेवाले योगीकी सर्वत्र प्रशंसा होती है।

बीसवें मंत्रमें कहा है कि सूर्य, चंद्र, वायु आदि देवताओंके अंश मनुष्यादि प्राणियोंके शरीरमें रहते हैं। वे ही आंख, नाक आदि स्थानोंमें [illegible] स्थानमें रहते हैं। इन देवताओंमें प्राणकी शक्ति व्याप्त है। यही व्यापक प्राण एक देहको छोडकर दूसरे गर्भमें प्रवेश करता है। अर्थात् एकबार जन्म लेनेके पश्चात् पुनः जन्म लेता है। [illegible] नाम सभी है। इसीका गर्भगर्भाका नाम सभी [illegible] है। गर्भगर्भका भाव यही विशदरूपसे ही है। [illegible] है और [illegible] उसीका सभी नामसे प्रसिद्ध है। पिताका अंश अपनी सब शक्तियोंके साथ पुत्रमें प्रविष्ट होता है। पिताके अंगों अवयवों और इन्द्रियोंके समानही पुत्रके सब अंग अवयव और इन्द्रिय होते हैं। स्वभाव तथा गुणधर्म भी वैसे अंशमें मिलते हैं। इस बातको देखनेसे पता लग सकता है कि पिता अपनी शक्तियोंके साथ पुत्रमें किस प्रकार प्रविष्ट होता है। पाठकोंको इस बातका विशेष विचार करना चाहिए क्योंकि प्रजा निर्माण करना उत्तम ही विषय है। माता पिताके अंश ही पुत्र पुत्रीके देहमें आते हैं इसलिये मातापिताको उन विषयोंका विचार कर ही संतान उत्पन्न करनेका विचार करना चाहिए। अर्थात् ऐसी मातापिताओंसे संतान उत्पन्न करनेका अधिकार नहीं है।

इक्कीसवें मंत्रमें हंस नाम प्राणका है। श्वास अन्दर जानेके समय "स" की ध्वनि होती है और उच्छ्वास बाहर आनेके समय "ह" की ध्वनि होती है। "ह" और "स" मिलकर "हंस" शब्द बनता है। यही शब्द उलट कर "सोऽहं" आदि बनानेके लिये बनाये गये हैं। इसमें हंस शब्द ही मुख्य है। इसका उलटा बनानेसे "सोऽहं" बन जाता है अथवा "हंस" के साथ "ओं" मिलनेसे "सोऽहं" बन जाता है।

स–ह ह–स
ओ–म् स्–अ(हं) (अ)
सोऽहं हंसः

पाठक यहां दोनों प्रकारके रूप देख सकते हैं। सांप्रदायिक कल्पनाओंसे दूर रहकर मूल वैदिक कल्पनाको यदि पाठक देखें तो इसमें बडा आश्चर्य प्रतीत होगा। "ओं" शब्द आत्माका वाचक है और "हंस" शब्द प्राणका वाचक है। आत्माका प्राणके साथ इस प्रकारका संबंध है। अतः ब्रह्माका वाचक और ब्रह्माका वाहन हंस है, इस पौराणिक रूपमें आत्मा और प्राणका ही वर्णन किया है। वह हंस मानस सरोवरमें क्रीडा करता है। यहां प्राण भी हृदयरूपी अंतःकरणरूपी मानससरोवरमें क्रीडा कर रहा है। हृदयकमलमें जीवात्माका निवास सुप्रसिद्ध है अर्थात् कमलासन ब्रह्मदेव और उसका वाहन हंस इसकी मूल वैदिक कल्पना इस प्रकार यहां स्पष्ट होती है–

ब्रह्म, ब्रह्मदेव	आत्मा, जीवात्मा, ब्रह्म
हंस–वाहन	प्राण–वाहन
कमल आसन	हृदय कमल
मानस सरोवर	अन्तःकरण (हृदय)
प्रेरक कर्ता देव	प्रेरक आत्मा

वेदमें हंसका वर्णन अनेक मंत्रोंमें आता है उसका भी आशय इस प्रकार देखना उचित है। यजुर्वेदमें "हंसो ऽहं" (य० [illegible] ११) कहा है। "हंस अर्थात् प्राणशक्तिके अंदर रहने वाला मैं आत्मा हूं" यह भाव उस मंत्रका है। यही भाव इस स्थानमें है। प्राणके साथ आत्माका अवस्थान होकर प्राण [illegible] है। यह (हंस) हृदयके मानस सरोवरमें क्रीडा करता है। श्वास लेनेके समय यह प्राण उस सरोवरमें लीन रहता है और उच्छ्वास देनेके समय ऊपर उठता है। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब उच्छ्वासके समय प्राण बाहर जाता है तब प्राणी मरता क्यों नहीं? पूर्ण उच्छ्वास लेकर प्राणको पूर्ण बाहर निकालनेपर भी मनुष्य मरता नहीं। इसका कारण इस मंत्रमें कहा है। जिस प्रकार हंस पानीसे एक पांव पानीमें ही रखकर दूसरा पांव ऊपर उठाता है उसी प्रकार प्राण ऊपर उठते समय अपना एक पांव हृदयसरोवरमें रखता है और दूसरे पांवसे ही बाहर उठता है। कभी दूसरा पांव हिलाता नहीं।

तात्पर्य प्राण अपनी एक शक्तिसे शरीरमें स्थिर रहता हुआ दूसरी शक्तिसे बाहर आकर कार्य करता है। इसलिये मनुष्य मरता नहीं। यदि वह अपने दूसरे अंशको भी बाहर निकालेगा तो आज, कल किंवा उस प्रकार अँधेरा आदि कुछ भी नहीं होगा अर्थात् कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकेगा। जीवनके पश्चात् ही मरणका ज्ञान होता है। इस प्रकारका यह प्राणका संबंध है। प्रत्येक मनुष्यको उत्तम विचार करके इस संबंधका ज्ञान ठीक प्रकारसे प्राप्त करना चाहिए। "हंस" शब्दके साथ प्राण उपासनाका प्रकार भी इस मंत्रसे व्यक्त होता है। श्वासके साथ "स" कारका श्रवण और उच्छ्वासके साथ "हं" कारका श्रवण करनेसे प्राण उपासना होती है। इससे चित्तकी एकाग्रता शीघ्र ही प्राप्त होती है। यही "सो" "अहं" रूपमें स का श्वासके साथ और "हं" का श्रवण उच्छ्वासके साथ करनेसे हंस ही सोऽहं बन जाता है। यह प्राण उपासनाका प्रकार है, योगशास्त्रके ग्रंथोंमें इसपर विस्तृत और विविध कल्पनाएं रची हैं परंतु मूलकी ओर ध्यान देकर सबसे दूर रहना ही हमको उचित है। अब इसका और वर्णन देखिये —

इस शरीरमें आठ चक्र हैं जिनमें प्राण जाता है और विलक्षण कार्य करता है यह बात २१वें मंत्रमें कही है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, सूर्य, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा और सहस्रार ये आठ चक्र हैं। क्रमसे गुदासे लेकर सिरके ऊपरके भाग तक आठ स्थानोंमें ये आठ चक्र हैं। पीठके मेरुदंडमें इनकी स्थिति है। इस प्रत्येक चक्रमें प्राण जाता है और अपने अपने भिन्न कार्य करता है। जो उत्तम प्राणायामका अभ्यास करते हैं उनको अपना प्राण इस चक्रमें पहुंचा है इस बातका अनुभव होता है और वहांकी स्थितिका भी पता लगता है। कई मस्तिष्कमें हजारों चक्रोंका स्थान है। यही अमृतस्थानका मध्य और मुख्य भाग है। प्राणका एक केंद्र हृदयमें है। इस प्रकार एक केंद्रके साथ आठ चक्रोंमें जानेवालोंके द्वारा आगे और पीछे चलनेवाला यह प्राणचक्र है। श्वास उच्छ्वास तथा प्राण अपान द्वारा प्राणचक्रकी आगे और पीछे गति होती है। पाठकोंको उचित है कि वे इन चक्रोंकी खोज और अनुभव करनेका यत्न करें। तात्पर्य एक भाग शरीरकी शक्तियोंके साथ संबंध रखता है और दूसरा भाग आत्माकी शक्तिके साथ संबंध रखता है। शारीरिक शक्तिके साथ संबंध रखनेवाले प्राणके भागका ज्ञान प्राप्त करना बड़ा सुगम है परंतु आत्मिक शक्तिके साथ संबंध रखनेवाले प्राणके भागका ज्ञान करना बड़ा कठिन है। आगे मापके साथ नव सुगम ये प्रमाण है, जो इसका दूसरा अंश है वह किसका चिन्ह है अर्थात् उसका ज्ञान निश्चित हो सकता है? आत्माके ज्ञानके साथ ही उसका ज्ञान हो सकता है।

प्राण जागती देव है इस विषयमें पहिले ही मंत्रमें कहा है। सबमें पवित्र और सबमें मुख्य यह प्राण है। प्राण अर्थात् आत्मशक्तिके साथ रहनेवाला यह प्राण आलस्य रहित होकर आठ पैरके साथ कार्य करनेमें समर्थ बनकर मेरे शरीरमें अनुकूलताके साथ रहे। यह इच्छा उपासकको मनमें धारण करनी चाहिए। अन्य इंद्रियोंमें आलस्य होता है प्राणमें आलस्य कभी नहीं होता, इसलिये प्राणका विशेषण अतंद्र अर्थात् आलस्य रहित ऐसा रखा है। यही भाव पचासवें मंत्रमें कहा है।

सब इंद्रियां आराम लेती हैं थकती हैं, सो जाती हैं और पीछे फिर जागती हैं, परंतु प्राण ही रातदिन जागता रहकर जागता है, मानो इस मंदिरका संरक्षण करनेके लिये खड़ा रहकर पहरा करता है। कभी सोता नहीं कभी आराम नहीं करता और अपने कार्यमें कभी थकता नहीं रहता। सब इंद्रियां सोती हैं परंतु इस प्राणका सोना किसीने सुना ही नहीं। अर्थात् विश्राम न लेता हुआ यह प्राण रातदिन शरीरमें कार्य करता है।

इसीलिये प्राण उपासना निरंतर हो सकती है। देखिए किसी आकर्षक दृष्टि रखकर ध्यान करना हो तो दृष्टि थक जाती है। दृष्टि थकनेपर उसकी उपासना वैसी [illegible] नहीं हो सकती। इसी प्रकार अन्य इंद्रियां थकती हैं और विश्राम चाहती हैं इसलिये अन्य इंद्रियोंके साथ उपासना निरंतर नहीं हो सकती। परंतु यह प्राण कभी थकता नहीं और कभी विश्राम नहीं चाहता। इसलिये इसके साथ जो प्राण उपासना की जाती है वह निरंतर हो सकती है। बिना रुकावट प्राणोपासना हो सकती है, इसलिये इसका अद्भुत महत्त्व है। तथा अब इस सूक्तका अन्तिम मंत्र कहता है कि —

"हे प्राण! मेरेसे दूर न हो जाओ, दीर्घ कालतक मेरे अंदर रहो। मैं दीर्घ जीवन प्राप्त करूंगा, मैं दीर्घ आयुष्यसे युक्त होकर सौ वर्ष भी अपना जीवन व्यतीत करूंगा।

इसलिये मेरेसे पृथक् न होओ ! यह भावना उपासकको मनमें धारण करनी चाहिए । अन्नमय मन है और आपोमय प्राण है। इसलिये प्राणको जलोंका गर्भ कहा है । उपासकके मनमें यह भावना स्थिर रहनी चाहिए, कि मैंने प्राणायामादि द्वारा अपने शरीरमें प्राणको बांधकर रख दिया है । इसलिये यह प्राण कभी विमुख होकर दूर नहीं होगा । प्राणायामादि साधनोंपर दृढ विश्वास रखकर उन साधनोंके द्वारा मेरे शरीरमें प्राण स्थिर हुआ है, ऐसा दृढ मन चाहिए और कभी अकाल मृत्यु का विचारतक मनमें नहीं आना चाहिए । आत्मापर विश्वास रखनेसे उच्च भावना दृढ हो जाती है । इस प्राण सूक्तमें भिन्न भाव हैं—

प्राणसूक्तका सारांश ।

(१) प्राणके आधीन ही सब कुछ है, प्राण ही सबका मुखिया है ।

(२) प्राण पृथ्वीपर है, अंतरिक्षमें है और द्युलोकमें है ।

(३) द्युलोकका प्राण सूर्य किरणों द्वारा पृथ्वीपर आता है, अंतरिक्षका प्राण वृष्टिद्वारा पृथ्वीपर पहुंचता है और पृथ्वीपरका प्राण यहां सदा ही वायुरूपसे रहता है ।

(४) अंतरिक्षस्थ और द्युलोकस्थ प्राणसे ही सबका जीवन है । इस प्राणकी प्राप्तिसे सबको आनन्द होता है ।

(५) एक ही प्राण व्यक्तिके शरीरमें प्राण अपान आदि रूपमें परिणत होता है । शरीरके प्रत्येक अंग अवयव और इंद्रियोंमें अर्थात् सर्वत्र प्राण ही कार्य करता है ।

(६) प्राण ही सब आपत्तियोंसे बचाता है । प्राणके कारण ही सब शरीरके रोग दूर होते हैं । प्राणकी अनुकूलता न होनेपर कोई औषध कार्य नहीं कर सकता और प्राणकी अनुकूलता होनेपर बिना औषधके आरोग्य रह सकता है ।

(७) प्राण ही सबकी आयु देनेवाला है ।

(८) प्राण ही सबका पिता और रक्षक है । सर्वत्र व्यापक भी है ।

(९) मृत्यु, रोग और ज्वर ये सब प्राणके कारण ही होते हैं । सब इंद्रिय उसके साथ रहनेपर ही बल प्राप्त करते हैं । धीर पुरुष उसका ध्यान करके बल प्राप्त कर सकते हैं । सत्यनिष्ठ पुरुष प्राणकी प्रसन्नतासे उत्तम अवस्था प्राप्त करते हैं ।

(१०) प्राणके साथ ही सब देवता हैं । उनसे प्रेरणा करनेवाला प्राण ही है ।

(११) वायुमें प्राण रहता है । वह भोजनके द्वारा शरीरमें जाकर शरीरका बल बढाता है ।

(१२) गर्भमें भी प्राण कार्य करता है । प्राणकी प्रेरणासे ही गर्भ बाहर आता है और बढता है ।

(१३) प्राणके द्वारा ही पिताके सब गुण कर्म लक्षण और शक्तियां पुत्रमें जाती हैं ।

(१४) प्राण ही हंस है और वह हृदयके मानस सरोवरमें क्रीडा करता है । जब वह चला जाता है तब कुछ भी ज्ञान नहीं होता ।

(१५) शरीरके बाह्य भागोंमें, मस्तिष्कमें तथा हृदयमें भिन्न रूपसे प्राण रहता है । वह स्थूल शक्तिसे स्थूल शरीरका धारण करता है और सूक्ष्म शक्तिसे आत्माके साथ गुप्त संबंध रखता है ।

(१६) प्राणमें आलस्य और थकावट नहीं होती है। और संकोच नहीं होता । क्योंकि इसका सदा अपना आत्माके साथ संबंध है ।

(१७) यह शरीरमें रहता हुआ सदा पहरा रखता है। अन्य इंद्रिय थकते और सोते हैं; परंतु यह कभी थकता नहीं और कभी विश्राम नहीं लेता । इसका विश्राम होनेसे मृत्यु ही होता है ।

(१८) इसलिये सबको प्राणकी स्वाधीनता प्राप्त करनी चाहिये । और उसकी शक्तिसे बलवान होना चाहिये ।

इस प्रकार इस सूक्तका भाव देखनेके पश्चात् वेदोंमें अन्य प्राण विषयक जो जो उपदेश है उसका विचार करते हैं ।

ऋग्वेदमें प्राणविषयक उपदेश

ऋग्वेदमें प्राणविषयक भिन्न मंत्र हैं उनको देखनेसे ऋग्वेदका इस विषयमें उपदेश ज्ञात हो सकता है ।—

प्राणाद्वायुरजायत ॥ ऋ. १०।९०।१३; अथ. १९।६।७

परमेश्वरीय प्राण शक्तिसे इस वायुकी उत्पत्ति हुई है । " यह वायु हमारा पृथ्वीस्थानीय प्राण है । वायुके बिना क्षण-मात्र भी जीवित रहना कठिन है । सभी प्राणी इस वायुसे जानते हैं । परंतु कोई यह न समझे कि यह वायु ही वास्तविक प्राण है, क्योंकि परमेश्वरकी प्राणशक्तिसे इसकी उत्पत्ति है ।

यह वायु हमारे फेफडोंके अंदर चला जाता है तब उसके साथ परमेश्वरकी प्राणशक्ति हमारे अंदर जाती है और उससे हमारा जीवन होता है। यह भाव प्राणायामके समय मनमें धारण करना चाहिये। प्राण ही आयु है, इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये-

आयुर्वै प्राणः ॥ श. १।६।१

" प्राण ही आयु है।" जबतक प्राण रहता है तब तक ही जीवन रहता है। इसलिये जो दीर्घ आयु चाहते हैं उनको उचित है कि वे अपने प्राणको तथा प्राणके स्थानको बलवान् बनावें। प्राणका स्थान फेफडोंमें होता है। फेफडे बलवान् करनेसे प्राणमें बल आजाता है और उसके द्वारा दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है।

असु—नीति

राजनीति, समाजनीति, गृहनीति इन शब्दोंके समान ' असु नीति ' शब्द है। राज्य चलानेका प्रकार राजनीतिसे ज्ञात होता है, इसी प्रकार ' असु ' अर्थात् प्राण का व्यवहार करने की रीति " असुनीति " शब्दसे ज्ञात होती है Guide to life way to life अर्थात् " जीवनका मार्ग " इस भावको असु—नीति शब्द व्यक्त कर रहा है यह भी भावपूर्ण भी रीति का एक वचन स्मरणीय है। देखिये-

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक्पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति ॥
ऋ. १०।५९।६

हे असुनीते ! यहां हमारे अंदर पुनः चक्षु प्राण और भोग धारण करो। सूर्यका उदय हम बहुत देरतक देखें। हे अनुमते ! हम सबको सुखी करो और हमको स्वास्थ्यसे युक्त रखो।"

असुनीति ' अर्थात् प्राण धारण करनेकी रीति " जब ज्ञात होती है, तब चक्षुकी शक्ति क्षीण होनेपर भी पुनः नयन शक्ति प्राप्त की जा सकती है प्राण जानेकी संभावना होनेपर भी पुनः प्राणको स्थिरता की जा सकती है भोग भोगनेकी असमर्थता होनेपर भी भोग भोगनेकी समर्थता हो सकती है। मृत्यु पास आनेके कारण सूर्य-दर्शन असंभव होनेपर भी दीर्घ आयुष्यकी प्राप्ति होनेके पश्चात् पुनः सूर्यको देखना हो सकती है। प्राण-नीतिके अनुकूल नति रखनेसे यह सब कुछ हो सकता है, इसमें कोई संदेह ही नहीं। तथा—

असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्रतिरा न आयुः।
रारन्धि नः सूर्यस्य संदृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व ॥
ऋ. १०।५९।५

' हे असुनीते ! हमारे अंदर मनकी धारणा करा और हमारी आयु बडी दीर्घ करा। सूर्यका दर्शन हम करें। घृतसे शरीर बढा।'

आयुष्य बढानेकी रीति इस मंत्रमें वर्णन की है। पहली बात मनकी धारणा की है। मनकी धारणा ऐसी दृढ और पक्की करनी चाहिये कि मैं प्राणायामके द्वारा अवश्य ही दीर्घ आयु प्राप्त करूंगा तथा किसी कारण भी मेरी आयु क्षीण नहीं होगी इसप्रकार मनकी पक्की धारणा करनी चाहिये। मनकी दृढ धारणा ही और मनके दृढ विश्वासपर ही सिद्धि अवलंबित होती है। सूर्य प्रकाशका दीर्घ आयुके साथ संबंध वेदमें सुप्रसिद्ध ही है। प्राणायाम आदि द्वारा जो मनुष्य प्राणका बल बढाना चाहते हैं उनको घी बहुत खाकर अपना शरीर पुष्ट रखना चाहिये। प्राणायाम बहुत कर पर घी न खानेसे शरीर कृश होता है। इसलिये प्राणायाम करनेवालोंको उचित है कि वे अपने भोजनमें घी का अधिक सेवन करें।

इस प्रकार यह प्राणका नीति शास्त्र है। पाठक इन मंत्रोंका विचार करके दीर्घ आयु प्राप्त करनेके उपायोंका साधन प्राणायामादि द्वारा करें।

यजुर्वेदमें प्राणविषयक उपदेश।

प्राणकी शक्ति

प्राणका संवर्धन करनेके विषयमें वेदका उपदेश निम्न मंत्रमें आता है-

प्राणस्य आप्यायताम् ॥ यजु. ६।१५

तेरा प्राण बढता रहे। " प्राणकी शक्ति बढानेकी बडी ही आवश्यकता है क्योंकि प्राणकी शक्तिके साथ ही सब अन्य और शक्ति संबंध रखती है इसकी सूचना निम्न मंत्र दे रहा है-

देवाः प्राणो भवन्ति निरिन्द्रियं ...... भवेति निर्वीर्याः ॥ यजु. ६।१६

(ऐत० ब्रा०) आत्माकी शक्तिसे प्रेरित प्राण प्रत्येक अंगमें पहुंचा है आत्माकी शक्तिसे प्रेरित होकर प्रत्येक अंगमें रहा है। " इस प्रकार आंतरिक शक्तिका वर्णन वेदने किया है।

प्रत्येक अंगमें प्राण रहता है और वहां आत्माकी प्रेरणासे कार्य करता है। इस मंत्रके उपदेशसे यह सूचना मिलती है कि जिस जिस अवयव अथवा इंद्रियमें प्राणकी शक्ति न्यून होगी, वहां आत्माकी प्रबल इच्छाशक्ति द्वारा प्राणकी शक्ति बढाई जा सकती है। यही पूर्व सूचित " आत्मनिष्ठ—विद्या " है। अपने जिस अंगमें प्राणकी न्यूनता है उसको जानना और वहां अपनी आत्मिक इच्छा शक्तिद्वारा प्राणको पहुंचाना चाहिये यही अपना आरोग्य बढानेका उपाय है। वेदमें जो " आत्मनिष्ठ विद्या " है वह यही है। प्राणका रक्षण करनेके विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखिये—

प्राणं मे अपानपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि ॥

य० १।८; १०

" मेरे प्राण अपान व्यानका संरक्षण करो। इनका संरक्षण करनेसे ही ये प्राण सब शरीरका संरक्षण कर सकते हैं। तथा—

प्राणं मे तर्पयाति व य० ६।१०

प्राणं मे वर्धय ॥ य० ६।१२

" प्राणकी पवित्रता करता हूं। प्राणकी तृप्ति करो। तृप्ति और पवित्रतासे ही प्राणका संरक्षण होता है। अतृप्त इंद्रिय होनेसे मनुष्य भोगोंकी ओर जाता है और पतित होता है। इस प्रकार भोगोंमें फंसे हुए मनुष्य अपनी प्राणकी शक्ति व्यर्थ खो बैठते हैं। इसलिये प्राणका संवर्धन करनेवाले मनुष्योंको उचित है कि वे अपना जीवन पवित्रतासे और निःस्पृहतासे व्यतीत करें। अपवित्रता और अतृप्तता ये दो दोष प्राणकी शक्ति घटानेवाले हैं शक्ति घटानेवाला कोई कार्य नहीं करना चाहिये क्योंकि—

प्राणं च वीर्यं चाभि। य० २१।०६

कायमें प्राणशक्ति और वीर्य बढाओ।" प्राणशक्ति वीर्यशक्तिके साथ संबंध रखती है और जब यह प्राणशक्ति बढ जाती है तब वीर्य भी बढता है और स्थिर होता है। वीर्य और प्राण ये दोनों शक्तियां साथ साथ रहती हैं। शरीरमें वीर्य रहनेसे प्राण रहता है और प्राणके साथ वीर्य भी रहता है। इस दृष्टिसे आपसमें रहनेवाली ये शक्तियां हैं। जो मनुष्य ब्रह्मचर्यकी रक्षा करके ऊर्ध्वरेता बनते हैं, उनका प्राण भी बलवान हो जाता है और उनको अनायास ही प्राणकी सिद्धि होती है। तथा जो प्रारंभसे ब्रह्मचर्यका पालन नियम पूर्वक करते हैं उनका वीर्य स्थिर हो जाता है। यदि किसी का किसी कारणसे प्रथम आयुमें ब्रह्मचर्य न रहा हो तो भी वह नियम पूर्वक अनुष्ठानसे उत्तर आयुमें प्राणायामसे अपने शरीरमें प्राणशक्तिका संवर्धन और वीर्यरक्षण कर सकता है। जिनका ब्रह्मचर्य आदि प्रारंभसे ही सिद्ध होता है उनको शीघ्र और सहजसिद्धि होती है। परंतु जिनको प्रारंभसे सिद्ध नहीं होता उनको यह बात प्रयत्नसे सिद्ध होती है। प्राणके संवर्धनके उपायोंमें गायन भी एक उपाय है।

गायन और प्राणशक्ति।

साम प्राणं प्रपद्ये। १९।९

' प्राणको लेकर सामको शरण लेता हूं। ' सामवेद गान और उपासनाका वेद है। ईश उपासना और ईशगुणोंके गायनसे प्राणका बल बढता है। केवल गायनसे भी अपूर्व एकाग्रता और शांति प्राप्त होती है। इसलिये गायनसे दीर्घ आयु और आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं। गायक लोग यदि दुर्व्यसनोंमें न फंसे तो वे अन्योंकी अपेक्षा अधिक दीर्घ आयु और आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं गायनका आरोग्यके साथ अत्यंत संबंध है। उपासनाके साथ भी गायनका अत्यंत संबंध है। मन गायनके उपासनामें अत्यंत तल्लीन होता है और यही तल्लीनता प्राणशक्तिको प्रबल करनेवाली है। यह बात और है कि गायनका धंदा करनेवाले व्यसनोंके दोषोंसे अपने आपको बहुत ही गिरा देते हैं। परंतु यह दोष गायनका नहीं है यह उन मनुष्योंका दोष है। तात्पर्य यह है कि जो अपने प्राणकी बलवान करना चाहते हैं वे अवश्य अपना कोई अथवा साधारण गायन ईश्वरके गुणगानमें उपयोग करके मनकी तल्लीनता प्राप्त करें।

अपि प्राणापानौ। य० १९।१

मेरे अंदर प्राण और अपान बलवान रहें। यह इच्छा हर एक मनुष्य स्वभावतः धारण करता ही है। परंतु कभी कभी व्यवहार उस इच्छाके विरुद्ध जाता है। जब इच्छाके अनुसार व्यवहार हो जायगा तब सिद्धिमें किसी प्रकारका विघ्न हो नहीं सकता। प्रस्तुत मंत्रमें प्रथम है इसका संबंध वाणीसे और आयुके साथ है, और अंदरका संबंध शक्ति आदि

प्राणके वश है इसीलिये कहा है-

सर्वं प्राणेन जयतीव नाशिते। अ० १५।१

"प्राणसे वायु ने प्रसन्नता और बलवानसे वातिकादी पूर्णता करनी का दिया" अर्थात् शुद्ध और प्रसन्न वायु के साथ प्राण हमारे शरीरोंमें जाता है और नासिका ही उसका प्रवेश द्वार है। अतः वायुकी प्रसन्नता और नासिकाकी शुद्धि अवश्य करनी चाहिए। वायुकी मलिनता और नासिकताके कारण प्राणकी शक्तिमें न्यूनता होती है। प्राणकी प्रतिष्ठाके लिये ही हमारे सब प्रयत्न होने चाहिए, इसकी सूचना निम्न मंत्रोंसे मिलती है-

प्राणकी प्रतिष्ठा।

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय ॥ अ० ११।१९। १०।१२, १५।१४

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय ॥ इत्यादि ज्योतिषे च ॥ अ० ११।१४। १४।१४। १५।१८

प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा ॥ अ० १९।२१। २२।१४

'प्राण, अपान, व्यान, उदान आदि सब प्राणोंकी प्रतिष्ठा और उनका व्यवहार उत्तम रीतिसे होना चाहिए। सब प्राणों-की सेवकी करो। सब प्राणोंके लिये स्वाहा करो।

प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह देखे कि अपने भीतर कैसे अपने प्राणोंका वश हो रहा है या घट रहा है, अपने प्राणकी प्रतिष्ठा बढ़ रही है या घट रही है, अपने प्राणोंके सब ही व्यवहार उत्तम चल रहे हैं अथवा किसीमें कोई त्रुटि है; अपने प्राणोंका सेवन बढ़ रहा है या घट रहा है। इसका विचार करना हरएकका कर्तव्य है। क्योंकि इसका विचार करनेसे ही हरएक जान सकता है कि मैं प्राणविषयक अपना कर्तव्य ठीक प्रकार कर रहा हूं या नहीं। प्राणविषयक कर्तव्य करना " जाना " सबके द्वारा प्रकट हो रहा है। सब अन्य इंद्रिय गौण हैं और प्राण मुख्य है इस लिये अन्य इंद्रियोंके भोगोंका व्यवहार प्राणके संरक्षणके लिये होना चाहिये। अर्थात् इंद्रियोंके भोग भोगनेके लिये जो शक्ति खर्च हो रही है उसका बहुतसा हिस्सा प्राणकी शक्तिके बढ़ानेके लिये खर्च होना चाहिए। मनुष्योंके सामान्य व्यवहारोंमें देखा जाता ही प्रतीत होता है कि इंद्रियभोग भोगनेमें यदि सौमेंसे ९९ भागका खर्च हो रहा है, तो प्राणसंवर्धनमें एक भाग भी खर्च नहीं होता है। मुख्य प्राणके लिये कुछ शक्ति नहीं खर्च होती परंतु भोग इंद्रियगणके लिये ही सब शक्तिका व्यय हो रहा है!! क्या यह आश्चर्य नहीं है? वास्तवमें मुख्य के लिये अधिक और गौणके लिये कम व्यय होना चाहिए। यही वेदने कहा है कि प्राणसंवर्धनके लिये अपनी शक्तिका व्यय करो। अपना समय अपना प्रयत्न अपना बल और अपने अन्य साधन प्राणसंवर्धनके लिये कितने खर्च किये जाते हैं और भोगोंके लिये कितने खर्च किये जाते हैं इसका विचार कीजिए। मनुष्योंका उलटा व्यवहार हो रहा है इसलिये इस विषयमें सावधानता रखनी चाहिए। प्रतिदिन ऐसा विचार करना चाहिए कि जिससे बहुतसा हिस्सा प्राणसंवर्धनके कार्यके लिये समर्पित हो सके। देखिए-

प्राणो ह राजा ॥ अ० ११।४।

'प्राण राजा है' इस बातका विचार कीजिए तो आपको पता लग जायगा कि सबका राजा प्राण ही है। आप समझ लीजिए कि अपना प्राण यह सचमुच राजा है। जब आपके घरमें राजा ही अतिथी आता है उस समय आप राजा-का ही आदरसत्कार करते हैं और उसके नौकरोंकी तरफ ध्यान अवश्य देते हैं परंतु जितना राजाकी ओर ध्यान दिया जाता है उतना अन्योंके विषयमें ध्यान नहीं दिया जाता। यही न्याय यहां है। इस शरीरमें प्राण नामक राजा अतिथी आया है और उसके अनुचर अन्य इंद्रियगण हैं। इसलिये प्राणकी सेवा सबसे अधिक करनी चाहिए क्योंकि यह ठीक रहा तो अन्य अनुचर ठीक रह सकते हैं। परंतु यदि राजा असंतुष्ट होकर चला गया तो उसके अनुचर आपकी सहायता नहीं कर सकेंगे।

आजकल इंद्रियोंके भोग भोगनेमें सब लोग लगे हैं प्राणकी शक्ति बढ़ानेका कोई प्रयत्न नहीं करता। इसलिये प्राण असंतुष्ट होकर शीघ्र ही इस शरीरको त्याग देता है। जब प्राण छोड़ने लगता है तब अन्य इंद्रियशक्तियां भी उसके साथ इस शरीर को त्याग देती हैं। यही अल्पमृत्युका कारण है। परंतु इसका विचार बहुत ही थोड़े लोग प्रारंभसे करते हैं। तात्पर्य इंद्रियभोग भोगनेके लिये शक्ति कम खर्च करनी चाहिए, इतना संयम ही करना चाहिए और जो बल होगा उसको अपने प्राणकी शक्ति बढ़ानेमें पराकाष्ठा करनी चाहिये। अपने प्राणकी बुरे कर्मोंसे रक्षित करनेसे यही ही हानि होती है। कितने दुर्व्यसन और कितने कुकर्म हैं कि जिनसे लोग अपने

प्राण अर्पण करनेके लिये कार्यक्षेत्रमें प्रवृत्त होते हैं॥ वास्तवमें सत्कर्मके साथ ही अपने प्राणोंको जोड़ना चाहिये। इसलिये वेद कहता है-

सत्कर्म और प्राण।

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां ॥

य० ९।२१ १८।२९,२२।३३

प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मे असुश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

य० १८।२

प्राणश्च मे यज्ञेन कल्पताम् ॥

य० १८।२२

"मेरी आयु यज्ञसे बढे, मेरा प्राण यज्ञसे समर्थ हो। मेरा प्राण अपान व्यान और सब प्राण यज्ञद्वारा बलवान बने। मेरा प्राण यज्ञके लिये समर्पित हो।"

यज्ञका अर्थ सत्कर्म है। जिस कर्मके साथ बड़ोंका सत्कार होता है, उसमें विरोध हटकर एकताकी वृद्धि होती है और परस्पर उपकार होता है वह यज्ञ हुआ करता है। यज्ञ अनेक प्रकारके हैं परंतु मुख्यरूपसे सब यज्ञोंका तत्त्व उक्त प्रकारका है। इसलिये यज्ञके साथ प्राणका संबंध आनेसे प्राणमें बल बढ़ने लगता है। स्वार्थ तथा दुराचारके कर्मोंमें लगे रहनेसे प्राणशक्तिका क्षीण होता है और जनताके हितके व्यापक कर्म करनेमें प्रवृत्त होनेसे प्राणकी शक्ति विकसित होती है। आशा है कि पाठक इस प्रकारके शुभ कर्मोंमें अपने आपको समर्पित करके अपने प्राणको विकास करेंगे। वेदमें अग्नि आदि देवताओंका जहां वर्णन आता है वहां उनका प्राणदातृत्व गुण भी वर्णन किया है। क्योंकि ये देवता प्राणरक्षक होनेसे उनकी ही उपासना करनी चाहिये। देखिये-

प्राणदाता अग्नि।

प्राणदा अपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदाः ॥

य० १७।१५

प्राणपा मे अपानपाश्चक्षुष्पाः श्रोत्रपाश्च मे ॥ वाचो मे विश्वभेषजो मनसोऽसि विलायकः ॥

अ० १९।१४ [illegible]

"हे अग्ने! तू प्राण अपान व्यान तेज और [illegible] देनेवाला है। तू मेरे प्राण अपान चक्षु श्रोत्र और वाणीका रक्षक है। [illegible] तू वाणीके दोष दूर करनेवाला तथा मनको शुद्ध और पवित्र करनेवाला है।"

प्राणका सत्कर्ममें प्रयोग करना, प्राणका संरक्षण करना, इंद्रियोंका संयम करना, वाणीके दोष दूर करने और मनकी पवित्रता करना यह कार्य मुख्यरूपसे इस मंत्रमें कहा है। इसका करनेसे ही मनुष्यका बेड़ा पार हो सकता है। मन और वाणीकी शुद्धता न होनेसे जगत्‌में जितने अनर्थ हो रहे हैं उनकी गिनती नहीं हो सकती। मन वाणी इंद्रियां और प्राण इनकी स्वाधीनता प्राप्त करनेके लिये ही सब धर्म और कर्म होते हैं। इसलिये अपनी उन्नति चाहनेवालोंको इस बातको और अपना ध्यान धरा रखना चाहिये। अब प्राणकी स्थिति बतानेवाला अगला मंत्र है देखिये-

नव पुरो भुवः स्व प्राणो नौसा[illegible]।

प्राणपाः ॥ अ० ११।५४

"यह भावे भूर्लोक है उसमें रहता है इसलिये प्राणको [illegible] कहते हैं। [illegible] प्राणावस्था है।"

भूर्लोक पृथ्वी है और अंतरिक्ष लोक भुवर्लोक है। यह प्राणका स्थान है इस अवस्थामें प्राण व्यापक है वायु और प्राणका एक ही स्थान है। अन्तरिक्षमें ही दोनों रहते हैं। अर्थात् प्राणका वायु है। क्योंकि इस वायुके सब जगहमें प्राणशक्तिका संचार होकर सब सृष्टिमें सजीवता होता है। यह प्राणका व्यापार इस दृष्टिसे देखना चाहिये। प्राणके संचारसे जगत्‌में कितना परिवर्तन होता है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव वायु दिखाई देता है। इस वायुमें सब पुष्प आदि सुगंध पदार्थोंसे सुवासित होते हैं क्योंकि सुगंध होनेके कारण पूर्णतासे प्राप्त होते हैं। सब फूल और फल ही इस सृष्टिके सर्वोत्तम पदार्थ रहते हैं। इसी प्रकार जिसकी प्राण प्रबल होता है उसको भी य—श—बा—मान होती है। जिसप्रकार सब सृष्टि प्राणकी प्रबलतासे पुष्पवती और फलवती होती है उसी प्रकार मनुष्य भी प्राणकी वश करनेसे अपने जीवनमें सफलता प्राप्त कर सकता है।

प्राणके साथ इंद्रियोंका विकास।

सोनेके समय अपने इंद्रिय देव लीन होते हैं। वो फिर जागनेके समय कैसे व्यक्त होते हैं, इसका विचार प्रत्येकको करना चाहिए। इसके आगे

आत्मा और प्राणशक्तिके महत्त्वका पता लगता है। इसका प्रकार देखिए—

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन्॥ पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन् वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्॥

य० ४।१५

"मेरा मन आयुष्य, प्राण आत्मा चक्षु कान आदि पुनः मुझे प्राप्त हुए हैं। शरीरका रक्षक, सब लोगोंका हितकारी आत्मा पापोंसे हम सबको बचावे।"

सोनेके समय मन आदि सब इंद्रियां लीन हो गईं थीं केवल प्राण जागता था तथापि उसके कार्यका भी पता हमको नहीं था। यह सब मरनेके समान था पुनः प्राप्त हुआ है। यह आत्माकी शक्तिका कितना आश्चर्यकारक प्रभाव है! यह आत्मशक्ति हमको पापोंसे बचावे। प्रलयके साथ इन शक्तियोंका लीन होना और पुनः प्राप्त होना प्रतिदिन हो रहा है। इसका विचार करनेसे पुनर्जन्मका ज्ञान होता है। क्योंकि जो बात निद्राके समय होती है वह ही वैसी ही मृत्युके समय होती है। और उसी प्रकार महाप्रलयके समयमें भी होती है। नियम सबका एक ही है। प्राणके साथ अन्य इंद्रियां कैसी रहती हैं, प्राण कैसे जागता है और अन्य इंद्रियां कैसी लय होकर लीन होती हैं, इसका विचार करनेसे अपनी जन्मपरंपराका ज्ञान हुआ है और यह ज्ञान अपनी शक्तिका विकास करनेके लिये सहायक होता है। अपने प्राणका विश्वव्यापक प्राणके साथ संबंध देखना चाहिये इसकी सूचना निम्न मंत्र देते हैं—

विश्वव्यापक प्राण।

सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्॥ य० ६।१८

सं ते प्राणो वातेन गच्छताम्॥ य० ६।१०

"अपना प्राण विश्वव्यापक प्राणके साथ संगत हो। मेरा प्राण वायुके साथ संगत हो।" तात्पर्य अपना प्राण अलग नहीं है वह सार्वभौमिक प्राणका एक हिस्सा है। इस दृष्टिसे अपने प्राणको समझना चाहिये। सब अंतरिक्षमें प्राणका समुद्र भरा है उसमेंसे थोड़ासा प्राण मेरे अंदर आकर मेरे शरीरका जीवन दे रहा है। श्वास प्रश्वास द्वारा वह ही सार्वभौमिक प्राण अंदर आ रहा है इसलिये अपना मनमें धारण करना चाहिये। उसमें यह सार्वभौमिक दृष्टि सदा धारण करनी चाहिए। व्यष्टिमें एकही समष्टि है समष्टिकी व्यष्टिमें व्यक्तिकी भलाई है यह वैदिक सिद्धांत है। इसलिये समष्टिकी व्यापक दृष्टि प्रत्येक उपासकके अंदर उत्पन्न होनी चाहिये। यह उपाय प्रकारसे ही सकती है। इस प्राणकी और बातें निम्न मंत्रमें देखिये—

लड़नेवाला प्राण।

अविर्न मेषो नसि वीर्याय प्राणस्य पन्था अमृतो ग्रहाभ्याम्। सरस्वत्युपवाकैर्व्यानं नस्यानि बर्हिर्बदरैर्जजान॥

य० १९।९०

"(मेषः न) मेंढेके समान लड़नेवाला (अविः) रक्षक प्राणवायु वीर्यके लिये (नसि) नाकमें रखा है। (ग्रहाभ्यां) श्वास उच्छ्वास रूप दोनों प्राणोंसे प्राणका अमृतमय मार्ग बना है। (बदरैः उपवाकैः) स्थिर स्तोत्रोंके द्वारा (सरस्वती) सुपठन वाणी (व्यानं) सर्व शरीर व्यापक व्यान प्राणको तथा (नस्यानि) नासिका के साथ संबंध रखनेवाले अन्य प्राणोंको (बर्हिः जजान) प्रकट करती है।"

स्पर्धा करनेवाला शत्रुके साथ युद्ध करके उसका पराजय करनेवाला मेंढा होता है। यही प्राणका कार्य अपने शरीरमें है। सब व्याधियों और शरीरके सब शत्रुओंके साथ लड़कर यह सदा आरोग्य नित्य स्थिर रखनेका बड़ा कार्य करनेवाला महावीर अपने शरीरमें मुख्य प्राण ही है। यह मेंढेके समान लड़ता है। इसका नाम 'अविः' है क्योंकि यह अवन अर्थात् सब शरीरका संरक्षण करता है। अवनके अन्य अर्थ भी यहां देखने योग्य हैं—रक्षण गति कांति प्रीति, तृप्ति ज्ञान प्रवेश श्रवण स्वामित्व प्रार्थना कर्म इच्छा तेज प्राप्ति आलिंगन हिंसा, दान, भाग और वृद्धि इतने अव् धातुके अर्थ हैं। ये सब अर्थ प्राणवाचक "अवि" शब्दमें हैं। प्राणके कार्य इन शब्दोंसे व्यक्त होते हैं। पाठक इन अर्थोंका विचार करके अपने प्राणके धर्म और कर्म जाननेका यत्न करें।

इसके कार्य करनेवाला संरक्षक प्राण हमारी नासिकामें रहता है। नासिका स्थानीय एक ही प्राण हमारे शरीरमें सब कार्य करता है। यही इसका महत्त्व है। यह प्राणका मार्ग "अमृत" मय है। अर्थात् इस मार्गमें मरण नहीं है। इस मार्गका रक्षण करनेवाले दो ग्रह हैं। 'श्वास और उच्छ्वास"

ये भी यह इस मार्गका संरक्षण कर रहे हैं। इनको स्वाधीन रखनेवाले, इनका धारण करनेवाले यह होते हैं। प्राण और उपप्राणोंसे इस शरीरका उत्तम धारण हो रहा है इसलिये ये ग्रह हैं। इन दो ग्रहोंके कारण प्राणका मार्ग मरण रहित हुआ है। जबतक प्राण और उपप्राण चलते हैं तबतक मरण होता ही नहीं इसलिये प्राणि ग्रहणके आश्रय तक [illegible] "अमृत" ही रहता है। परन्तु जब ये दो ग्रह दूर हो जाते हैं तब मरण आता है।

"इडा पिंगला और सुषुम्ना" ये तीन नाडियां शरीरमें हैं। इन्हींको क्रमसे "गंगा यमुना और सरस्वती" कहा जाता है। अर्थात् सरस्वती सुषुम्ना है। इसमें ज्ञानकी प्रेरक शक्ति है। स्थिर चित्तसे जो उपासना करते हैं अर्थात् इस विज्ञान-से जो परमात्मभक्ति करते हैं उनके अंदर सुषुम्नाद्वारा यह प्राण विशेष प्रभाव बढाता है। तात्पर्य उपासनाका काम ही प्राणका बल बढाता है। व्यान प्राण वह है कि जो शरीरमें व्यापक है और अन्य उप अर्थात् नाडियोंके साथ सर्वत्र रहनेवाले प्राण हैं। इन सब प्राणोंकी प्रेरणा करना सुषुम्ना करती है। परमेश्वर भक्तिका बल इस सुषुम्नामें बढता है और इसके द्वारा प्राणोंका सामर्थ्य भी बढता रहता है।

सरस्वतीमें प्राण

इस मन्त्रमें प्राणापान शक्तिकी महत्त्वकी शुभ बातें अनेक शब्दोंद्वारा लिखी हैं इसलिये पाठकोंको इस मन्त्रका विशेष विचार करना चाहिए। इस मंत्रमें जिस सरस्वतीका वर्णन आया है उसीका वर्णन निम्न मंत्रमें देखिए-

अश्विना तेजसा चक्षुः प्राणेन सरस्वती वीर्यम्।
वाचेन्द्रो बलेनेन्द्राय दधुरिन्द्रियम्॥ य० २। १८

"अश्विनौ तेजके साथ चक्षु देते हैं सरस्वती प्राण शक्ति-के साथ वीर्य देती है इंद्र (देव) जीवात्माके लिये वाणी और बलके साथ इंद्रियशक्ति अर्पण करता है।"

इसमें सरस्वती जीवनके बलके साथ वीर्य देती है ऐसा कहा है। यह सरस्वती शब्द भी पूर्वोक्त सुषुम्ना नाडीका वाचक है। अश्विनी शब्द चन्द्र और सूर्य नाडियोंका वाचक है। इस मंत्रमें दो इंद्र शब्द हैं। पहिला परमात्माका वाचक और दूसरा जीवात्माका वाचक है। इंद्रिय शब्द आत्माकी शक्तिका वाचक है। यहां केवल सरस्वती शब्दका नदी आदि अर्थ लेकर विचार अर्थ करते हैं उनके यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि वैदिक आध्यात्मिक शक्तियोंके वैदिक मुख्य नाम हैं, अर्थात् अन्य पदार्थोंके वाचक हैं। अस्तु अब प्राणविषयमें और दो मंत्र देखिए-

भोजन और प्राण।

प्राणमसि विमृद्ध देवम् प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा। दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धाम्॥ य० १।२०

प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व व्यानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वोदानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व॥ य० ७।२७

"तू अन्न है। देवोंको अन्न करो। प्राण उदान और व्यानके लिये तेरा स्वीकार करता हूं। आयुष्यके लिये तुझे मर्यादा धारण करता हूं॥ मेरे प्राण व्यान और उदानको तेजकी वृद्धिके लिये शुद्ध करो।"

सात्त्विक अन्नका आहार इंद्रियादिक देवोंको शुद्ध, पवित्र और प्रबल करता है। सात्त्विक भोजनसे प्राणका बल बढता है और आयुष्य बढता है। शुद्धतासे प्राणकी शक्ति विकसित होती है। इत्यादि बहुत उत्तम भाव उक्त मंत्रोंमें पाठक देख सकते हैं। अब और एक मंत्र देखिए-

सहस्राक्ष अग्नि

अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्धन् शतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः।
त्वं साहस्रस्य राय ईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा॥ य० १७।७१

"हे सहस्रनेत्रवाले अग्ने! तेरे सैकडों प्राण तथा सहस्र व्यान हैं। सहस्रों धनोंका तू स्वामी है। इसलिये शक्तिके लिये हम तेरी प्रशंसा करते हैं।"

इस मंत्रमें "सहस्राक्ष अग्नि" आत्मा ही है। सहस्राक्ष आदि शब्द आत्मावाचक ही हैं। सहस्र नेत्रोंवाला परमेश्वररूप आत्मा ही सहस्राक्ष अग्नि है। प्राण, उदान, व्यान आदि सब प्राण देवको प्रभावित करते हैं। प्राणका स्थान शरीरमें नियत है। इसमें प्राण है गुदामें अपान है। नाभिस्थानमें समान है कंठमें उदान है और सब शरीरमें व्यान है प्रत्येक स्थानमें होनेसे ये अनेक अवयव हैं और प्रत्येक अवयवके सूक्ष्म भेद बनते हैं। प्रत्येक स्थानमें और इसके सूक्ष्म भेदसे ये सब असंख्य हैं, इसलिये प्रत्येकके प्राणके सैकडों और सहस्रों भेद हो सकते हैं। इस

प्रकार यह प्राणशक्तिका विस्तार हमारे सब शरीर भर सूक्ष्मसे सूक्ष्म भागमें हुआ है। यही कारण है कि प्राणशक्ति कम होनेके कारण सब अंग प्रत्यंग अपने कार्यमें शिथिल हो जाते हैं और प्राणका बल बढनेसे सब शरीरकी नीरोगता भी सिद्ध हो सकती है।

इस प्रकार यजुर्वेदका प्राणविषयक उपदेश है। यजुर्वेदका उपदेश कर्म-प्रधान रहता है। इसलिये पाठक इस उपदेशकी ओर अनुष्ठानकी दृष्टिसे देखें और इस उपदेशको अपने आचरणमें ढालनेका यत्न करें।

अथर्ववेद उपासना प्रधान होनेसे प्राणके साथ उसका घनिष्ठ संबंध है। कई उसको 'ब्रह्म वेद' भी कहते हैं। उपासना द्वारा जो प्राणका बल बढता है उतनाही सहायता योगमार्गसे इस विषयमें होती है। इन बातोंका उपदेश करना अथर्ववेदका ही कार्य है। इसलिये यहां इतनाही लिखते हैं कि जो परमात्मोपासनाका विषय है उसको प्राणशक्तिका विकास करनेके लिये पाठक अवश्य आवश्यक समझें और अनुष्ठान करनेके समय उसको किया करें। अब अथर्ववेदका प्राणविषयक उपदेश देखते हैं।

अथर्ववेदका प्राणविषयक उपदेश।

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ (अ २।१६।१)
मर्मं मा प्राणो हासीन्मो अपानः ॥ (अ २।२८।३)

"प्राण अपान मुझे मृत्युसे बचावें। प्राण अपान इसको न छोडें।" इन मंत्रोंमें प्राणकी शक्तिका स्वरूप बताया है। प्राणकी प्रबलतासे मृत्युसे बचाव होता है। प्राण बलमें आ जाता तो मृत्युका भय नहीं रहता। मृत्युका भय हटानेके लिये प्राणकी प्रबलता करनी चाहिये। देखिये-

प्राण प्राणं त्रायस्वासो असवे मृड ॥
निर्ऋते निर्ऋत्या नः पाशेभ्यो मुञ्च ॥ १ ॥
[illegible] ॥ ५ ॥ (अ १९।४४)

"हे प्राण! हमारे प्राणका रक्षण कर। हे जीवन! हमारे जीवनको सुखमय कर। हे अविनाश! अविनाशके पाशोंसे हमें बचा।"

अपनी प्राणशक्तिका संरक्षण करना चाहिये अपने जीवनको सुखमय बनाना चाहिये। निर्ऋतिके पाशोंसे बचाना चाहिये। "निर्ऋति" का अर्थ— 'अवनति' अवगति, अपमार्ग, दुर्गति, अनुद्धार नीचेका यश नीचा मार्ग, दौर्जन्य अशिष्टता *

* (अ. सु. भा. कां ११)

होता है। अर्थात् निर्ऋतिका अर्थ अवनति, कुमार्ग, अपकर्ष अधोगति इति अनुक्रमसे देहीका पतनपातकी रीति, अवनति भला नहीं होता है। निर्ऋतिके साथ अवनतिका निर्देश आयोजनसे चला आता है। इसलिये इस वेदमंत्रके प्रथमार्धसे बचनेकी सूचना उक्त मंत्रमें दी है। हरएक मनुष्य जो उन्नति चाहता है सावधान रहता हुआ अपने आपको इस अधोगतिके मार्गसे बचावे। गिरनेके मार्ग प्रारंभमें बडे सुंदर दिखाई देते हैं। परंतु जो इनमें एकवार फंसता है, उसको उठना बडा मुश्किल प्रतीत होता है। सब प्रकारके दुर्व्यसन पाप आलस्य आदि सबही इस निर्ऋतिके पाशके रूप हैं। जो लोग इस मार्गमें फंसते हैं उनको उठना मुश्किल हो जाता है। इसलिये उन्नति चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि वे इस बुरे रास्तेसे अपने आपको बचावें। प्राणायाम करनेवालोंको यह उपदेश अमूल्य है। जीवनके सब नियम इसी उपदेशके अनुसार बने हैं। अपने विषयमें किस प्रकारकी भावना करनी चाहिए इसका उपदेश निम्न मंत्रमें किया है-

मैं विजयी हूं।

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्। अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं निदधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय ॥ (अ ५।९।७)

"सूर्य मेरा नेत्र है वायु मेरा प्राण है अन्तरिक्षरूप तत्त्व मेरा आत्मा है पृथिवी मेरा स्थूल शरीर है। इस प्रकारका मैं अपराजित हूं। मैं अपने आपको द्यु और पृथिवी लोकके अंतर्गत जो कुछ है उन सबके संरक्षणके लिये अर्पण करता हूं।"

आत्मशक्तिका विकास करनेके लिये समष्टिकी भलाईके लिये अपने आपको समर्पित करना चाहिए। और अपनी आंतरिक शक्तिके साथ बाह्य देवताओंका संबंध देखना चाहिए। इतना ही नहीं प्रत्युत बाह्य देवताओंके अंश अपने शरीरमें रहे हैं, और उन देवताओंके सूक्ष्म अंशोंका बना हुआ मैं एक छोटासा पुतला हूं, ऐसी भावना धारण करके अपने आपको देवताओंका प्रतिरूप तथा अपने शरीरको देवताओंका पवित्र मंदिर समझना चाहिए। योगसाधनमें यही भावना मुख्य है। अपने आपको निर्बल और हीनदीन समझना नहीं चाहिए, परंतु (अहं अस्तृतो अस्मि) (I am invincible) मैं अपराजित हूं, मैं शक्तिशाली हूं इस प्रकारकी भावना धारण करनी चाहिए।

देखिये वेदमें कैसा उपदेश है और आजकलके लोग क्या समझ रहे हैं। जैसे जिसके विचार होंगे वैसीही उसकी अवस्था बनेगी। इसलिये अपने विषयमें कदापि तुच्छ बुद्धि धारण करना उचित नहीं है। प्राणायाम करनेवाले सज्जनको तो अत्यंत आवश्यक है कि अपने शरीरको देवताओंका मंदिर, ऋषियोंका आश्रम समझे और अपने आपको उसका अधिष्ठाता तथा परमात्माका सहचारी समझे। जैसी भावना जैसी दृढ होगी वैसाही अनुभव आ सकता है। देखो—

पंचमुखी महादेव।

प्राणापानौ व्यानोदानौ ॥ (अ० ११।८।२६)

प्राण, अपान, व्यान, उदान आदि नाम आये हैं। कू-र्मादिक नाम वेदमें दिखाई नहीं दिये। किसी अन्य स्थानमें होंगे तो पता नहीं। यदि किसी विद्वान्‌को इस विषयमें ज्ञान हो तो उसको प्रकाशित करना चाहिए। पंच प्राणही पंचमुखी रुद्र है यह जिसके नाम हैं वह सब प्राणवाचकही हैं। महादेव, शंभु आदि सब रुद्रके नाम प्राणवाचक हैं। महादेवके पांच मुख जो पुराणोंमें हैं उनका इस प्रकार मूल विचार है। महादेव मृत्युंजय देव है इसका यही निश्चय होता है। शतपथमें एकादश रुद्रोंका वर्णन है।

कतमे रुद्रा इति। दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः ॥ (शत० ब्रा० १४।५)

“कौनसे रुद्र हैं? पुरुषमें दस प्राण हैं और ग्यारहवां आत्मा है। ये रुद्र हैं।” अर्थात् प्राणही रुद्र हैं और इसीलिये भव, शर्व, पशुपति आदि देवताके सब नाम अपने अपने अर्थमें प्राणवाचक एक अर्थ भी व्यक्त करते हैं। पशुपति शब्द इसका उत्तम साक्ष है। पशु शब्दका अर्थ इंद्रिय ऐसा है। इसका अधिपति प्राण है। पशु आदि अनेक प्रकारके वर्णन मिलते हैं। इस रीतिसे वेदमें अनेक स्थानमें प्राणकी उपासना दिखाई देती है। आशा है कि पाठक इस प्रकार वेदका विचार करेंगे। इस विषयमें स्वयं सब सूक्तोंका प्राणवाचक भाव बताना संभव नहीं है इसलिये इस स्थानपर केवल दिग्दर्शनही किया है। प्राण शब्द भी विशेष प्रसंगमें प्राणवाचक है। इस प्रकार अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जातवेदा आदि शब्दोंद्वारा प्राणका वर्णन किया है। इस संबंधमें देखनेसे पता लगता है कि अथर्ववेदके प्रत्येक कांडमें भी प्राणका वर्णन प्रत्यक्ष होता है। मध्यस्थानीय देवताओंमें वायु और इंद्र ये दो देवताएं मुख्य हैं। वायु देवताका प्राणरूपसे सुप्रसिद्ध है। स्थान साम्यसे इंद्रमें भी प्राणरूपत्व आ सकता है। इस दृष्टिसे इंद्र देवताके मंत्रोंसे भी वेदमें प्राणका वर्णन मिल सकता है। इस प्रकार अनेक देवताओं द्वारा वेदमें प्राणविद्याका वर्णन है। किसी स्थानपर अति स्पष्ट है और किसी स्थानपर अस्पष्ट होता है। यह सब प्राणका वर्णन एकत्र करनेसे ग्रंथविस्तार बहुत हो सकता है इसलिये यहां केवल इतनाही लेख किया जाता है कि किन ग्रंथोंमें स्पष्ट रूपसे प्राणका वर्णन आता है। अब प्राणकी एक विशेष व्याख्या है उसका वर्णन किस मंत्रमें है देखिये—

प्राणका मीठा चाबुक।

महत्पयो विश्वरूपमस्याः समुद्रस्य त्वोत रेत आहुः। यत ऐति मधुकशा रराणा तत् प्राणस्तदमृतं निविष्टम् ॥ ३ ॥ मातादित्यानां दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः। हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची महान्भर्गश्चरति मर्त्येषु ॥ ४ ॥ (अथर्व ९।१)

(अस्याः) इस पृथ्वीकी और समुद्रकी बड़ी (रेतः) शक्ति है ऐसा सब कहते हैं। यहांसे चमकता हुआ मीठा-चाबुक चलता है वही प्राण और वही अमृत है। आदित्योंकी माता वसुओंकी दुहिता प्रजाओंका प्राण और अमृतकी नाभि यह मधु-कशा है। यह तेजस्वी तेज उत्पन्न करनेवाली और (मर्त्येषु चरति) मर्त्योंके अंदर संचार करनेवाली है॥

इस मंत्रमें मधु-कशा शब्द है। “मधु” का अर्थ मीठा मधु है। और कशा का अर्थ चाबुक है। चाबुक चलानेसे गति प्राप्त होती है। चाबुक मारनेसे घोडे चलते हैं। इस मंत्रोंमें “मधु-कशा” अर्थात् मीठा-चाबुकका वर्णन है। यह मीठा चाबुक किसी देवके पास है। सब देव प्राणरूपसे नासिका स्थानमें रहते हैं। प्राण अपान रूपसे आत्मानुशासन करते हैं और यदि प्राण स्थान यह अन्य देवोंका प्राणभवन शरीरमें है। इस शरीरमें जो जिन प्राणोंका मीठा-चाबुक काम कर रहा है और शरीरभी चलते हैं इसकारण ये जीती जागती रहते हैं। इस चाबुकका यह स्वरूप देखनेसे वेदके इस अद्वितीय और विलक्षण

अलंकारकी कल्पना पाठकोंके मनमें स्थिर हो सकती है। यह प्राणोंका मीठा चाबुक हम सबको प्रेरणा कर रहा है इसकी प्रेरणाके बिना इस शरीरमें कोई काम होता नहीं है। इतनाही नहीं परंतु सब जगत्में यह 'मीठा—चाबुक' ही सबको गति दे रहा है। सब जगत्में यह प्राणका कार्य देखने योग्य है। मंत्र कहता है कि 'इस मीठे चाबुकमें पूर्णता और अमृतकी सब प्राप्ति रहती है जहांसे यह मधुका चाबुक चलाया जाता है वहीं प्राण और अमृत रहता है।" प्राण और अमृत एकत्र ही रहता है क्योंकि जबतक शरीरमें प्राण रहता है तब तक मरणकी प्राप्ति नहीं होती। और सभी जानते हैं कि प्राणियोंके शरीरोंमें प्राणही सबका प्रेरक है इसलिये उसके चाबुककी कल्पना इस मंत्रमें कही है क्योंकि शरीररूपी रथके पीछे चलानेका कार्य वही चाबुक कर रहा है। इसी मंत्रमें कहा है कि 'यह चाबुक शरीरस्थ चक्षु आदि देवताओंका सहायक है यह प्रजाओंका प्राण ही है अमृतका मध्य वही है। यह प्राण मर्त्योंमें तप और चैतन्य उत्पन्न करता है और सब प्राणियोंके बीचमें यह चलता है।' यह वर्णन उत्तम अलंकारसे युक्त है, परंतु स्पष्ट होनेके कारण हरएक इसका यथेष्ट ज्ञान कर सकता है। तथा—

अपनी स्वतंत्रता और पूर्णता।

नसोः प्राणः॥ (अ. १९।६०)

ओजो बाह्वोः प्राणोऽभिजातो यो अस्माकमस्य वयमायुषो वर्चसः॥५॥ (अ. १९।५८)

अयुतोऽहमयुतो म आत्माऽयुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानो-ऽयुतोऽहं सर्वः॥१॥ (अ. १९।५१)

"मेरे नाकमें प्राण स्थिरतासे रहे॥ मेरा प्राण तेज और प्राण छिन्नभिन्न न होता हुआ मेरे शरीरमें कार्य करे। मेरी आयु और तेज अविच्छिन्न अर्थात् दीर्घ होवे॥ मैं, मेरा आत्मा चक्षु श्रोत्र प्राण अपान व्यान आदि मेरी सब शक्तियां पूर्ण कार्यक्षम और उन्नत होकर मेरे शरीरमें रहें॥"

आयु और प्राण अविच्छिन्न रूपसे अपने शरीरमें रहनेकी प्रबल इच्छा इन मंत्रोंमें है। सब इंद्रियां तथा सब अन्य शक्तियां अविच्छिन्न तथा पूर्ण उन्नत रूपसे अपने शरीरमें प्रकट होनेकी व्यवस्था हरएकको करनी चाहिये। इन मंत्रोंमें कई शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं—

सर्वं अयुतः

अहं सर्वः अयुतः

"मैं संपूर्ण रूपसे स्वतंत्र हूं और किसीकी सहायताकी अपेक्षा न करने योग्य समर्थ किसी कष्टसे पराजित न बनने योग्य हूं।" यह भावना यदि मनमें स्थिर हो जायगी तो मनुष्यकी उन्नति कितनी बढ सकती है इसका विचार पाठक भी कर सकते हैं। मेरी इंद्रियां मेरे प्राण तथा मेरे अन्य अवयव ऐसे दृढ और बलवान होने चाहिये कि मुझे उनके कारण कभी क्लेश न हो सके तथा किसी दूसरी शक्तिकी अपेक्षा न करता हुआ, मैं पूर्ण स्वतंत्रताके साथ आनंदसे अपने महान महान पुरुषार्थ कर सकूं। कोई यह न समझे कि यह केवल कल्पना ही है परंतु मैं कहां कह सकता हूं कि यदि मनुष्य निश्चय करेंगे तो निःसंदेह वे अपने आपको इस प्रकार पूर्ण स्वतंत्र बना सकते हैं और उनकी शक्तियोंका पूर्ण विकास वे अपने अंदर कर सकते हैं। तथा—

प्राणकी मित्रता।

इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन्
पर्यहमायुषा वर्चसा दधातु॥ (अ. १३।१।१७)

"यहां प्राण हमारा मित्र बने। हे परमेष्ठिन्! हमें यह दीर्घ आयु और तेजके साथ प्राप्त हो। प्राणके साथ मित्रता का तात्पर्य इतनाही है कि अपने शरीरमें प्राण स्थिर होकर रहे। कभी अकाल आयुमें प्राण दूर न हो। अपने आयुष्यकी वृद्धि परमेष्ठी परमात्माकी ही सेवा और उपासना करनी चाहिये। परमात्मा सब श्रेष्ठ गुणोंका केंद्र है। इन गुणोंका चिंतन द्वारा सभी श्रेष्ठ सद्गुणोंका ज्ञान होता है और मनुष्य जिसका सदा ध्यान करता है उसके समान बन जाता है। इस नियमके अनुसार परमेष्ठीके गुणोंके चिंतनसे मनुष्य भी श्रेष्ठ बनता है। यह परमेष्ठीका और प्राणकी उपासनाका संबंध है। इस प्रकार जो साधक अपनी प्राणशक्तिको बढाता है उसकी प्राणशक्ति कितनी विस्तृत होती है इसकी कल्पना निम्न मंत्र से हो सकती है। देखिए—

तस्य व्रात्यस्य॥ सप्त प्राणाः सप्तापानाः सप्त व्यानाः॥
योऽस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामायं सो अग्निः॥ योऽस्य
द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासौ स आदित्यः॥ योऽस्य
तृतीयः प्राणोऽभ्यूढो नामासौ स चन्द्रमाः॥ योऽस्य चतुर्थः
प्राणो विभूर्नामायं स पवमानः॥ योऽस्य पञ्चमः प्राणो
योनिर्नाम ता इमा आपः॥ योऽस्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम

त इमे सप्तधा ॥ योऽस्य सप्तमः प्राणोऽपरिमितो नाम ता इमाः प्रजाः ॥ (अ० १५।१५।९)

इस (व्रात्य) संन्यासी मनुष्यके सात प्राण सात अपान सात व्यान हैं। उसके सातों प्राणोंके क्रमशः नाम ऊर्ध्व, प्रौढ, अभ्यूढ, विभु, योनि, प्रिय और अपरिमित हैं। और उनके सात स्वरूप क्रमशः अग्नि, आदित्य, चंद्रमा, पवमान, आप, पशु और प्रजा हैं। इसी प्रकार इसके अपान और व्यानका वर्णन उक्त स्थानमें ही वेदने किया है। वहांही उसको पाठक देखें। विस्तार होनेके भयसे उस सबको यहां नहीं लिया है। मनुष्य अपनी शक्तिको इस प्रकार बढा सकता है। मनुष्य अपने सातों प्राणोंको अपरिमित रूपमें बढा सकता है यदि अपने आपको सब प्रजाजनोंके हितके कार्यमें अर्पण करता है। जो अपने प्राणको ऊर्ध्व अर्थात् उच्च करता है वह अग्निके समान तेजस्वी होता है। इस प्रकार उक्त वचनका भाव समझना चाहिए। तथा—

समयकी अनुकूलता।

काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम्।
कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥ ८ (अ० १९।५३)

“समयकी अनुकूलतासे मन प्राण और नाम रहता है। कालकी अनुकूलतासे सब प्रजाजनोंका आनंद होता है।”

कालका नियम पालन करना चाहिये। पुरुषार्थके साथ कालकी अनुकूलता होनेसे उत्तम फल प्राप्त होता है। कालका तिरस्कार नहीं करना चाहिये। जो अनुकूलता प्राप्त होती है उसका उपयोग अवश्य करना चाहिए। प्राणायामादि साधन करनेवालोंको उचित है कि वह योग्य कालमें नियमपूर्वक अपना अभ्यास किया करें तथा जिस समय जो करना योग्य है उसको अवश्य ही उस समय करना चाहिए। अब प्राणके संरक्षक ऋषियोंका वर्णन निम्नलिखित मंत्रमें देखिये—

प्राणरक्षक ऋषि।

ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥
(अ० ५।३०।१०)

“बोध और प्रतिबोध अर्थात् स्फूर्ति और जागृति ये दो ऋषि हैं। ये रात दिन तेरे प्राणकी रक्षा करते हुए निरंतर जागते रहें।”

प्रत्येक मनुष्यमें ये दो ऋषि हैं। “स्फूर्ति और जागृति” ये इनका अर्थ है। एक सत्कर्मको प्रेरणा करता है और दूसरा सावधान रहनेकी प्रेरणा देता है। उत्साह और सावधानता ये दो सद्गुण जिस मनुष्यमें जितने होंगे उतनी योग्यता उस मनुष्यकी होती है। ये दो ऋषि प्राणके संरक्षणका कार्य करते हैं और यदि ये दिन रात जागते रहेंगे तो मनुष्यकी मृत्यु कभी नहीं हो सकती। जबतक मनुष्यका मन उत्साहसे भरा रहेगा और जबतक सावधानताके साथ वह अपना व्यवहार करेगा, तबतक उसको मरणकी भीति नहीं होगी, यह शाश्वत नियम समझिये।

जो लोग अत्यंत उदासीनताके साथ अपना दैनिक व्यवहार करते हैं तथा जो सदा हीनदीन और दुर्बलताके ही विचार मनमें धारण करते हैं, उनको इस मंत्रका भाव ध्यानमें धरना योग्य है। वेद कहता है कि मनमें उत्साहके विचार धारण करो और प्रतिक्षण सावधान रहो। जो मनुष्य अपने आपको वैदिक धर्मी समझता है उसको उचित है कि वह अपने मनमें वेदके ही अनुकूल भाव धारण करे। वैदिक धर्मी मनुष्यको उचित नहीं कि वह वेदविरुद्ध हीन और दीनताके विचार अपने मनमें धारण करके मृत्युके वशमें होवे। पाठक इसका विशेष ख्याल करें। साथ इस अवतरणसे आयुष्य दीर्घ करनेका उपाय स्पष्ट हो रहा है। ऐसे इस प्रकारके वैदिक सूक्तोंमें दीर्घायुष्यके अनेक उपाय आते हैं। पाठक इन सबको ठीक प्रकार अपने मनमें धारण करें।

दृढताका पन।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्। अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥ ५ ॥ आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते। आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः ॥ ६ ॥ (अ० ७।५३)

‘जिस प्रकार बैल अपने स्थानपर वापस आते हैं उस प्रकार प्राण और अपान अपने स्थानपर आ जावें। वृद्धावस्थाका जो खजाना है वह यहां कम न होता हुआ बढता रहे। मैं तेरा प्राणको प्रेरित करता हूं और रोगादिको दूर फेंकता हूं। यह श्रेष्ठ अग्नि हम सबको सब प्रकारसे दीर्घ आयु देवे।’

जैसे शामके समय बैल अपने स्थानपर आ जाते हैं, उस प्रकारके अनुकूल वेगसे प्राण और अपान अपने अपने स्थानमें रहें। जब प्राण और अपान बलवान बनकर अपना अपना कार्य करेंगे तब मृत्युका भय नहीं हो सकता और मनुष्य दीर्घ आयुष्यका यश प्राप्त कर सकता है। इन मंत्रोंमें आयुष्यकी

ही सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि सब अन्य धर्मोंका उपयोग इसके होने पर ही हो सकता है। उक्त मंत्रमें—

वातिम्ब अवचिता इव वयताम्॥ (अ० ७।५३।५)

ये शब्द मनन करने योग्य हैं। 'इस आयुका क्षय न होता रहे।' अर्थात् इस जन्ममें आयु घटती रहे ये शब्द स्पष्टतासे बता रहे हैं कि आयु नियत नहीं, न्यूनाधिक होनेवाली है। जो मनुष्य अपनी आयु बढ़ाना चाहेगा वह उस प्रकारके प्रयत्नपूर्वक सुनियमोंका पालन करके आयु बढ़ा सकता है। इस प्रकार वेदका उपदेश अत्यंत स्पष्ट है। परन्तु कई वैदिक धर्मी समझते ही हैं कि आयु नियत है और घट बढ़ नहीं सकती। जिन बातोंमें वेदका वचन स्पष्ट है उन बातोंमें अपने मनसे भिन्न विचार वैदिक धर्मियोंका धारण करना उचित नहीं है।

बोध और प्रतिबोध।

पूर्व स्थानमें बोध और प्रतिबोध का वर्णन किया है ऐसा कहा ही है। वही भाव फिरसे प्रकारसे निम्नलिखित मंत्रमें कहा है देखिए—

बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वाऽनवद्राणश्च रक्षताम्। गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम्॥ (अ० ८।१।१३)

"ज्ञान और प्रतिज्ञान तेरा रक्षण करें। स्फूर्ति और जागृति तेरा संरक्षण करें। रक्षक और जागृत तेरा पालन करें।"

इस मंत्रमें आठ गुणोंका वर्णन है। ज्ञान, सावधानता, स्फूर्ति, जागृति, रक्षण और जागरण। ये गुण संरक्षण करनेवाले हैं इनके विरुद्ध गुण घातक हैं। इसलिये अपनी अभिवृद्धिकी इच्छा करनेवालेको उचित है कि वह उक्त गुणोंको बढ़ानेमें करे। इस मंत्रके साथ पूर्व मंत्र जिसमें दो ऋषियोंका वर्णन है तुलना करके देखें। अब निम्नलिखित मंत्र देखिए—

उन्नति ही सरा मार्ग है।

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि॥
(अ० ८।१।६)

"हे मनुष्य! तेरी गति (उत्तम मार्ग) उन्नतिकी ओर ही होनी चाहिये। कभी भी (अधःमार्ग में) अवनतिकी ओर होनी नहीं चाहिये। तेरी दीर्घ आयुष्यके लिये मैं बलका विस्तार करता हूं। इस सुखमय सर्वरक्षी अमृतमय रथपर (आरोह) चढो। और जब तुम दीर्घ आयुसे युक्त हो जाओगे तब (विदथ) सभाओंमें (आवदसि) संभाषण करोगे।"

अपना अभ्युदय करनेका यत्न करना चाहिये कभी ऐसा कर्म करना नहीं चाहिये कि जिससे अवनति होनेकी संभावना हो सके। जीवनके लिये प्राणका बल फैलाना चाहिए। प्राणका बल बढ़ानेसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो सकता है। यह शरीररूपी उत्तम रथ है, जिसको इंद्रियरूपी घोड़े जुते हैं। इस रथमें प्राणरूपी अमृत है। इसलिए इसको सुखमय रथ कहा जाता है। इस सर्वोत्तम रथपर आरूढ हो जाओ और अपनी उन्नतिके मार्गमें आगे बढ़ो। जब तुम बल और दीर्घ आयु प्राप्त करोगे तब तुमको बड़ी बड़ी सभाओंमें अवश्य ही संभाषण करना होगा क्योंकि दूसरोंका सुधार करनेके लिए तुमको प्रयत्न करना चाहिए। सर्व जनसमूहमें सब जनताको उत्तम मार्ग बतानेका कार्य तुम्हारा ही है। तुमको स्वार्थी बनना नहीं चाहिए। प्रत्युत जनताकी उन्नतिमें अपनी उन्नति समझनी चाहिए। इस मंत्रसे पता लगता है कि प्राणायामादि साधनों द्वारा दीर्घ आयु उत्तम आरोग्य, आदि प्राप्त करके सूक्ष्म बुद्धि और विशाल मन प्राप्त करनेके पश्चात् मनुष्यको अपना जीवन सार्वजनिक हितसाधन करनेमें लगाना चाहिए। समाजसे अलग होकर अपनी ही उन्नति प्राप्त करने-मात्रसे मनुष्य कृतार्थ नहीं हो सकता परंतु जब एक "नर" अपनी उन्नति करनेके पश्चात् "सेवा—नर" के लिये आत्मसमर्पण करता है तब ही वह उत्तम अवस्थाको प्राप्त कर सकता है। यही सर्व मेध-यज्ञ है। अस्तु। इस प्रकार इस मंत्रने सारे मनुष्योंके सम्मुख अंतिम उच्च आदर्श रख दिया है। आशा है कि सब श्रेष्ठ मनुष्य इस वैदिक आदर्शको अपने सम्मुख रखकर अपना जीवन इसके अनुसार ढालनेका यत्न करेंगे। अब अन्य बातोंका विचार यहां करना है। बोधी धर्मोंका अधिकार कहांतक पहुंचता है इसका पता निम्न मंत्रोंसे लग सकता है—

यमके दूत।

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति।
वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान्॥ ११॥
आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान्।
रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं तत्तम इवाप हन्मसि॥ १२॥
अग्नेष्टे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः। यथा न
रिष्या अमृतः सजूरसस्तत्ते कृणोमि तदु ते समृध्यताम्॥
॥ १३ ॥ अ० ८।२

“ मैं तेरे अंदर प्राण और अपानका बल, दीर्घ आयु (आयुः) आरोग्य आदि तथा अच्छे मन और चक्षु आदिकी शक्ति दीर्घ समयमें मृत्यु आदि स्थापन करता हूं। वैवस्वत यमके द्वारा भेजे हुए यमदूतोंको मैं दूर दूर कर दूर करता हूं। (अरातिं) अदान (निर्ऋतिं) नियमविरुद्ध व्यवहार (ग्राहिं) पकडनेवाले रोग (क्रव्यादं) मांसको क्षीण करनेवाली बीमारी (पिशाचान्) रक्तका शोषण करनेवाले रक्तके कृमि (रक्षांसि) सब दुष्ट कामना (सर्वं दुरितं) सब बुरा व्यवहार आदि जो कुछ दुःखदायक है उन सबको अंधकारके समान मैं दूर करता हूं। तेरे अंदर मैं तेजस्वी, अमर और आयुष्मान् जातवेदसे प्राण प्राप्त करता हूं। जिस प्रकार तेरा अकालमृत्यु न होवे तू अमर अर्थात् दीर्घजीवी बनकर (मधुः) मिठासके साथ सुखसे रहता और तुझे दुःख न होवे इस प्रकारकी समृद्धि तेरे लिये मैं अर्पण करता हूं। ”

इन मंत्रोंमें प्राण साधन करनेसे जो विलक्षण सिद्धि प्राप्त होती है उसका उत्तम वर्णन है। प्राणका बल प्राप्त करनेसे सब प्रकारका आरोग्य दीर्घ आयु, बल तथा समय आनेमें मृत्यु हो सकती है। परंतु प्राणका बल न हो तो उस अवस्थामें नाना प्रकारके रोग, अल्प आयु, अशक्तता और अकाल मृत्यु होती है। इससे प्राणायामादि द्वारा प्राणकी शक्ति बढानेकी आवश्यकता स्पष्ट सिद्ध होती है। जो विद्वान् आयुको परिमित और निश्चित मानते हैं वे कहते हैं कि यमके दूत सब जगत्में संचार करते हैं वे आयुकी समाप्तिके समय मनुष्यके प्राणोंका हरण करते हैं। इसलिये आयु बढ नहीं सकती। इस कल्पनाका खंडन करते हुए वेद कहता है कि जो यमदूत इस जगत्में संचार करते हैं उनको भी प्राणके अनुष्ठानसे दूर किया जा सकता है। इसमें मनुष्य पराधीन नहीं है। अनुष्ठानकी रीतिसे प्राणका बल बढानेसे ही सभी दुःख यमदूत आपसे दूर हो सकते हैं। प्राणायाम करनेवालेके ऊपर यमदूत अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। इस प्रकारका अभयदान वेद दे रहा है इसकी ओर हरएक वैदिक धर्मीका ध्यान अवश्य जाना चाहिए। इस विचारका मनन करके निर्भय बनकर प्राणायामद्वारा अपनी आयु हरएकको दीर्घ बनानी चाहिए तथा अन्य प्रकारका आरोग्य भी प्राप्त करना चाहिए। प्राणायामके अनुष्ठानसे मनुष्य इतना बल प्राप्त कर सकता है कि जिससे वह यमदूतोंको भी दूर भगा सकता है। इतना सामर्थ्य प्राप्त होता है इसीलिये ही सब श्रेष्ठ पुरुष प्राणायामका अभ्यास करते हैं।

प्राणायामसे सब ही प्रकारके व्याधि-दोष और रोगोंके कारण दूर हो सकते हैं। दुष्ट मन, बुरा आचार, विविधोंसे विरुद्ध व्यवहार आदि सब पाप इस अभ्याससे दूर होते हैं। सब प्रकारके रोगोंके बीज शरीरसे दूर जाते हैं। जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों द्वारा अंधकारका निर्मूलन करता है, उस प्रकार योगी अपनी प्राणशक्तिके प्रभावसे सब रोगबीजोंको दूर कर सकता है।

जो सब बने हुए पदार्थोंको यथावत् जानता है वह आत्मा “ जात-वेदस्-अग्नि ” है। यह आत्मा अमृतरूप तथा आयुष्मान् है। इसलिये वही सबको अमर और आयुष्मान् कर सकता है। जो इसके साथ अपनी आत्माको योगसाधनद्वारा संयुक्त कर सकते हैं वे अपने आपको दीर्घ आयुसे युक्त और अमरत्वसे पूर्ण बना सकते हैं। इस प्रकारसे आयुवर्धन होनेपर अकाल मृत्युसे मरते नहीं, अमर बनते हैं तथा मधुर और प्रेमपूर्ण बनते हैं इसलिये इस प्रकारकी मधुरतासे युक्त होना ही सच्ची समृद्धि है। मनुष्यका अधिकार है कि वह इस सिद्धिको प्राप्त करे।

अथर्वाका सिर।

चित्तवृत्तियोंका निरोध करना और मनकी सब इन्द्रियोंको स्वाधीन रखकर उनको अपने ही कर्ममें लगाना योग कहलाता है। इस प्रकारका पुरुषार्थ जो करता है उसको योगी कहते हैं।

योगीके अंदर चंचलता नहीं रहती और इस स्थिरता मनोवृत्तियोंमें शोभा बढाने लगती है। इस प्रकारके योगीका नाम ‘अथर्वा’ होता है। ‘अथर्व’ यह अचंचलताका नाम है। एकाग्रताकी सिद्धि उसको प्राप्त होती है। इस अवस्थाका जो वेद है वह अथर्ववेद है। अथर्ववेद साधारण मनुष्योंके लिये नहीं है। योगसाधनका इसमें मुख्य भाग इसमें तथा सिद्ध अवस्थाकी बातें इसमें होनेसे यह अथर्ववेद योगियोंका वेद है। इसमें इसी कारण प्राणायामविषयक वर्णन सब अन्य वेदोंकी अपेक्षा अधिक है। इस वेदमें अथर्वाके सिरका वर्णन निम्न प्रकार किया है—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यन्मस्तिष्कादूर्ध्वः
प्रैरयत्पवमानोऽधि शीर्षतः ॥ २६ ॥ तद्वा अथर्वणः
शिरो देवकोशः समुब्जितः तत्प्राणो अभि रक्षति शिरो

अथर्वणो यथा ॥ २७ ॥ यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्। तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥ २९ ॥ न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा। पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥ अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ ३१ ॥ तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते। तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ३२ ॥ प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्॥ पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशा पराजिताम् ॥ ३३ ॥ (अ० १०।२)

"(अ—थर्वा) स्थिरचित्त योगी अपने (मूर्धान) मस्तिष्कके साथ हृदयको सीता है और सिरके मस्तिष्कके ऊपर अपने (पवमानः) प्राणको भेज देता है॥ यही अथर्वा का सिर है कि जिसको देवोंका कोश कहा जाता है। इसका रक्षण प्राण अन्न और मन करते हैं॥ अमृतसे परिपूर्ण इस ब्रह्मकी नगरीको जो जानता है उसको ब्रह्म और इतर देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं। इसी स्थानके पूर्व चक्षु और प्राण उसको छोडते नहीं जो इस ब्रह्मपुरीको जानता है और जिसमें रहनेके कारण आत्माको पुरुष कहते हैं॥ आठ चक्र और नौ द्वारोंसे युक्त यह देवोंकी अयोध्या नगरी है इसमें तेजस्वी कोश है वही देव स्वर्गधाम रहता है। तीन आरोंसे युक्त और तीन स्थानोंपर रहे हुए उस तेजस्वी कोशमें जो पूज्य आत्मा है उसको ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं। इस तेजस्वी यशसे भरपूर हरणकर्ती और अपराजित नगरीमें ब्रह्मा प्रवेश करता है।

योगसाधन करनेवालोंके लिये यह उपदेश अमूल्य है। इसमें सबसे पहली बात यह कही है कि हृदय और मस्तिष्क एक करना है। हृदयका धर्म भक्ति है और मस्तिष्कका धर्म विचार है। भक्ति और विचारका विरोध नहीं होना चाहिये। दोनों एक ही कार्यमें सम अधिकारसे प्रवृत्त होने चाहिये। जहां ये दोनों भिन्न होते हैं वहां घात पात होते हैं। धर्ममें मिलकर बुद्धिकी उच्चता और हृदयकी भक्तिको समान स्थान मिलना चाहिये। जिस धर्ममें इनको समान स्थान नहीं होता उस धर्ममें अनेक दोष होते हैं। शिक्षाविभागमें भी मस्तिष्क और हृदयका समविकास होना चाहिये। जिस शिक्षामें केवल भक्ति बढानेका प्रयत्न है उस शिक्षा प्रणालीसे धर्मान्धता उत्पन्न होती है और जिससे केवल बुद्धि बढती है उस प्रणालीसे अविश्वास बढता है। इसलिये तर्क और भक्तिका समविकास होनेसे दोनों दोष दूर होते हैं और सब प्रकारकी उन्नति होती है। योगसाधन करनेवालेको उचित है कि वह अपनेमें मस्तककी तर्कशक्ति और हृदयकी भक्ति समप्रमाणमें विकसित करे। यही भाव "मूर्धा और हृदयका सीना" के वर्णनमें है। दोनोंको सीकर एक करना चाहिए और दोनोंको मिलाकर आत्मोन्नतिके कार्यमें समर्पित करना चाहिए।

ब्रह्मलोककी प्राप्ति।

मस्तिष्कके ऊपरके स्थानमें प्राणको प्रेरित करना' यह दूसरा उपदेश उक्त मंत्रोंमें है। मस्तिष्कमें सहस्रार चक्र है और इसके नीचे मूलाधारके साथ कई चक्र हैं। प्राणायामद्वारा नीचेसे एक एक चक्रमें प्राण भरनेकी क्रिया साध्य होती है और सबसे अन्तमें इस मस्तिष्कके सहस्रार चक्रमें प्राण भेजा जाता है, इस अवस्थासे पूर्व शरीरकी नाडियोंमें प्राणका उत्तम संचार होता है। तत्पश्चात् मस्तिष्कके सहस्रार चक्रमें प्राण पहुंचता है और ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होती है। यह प्राणकी सर्वोत्तम गति है। यही ब्रह्मलोक है। अतः इस स्थानमें प्राणके साथ आत्माकी गति होनेसे, इस अवस्थामें मुमुक्षुको ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। इसलिये इस अवस्थाको सबसे श्रेष्ठ अवस्था कहते हैं। यह सबसे श्रेष्ठ अवस्था प्राणायामके नियमपूर्वक अभ्याससे प्राप्त होती है इस कारण यह योगियोंको प्राप्त होनेवाली अवस्था है।

देवोंका कोश।

अथर्वा अर्थात् योगीका इस प्रकारका सिर सचमुच देवोंका खजाना है। इस प्रकारके अथर्वाके सिरमें सब दिव्य भावनाएं रहती हैं। सब दिव्य श्रेष्ठ देवी शक्तियोंका विकास इसके अन्दर होता है इसलिये इसको देव स्वरूपियोंका बडा मंदिर है। इस देवोंके भाण्डकी रक्षा करनेवाले जो वीर हैं उनके नाम प्राण मन और अन्न हैं। बलवान प्राण सब रोगबीजों और शारीरिक दोषोंको हटाता है, श्रेष्ठ बुद्धि और सत्यनिष्ठ मन अपनी शक्तियों द्वारा इसको सुरक्षित रखता है। अन्नकी प्रबल इच्छा काबूमें रहनेसे ही सब रोग दूर हो सकते हैं और आरोग्य अवस्था प्राप्त हो सकती है। सात्त्विक अन्नके सेवन करनेसे शरीर निर्दोष बनता है, मन भी सात्त्विक बनता है और प्राणका बल भी बढता है। इस प्रकार ये तीन वीर— प्राण मन और अन्न"—

[illegible] करते हुए, सब मिलकर [illegible] करते हैं। [illegible]

ब्रह्मकी नगरी।

[illegible]

अयोध्या नगरी।

[illegible] इसका नाम [illegible] है। [illegible] 'अ-योध्या' [illegible]

अयोध्याका राम।

[illegible]

विजयी होती है, इसका सूक्ष्म वर्णन इसमें दिया है। आत्मा ही ब्रह्म है, वह हृदयकमलमें निवास करती है इस कारण प्राण उसका वाहन है, आदि वर्णन पूर्व स्थलमें आ चुका है। यह अयोध्या नगरी है, यही देवोंकी पुरी अमरावती है यहीं सब कुछ है। पाठक प्रयत्न करके अपने अंदर इस शक्तिका अनुभव करें और अपना विजय संपादन करें।

अब चारों वेदोंमेंसे अनेक मंत्रोंद्वारा जो जो उपदेश ऊपर दिया है उसका सारांश नीचे देता हूं जिसको पढनेसे पूर्वोक्त सब कथनका भाव हृदयमें प्रकाशित हो सकेगा-

(१) आंतरिक प्राणका बाह्य वायुके साथ नित्य संबंध है।

(२) जितना प्राण होता है उतनी ही आयु होती है इसलिये प्राणशक्तिकी वृद्धि करनेसे आयुष्यकी वृद्धि हो सकती है।

(३) प्राणायामके नियमोंके अनुकूल आचरण करनेसे न केवल प्राणका बल बढता है, प्रत्युत चक्षु आदि सभी इंद्रियों अवयवों और अंगोंकी शक्ति बढती है और उत्तम आरोग्य प्राप्त हो सकता है।

(४) प्राणायामके साथ मनमें शुभ विचारों की धारणा करनेसे बडा लाभ होता है।

(५) सूर्य प्रकाशका सेवन तथा भोजनमें घीका सेवन करनेसे प्राणायाम की शीघ्र सिद्धि होती है।

(६) प्राणशक्तिका विकास करना हरएकका कर्तव्य है। क्योंकि आत्माकी शक्तिसे प्रेरित प्राण शरीरके प्रत्येक स्थानमें जाकर वहांके स्वास्थ्यकी रक्षा और बलकी वृद्धि करता है।

(७) एकही प्राणके प्राण अपान, व्यान उदान और समान ये भेद हैं तथा अन्य सब प्राणभी इसीके भेद हैं।

(८) संतानोत्पत्ति और पवित्रतासे प्राणका सामर्थ्य बढता है।

(९) प्राणका वीर्यके साथ संबंध है। वीर्यरक्षणसे प्राणशक्तिकी वृद्धि होती है और प्राणायामसे वीर्यकी स्थिरता होती है। इसप्रकार इनका परस्पर संबंध है।

(१०) परमेश्वरकी उपासना और संगीतका अभ्यास इन दोनोंसे प्राणका बल बढ जाता है।

(११) प्राणशक्तिकी रक्षा और अभिवृद्धिके लिये सब अन्य इंद्रियोंके सुखोंको त्यागना चाहिये, अर्थात् अन्य इंद्रियोंके सुख प्राप्त करनेके लिये प्राणकी हानि करनी नहीं चाहिए।

(१२) सब शक्तियोंमें प्राणशक्तिही मुख्य और प्रमुख शक्ति है।

(१३) सत्कर्मके साथ प्राणका पोषण करना चाहिए।

(१४) वाचा मन और कर्ममें शुद्धता और पवित्रता रखनी चाहिए। इससे बल बढता है।

(१५) सोनेके समय अपनी सब इंद्रियां देवतायें किस प्रकार आत्मामें लीन होती हैं और उठनेके समय पुनः किस प्रकार व्यक्त रूपमें कार्य करने लगती हैं इसका विचार करना और इसमें प्राणके कार्यका अनुभव लेना चाहिए। इस अभ्याससे आत्माकी विलक्षण शक्ति जानी जाती है।

(१६) [illegible] रोगबीजों और शारीरिक दोषोंको प्राण ही दूर करता है। जबतक प्राण है तबतक शरीरमें अमृत है।

(१७) भोजनके साथ प्राणशक्ति आयुष्य आरोग्य का विशेष संबंध है। इसलिये ऐसा उत्तम सात्विक भोजन करना चाहिए कि जो आयुष्य आरोग्य आदिकी वृद्धि कर सके।

(१८) सहस्रों सूक्ष्म रूपोंसे शरीरमें प्राण कार्य करता है।

(१९) प्राण संवर्धनके नियमोंके विरुद्ध व्यवहार करनेसे सब शक्ति क्षीण होकर अकाल मृत्यु होती है। इसलिये इस प्रकारकी नियमविरुद्ध आचरण करनेकी प्रवृत्तिको रोकना चाहिये।

(२०) अग्नि वायु रवि आदि बाह्य देवताएं अपने शरीरमें वाचा प्राण चक्षु आदि रूपसे रहती हैं। इस प्रकार अपना शरीर देवताओंका मंदिर है और मैं इन सब देवताओंका अधिष्ठाता हूं। यह भावना मनमें स्थिर करनी चाहिये। और अपने आपको [illegible] ही समझना चाहिये।

(२१) अपने आपको अपराजित विजयी और शक्तिका केंद्र मानना उचित है।

(२२) प्राण ही ब्रह्म है। व्यापक सब [illegible] है।

(२३) प्राणके आधारसे ही सब विश्व चल रहा है। प्राणियोंके अंदर यह बडी विलक्षण शक्ति है।

(२४) मैं पुरुषार्थसे अवश्य ही अपनी सब शक्तियोंका विकास करूंगा ऐसा दृढ निश्चय करना योग्य है।

(२५) अपने आपको कभी हीन दीन दुर्बल नहीं समझना चाहिये परंतु अपने प्रभावका गौरव ही सदा रखना चाहिए।

(२६) जगत्में ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि जो मुझे कष्ट दे सकेगी। मैं सब कष्टोंको दूर करनेका सामर्थ्य रखता हूं। यह भाव मनमें रखना चाहिए।

(२७) सब सामर्थ्यवान् परमेश्वर मेरा मित्र है इस बातपर पूर्ण विश्वास रखना, तथा उसको अपना पिता, माता भाई आदि समझना। उसमें और मेरेमें स्वभाव स्वरूप आदिका भेद नहीं है।

(२८) योग्य कालमें योग्य कर्म करना। कालको अनुकूल न प्राप्त होनेपर उत्साह दूर न करना। आलस्य कर्तव्य करनेके लिये न रखना।

(२९) स्फूर्ति और जागृति धारण करनेसे उन्नति होती है।

(३०) दीर्घ आयु ही बड़ा धन है उसको और भी बढाना चाहिए। निर्दोष बननेसे सब धनकी वृद्धि होती है।

(३१) उत्साह बलवानता स्फूर्ति जागृति आत्मरक्षण की भावना और योग्यतासे उन्नतिका साधन किया जा सकता है।

(३२) सदा ऊपर चढनेके लिये प्रयत्न होना चाहिए ऐसा कोई कार्य करना नहीं चाहिए कि जिससे नीचे गिरनेकी संभावना हो सके।

(३३) इस अमृतमय शरीरमें आकर व्यक्तिकी उन्नति और सब जगत की उन्नति करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिए। जीवन का यही ध्येय है।

(३४) अपने अग्निहोत्र साथ शुद्ध करके अपनी विजय संपादन करना चाहिए।

(३५) हृदयकी शक्ति और मस्तिष्कका बल इन दोनों शक्तियोंको एक ही सत्कार्यमें लगाना चाहिए तथा इन दोनोंका सम विकास करना चाहिये।

(३६) योगियोंका शिर वसुमय देवोंका धनस्थान है।

(३७) आत्मा (हृदयमें ब्रह्मधाम) है वही स्वर्ग और वही अमरावती है। यहा देवोंकी अयोध्या है। ब्रह्मज्ञानी इसको ठीक प्रकार जानते हैं।

(३८) जो आत्मशक्तिका विकास करता है वही स्वाधीन होकर साथ इस अपने राज्यमें प्रवेश करता है।

(३९) अपने आपको स्वाधीन करके अतिशय ऊपर भेजना चाहिए। जहां विकारोंकी गति नहीं है वहां पहुंचना चाहिए, यही आत्माका स्थान है।

(४०) निश्चयके साथ पुरुषार्थके प्रयत्नसे उन्नतिके मार्ग चलनेवाला भावी अपनी सब प्रकारसे उन्नति कर सकता है।

इसप्रकार ब्रह्मविद्याका आशय है। पाठक इसका मनन विचार करें और अपनी उन्नतिके लिये उपयोगी बोध लें। तथा प्राप्त बोधके अनुसार आचरण करके अपने और जनताके अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्तिके साधनमें सदा तत्पर रहें।

इस लेखमें थोडेसे वेदमंत्र दिये हैं जिनमें प्राणविद्याका स्पष्ट विचार रीतिसे स्पष्ट है। परंतु इसके अतिरिक्त अन्य वेदोंके सूक्तोंमें गुप्त रीतिसे भी प्राणविद्याका वर्णन है उसकी भी खोज होनी चाहिए। आशा है कि पाठक स्वयं प्राणविद्याका अभ्यास करके उसकी खोज करनेके पवित्र कार्यमें अपने आपको समर्पित करेंगे।

स्वयं अनुभव लेनेके बिना इस प्रकारकी खोज नहीं हो सकती इसलिये प्रथम प्राणायामका साधन स्वयं करना चाहिए। जो सज्जन प्राणायामका साधन स्वयं करेंगे और उच्च भूमिकाओंमें जाकर प्रत्यक्ष प्रकाश अनुभव करेंगे, उनको ही वैदिक संकेतोंका उत्तम ज्ञान होना संभव है। इसलिये पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे प्रथम अनुष्ठान द्वारा स्वयं अनुभव लेनेका यत्न करें, और पश्चात् वैदिक मार्गोंकी भी खोज करके पीछेसे आनेवाले सज्जनोंका मार्ग सुगम करें। इसप्रकारके थोडे थोडे प्रयत्नसे महान् कार्य सिद्ध हो सकता है। आशा है कि पाठक उत्साहके साथ अपूर्व यत्न करेंगे।

उपनिषदोंमें प्राण-विद्या।

वेदमंत्रोंमें जो अध्यात्मविद्या है वही उपनिषदोंमें बताई है अध्यात्मविद्याके अनेक अंगोंमें प्राणविद्या नामक एक मुख्य अंग है। यह जैसा वेदके मंत्रोंमें है वैसा उपनिषदोंके वचनोंमें भी है। इससे पूर्व वेदमंत्रोंकी प्राणविद्या संक्षेपसे बताई है अब उपनिषदोंकी प्राणविद्या देखनी है।

प्राणकी महत्ता।

प्राण सब शक्तियोंमें सबसे श्रेष्ठ शक्ति है इस विषयमें निम्न वचन देखिए—

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभि

मि संवीतोसि ॥ ऐ० उ० ३।३

'प्राणही ब्रह्म है क्योंकि प्राणसे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं प्राणसे जीवित रहते हैं और अन्तमें प्राणमेंही जाकर मिल जाते हैं।'

यह प्राणशक्तिका महत्त्व है। प्राण सबसे बडी शक्ति है सब अन्य शक्तियां प्राणपरही अवलंबित रहती हैं जबतक प्राण रहता है तबतक अन्य शक्तियां रहती हैं प्राण जाने लगता है तो अन्य शक्तियां प्रथम चली जाती हैं और पश्चात् प्राण निकल जाता है। न केवल प्राणियोंकाही प्राणका आधार है परंतु औषधि वनस्पति तथा अन्य स्थिरचर पदार्थ इन सबका भी प्राणशक्तिकाही आधार है। प्राणशक्ति सर्वत्र व्याप्त है और सबके अंदर रहती हुई सबका धारण पोषण कर रही है। प्रजापति परमात्माने सबसे प्रथम दो पदार्थ उत्पन्न किये उनमेंसे एक प्राण है और दूसरी रयि है। इस विषयमें देखिये—

स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥ ५ ॥ प्रश्न० उ० १

"परमेश्वरने सबसे प्रथम स्त्रीपुरुषका एक जोडा उत्पन्न किया उनमें एक प्राण है और दूसरी रयि है। उनमें आदित्यही प्राण है और चंद्रमा तथा मूर्तिमान् जगत् जिसमें स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ मात्र हैं रयि है।"

अर्थात् एक प्राणशक्ति और दूसरी रयिशक्ति सबसे प्रथम उत्पन्न हुई। इनका भाव निम्न कोष्टकसे ज्ञात होगा देखिये—

प्राण	रयि
आदित्य	चंद्रमाः
पुरुष	स्त्री, प्रकृति
Positive	Negative

जगत्के ये मातापिता हैं इनसे सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है। पिंडमें इनका कार्य है। सूर्यमालामें सूर्य प्राण है अन्य चंद्र आदि रयि है शरीरमें सूक्ष्म-प्राण प्राण है और अन्य स्थूल शरीर रयि है देहमें दांयी बाजू प्राण है और बांई बाजू रयि है। इस प्रकार एक दूसरेके अंदर रयि और प्राणशक्तिका व्यापार है किसी स्थानपर ये दोनों शक्तियां नहीं हैं ऐसा नहीं है। सर्वत्र रहकर इस सिद्धांतसे इनका कार्य हो रहा है। इसके देखनेसे प्राणकी सर्वव्यापकताका पता लग सकता है। इस प्रकार यह एक श्रेष्ठ देव है इसलिये कहा है कि—

कतम एको देव इति प्राण इति ॥ बृ० ३।९।९

"एक देव कौनसा है ? प्राण है।" अर्थात् सब देवोंमें मुख्य एक देव कौनसा है ? उत्तरमें निवेदन है कि प्राणही सब से मुख्य और श्रेष्ठ देव है। और देखिये—

प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ छां० ५।१।१। बृ० ६।१।१

"प्राणही सबसे मुख्य और श्रेष्ठ है।" सब अन्य देव इसके आधारसे रहते हैं। तथा—

(१) प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितम् ॥ बृ० ५।१४।४

(२) प्राणो वा अमृतम् ॥ बृ० १।६।३

(३) प्राणो वै सत्यम् ॥ बृ० २।१।२

(४) प्राणो वै यशो बलम् ॥ बृ० १।२।६

(१) प्राणही बल है वह बल प्राणमें रहता है। (२) प्राणही अमृत है (३) प्राणही सत्य है (४) प्राणही यश और बल है।" इसप्रकार प्राणका महत्त्व है। प्राणकी श्रेष्ठता इतनी है कि उसका वर्णन पर्याप्त नहीं हो सकता।

प्राण कहांसे आता है ?

परमात्माने प्राणकी उत्पत्ति की है इसका वर्णन पूर्व स्थलमें हो चुका है। परंतु इस प्राणशक्तिकी प्राप्ति प्राणियोंको कैसे होती है इस विषयमें निम्न मंत्र देखने योग्य हैं—

अथादित्य उदयन् यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ ६ ॥ स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते ॥ तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥ ७ ॥ विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् ॥ सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥ प्रश्न० उ० १।६-८

"सूर्यका जब उदय होता है तब सभी दिशाओंमें सूर्य किरणों के द्वारा प्राण रखा जाता है। इसप्रकार सर्वत्र सूर्यकिरणोंके द्वाराही प्राण पहुंचता है ॥ यह सूर्यही प्रकाश वैश्वानर अग्नि है ॥ यह सूर्य (विश्व-रूप) सब रूपोंका प्रकाशक (हरिणं) अंधकारको हरण करनेवाला, (जात-वेदसं) सबको जाननेवाला एक श्रेष्ठ तेजसे युक्त सैंकडों प्रकारोंसे अपनी किरणोंसे प्राण प्रदान करनेवाला यह प्रजाओंका प्राण उदयको प्राप्त होता है।"

यह सूर्यका वर्णन बता रहा है कि सूर्यका प्राणके साथ कैसा संबंध है। सूर्यकिरणोंके बिना प्राणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस सूर्य मालिकाका मूल स्थान यह सूर्य देवही है। इसी कारण

वेदमंत्रमें वायु आरोग्य बल आदिके साथ सूर्यका संबंध वर्णन किया है। सूर्यप्रकाशका हमारे आरोग्यके साथ कितना निकट संबंध है इसका यहां पता लग सकता है। जो लोग सदा अंधेरे स्थानमें रहते हैं सूर्यप्रकाशमें क्रीडा नहीं करते, सूर्यके प्रकाशसे अपना आरोग्य नहीं संपादन करते हैं और अपने आरोग्यके लिये वैद्यों हकीमों और डाक्टरोंके घर भरते रहते हैं। विचारे दयाके पात्र हैं उनकी अज्ञानताकी सीमा कहां है! परमात्माने अपार दयासे सूर्य और वायु उत्पन्न किया है और उनसे पूर्ण आरोग्य संपादन हो सकता है। योग्य रीतिसे प्राणायामद्वारा उनका सेवन किया जायगा तो स्वभावतः ही आरोग्य मिल सकता है तथा उत्तम आरोग्य होनेपर भी मनुष्य ऐसी अवस्थातक जा पहुंचे हैं कि अनन्त संपत्तिका व्यय करनेपर भी उनको आरोग्य नहीं प्राप्त होता। पाठक, देखिये कि वेदके उपदेशोंसे जनता कितनी दूर गयी है। अस्तु। विश्वव्यापक प्राण प्राप्त होनेका मार्ग इस प्रकार है। यह प्राण सूर्यमें केंद्रित हुआ है वहांसे सूर्यकिरणोंद्वारा वायुमें आता है और वायुके साथ हमारे फेफडोंमें आकर हमारा जीवन बढाता है। जो प्राणायाम करना चाहते हैं उनको इस बातका ठीक ठीक पता होना चाहिये। इसी प्रकार और वर्णन देखिये—

देवोंका घमंड।

‘एक समय ऐसा हुआ कि आकाश अग्नि पृथिवी आप तेज, वायु ये देव तथा शरीरके अन्दर वाणी मन चक्षु और श्रोत्र ये देव समझने लगे कि हम ही इस जगतको धारण करते हैं और हमारेसे कोई श्रेष्ठ नहीं है। इन देवोंका यह घमंड देखकर प्राण कहने लगा कि हे देवो! ऐसा घमंड न कीजिये मैं ही अपने आपको पांच विभागोंमें विभक्त करके इसकी धारणा कर रहा हूं। परन्तु इस कथनको उन देवोंने माना नहीं, उस समय मुख्य प्राण वहांसे हटने लगा तब सब देव कांपने लगे। फिर जब प्राण आगया तब देव स्वस्थ हुए। इससे देवोंको पता लगा कि यह सब प्राणकी शक्ति है कि जिसके कारण हम कार्य कर रहे हैं हमारी ही केवल शक्तिसे हम इस कार्यको करनेमें असमर्थ हैं।’ इसप्रकार जब देवोंने प्राणकी महिमा विदित की तब वे प्राणकी स्तुति करने लगे। वह स्तुति निम्न लेखमें है—

प्राणस्तुति।

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः। एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥ ५ ॥ अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ ६ ॥ प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे। तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥ ७ ॥ देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा। ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥ ८ ॥ इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता। त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥ ९ ॥ यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः। आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥ १० ॥ व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः। वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः ॥ ११ ॥ या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि। या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥ १२ ॥ प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्। मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥ १३ ॥ प्रश्न० उ० २

“यह प्राण अग्नि वायु सूर्य पर्जन्य इन्द्र पृथिवी रयि सभी कुछ है। जिस प्रकार रथ नाभीमें आरे जुडे होते हैं, उसी प्रकार प्राणमें सब जुडा हुआ है। ऋचा यजु, साम यज्ञ क्षत्र और ब्रह्म सबही प्राणके आश्रय रहे हैं। हे प्राण! तू प्रजापति है और गर्भमें तू ही जाता है। सब प्रजायें तेरे लिये ही बलि अर्पण करती हैं। तू देवोंका श्रेष्ठ संचालक और पितरोंकी स्वधा है। अथर्वा आंगिरस ऋषियोंका सत्य आचरण भी तेरा ही प्रभाव है। तू इन्द्र रुद्र सूर्य है तू ही तेजोंका पति है जब तू वृष्टि करता है तब सब प्रजायें आनन्दित होती हैं क्योंकि उनको बहुत अन्न इस वृष्टिसे प्राप्त होता है। तू ही प्राण एक ऋषि और सब विश्वका स्वामी है। तू व्रात्य है और तू हम सबका पिता है। जो तेरा शरीर वाणी चक्षु श्रोत्र और मनमें है उसको कल्याण रूप कर और हमसे दूर न हो। जो कुछ त्रिलोकीमें है वह सब प्राणके वशमें है। माताके समान हमारा संरक्षण करो और शोभा तथा प्रज्ञा हमें दो।

यह देवोंका कथन प्राणसूक्त देखनेसे प्राणका महत्व जाना जा सकता है। यह सूक्त कई दृष्टियोंसे विचार करने योग्य है।

पहिली बात जो इनमें कही है वह यह है कि चक्षु श्रोत्र आदि इंद्रियां शरीरमें तथा सूर्य चंद्र वायु आदि जगतमें देव हैं और वे सब प्राणके वशमें हैं। प्राणकी शक्ति इनके अंदर जाती है और इनके द्वारा कार्य करती है। जिस प्रकार शक्ति आंखमें जाकर आंखको देखनेके लिये समर्थ बनाती है, उसी प्रकार सूर्यके अंदर विश्वव्यापक प्राणशक्ति रहकर प्रकाश कर रही है। इसलिये आंखकी दृष्टि और सूर्यकी प्रकाशशक्ति आंख और सूर्यकी नहीं है प्रत्युत प्राणकी है इसी प्रकार अन्य इंद्रियों और देवताओंके विषयमें जानना उचित है। देव शब्द जैसा शरीरमें इंद्रिय वाचक है उसी प्रकार जगतमें अग्नि वायु आदि देवताओंका भी वाचक है। पाठक इस दृष्टिको धारण करके अग्नि आदि देवताओंके सूक्तोंका विचार करें।

उक्त सूक्तमें दूसरी बात यह है कि, अग्नि सूर्य, इंद्र वायु, पृथिवी जल आदि शब्द प्राणवाचक होनेसे इन देवताओंके सूक्तोंमें भी प्राणविद्या प्रकाशित हुई है। इसलिये जो सज्जन अग्नि आदि सूक्तोंका विचार करते हैं वे उक्त सूक्तोंमें विद्यमान प्राणविद्याका भी विचार करें। अर्थात् अग्नि सूर्य आदि देवताओंके नामोंका 'प्राण' अर्थ समझकर उन सूक्तोंका अर्थ करें। जो सूक्त सामान्य अर्थवाले होंगे उनके अर्थ इस प्रकार हो सकते हैं। देखिये–

प्राणरूप अग्नि।

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे॥
यशसं वीरवत्तमम्॥ ऋ. १।१।३

"(अग्निना) प्राणसे (रयिं) शोभा और (पोषं) पुष्टि (दिवे दिवे) प्रतिदिन (अश्नवत्) प्राप्त होती है। और वीर्य युक्त यश भी मिलता है।'

यह अत्यंत स्पष्ट ही है कि प्राण चला जायगा तो न तो शरीरकी शोभा रहेगी और न शरीरकी पुष्टि होगी फिर यश मिलना तो दुरापास्त ही है। इसप्रकार बहुत विचार हो सकता है यहां उतना स्थान नहीं है इसलिये यहां केवल दिग्दर्शन ही किया है। वेदके गूढ रहस्यों का इसप्रकार पता लग जाता है इसलिये पाठकोंको उचित है कि वे वेदका स्वाध्याय प्रारंभ किया करें। स्वाध्याय करते करते किसी न किसी समय वैदिक रहस्य ज्ञात होंगे और पश्चात् यह कठिनता नहीं होगी।

उक्त सूक्तोंमें तीसरी बात यह है कि अग्नि आदि शब्दके गूढ अर्थोंसे प्राणविद्याका महत्व उसमें वर्णन किया है। इसका थोडासा स्पष्टीकरण देखिए–

(१) देवानां वह्नितमः अग्नि = प्राण "इंद्रियोंको चलानेवाला है, सूर्यादिकोंको" चलाता है प्राणायाम द्वारा विद्वान्' उसकी प्राप्त करते हैं।

(२) पितृणां प्रथमः अग्नि = संपूर्ण पालक शक्तियोंमें सबसे श्रेष्ठ और (प्रथम) पहिले इसीकी पालकशक्ति प्राप्त है और यही (स धा) जन्मभरकी धारणा करती है।

(३) ऋषीणां पूर्व्यः चरितः अग्नि = सात ऋषियोंका पूर्व (चरितं) चाल चलन अथवा आचरण प्राण ही करता है। दो आंख, दो कान दो नाक और एक मुख ये सात ऋषी हैं ऐसा वेद और उपनिषदोंमें कहा है।

(४) अथर्वांगिरसां चरितं अग्नि = (अ-थर्वा, आंगिरसां) स्थिर अंगोंके रसोंका (चरितं) चलन अथवा भ्रमण प्राण ही करता है। प्राणके कारण पोषक रस सब अंगोंमें भ्रमण करता है और सर्वत्र पहुंच कर सर्वत्र पुष्टि करता है।

इसप्रकार भाव उक्त सूक्तके वाक्योंमें गुप्त रीतिसे है। प्रत्येक शब्दका अर्थ देखनेसे इसका पता लग सकता है। साधारण सूचना देनेके लिये यहां उपयोगी होनेवाले शब्दार्थ नीचे देता हूं। (१) अग्निः- गति देनेवाला उष्णता और तेज उत्पन्न करनेवाला; (२) सूर्य-प्रेरणा करनेवाला प्रकाश देनेवाला; (३) पर्जन्य (पर-जन्य) पूर्णता करनेवाला; (४) मघवान् महत्वसे युक्त (५) वायुः- हिलानेवाला और गति-प्रधान दूर करनेवाला, (६) पृथिवी-विस्तृत आधार देनेवाली (७) रयि- तेज संपत्ति शरीरसंपत्ति आदि; (८) देवा- ओंका जिगीषा व्यवहार तेज, आनंद हर्ष क्रीडा उत्साह स्फूर्ति आदि देनेवाला दिव्य; (९) अ-मृतः = अमरत्वसे युक्त; (१०) प्रजा-पति = चक्षु आदि सब प्रजाओंका पालक, प्रजा उत्पन्न करनेवाला; (११) वह्नितमः = अत्यंत प्रेरक; (१२) ईशः = ऐश्वर्यवान्, शासन करनेवाला; (१३)रुद्रः = (रुद्-रः) शब्दका प्रेरक (रुद्-रः) दुःखको दूर करके आरोग्य देनेवाला; (१४) सत्यः = (सत्) नियमके अनुसार आचरण करने वाला। इस प्रकार शब्दोंके अर्थ देखनेसे पता लगेगा कि उक्त शब्दों द्वारा प्राणकी दिव्य शक्तिका कैसा उत्तम वर्णन किया गया है। वैदिक शब्दोंके गूढ आशय

देखनेसे ही वेदकी गंभीरता व्यक्त होती है। आशा है कि पाठक इसप्रकार इसका सूक्ष्मरीतिसे विचार करेंगे।

अस्तु। इसप्रकार प्राणकी मुख्यता और महत्ता है और यह प्राण सूर्य किरणोंके द्वारा प्राणियों तक पहुंचता है। सूर्य किरणोंसे वायुमें आता है। वायु नाकसे अंदर जाता है अतः सब मनुष्यके शरीरमें पहुंचता है प्राणायामके समय इसप्रकार इस प्राणका महत्त्व ध्यानमें धरना चाहिए।

प्राणका प्रेरक।

केन उपनिषद्में प्राणके प्रेरकका विचार किया है। प्राणके आधीन संपूर्ण जगत् है तथापि प्राणको प्रेरणा देनेवाला कौन है? जिसप्रकार दीवानके आधीन सब राज्य होता है, उसी प्रकार प्राणके आधीन सब इंद्रियादिकोंका राज्य है। परंतु राजाकी प्रेरणासे दिवान कार्य करता है उस प्रकार यहां प्राणका प्रेरक कौन है यह प्रश्न तात्पर्य है।

केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ॥ केन उ० १।१

किससे नियुक्त होकर हुआ प्राण चलता है?' अर्थात् प्राणकी प्रेरक शक्ति कौनसी है? इसके उत्तरमें उपनिषद् कह रहा है कि—

स उ प्राणस्य प्राणः ॥ केन उ० १।२

वह आत्मा प्राणका प्राण है" अर्थात् प्राणका प्रेरक आत्मा है। इसका और वर्णन देखिए—

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ॥
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ केन उ० १।८

"जिसका जीवन प्राणसे नहीं होता परंतु जिससे प्राणका जीवन होता है वह (ब्रह्म) आत्मा है ऐसा तू समझ। वह नहीं कि जिसकी उपासना की जाती है।"

अर्थात् आत्माकी शक्तिसे प्राण अपना सब कार्यभार चला रहा है इसलिये प्राणका प्रेरक शक्ति आत्मा ही है। इस विषयमें ईशोपनिषद्का मंत्र देखने योग्य है—

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ ईश० १६

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्॥ वा० यजु० ४०।१७

"जो यह (असौ) असु अर्थात् प्राणके अंदर रहनेवाला पुरुष है वह मैं हूं।" मैं आत्मा हूं, मेरे चारों ओर प्राण दिव्य प्राण है और मैं उसका प्रेरक हूं। मेरी प्रेरणासे प्राण चल रहा है और सब इंद्रियां तथा अवयवोंको संचालित कर रहा है। इसप्रकार विश्वास रखना चाहिए और अपने आत्माका गौरव देखना चाहिए। इस विषयमें ऐतरेय उपनिषद्का वचन देखिए—

नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुः ॥
ऐ० उ० १।१।४ ॥ वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् ॥
ऐ० उ० १।२।४

"नासिका रूप इंद्रिय खुल गये नासिकासे प्राण और प्राणसे वायु हो गया।' अर्थात् प्राणसे वायु हो गया। आत्माकी प्रबल इच्छाशक्ति थी कि मैं सुगंधका आस्वाद लेऊं। इस इच्छासे ही नासिकाके स्थानमें दो छेद बन गये वे ही नासिकाके छेद हैं। इसप्रकार नाक बनते ही प्राण हुआ और प्राणसे वायु बना है। आत्माकी इच्छाशक्ति कितनी प्रबल है इसकी कल्पना यहां स्पष्ट हो सकती है। इस प्रकार शरीरमें छेद करनेवाली शक्ति जो शरीरके अंदर रहती है वही आत्मा है इस यह कहते हैं क्योंकि वह आत्मा (इदं द्र) इस शरीरमें सुराख करनेकी शक्ति रखती है। इसकी प्रबल इच्छाशक्तिके चिन्ह शरीरमें यहां सिद्ध हो रहे हैं, इसका अनुभव अपने शरीरसे ही देखा जा सकता है। जो ऐसा समर्थ जीवात्मा है वही प्राणका प्रेरक है। इसका प्रेरक प्राण है वह प्राण वायुका पुत्र है क्योंकि ऊपर दिये मंत्रमें कहा है कि "वायु प्राण बनकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ है। इसलिये वायुका यह प्राण पुत्र है। यही "हनुमान्" है मारुतीका अर्थ 'मारुत्' अर्थात् वायुका पुत्र। जिसे श्वासोच्छ्वास पवन वायु है उसका एक अंश शरीरमें अवतार लेता है इसलिये इसको पवनात्मज कहते हैं। यही हनुमान् मारुतकी राम-कथा है। अवतारकी एक कल्पना यहां बन सकती है। विश्वव्यापक शक्तियां अवतार रूपसे कर्मभूमिमें अर्थात् इस देहमें आकर कार्य करती हैं। वायु के गुणोंको जो उपमा वैदिक साहित्यमें दे रहे हैं। इसको चिरंजीव कहा है, इसका कारण इस देहमें एक स्थानमें बताया ही है। प्राणके आयतनके साथ इसका चिरंजीवत्व सिद्ध होता है। इसप्रकार यह हनुमान् जीका रूपक है। इसका संपूर्ण वर्णन किसी अन्य स्थानमें किया जायगा। यहां केवलसे सूचना मात्र किसी है। अस्तु हनुमान्जीकी उपासना मूलमें प्राणोपासना ही है। यह 'दशरथके राम' का सहायक है इस इंद्रियोंके रथमें जो आनंद रूप आत्मा है उसका यह प्राण नित्य सहायक ही है तथा "हनुमान्की सेना" को बढानेवाला है, सब इंद्रियोंके मुख्यतया जीवनी के शक्तियां होती हैं उनका प्राणायामके अभ्याससे ग्रहण होता है।

इत्यादि विचारोंसे पूर्वोक्त कल्पना अधिक स्पष्ट होगी। पाठक इसका विचार करें। पूर्वोक्त उपनिषद्में 'प्राणका प्रेरक आत्मा' कहा है और उक्त इतिहासमें 'वायुरूपका प्रेरक इन्द्र सारथी राम' कहा है दोनोंका तात्पर्य एक ही है। सूक्ष्म वाचक विचारके द्वारा इसके मूलभावको जान सकते हैं।

पूर्वोक्त ईशोपनिषद् के वचनमें 'अहो अहं' शब्द आये हैं "प्राणके अंदर रहनेवाला मैं आत्मा" यही भाव बृहदारण्यक के निम्न वचनमें है–

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयति एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।

बृ० ३।७।१६

जो प्राणके अंदर रहता है प्राणके अन्दर रहनेपर भी जिसको (प्राणः न वेद) प्राण जानता नहीं जिसका शरीर प्राण है जो अंदरसे (अन्तरः यमयति) प्राणका नियमन करता है, (एषः) वह तेरा अन्तर्यामी अमर आत्मा है।

प्राणके अन्दर रहनेवाला और प्राणका नियमन करनेवाला यह आत्मा है। इस वचनके अनुसार आत्माका प्राणके साथ किस संबंध है यह बात स्पष्ट होती है। मैं आत्मा हूं प्राण मेरा अनुचर है और प्राणके आधीन संपूर्ण इंद्रियां और शरीर है यह मेरा वैभव और साम्राज्य है। इसका मैं सच्चा सम्राट् बनूंगा और विजयी तथा यशस्वी बनूंगा यह वैदिक धर्मकी आदर्श कल्पना है इस प्राणका वर्णन अन्य रीतिसे निम्न वचन में हुआ है–

प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते ॥

बृ० ५।१२।१

प्राणो वा अमृतं प्राणो हीदं सर्वमुपजीवति ॥१॥ प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते ॥२॥ प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि ॥३॥ प्राणो वै क्षत्रं प्राणो हि वै क्षत्रं त्रायते ॥४॥

बृ० उ० ५।१३

"प्राण 'र' है क्योंकि सब भूत प्राणमें रमते हैं। प्राण 'अमृत' है क्योंकि प्राण सबका उठाता है। प्राण 'यजु' है क्योंकि प्राणमें सब भूत संयुक्त होते हैं। प्राण 'साम' है क्योंकि सब भूत प्राणमें सम्यक् रीतिसे रहते हैं। प्राण 'क्षत्र' है क्योंकि प्राण ही क्षतसे अर्थात् क्षयोंसे बचाता है।"

इसका प्रत्येक मुख्य शब्द प्राणकी शक्तिका वर्णन कर रहा है। 'साम यजु' आदि शब्द अन्यत्र वेदवाचक होते हुए भी यहां केवल गुणवाचक हैं। इस शब्दप्रयोगोंसे स्पष्ट पता लग जाता है कि वैदिक समयमें शब्दोंका विशेष रीतिसे भी उपयोग होता था और सामान्य रीतिसे भी होता था। यहां सामान्य रीतिका प्रयोग है। जहां सामान्य रीतिसे प्रयोग होगा वहां उसका यौगिक अर्थ करना चाहिये और जहां विशेष रीतिसे प्रयोग होगा वहां योग–रूढीका अर्थ समझना चाहिए। इस प्रकार एक ही शब्द के दोनों अर्थ होनेपर भी अर्थविषयक ठीक व्यवस्था लगाई जा सकती है। आशा है कि पाठक इस व्यवस्थाको वेदमंत्रोंमें देखेंगे। यह बात वेदका अर्थ करनेके समय विशेष महत्त्वकी है इसलिये यहां लिखी है।

अंगोंका रस।

शरीरके अंगोंमें एक प्रकारका जीवनका आधारभूत रस है। इसका वर्णन निम्न मंत्रमें है–

आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः प्राणो वा अङ्गानां रसः तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात् प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यति।

बृ० १।३।१९

"प्राण ही अंगोंका रस है इसलिये जिस अंगसे प्राण चला जाता है वह अंग सूख जाता है।"

इसमें भी वही बात दिखाई देती है। यह अंग–रसका महत्त्व है। आत्मामकी इच्छासे प्राणके द्वारा यह रस सब शरीरमें घुमाया जाता है और प्रत्येक अवयवमें आरोग्य और बल बढाया जाता है। प्रबल इच्छाशक्तिद्वारा आरोग्य संपादन करनेका उपाय इससे विदित होता है। इच्छाशक्ति और प्राण इनका बल बढानेसे उच्च सिद्धि होती है। आत्माकी प्रेरणा प्राणमें होती है प्राणसे मन संयम रहता है मनसे इच्छा शक्तिका नियमन होता है इच्छासे संकल्प परिणाम होकर इसके द्वारा संपूर्ण शरीरमें इष्ट कार्य होता है। देखिये–

पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्॥ छां० उ० ६।८।६

'पुरुषकी वाणी मनमें मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें संयम होता है।" यही परंपरा है। परदेवताका तात्पर्य यहां आत्मा है। प्राणविद्याकी परमसिद्धि इस प्रकारसे सिद्ध होती है।

प्राण और अन्य शक्तियां।

प्राणके आधीन अनेक शक्तियां हैं, उनका प्राणके साथ संबंध देखनेके लिये निम्न मंत्र देखिये–

प्राणो वाव संवर्गः। स यदा स्वपिति प्राणमेव
वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः,
प्राणो ह्येवैतान् सर्वान् संवृङ्क्त इति ॥ ३ ॥ छां० ४।३।३

' जब वह सोता है तब वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि सब प्राणमें ही लीन होती हैं क्योंकि प्राण ही इनका संवारक है।

जिसप्रकार सूर्य उदयके समय उसकी किरणें फैलती हैं और अस्तके समय फिर अंदर लीन होती हैं इसीप्रकार प्राणरूपी सूर्यका जागृतिके प्रारंभमें उदय होता है। उस समय उसकी किरणें इंद्रियादिकोंमें फैलती हैं और निद्राके समय फिर अंदर लीन होती हैं। इसप्रकार प्राणका सूर्य होना सिद्ध होता है। इसका सादृश्य एक अंशमें है यह बात भूलनी नहीं चाहिये। सूर्यके समान प्राण भी कभी अस्त नहीं होता परंतु अस्त और उदय ये शब्द हमारी अपेक्षासे उसमें प्रयुक्त हो रहे हैं। इस विषयमें निम्न वचन और देखिये—

पतंग ।

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत, एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति ॥ छां० ६।८।२

" जिसप्रकार पक्षी डोरीसे बंधा हुआ अनेक दिशाओंमें घूम कर दूसरे स्थानपर आधार न मिलनेके कारण अपने मूल स्थानपर ही आजाता है इसीप्रकार निश्चयसे हे प्रिय शिष्य ! यह मन अनेक दिशाओंमें घूम घाम कर दूसरे स्थानपर आश्रय न मिलनेके कारण प्राणका ही आश्रय करता है क्योंकि हे प्रियशिष्य ! मन प्राणके साथ ही बंधा है। "

इसप्रकार प्राणका मनके साथ संबंध है यही कारण है कि प्राणायामसे प्राण बलवान् होनेपर मन भी बलिष्ठ होता है प्राणका निरोध होनेसे मनका संयम होता है। प्राणकी चंचलतासे मन चंचल होता है और प्राणकी स्थिरतासे मन भी स्थिर होता है। इससे प्राणायामका महत्व और उसका मनके संयमके साथ संबंध विदित हो सकता है।

प्राणसे मनका संयम होनेके कारण अन्य इंद्रियां भी प्राणके निरोधसे स्वाधीन होती हैं यह स्पष्ट ही है; क्योंकि प्राणसे मनका संयम और मनके वश होनेसे अन्य इंद्रियोंका वश होना स्वाभाविक ही है। इसप्रकार प्राणायामसे संपूर्ण शक्तियां वशीभूत होती हैं। यही भाव निम्न वचनसे स्पष्ट दीखता है—

वसु रुद्र आदित्य ।

प्राणा वाव वसव एते हीदं सर्वं वासयन्ति ॥ १ ॥
प्राणा वाव रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयन्ति ॥ ३ ॥
प्राणा वावादित्या एते हीदं सर्वमाददते ॥ ५ ॥
छां० ३।१६

' प्राण वसु हैं क्योंकि वे सबको बसाते हैं, प्राण रुद्र हैं क्योंकि इनके चले जानेसे सब रोते हैं, प्राण आदित्य हैं क्योंकि वे सबको स्वीकारते हैं।

इस स्थान पर " प्राणा वाव रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयन्ति " अर्थात् ' प्राण रुद्र हैं क्योंकि वे इस सब दुःखको दूर करते हैं। ' ऐसा अर्थ होता तो प्राणका दुःख निवारक अर्थ स्पष्ट हो सकता था। परंतु उपनिषद्में ' एते हीदं सर्वं रोदयन्ति। ' अर्थात् वे प्राण जब चले जाते हैं तब वे सब को रुलाते हैं इतना मानवीय प्राणियोंका प्रेम है ऐसा लिखा है। रुद्रपदादिसे भी अत्यन्त रोदन अर्थही अर्थंत लिया है परंतु दुःख निवारक अर्थ भी उसमें उससे अधिक प्रकट है। इसका पाठक विचार करें। इसप्रकार प्राणका महत्त्व इसीसे ही सिद्ध है—

प्राणो ह पिता, प्राणो माता प्राणो भ्राता, प्राणः
स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥
छां० ७।१५।१

" प्राण ही माता पिता भाई बहन आचार्य ब्राह्मण आदि है " ये शब्द प्राणका महत्त्व बता रहे हैं। [१] माता पिता—जन्मदेकर बढानेवाला, [२] पिता—पालक और रक्षक [३] भ्राता—भरण पोषण करनेवाला, [४] स्वसा—[सु असा] उत्तम प्रकार रखनेवाला, [५] आचार्य सच्चा गुरु है क्योंकि प्राणके आयामसे आत्माका साक्षात्कार होता है इसलिये [६] ब्राह्मण—यह ब्रह्मके पास लेजानेवाला है।

ये शब्दोंके सूक्ष्मार्थ यहां प्राणके गुण बता रहे हैं। यह अथर्व का वर्णन है इतना प्राणका महत्त्व है इसलिये इसके प्राणके विषयमें कोई भी उदासीन न रहे। जब कोन स्वयं प्रश्न करे जो इसका चलन है वह स्वयं प्राण ही है। देखिये—

तीन लोक।

वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥
(बृ० १।५।४)

यह वाणी पृथिवीलोक है, मन अंतरिक्षलोक है और प्राण स्वर्गलोक है।"

इसीलिये प्राणायामके अभ्याससे स्वर्गधामकी प्राप्ति होती है। देखिये प्राणकी कितनी महत्ता है!! इस प्रकार उपनिषदोंमें प्राणविद्या है। विस्तार करनेकी कोई जरूरत नहीं है। इस-लिये आवश्यक वाक्योंका संग्रह यहां किया है। इससे उपनिषदों की प्राणविद्याकी कल्पना हो सकती है। जो पाठक इसकी और अधिक गहराई देखना चाहते हैं वे स्वयं उपनिषदोंमें इस को देख सकते हैं। आशा है कि पाठक इस प्रकार इस विद्याका अभ्यास करेंगे।

प्राणायामसे बहुत प्रकारकी शक्तियां प्राप्त होती हैं ऐसा प्राणके विविध वाक्योंमें लिखा है। प्राणायामका अभ्यास किए बिना ही उक्त शक्तियोंकी प्राप्ति होना असंभव है। अभ्यासके बिना शक्ति की प्राप्ति सर्वथा ही असंभव है। प्राणायामका अभ्यास करनेके लिये प्राणकी महत्ताकी कल्पना अवश्य होनेकी आवश्यकता है। यह कार्य सिद्ध होनेके लिये इस सूक्तका उपयोग हो सकता है। इस सूक्तका अच्छी प्रकार पढनेके पश्चात् मननद्वारा अपनी प्राणशक्तिका आकर्षण करना चाहिये। अपने प्राणका यह स्वरूप है उसका यह महत्त्व है और इसकी उपासनासे इस प्रकार लाभ हो सकता है इत्यादि विषयकी उत्तम कल्पना इस सूक्तके अभ्याससे होगी। इसकी कल्पना दृढ होनेके पश्चात् प्राणायामका अभ्यास करनेसे बहुत लाभ हो सकता है।

इति द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥

ब्रह्मचर्य ।

(५)

(ऋषिः—ब्रह्मा। देवता—ब्रह्मचारी)

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति ॥ १ ॥

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे ।
गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः
सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति ॥ २ ॥

अर्थ—ब्रह्मचारी (उभे रोदसी) पृथिवी और द्युलोक इन दोनोंको (इष्णन्) पुनः पुनः अनुकूल बनाता हुआ (चरति) चलता है, इसलिये (तस्मिन्) इस ब्रह्मचारीके अंदर सब देव (संमनसः) अनुकूल मनके साथ (भवन्ति) रहते हैं। (सः) वह ब्रह्मचारी पृथिवी और (दिवं) द्युलोकका धारण करता है और वह अपने तपसे अपने आचार्यको (पिपर्ति) परिपूर्ण बनाता है ॥ १ ॥

पितर, गंधर्व और देवजन ये (सर्वे) सब ब्रह्मचारीके अनुसरते हैं। (त्रयः त्रिंशत्) तीन तीस (त्रिशताः) तीन सौ और (षट्-सहस्राः) छः हजार देव हैं। (सर्वान् देवान्) इन सब देवोंका (सः) वह ब्रह्मचारी अपने तपसे (पिपर्ति) पालन करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—[१] पृथिवीसे लेकर द्युलोकपर्यंत जो जो विविध पदार्थ हैं उनको ब्रह्मचारी अपने अनुकूल बनाता है [२] इससे उस ब्रह्मचारीमें सब देव अनुकूल बनकर निवास करते हैं [३] इस प्रकार वह पृथिवी और द्युलोकको अपने तपसे धारण करता है और [४] इसी तपसे वह अपने आचार्यको भी परिपूर्ण बनाता है ॥ १ ॥

देव पितर आदि सब ब्रह्मचारीके सहायक होते हैं। और ब्रह्मचारी अपने तपसे उनका सहायक बनता है ॥ २ ॥

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ ३ ॥
इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥ ४ ॥
पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ ५ ॥
ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥ ६ ॥

अर्थ- ब्रह्मचारीको (उपनयमानः आचार्यः) अपने पास करनेवाला आचार्य उसको (अन्तः गर्भं) अपने अन्दर करता है। उस ब्रह्मचारीको अपने उदरमें (तिस्रः रात्रीः) तीन रात्रितक रखता है, जब वह ब्रह्मचारी (जातः) द्वितीय जन्म लेकर बाहर आता है, तब उसको देखनेके लिये सब (देवाः) विद्वान् (अभि संयन्ति) सब प्रकारसे इकट्ठे होते हैं॥३॥

(इयं पृथिवी) यह पृथ्वी पहिली (समित्) समिधा है और (द्वितीया) दूसरी समिधा (द्यौः) द्युलोक है। इन (समिधा) समिधाओंसे वह ब्रह्मचारी अन्तरिक्षकी (पृणाति) पूर्णता करता है। समिधा मेखला श्रम करनेका अभ्यास और तप इनके द्वारा वह ब्रह्मचारी सब (लोकान् पिपर्ति) लोकोंको पूर्ण करता है॥४॥

[ब्रह्मणः पूर्वः] ज्ञानके पूर्व [ब्रह्मचारी जातः] ब्रह्मचारी होता है। [घर्मं वसानः] उष्णता धारण करता हुआ तपसे (उत्+अतिष्ठत्) ऊपर उठता है। उस ब्रह्मचारीसे [ब्राह्मणं ज्येष्ठं ब्रह्म] ब्रह्मसंबंधी श्रेष्ठ ज्ञान [जातं] प्रसिद्ध होता है तथा सब देव अमृतके साथ होते हैं॥५॥

(१) (समिधा समिद्धः) तेजसे प्रकाशित (कार्ष्णं वसानः) कृष्णचर्म धारण करता हुआ (दीक्षितः) व्रतके अनुकूल आचरण करनेवाला और (दीर्घश्मश्रुः) बडी बडी दाढी मूंछ धारण करनेवाला ब्रह्मचारी (एति) प्रगति करता है। (२) (सः) वह (लोकान् संगृभ्य) लोगोंको इकट्ठा करता हुआ अर्थात् लोकसंग्रह करता हुआ और (मुहुः) वारंवार उनको (आचरिक्रत्) उपदेश देता है और (३) पूर्वसे उत्तर समुद्रतक (सद्यः एति) शीघ्र ही पहुंचता है॥६॥

भावार्थ- [१] जो आचार्य ब्रह्मचारीको अपने पास रखता है वह उसको अपने अन्दर ही धारण करता है। [२] मानो वह शिष्य उस गुरुके पेटमें तीन रात्रि रहता है और उस गर्भसे उसका जन्म हो जाता है। [३] जब वह द्विज बन जाता है तब उसका सन्मान सभी विद्वान् करते हैं॥३॥

पृथिवी और द्युलोक इनकी समिधाओंसे ब्रह्मचारी अन्तरिक्षकी पूर्णता करता है। तथा ब्रह्मचारी श्रम और तप आदि करके सब जनताको आधार देता है॥४॥

ज्ञानप्राप्तिके पूर्व ब्रह्मचारी बनना आवश्यक है। ब्रह्मचर्यमें श्रम और तप करनेसे उष्णता प्राप्त होती है। इस प्रकारके ब्रह्मचारीसे ही परमात्मसंबंधी श्रेष्ठ ज्ञान प्रसिद्ध होता है तथा देव अमरत्वके साथ संयुक्त होते हैं॥५॥

(१) समिधा कृष्णाजिन आदिसे सुशोभित होता हुआ बडी बडी दाढी मूंछ धारण करनेवाला तेजस्वी ब्रह्मचारी नियमानुकूल आचरण करनेके कारण अपनी प्रगति करता है। (२) अध्ययन समाप्तिके पश्चात् धर्मजागृति करता हुआ अपने उपदेशोंसे जनताको संगठित करता है और वारंवार उनमें चेतना लाता है। (३) इस प्रकार धर्मोपदेश करता हुआ वह पूर्व समुद्रसे उत्तरसमुद्रतक पहुंचता है॥६॥

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्।
गर्भो भूत्वाऽमृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह ॥ ७ ॥
आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ॥ ८ ॥
इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा ॥ ९ ॥
अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद् गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य।
तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत् केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् ॥ १० ॥ (१४)

जो (अमृतस्य योनौ) ज्ञानामृतके केन्द्रस्थानमें (गर्भः भूत्वा) गर्भरूप रहकर ब्रह्मचारी हुआ वही (ब्रह्म) ज्ञान (अपः) कर्म, (लोकं) जनता (प्रजा-पतिं) प्रजापालक राजा और (विराजं परमेष्ठिनं) विशेष तेजस्वी परमेष्ठी परमात्माको (जनयन्) प्रकट करता हुआ, अब (इन्द्रः भूत्वा) इन्द्र बनकर (ह) निश्चयसे (असुरान् ततर्ह) असुरोंका नाश करता है ॥ ७ ॥

[इमे] ये (उर्वी गम्भीरे) बडे गंभीर (उभे नभसी) दोनों लोक (पृथिवीं दिवं च) पृथिवी और द्युलोक आचार्यने [ततक्ष] बनाये हैं। ब्रह्मचारी अपने तपसे (ते रक्षति) उन दोनोंका रक्षण करता है। इसलिये (तस्मिन्) उस ब्रह्मचारीके अंदर सब देव अनुकूल मनसे साथ रहते हैं ॥ ८ ॥

(प्रथमः ब्रह्मचारी) पहिले ब्रह्मचारीने (पृथिवीं भूमिं) इस विस्तृत भूमिकी तथा (दिवं) द्युलोककी (भिक्षां आजभार) भिक्षा प्राप्त की है। अब वह ब्रह्मचारी (ते समिधौ कृत्वा) उनकी दो समिधायें करके (उपास्ते) उपासना करता है। क्योंकि (तयोः) उन दोनोंके बीचमें सब भुवन (आर्पिता) समर्पित हैं ॥ ९ ॥

[अन्यः अर्वाक्] एक पास है और [अन्यः दिवः पृष्ठात् परः] दूसरा द्युलोकके पृष्ठभागसे परे है। ये दोनों [निधी] कोश [ब्राह्मणस्य गुहा] ज्ञानीकी बुद्धिमें (निहितौ) रखे हैं। [तौ] उन दोनों कोशोंका संरक्षण ब्रह्मचारी अपने तपसे करता है। तथा वही विद्वान् ब्रह्मचारी [तत् केवलं ब्रह्म] वह केवल ब्रह्मज्ञान [कृणुते] विस्तृत करता है, ज्ञान फैलाता है ॥ १० ॥

आचार्य जो एक समय आचार्यके पास विद्यामाताके गर्भमें रहता था वही ब्रह्मचारी विद्याध्ययनके पश्चात् ज्ञान कर्म प्रजा और राजाका धर्म और परमात्माका स्वरूप इन सबका प्रचार करता रहा, अब वही अनुशासक वीर बनकर शत्रुओंका नाश करता है ॥ ७ ॥

आचार्य ही पृथिवीसे लेकर द्युलोकतक सब पदार्थोंका ज्ञान ब्रह्मचारीको देता है मानो वह अपने शिष्यके लिये ये लोक बना देता है। ब्रह्मचारी अपने तपसे उनका संरक्षण करता है। अतः उस ब्रह्मचारीमें सब देवता रहते हैं ॥ ८ ॥

ब्रह्मचारीने प्रथमतः भिक्षामें द्युलोक और पृथिवीलोकको प्राप्त किया। इन दो लोकोंमें ही सब भुवन स्थापित हुए हैं। दोनों लोकोंकी प्राप्ति होनेपर वही ब्रह्मचारी अब उन दोनों लोकोंकी दो समिधायें बनाकर ज्ञानयज्ञ करता है ॥ ९ ॥

स्थूल शरीर और मन ये दो कोश मनुष्यमें हैं ॥ १० ॥

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे।
तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि दृढास्ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ॥११॥
अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥१२॥
अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् ब्रह्मचार्यप्सु समिधमा दधाति।
तासामर्चींषि पृथगभ्रे चरन्ति तासामाज्यं पुरुषो वर्षमापः ॥१३॥
आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम् ॥ १४ ॥
अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ।
तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत् स्वान् मित्रो अध्यात्मनः ॥ १५ ॥

अर्थ—(अर्वाङ् अन्यः) इधर एक है और [इतः पृथिव्याः अन्यः] इस पृथिवीसे परे दूसरा है। ये [अग्नी] दोनों अग्नि [इमे अन्तरा नभसी] इन पृथिवी और द्युलोकके बीचमें [समेतः] मिलते हैं। [तयोः दृढाः रश्मयः] उनकी दृढ किरणें [अधि श्रयन्ते] रहती हैं। ब्रह्मचारी तपसे [तान् आतिष्ठति] उन किरणोंका अधिष्ठाता होता है ॥ ११ ॥

[अभिक्रन्दन् स्तनयन्] गर्जना करनेवाला [अरुणः शितिङ्गः] लाल और काले रंगसे युक्त [बृहत् शेपः] बडा प्रभावशाली (ब्रह्मचारी) ब्रह्म अर्थात् उदकको साथ ले जानेवाला मेघ [भूमौ अनु जभार] भूमिमें वीर्य पोषण करता है। तथा [सानौ पृथिव्यां] पहाड और भूमिपर [रेतः सिञ्चति] जलकी वृष्टि करता है। [तेन] उससे [चतस्रः प्रदिशः जीवन्ति] चारों दिशायें जीवित रहती हैं ॥ १२ ॥

अग्नि सूर्य चंद्रमा वायु [अप्सु] जल इनमें ब्रह्मचारी समिधा डालता है। इनके तेज पृथक् पृथक् [अभ्रे] मेघोंमें संचार करते हैं। (तासां) उनसे (सर्पिः) घृत (आपः) जल और (आज्यं) घी और पुरुषकी उत्पत्ति होती है ॥ १३ ॥

आचार्य ही मृत्यु वरुण सोम औषधि तथा पयरूप है। उसके जो (सत्वानः) सात्त्विक भाव हैं वे (जीमूताः) मेघरूप हैं क्योंकि (तैः) उनके द्वारा ही (इदं स्वः आभृतं) यह स्वर्ग लाया गया है ॥ १४ ॥

(अमा) घरमें रहनेवाला (केवलं घृतं) केवल घृत तैयार करता है। आचार्य वरुण बनकर (प्रजापतौ) प्रजापालकके विषयमें (यत् यत् ऐच्छत्) जो जो चाहता है (तत्) उसको मित्र ब्रह्मचारी (स्वात् आत्मनः) अपनी आत्मशक्तिसे (प्रति अयच्छत्) देता है ॥ १५ ॥

भावार्थ— दो अग्नि हैं जो इस त्रिलोकीमें कार्य कर रहे हैं उनका अधिष्ठाता ब्रह्मचारी है ॥ ११ ॥
मेघ ब्रह्मचारी है वह जल द्वारा भूमि की तृप्ति करता है। ब्रह्मचारी उसके समान कार्य करे ॥ १२ ॥
ब्रह्मचारीका अग्निहोत्र उनके आश्रयसे आहुति डालकर जगत्का पोषण करता है ॥ १३ ॥
आचार्य देवतामय है वह ब्रह्मचारीके मनमें प्रकाश करता है ॥ १४ ॥
गुरुकुलमें रहनेवाले ही दिव्य तेज अथवा तेजस्वी ब्राह्मण प्रकाश उत्पन्न होता है। आचार्य वरुण बनकर जो इच्छा करता है उसकी पूर्ति शिष्य अपनी शक्तिके अनुसार करता है ॥ १५ ॥

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः। प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद् वशी ॥१६॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति। आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥१७॥
ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्। अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीषति ॥१८॥
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व१राभरत् ॥१९॥
ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः। संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥२०॥
पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ २१ ॥

अर्थ— आचार्य ब्रह्मचारी होना चाहिये [प्रजापतिः] प्रजापालक भी ब्रह्मचारी होना चाहिये। इस प्रकारका प्रजापति [विराजति] विशेष शोभता है। जो [वशी] वशमें [वि राट्] राजा होता है, वही इन्द्र बनता है ॥ १६ ॥

ब्रह्मचर्यरूप तपके प्रभावसे राजा राष्ट्रका विशेष संरक्षण करता है। आचार्य भी ब्रह्मचर्यके साथ रहनेवाले ब्रह्मचारीकी इच्छा करता है ॥ १७ ॥

कन्या ब्रह्मचर्य पालन करनेके पश्चात् तरुण पतिको (विन्दते) प्राप्त करती है। [अनड्वान्] बैल और (अश्वः) घोडा भी ब्रह्मचर्य पालन करनेसेही घास खाता है ॥ १८ ॥

ब्रह्मचर्यरूप तपसे सब देवोंने मृत्युको (अप अघ्नत) दूर किया। इन्द्र ब्रह्मचर्यसे ही देवोंके (स्वः) तेज (आभरत्) देता है ॥ १९ ॥

औषधियां वनस्पतियां (ऋतुभिः सह संवत्सरः) ऋतुओंके साथ गमन करनेवाला संवत्सर, अहोरात्र, भूत और (भव्यं) भविष्य ये सब ब्रह्मचारी (जाताः) हो गये हैं ॥ २० ॥

(पार्थिवाः) पृथिवीपर उत्पन्न होनेवाले (आरण्याः ग्राम्याः) अरण्य और ग्राममें उत्पन्न होनेवाले जो (अपक्षाः) पक्षहीन पशु हैं तथा (दिव्याः पक्षिणः) आकाशमें संचार करनेवाले जो पक्षी हैं वे सब ब्रह्मचारी (जाताः) बने हैं ॥ २१ ॥

भावार्थ— सब आचार्य ब्रह्मचारी होने चाहिये सब राज्याधिकारी—प्रजापालनके कार्यमें नियुक्त पुरुष भी ब्रह्मचारी ही होने चाहिये। जो योग्य रीतिसे प्रजाका पालन करेंगे वेही सुशोभित होंगे तथा जो जितेंद्रिय राजपुरुष होंगे वेही इन्द्र कहलावेंगे ॥ १६ ॥

राजा राजधर्मरूपी तप और जीवनमें ब्रह्मचर्य पालन करके राष्ट्रका विशेष रक्षण करता है। अध्यापक भी ऐसे ब्रह्मचारीकी इच्छा करता है कि जो ब्रह्मचर्यका पालन करता है ॥ १७ ॥

ब्रह्मचर्य पालन करनेके पश्चात् कन्या अपने योग्य पतिको प्राप्त करती है। बैल और घोडा भी ब्रह्मचारी रहते हैं, इसीलिये घास खाकर बडे बल रखते हैं ॥ १८ ॥

ब्रह्मचर्यका पालन करनेके कारण ही सब देव अमर बने हैं। तथा ब्रह्मचर्यके सामर्थ्यसे ही देवराज इन्द्र सब देवोंको तेज दे सकता है ॥ १९ ॥

सब विश्व ब्रह्मचर्यसे युक्त है ॥ २० ॥

सब प्राणी अपनेमें ही ब्रह्मचारी हैं ॥ २१ ॥

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति ।
तान्त्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥ २२ ॥
देवानामेतत् परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ २३ ॥
ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः ।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥ २४ ॥
चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ॥ २५ ॥
तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे ।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥ २६ ॥ [१६]

अर्थ—(सर्वे प्राजापत्याः) प्रजापति परमात्मासे उत्पन्न हुए हुए सब ही पदार्थ पृथक् पृथक् (आत्मसु प्राणान्) अपने अंदर प्राणोंको (बिभ्रति) धारण करते हैं । (ब्रह्मचारिणि आभृतं) ब्रह्मचारीमें रखा हुआ (ब्रह्म) ज्ञान (तान् सर्वान् रक्षति) उन सबका रक्षण करता है ॥ २२ ॥

देवोंका (एतत्) यह (परि—सूतं) उत्साह देनेवाला (अन् अभ्यारूढं) सबसे श्रेष्ठ (रोचमानं) तेज (चरति) चलता है । उससे (ब्राह्मणं) ब्राह्मणको (ज्येष्ठं ब्रह्म) श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त हुआ है और (अमृतेन साकं) अमर अमृतके साथ (सर्वे देवाः) सब देव प्रकट हो गये ॥ २३ ॥

(भ्राजत् ब्रह्म) चमकनेवाला ज्ञान ब्रह्मचारी धारण करता है । इसलिये उसमें सब देव (अधि समोताः) रहे हैं । वह प्राण अपान व्यान वाचा मन हृदय, ज्ञान (ब्रह्म) और मेधा (च अद्) प्रकट करता है ॥ इसलिये हे ब्रह्मचारी ! (अस्मासु) हम सबमें चक्षु, श्रोत्र, यश अन्न (रेतः) वीर्य, (लोहितं) रुधिर और (उदरं) पेट (धेहि) पुष्ट करो ॥ २४-२५ ॥

ब्रह्मचारी [तानि] उनके विषयमें [कल्पद्] योजना करता है । [सलिलस्य पृष्ठे] जलके समीप तप करता है । इस ज्ञानसमुद्रमें [तप्यमानः] तप्त होनेवाला वह ब्रह्मचारी [स स्नातः] जब स्नातक हो जाता है तब [बभ्रुः पिङ्गलः] अत्यंत तेजस्वी होनेके कारण वह इस पृथिवीपर बहुत चमकता है ॥ २६ ॥

भावार्थ— ब्रह्मचारी का तेज सबकी रक्षा करता है ॥ २२ ॥
ब्रह्मचर्यके तेजसे अमर हुए हैं ॥ २३ ॥
ब्रह्मचारीके तेजसे सबकी पुष्टि होती है ॥ २४–२५ ॥
ब्रह्मचारी अपने तेजसे विराजता है ॥ २६ ॥

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः। प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी ॥१६॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति। आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥१७॥
ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्। अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥१८॥
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व१राभरत् ॥१९॥
ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः। संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥२०॥
पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥२१॥

अर्थ— आचार्य ब्रह्मचारी होना चाहिये [प्रजापतिः] प्रजापालक भी ब्रह्मचारी होना चाहिये। इस प्रकारका ब्रह्मचारी [विराजति] विशेष शोभता है। जो [वशी] संयमी [वि-राट्] राजा होता है, वही इन्द्र कहलाता है॥ १६॥

ब्रह्मचर्यरूप तपके सामर्थ्यसे राजा राष्ट्रका विशेष संरक्षण करता है। आचार्य भी ब्रह्मचर्यके साथ रहनेवाले ब्रह्मचारीकी इच्छा करता है॥ १७॥

कन्या ब्रह्मचर्य पालन करनेके पश्चात् तरुण पतिको (विन्दते) प्राप्त करती है। [अनड्वान्] बैल और (अश्वः) घोडा भी ब्रह्मचर्य पालन करनेसेही घास खाता है॥ १८॥

ब्रह्मचर्यरूप तपसे सब देवोंने मृत्युको (अप अघ्नत) दूर किया। इन्द्र ब्रह्मचर्यसे ही देवोंके (स्वः) तेज (आभरत्) लाता है॥ १९॥

औषधियां वनस्पतियां (ऋतुभिः सह संवत्सरः) ऋतुओंके साथ गमन करनेवाला संवत्सर, अहोरात्र, भूत और (भव्यं) भविष्य ये सब ब्रह्मचारी (जाताः) हो गये हैं॥ २०॥

(पार्थिवाः) पृथ्वीपर उत्पन्न होनेवाले (आरण्या ग्राम्याश्च) अरण्य और ग्राममें उत्पन्न होनेवाले जो (अपक्षाः) पंखहीन पशु हैं तथा (दिव्याः पक्षिणः) आकाशमें संचार करनेवाले जो पक्षी हैं ये सब ब्रह्मचारी (जाताः) बने हैं। २१॥

भावार्थ— सब शिक्षक ब्रह्मचारी होने चाहिये तथा राज्यशासन करनेवाले—प्रजापालनके कार्यमें नियुक्त पुरुष भी ब्रह्मचारी ही होने चाहिये। जो योग्य रीतिसे प्रजापालन करेंगे वही सुशोभित होंगे तथा जो जितेन्द्रिय राजपुरुष होंगे वेही इन्द्र कहलावेंगे॥ १६॥

राजा राज्यशासनके कार्यमें ब्रह्मचर्य पालन करके राष्ट्रका विशेष रक्षण करता है। अध्यापक भी ऐसे ब्रह्मचारीकी इच्छा करता है कि जो ब्रह्मचर्यका पालन करता है॥ १७॥

ब्रह्मचर्य पालन करनेके पश्चात् कन्या अपने योग्य पतिको प्राप्त करती है। बैल और घोडा भी ब्रह्मचारी रहते हैं इसलिये घास खाकर बने रहते हैं॥ १८॥

ब्रह्मचर्यके पालन करनेके कारण ही सब देव अमर बने हैं। तथा ब्रह्मचर्यके सामर्थ्यसे ही देवराज इन्द्र सब इतर देवोंको तेज देता है॥ १९॥

सब विश्व ब्रह्मचर्यसे युक्त है॥ २०॥

सब प्राणी अपनेसे ही ब्रह्मचारी हैं॥ २१॥

करता है, और अन्य प्रकार देवोंकी सहाय करनेका यत्न करता है। इस तत्त्वज्ञानसे वह भी मनुष्य आर्य बनकर होकर उनके साथ मिलकर उनके शरीरमें निवास करने लगते हैं। इसका वर्णन आगेके मन्त्रभागमें है —

देवताओंकी अनुकूलता।

जो ब्रह्मचारी उक्त प्रकार व्रतोंका निरीक्षण और शुभ ग्रहण करता है, उसमें अनेक प्रकार विशेष अनेक देवता उसके सब अनुकूल बनकर रहते हैं। वेद कहता है कि—

'तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति।' अर्थात् उस ब्रह्मचारीमें सब देव अनुकूल मनके साथ रहते हैं। उसके शरीरमें जिन जिन देवताओंके अंश हैं वे सब उस ब्रह्मचारीके मनके अनुकूल अपना मन बनाकर उसके शरीरमें निवास करते हैं। आगे शरीरमें देवताओंका निवास किस प्रकारसे होता है सो देखिए—

१ अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्,
२ वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्,
३ आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्,
४ दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्,
५ ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्,
६ चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्,
७ मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्,
८ आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्

(ऐतरेय उ० १।२।४)

(१) अग्नि वाणीरूप होकर उसके मुखमें प्रविष्ट हुआ (२) वायु प्राण बनकर नासिकामें संचार करने लगा (३) सूर्य चक्षुका रूप धरके आंखोंके स्थानमें निवास किया (४) दिशाएं श्रोत्र बनकर कानोंमें रहने लगीं (५) औषधिवनस्पतियां लोम बनकर त्वचामें रहने लगीं (६) चन्द्रमा मन बनकर हृदयस्थानमें आरूढ हुआ (७) मृत्यु अपान होकर नाभिस्थानमें रहने लगा (८) जलदेवता रेत बनकर शिश्नमें रहने लगी।

इस ऐतरेय उपनिषद्के वचनानुसार अग्नि वायु रवि दिशा चन्द्र मृत्यु आप इन आठ देवताओंका निवास मनुष्य शरीरमें हुआ है। पाठक जान सकते हैं कि इसी प्रकार अन्य देवता भी न्यूनाधिक प्रमाणसे शरीरमें हैं और जिसका बनना

देवता बनता है उसके अंश मनुष्यके शरीरमें भी देव स्थानोंमें रहते हैं। इस प्रकार हमारा एक एक शरीर सब देवताओंका निवास स्थान है और इसका अधिष्ठाता आत्मा है तथा इसी आत्माकी शक्ति सब देवताओंमें प्रविष्ट होकर कार्य करती है; इसका अधिक विचार करनेके लिए अथर्ववेदके निम्न लिखित मन्त्र देखने योग्य हैं—

१ दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान्विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत्॥ ३
२ ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते॥ १०
३ संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन्।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन्॥ १३
४ यदा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः।
गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन्॥ १८
५ अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन्।
रेतः कृत्वाऽऽज्यं देवाः पुरुषमाविशन्॥ २९
६ या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः॥ ३०
७ सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये॥ ३१
८ तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते॥ ३२

(अथर्व ११।८)

"(१) सबसे प्रथम (दश साकं देवाः) दस देव साथ ही प्रकट हो गए। जो इनको प्रत्यक्ष (विद्यात्) जानेगा वह (अद्य) आज (महत् वदेत्) महत् ब्रह्मके विषयमें बोलेगा। (२) जो पहिले दस देव हुए थे पुत्रोंको स्थान देकर स्वयं किस लोकमें रहने लगे हैं? (३) निःसंदेह संसिच नामक वे देव हैं कि जो सब सामग्री एकत्र करते हैं। (देवाः) वे देव सब (मर्त्यं) मरणधर्मी शरीरको सिंचित करके पुरुषमें प्रविष्ट हुए हैं। (४) जो (त्वष्टुः पिता) त्वष्टाका पिता (उत्तरः त्वष्टा) अधिक उत्तम कारीगर है वह इस शरीरमें छेद करता है तब मरणधर्मवाला (गृहं) घर बनाकर सब देव इस पुरुषमें प्रविष्ट होते हैं। (५) हड्डी की समिधाएं और जलोंको बनाकर (रेतः आज्यं) वीर्यको घी बनाकर देवोंने पुरुषमें प्रवेश किया है। (६) जो आप तथा अन्य देवता

है और सबके मध्य वर्तमान जो विराट् है उसीने उन सबके प्राण (का प्र प न) शरीरमें प्रविष्ट हुआ है और पश्चात् वही मैं अमृत हुआ है। (७) सूर्य चक्षु बना; वायु प्राण हुआ । ... इस पुरुषमें रहने लगे, पश्चात् इसके ... प्रविष्ट किये अपना किया। (८) इस-लिये इस पुरुषको (ब्रह्म) आत्मतत्त्वका ज्ञानी (...) यह ब्रह्म है ऐसा (मानते) मानता है। क्योंकि इसमें सब देवताएं उस प्रकार रहती हैं, कि जैसे गायें गोशालामें रहती हैं।

इन मंत्रोंमें स्पष्ट कहा है कि अग्नि वायु आदि देवताएं इस शरीरमें निवास करती हैं। अर्थात् प्रत्येक देवताका छोटा छोटा अंश इस शरीरमें निवास करता है। यही देवोंका ... रूप है। जो इस प्रकार अपने शरीरमें देवताओंके अंशोंको जानता है वह अपनी आत्माकी शक्ति जान सकता है। और जो शरीरमें रहनेवाले देवताओंके समेत अपनी आत्माको जानता है वही परमेष्ठी परमात्माको जानता है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

> ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्।
> यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्।
> ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः॥
>
> (अथर्व. १०।७।१७)

"जो पुरुषमें ब्रह्म जानते हैं वे परमेष्ठीको जानते हैं। जो परमेष्ठीको जानता है और जो प्रजापतिको जानते हैं तथा जो (ज्येष्ठ ब्राह्मण) श्रेष्ठ ब्रह्मको जानते हैं वे स्कम्भको उत्तम प्रकार जानते हैं।"

अपने शरीरके अंदर ब्रह्मका अनुभव करना यह प्रथम है। परमात्माके साक्षात्कारका यही मार्ग है। इस लिये अपने शरीरमें देवताओंके अंशोंका ज्ञान प्राप्त करके उन देवताओंके अधिष्ठाता जो एक आत्मा है उसका अनुभव प्राप्त करना चाहिये। पूर्वोक्त ... प्रत्येक देवताके भिन्न भिन्न स्थान यहां हैं। ... में उन देवताके अंशका स्थान जान लेना चाहिए।

बाहरके भूमिमें अग्नि वायु आदि देवता निवास करते हैं। उनके अंश ... में आकर रहते हैं और इस प्रकार ... प्रत्यक्ष अर्थात् ... जाना है। यहां प्रश्न हो सकता है कि ये सब देवता सबके साथ हैं, या मनुष्य ... है। इस प्रश्नका उत्तर ब्रह्मचर्य-सूक्तके मंत्रमें ही दिया है कि ... देवाः संमनसो भवन्ति" अर्थात् 'इस ब्रह्मचारीमें सब देव अनुकूल मन धारण करते रहते हैं।' इस मंत्रके 'संमनसः देवाः' ये दो शब्द विशेष महत्त्वके बोधक हैं। इनका अर्थ देखिये—

सं-मिले हुए अनुकूल ... मनस् मनसे युक्त,

देवाः— अग्नि आदि देव तथा शरीरमें निवास करनेवाले देवताओंके अंश।

जो ब्रह्मचारी सूक्तवर्णित अग्नि वायु आदि देवताओंका निरीक्षण और अनुकरण करके उनके अनुकूल बनाकर उनके अनुकूल व्यवहार करता है, उस ब्रह्मचारीके साथ वे देव अर्थात् उनके अंश अनुकूल बनकर रहते हैं। तात्पर्य यह कि ब्रह्मचारीके साथ सब देवता मन मिलाकर उसके देह निवास करते हैं।"

प्रत्येक इंद्रिय एक एक देव है और यह देव इस ब्रह्मचारीके अनुकूल होकर रहता है। इस मंत्रका तात्पर्य ब्रह्मचारीकी सब इंद्रियशक्तियां उसके वशमें होती हैं इतना ही है। प्रत्येक देवताका मन भिन्न भिन्न होता है। अर्थात् प्रत्येक इंद्रियाभिमानी देवताका मन भी भिन्न भिन्न होता है। ... ... सुख ... आंखें ... आदि प्रत्येक इंद्रिय और अवयवका मन भिन्न है परंतु उनके विभिन्न मनोंको अपने ... जीवात्माका मुख्य मन होता है। ब्रह्मचर्यके नियमानुसार आचरण करके जो ब्रह्मचारी बनता है उसके शरीरमें निवास करनेवाले देवताओंके अंश सब ठीक मनके अनुकूल अपना मन धारण करके उसके अनुकूल ही अपना कार्य करनेमें तत्पर होते हैं। परंतु जो नियम छोडकर जैसा चाहे व्यवहार करता है उस स्वच्छंद पुरुषके इंद्रिय ... देवता सब ही स्वेच्छाचारी होते हैं। और प्रत्येक इंद्रिय स्वच्छंद है इस लिये इस मनुष्यको ही ... होते हैं। इसलिये ब्रह्मचारीको उचित है कि वह नियमपूर्वक ... करके शरीरस्थानीय सब देवताओंको अपने आधीन रखें और अपनी इच्छानुसार उनसे उत्तम कार्य लेता रहे।

देवताओंका साम्राज्य

अपने शरीरके इस प्रकार देवताओंका साम्राज्य है ऐसा ... और सब देवताओंका अधिष्ठाता मैं हूं इस विचारको अपने मनमें दृढ करना चाहिये। अपनी सब शक्ति शरीरकी

प्रत्येक इंद्रियमें आकर रही देवता विलक्षण कार्य करती है यह विचारपूर्वक देखनेसे अपनी शक्तिका अनुभव हरएकको प्राप्त हो सकता है। इस अनुभवसे इन्द्रियदमन और इन्द्रियसंयम सुगम होता है।

प्रत्येक इंद्रिय भिन्न भिन्न कार्य करती है। इन देवताओंमें मुख्य तीन वर्ग हैं। तीन लोक तथा तीन प्रकारके देवताओंके तीन वर्ग हैं। सर्व देवताओंका निवास शरीरमें है एवं कहनेके साथ ही ... है, यह बात स्पष्ट ही हो गई। क्योंकि भूलोक भुवर्लोक और स्वर्लोक इन तीन स्थानोंमें ही सब देवता रहते हैं। अब इन तीनों लोकोंके एक एक पदार्थका अंश शरीरमें आता है तो शरीरमें त्रिलोकी ही कैसी बनकर यह मानवदेह बनाया गया है। इस विषयका स्पष्टीकरण निम्न स्थानमें दिये कोष्टकसे हो सकता है—

इस प्रकार सारी त्रिलोकी इस शरीरमें आती है। इसी कारण कहा जाता है कि यह ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यका आधार है। देखिए — 'स दाधार पृथिवीं दिवं च' अर्थात् यह पूर्वोक्त ब्रह्मचारी पृथिवी और द्युलोक तथा तदन्तर्गत बीचके अंतरिक्ष लोकका भी आधार देता है। यह बात उक्त कोष्टकसे अब स्पष्ट हो चुकी है। इस प्रकार वेदका प्रत्येक भाग अनुभवसे जाना जा सकता है। यहां किसी चमत्कारकी कल्पना करनेकी आवश्यकता ही नहीं है। प्रत्येक मनुष्य विचारकी दृष्टिसे यह सब बातें अपने अंदर ही देख सकता है। केवल काल्पनिक बातें वेदमें नहीं हैं, प्रत्यक्ष अनुभवकी बातें ही वेद वर्णन करता है। परंतु उसको प्रत्यक्ष देखनेकी रीतिसे ही देखना चाहिये। जो रीति यहां बताई है उससे प्रत्येक मनुष्य अपने अंदर ही सब बातें प्रत्यक्ष देख सकता है।

त्रिलोकीका कोष्टक ।

(ब्रह्म) (ब्रह्मांड) समष्टि लोक

लोक	देवता		मनुष्यके इंद्रिय
स्वर्ग लोक [द्युलोक स्वः]	द्यौः, सूर्य, दिशा, अग्नि	— सिर —	सिर, आंख, कान, मुख वागिन्द्रिय
भुवर्लोक [अन्तरिक्षलोक भुवः]	इंद्र, चंद्र, वायु और मरुत्	गला और धड़	आत्मा, मन, मुख्य और गौण प्राण
भूलोक [पृथिवी लोक भूः]	मृत्यु, आप-जल, भूमि	नाभिके नीचे भाग	अपान, रेत वीर्य, पांव

शरीरस्थ (पिंडांड व्यष्टि)

अब मंत्रका अंतिम भाग रहा है। वह यह है " स आचार्यं तपसा पिपर्ति । " अर्थात् " ब्रह्मचारी अपने तपसे अपने आचार्यका पालन और पूर्णत्व करता है। " जो तप ब्रह्मचारी करता है उसका स्वरूप मंत्रके भिन्न भागोंमें कहा ही है। सबके मन एक देवताओंका निरीक्षण करना उनको अपने अनुकूल बनाना, उनके अनुकूल स्वयं व्यवहार करना तथा अपने शरीरमें जो उनके अंश रहते हैं, उनको उनके अनुकूल बनाना यह सब तप ही है। इस प्रकारका तप जो ब्रह्मचारी करता है वह आचार्यको परिपूर्ण बनाता है। अर्थात् नियम विरुद्ध आचरण करनेवाले शिष्य भी गुरुकी पूर्णता तो क्या करेंगे परंतु वे उसमें न्यूनता ही उत्पन्न करते हैं यह बात स्पष्ट ही है।

उक्त मंत्रभागमें " पिपर्ति " पद है। इसका अर्थ (१) पालन करता है और (२) परिपूर्ण करता है यह है। तात्पर्य यह कि आचार्यके पालनपोषणका भार विद्यार्थियोंपर [शिष्य विद्यार्थियोंके आचरणपर] होता है तथा आचार्यकी इच्छा पूर्ण करनेका भार भी विद्यार्थियोंपर ही रहता है।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि देव पितर गंधर्व और मनुष्य ये चारों वर्गोंके लोग ब्रह्मचारीका अनुसरण करते हैं। यह मंत्रका प्रथम भाग है। ब्रह्मचारी जैसा आचरण करता है वैसा ही व्यवहार इतर लोग करने लगते हैं। यह बात ब्रह्मचारीके आचरणका महत्त्व [illegible] इससे ब्रह्मचारीपर एक विलक्षण जिम्मेवारी आ जाती है। यदि कोई दोष ब्रह्मचारीके आचरणमें होगा तो उसका अनुकरण अन्य लोग करेंगे।

निःसंदेह गुरुओं और अपने बडोंका अनुकरण स्वाभाविक होता है। जैसा मनुष्य बडा आचरण करता है वैसा अन्य जन करते हैं ऐसा कहते हैं। परंतु यह नियम आचारके अनुकरणकी अपेक्षा दुराचारके अनुकरणके समय में अधिक प्रमाण में लागू होता है !! यदि बडा आदमी अच्छा आचरण करेगा तो उसके अनुसार छोटे आदमी आचरण करेंगे यह निश्चित नहीं है परंतु यदि बडा आदमी बुरे कर्म करेगा तो उनका अनुकरण अन्य लोग अवश्य करेंगे। इसलिये बडे आदमीको अपना आचरण विचारपूर्वक शुद्ध रखना चाहिये। यही जिम्मेवारी ब्रह्मचारीपर भी रहती है क्योंकि उसके [illegible] प्रशंसा होनी चाहिये [illegible] लोग उसके समान व्यवहार करेंगे। यह बात इसके विशेष [illegible] आता है

उसपर इसी प्रकार जिम्मेवारी होती है इसलिये ब्रह्मचारीको अपनी जिम्मेवारी समझकर व्यवहार करना उचित है।

प्रत्येक प्राणिमात्रमें जो चातुर्वर्ण्य है वह अध्यात्ममें देखो भी है। अर्थात् हमारे देहमें चार वर्ण एक दूसरेके साथ मिलजुलकर रहते हैं, अनुकूल होकर रहते हैं। शरीरके अंदर ज्ञान [illegible] करके [illegible] करनेमें भी भाग है [illegible] समझिये। [illegible] सूक्ष्म [illegible] हैं उनका अधिक [illegible] होते हैं [illegible] कर सकते हैं और जो स्थूल [illegible] शरीरमें [illegible] और अधिक [illegible] भी [illegible] चाहिये। चातुर्वर्ण्यके चार वर्ण भी इस मंत्रमें आये हैं वे भी पुनरुक्त तथा [illegible] ही हैं।

मंत्रमें कहा है कि देव पितर, गंधर्व और देवजन ये सब ब्रह्मचारीके अनुकूल होकर चलते हैं अर्थात् अनुकूल बनकर अपना अपना कार्यव्यवहार करते हैं। यह [illegible] है उससे यह पुष्ट [illegible] शरीरके [illegible] अंदर सब है। अग्निके [illegible] पृथ्वी—जल आदि भूत आधार तत्त्व ब्रह्मचारीके अनुकूल होकर रहते हैं। ब्रह्मचारीके शरीरकी सब शक्तियां उसके अनुकूल रहती हैं। क्योंकि वह तेजस्वी पुरुष होता है। शरीरमें देवों, अवयवों [illegible] और तत्त्वोंका चातुर्वर्ण्य है वह सभी उसको अनुकूल होता है। यह बात अब पाठकोंके मनमें आ गई होगी। इस [illegible] विचार करनेपर इस वैदिक मार्गका प्रकाश पाठकोंके मनमें पड सकता है और वैदिक विचारकी सूक्ष्मता भी ज्ञात हो सकती है।

तीन और तीस देव ।

अग्नि वायु [illegible] [illegible] में चातुर्वर्ण्य है [illegible] करनेवालोंके [illegible] में चातुर्वर्ण्य है वह [illegible] सिद्ध हो चुका है क्योंकि संपूर्ण देवता [illegible] ही समाविष्ट है। अर्थात् जो उनके गुणधर्म चार हैं, वे ही [illegible], इसमें विवाद नहीं हो सकता। अब इन देवताओंकी संख्या कितनी है इसका उत्तर इस मंत्रने निम्नप्रकार दिया है

त्रयः	—तीन	३
त्रिंशत्	—तीस	३०

त्रिशताः —तीन सौ ३००
षट् सहस्राः —छः हजार ६०००

यहांके मन्त्रके स्पष्टीकरणके रूपमें बताना ही है कि, अग्निसे निकला मात्र पृथिवी स्थान व, वायुसे अंतरिक्षस्थानीय और सूर्य द्युस्थानीय है। अर्थात् हर एकके अंदरके इन तीनों स्थानोंमें रहनेवाले सब देव हैं। वेदोंमें कहा है कि प्रत्येक स्थानमें ग्यारह ग्यारह देवता हैं उनमें भी एक एक मुख्य है।

शिरमें मस्तिष्क है उसकी देवता सूर्य है। हृदयमें मन और प्राणकी देवता चन्द्र वायु है। तथा जठरमें अग्निदेवता है। इस प्रकार तीनों स्थानोंमें ये तीन देवताएं मुख्य हैं। प्रत्येक देवताके साथ दस दस देवताएं हैं। तीन मुख्य और तीस मिलकर ३३ संख्या होती है प्रत्येक स्थानमें एक एक भागमें रहती है। अर्थात् ३३ देवताओंके आधीन ३३ अंग हैं। इस भावको वेद निम्नमन्त्रमें देखिए—

(१) यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः ॥ १३ ॥
(२) यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे ।
तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥
(३) यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा ।
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥ २३ ॥
(अथर्व. १०।७)

"(१) जिसके अंगमें तैंतीस देव रहे हैं। (२) जिसके अंगोंके साथ ये तैंतीस देव विभक्त हुआ करते हैं उन तैंतीस देवोंको ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही केवल जानते हैं। (३) तैंतीस देव जिसका कोश सदा रक्षण करते हैं, उस निधिको आज कौन जानता है?"

यह वर्णन परम स्थानमें पूर्णरूपसे और जीवात्मामें अंशरूपसे समझना है। क्योंकि यह बात पूर्व स्थलमें कही ही है कि अग्नि इन्द्र सूर्य आदि देवता पूर्णरूपसे परमात्माके साथ रहतेमें हैं और अंशरूपसे जीवात्माके साथ रहते हैं। ब्रह्माण्डस्थ, पिण्डस्थ और व्यक्तिस्थ तथा अध्यात्मरूप और अनुरूप जोड़ दिया जाय तो स्पष्टरूपसे दोनोंका वर्णन एक जैसा ही हुआ करता है। वेदमें इस प्रकारके वर्णन बहुतसे स्थानोंमें हैं।

तीन को सात इन्द्रिय कह सकते हैं। ये तैंतीस देव मेरुदण्डमें रहते हैं। "मेरुदण्ड पृष्ठवंश है" जिसको मेरुदण्ड आदि कहा जाता है। इस पृष्ठवंशमें ऊपरकी ओर हड्डियां एकके ऊपर दूसरी ऐसी लगी हैं और दोनोंके संधिपर्वमें एक एक ग्रंथि है, जिन ग्रंथियोंमें इन देवताओंका स्थान है। योगमें जिन "ग्रंथिभेदन" का माहात्म्य वर्णन किया है वह ग्रंथियां ये ही हैं। प्राणायामादि साधन द्वारा प्राणको इनमेंसे ले जाना होता है। योगसाधनमें इन प्रत्येक स्थानका अलग महत्त्व है। इन सब देवताओंकी ग्रंथियोंमेंसे गुजरकर मेरुपर्वत अथवा मेरुदण्डके ऊपरके सिरके भागमें, ब्रह्माण्डके मध्यमें जब आत्माके साथ प्राण पहुंचता है तब उस स्थितिको "ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति" कहते हैं।

ये तैंतीस देवताएं अथवा तीन और तीस देवताएं ब्रह्मचारीके आधीन होती हैं क्योंकि ब्रह्मचर्याश्रममें नियमपूर्वक योगाभ्यासद्वारा इन सबको स्वाधीन ही करना होता है। इसलिए इस ब्रह्मचर्य सूक्तमें बारबार कहा है कि, ये सब देव ब्रह्मचारीके अनुकूल रहते हैं। ब्रह्मचारी इन सब देवोंको पूर्ण वश और स्वाधीन करता है। पूर्ण करनेका तात्पर्य प्रत्येक शक्तिको पूर्ण विकसित करना है।

अब "तीन सौ तीन (त्रिशताः)" तीन सौ देव हैं। तीन स्थानोंमें सौ सौ मिलकर तीन सौ होते हैं। मस्तिष्कके स्थानमें सौ, हृदयके स्थानमें सौ और नाभिस्थानमें सौ, इस प्रकार ये "त्रिशताः त्रि-स्थान" होते हैं। साथ साथ (षट् सहस्राः) छः हजार भी हैं। पूर्वोक्त साथ साथ चक्र हैं— (१) गुदाके स्थानमें मूलाधारचक्र (२) उपस्थ स्थानके पास स्वाधिष्ठानचक्र और (३) मणिपूरचक्र (४) हृदयस्थानके पास अनाहतचक्र (५) कण्ठस्थानमें विशुद्धचक्र और (६) भौंहोंके बीचमें आज्ञाचक्र है। प्रत्येक चक्रमें बहुतसी शक्तियोंके केन्द्र बने हुए हैं। इस प्रकार इन सबोंमें छः हजार शक्ति केन्द्र बने हैं। यहां "तीन सौ" और "छः हजार" यह संख्या निश्चित है अथवा बहुत्वदर्शक ही है। इस विषयमें मुझे स्वयं कोई ज्ञान नहीं है। अनुभवी ज्ञानी ही इस विषयमें कह सकता है। इस लिये इस विषयमें अधिक लिखना उचित भी नहीं है।

यह देवताओंकी संख्या वेदों और ब्राह्मणोंमें ३, ३३, ३३० इसी प्रकार बताई है। हजारों लाखों और करोड़ों तक यह गिनती गई है। यह सब अध्यात्मदृष्टिका मुख्य भेद है। इनके सार्वत्रिक प्रत्यक्ष रूप और शक्ति के तीन स्थान हैं, प्रत्येक स्थानमें दस दस भाग विभाग मिलकर साथ साथ और हजार भी विभाग मिलकर संख्या, इस प्रकार

स्थूलसे सूक्ष्म विभाग बतलाते हुए हैं। इनकी करीब में मांडना अथवा कवोंसे मांडना यह केवल कल्पनामात्र ही होगा प्रत्यक्ष सिद्धीका कारण न होगा। परंतु इस विषयमें लक्ष्य उस विशेष विशेष अपेक्षा पुरुष ही कर सकता है।

इस प्रकार (१) तीन (२) तीन (३) तीस और (४) छः हजार देवताओंका स्वरूप, स्थान और माहात्म्य है। ब्रह्मचर्यके आधीन ये सब देव रहते हैं। जो ब्रह्मचर्य नहीं रखता और वीर्यादि संयम नहीं करता उसके आधीन ये देव रह नहीं सकते। जब ये इस स्वाधीन नहीं रहते हैं ऐसेमें अपना व्यवहार करने लगते हैं तब बड़ी भयानक अवस्था हो जाती है। प्रत्येक इंद्रिय स्वच्छंद होनेसे मनुष्यकी अवस्था कितनी गिर सकती है इसकी कल्पना पाठक स्वयं कर सकते हैं।

ब्रह्मचर्य, वीर्यरक्षण, सद्विचारस्मरण, आसनप्राण [illegible] क्रियाओंका साधन यम नियम ईश्वरोपासना आदि सब साधना से यही करना है कि, अपने शरीरमें विद्यमान देव अपने आधीन हो जाय अर्थात् अपने अंदरकी अनुपम शक्तियां स्वाधीन होकर ब्रह्मवर्चस आदि पूर्णतासे विकसित हो जाय।

इस प्रकार ब्रह्मचर्यकी परम श्रेष्ठता वर्णन इस मंत्रमें हुआ है। पाठक इस मंत्रके अर्थकी अवश्य खोज करें और यथाशक्ति हो सके वहांतक ब्रह्मचर्य करके इस दृष्टिसे अपनी उन्नति करनेका प्रयत्न करें।

अब अगले तृतीय मंत्रमें ब्रह्मचर्याश्रममें जानेके योग्य "तीन प्रकारके अज्ञानोंका निवारण" बताया है। साधारण मनुष्य तीन प्रकारके अज्ञानके अन्धकारमें रहता है उन तीनों अज्ञानोंका निराकरण करना और तीनों ज्ञानोंकी प्राप्ति करना इस आश्रममें होता है।

गुरुशिष्य-संबंध।

इस तृतीय मंत्रके पहिले अर्धभागमें कहा है कि, "जब आचार्य ब्रह्मचारीको शिष्य बनाकर अपने पास रखता है तब वह उसको अपने अंदर धर लेता है।" यहां अंदर धर लेनेका तात्पर्य केवल अपने परिवारमें अथवा कुलमें संमिलित करना इतना ही नहीं है, प्रत्युत उस विद्यार्थीको अपने हृदयमें रखना है। हृदयमें अपना जानेका अर्थ यहां यह है कि, उससे छिपाकर कुछ भी नहीं रखना है। जिसका प्रवेश अपने घरमें अथवा परिवारमें होता है उससे कोई बात छिपी नहीं रहती। परंतु इस ब्रह्मचारीका प्रवेश तो अंदरके गर्भमें होता है इसलिए हृदयकी कोई बात उससे छिपी नहीं रहती। यही गुरुशिष्यका संबंध है। गुरु अपने शिष्यसे कोई बात गुप्त रखकर छिपाकर दूर न रखे, जो विद्या स्वयं प्राप्त की है उसे पूर्ण रीतिसे शिष्यको पढावे, तथा शिष्यभी आचार्यके पास रहकर मानो गुरुसे किसी प्रकार भेदभाव न रखे।

तीन रात्रिका निवास।

इस मंत्रका दूसरा कथन है कि "वह आचार्य अपने पेटमें उस ब्रह्मचारीको तीन रात्रियां समय पर्यन्त धारण करता है।" इसमें ब्रह्मचारीको पढानेका तात्पर्य स्पष्टतासे बताया ही है। यहां तीन रात्रियां मात्र देखना है। मंत्रमें "तीन दिन" ऐसा नहीं कहा है, परंतु "तिस्रः रात्रीः" (तीन रात्रियां) ऐसा कहा है। रात्रि शब्द अंधकार भाव बताता है और अंधकार अज्ञानका बोधक स्पष्ट ही है। अतः तीन रात्रियोंका तात्पर्य तीन प्रकारका अज्ञान है। इस शिष्यका रात्रिमें गुरुके पास रहनेका कारण यह है कि उसके तीन प्रकारका अज्ञान दूर होनेतक गुरुके पास निवास करना है। एक अज्ञान स्थूलसूक्ष्म सृष्टिविषयक होता है, दूसरा अज्ञान आत्माके विषयमें होता है और तीसरा अज्ञान परमात्माके विषयमें अज्ञान रहता है। इन तीनों अज्ञानोंको दूर करना ही शिष्यका कर्तव्य है। जब तीनों प्रकारके अज्ञान अंधकार रात्रिमें शिष्य रहता है। आचार्यकी कृपासे ज्ञानसूर्यका उदय होनेके कारण वह मनुष्य शिष्य द्विज बनकर स्वच्छ और पवित्र प्रकाशमें आता है।

यह तीन रात्रियोंका विषय कठोपनिषद्में भी आया है। पाठक विस्तारपूर्वक वहीं देखें। यहां थोडासा विवरण किया जाता है।

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन् अतिथिर्नमस्यः
(कठ० १।९)

यम नचिकेतासे कहता है कि "तू नमस्कार करने योग्य ब्राह्मण अतिथि मेरे घरमें तीन दिन रहा है" इसलिये-

त्रीन्वरान्वृणीष्व ॥ (कठ० १।९)

तीन वर मांग। तत्पश्चात् नचिकेताने तीन वर मांग लिये। उनमें यम महाराजने (१) आत्मविद्या, (२) अग्नि और ... (३) ...विद्या ही बताई है। इस कठोपनिषद्में नचिकेताने जिससे विद्या ली है वह गुरु "यम" है। इस ब्रह्मचर्य-सूक्तके १४ वें मंत्रमें भी "आचार्यो मृत्युः" अर्थात् 'आचार्य मृत्यु है' ऐसा

स्पष्ट कहा है। इसलिये प्रतीत होता है कि, इस ब्रह्मचर्य सूक्तके साथ गर्भोपनिषद्का संबंध है और गर्भोपनिषद्की कथा का स्पष्टीकरण इस ब्रह्मचर्यसूक्तके स्पष्टीकरणसे होता संभव है। इसका विचार पाठक करें।

तीसरा तात्पर्य कथन है कि " जब वह ब्रह्मचारी जन्म लेकर गुरुके घरसे बाहर आता है तब उसको देखनेके लिये सब विद्वान् इकठ्ठे होते हैं।" पूर्वोक्त तीन रात्रि समाप्त होने-तक अर्थात् तीन प्रकारके अज्ञान दूर होनेतक वह ब्रह्मचारी गुरुके पास रहता है फिर गुरुके आधीन रहता है। जब तीन प्रकारके अज्ञान दूर हो जाते हैं तब वह स्वतंत्रतासे जगत्में उत्पन्न होनेमें समर्थ होता है। मंत्रके अंतिम चरणमें " जातं " पद है। इसका अर्थ " जिसने जन्म लिया है " ऐसा होता है। गुरु पिता है और विद्या माता है। इस विद्यारूपी मातासे इसका जन्म होता है। यह दूसरा जन्म है इस विषयमें कहा है—

स हि विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठं जन्म।
शरीरमेव मातापितरौ जनयतः॥

(आप० ध० सू० १।१।१६—१७)

' वह आचार्य विद्यासे इस ब्रह्मचारीको उत्पन्न करता है। यह श्रेष्ठ जन्म है। मातापिता केवल शरीर ही उत्पन्न करते हैं।" इस प्रकार आचार्यद्वारा जो उत्पन्न जन्म होता है वही श्रेष्ठ जन्म है। इस जन्मका नाम अर्थात् ही द्विज बनते हैं। द्विज बननेसे सर्वत्र सम्मान होना संभव है। गुरुकुलोंमें इस प्रकार द्विज बने हुए सर्वत्र सम्मानित होना आवश्यक है। गुरुकुलोंसे इस प्रकार द्विज बननेके पश्चात् स्नातक बन अपने अपने घर वापस आ जाते हैं तब वहांके लोग उनका बहुत सम्मान करते हैं।

इस चतुर्थ मंत्रमें पृथिवीको प्रथम समिधामें ' मोक्ष और मुमुक्षत्वकी ' द्वितीय समिधाके ' ज्ञान " का तात्पर्य यहां प्रतीत है। ज्ञान और मोक्ष इन दोनों समिधाओंसे हुए। अंतरिक्षस्थानीय इसकी मनुष्ये और पूर्णता करना प्रयत्न होना संभव है। इस मंत्रके " पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौः " ये तीनों शब्द अपना कोशगत अर्थ नहीं दे सकते क्योंकि पृथ्वीका इनसे ... है। इन शब्दोंके अपने अर्थके स्थान मोक्ष ही अर्थ यहां लेना उचित है। सभी शिक्षाप्रणाली इस पर ही पूर्णताके लिये ही होनी चाहिये। केवल भौतिकी उन्नति अथवा केवल आध्यात्मिक होनेसे भी काम नहीं चलता। केवल शरीरपोषण अथवा केवल पैसाका शोषण होनेसे कार्यभाग नहीं हो सकता, परन्तु जब इन दोनों गुणोंका पक्षपात और निर्मलता होगी तभी आकांक्षाओंकी पूर्ति हो सकती है। इन मंत्रोंसे स्पष्टता करके लिख कर मंत्र ३। यहां मोक्ष और मुमुक्षत्वका ज्ञान इन दोनोंका उपयोग आत्मोन्नतिकी प्राप्ति करनेके लिये ही होना चाहिये। जगत्में शान्ति स्थापित होनेका यही एक साधन है। साधारण लोग केवल ज्ञानविद्या तथा प्रचार करते हैं अथवा मोक्ष बतानेमें प्रवृत्त होते हैं, परन्तु वेद यहां सबकी व्यवस्था कर रहा है और स्पष्टतासे बता रहा है कि इस " मोक्ष और ज्ञान " का समर्पण जब इनकी पूर्णताके लिये होगा तभी मानवमात्रकी सच्ची उन्नति हो सकती है। इस मंत्रसे पाठक बहुत बोध ले सकते हैं।

श्रमका तत्त्वज्ञान।

अब आगेके मंत्रमें कहा है कि " ब्रह्मचारी अपनी समिधा, मेखला, परिश्रम और तपसे सब लोकोंका भरण करता है। समिधा शब्दका अर्थ पूर्व स्थलमें बताया ही है। ' मेखला ' परिबद्ध होनेकी सूचना दे रही है। अपने हितके कार्य तथा उनको बतानेके कार्य करनेके लिये और अपने अभ्युदयनिःश्रेयसका साधन करनेके लिये ब्रह्मचारीको सदा " कटिबद्ध " रहना चाहिये। ' श्रम " का तात्पर्य परिश्रम है। सब प्रकारके पुरुषार्थ करना परिश्रमसे ही प्राप्त हो सकता है, वेदमें कहा ही है कि—

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः॥ (ऋ० ४।३३।११)

' श्रम किये बिना देव सहायता नहीं करते तथा ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है कि—

नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति। पापो नृषद्वरो जन
इन्द्र इच्चरतः सखा। चरैवेति चरैवेति॥ १॥
पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः।
चरैवेति चरैवेति॥ २॥
आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः।
चरैवेति चरैवेति॥ ३॥
कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति॥ ४॥

चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति॥ ५॥

(ऐत० ब्रा० ७।१५)

'(१) श्रम किये बिना श्रीकी प्राप्ति नहीं होती। सुस्त मनुष्य ही पापी है। पुरुषार्थका मित्र ईश्वर है। इसलिये प्रयत्न करो पुरुषार्थ करो॥ (२) जो चलता है उसकी जांघें पुष्ट होती हैं उस निरंतर प्रयत्न करनेवालेका आत्मा प्रभावशाली होता है। प्रयत्न करनेवालेके पापमात्र मार्गमें ही मर जाते हैं। इस कारण प्रयत्न करो और श्रम करो॥ (३) जो बैठता है, उसका दैव बैठता है, जो खडा होता है उसका दैव खडा होता है, जो सोता है उसका दैव सो जाता है, तथा जो चलता है उसका दैव भी चलने लग जाता है। इसलिये प्रयत्न करो और श्रम करो॥ (४) सोना कलियुग है, आलस्य छोडना द्वापरयुग है, उठना त्रेतायुग है और पुरुषार्थ करना कृतयुग है। इसलिये पुरुषार्थ करो॥ (५) मधु मक्खी चलकर मधु प्राप्त करती है, पक्षी भ्रमण करनेसे ही मीठे फल प्राप्त करते हैं। सूर्यकी शोभा देखो वह उसके निरंतर भ्रमणके कारण ही है। इसलिये प्रयत्न करो, परिश्रम करो॥"

इस प्रकार परिश्रम करनेका उपदेश ब्राह्मणग्रंथ करते हैं। हरएक मनुष्यके लिये यह उपदेश स्मरण रखने योग्य है। तथा—

श्रमयुवः पदव्यो धियंधास्तस्थुः पदे परमे चार्वग्नेः॥

(ऋ० १।७२।२)

(श्रम-युवः) परिश्रमके मेलसे (पद-व्यः) मार्गका चलनेवाले (धियं-धाः) ध्यानरूपी बुद्धिको धारण करनेवाले पुरुषार्थी लोग ही (अग्नेः परमे पदे) अग्निके श्रेष्ठ परम स्थानको प्राप्त करते हैं। तथा—

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। (ऋ० ४।३३।११)

" परिश्रम करके थके हुए परिश्रमीके लिये ही [देवोंका] सौहार्द प्राप्त होता है।' इस प्रकार परिश्रमका महत्त्व वेद वर्णन करता है। परिश्रम करनेवाला, पुरुषार्थ प्रयत्न करनेवाला मनुष्य अपना तथा जनताका अभ्युदय कर सकता है। अब तपके विषयमें थोडासा लिखना है। देखिये तपका महत्त्व लिखा है-

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः, शान्तं तपो दमस्तपः। शमस्तपो, दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्स्वै-तत्तपः॥ (तै० आ० १०।८)

"ऋत, सत्य, श्रवण, शान्ति, इन्द्रियदमन, मनोनिग्रह, दान, यज्ञ (भूः) जगत् (भुवः) प्राण (सुवः) आनंद आदि सब तप ही है। विचार करनेसे पता लग जाता है कि जगत्‌के अंदर हरएक अंदर प्रयत्न कर रहा है। तपसे ही हम सब जीवित रहते हैं, तपसे उन्नति करते हैं, तपसे ही उच्च अवस्थाएं पहुंचते हैं और तपसे ही अपना तथा जनताका अभ्युदय साध्य किया जाता है इसी लिये वेदमें इस मंत्रमें कहा है कि ब्रह्मचारी श्रम और तपसे सब लोकोंका पूर्ण करता है। यदि ब्रह्मचारी श्रम न करेगा और तप न करेगा तो न उसकी उन्नति ही हो सकती है और न वह लोकोंका पालन ही कर सकता है। (१) आत्मसमर्पणकी समिधा अर्पण करता है (२) सदा कटिबद्ध रहकर जनताके हितके लिये परम पुरुषार्थ करता है (३) सत्कर्मसे परिश्रम करके निश्चित हुआ शुभ कर्म समाप्त करता है तथा (४) तपस्यापूर्वक सब जीवन भर कार्य करते हुए वह ऐसे अपने जातिके साथ उदय करता है। जो इस प्रकार प्रयत्न करते हुए श्रम कार्यको न कभी ही न छोडता, वे लोग इस श्रेष्ठता प्राप्त हो रहे हैं।

मृत्यु स्वीकारनेकी सिद्धता।

इस मंत्रके विचार करनेके पश्चात् निम्न मंत्र देखिये—

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात्पुरुषं यमाय।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि॥

(अथर्व० ६।१३३।३)

"(मृत्योः ब्रह्मचारी) मैं मृत्युको समर्पित हुआ हुआ ब्रह्मचारी हूं। इसलिये (भूतात्) मनुष्योंमेंसे निकालके और इस पुरुषको (यमाय) इच्छा करता हूं। [जो पुरुष करेगा] उसको भी मैं (ब्रह्मणा) ज्ञानसे तपसे परिश्रमसे और इस मेखलासे (सिनामि) बांधता हूं।"

ब्रह्मचारीका उद्देश मृत्यु अपना समझे है इस बातका कथन इस मंत्रमें भी है। ब्रह्मचारी भी समझता है कि मैं अब मातापिताका नहीं हूं परंतु मृत्युको समर्पित हो चुका हूं अर्थात् मानो मरणोन्मुख हो चुके हैं। क्योंकि अपने आचार्यका मृत्यु मानकर एक एक जन्म नहीं हो सकता इसलिये जो "द्वि-जन्मा" होते हैं, उनको 'द्विज'

होनेके पूर्व एक बार मृत्युके वश हुआ ही चाहिये। इस प्रसंगमें आचार्यही मृत्युका कार्य करता है। मातापितासे प्राप्त शारीरिक और मानसिक स्थितिमें बड़ा परिवर्तन करना तथा उसको सुयोग्य बनाना आचार्यका कार्य है। कठोपनिषद्में भी इसी दृष्टिसे गुरुके स्थानमें मृत्युको ही माना है। ब्रह्मचर्यसूक्तमें भी आचार्यको मृत्यु ही कहा है। तथा इस मन्त्रमें स्वयं ब्रह्मचारी कहता है कि मैं अब मृत्युको समर्पित हुआ हूं। इस प्रकारका मृत्युको समर्पित हुआ ब्रह्मचारी गुरुकुलका भिक्षामृत पान करता हुआ आनन्दसे कह रहा है कि "मैं जनताके और इस पुरुष-रूपी बड़े मृत्युको (आचार्यको) समर्पित करनेकी इच्छा करता हूं। अर्थात् ब्रह्मचारी यही यह समझना चाहिये कि, वह अपने गुरुकुलमें और और ब्रह्मचारी आश्रित करे। इतना संबंध करे कि उसको देखकर अन्य विद्यार्थी वहां आवें ब्रह्मचारियोंका परस्पर संबंध भी ज्ञान, तप परिश्रम" आदि उत्तम मार्गोंका ही होना चाहिये। एक ब्रह्मचारीका दूसरे ब्रह्मचारीसे यही संबंध है। अर्थात् एक ब्रह्मचारी दूसरेको ज्ञान देवे जो स्वयं जानता है वह दूसरोंको समझावे। दूसरोंके हितार्थ परिश्रम करे और दूसरोंका हित करनेके लिये स्वयं क्लेश भी सहन करे।

जब ब्रह्मचारी अपने आपको मृत्युके लिये समर्पित समझे तथा ब्रह्मचारियोंके मातापिता भी समझें कि हमने अपने पुत्रको मृत्युके लिये ही समर्पित किया है। क्योंकि गुरुकुलमें प्रविष्ट हुआ ब्रह्मचारी अब संपूर्ण जनताका ही पुत्र है। वह अब केवल माता पिताओंका ही नहीं रहा। वह अब संपूर्ण जनताका पुत्र " जनता उसकी माता है राष्ट्र उसका पिता है"। इतनाही नहीं परंतु अब वह ब्रह्मचारी ही स्वयं अपने आपको मृत्युको समर्पित समझने लगा है। जो आचार्य मृत्युको ही स्वीकारनेके लिये तैयार होता है जो अपनी जनताकी उन्नति बनानेके लिये सिद्ध हो चुका है जो अपने देहको बलि चढानेके लिये उद्यत है तथा जो आत्मसमर्पणकी पूर्णाहुति देनेके लिये तैयार है उसका अन्य कोई कुछ भी कर नहीं सकता परिश्रमोंसे मरनेसे वह दरतानेसे पराभूत नहीं हो सकता। यह ब्रह्मचारीका लक्षण।

तपसे उत्पत्ति।

संयमसे ही तपका आरंभ होता है। ब्रह्मचर्यमें "धर्म और

२१ (अ. सु. भा. खं. ११)

तप'का पालन अवश्य करना चाहिये। गर्मी-ठण्डका नाम घर्म है और बाह्य व्यवहार करनेके समय जो कष्ट होते हैं उनको आनंदसे सहन करनेका नाम तप है। इन बातोंसे ब्रह्मचारीके ही हृदयकी उन्नति होती है। शीत उष्ण सहन करनेसे शरीरका आयुष्य बढता है, ब्रह्मचारीका ध्यान उधर कर्तव्यपर होनेसे कष्टनिवृत्तिके काम करनेका उत्साह कायम रहता है। इसी प्रकार अन्य द्वंद्व सहन करनेसे अपना बल बढ जाता है। शारीरिक मानसिक बौद्धिक और आत्मिक बल बढानेकी उच्चता प्राप्त होनेका फल है। यही बात 'घर्मं वसानः तपसा उदतिष्ठत्।' अर्थात् उष्णता धारण करके तप सहन करनेसे उच्च होता है।' इस मंत्रभागमें स्पष्टता से कही है।

ब्रह्मचारी ही ब्रह्मज्ञानका प्रचार करता है। पूर्वोक्त प्रकार ब्रह्मचर्यके नियमोंका पालन करनेके पश्चात् जब वह ज्ञानी बनता है और अपनी योग्यता उच्च बनाता है तब उससे ब्रह्मज्ञानका प्रचार होता है यह भाव "तस्मात् ज्येष्ठं ब्रह्म जातं" इस मंत्रभागमें कहा है। ज्ञानका प्रचार होनेके पूर्व जिस प्रकारकी योग्यता चाहिये उस प्रकारकी योग्यता इस मंत्रमें कही है। जो धर्मज्ञानके प्रचारक हैं सिद्ध हैं अथवा सिद्ध हों परन्तु वे उस प्रकारसे ब्रह्मचर्यका पूर्णता करनेवाले चाहिये। इस प्रकार ब्रह्मचर्य संपन्न करके श्रम और तपसे अपनी उच्चता जिसने प्राप्त की है उस मनुष्यके धर्मोपदेशोंसे ही ब्रह्मज्ञानकी श्रेष्ठ ज्ञानका प्रचार हो सकता है। अन्य उपदेशक ब्रह्मधर्मके प्रचारके लिये योग्य नहीं हैं।

तथा यही सभी का अनुष्ठानी ब्रह्मचारी 'देवा अमृतेन साकं' सब देवोंको अमरत्वके साथ मिला देता है। यहां देव शब्दसे व्यवहार करनेवाले मनुष्य लेना युक्त है।

सूत्र "ब्राह्मण है और जिनका नाम 'सामवेद' है देवोंको अमृत करते हैं तथा उनको "अमरेश" कहते हैं। वे चारों प्रकारके तथा मिश्र आदि सब 'अमरेश' भी उस ब्रह्मचारीके उपदेशसे अमरत्व प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सबको अमृत प्राप्त कराना यह बड़ा सुयोग्य सुज्ञ ब्रह्मज्ञानी उपदेशकका ही कार्य हो सकता है, यह वेदमें अन्यत्र कहा है

ब्रह्म ब्रह्मचारिभिरुदक्रामत् । तां पुरं प्रणयामि वः ।
तामा विशत तां प्रविशत । सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥
(अथ. १९।१९।८)

"ब्रह्मचारियोंसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। इस ज्ञानकी नगरीमें आपको मैं ले जाता हूं। इसमें प्रवेश कीजिये, इसमें घुस जाइये। यह ज्ञानकी नगरी ही आपको सुख और संरक्षण देगी।'

यह ज्ञानका महत्त्व है। पूर्वोक्त प्रकारके सच्चे ब्रह्मचारी ही इस ज्ञानकी उन्नति करते हैं। अन्य देखने भरके ब्रह्मचारियोंसे यह पवित्र कार्य नहीं हो सकता। यह ज्ञानकी नगरी ब्रह्मचारियोंके विद्यालयमें हुआ करती है। जो उत्तम इस विचार क्षेत्रमें पहुंच जाते हैं उसमें घुस जाते हैं और वहां निवास करते हैं उन्हींको सच्चा सुख और सच्चा संरक्षण प्राप्त हो सकता है। इस ज्ञानकी नगरीका मार्ग ब्रह्मचर्य आश्रम ही है। कोई दूसरा मार्ग इस नगरीतक नहीं जाता।

वास्तविक रीतिसे हरएकको इस पवित्र भूमिमें आना चाहिये। जो इसमें प्रविष्ट होता है वह देवताका अंश बन जाता है, इसलिये—

ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्॥
(ऋ० १०।१०९।५, अथ० ५।१७।५)

"ब्रह्मचारी (विषः) सेवाओंको (वेविषत्) करता हुआ चलता है इसलिये वह देवोंका एक अंग बन जाता है।'

ब्रह्मचारी नियमानुकूल व्यवहार करता है तथा सत्कर्म दक्षतापूर्वक करता है इसलिये वह देवोंका अवयव जैसा बना [illegible] समझा जाता है। कोई उसको साधारण मनुष्य न समझे। [illegible] मनुष्य नहीं है वह देवोंका अंग है। [illegible] जो नियमानुकूल चालचलन होता है वही इस प्रकार श्रेष्ठ है अतः सच्चा ब्रह्मचारी श्रेष्ठ होता है।

यह मंत्र [illegible] पृथ्वीमें ब्रह्मचारियोंका रहना कहना [illegible] होनेकी सूचना दी गई है। [illegible] इसलिये [illegible] है [illegible] अग्नि [illegible] है [illegible] आदेश [illegible] नहीं है। [illegible] ब्रह्मचारी होना चाहिये। [illegible] होना [illegible] है। [illegible] और [illegible] नहीं [illegible] जाता है। [illegible] पूर्व [illegible] ब्रह्मचर्य [illegible] पालन करता हुआ [illegible] उसमें [illegible]

विद्याध्ययन बडी लगनसे करता है और सुयोग्यताके साथ उस कला प्राप्त करता है। इसलिये विद्याध्ययन समाप्त करनेके पश्चात् वह जनपदमें भ्रमण करता है और लोकसंग्रह करता है। एकविचारके लोगोंको एकत्रित करके उनको महान् कार्यमें लगा देना लोक-संग्रह का तात्पर्य है। जनताकी उन्नति करनेके लिये इस प्रकार वह कार्य करता है तथा भ्रमण करके व्याख्यानादि द्वारा वह सर्वत्र जागृति कर देता है। इसने समुद्र तक वह प्रचार करता करता पहुंच जाता है, अर्थात् पूर्व [illegible] पश्चिम [illegible] वह कार्य पहुंचाता है और जनताको पहुंचाता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रमरूपी पूर्व अवस्थासे गृहस्थरूपी उत्तर अवस्थाको वह प्राप्त करता है।

"समुद्र" (सम्+उत्+द्रु) शब्द इसका वाचक है (?) [illegible] (उत्) उत्कर्षके लिये (द्रु) गति [illegible] करनेका नाम समुद्र है। इस समुद्रमें जब वह अपनी [illegible] करनेको सिद्ध होता है। जनताकी उन्नति करनेके लिये जो जो [illegible] आवश्यक है वह [illegible] अब वह करने लगता है।

ब्रह्मचारीकी हलचल।

सप्तम मंत्रमें कहा है कि प्रथम अवस्थामें ब्रह्मचारी माता पिता और परिवारके मोहपाशसे छोडकर, अपने आपको मृत्युके लिये समर्पित कर एक प्रकारसे [illegible] और [illegible] ग्रहण करनेके हेतु भिक्षाके साथ गुरुकुलमें विद्याभ्यास [illegible] लगा हुआ था। इसी अवस्थामें वह विद्याभ्यासनिरत रहा [illegible] और [illegible] करता वही [illegible] था। जब वह विद्याके समुद्रसे बाहर आगया अर्थात् जब वह द्विज बना तब वह (ब्रह्म) ज्ञानका प्रचार करने लगा, [illegible] प्रकारसे लोगोंको (भरा) [illegible] प्रवेश करने दिया। ब्रह्मज्ञान तथा [illegible] ज्ञान जनतामें और [illegible] जनतामें [illegible] जागृति [illegible] (लोक) लोगोंको अपने [illegible] चलता गया। [illegible] वह [illegible] है [illegible] उन्नति [illegible] हो सकती है [illegible] ज्ञान जनतामें हुआ। [illegible] (ब्रह्मचारी) [illegible] पालन [illegible]

प्रकार वर्ताव करना चाहिये अविद्यादिदोषोंके कर्षण हैं इत्यादि सब उत्तम प्रकारसे बताता । साथ साथ परमेष्ठी परमेश्वरका रूप भी लोगोंको बताता । जगत्का सच्चा पिता वह एक ही परमेश्वर है उसके सम्मुख राजा और प्रजाके प्रत्येक मनुष्यको खडा रहना है वही उनका सच्चा न्यायकारी है, इसलिये उसीको सर्वोपरि मानना उचित है इत्यादि सत्य व धर्मानुकूल बर्ताव इन्होंने उपदेश किया ।

इस प्रकार ब्रह्मचारियों द्वारा जो जागृति हो गई, उससे समूचे सब लोगोंको पता लगा कि ये सुर हैं और ये असुर हैं । असुरोंको दूर करने और सुरोंके अधिकारमें राष्ट्र रहे बिना सत्य-धर्मकी स्थिरता नहीं हो सकती । ऐसा निश्चय होते ही सब जनताने उसी को अपना इन्द्र अर्थात् प्रमुख बनाया । और अब वह असुरोंको दूर करनेकी तैयारीमें लगा है । पहिले जो केवल ज्ञान प्रचारके कार्य करता था वही अब क्षात्रधर्मका पुरस्कार करने लगा है । 'इन्द्र' शब्द (इन्) शत्रुओंका (द्र) विदारण करनेवाला' इस अर्थमें यहां है । इस मन्त्रसे ज्ञात होता है और अनुमान होता है कि ब्रह्मचर्य आश्रममें जो आवश्यक होता है, उसमें ब्राह्मणत्वके साथही क्षात्रतेजका भी संवर्धन होना आवश्यक है । इसलिए ब्रह्मचारीको ब्रह्म-क्षात्रका पूर्ण अध्ययन करना चाहिये । जनताके हित करते समय जो जो कार्य आवश्यक होवे उनको करनेके साथ करनेका बल और ओज रखने चाहिये । यह आशय यहां इस मन्त्रमें प्रतीत होता है

अब वही ब्रह्मचारी इन्द्र अर्थात् राजा बनकर सुविधा कर कर (अनुराग लगाई) असुरोंको भगा देता है । "तर्ह" शब्द विदारण करनेके अर्थमें ही प्रयुक्त होता है । असुर वे होते हैं कि, जो अपने जनताको कष्ट देनेवाले होते हैं । श्रीमद्भगवद्गीतामें अ० १६ श्लो० ८ से १८ तक असुरोंके लक्षण कहे हैं । 'मिथ्याचारी व दिखाऊ धर्मकी स्वार्थी दुष्ट भोगी पापी क्रोधी अत्याचारी हूं " आदि असुरोंके लक्षण कहे हैं । इन बातोंसे भरे लोग असुर होते हैं । उन असुरोंसे जनता दुःखी है इसलिये इन्द्र ब्रह्मचारी जनताकी सुविधा बनाकर इस प्रकारके असुरोंको दूर करके जनताको शान्ति देता है । यही ब्रह्मचर्य होना आवश्यक है ।

यहांके मंत्रमें कहा है कि ' ब्राह्मणं ततक्ष" अर्थात् ब्राह्मणं आकार बनाया है ।" तक्ष् धातुका अर्थ तक्षीणे हथियारोंसे काम करना, आकार बनाना, पदार्थोंके विविध पदार्थ बनाना कल्पनासे नवीन वैज्ञानिक पदार्थ रचना कौशल रीतिसे बनाना है । इस धातुसे तक्षक तक्षा ऐसे शब्द बने हैं जिनका अर्थ "बढई लकडीका काम करनेवाला, लकडीसे विविध आकार बनानेवाला" ऐसा होता है । तक्षण शब्दका भाव काटना ही है तथा बढईके औजार हथियार आदिका नाम तक्षणी है । इससे पाठकोंको विदित होगा कि " ततक्ष शब्दका भाव आकार बनाना है ।" गुरु आचार्यका भाव ' परमेश्वर भी है योगदर्शनमें भगवान् पतंजली महामुनिने कहा ही है कि—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ (यो० १)

'वह ईश्वर प्राचीनोंका भी आचार्य है क्योंकि वहां कालकी कोई मर्यादा नहीं है ।' इस कथनसे आचार्योंका आचार्य और गुरुओंका गुरु परमेश्वर है । वह पृथिवीसे लेकर द्युलोक तकके संपूर्ण पदार्थोंके आकार बनाता है । भाव स्पष्ट ही है । जो कार्य परमगुरु परमेश्वर करता है वही कार्य यहां शिष्यकी मानसिक सृष्टिमें गुरु करता है । प्रत्येक पदार्थकी कल्पना शिष्यके मनमें उत्पन्न करना यह काम अध्यापकका ही है इस दृष्टिसे कहा जा सकता है कि गुरु शिष्यके लिये पृथ्वी और द्युलोक बनाता है । जितनी कल्पना हमारे ज्ञानमें होती है उसके विषयमें जितना ज्ञान हमें होता है, उतनी ही सृष्टि हमारे लिये होती है । जिन पदार्थोंका ज्ञान हमको नहीं होता उन पदार्थोंका अस्तित्व हमारे लिये नहीं होता । अर्थात् ज्ञान पूर्वक ही सृष्टिका अस्तित्व हमारे लिये हुआ करता है । इस हेतुसे भी कहा जा सकता है कि आचार्य जिन जिन पदार्थोंका ज्ञान देता है, साथ साथ वे पदार्थ भी देता है । आचार्य पृथ्वीसे लेकर द्युलोकपर्यंत सभी पदार्थोंका ज्ञान देता है इसलिये उस सारी सृष्टिको समर्पित करता है ।

जो इस समय आचार्य है वही एक समय शिष्य तथा ब्रह्मचारी था । उस समय उसके गुरुने त्रिभुवनविषयक जो ज्ञान उसको दिया था, उसका संरक्षण करके उसने अपने उसके पश्चात् वही ज्ञान अपने शिष्यको दिया । ज्ञान देनेसे ज्ञान बढता जाता है । इसी प्रकार इस शिष्यको भी उचित है कि वह गुरुसे प्राप्त त्रिभुवनका ज्ञान अपने पास रक्षित रखे । इसी अर्थसे कहा है कि "मैं रक्षा करता ब्रह्मचारी" अर्थात् ब्रह्मचारी अपने तपसे उसका रक्षण करता है" आचार्य जो जो ज्ञान शिष्यके लिये चाहता है, उसको वे देकर

कर देता है अथवा ज्ञानरूपसे देता है उसका संरक्षण किया करता है अथवा प्राप्त ज्ञानका संरक्षण शिष्यको करना चाहिये। ज्ञानरूपसे त्रिभुवनकी स्थिति गुरुशिष्यके मनमें है यह बात जो जान लेंगे, वे इस मंत्रका आशय ठीक समझ सकते हैं।

मंत्रके आरंभ भागमें कहा है कि, उक्त प्रकारके 'ब्रह्मचारीमें सबके सब देव साथ अनुकूल मन धारण करके रहते हैं' प्रथम मंत्रके स्पष्टीकरणमें इसका विचार होही चुका है। इस प्रकार सुयोग्य ब्रह्मचारीकी सब इंद्रियां और अवयव उसके मनकी इच्छाके अनुकूल रहते हैं, वह संयमी हो जाता है। मन आदि आत्मिक इंद्रियोंका संयम और सब बाह्य इंद्रियोंका संयम होनेसे वह समर्थ और शान्त होता है, यही संयम है। जिसको पूर्वोक्त रीतिसे 'सं-यम' सिद्ध होता है उसीका नाम "यम" है और उसके यमका नामही 'सं-यम' है। इससे पाठक जान सकते हैं कि जो प्रथम संयमी ब्रह्मचारी होता है वही आगे जाकर आचार्य बननेसे पूर्व 'यम' अथवा 'सं-यमी' बनता है। आचार्यका ही नाम 'यम' होता है।

ब्रह्मचारीकी भिक्षा।

प्रथम मंत्रका कथन यह है कि ब्रह्मचारी गुरुके पास जाता है और उससे देनेवालेकी भिक्षा लेता है। आचार्यकी भिक्षासे उसको सब ज्ञानकी प्राप्ति होती है और इसी कारण भिक्षासे उसका आत्मिक बल प्राप्त होता है। इस प्रकार शारीरिक और आत्मिक पुष्टि वह ब्रह्मचारी प्राप्त करता है। पृथ्वी और द्युलोकका संबंध शारीरिक और आत्मिक शक्तियोंके साथ है यह पूर्व स्थानमें कहा ही है, तथा इन दोनोंके अंदर अपने भीतरमें क्या रहता है यह भी पहिले बताया ही है। आचार्यके पास वह ज्ञानरूप भिक्षा प्राप्त करता है और आचार्य अपने शिष्यको पृथ्वीसे लेकर द्युलोकतक संपूर्ण विश्वकी भिक्षा देता है। पृथ्वी और द्युलोक अर्थात् संपूर्ण विश्व जानना है। अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नतिके सब साधन इस भिक्षासे उस ब्रह्मचारीको प्राप्त होते हैं।

ब्रह्मचारीका आत्मयज्ञ।

जब इस प्रकार पूर्वोक्त यम नियम सिद्ध हो जाता है तब वह ब्रह्मचारी अपने इंद्रियोंको आत्माग्निमें समिधाके समान हवन करता है। इस आत्मयज्ञमें सब ब्रह्मचारीसे अपनी सब भिक्षा अर्पण करनी होती है। यही इसका श्रेष्ठ त्याग है। जो प्राप्त हुआ था वह सबकी भलाईके लिये अर्पण करनेका नाम ही आत्मयज्ञ है। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियोंका समर्पण करके अंतमें अपनी पूर्णाहुति देकर इस आत्मयज्ञकी समाप्ति होती है।

जो कुछ प्राप्त किया जाता है उसका समर्पण सबकी भलाईके लिये करनेका नामही यज्ञ है। समिधा एक अंश है। समाजका एक अंश एक व्यक्ति है। इस व्यक्तिकी अंतिम सफलता अपने समाजकी पुष्टिके लिये अपने आपको समर्पित करना ही है। यही यज्ञ है यही तप और उपासना है। जो जिसके पास शक्ति है, उसका उस संपूर्ण समाजके कल्याणके लिये करनाही उस शक्तिका सबसे उत्तम उपयोग है। इस प्रकारका आत्मयज्ञ ब्रह्मचारी करता है।

दो कोश।

इसके मंत्रमें दो कोशोंका वर्णन है। एक भूलोकका कोश है और दूसरा द्युलोकका कोश है। ये दोनों कोश ब्रह्मचारीके गुहामें रहते हैं। ब्रह्मज्ञानी गुरु अपने शिष्यको ये दोनों कोशोंको दे देता है वह अपनी बुद्धिसे ही देता है। विद्वान्‌की बुद्धिमें पृथिवी अंतरिक्ष और द्युलोक सब एक रूप स्थिर रहते हैं और वह ज्ञानी अपने शिष्योंको उपदेशद्वारा उनका प्रकाश करता है। इस मंत्रसे यह बात स्पष्ट हो गई है कि पृथिवी और द्युलोक वास्तवमें ज्ञानीकी गुहामें हैं, बुद्धिमें ही स्थूल जगत्‌का निवास है। ज्ञानी अपनी इच्छानुसार दूसरोंको इस विद्याका दान करता है।

कोशरक्षक ब्रह्मचारी।

आचार्यके पास जब वह रहता है तब वह ज्ञानको ग्रहण करता है अर्थात् पृथ्वीसे लेकर द्युलोकतकका संपूर्ण ज्ञान उसको प्राप्त होता है। अब विचार करना है कि इन दोनों कोशोंका किस रीतिसे रक्षण करना है। मंत्रमें ही कहा है कि तपसे रक्षण किया जाता है। जो ब्रह्मचारी तप करता है और, शीत उष्ण आदि द्वंद्व सहन करनेकी शक्ति बढाता है वही इन कोशोंका रक्षण कर सकता है। इसके लिये, जो तप नहीं करता उससे रक्षण नहीं हो सकता यह बात इस मंत्रसे स्पष्ट होती है।

दो अग्नि ।

ग्यारहवें मंत्रमें अग्नियोंका वर्णन है। पृथ्वीपर एक अग्नि है और द्युलोकमें दूसरी अग्नि सूर्यरूपमें है। ये दोनों प्रकाश किरणोंके बीचमें अर्थात् अन्तरिक्षमें मिल जाती हैं। इनकी किरणें सर्वत्र फैलती हैं और इसका परिणाम जीवनपर होता है। पूर्व दोनों मंत्रोंके साथ इस मंत्रके कथनकी तुलना करनेसे प्रतीत होगा कि (१) दोनों लोकोंकी भिन्नता (२) पृथ्वीमें रहनेवाले दोनों कोश (३) तथा दो अग्नियोंकी बात ये सब पूर्वोक्त मुख्य बातोंको बता रहे हैं।

शरीरमें मध्यस्थानीय जाठर अग्नि और द्युस्थानीय मस्तिष्कस्थानी सूर्य अग्नि है। जाठर अग्नि और मस्तिष्कका चैतन्य अग्नि इनका मिलाप बीचमें हृदयके स्थानमें होता है। वहांसे ही सब स्थानोंमें किरणें फैलती हैं। इस प्रकार ये दोनों अग्नि हैं।

ऊर्ध्वरेता मेघ और ब्रह्मचारी ।

बारहवें मंत्रमें मेघोंका ब्रह्मचर्य कहा है। वृष्टि करनेवाले मेघ बड़ी गर्जना करते हुए वृष्टि करते हैं और सबको जीवन देते हैं। दूसरे कई मेघ होते हैं वे अवर्षक होते हैं परंतु बड़ी गर्जना करते हैं, इनकी गर्जनासे जनताको केवल कष्ट होते हैं। इसका कारण पहिले प्रकारके मेघ (ऊर्ध्वरेताः) जलसे भरपूर होते हैं और दूसरे प्रकारके मेघ (निर्वीर्य) जलहीन होते हैं।

इसी प्रकार ऊर्ध्वरेता तेजस्वी ब्रह्मचारी मेघगर्जनके समान अपनी बड़ी विशाल वाणीसे व्याख्यान देकर जनोंमें ज्ञानामृत-की वृष्टि करता है और जनतामें "नवजीवन" उत्पन्न करता है। परंतु दूसरे कई निर्वीर्य उपदेशक ऐसे होते हैं कि जो बड़ा दिखावेका बड़ा ढोंग करते हैं परंतु इनके भाषणोंसे व्याख्यानोंसे किंचित् भी लाभ नहीं होता। इसका कारण पहिलेमें वीर्यके साथ तप होता है और दूसरेमें ये दोनों नहीं होते।

बड़े ब्रह्मचारीका कार्य ।

तेरहवें मंत्रमें सबसे बड़ा ब्रह्मचारी परमात्मा है। वह अग्नि, सूर्य, वायु, जल आदि देवताओंमें विशेष प्रकारकी समिधाएं डाल देता है। उस समिधासे वे सब देव अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। अग्नि सूर्य आदि देव परमात्माके तेजसे प्रकाशते हैं, वायु परमात्माके बलसे बहता है, जल उसीकी शक्तिसे रसपोषण शक्ति दे रहा है। अर्थात् परमात्मा अपनी शक्तिरूप समिधा इनमें रखता है इस कारण अग्न्यादि देव अपना कार्य करते हैं। प्रत्येक देवतासे भिन्न भिन्न तेज उत्पन्न होता है और वह तेज अंतरिक्षमें इकट्ठा होता है। इससे वृष्टि और जल होता है, जलसे वनस्पतियां, उनसे अन्न, अन्नसे वीर्य और वीर्यसे पुरुष स्त्री मनुष्य आदि प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है। यह बड़े ब्रह्मचारीका जगत्में कार्य होता है।

छोटे ब्रह्मचारीका कार्य ।

अब छोटे ब्रह्मचारीका कार्य देखिये। छोटा ब्रह्मचारी वह है जो कि गुरुके घरमें जाता है और समित्समर्पणोंका पालन करके विद्याध्ययन करता है। परमात्मामें जो (१) अग्नि (२) सूर्य (३) चंद्र (४) वायु (५) जल आदि देवता हैं उनके स्थान इस ब्रह्मचारीमें क्रमशः (१) वाक् (२) नेत्र (३) मन (४) प्राण (५) वीर्य आदि हैं। यह छोटा ब्रह्मचारी अपनी समिधा इनमें डालता है और इनको प्रज्वलित करता है। ब्रह्मचर्यसे इसकी विद्याप्राप्ति जीवनकी पूर्णता और बल तथा अन्यान्य शक्तियोंका विकास करना इस छोटे ब्रह्मचारीका कार्य है। अपनी स्वकीय आत्मिक शक्तिकी समिधा वह अपनी इन अग्नियोंमें डालता है और उनको प्रज्वलित करके अर्थात् आत्मिक तपस्या करता है। जब इस तपकी ज्वाला बढ़ जाती है तब ब्रह्मचारीकी ज्वालाएं अंतरिक्षमें अर्थात् अंतःकरणमें या हृदयमें मिल जाती हैं। अर्थात् नेत्र, वाक्, मन, प्राण आदिका संबंध अंतःकरणमें हो जाता है। उससे एक प्रकारका विलक्षण तेज उत्पन्न होता है जिससे पुरुषकी प्रगति होती है, उसके ज्ञानकी वृद्धि होनेसे सर्वत्र कीर्ति फैलती है।

छोटे और बड़े ब्रह्मचारीके ये कार्य देखने योग्य हैं। इन कार्योंका देखनेसे दोनोंके कार्यक्षेत्रोंकी समानता व्यक्त होती है। यही समानता देखने योग्य है। आत्मा परमात्माका कार्यक्षेत्र और गुरुकुलमें इस प्रकार देखने योग्य है।

आचार्यका स्वरूप ।

चौदहवें मंत्रमें आचार्यको ही मृत्यु कहा है। क्योंकि उसकी कृपासे दूसरा जन्म प्राप्त होता है और जिससे द्विज बनता है। पहिला जन्म मातापितासे मिलता है। पहिले जन्मके बाद शरीरका मृत्यु अथवा मरण उपनयन-संस्कारके समय होता है, तत्पश्चात् इस ब्रह्मचारीका आत्मा विद्यादेवीके गर्भमें रहता है, विद्या और आचार्यके गर्भमें नियत समय अर्थात् १२ २४ ३६ ४८ वर्षतक रहकर उस गर्भसे बाहर आता है यह उसका दूसरा जन्म है। उपनयनका नाम मृत्यु है, इसलिये कि वह पहिले पार्थिव शरीरको दूर करके दूसरा धर्मरूप नवीन शरीर

देता है। आचार्य भी यही कार्य संस्काररूपसे करता है इसलिये आचार्य भी मृत्यु ही है।

आचार्य वरुण है। वरुण निवारण करता है। पापसे निवारण करता है और पुण्यमार्गमें प्रवृत्त करता है इसलिये आचार्य ही वरुण है। वरुण शब्द वरुण अर्थात् श्रेष्ठत्वदर्शक भी है। आचार्यकी श्रेष्ठता सुप्रसिद्ध ही है। आचार्यका अर्थ ही यह है कि (आचारं ग्राहयति) जो सदाचारकी शिक्षा देता है।

आचार्य सोम अर्थात् चंद्र है चंद्रके समान शांति और आल्हाद देनेका कार्य आचार्य करता है। आचार्यसे जो विद्या प्राप्त होती है वह शिष्यके अंतःकरणमें शांति और आनंद स्थिर करनेके लिये कारणीभूत होती है। "सोम" शब्दका दूसरा अर्थ (स+ उमा) उमा सहित ऐसा भी है। "उमा" शब्द संस्कृत विद्या अथवा ब्रह्मविद्या मूलप्रकृति वाचक केन उपनिषद् (३।१२) में आया है। यहां उमा शब्दका 'ब्रह्मविद्या' अथवा मूलप्रकृति' ऐसा अर्थ होता है। (अवति इति उमा) जो रक्षक विद्या जिसके प्रयोग होती है उसका नाम "उमा" है, इस प्रकारकी रक्षक विद्या जिसके पास होती है (उमया सहितः सोमः) उसको ज्ञानी अथवा समर्थ कहते हैं।

आचार्य ओषधि है। ओषधि शब्द "दोषधी" शब्दसे निरुक्तकार (निरु० ९।२७) बनाते हैं। दोषोंको दूर करनेका और स्वास्थ्य प्राप्त करनेका काम ओषधिका है। यही कार्य आचार्य करता है शिष्यके दोष दूर करके उसके अंदर (स्व स्थ-ता) स्वास्थ्य अर्थात् अपनी उन्नतिमें स्थिर रहनेका बल आचार्य देता है इस कारण आचार्य ही ओषधि है।

आचार्य दूध है। "पयः" शब्दका अर्थ दूध जल होते हुए बल, उत्साह इत्यादि है। इन सब अर्थोंका भाव सुविज्ञ पाठक समझ ही सकते हैं।

मंत्रमें आगे गुरुशिष्यके सहवासका महत्त्व कहा है। जो लाभ विशेषतः शिष्यको होता है वह गुरुसहवाससे ही होता है। मंत्रमें "अमा" शब्द सहवास अर्थात् साथ रहनेका भाव बता रहा है। सूर्य-चंद्रके एकत्र अवस्थानका नाम "अमा" अथवा अमावास्या है। यहां सूर्य स्वयंप्रकाशक होनेसे गुरु किंवा आचार्य है और चंद्र पराश्रित किंवा सूर्यके तेजसेही प्रकाशनेवाला होनेसे उसका शिष्य है। यह जो सूर्यचंद्रका सहवास "अमा-वास्या" के दिन होता है वही सहवास गुरुशिष्यके विषयमें यहां "अमा" शब्दसे बताया गया है। आचार्य-

रूपी सूर्यके किरणोंसे शिष्यकी चेतना प्रकाशित होती है और वे पूर्वोक्त विद्यारत्नकी समाप्तितक इकट्ठे रहते हैं। इतनाही नहीं परंतु यहां का "अमा" शब्द सूचित करता है कि गुरुशिष्यका सहवास विद्याध्ययनकी समाप्तितक अखंड ही होना चाहिये। नियत समयपर पढानेके लिये गुरु आवे और पढानेके पश्चात् चला जावे ऐसा अभिप्राय यहां नहीं है। गुरुके निरंतरके सहवाससे ही शिष्यकी आत्मा उन्नत होती है। इसी उद्देश्यसे गुरुकुलवासकी प्रणाली वेदमें कही है। गुरुके घरमें उसके पुत्रके समान शिष्य रहता है इस कारण वह गुरुके सब गुण देखता है और उनका अनुकरण करता है। गुरु शिष्यके नित्य सहवासके अनेक लाभ हैं और इस प्रकार वे आपसमें उन्नति करते हैं।

इस मंत्रमें "दुग्ध" शब्द है। "दुह प्रपूरणे-दोग्धि" इस धातुसे यह शब्द बना है। (१) प्रपूर्ण करना और (२) दोहन करना ये दो अर्थ "दुह" धातुके हैं। इस शब्दसे ये दोनों भाव हैं गुरु-शिष्यका सहवास पूर्ण करता है, यह भाव यहां है अर्थात् गुरुशिष्योंके सहवाससे विद्याका प्रचार होता है और ज्ञानदोहन होता है। इस सनातन ज्ञानका प्रवाह गुरुशिष्यसंबंधसे ही हमारे पास पहुंचा है। और यही ज्ञान आगे भी ऐसा बढता रहा है इसमें विवाद नहीं हो सकता।

अब यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि गुरु अपने शिष्यसे किस प्रकारकी गुरुदक्षिणा मांगता है? गुरुदक्षिणाका स्वरूप बतानेवाला शब्द इस मंत्रमें "ब्रह्म-चर्य" यह है। यह गुरुदक्षिणा "ब्रह्मके पालन करनेके विषयमें" होती है। ब्रह्मके पालनेके विषयमें अथवा ज्ञानका पालन करनेके विषयमें ही दक्षिणा होती है अर्थात् गुरु अपने स्वार्थका साधन करनेके लिये दक्षिणा नहीं मांगता अथवा आचार्य ऐसी दक्षिणा मांगता है कि जिससे उस ज्ञानके पालनेवाली कुछ सहाय बन सके। यह आचार्य सार्वजनिक हित करनेका विचारही मात्र देखने का है। इस प्रकार आचार्य कार्य शिष्यको कह रहा है कि वेदोक्त ब्रह्मचर्य के पालनके विषयमें उचित कर्तव्य करनेमें अपने आपको समर्पित करना ही गुरुका सदुपयोग है और इसमें कोई विरोध नहीं आ सकता है। गुरुके समान शिष्य भी ब्रह्मपालनका कर्तव्य अपना निश्चय करके अपने आपको उसका साधक सिद्ध करे।

स्वराज्यमें संपूर्ण समष्टिरूप जन प्रजापालनात्मक कार्य कर देशकी प्रजा-परिसंस्था के अंशभूत ही होते हैं इसलिये प्रत्येक अंशभूत व्यक्तिको संपूर्ण अपने राष्ट्रके अभ्युदयके लिये अपने कर्तव्यका अपनी पराकाष्ठा करना अत्यंत आवश्यक ही है।

सोलहवें मंत्रमें कहा है कि "आचार्यः ब्रह्मचारी" अर्थात् "राष्ट्रमें जो अध्यापक होते हैं, वे सब ब्रह्मचारी होने चाहिये।" ब्रह्मचारीका अर्थ यहां विवाह न किए हुए सज्जन ऐसा नहीं समझना चाहिये। विवाह करनेके पश्चात् भी ऋतुगामी होनेसे तथा अन्य नियमोंका परिपालन करनेसे ब्रह्मचारी रहना संभव है। छोटे मोटे सबही अध्यापक तथा अन्य सज्जन जो कि आचारिक कार्य करनेमें लगे होते हैं वे सब ब्रह्मचारी होने चाहिये। कामी, लोभी लोभी तथा स्वार्थी नहीं होने चाहिये। जब ब्रह्मचर्यका महत्त्व सब अध्यापकोंको ज्ञात होगा, तभी वे अपने शिष्योंको उसकी दीक्षा दे सकते हैं। और इस प्रकार जो ज्ञान अध्यापकोंके द्वारा राष्ट्रके युवकोंके मनमें स्थिर की जाती है, वह राष्ट्रमें दृढमूल हो जाती है।

आदर्श राज्य शासन।

क्षत्रिय भी ब्रह्मचारी होने चाहिये। राजा महाराजा सरदार प्रधान, मंत्री सेनानायक सैनिक प्रमाधिकारी तथा अन्य अन्य ओहदेदार स्वयं ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले ही होने चाहिये। यहां ब्रह्मचारी होनेका तात्पर्य केवल बाल्य अवस्थामें ब्रह्मचर्य पालन करनेसे नहीं है परंतु अपि गृहस्थी बननेके पश्चात् भी ब्रह्मचर्यके नियमोंका पालन करनेवाले सब राज्याधिकारी होने चाहिये। जहां ऐसे अधिकारी ब्रह्मचारी न होंगे वहांका प्रबंध ठीक धर्मानुसार नहीं हो सकता। प्रजा पालनका कार्य जो जो अधिकारी करता है उसे उचित है कि वह ब्रह्मचर्यके पालनके साथ उसकी सहायता अपना कार्य करे। राज्यके प्रधान अधिकारियोंको भी यहां सूचना मिलती है कि ओहदेदार नियत करनेके समय वे उनकी अन्य योग्यता देखनेके साथ यह भी बात अवश्य देखें कि वे ब्रह्मचारी और धार्मिक हैं या नहीं।

जिस राज्यमें इस प्रकार कार्य करनेवाले विद्याधिकारी और संरक्षणका कार्य करनेवाले राजा प्रजा उत्तम ब्रह्मचारी होंगे वहां की राज्यव्यवस्था जो कहा जाता है वही "आदर्श राज्य-व्यवस्था" कहलाती है। इस समय जो राज्य इस मूर्धस्थानपर चलाये जा रहे हैं वे लोभी लोग चला रहे हैं। लोभी लोग ही बाहुबल व्यापाराकी पूजा करते हैं। लोभी असुरोंसे प्रजाको बड़ी कष्ट पहुंचता है। इसलिये मंत्र ७ में कहा है कि, "ब्रह्मचारीने इंद्र बनकर असुरोंको दूर किया।" लोभी असुरोंको दूर करके त्यागी धर्मी जितेंद्रिय ब्रह्मचारि लोगोंको ही अधिकारपर लाना ब्रह्मचारीका राष्ट्रीय रक्षणका कार्य होता है।

ब्रह्मचर्यसे राष्ट्रका संरक्षण।

राजा, राजपुरुष आदि क्षत्रिय, तथा आचार्य और अध्यापक आदि ब्राह्मण, सब ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले होने चाहिये, इस विषयका उपदेश मंत्र १६ में दिया है। अब इस १७ वें मंत्रमें कहा है कि राजशासनसे तथा पाठशाला, गुरुकुल आदिके प्रबंधसे राष्ट्रके ब्रह्मचर्यका पालन होवे।

राजा अपने राज्यमें ऐसा शासनका प्रबंध रखे कि सब अधिकारी ब्रह्मचर्य-पालन करनेवाले हों और वे अपने अधिकारक्षेत्रमें रहनेवाली जनताके ब्रह्मचर्यका पालन करावें। इस प्रकार प्रत्येक अधिकारी व्यवस्था करेगा तो संपूर्ण राज्य ब्रह्मचर्यपालन करनेवाला बन सकता है। ब्रह्मचर्यका तात्पर्य यहां संयमसे है। राज्यमें व्यभिचार न हो, विवाह योग्य समयमें हो, विवाह होनेपर इंद्रिय विषयक अत्याचार और व्यभिचार न हो संयम और स्वास्थ्यहितप्रद व्यवहार किया जावे इस प्रकार गृहस्थ ब्रह्मचर्य पालन हो सकता है। इस प्रकार का ब्रह्मचर्य राज्य-शासनके द्वारा सब लोगोंसे पालन कराके राजा राष्ट्रका विशेष रीतिसे संरक्षण कर सकता है।

सर्वसाधारण जनता अज्ञानी होनेके कारण सुनियमोंका पालन स्वयं नहीं करती। परंतु जब राज्यशासनके प्रबंधसे ही सुनियमोंका पालन होता है तब वे लोग भी उन नियमोंका पालन करनेका काम कर सकते हैं। जनताकी उन्नति व अवनति भी अवस्थाके अनुसार नियमोंमें परिवर्तन हो सकता है। परंतु यहां ब्रह्मचर्य परिपालन राष्ट्रसंबंधी लोकव्यवहार, कुलसंस्थान उपासना आदिका प्रबंध है। राजसंबंधि ही यह नियम रखने चाहें और राजा उनसे इनका पालन कराके जनताका संरक्षण करे। यह इस मंत्रका तात्पर्य है।

कन्याओंका ब्रह्मचर्य।

पूर्व मंत्रमें सूचित हो गया है कि राजा सर्वसाधारण सब जनता-का ही ब्रह्मचर्यका पालन करानेके प्रयास विशेष प्रबंध करता रहे

इस सम्मतमें जैसे पुत्रोंका वैसाही कन्याओंका भी ब्रह्मचर्य पालन होना चाहिये। पुत्रोंके ब्रह्मचर्यके विषयमें किसीको शंका नहीं हो सकती क्योंकि ब्रह्मचारी शब्द पुल्लिंगमें होनेसे पुत्रोंके ब्रह्मचर्यकी आज्ञा वेदसे सिद्ध हो गई है। इस अठारहवें मंत्रमें 'कन्या' शब्दसे स्त्रीलिंग ब्रह्मचर्यकी सूचना हो गई है। अर्थात् बालक और बालिकाओंके लिये समानही ब्रह्मचर्य है और इस मंत्रके अनुसार दोनोंके ब्रह्मचर्यका पालन समानपद्धतिसे ही होना चाहिये।

पशुओंका ब्रह्मचर्य।

घोडे बैल आदि पशु अधिकतर ब्रह्मचारी ही रहते हैं। अति कामभाव उनमें नहीं होता। कामुक मनुष्योंके समान पशुओंमें कामुकता नहीं होती। मनुष्योंकी अपेक्षा पशुओंमें कामोपभोग न्यूनही होता है इसलिये वे आयुभर ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं। उनको देखकर मनुष्योंको बहुत बोध लेना उचित है।

अपमृत्युको हटानेका उपाय।

उन्नीसवें मंत्रमें कहा है कि अपमृत्यु दूर करनेका उपाय ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य आयुष्य वृद्धि करनेवाला और रोग दूर करनेवाला है। जो ब्रह्मचर्यका पालन करता है वह मृत्युको दूर कर सकता है। इसी रीतिसे देव अमर बने हैं। जो देवोंको साधन हुआ वह तपस्यासे मनुष्य भी प्राप्त कर सकते हैं। देवोंका राजाधिराज इंद्र भी सबसे अधिक तेजस्वी है क्योंकि उसने सबसे अधिक ब्रह्मचर्यका पालन किया था। जो इसप्रकार ब्रह्मचर्यका अधिक पालन करेगा वह उस प्रमाणसे तेजस्वी हो सकता है। ब्रह्मचर्यका तेज उसके मुखपर ही दिखाई देता है। ब्रह्मचारी जितेंद्रिय पुरुषका मुख अत्यंत प्रसन्न तेजस्वी उत्साही और स्फूर्तियुक्त होता है। इसलिये हरएकने ब्रह्मचर्यका पालन अवश्यमेव करना चाहिये।

औषधि आदिकोंका ब्रह्मचर्य।

सूर्य ब्रह्मचारी है क्योंकि वह अकेले आकाशमें संचार करता है और अकेला रहता है। इस ब्रह्मचारी-सूर्यसे संवत्सर अर्थात् वर्ष ऋतु मास दिन रात्रि तथा भूत वर्तमान और भविष्य ये तीनों काल प्रकट हो रहे हैं। यह सूर्यके ब्रह्मचर्यकी महिमा है।

औषधि वनस्पति भी ऊर्ध्वरेता होनेके कारण ब्रह्मचारी हैं। औषधि वनस्पतियोंका पालक मेघ किया वर्णन है। वह मेघ भी ब्रह्मचारी है क्योंकि वह 'ऊर्ध्वरेता' है। 'ऊर्ध्व' अर्थात् ऊपर स्थान जिसका 'रेतः' अर्थात् उदक जिसने ऐसा मेघ है इसलिये वह 'ऊर्ध्वरेता' है और इसी हेतुसे ब्रह्मचारी भी है। इसी ब्रह्मचर्य-सूक्तके मंत्र १२ में मेघ ब्रह्मचारीका वर्णन आ चुका है। वहां कहा है कि यह ब्रह्मचारी मेघगर्जना करता हुआ पृथ्वीपर और भूमिपर (रेतः) जलका सिंचन करता है जिससे चारों दिशायें जीवित रहती हैं। ऊर्ध्वरेता होनेके कारण मेघमें सृष्टिका पालन करनेकी शक्ति आगई है, इस प्रकार ऊर्ध्वरेता होना जिसमें भी संभव होगा उसमें पालन करनेकी शक्ति आ सकती है। सूर्य भी अपनी किरणोंसे उदकको ऊपर खींचता है। मनुष्य भी प्राणके आकर्षणसे वीर्यको अपने ऊपर खींच सकता है। इस प्रकार मेघ और सूर्यके उदाहरणसे ब्रह्मचर्यका माहात्म्य वर्णन किया है।

पशुपक्षियोंका ब्रह्मचर्य।

पहिले बैल और घोडेके विषयमें मंत्र १८ में कहा है कि वे ब्रह्मचारी हैं। प्रायः सभी पशुपक्षी ब्रह्मचारी हैं। वे ऋतुके बीचके काल कामेच्छा अत्यल्प दिखाई देती है। साधारणतः पशु ऋतुगामी होते हैं। ऋतुकालके सिवा अन्य समयमें वे न तो नरके पास जाते हैं और न तो नरको अपने पास आने देती हैं। सिंह व्याघ्र आदि क्रूर पशुओंमें तो ब्रह्मचर्य और एकपत्नीव्रत विशेष ही रहता है। परमात्माने उनमें कुछ ऐसी व्यवस्था की है कि उनको ऋतुकालके सिवाय अन्य समयमें कामोद्दीपन भी नहीं होता। कई पशुओंमें इस नियममें अपवाद भी हैं परंतु वह अपवाद पूर्वोक्त नियमको ही सिद्ध कर रहा है। पशुपक्षियोंका ब्रह्मचर्य देखकर अन्य मनुष्योंको इस विषयमें बोध लेना चाहिये। पूर्व कहा है कि औषधिवनस्पतियाँ आदि भी ऋतुकालमें ही फलती होनेके कारण ऋतुगामी हैं वैसे ब्रह्मचारी हैं। संवत्सर भी ऋतुओंमें ही गमन करता है इसलिये वह भी ऋतुगामी होनेसे ब्रह्मचारी है।

ब्रह्मचारीका ज्ञान ब्रह्मा से प्राप्त करता है, यह संबंध स्पष्ट ही है। क्यों कि ज्ञानसे ही उसका संबंध होता है यह बाईसवें मंत्रमें कहा है।

देवोंका तेज ।

तीसरे मन्त्रमें देवोंके तेजका वर्णन है। जो उत्साह और स्फुरण देता है जो सबसे श्रेष्ठ भाव उत्पन्न करता है और जो स्वयं तेजयुक्त होकर दूसरोंको भी तेजस्वी करता है वह देवोंका तेज है। राष्ट्रमें विद्वान् जन होते हैं और वे उच्च प्रकारका चैतन्यपूर्ण तेज अपने राष्ट्रमें उत्पन्न करते हैं। शरीरमें ज्ञानेन्द्रिय तथा अन्तःकरण आदि देव हैं कि जो यह शरीरमें रहकर उससे भी विलक्षण स्फूर्तिसे कार्य करा रहे हैं। तथा संपूर्ण जगत्में सूर्यचन्द्रादिक देव अपना विलक्षण तेज फैलाकर सब जगत्को चलता कर रहे हैं। तात्पर्य यह कि सर्वत्र यही नियम है कि जो देव होते हैं, वे श्रेष्ठ तेजका प्रसार करके विलक्षण उत्साह उत्पन्न करते हैं।

यही तेज ज्ञान और स्फूर्ति ब्रह्मचारीसे फैलती है और देवोंमें कार्य करती है तथा अमरपन भी देती है।

उपदेशका अधिकारी ।

चौथे और पांचवे मन्त्रमें ब्रह्मचारीके विशेष ज्ञानका वर्णन है। ब्रह्मचारी विलक्षण ज्ञान प्राप्त करता है और इस लिये उसका अद्भुत तेज फैलता है। इस हेतुसे उसके अन्दर सब देवताएं ओतप्रोत होकर रहती हैं। उससे कोई देवता और उसकी शक्ति अलग नहीं होती। अर्थात् सब देवताओंकी पूर्ण शक्तिके साथ वह अपना कार्य चलाता है। प्राणायामादि योगसाधन द्वारा वह अपने प्राण अपान, व्यान आदि सब प्राणोंको अपने स्वाधीन करता है। प्राण वश होनेसे उसका मन वश होता है क्यों कि प्राण और मन शरीरमें एकत्र मिलेजुले रहते हैं। यदि प्राण निर्बल रहा तो मन निर्बल रहता है और मन स्थिर होनेपर प्राणकी चंचलता भी दूर हो जाती है। प्राण और मन स्थिर होनेसे हृदयकी स्निग्ध शक्ति प्रकट होती है तथा हृदय और मन नियमबद्ध होनेसे मेधाबुद्धिमें ज्ञानका संचय होने और बढने लगता है। तब उसकी योग्यता होती है कि वाणीद्वारा वह अपने ज्ञानका प्रचार करे। इसी प्रकारके सुयोग्य उपदेशकके उपदेशसे जनता प्रभावित होती है। क्यों कि उसका कथन अनुभवके अनुकूल होता है।

इस समय लोग चाहते हैं कि अपने उद्धारका कोई सदुपदेश उससे प्राप्त हो। जहां जब ब्रह्मचारी पहुंचता है वहांसे सज्जन उससे कहते हैं कि हे ब्रह्मचारी! हमें उपदेश दो! चक्षु श्रोत्र आदि इंद्रियोंकी शक्ति बढाने तथा उनको नीरोग और प्रभावशाली करनेकी रीति बताओ! कोई कहते हैं कि आंखकी न्यूनता क्या कष्ट दे रही है इसलिये कहो कि विपुल बल कैसे प्राप्त होगा? कोई महाशय पूछते हैं कि पेट ठीक करनेका उपाय क्या है! हाजमा ठीक नहीं है इसका कोई उपाय कहो। वे पूछते हैं कि हमारा चित्त स्थिर नहीं रहता और ध्यान भी चंचल हो गया है; इसके लिये क्या उपाय करने चाहिये।

पूर्वोक्त प्रकार जो जो प्रश्न लोग पूछते हैं उनका यथायोग्य उत्तर ब्रह्मचारी देता है, भावना और युक्तिपूर्वक उनकी शंकाओंका निरसन करता है और उनको ठीक मार्गपर चलाता है। इतनी योग्यता होनेपर भी अपनी आत्मिक शक्ति बढानेके लिये वह पवित्र स्थानमें रहता हुआ तप करता है और आत्मशक्तिका विकास करता ही रहता है। इस प्रकारका तपस्वी जब अपने तपकी समाप्ति करता है और तपस्याके प्रभावसे जब प्रभावित आत्मशक्तिसे युक्त होता है, तब अत्यंत तेजस्वी होनेसे इस पृथ्वीपर उसकी शोभा अत्यंत बढती है। यह ब्रह्मचर्यका तेज है इसलिये हरएकको ब्रह्मचर्यके नियमोंका पालन करके अपनी आत्मशक्तिका विकास करना चाहिये।



पापसे बचानेकी प्रार्थना।

(६)

(ऋषिः–शन्तातिः । देवता–चन्द्रमाः, मन्त्रोक्ताः ।)

अ॒ग्निं ब्रू॑मो वन॒स्पती॒नोष॑धीरु॒त वी॒रुधः॑ । इन्द्रं॒ बृह॒स्पतिं॒ सूर्यं॒ ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ १ ॥
ब्रू॒मो राजा॑नं॒ वरु॑णं मि॒त्रं विष्णु॒मथो॒ भग॑म् । अंशं॒ विव॑स्वन्तं ब्रूमस्ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ २ ॥
ब्रू॒मो दे॒वं स॑वि॒तारं॑ धा॒तार॑मु॒त पू॒षण॑म् । त्वष्टा॑रमग्रि॒यं ब्रू॑मस्ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ ३ ॥
ग॒न्ध॒र्वाप्स॒रसो॑ ब्रूमो अ॒श्विना॒ ब्रह्म॑ण॒स्पति॑म् । अ॒र्य॒मा नाम॒ यो दे॒वस्ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ ४ ॥
अ॒हो॒रा॒त्रे इ॒दं ब्रू॑मः सूर्याच॒न्द्रम॑सावु॒भा । विश्वा॑नादि॒त्यान् ब्रू॑म॒स्ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ ५ ॥
वातं॑ ब्रूमः प॒र्जन्य॑म॒न्तरि॑क्ष॒मथो॒ दिशः॑ । आशा॑श्च॒ सर्वा॑ ब्रूम॒स्ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ ६ ॥
मु॒ञ्चन्तु॑ मा शप॒थ्या॒दहोरा॒त्रे अथो॑ उ॒षाः । सोमो॑ मा दे॒वो मु॑ञ्चतु॒ यमा॒हुश्च॒न्द्रमा॒ इति॑ ॥ ७ ॥
पार्थि॑वा दि॒व्याः प॒शव॑ आर॒ण्या उ॒त ये मृ॒गाः । श॒कुन्ता॑न् प॒क्षिणो॑ ब्रूम॒स्ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ ८ ॥
भ॒वा॒श॒र्वावि॒दं ब्रू॑मो रु॒द्रं प॑शु॒पति॑श्च॒ यः । इषू॒र्या ए॑षां संवि॒द्म ता नः॑ सन्तु॒ सदा॑ शि॒वाः ॥ ९ ॥

अर्थ— अग्नि वनस्पति ओषधि (वीरुधः) लता इन्द्र, बृहस्पति और सूर्यकी (ब्रूमः) हम सब प्रार्थना करते हैं कि (ते) वे (नः अंहसः) हम सबको पापसे (मुञ्चन्तु) बचावें ॥ १ ॥

राजा वरुण मित्र (अथो) और भग अंश विवस्वान् ॥ २ ॥ सविता देव धाता पूषा (अग्रियं त्वष्टारम्) मुख्य त्वष्टा ॥ ३ ॥ गंधर्व और अप्सरागण अश्विनी देव ब्रह्मणस्पति, (यः अर्यमा नाम देवः) और जो अर्यमा नामक देव है ॥ ४ ॥ अहोरात्र सूर्य और चन्द्र ये (उभा) दोनों (विश्वान् आदित्यान्) सब आदित्य ॥ ५ ॥ (वातं) वायु पर्जन्य अन्तरिक्ष (अथो) और दिशा (आशाः) सब इनकी (ब्रूमः) हम सब प्रार्थना करते हैं कि (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ ६ ॥

अहोरात्र और उषाएं (मा शपथ्यात् मुञ्चन्तु) मुझे शापसे मुक्त करें (यं चन्द्रमा इति आहुः) जिसे चन्द्रमा कहा जाता है वह सोम देव (मा मुञ्चतु) मुझे पापसे मुक्त करे ॥ ७ ॥

(पार्थिवाः दिव्याः पशवः) पृथ्वीके ऊपरके पशु और आकाशमें रहनेवाले पक्षी (उत ये आरण्याः मृगाः) और जो अरण्यमें रहनेवाले मृग हैं शकुन्त पक्षी हैं उनके प्रार्थना करते हैं कि वे हमें पापसे बचावें ॥ ८ ॥

भव और शर्व (यः पशुपतिः रुद्रः) जो पशुपालक रुद्र है (याः इषूः) जो इनके बाण (संविद्म) हमें विदित हैं (ताः) वे (नः सदा शिवाः सन्तु) हमारे लिये सदा कल्याणकारी हों ॥ ९ ॥

दिवं ब्रूमो नक्षत्राणि भूमिं यक्षाणि पर्वतान्। समुद्रा नद्यो वेशन्तास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १०॥
सप्तर्षीन् वा इदं ब्रूमोऽपो देवीः प्रजापतिम्। पितॄन् यमश्रेष्ठान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ ११॥
ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये। पृथिव्यां शक्रा ये श्रितास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १२ ॥
आदित्या रुद्रा वसवो दिवि देवा अथर्वाणः। अङ्गिरसो मनीषिणस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १३ ॥
यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा। यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १४ ॥
पञ्च राज्यानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः। दर्भो भङ्गो यवः सहस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १५ ॥
अरायान् ब्रूमो रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् पितॄन्। मृत्यूनेकशतं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १६॥
ऋतून् ब्रूम ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान्। समाः संवत्सरान् मासांस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १७ ॥
एत देवा दक्षिणतः पश्चात् प्राञ्च उदेत।
पुरस्तादुत्तराच्छक्रा विश्वे देवाः समेत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १८ ॥
विश्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसंधानृतावृधः। विश्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १९॥

अर्थ- (दिवं) द्युलोक नक्षत्र भूमि, (यक्षाणि) यक्ष, पर्वत समुद्र नदियां, (वेशन्ताः) जलाशय ॥ १० ॥ सप्तर्षिगण (आपः देवीः) जल प्रजापति (यमश्रेष्ठान् पितॄन्) पितर और उनका अधिपति यम ॥ ११ ॥

(ये दिविषदः देवाः) जो द्युलोकमें रहनेवाले देव हैं (च ये अन्तरिक्षसदः) और अन्तरिक्षमें रहनेवाले हैं (ये शक्राः) जो समर्थ देव (पृथिव्यां श्रिताः) पृथिवीका आश्रय किये हैं (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ १२ ॥

आदित्य रुद्र, वसु (दिवि अथर्वाणः देवाः) द्युलोकमें जो निश्चल देव हैं तथा (मनीषिणः अङ्गिरसः) मननशील अंगिरस हैं (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ १३ ॥

यज्ञ यजमान [ऋचः] ऋग्वेद साम [भेषजा] वैद्यके ग्रंथ [यजूंषि] यजुर्वेद [होत्राः] होमहवन कर्म ॥ १४ ॥
[वीरुधां सोमश्रेष्ठानि पञ्च राज्यानि] जिनमें सोम श्रेष्ठ है ऐसी औषधियोंके पांच राज्य दर्भ [भङ्ग] भांग [यवः] जौ और [सहः] बलवाली घास को [ब्रूमः] हम कहते हैं कि [ते] वे हम सबको पापसे बचावें ॥ १५ ॥

[अरायान् रक्षांसि] अराय राक्षसों सर्पों पुण्यजनों और पितरों [एकशतं मृत्यून्] एक सौ मृत्युओंको ॥ १६ ॥
ऋतुओं, ऋतुओंके पतियों, [आर्तवान् उत हायनान्] ऋतुओंके वर्षकाले अयनों [समाः संवत्सरान् मासान्] सम वर्ष संवत्सर और महिनोंको हम कहते हैं कि वे हमको पापसे बचावें ॥ १७ ॥

हे (देवाः) देवो! (दक्षिणतः एत) दक्षिण दिशासे आओ पश्चात् (प्राञ्चः उदेत) पूर्व दिशामें उदयको प्राप्त होओ (विश्वे शक्राः देवाः) सब समर्थ देव (पुरस्तात् उत्तरात् समेत्य) समक्ष उत्तर दिशामें इकट्ठे होकर (ते नः) हम सबको पापसे बचाओ ॥ १८ ॥

(सत्यसंधान्) सत्यप्रतिज्ञ (ऋतावृधः) सत्यको बढानेवाले (विश्वान् देवान्) सब देवोंको (इदं ब्रूमः) यह कहते हैं कि वे (विश्वाभिः पत्नीभिः सह) अपनी सब पत्नियोंके साथ आकर (मु०) हम सबको पापसे बचावें ॥ १९-२ ॥

*

सर्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसंधानृतावृधः । सर्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥२०॥
भूतं ब्रूमो भूतपतिं भूतानामुत यो वशी । भूतानि सर्वा संगत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥२१॥
या देवीः पञ्च प्रदिशो ये देवा द्वादशर्तवः । संवत्सरस्य ये दंष्ट्रास्ते नः सन्तु सदा शिवाः ॥२२॥
यन्मातली रथक्रीतममृतं वेद भेषजम् । तदिन्द्रो अप्सु प्रावेशयत् तदापो दत्त भेषजम् ॥२३॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

(यः वशी) जो सबको वश करनेवाला है उस (भूतानां भूतपतिं) भूतोंके अधिपतिको तथा (भूतं) भूतको भी (ब्रूमः) कहते हैं कि (सर्वा भूतानि संगत्य) सब भूत मिलकर हम सबको पापसे बचावें ॥ २१ ॥

(याः पञ्च देवीः प्रदिशः) जो दिव्य पांच दिशाएं हैं (ये द्वादश ऋतवः देवाः) जो बारह ऋतु देव हैं [ये संवत्सरस्य दंष्ट्राः] जो वर्षके दाढके समान हैं [ते नः सदा शिवाः सन्तु] वे हम सबको सदा शुभ हों ॥ २२ ॥

[मातलिः] मातलि [यत् रथक्रीतं अमृतं भेषजं वेद] जिस रथके द्वारा प्राप्त अमरत्व देनेवाले औषधको जानता है [इन्द्रः तत् अप्सु प्रावेशयत्] इन्द्रने उस औषधको जलोंमें प्रविष्ट किया है, हे [आपः] जलो ! [तत् भेषजं दत्त] उस औषधको हमें दीजिये ॥ २३ ॥

भावार्थ—इन सब देवताओंकी सहायतासे मनुष्यमात्र पापसे बच जावे ॥ १-२३ ॥

इस सूक्तका विचार।

इस सूक्तमें मनुष्योंको पापोंसे दूर करनेके लिये अर्थात् उनको निष्पाप करनेके लिये देवताओंकी प्रार्थना है।

इस प्रार्थनाकी विशेषता यह है कि यह प्रार्थना सार्वजनिक अर्थात् सामूहिक है। सब लोगोंसे मिलकर की जानेवाली यह प्रार्थना है अतः इसमें 'ते नो मुञ्चन्त्वंहसः' वे हम सब प्रार्थना करनेवालोंको पापसे मुक्त करें ऐसा बहुवचन प्रयोग किया है। सामूहिक प्रार्थनाका महत्त्व वैदिक सारस्वतमें विशेष है क्योंकि उससे संघशक्ति बढती है।

अब इस सूक्तमें जिन देवताओंका नामनिर्देश आया है उनका वर्गीकरण इस तरह है—

पृथ्वीस्थानीय देवता।

१ अग्नि १
२ वनस्पति १
३ ओषधि १
वीरुधः १
[illegible]
६ ([illegible]

६ [illegible] ७
७ [illegible] ७
८ पार्थिवाः पशवः ८
९ आरण्याः मृगाः ८
१ [illegible] १

११ वृक्ष १
१२ पर्वत १
१३ समुद्र १
१४ नदी १०
१५ वेदाश्वाः १
१६ पृथिव्यां पशवः स्थिताः १२
१७ वसवः [अष्टौ] १३
१८ अथर्वाणः १३
१९ अङ्गिरसः १३
२ यज्ञ १४
२१ यजमानाः १४
२२ ऋचाः १४
२३ सामानि १४
२४ भेषजानि १४
२५ यजु १४
२६ होत्राः १४
२७ वीरुधो यस्य राज्यानि १५
२८ सोम (वनस्पति) १५
२९ दर्भ १५
३ भंग १५
३१ यवः १५
३२ सहः १५
३३ अराय १६
३४ रक्षांसि १६
३५ सर्प १६
३६ पुण्यजन १६
३७ मृत्यु (एकशतं मृत्यवः) १६
३८ ऋतु (द्वादश) १७ १९
३९ ऋतुपति १७
४ आर्तव १७
४१ हायन १७
४२ समाः १७
४३ संवत्सर १७
४४ मासाः १७
४५ विश्वेदेवाः १८ १९
४६ देवपत्न्यः १९
४७ भूत २१
४८ भूतानां, भूतपति २१
४९ भेषज २२

अन्तरिक्ष स्थानीय देवता

१ गन्धर्व ४
२ अप्सराः ४
३ चन्द्रमाः ५
४ वायु ६
५ पर्जन्य ६
६ अन्तरिक्ष ६
७ दिशः ६
८ सर्वाः आशाः ७
९ सोमः ७
१ पक्षिणः ८
११ शकुन्त ८
१२ भव ९
१३ शर्व ९
१४ रुद्र ९
१५ पशुपतिः ९
१६ इषु ९
१७ यम ११
१८ पितर ११ १६
१९ अन्तरिक्षसदः देवाः १२
२ रुद्राः (एकादश) ११

द्युस्थानीय देवता।

१ इन्द्र १
२ बृहस्पति ६
३ सूर्य १ ५
४ राजा वरुणः २

५ मित्र २
६ विष्णु २
७ भग २
८ अंश २
९ विवस्वान् २
१० सवितादेव २
११ धाता २
१२ पूषा २
१३ त्वष्टा २
१४ अश्विनौ २
१५ बृहस्पति २
१६ अर्यमा २
१७ विश्वे आदित्याः (द्वादश) ५, १२
१८ दिव्याः पशवः (पक्षिणः) ८
१९ भूः १
२० नक्षत्राणि १
२१ सर्वदेव ११
२२ देवीः आपः ११
२३ प्रजापति ११
२४ द्विविधाः देवाः १९ ११

यहां तीन स्थानोंमें देवताओंको बांटकर रखा है। देवतानामके आगे जिस मंत्रमें वे देवता आये हैं उनके अंक रखे हैं। और कई देवतायें अन्तरिक्ष स्थानमें अथवा द्युस्थानमें आने योग्य होने परभी उनको पृथ्वी स्थानीय मानवोंके साथ संबंध आनेके कारण पृथ्वीस्थान में रखा है। इनका भेद विचार की सुबोधताके लिये किया है यह पाठक ध्यानमें रखें।

पृथ्वीस्थानमें	४८
अन्तरिक्षस्थानमें	९
द्युस्थानमें	३४

मिलकर कुल ९१ इतनी देवताएं हुईं।

इनमें ८वसु, ११रुद्र १२आदित्य ४९मरुद्गण ३ ऋभु १२मास १२ऋतु ६ऋतु २अयन ६ऋतुपति अधिपति, ७ उपदिशा ये १८४ देवताएं अधिक होती हैं। इनमेंसे १२ पुनरुक्त होनेसे कम किये जाय तो शेष १७२ रह जाती हैं इनके साथ पूर्वोक्त ९१ देवताओंके मिलानेसे २६३ देवताएं होती हैं।

इन देवताओंका मानवोंके साथ कैसा संबंध आता है यह देखकर पापसे बचनेका यत्न साधक को करना उचित है।

इसमें कई देवताएं पापके लिये सहायकभी होती हैं। जैसे भूमि जल वनस्पती पशु पक्षी इनके कारणही मनुष्य युद्ध करते आये हैं आपसमें झगडते रहे हैं भूमिके कारण कितने युद्ध हुए हैं और कितने मानव कटे मरे हैं यह इतिहास में देखने योग्य है। मानवोंमें राक्षसभाव इनके कारण ही आता है। अथवा वो इनी राक्षसभावसे है। इसलिए ऐसा करना चाहिये कि मानवोंका राक्षसभाव दूर हो जाय और उनमें दैवी भाव स्थिर हो जाय। इसीलिये कहा है कि—

ते नः सन्तु सदा शिवाः। ११। ९

वे सब देव हमारे लिये सदा शुभमार्ग बतानेवाले हों। इस मार्गमें अशुभपथी होनेकी संभावना उचित होती है। मन वश में रखकर किसी प्रकारकी अशुभभावनी मनमें न उठे ऐसा प्रयत्न करना चाहिये।

इसतरह मनुष्य पापसे बच सकता है। मन शीघ्र रहेगा तो पाप होगा यदि मन स्वस्थान होगा तो मनुष्य पापसे दूर रहेगा।

इसतरह विचार करके मानव पापसे बचनेका साधन करे और पवित्रात्मा होकर यशस्वी बने।

उच्छिष्ट ब्रह्मसूक्त।

(७)

(ऋषिः—अथर्वा। देवता— अध्यात्मम्, उच्छिष्टः)

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः। उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥१॥
उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम्। आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः ॥२॥
सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः। लौक्या उच्छिष्ट आयत्ता व्रश्च द्रश्चापि श्रीर्मयि ॥३॥
दृढो दृंहस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वसृजो दश। नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः ॥४॥
ऋक् साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम्।
हिङ्कार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि ॥५॥
ऐन्द्राग्नं पावमानं महानाम्नीर्महाव्रतम्। उच्छिष्टे यज्ञस्याङ्गान्यन्तर्गर्भ इव मातरि ॥६॥

अर्थ— (उच्छिष्टे नाम रूपं) उच्छिष्ट अर्थात् अवशिष्ट आत्मामें नाम और रूप (उच्छिष्टे लोकः आहितः) उच्छिष्टमें लोकलोकान्तर स्थित हैं। (उच्छिष्टे इन्द्रः च अग्निः च) उच्छिष्टमें इन्द्र और अग्नि तथा (अन्तः विश्वं समाहितं) उसके अन्दर संपूर्ण विश्व समाया है ॥ १ ॥

(उच्छिष्टे द्यावापृथिवी) उच्छिष्टमें द्युलोक और भूलोक (विश्वं भूतं समाहितं) सब भूतमात्र ठहरे हैं (उच्छिष्टे आपः समुद्रः चन्द्रमाः वातः आहितः) जल समुद्र चन्द्रमा वायु ये सब उसीमें स्थिर हुए हैं ॥ २ ॥

(सत् असत् च उभौ उच्छिष्टे) सत् और असत् ये दोनों उच्छिष्टमें हैं (मृत्युः वाजः प्रजापतिः) मृत्यु अन्न बलवान् और प्रजापालक (लौक्याः व्रः च द्रः च) लोकोंके संबंधमें सब वस्तु तथा [illegible] और नाश करने वाला धर्म। स्वार्थ (उच्छिष्टे आयत्ताः) उच्छिष्टमें ही समर्पित हुए हैं। (श्रीः मयि) शोभा मुझमें है ॥ ३ ॥

(दृढः दृंह स्थिरः न्यः) दृढ दृढताके स्थिर रहनेवाला और नतिमान् (ब्रह्म विश्वसृजः दश देवताः) ब्रह्म विश्वकी उत्पत्ति करनेवाली दस शक्तियां धारण करनेवाली देवताएं (नाभिं चक्रं इव सर्वतः) नाभिचक्रके चारों ओर रहनेके समान सब ओरसे (उच्छिष्टे श्रिताः) उच्छिष्टमें ही स्थित हैं ॥ ४ ॥

ऋग्वेद सामवेद यजुर्वेद उद्गीथ (प्रस्तुतं स्तुतं) स्तुति और स्तवन हिंकार स्वर (साम्नो मेडिः) सामगानके आलाप ये सब उच्छिष्टमें हैं (तन्मयि) वह सब मुझमें रहे ॥ ५ ॥

(ऐन्द्राग्नं पावमानं) इन्द्र, अग्नि और पवमान वायुके सूक्त, (महानाम्नीः महाव्रतं) महानाम और महाव्रतवाले यज्ञ भाग ये सब (यज्ञस्य अङ्गानि उच्छिष्टे) यज्ञके अंग उच्छिष्टमें स्थित हैं जैसे (मातरि अन्तः गर्भः इव) माताके अन्दर गर्भ रहता है ॥ ६ ॥

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥२४॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे० ॥२५॥
आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे० ॥२६॥
देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २७ ॥ (२१)

अर्थ— ऋचा साम छन्द, पुराण और यजुर्वेद प्राण अपान चक्षु, श्रोत्र [क्षितिः अक्षितिः] भौतिक और अभौतिक पदार्थ आनन्द मोद प्रमोद, [अभीमोदः मुदः] प्रत्यक्ष आनंद देव पितर, मनुष्य गंधर्व, अप्सरा, द्युलोकमें रहनेवाले सब देव ये सब [उच्छिष्टात् जज्ञिरे] उच्छिष्टसे उत्पन्न हुए हैं ॥ २४-२७ ॥



उच्छिष्ट सूक्तका आशय।

इस सूक्तकी भाषा अत्यंत सरल होनेके कारण इसका भावार्थ पृथक् लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

उच्छिष्टका अर्थ।

" उच्छिष्ट " अर्थात् ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट जो उच्च स्थानमें अवशिष्ट रहा है। विश्व बननेके पश्चात् जो भाग अव शिष्ट रहा है उसका नाम उच्छिष्ट है। पुरुषसूक्तमें कहा है—

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।

(ऋ. १।९।१०)

'त्रिपाद् पुरुष उच्च स्थानमें उदित हुआ है और उसका एक भाग यहां इस विश्वमें पुनः पुनः होता है। एक अंशसे यह विश्व बनता और बिगड़ता है, परंतु जो त्रिपाद् पुरुष अव शिष्ट ऊर्ध्व भागमें रहा है वह वैसा ही एकरूपमें रहता है। इस तरह परब्रह्मका एक अल्पसा भाग विश्वरूपाकार होता रहता है और शेष सब मूल स्थितिमें अवशिष्ट रहा है। इसी का नाम उच्छिष्ट है। यही ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट रहा है।

(उच्छिष्टे नाम रूपं) इसी परब्रह्ममें नामरूप रहा है इतना कहनेसे सब कुछ उसीमें है ऐसा कहा है क्योंकि जो कुछ इस विश्वमें है वह रूपात्मक है और नामात्मक भी है। जिसका रूप नहीं और जिसका नाम नहीं ऐसा यहां कुछ भी नहीं है। संपूर्ण विश्वही नामरूपात्मक है। हम किसीका नाम लेते हैं और नाम लेते ही आंख के सामने वह रूप आता है यही नामरूप है और यह सब नामरूप इस उच्छिष्ट परब्रह्ममें रहा है।

नाम भी उच्छिष्टमें है और रूप भी उच्छिष्टमें है इतना कहनेसे उस उच्छिष्ट परब्रह्ममें नामरूप रहा है ऐसा अर्थ हुआ। जैसे घडा यह नाम और घडेका रूप यह सब मिट्टीमें रहता है। अर्थात् यह मिट्टी ही नामरूपात्मक घटाकार होकर हमारे सामने आती है। इसी तरह उच्छिष्ट परब्रह्म नामरूप धारण करके विश्वाकार होकर विश्वरूपी बनकर हमारे सामने आता है। यही परमात्माका विश्वरूपदर्शन जो भगवद्गीताके ११ वें अध्यायमें कहा गया है और यजुर्वेदके ३१ वें अध्यायमें वर्णित हुआ है।

उच्छिष्टमें रूप।

उच्छिष्टमें नामरूप रहे हैं' यही मंत्रभाव मुख्य है, आगे इसी का स्पष्टीकरण ही है, जैसा—उच्छिष्टमें लोक इन्द्र अग्नि विश्व द्यावापृथिवी सब भूतमात्र जल समुद्र चन्द्र वायु (मं० १—२) भी भूमियां सूर्य (मं० १४) धातु पत्थर शिला ओषधिवनस्पतियां, मेघ अभ्र, विद्युत, वृष्टि, (मं० २१), जो प्राणसे जीवित रहता है जो आंखसे देखता है, जो आकाशमें है (मं० २३) देव, पितर, मनुष्य, गंधर्व अप्सरा (मं० २७) विश्व उत्पन्न करनेवाले दस देव (मं० ४)। यह सब उच्छिष्टमें है ये सब रूपवाले पदार्थ हैं। इनका आश्रय उच्छिष्ट—पर मात्माही है।

उच्छिष्टमें नाम

अब नामका वर्णन देखिये—ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद, उद्गीथ स्तवन हिंकार स्वर सामके भाग, (मं० ५) इन्द्राग्निके सूक्त, पवमानसूक्त महानाम्नादिसूक्त (मं० ६) छन्द पुराण (मं० २४) ये सब नाम हैं ये सब शब्द हैं। शब्दसृष्टीका यह विस्तार है और ये सब नाम उच्छिष्टके आधारपर रहते हैं।

इस रीतिसे नाम और रूप उच्छिष्ट ब्रह्ममें रहते हैं जो रूप है वह उच्छिष्टका ही रूप है और जो नाम है वह भी उसी का नाम है। इसीलिये ये नामरूप उसमें रहते हैं।

उच्छिष्टमें कर्म।

नाम और रूप इस रीतिसे उच्छिष्ट ब्रह्ममें हैं यह बात देख लेनेके पश्चात् कर्म कहां रहता है यह प्रश्न उपस्थित होता है उसका उत्तर भी इस सूक्तने दिया है कि सब कर्म सब यज्ञ उच्छिष्ट ब्रह्ममेंही रहते हैं देखिये— राजसूय वाजपेय अग्निष्टोम, अध्वर अश्वमेध (मं० ७) अग्न्याधान दीक्षा यज्ञ (मं० ८) अग्निहोत्र व्रत तप दक्षिणा, इष्टापूर्त (मं० ९) एकरात्र द्विरात्र सद्यःक्री प्रक्री उक्थ (मं० १०) चतूरात्र पंचरात्र षड्रात्र सप्तरात्र अष्टरात्र दशरात्र द्वादशाह षोडशी (मं० ११) विश्वजित्, अति-रात्र (मं० १२) आदि सब यज्ञकर्म ही हैं और ये सब

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः । अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः ॥७॥
अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सह। उत्सन्ना यज्ञाः सत्राण्युच्छिष्टेऽधि समाहिताः॥८॥
अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः । दक्षिणेष्टं पूर्तं चोच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥९॥
एकरात्रो द्विरात्रः सद्यःक्रीः प्रक्रीरुक्थ्यः।
ओतं निहितमुच्छिष्टे यज्ञस्याणूनि विद्यया ॥ १० ॥ (१९)
चतूरात्रः पञ्चरात्रः षड्रात्रश्चोभयः सह ।
षोडशी सप्तरात्रश्चोच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ये यज्ञा अमृते हिताः ॥११॥
प्रतीहारो निधनं विश्वजिच्चाभिजिच्च यः ।
साह्नातिरात्रावुच्छिष्टे द्वादशाहोऽपि तन्मयि ॥१२॥
सूनृता संनतिः क्षेमः स्वधोर्जामृतं सहः ।
उच्छिष्टे सर्वे प्रत्यञ्चः कामाः कामेन तातृपुः ॥१३॥
नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः। आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि॥१४॥

अर्थ- राजसूय वाजपेय अग्निष्टोम (तद् अध्वरः) यह हिंसारहित यज्ञ अर्क-अश्वमेध (मदिन्तमः जीवबर्हिः) आनन्द देनेवाला जीवोंका रक्षक यज्ञ ये सब उच्छिष्टमें ही स्थित हैं ॥ ७ ॥

(अग्न्याधेयं अथो दीक्षा) अग्न्याधान दीक्षा (छन्दसा सह कामप्रः) छन्दके साथ कामोंकी पूर्णता करनेवाला कर्म (उत्सन्नाः यज्ञाः सत्राणि) उत्सन्न यज्ञ और सत्र ये सब उच्छिष्टमें स्थित हैं ॥ ८ ॥

अग्निहोत्र, श्रद्धा वषट्कार व्रत तप दक्षिणा इष्ट पूर्त ये सब उच्छिष्टमें रहते हैं ॥ ९ ॥

एकरात्र द्विरात्र सद्यःक्रीः प्रक्रीः उक्थ्य ये सब यज्ञ और (यज्ञस्य अणूनि) यज्ञके अणु अंश (विद्यया उच्छिष्टे ओतं निहितं) विद्याके साथ उच्छिष्टमें समाविष्ट हुए हैं ॥ १० ॥

चार रात्री पांच रात्री छः रात्री (उभयः) समय अर्थात् आठ दस बारह रात्रीवाला (षोडशी) षोडशी (सप्तरात्र और सात रात्रीवाला ये सब यज्ञ उच्छिष्टसे बने हैं और (अमृते हिताः) वे अमृतमें रहते हैं ॥ ११ ॥

प्रतीहार निधन विश्वजित्, अभिजित्, साह्न अतिरात्र द्वादशाह ये सब उच्छिष्टमें रहे हैं। वह सब ज्ञान मुझमें रहे ॥ १२ ॥

(सूनृता संनतिः) सत्य भाषण नम्रभाव (क्षेम स्वधा ऊर्ज) कल्याण स्वधा बल (अमृतं सहः) अमरत्व, सहन शक्ति य (सर्वे कामाः कामेन तातृपुः) सब काम या कामनाएं तृप्त करनेवाले हैं (उच्छिष्टे प्रत्यञ्चः) उच्छिष्टमें रहे हैं ॥ १३ ॥

नव भूमि नव समुद्र और (दिवः) द्युलोक भी (उच्छिष्टे अधिश्रिताः) उच्छिष्टमें आश्रित हैं। सूर्य उच्छिष्टमें (आ भाति) प्रकाशता है जिससे अहोरात्र होते हैं। वह सब ज्ञान (मयि) [illegible]

उपह्वये विपूजन प घे प्रजा गुदां दिगा ।
विर्मनि मुना विश्वस्यालिङ्गो वनितु पिना ॥ १५ ॥
पिना वनितुरुल्लिप्याऽमो पात्रे पिवा पुद ।
म धिपति विश्वम्पश्रानो धृषा भूम्यामतिष्ठन् ॥ १६ ॥
मुन सुप तपा गुड़ पपो पर्मेन्न फर्मे च । भूत मेरिण्यपुरुलिङ्ग पीपालिहमोपनु पर्ने ॥ १७ ॥
मधुदिगम आर्हति धुम गुर्ह्न पदुर्न्प्र । गुनु सुराऽस्पुलिङ्ग हदो वैपा प्रदो हविः ॥ १८ ॥
पनुर्लोमार प्रात्रिपमानुमारयानि नीविद । उलिङ्ग पुणा हात्रो पहुद्ध पाम्नाद्दिष्येय ॥ १९ ॥
अपमामा च मामापार्नेपा नमभि सद ।
उलिङ्ग प्रतिविनादाः स्वनयिन्तु प्रतिवृद्दि ॥ २० ॥ (२०)
पदीनाः गिरता अन्पान आपेषपा पीठधन्तणा ।
प्रमानि विधुना पुपपुलिङ्ग मरिना भिना ॥ २१ ॥
गादिः मान्तिः समानि पाप्तिमई व्यपनु । अस्मात्रिगलिङ्ग मुनिपाहना निदिना हिना ॥ २२ ॥
पपे पानानि प्राप्नन पन्न पर्पति पार्पा ।
उर्प्पिणा वनितु मर्ने दिपि दुपा दिविधिनः ॥ २३ ॥

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥२४॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे० ॥२५॥
आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे० ॥२६॥
देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २७॥ (२१)

अर्थ— ऋचा साम छन्द पुराण और यजुर्वेद, प्राण अपान चक्षु श्रोत्र [अक्षितिः च क्षितिः] नाशिवान और अविनाशी पदार्थ आनन्द, मोद, प्रमोद, [अभीमोदः मुदः] हर्षका आनंद देव, पितर, मनुष्य गंधर्व, अप्सरा, द्युलोकमें रहनेवाले सब देव ये सब [उच्छिष्टात् जज्ञिरे] उच्छिष्टसे उत्पन्न हुए हैं ॥ २४-२७ ॥



उच्छिष्ट सूक्तका आशय।

इस सूक्तकी भाषा अत्यंत सरल होनेके कारण इसका भावार्थ पृथक् लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

उच्छिष्टका अर्थ।

" उच्छिष्ट " अर्थात् ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट जो अपने स्थानमें अवशिष्ट रहा है। विश्व बननेके पश्चात् जो भाग अव शिष्ट रहा है उसका नाम उच्छिष्ट है। पुरुषसूक्तमें कहा है—

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।

(ऋ० १०।९०।४)

'त्रिपाद् पुरुष ऊपर स्थानमें उदित हुआ है और उसका एक अंश यहां इस विश्वमें पुनः पुनः होता है।' एक अंशका यह विश्व बनता और बिगडता है, परंतु जो त्रिपाद् पुरुष जब ऊर्ध्व भागमें रहा है वह वैसा ही एकरूपमें रहता है। इस तरह परब्रह्मका एक अल्पसा भाग विश्वरूपाकार होता रहता है और शेष सब मूल स्थितिमें अवशिष्ट रहा है। इसी का नाम उच्छिष्ट है। यही ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट रहा है।

(उच्छिष्टे नाम रूप) इसी परब्रह्ममें नामरूप रहा है इसका अर्थसे सब कुछ उसीमें है ऐसा कहा है क्योंकि जो कुछ इस विश्वमें है वह रूपवाला है और नामवाला भी है। जिसका रूप नहीं और जिसका नाम नहीं ऐसा यहां कुछ भी नहीं है। संपूर्ण विश्वही नामरूपात्मक है। हम किसीका नाम लेते हैं और नाम लेते ही आंख के सामने वह रूप आता है यही नामरूप है और यह सब नामरूप इस उच्छिष्ट परब्रह्ममें रहा है।

नाम भी उच्छिष्टमें है और रूप भी उच्छिष्टमें है इसका तात्पर्य यह उच्छिष्ट परब्रह्ममें नामरूप रहा है ऐसा अर्थ हुआ। जैसे घडा यह नाम और घडेका रूप यह सब मिट्टीमें रहता है। अर्थात् यह मिट्टी ही नामरूपात्मक घटाकार होकर हमारे सामने आती है। इसी तरह उच्छिष्ट परब्रह्म नामरूप धारण करके विश्वाकार होकर विश्वरूपी बनकर हमारे सामने आता है। यही परमात्माका विश्वरूपदर्शन जो भगवद्गीताके ११ वें अध्यायमें कहा गया है और यजुर्वेदके अध्यायमें वर्णित हुआ है।

उच्छिष्टमें रूप।

उच्छिष्टमें नामरूप रहे हैं ' यही मन्त्रभाग मुख्य है, आगे इसी का स्पष्टीकरण ही है, जैसा—उच्छिष्टमें लोक, इन्द्र अग्नि विश्व, द्यावापृथिवी सब भूतमात्र जल समुद्र चन्द्र वायु (मं० १—२) भी भूमिमां, सूर्य (मं० १४) अन्न पत्थर पिता ओषधिवनस्पतियां वायु मेघ, विद्युत् वृष्टि, (मं० २१) जो प्राणसे जीवित रहता है जो आंखसे देखता है, जो आकाशमें है (मं० २३) देव, पितर, मनुष्य, गंधर्व अप्सरा (मं० २७) विश्व उत्पन्न करनेवाले दस देव (मं० ४)। यह सब उच्छिष्टमें है ये सब रूपवाले पदार्थ हैं। इसका आशय उच्छिष्ट—पर महत्त्वाही है।

उच्छिष्टमें नाम

अब नामका वर्णन देखिये—ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद, उद्गीथ स्तवन हिंकार स्वर सामके आलाप, (मं० ५) इन्द्राग्निके सूक्त, पवमानसूक्त महानाम्नीसूक्त, (मं० —६) अथर्व पुराण (मं० २४) ये सब नाम हैं य सब शब्द हैं। शब्दसृष्टीका यह विस्तार है और ये सब नाम उच्छिष्टके आधारपर रहते हैं।

इस रीतिसे नाम और रूप उच्छिष्ट ब्रह्ममें रहते हैं जो रूप है वह उच्छिष्टका ही रूप है और जो नाम है वह भी उसी का नाम है। इसीलिये ये नामरूप उसमें रहते हैं।

उच्छिष्टमें कर्म।

नाम और रूप इस रीतिसे उच्छिष्ट ब्रह्ममें हैं यह बात कहनेके पश्चात् कर्म कहां रहता है यह प्रश्न उपस्थित होता है उसका उत्तर भी इस सूक्तने दिया है कि सब कर्म सब यज्ञ उच्छिष्ट ब्रह्ममेंही रहते हैं देखिये— राजसूय वाजपेय अग्नि ष्टोम, अध्वर, अश्वमेध (मं० ७) अग्न्याधान दीक्षा यज्ञ (मं० ८) अग्निहोत्र, व्रत तप दक्षिणा, इष्टापूर्त (मं०) एकरात्र द्विरात्र सद्यःक्रीः प्रक्री उक्थ्य (मं० १) चतूरात्र पंचरात्र षड्रात्र सप्तरात्र अष्टरात्र, दशरात्र द्वादशाह षोडशी (मं० ११) विश्वजित् अति-रात्र (मं० १२) आदि सब यज्ञकर्म ही हैं और ये सब

उसी उच्छिष्टमें रहते हैं उसी उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारपर इस संपूर्ण कर्ममार्गकी व्यवस्था रखी गयी है । अर्थात् सब कर्मोंका आधार ब्रह्म ही है ।

उच्छिष्टमें काल ।

काल भी उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारसे रहता है यथा कहा है कि- अर्ध मास (पक्ष) मास (महिना), ऋतु (मं ९), अयन वर्ष संवत्सर (मं १८) यह सब उच्छिष्ट ब्रह्ममें रहा है । भूत भविष्यत् (मं १७) संपूर्ण काल और कालके अवयव इस तरह उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारसे रहे हैं ऐसा यहां कहा है ।

कालके साथ कर्मोंका संबंध है एकरात्र द्विरात्र आदि अनेक यज्ञ कालमर्यादा के साथ संबंध रखते हैं । कई इतने थोडे कालखंड के साथ संबंधित हैं और कई सत्र दीर्घकालके हैं । तथापि सब यज्ञ इस तरह कालसे मर्यादित होते हैं । अर्थात् जैसा नामरूपका परस्परसंबंध है वैसी तरह काल और कर्मोंका परस्परसंबंध है । पाठक इसका अच्छी तरह विचार करें और इसका अनुभव करें ।

श्रद्धा, तप, व्रत दीक्षा (मं ९) सूनृत नम्रभाव कल्याण स्वधा-अर्थात् अपनी धारणाशक्ति बल अमरत्व सत्यसामर्थ्य क्षमता साधना (मं ११) ऋत सत्य श्रम, धर्म, वीर्य-पराक्रम लक्ष्मी शोभा (मं १७) समृद्धि संकल्प क्षात्रबल (मं १८) सिद्धि प्राप्ति, समाप्ति, व्याप्ति, महत्व वृद्धि (मं २२) आनंद मोद, प्रमोद (मं २५) ये सब जो कर्मोंके साथ संबंध रखनेवाले गुण हैं वे भी मानवकी उन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक हैं । ये सब उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारपर रहते हैं ।

जो प्राणसे सजीव रहते हैं और जो आंखसे देखते हैं वे सब प्राणिमात्र उच्छिष्ट ब्रह्मसे आश्रय पाकर रहते हैं अर्थात् यह उच्छिष्ट ब्रह्मसे पृथक् नहीं है । (मं २१)

सत् असत्, अमर मृत्यु म और ह ([illegible]) यह सब द्वन्द्व उच्छिष्ट ब्रह्ममें ही रहता है अर्थात् जो कुछ यहां है उस सबका संबंध परमात्मासे है परमात्मासे पृथक् अस्तित्व किसीका नहीं है ।

इसमें अनेक यज्ञोंके नाम आये हैं इनका स्वरूप यजुर्वेदके व्याख्यानके प्रसंगमें विचार किया जायगा । क्योंकि कर्मकांड यजुर्वेद का विषय है ।

जो विश्वरूपदर्शन का विषय यहां कहा है वही श्रीमद्भगवद्गीताके ११ वे अध्यायमें विस्तारसे कहा है और यजुर्वेदके अध्यायमें भी अधिक ही विस्तारसे कहा है । पाठक तुलना करके वेदका तत्त्व जानें ।

शरीरकी रचना।

(८)

(ऋषिः—कौरुपथिः। देवता—अध्यात्म, मन्युः)

यन्मन्युर्जायामावहत् संकल्पस्य गृहादधि। क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत्॥१॥
तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे। त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥२॥
दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा। यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद् वदेत् ॥३॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या। व्यानोदानौ वाङ् मनस्ते वा आकूतिमावहन्॥४॥
अजाता आसन्नृतवोऽथो धाता बृहस्पतिः। इन्द्राग्नी अश्विना तर्हि कं ते ज्येष्ठमुपासत ॥५॥
तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे। तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत् ते ज्येष्ठमुपासत ॥६॥

अर्थ- (यत् मन्युः संकल्पस्य गृहात्) जब उत्साहने संकल्पके घरसे (जायां अधि आवहत्) अपनी स्त्रीको प्राप्त किया विवाह करके अपने घर ले आया उस समय (के जन्याः) कौन कन्या पक्षके लोग थे और (के वराः) कौनसे वरपक्षके लोग थे और उनमें (कः उ ज्येष्ठवरः अभवत्) कौन श्रेष्ठ वर माना गया था ॥ १ ॥

(महति अर्णवे अन्तः) बडे महासागरके अन्दर (तपः कर्म च आस्तां) तप और कर्म ये दो पक्ष थे (ते जन्याः ते वराः आसन्) वे ही कन्यापक्षके और वरपक्षके लोग थे और उस समय (ब्रह्म ज्येष्ठवरः अभवत्) ब्रह्म ही सबमें श्रेष्ठवर था ॥ २ ॥

(देवेभ्यः दश देवाः साकं अजायन्त) देवोंसे दस देव साथ साथ बने हैं (यः वै तान् प्रत्यक्षं विद्यात्) जो निश्चयसे उनको प्रत्यक्ष जानता है (सः वै अद्य महत् वदेत्) वही निश्चयसे आजही महत् ब्रह्मका ज्ञान कह सकता है ॥ ३ ॥

(प्राणापानौ, चक्षुः श्रोत्रं या अक्षितिः च क्षितिः च) प्राण अपान चक्षु श्रोत्र अभौतिक और भौतिक शक्ति, (व्यान-उदानौ वाङ्मनः) व्यान उदान और वाणी तथा मन (ते वै आकूतिं आवहन्) ये ही निश्चय संकल्पशक्तिको धारण करते हैं ॥ ४ ॥

(ऋतवः अथो धाता बृहस्पतिः इन्द्राग्नी अश्विनौ) ऋतु धाता बृहस्पति इन्द्र अग्नि अश्विनौ ये देव (अजाताः आसन्) नहीं बने थे (तर्हि ते कं ज्येष्ठं उपासत) तब वे किस श्रेष्ठ सत्ताकी उपासना करते थे ॥ ५ ॥

(तपः कर्म च एव) तप और कर्म (महति अर्णवे आस्तां) बडे सागर अन्दरमें थे। (कर्मणः तपः ह जज्ञे) कर्मसे तप उत्पन्न हुआ (ते तत् ज्येष्ठं उपासते) वे उस बडे श्रेष्ठकी उपासना करते थे ॥ ६ ॥

येत आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद् विदुः ।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित् ॥७॥
कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत । कुतस्त्वष्टा समभवत् कुतो धाताजायत ॥८॥
इन्द्रादिन्द्रः सोमात् सोमो अग्नेरग्निरजायत । त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताजायत ॥९॥
ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा । पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥१०॥
यदा केशानस्थि स्नाव मांसं मज्जानमाभरत् ।
शरीरं कृत्वा पादवत् कं लोकमनु प्राविशत् ॥११॥
कुतः केशान् कुतः स्नाव कुतो अस्थीन्याभरत् ।
अङ्गा पर्वाणि मज्जानं को मांसं कुत आभरत् ॥१२॥
संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन् । सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥१३॥
ऊरू पादावष्ठीवन्तौ शिरो हस्तावथो मुखम् । पृष्टीर्बर्जह्ये पार्श्वे कस्तत् समदधादृषिः ॥१४॥

(या इतः पूर्वा भूमिः आसीत्) जो इससे पूर्वकी भूमि थी (यां अद्धातयः इत् विदुः) जिसको बुद्धिमान् लोगोंने जाना था (यः वै तां नामथा विद्यात्) जो उसे अलग अलग नामसे जानता है (सः पुराणवित् मन्येत) वह पुराणवेत्ता कहा जाता है ॥ ७ ॥

(कुतः इन्द्रः कुतः सोमः कुतः अग्निः अजायत) किससे इन्द्र, सोम और अग्नि उत्पन्न हुआ? (कुतः त्वष्टा समभवत्) किससे त्वष्टा उत्पन्न हुआ और (कुतः धाता अजायत) किससे धाता बना है ॥ ८ ॥

(इन्द्रात् इन्द्रः सोमात् सोमः) इन्द्रसे इन्द्र, सोमसे सोम (अग्नेः अग्निः अजायत) अग्निसे अग्नि उत्पन्न हुआ (त्वष्टा ह त्वष्टुः जज्ञे) त्वष्टासे त्वष्टा उत्पन्न हुआ तथा (धातुः धाता अजायत) धातासे धाता हुआ है ॥ ९ ॥

(ये ते दश देवाः) जो वे दस देव (पुरा देवेभ्यः जाताः आसन्) पूर्व समयमें देवोंसे उत्पन्न हुए थे वे (पुत्रेभ्यः लोकं दत्वा) अपने पुत्रोंको स्थान देकर (ते कस्मिन् लोके आसते) किस लोकमें रहने लगे? ॥ १० ॥

(यदा केशान् अस्थि स्नाव) जब केशों, हड्डियों, स्नायुओं [मांसं मज्जानं आभरत्] मांस और मज्जाको इकट्ठा भर दिया और [शरीरं पादवत् कृत्वा] शरीरको पांववाला किया तब वह भरनेवाला [कं लोकं अनु प्राविशत्] किस लोकके अनुकूल प्रविष्ट हुआ? ॥ ११ ॥

[कुतः केशान् कुतः स्नाव] किससे केशोंको और किससे स्नायुओंको [कुतः अस्थीनि आभरत्] कहांसे हड्डियोंको भर दिया? [कः अङ्गा पर्वाणि मज्जानं] किसने अवयवों पर्वों और मज्जाको तथा [मांसं कुतः आभरत्] मांसको कहांसे भर दिया? ॥ १२ ॥

[ते देवाः संसिचः नाम] वे देव संसिच अर्थात् सींचनेवाले इस नामके हैं [ये संभारान् समभरन्] जो संभारोंको भर देते हैं [सर्वं मर्त्यं संसिच्य] सब मरण धर्मवाले शरीरको सींच कर [देवाः पुरुषं आविशन्] वे देव पुरुषके अंदर प्रविष्ट हुए हैं ॥ १३ ॥

(कः ऋषिः) कौनसा ऋषि है जिसने (ऊरू अष्ठीवन्तौ पादौ) जांघों और जानुवाले पांवोंको (शिरः हस्तौ अथो मुखं) सिर हाथ और मुखको (पृष्टीः बर्जह्ये पार्श्वे) पीठ हंसली और पसलियोंको (तत् समदधात्) यह सब जोड दिया है? ॥ १४ ॥

शिरो हस्तावथो मुखं जिह्वां ग्रीवाश्च कीकसाः।
त्वचा प्रावृत्य सर्वं तत् संधा समदधान्मही ॥१५॥
यत्तच्छरीरमशयत् संधया संहितं महत्। येनेदमद्य रोचते को अस्मिन् वर्णमाभरत् ॥१६॥
सर्वे देवा उपाशिक्षन् तदजानाद् वधूः सती। ईशा वशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमाभरत् ॥१७॥
यदा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः। गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥१८॥
स्वप्नो वै तन्द्रीर्निर्ऋतिः पाप्मानो नाम देवताः। जरा खालत्यं पालित्यं शरीरमनु प्राविशन् ॥१९॥
स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं सत्यं यज्ञो यशो बृहत्। बलं च क्षत्रमोजश्च शरीरमनु प्राविशन् ॥२०॥
भूतिश्च वा अभूतिश्च रातयोऽरातयश्च याः। क्षुधश्च सर्वास्तृष्णाश्च शरीरमनु प्राविशन् ॥२१॥
निन्दाश्च वा अनिन्दाश्च यच्च हन्तेति नेति च। शरीरं श्रद्धा दक्षिणाश्रद्धा चानु प्राविशन् ॥२२॥
विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम्। शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः ॥२३॥
आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये। हसो नरिष्टा नृत्तानि शरीरमनु प्राविशन् ॥२४॥

(शिरः हस्तौ अथो मुखं) सिर हाथ और मुख (जिह्वां ग्रीवाः च कीकसाः) जीभ गर्दन और हड्डियां (तत् सर्वं त्वचा प्रावृत्य) इस सबपर चर्मका वेष्टन करके (मही संधा समदधात्) बडी जोडनेकी शक्तिने जोड दिया है ॥ १५ ॥

(यत् तत् महत् शरीरं) जो यह बडा शरीर (संधया संहितं) संधा नाम जोडनेकी शक्तिद्वारा जोडा गया, (येन इदं अद्य रोचते) जिससे आज यह प्रकाशता है (अस्मिन् कः वर्णं आभरत्) इसमें किसने वर्णको भर दिया है ? ॥ १६ ॥

(सर्वे देवाः उपाशिक्षन्) सब देवोंमें शिक्षा दी (तत् सती वधूः अजानात्) उसे सती वधूने-अर्थात् बुद्धिने जान लिया। (या वशस्य ईशा जाया) जो वशमें रखनेवालेकी ईश शक्ति नाम भार्या है (सा अस्मिन् वर्णं आभरत्) उसने इसमें वर्णको भर दिया है ॥ १७ ॥

(यः त्वष्टुः पिता उत्तरः त्वष्टा) जो त्वष्टाका पिता उच्चतर श्रेष्ठ त्वष्टा है उसने (यदा व्यतृणत्) जब इस शरीरमें छिद्र किये (मर्त्यं गृहं कृत्वा) तब मरणधर्मवाला घर करके (देवाः पुरुषं आविशन्) देवोंने पुरुषमें प्रवेश किया ॥ १८ ॥

(स्वप्नः तन्द्रीः निर्ऋतिः) निद्रा आलस्य पापभावना च (पाप्मानः देवताः वै नाम) पापी मनकी देवताएं हैं तथा (जरा खालत्यं पालित्यं) वृद्धावस्था गंजापन और श्वेत बाल होना ये सब (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरके अन्दर प्रविष्ट हुए ॥ १९ ॥

(स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं) चोरी दुराचार और कुटिलता (सत्यं यज्ञः बृहत् यशः) सत्य यज्ञ और बडा यश (बलं च क्षत्रं ओजः च) बल क्षात्रतेज और सामर्थ्य ये सब (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरके अन्दर प्रविष्ट हुए ॥ २० ॥

(भूतिः च अभूतिः च) ऐश्वर्य और दारिद्र्य (रातयः याः अरातयः च) दान और कंजूसी, (क्षुधः च सर्वाः तृष्णाः च) भूख और सब प्रकारकी तृष्णा (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरमें प्रविष्ट हुईं ॥ २१ ॥

(निन्दाः च वै अनिन्दाः च) निन्दा और स्तुति (यत् च हन्त इति न इति च) जो हां और ना कहते हैं (श्रद्धा दक्षिणा अश्रद्धा च) श्रद्धा दक्षता और अश्रद्धा ये सब शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २२ ॥

(विद्याः च वै अविद्याः च) विद्या और अविद्याएं (यत् च अन्यत् उपदेश्यं) और अन्य उपदेश करने योग्य है वह (ऋचः साम अथो यजुः ब्रह्म शरीरं प्राविशत्) ऋग्वेद सामवेद यजुर्वेद और ब्रह्मवेद शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २३ ॥

(आनन्दाः मोदाः प्रमुदः ये अभीमोदमुदः च) आनन्द मोद प्रमोद और हास्यविनोद ये सब (हसः नरिष्टाः नृत्तानि) हास्य खेल और नृत्य (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरमें प्रविष्ट हो गए ॥ २४ ॥

आलापाश्च प्रलापाश्चाभीलापलपश्च ये । शरीरं सर्वे प्राविशन्नायुजः प्रयुजो युजः ॥२५॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या । व्यानोदानौ वाङ् मनः शरीरेण त ईयन्ते ॥२६॥
आशिषश्च प्रशिषश्च संशिषो विशिषश्च याः । चित्तानि सर्वे संकल्पाः शरीरमनु प्राविशन् ॥२७॥
आस्तेयीश्च वास्तेयीश्च त्वरणाः कृपणाश्च याः । गुह्याः शुक्रा स्थूला अपस्ता बीभत्सावसादयन् ॥२८॥
अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन् । रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥२९॥
या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह । शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ॥३०॥
सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे । अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ॥३१॥
तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते । सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥३२॥
प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ् वि गच्छति ।
अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन नि षेवते ॥३३॥
अप्सु स्तीमासु वृद्धासु शरीरमन्तरा हितम् । तस्मिञ्छवोऽध्यन्तरा तस्माच्छवोऽध्युच्यते ॥३४॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

(आलापाः च प्रलापाः च ये अभीलापलपः) आलाप प्रलाप और वार्तालाप तथा (आयुजः प्रयुजः युजः) [illegible] प्रयोग और योग ये (सर्वे शरीरं प्राविशन्) सब शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २५ ॥

(प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रं) प्राण अपान चक्षु और श्रोत्र (अक्षितिः च या क्षितिः) अमोघत्व और [illegible] (व्यानोदानौ वाङ्मनः) व्यान उदान वाणी और मन (ते शरीरेण ईयन्ते) ये शरीरके साथ चलते हैं ॥ २६ ॥

(आशिषः च प्रशिषः च) आशीर्वाद और बोधना (संशिषः च विशिषः च याः) समशिक्षा और विशेष [illegible] (चित्तानि सर्वे संकल्पाः) चित्त और सब संकल्प (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २७ ॥

(आस्तेयीः वास्तेयीः च) बैठना और रहना (त्वरणाः याः कृपणाः च) त्वरा और कृपणता, (गुह्याः शुक्राः स्थूलाः अपस्ताः बीभत्साः) गुप्त शुक्र, स्थूल अल्प तथा बीभत्स भाव ये सब शरीरके साथ (असादयन्) रहे हैं ॥ २८ ॥

(तत् अस्थि समिधं कृत्वा) उस हड्डी को समिधा बनाकर (अष्ट आपः असादयन्) आठ प्रकारके जलोंने [illegible] बनावट की है (रेतः आज्यं कृत्वा) रेतका घी बनाकर (देवाः पुरुषं आविशन्) सब देव पुरुषमें घुस गये हैं ॥ २९ ॥

(याः आपः याः च देवताः) जो जल और जो देवताएं (या विराड् ब्रह्मणा सह) जो ब्रह्मके साथ विराट् है [illegible] (ब्रह्म शरीरं प्राविशत्) ब्रह्म शरीरमें प्राप्त हुआ है (शरीरे अधि प्रजापतिः) शरीरमें यही प्रजापालक आत्मा अधिष्ठाता है ॥ ३० ॥

(पुरुषस्य चक्षुः सूर्यः) पुरुषका आंख सूर्य (प्राणं वातः वि भेजिरे) और प्राण वायु विभाग [illegible] स्वाधीन करते हैं (अथ अस्य इतरं आत्मानं) और इसका अन्य आत्मा (देवाः अग्नये प्रायच्छन्) देवोंने अग्निके पास दी ॥ ३१ ॥

(तस्मात् वै विद्वान्) इसलिये निश्चय ज्ञानी विद्वान् (पुरुषं इदं ब्रह्म इति मन्यते) पुरुषको यह ब्रह्म ऐसा मानता है । (सर्वाः देवताः अस्मिन् हि) क्योंकि सब देवताएं इसमें निवास करती हैं (इव गावः गोष्ठे) जैसे गौवें गोशालामें रहती हैं ॥ ३२ ॥

(प्रथमेन प्रमारेण) प्रथम मृत्युसे (त्रेधा विष्वङ् विगच्छति) तीन प्रकार गमन करता है । (अदः एकेन गच्छति) वहां एकसे जाता है (अदः एकेन गच्छति) वहां एकसे जाता है और (इह एकेन निषेवते) यहां एकसे सेवन करता है ॥ ३३ ॥

(स्तीमासु अप्सु वृद्धासु) गीला करनेवाले जल की वृद्धि होनेपर उनमें अन्तरा शरीर हित) अन्दर शरीर रखा जाता है । (तस्मिन् शवः अधि अन्तरा) उसके बीचमें वह बल अंदर रहता है (तस्मात् शवः अधि उच्यते) इसलिये उस बल कहते हैं ॥ ३४ ॥

चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥

(सूचना यह सब अर्थ सरल है इसलिये भावार्थ नहीं दिया है ।)

शरीरकी रचना और योग्यता।

सब प्राणियोंके शरीरकी रचना विशेष अद्भुत है। उसमें मानवी शरीरकी रचना तो विशेषही विलक्षण है। मानवी शरीरकी रचनाको परमात्माकी कारीगरीकी परमावधि कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। इस मानवी शरीर की रचना और उसमें आत्माका निवास तथा संपूर्ण देवताओंका स्थान आदिका रहस्यमय वर्णन इस सूक्तमें किया है इस लिये यह सूक्त विशेष महत्त्वका है।

एक संकल्प था उसकी कन्या 'संकल्पसिद्धि' थी। इस कन्याका विवाह होना था। दूसरा आत्मा था उसका मन्यु अर्थात् उत्साहरूप सामर्थ्य था। उसका विवाह संकल्पसिद्धिके साथ करनेका निश्चय हुआ। इसमें वरपक्ष और वधूपक्षके बहुतसे लोग थे और इनमें जो वरपक्षमें मुखिया था उसीका नाम ज्येष्ठवर था, वही मन्यु भी कहा जाता था। (मंत्र १)

इस महान् अन्तर्गत संसारसागरमें तप और कर्म ये दो पक्ष थे। एक पक्ष तप करनेवाले संयमियोंका था और दूसरा पक्ष कर्म करनेवालोंका था। कर्म करनेवालोंमें भी एक प्रकार कर्म करनेवाले और दूसरे विश्राम करनेवाले थे। इस तरह ये दो पक्षके लोग थे। इनमें वधूके पक्षमें कर्म थे और दूसरे वरपक्षमें थे। इनमें ब्रह्म सबसे मुखिया वर था। (मं० २)

दस बड़े देव हैं उनसे छोटे पुत्र दस होते हैं। ये देव कौन हैं और उनके पुत्र कौन हैं इस तत्त्वको जो जानता है उसको ही बड़ा ज्ञान होता है और वेही उसका वर्णन कर सकते हैं। अतः इस तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना मनुष्यके लिये अत्यंत आवश्यक है। (मं० ३)

प्राण अपान, व्यान उदान आंख कान (क्षितिः = भूमितत्त्वसे उत्पन्न) नाक वाणी मन और (अ-क्षिति = अभौतिक) इंद्रियगण ये दस देव हैं जो मनके शरीरमें निवास करते हैं वेही संकल्प विविध प्रकारके करते हैं। और इन्हींके विचार मनुष्य करता रहता है। (मं० ४) इनमें प्राण, अपान व्यान और उदान ये प्राण हैं और ये तप करनेवाले देव हैं अर्थात् ये निराहार रहकर काम न करते हुए अपने केवल प्राणरूप कर्म करते हैं। इस कारण इनको तप करनेवाले मानि कह सकते हैं। दूसरे देव आंख नाक, कान वाणी और मन हैं ये काम करनेमें दत्तचित्त रहते हैं। काम करते हुए ये थक जाते हैं तब इनको विश्राम देना पड़ता है। ये भोग भी भोगते हैं ज्ञान भी प्राप्त करते हैं और कुछ कर्म भी करते हैं। इनको अन्न खानेसे ये समर्थ रहते हैं और कार्यक्षम होते हैं। अन्न न मिला तो ये कृश होते हैं और अन्तमें अति क्षीण होते हैं। क्योंकि अन्नके विना भूखे रहकर तपस्या ही नहीं कर सकते। अतः आंख नाक आदिको विश्राम चाहिये निद्रा चाहिये और भोग भी चाहिये। यहां संकल्पसिद्धि नामक एक देवशक्ति है जिसका विवाह होना है। इस वधूपक्षके साथ ये आंख नाक, कान आदि भोगविलासी लोग हैं और वरपक्षके साथ प्राण अपान आदि तपस्वी लोग हैं। इसतरह विवाह करनेके लिये इस शरीररूपी मंडपमें ये इकट्ठे हुए हैं और यहां यह बड़ी धूमधामसे विवाहसंस्कार होता है।

सूर्य चन्द्र, वायु आदि दस बड़े देव इस विश्वमें हैं। इनकी शक्ति बड़ी भारी है। इन बड़े देवोंसे अवतरण छोटे देव आंख मन प्राण आदि बन और इस शरीरमें आकर बसे हैं। इनमें कई वधूपक्षके और कई वरपक्षके हैं। इन दोनोंका यहां मेल हुआ है। इसीका नाम विवाहका मंगल कार्य है।

ऋतु धाता बृहस्पति इन्द्र, अग्नि अश्विनी ये देव अपने ही स्थानमें रहते थे और जब इनके सारे काम यहां विविध प्रकारके नहीं बनते थे तब ये कहां रहते थे? अर्थात् किन किन देवके साथ रहते थे? इसी प्रश्न देवताका नाम ज्येष्ठ ब्रह्म है। इस ज्येष्ठ ब्रह्मके साथ ये सब देव रहते थे इस बड़े विश्वमें कार्य करते थे। परन्तु जबसे इस सारे विश्वमें अथवा शरीरमें आकर इनका विवाह नहीं हुआ था। (मं० ५) अर्थात् यह समय शरीररचनाके पूर्वका है। शरीररचनाके समय सब देवताओंके अंश यहां इस शिरद्वार इसमें बसे और निवास करने लगे कई अपना तप करते रहे और कई अपने कर्म करने लगे। इसतरह यहांका व्यवहार चलने लगा। इसीका नाम शरीरसिद्धि है।

तप और कर्म करनेवाले देव हैं ऐसा कहा गया। यहां ध्यानमें रखना चाहिये कि कर्मोंसेही तप होता है कर्म न

किया जाय तो तप बनता है। यही अतः कर्म मुख्य है। ब्रह्मकी उपासना भी एक पवित्र कर्म है। (मं० ६) सभी संसार इस कर्मसे ही चल रहा है। कर्मके बिना कुछ भी नहीं होता। यह देखकर मनुष्य को शुभ कर्म करने चाहिये।

इस शरीरकी रचना होनेके पूर्व एक विस्तृत भूमि थी, इसका नाम प्रकृतिकी भूमि है। इसी भूमिपर इस शरीरकी रचना होती है और इस रचनाके करनेके लिये ये दस देव अपने आप यहां आते हैं और शरीरकी निर्मिति करते हैं। इस स्थान, आदिके नाम तथा उसके धर्म जो जानता है उसको पुराणवित् कहते हैं। (मं० ७) जो पहिले था और जो फिर नया बनता है उसका पुराण (पुरा अपि नवं) कहते हैं। इसको यथायोग्य जानना चाहिये।

ये जो दस देव इस पिण्डशरीरमें आकर बसे हैं वे कहांसे आये हैं? मूल-देव कहां थे और कहांसे यहां आये और किस स्थानपर आकर बसे? इसकी खोज करनी चाहिये। (मं० ८) इन्द्र, सोम, अग्नि, त्वष्टा, धाता इन सब देवोंसे उनके अंशरूप देव उत्पन्न हो गये, उनके भी वे ही नाम हैं। जो पिताका नाम है वही पुत्रका होता है क्योंकि नाम किसी न किसी गुणका बोधक होता है और पिताका ही गुण पुत्रमें आता है। इसलिये पिताका नाम पुत्रको दिया जाता है अतः यहां इन्द्रसे इन्द्र ही हुआ ऐसा कहा है। (मं० ९) इनमेंसे एक इन्द्र विश्वरूपाके विश्वरूपी देहमें रहनेवाला है और दूसरा उसका पुत्ररूपी इन्द्र पिण्डदेहमें रहनेवाला है। इसीतरह अन्य देवोंके विषयमें समझना चाहिये।

ये देव दस हैं और प्रत्येक बडे देवका एक एक अंशरूप पुत्र है। इसतरह दस बडे देवोंके दस पुत्र इस पिण्डदेहमें आकर बसे हैं। पिण्डदेहमें ये दस देव दस स्थानोंमें रहे हैं। इन दस देवोंने अपने दस पुत्रोंका निर्माण किया और उनको इस पिण्डदेहमें यथायोग्य स्थान दिया और वे अपने मूल स्थानमें जाकर रहे। (मं० १०) विश्वमें बडा सूर्य है उसका अंशरूप पुत्र चक्षुरिन्द्रिय यहां नेत्रके स्थानमें रहकर सूर्यदेव अपने पुलोकके स्थानमें ही विराजता है। इसी तरह अन्यान्य देवोंके विषयमें समझना चाहिये। इसतरह इसतरहके वाक्य उच्चार करके यहां वारंवार वही बात लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है। जो देव व अंशावतार को अपना पुत्ररूप जानते हैं वा नहीं है। इसतरह सबका अवतरण अवतार मानव-देहमें (अथवा प्राणिदेहमें) हुआ है। इस अवतरण देवोंके ही अवतार कहा जाता है। बडे देवका एक छोटासा अंश यहां उतरा है और इस पञ्चभौतिक देहका तारक व मेलन किये रहा है। जब ये अंशावतार यहांसे चले जाते हैं तब इस देहका पतन होता है फिर यह देह जलता नहीं अथवा गाडा जाता है अथवा फेंका जाता है। देवोंके वापस होनेकी अवस्थामें यह देह पवित्र माना जाता है, देवोंके अभाव होनेके समय इसे कोई छूता भी नहीं।

जब इस शरीरमें विविध देवोंने आकर यहां केश, इन्द्रियां, स्नायु, मांस, मज्जा आदि भर दिया और शरीरको इसतरह अवयवोंसे युक्त किया तब ये देव कहां गये? (मं० ११) अर्थात् देव अपना कार्य करनेके पश्चात् वे यहां रहे अथवा चले गये? इसका उत्तर यही है कि वे यहीं निवास करते रहते हैं क्योंकि मृत्युके समय ही वे जाते हैं। इस देहमें कौनसा देव कहां रहता है इसका ज्ञान उपनिषदोंके आधारसे इस तरह है—

विश्वके देव	शरीरमें देवतांश
परमात्मा	जीव आत्मा
सूर्य	नेत्र (आंख)
भूमि	नासिका (नाक)
आपः	रसना (जिह्वा)
अग्नि	वाणी (वाक्) मुख
दिशा (आकाश)	कान
वायु, प्राण	प्राण त्वचा
ओषधि वनस्पतयः	केश (बाल)
[illegible]	रक्त, रुधिर
द्यौ	मस्तक मस्तिष्क
अन्तरिक्ष	मध्य उदर पेट, छाती
पृथ्वी	पाद (पांव)
पर्वत (पर्वताः)	सर्व (कीकस, हड्डी)
मृत्यु-जरा	वीर्य [रज]
[illegible]	प्राण अपानादि

इसतरह अनेक देवोंके अंश यहां शरीरमें आकर बसे हैं। ये ही देवतांशके अंश अवतार हैं। इसका वर्णन उपनिषदोंमें विस्तारसे किया है विशेषतः ऐतरेय उपनिषद्में यह वर्णन अधिक स्पष्ट है। केश, स्नायु, हड्डी, मज्जा, चर्म-त्वचा, मांस

करोति किसने और किस तरह भर दिये गये ऐसा प्रश्न [मंत्र १२ में] पूछा गया है। पूर्वोक्त कथनके देखनेसे इसका उत्तर मिल सकता है।

इन देवताओंका नाम 'संकल्प्' है। सम्यक् सिंचन करने वाले, सिंचनवाले अर्थात् अपना स्थान सजीव करनेवाले जीवन-मय करनेवाले ये देव हैं। इन सब देवोंने (सर्वे मर्त्यं संसिच्य) इस मरणधर्मवाले अंगोंको अर्थात् देहको जीवनधर्मयुक्त किया है। इसी कार्यके लिए ये सब देव (पुरुषं आविशन्) मर्त्यशरीरमें आकर बसे हैं। इस शरीरमें आकर अपने अपने स्थानमें रहे। (मं. १३)

शिर आदि सब छाती पांव जानु सिर हाथ मुख पीठ, हंसली पसलियां लिङ्ग गर्दन अंगकी हड्डी त्वचा ये सब साथ साथ और मांस दिये। (मं. १४-१५) अनन्तर देवोंने अपने अपने कार्य किये अपने अपने आवरण बना दिये और 'त्वष्टा' नामक देवता है जिसने इनको जोड दिया और जिन जोडोंसे यह शरीर अखण्ड एक जैसा बन गया है। इसमें रस शोभा और आकृति सुन्दरताकी भी एक रचना है। (मं. १६)

ये सब देव संमिलित हुए, इन देवोंका यहां संमेलन हुआ, यह बात एक बड़ी देखने लायक थी। यही सब देवों सब अवयवोंके अपने अपने स्थानके आत्मदेवकी भाती है। यही भाती यहांका कान्ति शोभा और रमणीयता रखने वाली है। (मं. १७) इसी वधू और वरकी शादी होनेका वर्णन इस सूक्तके प्रथम दो मंत्रोंमें है।

ये सब देव बड़े कारीगर हैं। अतः त्वष्टा नाम कारीगर देवताका होता है। जो छोटे छोटे कण एक इस शरीरको बनानेके लिये यहां आये हुए हैं उनमें जो सबका आदि मुख्य देव होता है उसको सब कारीगरोंका सर्दार होनेसे त्वष्टा कहते हैं। इसका पिता परमात्मा, सब देवोंका देव, सब का आदि कारीगर सर्वोपरि विराजमान है वह भी बड़ा 'त्वष्टा' ही है। उसके प्रेरणासे बाहर सब छोटे कारीगर इस शरीरमें सुरक्षा करते हैं तब एक एक सूराखसे एक एक देव शरीरमें प्रवेश करता है और अपने अपने स्थानमें विराजता है। इस [सर्वं मर्त्यं पुरुषम्] मर्त्य शरीरको सुयोग्य रचना करके [देवाः पुरुषं आविशन्] सब देव मनुष्यके देहमें प्रवेश कर अपने स्थानमें रहते हैं। [मं. १८] यह सब शरीर-रूप मन्दिरकी व्यवस्था है परंतु यहां देवोंकी अमर शक्तियां रहनेके कारण यह मर्त्य देहका यह अमरसा बना है। जब देव यहांका वह समान कार्य छोड जाते हैं उस समय यह देह मर जाता है। देवोंका अमर भाग इस तरह अनुभवमें आती है।

इस शरीरमें निद्रा आपत्ति, तन्द्री (सुस्ती)–तंद्री पैदा, निर्ऋति (पापवासना)– पुण्य भावना पाप-पुण्य जरा– (बुढापा)– दारिद्र्य खालित्य (गंजापन)– बहुरूप होना, पालित्य (केशका – सुफेद बालोंका पन होना और बालोंके झडना, स्तेय (चोरी)– अस्तेय, कुत्सित सुन्दर कुत्सित (कु-टिलता) सरलता सत्य असत्य बडा व्रत बड़ा यश, यश–अपकीर्तिता क्षात्र–विनम्रता ओज (पराक्रमशक्ति) अपकीर्ति भूमि ऐश्वर्य) समृद्धि (निर्बलता) (रति) राग–(अराति) शत्रुकी, क्षुधा (भूख)–भूख न लगना, तृष्णा–प्यास न लगना निन्दा–स्तुति (अ समता) हो और नो करना (इनन इति न इति), भद्रा–अभद्रा रखना अश्रद्धा, श्रद्धा, विद्या अविद्या ज्ञान –अज्ञान आनन्द –दुःख मोद– यह हास्य–रोदन नरिष्ट (अनाश)– माता पुत्र अनुराग आलस्य प्रमाद–मोह प्रबोध –विषाद ये सब भाव शरीरमें होते रहते हैं। ये भाव शरीरमें प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। (मं. २१ २४)

प्राण, अपान व्यान उदान चक्षु श्रोत्र क्षिति, अक्षिति वाणी मन ये सब ही शक्तियां शरीरमें रहती हैं और उक्त कार्य करती हैं। (मं. २८)

आशीर्वाद–आपके शब्द अनुकूल– प्रतिकूल शब्द, उत्तम विचार हितार्थ–अयशका रचना प्रेरित इत्यादि– इत्यादि शुभ प्रभाव मुक्त–निर्भय रसुच–कुछ संस्कार– ये सब भाव शरीरमें प्रविष्ट हुए हैं। (मं. २०-२९) इस बहुत इसके लिये देवता भी बनाकर सब देवकी आकृति और मर्त्यशरीरके रूपमें रहती है। जब देवके साथ सब देव शरीरमें घुस जाते हैं। जिसके प्रवेश अनुभव करनेके संपूर्ण शरीरका अर्थात् सब शरीरका दायक इंद्रियका आत्मा रहता है और यह आत्मादेव सब निवासके कारण देवमन्दिर भी रहता है अथवा देवमंदिरों का आत्मा बना निवास। निवास काम पुरुष शरीरके अन्दर ही रहते हैं, इसका यही कारण है। इन देवोंमें शरीरका यह रूप होता है इस लिये पुरुष बाहर लिख ऐसा होता है। इससे देवता भी बाहर

सब देव शरीरमें किस रीतिसे घुसते हैं, इस बातका पता पाठकोंको लग सकता है।

जो सब देवताएं हैं और जो माया है जो ब्रह्मके साथ विराट् पुरुष है वे सब इस देहके साथ शरीरमें घुसते हैं। [मं १८] जब तो प्रथमही प्राण-अपान गर्भाशयमें रहता है। उसमें पीछेसे क्रम सब देव वहां पहुंचते हैं तब विराट् पुरुष का अंश वहां पहुंचता है सबसे बादमें ब्रह्म अंश जीवात्माके रूपसे वहां पहुंचता है। इस ब्रह्मके अंशके साथ सब अन्य देव अपने अपने स्थानमें रहते हैं और वहांके अवयव अपने रूपमें बोध्य बना देते हैं। हरएक स्थानमें अंगप्रत्यंग बनाते हैं और वहां ठीक रीतिसे रहते हैं। जो ब्रह्मका अंश जीवात्मारूपसे शरीरमें आता है वही इस शरीरमें प्रजापति-संज्ञक जीवात्मा होकर उसका पालन करता है। जब तक वह इस शरीरमें रहता है तबतक अन्य देवोंका निवास वहां रहता है। जब वह ब्रह्मांश शरीरको छोड देता है तब अन्य देव भी छोडकर उसके साथ चले जाते हैं। इसलिये इसका पालक होनेसे शरीरमें यही प्रजापति कहलाता है।

मनुष्यके शरीरमें सूर्य आंख बना है, वायु प्राण बना है और अन्य देव अन्य इंद्रियस्थानोंमें रहे हैं। यहां सबसे अलग ईश्वर सर्व कर्म कर रहा है। [मं ११] जब अग्नि अपना कार्य स्थगित करता है तब यह शरीर ठंडा हो जाता है और अन्यान्य देव यहां रहनेमें असमर्थ हो जाते हैं।

जैसी गौवें गोशालामें यथाक्रम रहती हैं उसी तरह सब देवताएं इस शरीरमें यथाक्रम रहती हैं। जहां जिस देवताको रहना योग्य है वहीं वह देवता रहती है। ये सब देवताएं मानो गौवें हैं और ये सब गौवें इस शरीररूपी गोशालामें रहती हैं। इन सब देवतारूपी गौवोंका एक पालनेवाला है उसका नाम आत्मा है जो ब्रह्मका अंश यहां रहा है। इसका चित्र इस तरह हो सकता है—

ब्रह्म
इन्द्र वरुण सूर्य वायु अग्नि आदि सब देव।

बडी गोशाला—विश्व—विराट्।

जीवात्मा
देवतांश मन आंख प्राण वाणी आदि इन्द्रियोंके अंश।

छोटी गोशाला—देह।

इस तरह यह गोशालाका वर्णन है। यह गोशाला अपना शरीर ही है। इसमें सब इंद्रियोंके स्थानमें देव रहते हैं और उनका अधिष्ठाता आत्मा उनका पालनेवाला गोपाल भगवान् है। यही अंशरूपसे यहां आया है और सबका धारण कर रहा है। इसी कारण इस पुरुषको [ब्रह्म] यह ब्रह्म है ऐसा कहते हैं। क्योंकि सब देवताएं इसके आधीन रहती हैं। [मं ३२]

यहां गायों और गोपालका विचार पाठक मननपूर्वक देख सकते हैं।

इस पुरुषमें तीन भाग हैं। एक भागसे यहांके सजीव जीव जीते हैं दूसरे भागसे भिन्न भिन्न कर्म किया जाता है और तीसरे भागसे दोनोंका संबंध जोडा जाता है। [मं ३३] ये तीन भाग स्थूल सूक्ष्म कारण नामसे प्रसिद्ध हैं।

जब गर्भाशयमें वीर्यबिन्दु जमा जाता है तब वहां उसमें वह स्थिर होकर गर्भ बढने लगता है। वहां कुक्कुटाण्डके समान होनेसे उसमें सब देवोंके समान वहां गर्भ बढने लगता है। उसके चारों ओर एक जल का अब रहता है। इस जलसे उसकी रक्षा होती है। इस जलमें यह रहनेके कारण ही इसको कम अवका [के-शय] कहा जाता है। [मं ३०]

इस तरह यह शरीररचना देवोंका एक विलक्षण कार्य है। यह अद्भुत रचना है यह आश्चर्यकी बात है। यही देवोंका मन्दिर है और यही सब ऋषियोंका आश्रय है। हरएक मनुष्यको यह प्राप्त हुआ है। इसको अपनी तपस्यासे पवित्र करें और सफल अपना जीवन सफल करें।

युद्धकी तैयारी।

[९]

(ऋषि—काङ्कायनः । देवता अर्बुदिः)

ये बाहवो या इषवो धन्वनां वीर्याणि च । असीन् परशूनायुधं चित्ताकूतं च यद्धृदि ॥
सर्वं तदर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥१॥
उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम् । संदृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राण्यर्बुदे ॥२॥
उत्तिष्ठतमा रभेथामादानसंदानाभ्याम् । अमित्राणां सेना अभि धत्तमर्बुदे ॥३॥
अर्बुदिर्नाम यो देव ईशानश्च न्यर्बुदिः । याभ्यामन्तरिक्षमावृतमियं च पृथिवी मही ।
ताभ्यामिन्द्रमेदिभ्यामहं जितमन्वेमि सेनया ॥४॥
उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह । भञ्जन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परि वारय ॥५॥
सप्त जातान् न्यर्बुद उदाराणां समीक्षयन् । तेभिष्ट्वमाज्ये हुते सर्वैरुत्तिष्ठ सेनया ॥६॥

अर्थ—हे (अर्बुदे) शत्रु नाश करनेवाले! (ये बाहवः) जो बाहु हैं (याः इषवः) जो बाण हैं और (धन्वनां वीर्याणि) धनुर्धारियोंके पराक्रम हैं तथा (असीन् परशून् आयुधं) तलवार, फरसे और आयुधोंको तथा (यत् हृदि चित्ताकूतं च) जो हृदयमें संकल्प है (तत् सर्वं) वह सबको (त्वं अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) तू शत्रुओंको भीति दिखानेके लिये तैयार कर और (उदारान् च प्रदर्शय) बड़े बड़े दृश्योंको भी शत्रुओंको दिखाओ ॥ १ ॥

हे (मित्राः देवजनाः) मित्रो! और हे सज्जनो! (यूयं उत्तिष्ठत) तुम उठो (सं नह्यध्वं) तैयार हो जाओ। हे (अर्बुदे) शत्रुके नाश करनेवाले! (याः नः मित्राणि) जो हमारे मित्र हैं, उनको तुम ध्यानमें रखो और (वः संदृष्टाः गुप्ताः सन्तु) तुम्हारे सब निरीक्षण देखे हुए और सुरक्षित हों ॥ २ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुविनाशक! (उत्तिष्ठतं आरभेथां) उठो युद्धका प्रारंभ करो (आदान-संदानाभ्यां) पकड़ने बांधनेके साधनोंसे (अमित्राणां सेनाः अभिधत्तं) शत्रुओंकी सेनाओंको घेर लो ॥ ३ ॥

(यः अर्बुदिः नाम देवः) जो अर्बुदि नामक सेनाध्यक्ष है और (यः न्यर्बुदिः ईशानः) जो न्यर्बुदि नामक सेनाका मुखिया है। (याभ्यां अन्तरिक्षं आवृतं) जिन्होंने अन्तरिक्ष घेरा हुआ है (इयं च मही पृथिवी) यह बड़ी पृथिवी भी व्याप्त हुई है। (ताभ्यां इन्द्रमेदिभ्यां सेनया जितं अहं अन्वेमि) उन इन्द्र और मेदके द्वारा सेनासे शत्रुको जीत लिया, अतः उनके पश्चात् मैं जाता हूं ॥ ४ ॥

हे (देवजन अर्बुदे) देवजन-शत्रुविनाशक! (त्वं सेनया सह उत्तिष्ठ) तू सेनाके साथ उठ। (अमित्राणां सेनां) शत्रुओंकी सेनाको (भोगेभिः भञ्जन् परिवारय) अपनी पंक्तियोंसे घेर करके नष्ट कर ॥ ५ ॥

हे (न्यर्बुदे) शत्रुविनाशक! (उदाराणां सप्त जातान् समीक्षयन्) सर्वत्र बड़ोंके सात प्रकारोंको देखकर (आज्ये हुते) घीकी आहुति देते ही (तेभिः सर्वैः सेनया त्वं उत्तिष्ठ) उन सबके साथ लेकर अपनी सेनाके साथ तू उठ ॥ ६ ॥

प्रतिघ्नानाश्रुमुखी कृधुकर्णी च क्रोशतु । विकेशी पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥७॥
संकर्षन्ती करूकरं मनसा पुत्रमिच्छन्ती । पतिं भ्रातरमात्स्वान् रदिते अर्बुदे तव ॥८॥
अलिक्लवा जाष्कमदा गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः ।
ध्वाङ्क्षाः शकुनयस्तृप्यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥९॥
अथो सर्वं श्वापदं मक्षिका तृप्यतु क्रिमिः । पौरुषेयेऽधि कुणपे रदिते अर्बुदे तव ॥१०॥(२५)
आ गृह्णीतं सं बृहतं प्राणापानान् न्यर्बुदे ।
निवाशा घोषाः सं यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥११॥
उद् वेपय सं विजन्तां भियामित्रान्त्सं सृज । उरुग्राहैर्बाह्वङ्कैर्विध्यामित्रान् न्यर्बुदे ॥१२॥
मुह्यन्त्वेषां बाहवश्चित्ताकूतं च यद्धृदि । मैषामुच्छेषि किं चन रदिते अर्बुदे तव ॥१३॥
प्रतिघ्नानाः सं धावन्तूरः पटूरावाघ्नानाः ।
अघारिणीर्विकेश्यो रुदत्यः पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥१४॥

अर्थ- हे (अर्बुद) शत्रुनाशक वीर ! (तव रदिते) तेरे आक्रमणसे (पुरुषे हते) शत्रुके वीर मरनेपर उनकी स्त्री (विकेशी कृधुकर्णी) बालोंको खोलकर आभूषणरहित कानोंसे (अश्रुमुखी प्रतिघ्नाना) आंसुओंसे भरे हुए मुखसे छाती पीटती हुई (क्रोशतु) बडा आक्रोश करे ॥ ७ ॥

हे (अर्बुद) शत्रुनाशक वीर ! (तव रदिते) तेरे आक्रमण होनेपर (करूकरं संकर्षन्ती) हाथ और पैर खिंचती हुई (मनसा पुत्रं इच्छन्ती) मनमें पुत्रकी कामना करनेवाली (पतिं भ्रातरं आत् स्वान्) पति भाई और अपने बांधवोंके लिए चाहनेवाली शत्रुकी स्त्री रुदन करे ॥ ८ ॥

हे (अर्बुद) शत्रुनाशक ! (तव रदिते) तेरे द्वारा शत्रुपर आक्रमण होनेपर (अलिक्लवाः जाष्कमदाः) मुर्दोंके बडे मांस खानेवाले पक्षी (गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः) गीध श्येन आदि पक्षी (ध्वाङ्क्षाः शकुनयः) कौवे और शकुनि पक्षी (अमित्रेषु तृप्यन्तु) शत्रुओंके मृत देहोंका मांस खाकर तृप्त हों यह तू (समीक्षयन्) देखता रह ॥ ९ ॥

हे (अर्बुद) शत्रुनाशक वीर ! (तव रदिते) तेरे द्वारा शत्रुपर आक्रमण होनेपर (पौरुषेये कुणपे अधि) शत्रुके पुरुषोंके मुर्दोंपर (अथो सर्वं श्वापदं) सब जानवर (मक्षिका क्रिमिः तृप्यतु) मक्खियां और कीडे सब तृप्त हो जांय ॥ १० ॥

हे [अर्बुद न्यर्बुदे] शत्रुनाशक वीरो ! [तव रदिते] तेरे शत्रुपर आक्रमण होनेपर [समीक्षयन्] और देख देखकर हमला होनेपर [प्राणापानान् बृहतं सं आगृह्णीतं] शत्रुके प्राणोंको पकडो और बडा हमला करो । उनसे [अमित्रेषु निवाशाः घोषाः सं यन्तु] शत्रुओंमें बडा कोलाहल मच जावे ॥ ११ ॥

हे (न्यर्बुदे) शत्रुनाशक वीरो ! (अमित्रान् उद्वेपय) शत्रुओंको भयभीत करो । (सं विजन्तां) शत्रु भयसे कांपने लग जांय । (भिया संसृज) शत्रु भयभीत हों । (उरुग्राहैः बाह्वङ्कैः अमित्रान् विध्य) बडे पकडवाले बाहुओंसे पैंतरे बदलकर शत्रुओंको मार ॥ १२ ॥

हे (अर्बुद) शत्रुनाशक वीर ! (तव रदिते) तेरे आक्रमण होनेपर (एषां बाहवः मुह्यन्तु) इनकी बाहुएं शिथिल हो जांय (यत् हृदि चित्ताकूतं च) जो इनके हृदयमें संकल्प हों वे निष्फल हों (एषां किं चन मा उच्छेषि) इन शत्रुओंमेंसे कोई भी न बचे ॥ १३ ॥

हे (अर्बुद) शत्रुनाशक वीर ! (तव रदिते) तेरे आक्रमण होनेपर (पुरुषे हते) शत्रुके वीर पुरुष मरनेपर उनकी स्त्रियां (उरः प्रतिघ्नानाः) छाती पीटती हुई (पटूरौ आघ्नानाः) जंघाओंको पीटती हुई (अघारिणीः विकेश्यः रुदत्यः) तैल न लगाकर बालोंको न बांधती हुई रोती रहें ॥ १४ ॥

अप्नस्वतीरप्सरसो रूपका उतार्बुदे। अन्तःपात्रे रेरिहतीं रिशां दुर्णिहितैषिणीम्।
सर्वास्ता अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥१५॥
खडूरेऽधिचङ्क्रमां खर्विकां खर्ववासिनीम्। य उदारा अन्तर्हिता गन्धर्वाप्सरसश्च ये।
सर्पा इतरजना रक्षांसि ॥१६॥
चतुर्दंष्ट्राञ्छ्यावदतः कुम्भमुष्काँ असृङ्मुखान्। स्वभ्यसा ये चोद्भ्यसाः ॥१७॥
उद् वेपय त्वमर्बुदेऽमित्राणाममूः सिचः। जयांश्च जिष्णुश्चामित्राँ जयतामिन्द्रमेदिनौ ॥१८॥
प्रब्लीनो मृदितः शयां हतोऽमित्रो न्यर्बुदे।
अग्निजिह्वा धूमशिखा जयन्तीर्यन्तु सेनया ॥१९॥
तयार्बुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम्। अमित्राणां शचीपतिर्मामीषां मोचि कश्चन ॥२०॥(२६)
उत्कसन्तु हृदयान्यूर्ध्वः प्राण उदीषतु। शौष्कास्यमनु वर्तताममित्रान् मोत मित्रिणः ॥२१॥
ये च धीरा ये चाधीराः पराञ्चो बधिराश्च ये। तमसा ये च तूपरा अथो बस्ताभिवासिनः।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥२२॥

अर्थ—हे (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर! (अप्नस्वतीः रूपकाः अप्सरसः) कुत्सित भाव लेकर चलनेवाली स्त्रियां (उत) और (अन्तः पात्रे रेरिहतीं रिशां) बर्तनके अन्दर चाटनेवाली हिंसक स्वभाववाली (दुर्णिहितैषिणीम्) बुरे रखे हुएकी इच्छा करनेवाली (सर्वाः ताः त्वं अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) उन सबको तू शत्रुओंको दिखानेके लिये तैयार कर और (उदारान् च प्रदर्शय) उत्कट भाव भी दिखा ॥ १५ ॥

(खडूरे अधि चङ्क्रमां) आकाशमें घूमनेवाली (खर्विकां खर्ववासिनीं) छोटी और छोटे स्थानपर रहनेवाली हिंस पक्षियोंको दिखा। (ये उदाराः अन्तर्हिताः) जो छिपाकर रखे हुए बडे उत्कट भाव हैं उनका प्रयोग कर। (ये गन्धर्वाप्सरसः च सर्पाः इतरजनाः रक्षांसि) गन्धर्व अप्सरा, सर्प, राक्षस और इतर लोग हैं तथा जो (चतुर्दंष्ट्रान् श्यावदतः) चार दांतोंवाले काले दांतोंवाले (कुम्भमुष्कान् असृङ्मुखान्) घडेके समान अण्डवाले और मुंहसे रक्त गिरानेवाले (ये स्वभ्यसाः ये च उद्भ्यसाः) जो भयभीत होनेवाले और डरानेवाले हैं, उन सबको शत्रुओंको दिखा ॥ १६, १७ ॥

हे अर्बुदे! (त्वं अमित्राणां अमूः सिचः उद्वेपय) तू इन शत्रुओंके सेनासमूहोंको कंपायमान कर। (जिष्णुः अमित्रान् जयान्) जयशील वीर शत्रुओंको जीते और (इन्द्रमेदिनौ जयतां) राजा और मित्र दोनों विजयी हों ॥ १८ ॥

हे अर्बुदे! (अमित्रः प्रब्लीनः मृदितः हतः शयां) शत्रु घेरा जाकर कुचला हुआ मर जाय। अनन्तर (सेनया अग्निजिह्वाः धूमशिखाः जयन्तीः यन्तु) सेनाके साथ अग्निकी ज्वालाएं और धूएंकी शिखा ये विजय करती हुई चलें ॥ १९ ॥

हे अर्बुदे! (तया प्रणुत्तानां अमित्राणां) उस सेनासे भगाए गये शत्रुओंके (वरं वरं शचीपतिः इन्द्रः हन्तु) मुख्य वीरोंको समर्थ वीर मार डाले (अमीषां कः चन मा मोचि) इनमेंसे कोई भी न बचे ॥ २० ॥

(हृदयानि उत्कसन्तु) शत्रुओंके हृदय उखड जांय (प्राणः ऊर्ध्वः उदीषतु) शत्रुका प्राण ऊपर ही ऊपर चला जाय, (अमित्रान् शौष्कास्यं अनुवर्ततां) शत्रुओंके मुख सूख जांय। परंतु (मित्रिणः मा उत) हमारे मित्रोंके वह कष्ट न हो ॥ २१ ॥

हे अर्बुदे! (ये च धीराः ये च अधीराः) जो धैर्यवाले और जो भीरु हैं, (ये पराञ्चः ये च बधिराः) जो दूर भागनेवाले और जो बधिर हैं (तमसा ये च तूपराः) अन्धकारसे जो घेरे हुए हैं (अथो बस्ताभिवासिनः) और जो बकरोंके समान शब्द करनेवाले हैं (सर्वान् तान् त्वं अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) उन सबको तू शत्रुओंको दिखानेके लिये सज्ज कर और (उदारान् च प्रदर्शय) उत्कट भावोंसे शत्रुओंको प्रति दिखा ॥ २२ ॥

अर्बुदिश्च त्रिषन्धिश्चामित्रान् नो वि विध्यताम्।
यथैषामिन्द्र वृत्रहन् हनाम शचीपतेऽमित्राणां सहस्रशः ॥ २३ ॥
वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः।
गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन्।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥ २४ ॥
ईशां वो मरुतो देव आदित्यो ब्रह्मणस्पतिः।
ईशां व इन्द्रश्चाग्निश्च धाता मित्रः प्रजापतिः।
ईशां व ऋषयश्चक्रुरमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥ २५ ॥
तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम्।
इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम् ॥२६॥ (१०)

अर्थ (अर्बुदिः च त्रिषन्धिः च) अर्बुदि और त्रिषन्धि ये हमारे वीरगण (नः अमित्रान् वि विध्यताम्) हमारे शत्रुओंको मार दें। (वृत्रहन् शचीपते इन्द्र) हे वृत्रनाशक शचीपते इन्द्र प्रभो! [यथा एषां अमित्राणां सहस्रशः हनाम] इन शत्रुओंको हजारों की संख्यामें हम मार दें ॥२३॥

हे अर्बुदे! वनस्पतियों और वनस्पतिसे बने पदार्थों औषधियों लताओं गंधर्व अप्सरा सर्प देव पुण्यजन और पितरोंको तू [अमित्रेभ्यः दृशे] शत्रुओंको दिखा और [उदारान् च प्रदर्शय] स्फोटक अस्त्रोंको प्रदर्शित कर, जिससे शत्रु डर जावें ॥ २४ ॥

हे अर्बुदे [तव रदिते] तुम्हारा आक्रमण होनेपर [अमित्रेषु समीक्षयन्] शत्रुओंका निरीक्षण करनेके पश्चात् हमारे शत्रुओंके ऊपर [मरुतः देवः आदित्यः ब्रह्मणस्पतिः] आदित्य देव बृहस्पति और मरुत [ईशां चक्रुः] अधिकार करें। इन्द्र, अग्नि, धाता, मित्र प्रजापति ये देव [वः ईशां चक्रुः] तुम शत्रुओंपर शासन करें। (अथवा) ऋषिलोग [ईशां चक्रुः] शासन करें ॥२५॥

हे [मित्राः] मित्रो, हे [देवजनाः] देवजनो! [यूयं तेषां सर्वेषां ईशानाः] तुम उन सब शत्रुओंके शासक हो [उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं] उठो तैयार हो जाओ। [इमं संग्रामं संजित्य] इस युद्धमें उत्तम प्रकार जय प्राप्त करके [यथालोकं वितिष्ठध्वं] अपने अपने देशमें जाकर सुखसे रहो ॥ २६ ॥



युद्धकी नीति

वेदमें युद्ध—विषयक अनेक सूक्त हैं और अनेक सूक्तोंमें युद्धविषयक निर्देश हैं। इसी प्रकारका यह सूक्त है। इसका देवता "अर्बुद" है। "अर्बुद" शब्द संख्यावाचक है वैसाही न्यर्बुद भी है।

अर्बुद १ •

न्यर्बुद •

इस तरह यह संख्या मानी गयी है। अर्बुदसे दस गुना न्यर्बुद है। दस कोटी संख्या अर्बुदमें और सौ कोटी न्यर्बुदमें होती है। कईयोंके मतसे दोनों संख्याका समान अर्थ दस कोटी ही होता है। कुछ भी हो ये कोटी संख्यावाचक ये शब्द हैं, इसमें संदेह नहीं है।

इतनी सेना किसी सेनापतिके आधीन रहेगी ऐसा प्रतीत नहीं होता। दस कोटी सेनाको सेनापति चलाता है ऐसे उदाहरण इतिहासमें हैं। अतः यहांतक इस संख्याको मर्यादित समझना चाहिये ऐसा कई कहते हैं। इनके मतसे 'अर्बुद' शब्दसे 'एक लाख सेना' समझी जाय और "न्यर्बुद" शब्दसे "दस लाख सेना" मानी जाय। परंतु यह एक मत है इसके लिये कोई विशेष प्रमाण नहीं है।

जिस सेनापतिके आधीन जितनी सेना होती है उसको वैसा नाम मिलता है। अर्थात् जिसके पास अर्बुद सेना हो उसका नाम "अर्बुदी" और जिसके पास न्यर्बुद सेना हो उसका नाम 'न्यर्बुदी' होना स्वाभाविक है। अतः ये नाम सेनापतिके वाचक हैं। श्री सायणाचार्य कहते हैं कि ये नाम सर्पके वाचक हैं—

अर्बुदः काद्रवेयः सर्पऋषिर्मन्त्रकृत्।

(ऐ० ब्रा० ६।१)

इस वचनके अनुसार अर्बुद कद्रूका पुत्र सर्पजातिका ऋषि है उसके दो पुत्र थे एक अर्बुदि और दूसरा न्यर्बुदि। ऐसा माननेपर भी ये सेनापति थे ऐसाही मानना पडता है।

अर्थात् अर्बुदि और न्यर्बुदि ये नामस्वरूपके सेनापतियोंके हैं इसमें सन्देह नहीं है। हमारे विचारसे इन शब्दोंके निश्चित अर्थोंके विषयमें अभी बहुत खोजकी आवश्यकता है। तबतक इनको पूर्वापर संबंधसे हम इनको विशेष अधिकारके शूर सेनापति ही समझते हैं। इस सूक्तका अर्थ ध्यानमें आनेके लिये ऐसा समझ लीजिये कि एक राजा है उसके पास इस तरहके सैनिक और सेनापति हैं और शत्रुसे युद्ध छिड गया है। इस अवस्थामें क्या करना चाहिये यह उपदेश यहां है।

'अपने सैनिकोंका जो आयुध है उसके पास जो धनुष्य, बाण परशु तलवार आदि आयुधसमूह है उन सबको ऐसे ढंगसे रखना करो कि उनको देखकर ही शत्रु भयभीत हो जाय।' [मं० १] अपने सैन्यकी और अपने शस्त्रोंकी सुसज्जता ऐसी करनी चाहिये और उसका प्रभाव शत्रुपर ऐसा पडना चाहिये कि शत्रु युद्ध करनेके लिये खडा तक न रहे। जो अपने मनके उद्देश हैं जिस कारण युद्धके क्षेत्रमें उतरना पडता है वह सब ऐसी योग्यतासे जगत्‌में घोषित करना चाहिये कि, जिससे जनता को पता लगे कि शत्रुके पक्षमें ही सब सारा दोष है और अपना पक्ष निर्दोषी है परंतु धर्मरक्षाके लिये ही हमें युद्ध करना आवश्यक हुआ है। इस ढंगसे जनताके मनमें शत्रुका पक्ष सर्वथा निर्बल होता है और अपने पक्षको जनताकी अनुकूल संमति मिलती है। युद्धमें जय मिलनेके लिये इसकी बडी भारी आवश्यकता है।

पांडवोंका सैन्यबल कम था और कौरवोंका अधिक था। शस्त्रास्त्र बल भी पाण्डवोंकी अपेक्षा कौरवोंका ही अधिक था। तथापि कौरवोंकी निंदा जनतामें इतनी हो चुकी थी कि वे जनताकी दृष्टिमें मर चुके थे। इसका लाभ पाण्डवोंको मिल गया। यहां युद्धनीतिकी बात इस मंत्रमें सूचित की है। जिसको पराजित करना है उसपर अपने शस्त्रास्त्रोंका प्रभाव जमाना चाहिये और मनके संकल्पोंसे भी उसे जीतना चाहिये। इस प्रकारकी जीत होनेके पश्चात् युद्धमें प्रत्यक्ष रणक्षेत्रपर जीत होनेकी संभावना हो सकती है।

शत्रुको अपने 'उदारों' का प्रदर्शन कराना चाहिये। उदार वाचक ये शब्द हैं कि जो शत्रुपर दूरसे फेंके जाते हैं और वे वहां गिरकर शत्रुका भयंकर नाश करते हैं। जैसे बम्बके जैसे होते हैं उनको आग लगानेसे भडक जाती है और

अर्बुदिमें एक अन्दरसे [illegible] बाहर आता है। इसका नाम है अन्दर [in—out] अंदरसे बाहर फेंकना, अन्दरसे एकदम बाहर आना और चारों ओर फैला जाना। जो अन्दरसे बाहर और [illegible] चारों ओर फैला जाता है उसका नाम 'in—out' है। इस प्रकार शत्रुके ऊपर फेंका जानेवाला यह अस्त्र है और इसके अन्दर ऐसे विनाशक पदार्थ भरके बाहर फेंके जाते हैं जिनसे शत्रुका नाश हो जाता है। इस तरह इस प्रकार अनेक प्रकारके अस्त्र पास हैं और युद्ध करनेवाले इनके द्वारा शत्रुका नाश शीघ्र करना इसमें सुगम है यह बात शत्रुके हृदयमें बैठ जाय ऐसी स्थिर करनी चाहिये। जिससे शत्रु डरता और युद्धके लिये खडा ही नहीं होगा। इस [illegible] भी बहुत वार कार्य [illegible] हो सकता है।

[illegible] दिखाना, करना, ललकारी करना, परंतु अपने गुप्त [illegible] शत्रुको नहीं दिखाने चाहिये। क्योंकि अपने सब [illegible] शत्रुको लगना नहीं चाहिये। अपने पास अद्भुत [illegible] हैं [illegible] शत्रुका विनाश शीघ्र हो सकता है [illegible] शत्रुके अन्दर स्थिर करना चाहिये। युद्धके बिना [illegible] नहीं यह शोभना है। इस अपने प्रताप [illegible] प्रदर्शन करनेका उपदेश मंत्र १ १५ १६ १७ में किया है। इसका ठीक अर्थ समझना चाहिये। नहीं तो अर्थका अनर्थ होनेमें विलंब नहीं लगेगा। यहां केवल प्रदर्शन अर्थात् 'दिखाना' कहा है यह दिखाना केवल शत्रु पर अपनी शक्तिका प्रभाव जमानेके लिये ही है। जो अपनी अपनी सामर्थ्य है वह इस दिखानेमें न्यून नहीं होनी चाहिये। अर्थात् दिखाना ऐसा हो कि शत्रु इस दिखानेसे ही दब जाय।

पश्चात् सब सेनाको सज्ज करके सब सेनापति तैयार रहें। किस समय लडना पडे इसका पता नहीं होता है अतः सर्वदा सन्नद्ध रहना चाहिये। अपने जो मित्र राजा हैं उनकी शक्तिका भी विचार करना चाहिये। सुरक्षितताके साथ वे अपने [illegible] मिलें इस विषयमें [illegible] होकर [illegible] करना चाहिये। (मं० ९) अपने मित्रोंकी निश्चितता होनेके लिये यह सब इसी तरह करना योग्य है।

बाहर अपनी शक्ति बडी है ऐसा प्रभाव फैलाना इसी तरह अपनी तैयारी करना, सदा अपनी सेनाकी सज्जता रखनी और अपने मित्रोंकी सुरक्षितता स्थिर करनी, ये सब युद्धके पूर्व करनेके हैं।

जब युद्ध निश्चय [illegible] हो जावे, तब अपनी सेनाको [illegible] करना और युद्धका प्रारंभ करना। इसमें शत्रुको [illegible] भी [illegible] नहीं देनी चाहिये यह विशेष ध्यान [illegible] रखने योग्य है। शत्रुके साथ जो युद्ध करना है, उसमें [illegible] और [illegible] ये दो प्रकारकी युद्धविधियाँ हैं। एकसे शत्रुको [illegible] चारों ओरसे घेरकर [illegible] होता है और दूसरेमें विजय [illegible] शत्रुपर एकदम [illegible] होता है। इस तरहके युद्धसे शत्रुकी बडी सेना हुई तो भी इसमें विजय संपादन किया जा सकता है। जब इस तरह विजयकी संभावना हो तब [illegible] सामने जाकर [[illegible]] [illegible] करना चाहिये। (मं ३) इस मंत्रके [illegible] भी [illegible] सकता है।

एक राजा सेनापति है और दूसरा उसके पीछे [illegible] सेनाध्यक्ष है। ये दोनों मिलकर पृथ्वी और आकाशमें [illegible] प्रयत्न करें कि [illegible] शत्रु पूर्णतया [illegible] जाँय। पृथ्वी ऊपर पैदल घुडस्वार और रथियोंसे युद्ध होगा [illegible] विमानोंसे युद्ध होगा और पहाडोंपर तथा पर्वतशिखरोंपर से [illegible] युद्ध होगा। यहां [illegible] युद्ध करना ही [illegible] युद्ध अर्थात् कुशलताके साथ करके अपनी विजय और [illegible] पराजय करनी चाहिये। इस तरहसे विजय प्राप्त करनेके पश्चात् राजा अपनी सेनाके साथ पराजित शत्रुके प्रदेशमें प्रवेश करे। (सेनया [illegible]) सेनाके [illegible] राजा [illegible] प्रवेश करता हूं। राजा ऐसा ही करे। पूर्ण विजय होनेके पूर्व शत्रुके प्रदेशमें राजा प्रविष्ट न हो। (मं० ४) क्योंकि राजा पर ही राष्ट्रका [illegible] अवलंबित होता है। यदि राजा [illegible] शत्रुके प्रदेशमें गया और वहां [illegible] पकडा गया तो [illegible] सेनाका पराभव और राष्ट्रकी [illegible] होना संभव है। इसलिये अपनी पूर्ण जय होनेतक यह [illegible] अपने [illegible] स्थानमें [illegible] और [illegible] रहे तभी राजा अपनी सुरक्षितताके लिये अपनी [illegible] रखनेवाले [illegible] साथ लेकर उस विजित प्रदेशमें प्रवेश करना चाहिये। राजाकी सुरक्षितता पर ही सब [illegible] अवलंबित है। यहां राजा [illegible] अर्थ मुख्य राज्यशासक समझना चाहिये।

तीसरा [illegible] सेनाध्यक्ष ([illegible]) प्रयत्न करना [illegible]

तैयारी करके उठना और शत्रुकी सेनाको ऐसा घेरना कि जैसा सांप या अजगर किसीसे लिपट जाता है। और इस तरह शत्रुको घेर कर, पकड़कर, काटकर मारना चाहिये। सेनाके चारों ओरसे घेरना अपनी सेना इतनी अधिक रखनी कि जिससे शत्रु घिर जाय। अपनी सेनाकी सहायतासे शत्रुको बेदम करना और उसकी हलचल बंद करना उसका सब प्रदेश सर्वत्र तोड़ना और उसका हरण करना। [मं ५]

जो उदार नामक स्फोटक अस्त्र हैं वे सात प्रकारके होते हैं एक भूमिमें [अन्तर्हिताः उदाराः] गाड़कर रखे जानेवाले दूसरे पानीके अन्दर रखे जानेवाले तीसरे हाथसे फेंके जानेवाले चौथे आकाशमें जाकर फेंके जानेवाले, पांचवे बाणपर रखकर दूर फेंके जानेवाले छठे नदी तालाब आदि जलमें रखे जानेवाले और सातवें पहाड़ोंपर काम देनेवाले। ये सात प्रकारके महाघातक विस्फोटक उदार होते हैं। जहां ये रखे जाते हैं वहां शत्रुको घेर कर लाया जाता है और शत्रु वहां आया तो उसपर विस्फोटक शस्त्र फट जाता है इनसे अंगार निकलते हैं जो शत्रुको एकदम छिन्नभिन्न कर देते हैं। इन सातों प्रकारोंके उदारोंको अपने पास लेकर अपनी सेनासे शत्रुपर चढ़ाई करनी चाहिये। इन अग्नियोंमें घृतकी आहुतियां देकर सब सैनिकोंको सिद्ध होना चाहिये और एकदम शत्रुपर हमला प्रारम्भ होना चाहिये [मं ६] यह भाषा सबेरे का ही हवन है जो चढ़ाईका सूचक है।

इस तरह सिद्ध होकर शत्रुपर हमला करनेसे शत्रु मारा जायगा पराजित होगा भाग जायगा अथवा ऐसा भी होगा कि उसके राज्यमें स्त्रियोंका रोना और आक्रोश करनेके सिवाय दूसरा कोई शब्द रहेगा ही नहीं। [मं ७—९] शत्रुकी सेनाके दुःख भर जाय और क्रूर आयुध उनके पेट का छेदें। (मं १०) उनकी स्त्रियां छाती पीट पीटकर आक्रन्द करें [मं १४] शत्रु मारे जाय और उनमें ऐसे पैदलोंका बड़ा आक्रोश मच जाय [मं ११] ऐसा हमला किया जाय कि शत्रु भयभीत होकर भाग जाय अथवा पकड़ा और मारा तथा काटा जाय [मं १२] शत्रु मोहित हो जाय और उनका कोई शेष न रहे [मं १३] मुर्दा मुर्दे खानेवाले पशुपक्षी गीध हैं कुत्ते उनके मुर्दोंको खाते रहें दिवस रात प्रसन्न उनके स्थानमें घूमते रहें [मं १५]

[मं—१६] आकाशमें दूर ऊपर अपनी सेना जाकर शत्रुपर हमला करे [अर्व—वायवा] निम्न स्थानमें रहनेवाली शत्रु-सेनाको ऊपरसे मारा जाय [अन्तर्हिताः उदाराः] भूमिमें अथवा जलमें आश्रय करके जो स्फोटक रहते हैं उनका स्फोट होकर शत्रु मारे जाय गंधर्व, अप्सरा सर्प राक्षस व इतर जनों की सहायता लेकर शत्रुको हटाया जाय। इस तरह शत्रुका पूर्ण पराभव किया जाय [मं १६-१७]।

उक्त रीतिसे शत्रुका पूरा नाश किया जाय। अपनी सेनाका सर्वत्र विजय हो। [मं १८]

शत्रुको घेरकर मारा जाय। अपनी सेना के साथ अग्निकी ज्वालाएं और धूमकी शिखाएं हों। अर्थात् ऐसे अस्त्र हों कि जिनसे अग्निकी ज्वालाएं निकलें और धूम्र भी बहुत हो जाय इस तरह शत्रुका नाश हो। [मं १९]

शत्रुसेनाके [सर्व वर इन्द्र] बड़े बड़े वीरोंको चुनचुन कर मारा जाय और उनमें नेता कोई न रहे। उनमें कोई नेता न बचे (मं २०)। इस तरह पराजित होनेपर शत्रुके हृदय फटकर उनके प्राण चले जाय मुख सूख जाय ऐसा शत्रु न बचने तक हमला होता रहे। परंतु ध्यान रहे कि अपने पक्षके लोगोंमें [मा मित्रेषु मा] इनमेंसे कोई कष्ट न हो। [मं २१]

चरैतम् जो गतिमान भी हों वहां रहनेवाले हों इन सबको परास्त किया जाय। शत्रुसेनाके हमारी ओर काटे जांय। वनस्पति आदि स्फोटक पदार्थ आदि हरएक प्रकारसे शत्रुको परास्त किया जाय। [मं २२—२४]

हमारे अग्नि सूर्य वायु प्रजापति आदि तथा हमारे ऋषि और हमारे वीर शत्रुओंपर अधिकार करें अर्थात् हमारी सम्मतिके अन्दर शत्रुकी सब जनता आदर आश्रय लेवे। अर्थात् शत्रुपर हमारा केवल भौगोलिक साम्राज्य ही न हो अपितु हमारी आर्य सभ्यताका भी राज्य उनपर हो और वे पूर्णतया हमारी सम्मतिमें आ जांय। [मं २५]

अब हमारे सैनिक इतनी विजय प्राप्त करके पश्चात् अपने अपने स्थानमें जाकर विश्राम करें। उनका शत्रुओंपर स्वामित्व बना रहे। [मं २६]

यह आवश्यक युद्धसूक्त है। आगे भी इसी प्रकार का सूक्त है अब वह देखिये—

युद्धकी रीति।

[१० (१२)]

(ऋषि – भृग्वङ्गिराः । देवता – त्रिषन्धिः)

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह । सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत ॥१॥
ईशां वो वेद राज्यं त्रिषन्धे अरुणैः केतुभिः सह ।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां च ये मानवाः ।
त्रिषन्धेस्ते चेतसि दुर्णामान उपासताम् ॥२॥
अयोमुखाः सूचीमुखा अथो विकङ्कतीमुखाः ।
क्रव्यादो वातरंहस आ सजन्त्वमित्रान् वज्रेण त्रिषन्धिना ॥३॥
अन्तर्धेहि जातवेद आदित्य कुणपं बहु । त्रिषन्धेरियं सेना सुहितास्तु मे वशे ॥४॥
उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह । अयं बलिर्व आहुतस्त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया ॥५॥

अर्थ- हे (उदाराः) अपने घोडोंपर सवार हुए वीर सैनिको ! (केतुभिः सह उत्तिष्ठत सं नह्यध्वम्) अपनी ध्वजाओंके साथ उठो और तैयार हो जाओ। हे (सर्पाः इतरजनाः) सर्पो और हे अन्य लोगो ! हे (रक्षांसि) राक्षसो ! तुम (अमित्रान् अनुधावत) शत्रुओंपर चढाई करो ॥ १ ॥

हे (त्रिषन्धे) त्रिसंधि नामक वीर ! (अरुणैः केतुभिः सह) लाल झण्डोंके साथ (ईशां वः राज्यं वेद) आप सब अधिकारियोंका यह राज्य है ऐसाही मैं मानता हूं। (ये अन्तरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां च ये मानवाः) जो अन्तरिक्षमें जो द्युलोकमें और जो पृथ्वीपर मनुष्य हैं उनमें जो (दुर्–नामानः) दुष्ट नामवाले हैं वे सब (ते त्रि षन्धेः चेतसि उपासताम्) त्रिषन्धि वीरके चित्तमें रहें अर्थात् यह वीर उनका योग्य विचार करे ॥ २ ॥

(त्रिषन्धिना वज्रेण) तीन संधियोंवाले वज्रके साथ (अयोमुखाः सूचीमुखाः) लोहेके मुखवाले सुईके समान नोकवाले (अथो विकङ्कती मुखाः) कठोर कंघेके समान मुखवाले (क्रव्यादः वातरंहसः) मांस खानेवाले और वायुके वेगसे जानेवाले (अमित्रान् आ सजन्तु) शत्रुओंपर जाकर गिरें ॥ ३ ॥

हे जातवेद आदित्य ! (बहु कुणपं अन्तः धेहि) तू शत्रुओंके बहुत मुर्दे भूमिमें छिपा दे। (त्रि–षन्धेः इयं सेना) त्रिषन्धिवज्र धारण करनेवाली यह सेना (मे वशे सुहिता अस्तु) मेरे वशमें उत्तम प्रकारसे रहे ॥ ४ ॥

हे (देवजन अर्बुदे) दिव्य जन शत्रुनाशक वीर ! (त्वं सेनया सह उत्तिष्ठ) सेनाके साथ उठ। (वः अयं बलिः आहुतः) तुम लोगोंके लिये यह उपहारकी बलि अर्पण की गई है। (त्रिषन्धेः आहुतिः प्रिया) त्रिषन्धि नामक वज्रके लिये यह बलिकी आहुति अत्यंत प्रिय है ॥ ५ ॥

शितिपदी सं द्यतु शरव्येयं चतुष्पदी । कृत्येऽमित्रेभ्यो भव त्रिषन्धेः सह सेनया ॥६॥
धूमाक्षी सं पततु कृधुकर्णी च क्रोशतु । त्रिषन्धेः सेनया जिते अरुणाः सन्तु केतवः ॥७॥
अवायन्तां पक्षिणो ये वयांस्यन्तरिक्षे दिवि ये चरन्ति
श्वापदो मक्षिकाः सं रभन्तामामादो गृध्राः कुणपे रदन्ताम् ॥८॥
यामिन्द्रेण संधां समधत्था ब्रह्मणा च बृहस्पते ।
तयाहमिन्द्रसंधया सर्वान् देवानिह हुव इतो जयत मामुतः ॥९॥
बृहस्पतिराङ्गिरस ऋषयो ब्रह्मसंशिताः । असुरक्षयणं वधं त्रिषन्धिं दिव्याश्रयन् ॥१०॥ (२८)
येनासौ गुप्त आदित्य उभाविन्द्रश्च तिष्ठतः ।
त्रिषन्धिं देवा अभजन्तौजसे च बलाय च ॥११॥
सर्वाँल्लोकान्त्समजयन् देवा आहुत्यानया ।
बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम् ॥१२॥
बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम् ।
तेनाहममूं सेनां नि लिम्पामि बृहस्पतेऽमित्रान् हन्म्योजसा ॥१३॥

अर्थ-(शितिपदी चतुष्पदी इयं शरव्या) श्वेत पांववाली और चार पांववाली यह बाणकी पंक्ति (सं द्यतु) नाश करे। हे (कृत्ये) विनाश करनेवाली ! (त्रि-सन्धेः सेनया सह) त्रिसंधि नामक वज्र धारण करनेवालेकी सेनाके साथ (अमित्रेभ्यः भव) शत्रुके नाश करनेके लिये तैयार हो ॥ ६ ॥

(धूमाक्षी सं पततु) धूंवेसे आंख पीडित होकर शत्रुसेना गिर जावे (कृधुकर्णी च क्रोशतु) कानोंमें क्लेश होकर चिल्लाकर रोने लगे। (त्रिषन्धेः सेनया जिते) त्रिसंधिकी सेनाका जय होनेपर (अरुणाः केतवः सन्तु) लाल रंगके ध्वज खडे हो जांय ॥ ७ ॥

(ये दिवि अन्तरिक्षे च चरन्ति) जो द्युलोक और अन्तरिक्षलोकमें संचार करते हैं वे (वयांसि अव-पतन्तां) पक्षी इस ओर आ जांय। (श्वापदः मक्षिकाः सं रभन्तां) हिंस्र पशु, मक्खियां चारों ओर मुर्दे खाने लग जांय। (आमादः गृध्राः कुणपे रदन्तां) कच्चा मांस खानेवाले गीध मुर्दोंको खा जांय ॥ ८ ॥

हे बृहस्पते ! (इन्द्रेण ब्रह्मणा च यां संधां) इन्द्र और ब्रह्माके द्वारा जिस संधिको (समधत्थाः) किया था। (तया इन्द्रसंधया अहं सर्वान् देवान्) उस इन्द्रकी संधिसे मैं सब देवोंको (इह हुवे) यहां बुलाता हूं और कहता हूं कि (इतः जयत मा अमुतः) यहां जीत करो, वहां नहीं ॥ ९ ॥

(आंगिरसः बृहस्पतिः) आंगिरस बृहस्पति और (ब्रह्मसंशिताः ऋषयः) ज्ञानसे तीक्ष्ण हुए सब ऋषि (असुरक्षयणं वधं त्रि-संधिं वधं) असुरनाशक त्रिसंधि नामक वज्रको (दिवि आश्रयन्) द्युलोकमें आश्रय देते रहे ॥ १० ॥

(येन असौ आदित्यः गुप्तः) जिसके द्वारा यह सूर्य सुरक्षित हुआ है, (उभौ इन्द्रः च तिष्ठतः) और दूसरा इन्द्र ये दोनों सुरक्षित रहते हैं। उस (त्रिषन्धिं ओजसे बलाय च) त्रिसंधि नामक वज्रको ओज और बलके लिये (देवाः अभजन्त) देवोंने स्वीकृत किया है ॥ ११ ॥

(आंगिरसः बृहस्पतिः यं असुरक्षयणं वधं) आंगिरस बृहस्पतिने जिस असुरविनाशक वज्रको [असिंचत] सींच कर तैयार किया [अनया आहुत्या] उस वज्रके हवनसे [देवाः सर्वान् लोकान् समजयन्] सब देवोंने सब लोकोंको जीत लिया ॥ १२ ॥

[आंगिरसः बृहस्पतिः यं असुरक्षयणं वधं वज्रं असिंचत] आंगिरस बृहस्पतिने जिस असुरनाशक वज्रको सींच-

युद्धकी रीति।

[१० (१२)]

(ऋषिः–भृग्वङ्गिराः । देवता–त्रिषन्धिः)

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह । सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत ॥१॥

ईशां वो वेद राज्यं त्रिषन्धे अरुणैः केतुभिः सह ।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां ये च मानवाः ।
त्रिषन्धेस्ते चेतसि दुर्णामान उपासताम् ॥२॥

अयोमुखाः सूचीमुखा अथो विकङ्कतीमुखाः ।
क्रव्यादो वातरंहस आ सजन्त्वमित्रान् वज्रेण त्रिषन्धिना ॥३॥

अन्तर्धेहि जातवेद आदित्य कुणपं बहु । त्रिषन्धेरियं सेना सुहितास्तु मे वशे ॥४॥

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह । अयं बलिर्व आहुतस्त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया ॥५॥

अर्थ- हे (उदाराः) अपने वाहनपर सवार हुए वीर सैनिको ! (केतुभिः सह उत्तिष्ठत सं नह्यध्वम्) अपनी ध्वजाओंके साथ उठो और तैयार हो जाओ। हे (सर्पा इतरजनाः) सर्पो और हे अन्य लोगो ! हे (रक्षांसि) राक्षसो ! तुम (अमित्रान् अनुधावत) शत्रुओंपर चढाई करो ॥ १ ॥

हे (त्रिषन्धे) त्रिषन्धि वज्रयुक्त वीर ! (अरुणैः केतुभिः सह) लाल ध्वजोंके साथ (ईशां वः राज्यं वेद) आप सब अधिकारियोंका यह राज्य है ऐसा ही मैं मानता हूं। (ये अन्तरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां च ये मानवाः) जो अन्तरिक्षमें जो द्युलोकमें और जो पृथ्वीपर मनुष्य हैं उनमें जो (दुर्-नामानः) दुष्ट नामवाले हैं वे सब (ते त्रिषन्धेः चेतसि उपासताम्) त्रिषन्धि वीरके चित्तमें रहें अर्थात् यह वीर उनका योग्य विचार करे ॥ २ ॥

(त्रिषन्धिना वज्रेण) तीन संधियोंवाले वज्रके साथ (अयोमुखाः सूचीमुखाः) लोहेके मुखवाले सूईके समान नोकवाले, (अथो विकङ्कती मुखाः) कठोर कंघेके समान मुखवाले (क्रव्यादः वातरंहसः) मांस खानेवाले और वायुके वेगसे चलनेवाले (अमित्रान् आ सजन्तु) शत्रुओंपर जाकर गिरें ॥ ३ ॥

हे जातवेद आदित्य ! (बहु कुणपं अन्तः धेहि) तू शत्रुओंके बहुत मुर्दे भूमिमें गिरा दे। (त्रिषन्धेः इयं सेना) त्रिषन्धि धारण करनेवाली यह सेना (मे वशे सुहिता अस्तु) मेरे वशमें उत्तम प्रकारसे रहे ॥ ४ ॥

हे (देवजन अर्बुदे) दिव्य जन शत्रुनाशक वीर ! (त्वं सेनया सह उत्तिष्ठ) सेनाके साथ उठ। (वः अयं बलिः आहुतः) तुम लोगोंके लिये यह भेंटरूपी बलि अर्पण की गयी है। (त्रिषन्धेः आहुतिः प्रिया) त्रिषन्धि नामक वज्रके लिये यह दी हुई आहुति अत्यंत प्रिय है ॥ ५ ॥

यश्च कवची यश्चाकवचो३ऽमित्रो यश्चाज्मनि। ज्यापाशैः कवचपाशैरज्मनाभिहतः शयाम्॥२२॥
ये वर्मिणो येऽवर्माणो अमित्रा ये च वर्मिणः। सर्वांस्ताँ अर्बुदे हताञ्छ्वानोऽदन्तु भूम्याम्॥२३॥
ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः।
सर्वानदन्तु तान् हतान् गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः ॥२४॥
सहस्रकुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानाम्। विविद्धा ककजाकृता ॥२५॥
मर्माविधं रोरुवतं सुपर्णैरदन्तु दुश्चितं मृदितं शयानम्।
य इमां प्रतीचीमाहुतिममित्रो नो युयुत्सति ॥२६॥
यां देवा अनुतिष्ठन्ति यस्या नास्ति विराधनम्।
तयेन्द्रो हन्तु वृत्रहा वज्रेण त्रिषन्धिना ॥२७॥ (३०)

॥ इति पंचमोऽनुवाकः ॥

॥ एकादशं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ-(यः च कवची) जो कवचधारी है (यः च अकवचः अमित्रः) और जो कवच न धारण करनेवाले शत्रु हैं, (यः च अज्मनि) और जो रथमें है वह सब शत्रु (ज्यापाशैः कवचपाशैः अज्मना अभिहतः शयां) धनुष्यके पाशसे और कवचके पाशसे तथा रथके आघातसे घायल होकर गिर जाय॥ २२॥

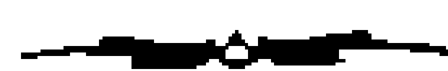
(ये वर्मिणः ये अवर्माणः) जो कवचधारी और जो कवच न धारण करनेवाले और (ये च वर्मिणः अमित्राः) जो कवचधारी शत्रु हैं हे अर्बुदे! (तान् सर्वान् हतान्) उन सब मारे हुओंको (भूम्यां श्वानः अदन्तु) भूमिपर कुत्ते खावें॥ २३॥

(ये रथिनः ये अरथाः) जो रथवाले और जो रथहीन (ये असादाः ये च सादिनः) जिनके पास घोडे नहीं हैं और जो घोडोंपर सवार हैं (सर्वान् तान् हतान्) उन सब मारे हुए शत्रुओंको (गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः अदन्तु) गीध श्येन आदि पक्षी खा(य)॥ २४॥

(समरे वधानां आमित्री सेना) युद्धमें मारी गयी शत्रुओंकी सेना (विविद्धा ककजाकृता शेताम्) शस्त्रोंसे विद्ध हुई और विकृत आकार होकर गिरे॥ २५॥

(यः अमित्रः) जो शत्रु (नः इमां प्रतीचीं आहुतिं युयुत्सति) हमारी इस पूर्वाभिमुख आयी हुई सेनाकी आहुतिके साथ युद्ध करना चाहता है (सुपर्णैः मर्माविधं रोरुवतं) बाणोंसे मर्मका छेदन होनेके कारण रोनेवाले (दुश्चितं मृदितं शयानं अदन्तु) दुःखी चित्तवाले मर्दित होनेके कारण भूमिपर पडे उस शत्रुको गिद्ध खा जाय॥ २६॥

(यां देवाः अनुतिष्ठन्ति) जिसका देव अनुष्ठान करते हैं। (यस्याः विराधनं नास्ति) जिसका विरोध नहीं होता है (तया त्रिषन्धिना वज्रेण) उसके द्वारा तथा त्रिसंधि वज्रसे (वृत्रहा इन्द्रः हन्तु) वृत्रनाशक इन्द्र शत्रुका हनन करे॥ २७॥



सर्वे देवा अत्यायन्तु ये अश्नन्ति वषट्कृतम् ।
इमां जुषध्वमाहुतिमितो जयत मामुतः ॥१४॥
सर्वे देवा अत्यायन्तु त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया । सन्धां महतीं रक्षत ययाग्रे असुरा जिताः ॥१५॥
वायुरमित्राणामिष्वग्राण्याञ्चतु । इन्द्र एषां बाहून् प्रति भनक्तु मा शकन् प्रतिधामिषुम् ।
आदित्य एषामस्त्रं वि नाशयतु चन्द्रमा युतामगतस्य पन्थाम् ॥१६॥
यदि प्रेयुर्देवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे ।
तनूपानं परिपाणं कृण्वाना यदुपोचिरे सर्वं तदरसं कृधि ॥१७॥
क्रव्यादानुवर्तयन् मृत्युना च पुरोहितम् । त्रिषन्धे प्रेहि सेनया जयामित्रान् प्र पद्यस्व ॥ १८ ॥
त्रिषन्धे तमसा त्वममित्रान् परि वारय । पृषदाज्यप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥
शितिपदी सं पतत्वमित्राणाममूः सिचः । मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां न्यर्बुदे ॥ २० ॥
मूढा अमित्रा न्यर्बुदे जह्येषां वरंवरम् । अनया जहि सेनया ॥ २१ ॥

अर्थ– कर तैयार किया [तेन अमूं सर्वा नि कृन्तामि] उस वज्रसे इन शत्रुसेनाओंका नाश करता हूं । हे वृत्रघ्ने ! [ओजसा अभिभाद् इन्द्र] सामर्थ्यसे शत्रुओंका नाश करता हूं ॥ १३ ॥

[ये वषट् कृतं अश्नन्ति] जो वषट्कारसे अन्न ग्रहण करते हैं वे [सर्वे देवाः अति-आयन्तु] सब देव शत्रुका अतिक्रमण करते हैं । हे देवो ! [इमां आहुतिं जुषध्वं] इस आहुतिको स्वीकार करो और [इतः जयत मा अमुतः] यहांसे जीत करो वहांसे नहीं ॥ १४ ॥

[सर्वे देवाः अति आयन्तु] सब देवगण शत्रुका अतिक्रमण करें [त्रिषन्धेः आहुतिः प्रिया] त्रिषन्धि वज्रकी आहुति प्रिय है । [यया अग्रे असुराः जिताः] जिससे प्रारंभमें असुरोंका पराभव किया था उस [महतीं संधां रक्षत] बडी संधिको तुम सब मिलकर रक्षा करो ॥ १५ ॥

[वायुः अमित्राणां इष्वग्राणि अञ्चतु] वायु शत्रुओंके बाणोंके अग्रभागोंको नष्ट करे । [इन्द्रः एषां बाहून् प्रतिभनक्तु] इन्द्र इनकी बाहुओंको तोड दे । वे शत्रु [इषुं प्रतिधां मा शकन्] बाण धनुष्योंपर लगानेके लिये समर्थ न हों [आदित्यः एषां अस्त्रं विनाशयतु] सूर्य इनके अस्त्रों का नाश करे । [चन्द्रमा अगतस्य पन्थां युतां] चन्द्रमा अगमन करनेवाले शत्रुका मार्ग रोक देवे ॥ १६ ॥

(यदि देवपुराः प्रेयुः) यदि पूर्व देव अर्थात् अनुरूप राक्षस बढात दूर भाग गये हैं और उन्होंने (ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे) ज्ञानसे कवचोंको तैयार किया है और (तनूपानं परिपाणं कृण्वानाः) शरीरके रक्षण और सम्पूर्णरक्षा का रक्षण करते हैं और जो (यदुपोचिरे) वचन कह रहे हैं (तत् सर्वं अरसं कृधि) उस सबको नीरस बनाओ ॥ १७ ॥

हे त्रिषन्धे ! (क्रव्यादाः अनुवर्तयन्) मांसभक्षकोंको लेकर (मृत्युना च पुरोहितं) मृत्युको आगे रखकर (सेनया प्रेहि) सेनाके साथ आगे बढ । (अमित्रान् जय प्रपद्यस्व) शत्रुओंको जीत और उनको प्राप्त कर अर्थात् अपने आधीन कर ॥ १८ ॥

हे त्रिषन्धे (त्वं अमित्रान् तमसा परि वारय) तू शत्रुओंको अन्धकारसे घेर (पृषद्- आज्य- प्रणुत्तानां अमीषां) पृषदाज्यसे प्रेरित हुए इन शत्रुओंमेंसे (कश्चन मा मोचि) किसीको भी मत छोड ॥ १९ ॥

(शितिपदी अमित्राणां अमूः सिचः संपततु) श्वेत पांववाली शक्ति शत्रुओंकी इन सेनाओं पर पडे । हे न्यर्बुदे ! (अद्य अमूः अमित्राणां सेनाः मुह्यन्तु) आज वे शत्रुओंकी सेनाएं मोहित हो जांय ॥ २० ॥

हे न्यर्बुदे ! (अमित्राः मूढाः) शत्रु मूढ हो जांय । (एषां वरं वरं जहि) इनके मुख्य मुख्योंका पराभव कर । और उनको (अनया सेनया जहि) इस सेनाके द्वारा से अथवा मार डाल ॥ २१ ॥

यश्च कवची यश्चाकवचोऽमित्रो यश्चाज्मनि। ज्यापाशैः कवचपाशैरज्मनाभिहतः शयाम् ॥२२॥
ये वर्मिणो येऽवर्माणो अमित्रा ये च वर्मिणः। सर्वांस्ताँ अर्बुदे हतांछ्वानोऽदन्तु भूम्याम् ॥२३॥
ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः।
सर्वानदन्तु तान् हतान् गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः ॥२४॥
सहस्रकुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानाम्। विविद्धा ककजाकृता ॥२५॥
मर्माविधं रोरुवतं सुपर्णैरदन्तु दुश्चितं मृदितं शयानम्।
य इमां प्रतीचीमाहुतिममित्रो नो युयुत्सति ॥२६॥
यां देवा अनुतिष्ठन्ति यस्या नास्ति विराधनम्।
तयेन्द्रो हन्तु वृत्रहा वज्रेण त्रिषन्धिना ॥२७॥ (३०)

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

॥ एकादश काण्ड समाप्तम् ॥

अर्थ—(यः च कवची) जो कवचधारी है (यः च अकवचः अमित्रः) और जो कवच न धारण करनेवाले शत्रु हैं, (यः च अज्मनि) और जो रथमें है वह सब शत्रु (ज्यापाशैः कवचपाशैः अज्मना अभिहतः शयाम्) धनुष्यके पाशसे और कवचके पाशसे तथा रथके आघातसे घायल होकर गिर जाय ॥ २२ ॥

(ये वर्मिणः ये अवर्माणः) जो कवचधारी और जो कवच न धारण करनेवाले और (ये च वर्मिणः अमित्राः) जो कवचधारी शत्रु हैं हे अर्बुदे! (तान् सर्वान् हतान्) उन सब मारे हुओंको (भूम्यां श्वानः अदन्तु) भूमिपर कुत्ते खावें ॥ २३ ॥

(ये रथिनः ये अरथाः) जो रथवाले और जो रथहीन (ये असादाः ये च सादिनः) जिनके पास घोडे नहीं हैं और जो घोडोंपर सवार हैं (सर्वान् तान् हतान्) उन सब मारे हुए शत्रुओंको (गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः अदन्तु) गीध श्येन आदि पक्षी खावें ॥ २४ ॥

(समरे वधानां आमित्री सेना) युद्धमें मारी गयी शत्रुओंकी सेना (विविद्धा ककजाकृता) सर्वोंसे विद्ध हुई और विकृत आकार होकर गिरे ॥ २५ ॥

(यः अमित्रः) जो शत्रु (नः इमां प्रतीचीं आहुतिं युयुत्सति) हमारी इस पूर्वाभिमुख आयी हुई देवकी आहुतिके साथ युद्ध करना चाहता है (सुपर्णैः मर्माविधं रोरुवतं) बाणोंसे मर्मोंका छेदन होनेके कारण रोनेवाले (दुश्चितं मृदितं शयानं अदन्तु) दुःखी चित्तवाले मर्दित होनेके कारण भूमिपर पडे उस शत्रुको गिध पक्षी खावें ॥ २६ ॥

(यां देवाः अनुतिष्ठन्ति) जिसका देव अनुष्ठान करते हैं (यस्याः विराधनं नास्ति) जिसका विरोध नहीं होता है (तया त्रिषन्धिना वज्रेण) उसके द्वारा तथा त्रिसंधि वज्रसे (वृत्रहा इन्द्रः हन्तु) वृत्रनाशक इन्द्र शत्रुका हनन करे ॥ २७ ॥

भयानक युद्ध।

युद्ध है बडा भयानक परंतु जबतक मानव-जातिके हृदय परिशुद्ध नहीं होते तबतक युद्ध अपरिहार्य ही है। जब युद्ध टलनेवाला नहीं है तबसे कम जातिशीघ्र युद्ध टल नहीं सकता तब उसे परिणामकारक बनाना चाहिये। अतः युद्धको परिणामकारक बनानेके लिये और शत्रु नाशकी वृद्धि करनेके लिये वेदमें कई सूक्त दिये हैं उनमें यह सूक्त विशेष महत्त्व रखता है। पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका अध्ययन करें।

लडनेवाले वीर अपने जीवनको पूर्णतया समर्पण करके युद्धके लिये तैयार रहें (उदाराः) जीवनपर उदार हो जांय। बिलकुल अपने जीवन की चिंता न करें। सब सेनाके वीर अपने अपने शस्त्र लेकर लडाईके लिये उठें और तयार हो जांय। अपने झण्डेकी रक्षा करना सैनिकोंका कर्तव्य है। सब सैनिक अर्थात् अपने साथ अपनी सहायता करनेके लिये आये सब वीर मिलकर परस्पर भाषण करें। (मं० १) यहां सर्प, राक्षस और अन्य लोगभी परस्पर हमला करनेके लिये आये दीखते हैं। जो भी अपना मित्रपक्ष हो वह सब एक विचारसे लडाई करे आपसमें फूट न हो प्रत्येकका विचार भिन्न भिन्न न हो सब एकही विचारसे एक योजनामें संमिलित होकर शत्रुसे लडें और उसको पूर्णताके साथ परास्त करें।

वज्रनिर्माण।

त्रिषंधि नामक एक प्रकारका वज्र है। यह बडा भयानक होता है। तीन स्थानोंमें इस वज्रमें संधि किया रहता है इसलिये इसका नाम त्रिषंधि रखा गया है। त्रिषंधि वज्र है, यह बात निम्न लिखित मंत्रमें कही है—

वज्रेण त्रिषन्धिना। (मं० ३, १०)
त्रिषंधे वज्रं आसिंचत। (मं० १२, ११)

यह त्रिषंधिनामा वज्र है उसमें तीन जोड होते हैं और यह पानीमें सिंचित करके बनाया जाता है अर्थात् यह फौलाद का ही होना चाहिये जो तपाकर पानीमें अथवा तैलादि इन पदार्थोंमें भिगाकर बनाया जाता है। इसके निर्माणके विषयमें इस सूक्तमें थोडेसे निर्देश हैं। जो पाठक वज्रनिर्माण की विद्या जानना चाहते हैं उनको इस तरहके निर्देश जाननेमें उत्तम योग्य है।

लाल झण्डे।

अरुण रंगवाले झण्डे लेकर तथा अपने अस्त्र शस्त्र लेकर सब सैनिकोंको तैयार होना चाहिये। इस रीतिसे सब सैन्य सज्ज होनेपर राजा सैनिकोंको संबोधित करके ऐसा भाषण करे— हे शूर सैनिको! आप सभी इस राज्यके सच्चे सेवक हैं आप ही इस राज्यके रक्षक हैं और आपही इसके चलानेवाले हैं। जो इस भूमण्डल पर मनुष्यमात्र हैं उनमें जो युद्धवीर अथवा शूर हैं [इ० नाम] युद्धवाक साथ मिलकर जो प्रसिद्ध हुआ है उसको दण्ड देना आप सब वीरोंका कर्तव्य है। इस भूमण्डल का राज्य निर्भयरूप करनेके लिये आप सुसज्जित हुए हैं। आपके हाथमें त्रिषंधि नामक बडा तीव्र शस्त्री वज्र है। उसकी सहायतासे आप हरएक शत्रुको जीत सकते हैं अतः दुष्ट लोगोंको दंड देना यह एकमात्र आपका कर्तव्य है यह बात अपने चित्तमें आप [केतवि अपावत] रखें और इसे कभी न भूलें। [मं० १] जिस कारण आपका कर्तव्य दुष्टोंको दंड देना है उस कारण आपके हाथसे ऐसा कोई कर्म नहीं होना चाहिये कि जो दोषयुक्त हो। इस कारण आपको अपना आचरण वारंवार देखना चाहिये।' ऐसा भाषण करके राजा अपने सैनिकोंको उत्साहित और सावधान करे।

बाणोंका स्वरूप।

त्रिषंधि वज्र के साथ बाणधारी सैनिक भी रहें। दोनोंकी लडाई परस्पर एक साथ हो। बाण अनेक प्रकार के होते हैं परंतु तृतीय मंत्रमें निम्नलिखित बाणोंका वर्णन है

अघोमुखा— जिनके अग्रभागमें फौलाद लगा है जिनसे बाणकी नोक तीक्ष्ण रह सकती है—

१ सूचीमुखाः— सूईके समान अग्रभागवाले बाण। ये बाण शत्रुके शरीरमें चौतरफासे घुस सकते हैं।

२ विकंकतीमुखाः— कंघेके समान दांतेदार मुखवाले

अथर्ववेदके एकादश काण्डकी विषयसूची

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

द्वादशं काण्डम् ।

लेखक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
साहित्यवाचस्पति वेदाचार्य गीतालंकार
अध्यक्ष स्वाध्यायमंडल 'आनंदाश्रम' पारडी (जि. सूरत)

तृतीय वार

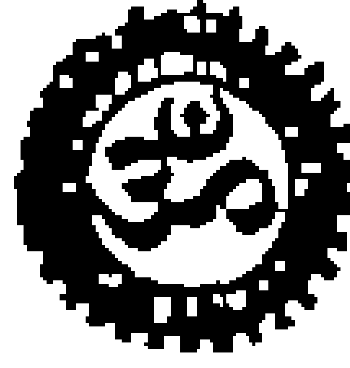
[illegible]

राष्ट्रका धारण ।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥

[अथर्व० १२।१।१]

“ सत्यता सरलता उग्रता दक्षता तप अर्थात् द्वन्द्वसहनशीलता ज्ञान यज्ञ अर्थात् आत्मसमर्पण ये सात गुण मातृभूमिकी धारणा करते हैं। अर्थात् जिन लोगोंमें ये सात गुण विशेष प्रमाणमें रहते हैं वे लोग अपनी मातृभूमिकी उत्तम रक्षा कर सकते हैं। और जो लोग इन गुणोंसे विरहित होते हैं वे अपनी मातृभूमिकी रक्षा नहीं कर सकते। मातृभूमि लोगोंके भूत, वर्तमान और भविष्यकी सुरक्षा करनेवाली होती है। ऐसी यह हमारी मातृभूमि हमारे लिये हरएक दिशामें विस्तृत कार्यक्षेत्र उत्पन्न करे। ”



अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

द्वादश काण्ड ।

यह बारहवां काण्ड अथर्ववेदके द्वितीय महाविभागका पांचवां काण्ड है। इसमें पांच सूक्त हैं इनके अनुवाक, सूक्त और मंत्रसंख्या निम्नलिखित प्रकार है।

अनुवाक्	सूक्त	दशति	मंत्रसंख्या
१	१	६+(११)	६३
२	२	५+(५)	५५
३	३	६	६०
४	४	४+(१३)	५३
५	५	७(पर्याय)	७३
			३०४ कुल-मंत्रसंख्या

इन सूक्तोंके ऋषि देवता छन्द अब देखिये—

ऋषि-देवता-छन्द ।

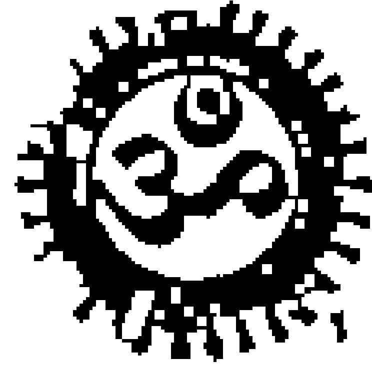
सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१	६३	अथर्वा	भूमि	त्रिष्टुप्; २ भुरिक्; ४-६, १०, ३८ त्र्यव० षट्पदा जगती; ७ प्रस्तारपंक्तिः; ८, ११ त्र्यव० षट्पदा विराडष्टिः; ९ परानुष्टुप्; १२, १३, ३७ पंचपदा शक्वरी (१२, १३ त्र्यवसाना); १४ महाबृहती; १६, २१ एकावसाना साम्नी त्रिष्टुप्, १८ त्र्यव० षट्पदा त्रिष्टुबनुष्टुब्गर्भातिशक्वरी; १९, २० उरोबृहती (२० विराट्); २२ त्र्यव० षट्पदा विराडतिजगती; २३ पंचपदा विराडतिजगती; २४ पंचपदा अनुष्टुब्गर्भा जगती; २५ त्र्यव० सप्तपदा उष्णिगनुष्टुब्गर्भा शक्वरी; २६-२८, ३३, ३५, ३९, ४०, ५०, ५३

					५७ ५८ ५९ ६३, अनुष्टुभः (५१ पुरो बार्हता) ३ विराडगायत्री, १२ पुरस्ताज्ज्योतिः। १३ त्र्यवसाना षट्पदा त्रिष्टुबनुष्टुब्गर्भातिशक्वरी ११ विपरीतपादलक्ष्मा पंक्तिः, ३७ पञ्चपदा विराडतिजगती ३१ त्र्यवसाना षट्पदा ककुम्मती शाक्वरी, ४२ स्वराडनुष्टुप् ४३ विराडास्तारपंक्तिः, ४७, ४९ ४१ ककुप्, ४४ षट्पदा अनुष्टुब्गर्भा पराशक्वरी, ४० षट्पदा अनुष्टुब्गर्भा पराविराडतिशक्वरी, ४८ पुरोऽनुष्टुप्, ५१ त्र्यवसाना षट्पदा अनुष्टुब्गर्भा ककुम्मती शक्वरी, ५२ पञ्चपदा अनुष्टुब्गर्भा परातिजगती ५० पुरोऽतिजागता जगती, ५८ पुरस्ताद्बृहती ६१ पुरोबार्हता; ६२ पराविराट्।
२	५५	भृगुः	अग्निः मन्त्रोक्त देवता ३१—३३ मृत्युः	त्रिष्टुप्;	१—५ ११ १ , २४-२६ २८-४१ ४३ ५१ ५४ अनुष्टुभः (१६ ककुम्मती परा बृहती; १८ निचृत्, ४ पुरस्तात्ककुम्मती); ३ आस्तारपंक्तिः ६ भुरिगार्षी पंक्तिः; ७ ४५ जगती; ८ ४८, ४९ भुरिक्, ९ अनुष्टुब्गर्भा विपरीतपादलक्ष्मा पंक्तिः ३० पुरस्ताद्बृहती; ३२ त्रिपादेकावसाना भुरिगार्षी गायत्री; ३४ एकावसाना द्विपदा आर्षी बृहती ४६ एका द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप्; ५० चतुष्पदा आर्षीविराडभ्यर्गर्भा जगती; ५ उपरिष्टाद्विराड् बृहती ५२ पुरस्ताद्विराड् बृहती; ५५ बृहती गर्भा।
३	६०	यमः	स्वर्गः; ओदनः अग्निः	त्रिष्टुप्;	१ ४२ ४३ ४७ भुरिजः, ८, १२ २१ ३३ ५९ जगत्यः; ११ १७ स्वराडार्षी पंक्तिः; २९ विराड् गर्भा; ३९ अनुष्टुब्गर्भा; ४४ परा बृहती, ५५-६० त्र्यवसाना सप्तपदा शङ्कुमत्यतिजागतशाक्वरातिशाक्वरधार्त्यगर्भातिधृतिः (५५, ५७—६ कृति ५६ विराट् कृतिः) ।
४	५३	कश्यपः	वशा	अनुष्टुप्;	७ भुरिक्, ९ विराट्, उष्णिग्बृहतीगर्भा; ४२ बृहतीगर्भा।
५	७३	अथर्वाचार्यः	ब्रह्मगवी		
१ पर्याय १					१ प्राजापत्यानुष्टुप्, २ भुरिक्साम्न्यनुष्टुप्, ३ चतुष्पदा स्वराडुष्णिक् ४ आसुरी अनुष्टुप्, ५ साम्नी पंक्तिः ।
२ ,, ५					७ साम्नी त्रिष्टुप्, ८ ९ आर्ची अनुष्टुप् (८ भुरिक्), १ उष्णिक् (१ एकपदा), ११ आर्षी त्रिष्टुप् ।

३	पर्याय	११	१२ विराड्विषमा गायत्री; १३ आसुरी अनुष्टुप्; १४ २१ साम्नी उष्णिक्; १५ गायत्री; १६ १७ १९ २ प्राजापत्यानुष्टुभौ; १८ याजुषी जगती; २१ २५ साम्न्यनुष्टुभौ; २२ साम्नी बृहती २३ याजुषी त्रिष्टुप्; २४ आसुरी गायत्री; आर्षी उष्णिक्।
४	,,	११	२८ आसुरी गायत्री; २९, ३७ आर्च्यनुष्टुभौ; ३ साम्न्यनुष्टुप्; ३१ याजुषी त्रिष्टुप्; ३२ साम्नी गायत्री; ३३, ३४ साम्नी बृहती; ३५ भुरिक्साम्नी अनुष्टुप्; ३६ साम्नी उष्णिक्; ३८ प्रतिष्ठा गायत्री।
५	,,	८	३९ साम्नी पंक्तिः; ४० याजुषी अनुष्टुप्; ४१, ४६ भुरिक्साम्न्यनुष्टुप्; ४२ आसुरी बृहती; ४३ साम्नी बृहती; ४४ पिपीलिकमध्यानुष्टुप्; ४५ आर्षी बृहती।
६		१५	४७ ४९ ५१-५३ ५७—६१ ६१ प्राजापत्या-नुष्टुभः; ४८ आर्षी अनुष्टुप्; ५ साम्नी बृहती; ५४ ५५ प्राजापत्योष्णिक्; ५६ आसुरी गायत्री ६ गायत्री।
७	,,	१२	६२—६७ ६९ ७०-७ प्राजापत्याऽनुष्टुभः; ६८ गायत्री; ६७ प्राजापत्या गायत्री; ७१ आसुरी पंक्तिः; ७२ प्राजापत्या त्रिष्टुप्; ७३ आसुरी उष्णिक्।

इस तरह इन सूक्तोंके ऋषि, देवता और छन्द हैं। यहां प्रत्येक सूक्तकी देवता भिन्नभिन्न है। अतः प्रत्येक सूक्तका अर्थ और भावार्थ देकर उसका विवरण साथ साथ ही किया जायगा। इनमें पहिला सूक्त मातृभूमिका सूक्त है यह बड़ा मनोरंजक और बोधप्रद है वह अब देखिये—





अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

द्वादशं काण्डम्।

मातृभूमिका सूक्त

[१]

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥

अर्थ— (बृहत् सत्यम्) बडी या बढाने वाली सत्यनिष्ठा (ऋतम्) यथार्थ ज्ञान, (उग्रम्) क्षात्र तेज (तपः) धर्मानुष्ठान या कर्मका पालन (दीक्षा) प्रत्येक कामके करनेमें चतुराई-दक्षता (ब्रह्म) बडा ज्ञान (यज्ञ) यज्ञ दान अथवा त्याग ये गुण (पृथिवीम्) भूमि देश या राष्ट्र (धारयन्ति) पालन पोषण और रक्षण करते हैं। [सा पृथिवी] वह मातृभूमि (भूतस्य) प्राचीन और (भव्यस्य) भविष्यके तथा बीचमें आ जानेवाले वर्तमान समयके सब पदार्थोंकी [पत्नी] पालन करनेवाली, ऐसी वह हमारी मातृभूमि (नः) हमको (उरुं) बडा भारी (लोकं) स्थान (कृणोतु) करे ॥ १ ॥

भावार्थ- जो मनुष्य यह चाहता हो कि राष्ट्रपर अपनी सत्ता अधिकार, सदा रहे उसमें निम्नलिखित गुणोंका होना आवश्यक है सत्यनिष्ठा सच्चाई, महत्त्वाकांक्षाके साथ कर्म आरम्भ करने और उसको सिद्ध करनेका उत्साह वस्तुस्थिति-का यथार्थ ज्ञान धैर्य साहस और तेजस्विता धर्मनिष्ठा ईश्वरोंका विरुद्ध प्रयोग करना और व्याख्यान सुनना आत्म कल्याण और सदाचरण, परोपकारित्व ईश्वरभक्ति, अपनेपर किये हुए कार्यमें दक्षता नियमानुसार चलनेका अभ्यास एवं सबके सर्व पदार्थ व्यापारोंका विपुल संग्रह आपसमें एक दूसरेका आदर करता एकसाथ रहना सुख और आपत्तिमें पडे हुए लोगोंको सहायता करना यज्ञ अर्थात् स्वार्थत्याग करना मातृभूमिपर अटल निष्ठा इत्यादि। जिन मनुष्योंमें ये गुण होते हैं वेही अपने राष्ट्रको संपन्न करते और सदा उन्नत भाग्यवान रहते हैं। इस पहिले मन्त्रमें राष्ट्रपालक मनुष्योंके लिये आवश्यक गुणोंका स्पष्ट उल्लेख कर यह प्रार्थना की गयी है कि–हे मातृभूमि! हम पूर्वोक्त संपूर्ण उत्तम गुणोंसे युक्त ही तेरा संरक्षण करते हैं और सदा ऐसा करनेको तैयार हैं; तू अपने आधारसे भूत वर्तमान और भविष्य तीनों कालोंके सम्पूर्ण पदार्थोंका उत्तम प्रकारसे पोषण करनेमें समर्थ है। जब कि हम रात दिन तेरा संरक्षण करते हैं तू भी हमारी कीर्ति बढानेका कारण है। ॥ १ ॥

असम्बाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु ।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥ २ ॥
यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ ३ ॥
यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥

अर्थ-(यस्याः) जिस हमारी मातृभूमिके (मानवानां) मननशील मनुष्योंके (म[-ध्य-]तः) मध्यमें (बद्ध) भीषणता उत्पन्न रहनेपर भी परस्पर (बहु) बहुतही (समं) समता (असम्बाधं) और ऐक्य वा मैत्रीभाव है, (या) जो (नः) हमारी (पृथिवी) मातृभूमि (नानावीर्याः) रोगोंको दूर करनेवाली अनेक उत्तम गुणयुक्त (ओषधीः) वनस्पति (बिभर्ति) धारण करती है वह मातृभूमि (नः) हमारी (प्रथतां) कीर्ति या यशकी वृद्धि (राध्यतां) साधन करे ॥ २ ॥

(यस्यां समुद्रः) जिस हमारी मातृभूमिमें महासागर (उत) और (सिन्धुः) अनेक बड़ी नदी (आपः) झरने झील और ताल तलाव बहुत हैं (यस्याम्) जिस मातृभूमिमें (अन्नम्) सब भांतिके अन्न और फल तथा शाक इत्यादि बहुत उपजते हैं (यस्यां इदं प्राणत्) जिसमें सजीव (एजत् जिन्वति) प्राणी चलते फिरते हैं जिसमें (कृष्टयः) कृषीकर खेती करनेवाले मनुष्य शिल्पकर्मविशारद कारीगर तथा उद्योगशील जन (संबभूवुः) बहुत उत्पन्न हुए हैं (सा) इस तरह की (भूमिः) हमारी मातृभूमि (नो) हमको (पूर्वपेये) समस्त भोग ऐश्वर्य (दधातु) देवे ॥ ३ ॥

*[यस्याम्] जिस हमारी मातृभूमिमें [कृष्टयः] उद्यमशील तथा शिल्पचातुरीमें निपुण नित्य परिश्रमसे खेती करने*वाले [संबभूवुः] हुए हैं [यस्याः पृथिव्याः चतस्रः प्रदिशः] जिस भूमिमें चार दिशायें और चार विदिशायें (अन्नम्) चावल गेहूं आदि उपजाती हैं (या बहुधा) जो अनेक प्रकारसे [प्राणत् एजत्] प्राण धारण करनेवालों और चलने फिरनेवालोंका [बिभर्ति] धारण-पोषण करती है (सा नः भूमिः) वह हमारी मातृभूमि हम सब के लिये (गोषु अपि अन्ने दधातु) गौवों और अन्नादिमें रखकर धारण-पोषण करे ॥ ४ ॥

भावार्थ- जिस हमारे राष्ट्र वा देश के मनुष्यों में परस्पर द्रोह नहीं है, प्रत्युत उनमें पूर्ण ऐक्यभाव है। विशेषकर इसके अगुआ आर्यों में अर्थात् हमारी सब प्रकारसे रक्षा करनेवाले लोकनायकों में परस्पर प्रेम भाव है और वे एकता से मिलकर सब काम करते हैं। जिस भूमिमें उत्तम प्रकार की पुष्टिकारक रोगविनाशक अनेक औषधियां और सब तरह की वनस्पतियां पैदा होती हैं वह हमारी प्रिय मातृभूमि हमारी कीर्ति और यशको दिगन्तरमें फैलानेके लिये कारणीभूत हो ॥ २ ॥

जिस हमारी मातृभूमि में सागर महासागर नद नदी तालाब कुए बावली नहर झीलें इत्यादि जलोंसे सींचनेके बड़े बड़े साधन हैं और जिस भूमि में सब तरहके विपुल अन्न पैदा होकर सबको खानेको मिलता है। जिसमें सब प्राणी प्राय सुखी हैं तथा जिसमें कारीगर लोग कलाकौशलमें कुशल हैं किसान लोग खेतीके काम में प्रवीण हैं और अन्य लोग भी उद्यमी हैं वह हमारी मातृभूमि हमें सदैव उत्तम उत्तम भोग्य पदार्थ और ऐश्वर्य देनेवाली होवे ॥ ३ ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें अत्यन्त उद्योगी तथा कलाकौशल खेती बारीमें प्रवीण और परिश्रमी लोग होते आये हैं और जिस भूमि की चारों दिशा और विदिशाओं में सर्वत्र उत्तम धन धान्य खूब उत्पन्न होता है जिसके कारण सम्पूर्ण पशु पक्षी आदि वनस्पति और अन्य जीवधारियों का उत्तम प्रकार पालन पोषण भरण होता है वह हमारी मातृभूमि हमें सदैव गौवें और अन्न इत्यादि देनेवाली होवे ॥ ४ ॥

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥ ५ ॥
विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥ ६ ॥
यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ७ ॥

अर्थ—(यस्याम्) जिस हमारी मातृभूमिमें पुराने समयके आप लोग (पूर्व जनाः) बल बुद्धि वीर्य ऐश्वर्यसे प्रसिद्ध सब भांति पूर्णवीर पुरुष [विचक्रिरे] विक्रम पराक्रमरूप कर्तव्य अच्छी तरह करते रहे हैं [यस्यां देवाः] जिसमें विद्वान् और वीर (असुरान्) हिंसाप्रिय दुष्ट अर्थात् राक्षसी स्वभाववाले लोगोंको [अभ्यवर्तयन्] जीतते रहे हैं। जो [गवां अश्वानां वयसः च] गौवें घोडे और पशुपक्षियोंको [वि-ष्ठा] विशेष सुख देनेका स्थान है [सा नः पृथिवी] वह हमारी मातृभूमि हमको [भगम्] ऐश्वर्य और [वर्चः] तेज वीर्य और विज्ञान (दधातु) दे ॥ ५ ॥

जो (विश्वंभरा) सबकी पोषण करनेवाली [वसुधानि] सोना चांदी हीरा पन्ना आदि अनेक रत्नोंकी खान है [प्रतिष्ठा] सब वस्तुओंकी आधारभूत [हिरण्यवक्षा] सुवर्ण आदिकी खान जिसके वक्षस्थलमें है [जगतः] जितने जंगम जीव या पदार्थ हैं उनकी [निवेशनी] बसानेवाली (वैश्वानरम्) सब भांतिके मनुष्योंके समूहसे भरा हुआ राष्ट्र या देश (बिभ्रती) धारण करती हुई हमारी (भूमिः) मातृभूमि (अग्निम्) अग्रगामी नेता (इन्द्र ऋषभी) सत्कर्मोंको प्राप्त करनेवाले शूरवीर और ज्ञानियोंको तथा [नः] हमको (द्रविणे) धन [दधातु] धारण करनेवाली हो ॥ ६ ॥

अर्थ—[अस्वप्नाः] निद्रा तन्द्रा आलस्य आदि रहित [देवाः] विद्वान् वीर और कुशल जन [यां विश्वदानीम्] सब प्रकारके पदार्थोंकी देनेवाली और जो हमारे लिये [मधुप्रियं च दुहाम्] मधुर प्रिय हितकर पदार्थोंको दुहनेपर देती है, [पृथ्वीं भूमिम्] बडी या विस्तृत हमारी मातृभूमिकी [अप्रमादम्] प्रमादरहित हो [रक्षन्ति] रक्षा करते हैं, [सा] वह भूमि [नः] हमको [वर्चसा] शूरता, वीरता ज्ञान तथा ऐश्वर्यसे [उक्षतु] हमें पूर्ण करे ॥ ७ ॥

भावार्थ— जिस हमारी मातृभूमिमें हमारे प्राचीन पूर्वजोंने—ब्राह्मणों ने अपने ज्ञानद्वारा क्षत्रियोंने अपनी वीरताद्वारा और वैश्योंने अपनी वाणिज्य—कुशलता द्वारा और कारीगरोंने अपनी कारीगरीसे अनेक बडे बडे पराक्रम किये थे, जिस हमारे देशके विद्वान्, शूर वीर व्यापारी और कारीगर लोगोंने मिलकर सम्पूर्ण हिंसक आततायी पापकी और दुष्ट लोगोंको नष्ट किया था और जो सुन्दर भूमि सब पशुपक्षियों को भी उत्तम निवास-स्थान देती है, वह हमारी मातृभूमि हमारा ज्ञान विज्ञान शौर्य तेज वीर्य और ऐश्वर्य पूर्ण रूपसे बढानेवाली होवे ॥ ५ ॥

सबका पोषण करनेवाली रत्नोंकी धारण करनेवाली सब पदार्थोंको आश्रय देनेवाली सुवर्ण आदिकी खान रखनेवाली स्थावर जंगम जीवों वा पदार्थोंको स्थान देनेवाली, सब प्रकारके मनुष्योंसे युक्त राष्ट्र या देशकी उन्नतिमें सहायता देनेवाली मातृभूमि है वह हमारे नेता ज्ञानियों और वीर पुरुषों तथा हमको सब प्रकारके ऐश्वर्य देनेवाली हो ॥ ६ ॥

निद्रा तन्द्रा आलस्य अज्ञान आदि दोषरहित सब कार्योंमें चतुर और उद्यमी, ज्ञानधारी विद्वान् शूर और वणिक् लोग सब पदार्थोंकी देनेवाली जिस विस्तृत भूमिकी प्रमादरहित हो रक्षा करते हैं वह हमारी मातृभूमि सब उत्तम और प्रिय तथा हितकारी पदार्थोंसे हमें पूर्ण सुसंपन्न करे और हममें ज्ञान शूरता और बल उत्पन्न कर हमारी रक्षा करे ॥ ७ ॥

यार्ण॒वेऽधि॑ सलि॒लमग्र॒ आसी॒द् यां मा॒याभि॑र॒न्वच॑रन् मनी॒षिणः॑ ।
यस्या॒ हृद॑यं पर॒मे व्यो॑मन्त्स॒त्येनावृ॑तम॒मृतं॑ पृथि॒व्याः ।
सा नो॒ भूमि॒स्त्विषिं॒ बलं॑ रा॒ष्ट्रे द॑धातूत्त॒मे ॥ ८ ॥
यस्या॒माप॑ः परिच॒राः स॑मा॒नीर॑होरा॒त्रे अप्र॑मादं॒ क्षर॑न्ति ।
सा नो॒ भूमि॒र्भूरि॑धारा॒ पयो॑ दुहा॒मथो॑ उक्षतु॒ वर्च॑सा ॥ ९ ॥
याम॒श्विना॒वमि॑माताम् विष्णु॒र्यस्यां॑ विचक्र॒मे । इन्द्रो॒ यां च॒क्र आ॒त्मने॑ऽनमि॒त्रां शची॒पतिः॑ ।
सा नो॒ भूमि॒र्वि सृ॑जतां मा॒ता पु॒त्राय॑ मे॒ पयः॑ ॥ १० ॥

अर्थ—[या] जो भूमि [अग्रे] पहले [सलिले अधि] जलके भीतर [अर्णवे] समुद्रमें (आसीत्) थी [यस्याः पृथिव्याः हृदयम्] जिस पृथ्वीका मध्यभाग [अमृत इव] अमर आत्माके सदृश [सत्येन] सत्य ईश्वर के द्वारा [आवृतम्] व्याप्त है जो भूमि [परमे व्योमन्] महत् आकाशमें है, [याम्] जिसकी [मायाभिः] कुशलताओंसे सब [मनीषिणः] मननशील विद्वान् [अन्वचरन्] अच्छी तरह सेवा करते आये हैं [सा नः भूमिः] वह भूमि हमारे [उत्तमे राष्ट्रे] उत्तम राज्यमें [त्विषिम्] तेज या कांति, [बलम्] शूरता वीरता, शारीरिक बल किंवा सैन्य [दधातु] धारण करे ॥ ८ ॥

[यस्याम्] जिस भूमिमें [परिचराः] सब ओर जानेवाले परिभ्रमण करनेवाली [आपः] जलधारायें [समानीः] समदृष्टि हो [अहोरात्रे] रात दिन [अप्रमादम्] सावधान रह [क्षरन्ति] परिभ्रमण करते हैं [अथो] और भी जो [भूरि धारा] अनेक तरहका [पयः] खाने तथा पीनेकी वस्तु-भोज्य या पेय आदि दूध भी हमको [दुहाम्] देता है [सा नो भूमिः] वह हमारी मातृभूमि [वर्चसा] तेज प्रताप बल वीर्य आदि [उक्षतु] बढावे ॥ ९ ॥

[याम्] जिस भूमिको [अश्विनौ] अश्विनौ भर्ता और हर्ता दूर धीरसे [अमिमाताम्] मापन किया [यस्यां विष्णुः] जिसमें व्यापकने [विचक्रमे] भांति भांतिका पराक्रम दिखाया है [इन्द्रः] शत्रुविनाशक [शचीपतिः] शचिपति कर्मकुशल राजाने [यां आत्मने अनमित्राम्] जिसको शत्रुरहित किया है [सा नः माता भूमिः] वह माताके समान हमारी मातृभूमि [पुत्राय पयः] जैसा पुत्रको दूध देती है वैसाही [पुत्राय मे] हम सब पुत्रोंको [विसृजताम्] खानेपीनेकी वस्तु प्रदान करे ॥ १० ॥

भावार्थ- जो भूमि पहिले समुद्रके गर्भमें थी । जिसके बाहर भीतर परमेश्वर व्याप्त है जो आकाशमें अधर है और जिसकी सेवा विचारवान् लोग विवेक बुद्धिमें शुद्ध प्रयत्नोंसे तथा कुशलतासे करते हैं वह हमारी मातृभूमि हमारे राष्ट्रमें तेजस्विता वीरता शूरता अस्मिता इत्यादि गुण सदैव बढानेवाली हो ॥ ८ ॥

जैसे मेघोंका जल प्राणिमात्रके एक समान मिलता है वैसेही जिसका उपयोग सबके लिये एक समान होता है ऐसे लोग कारण [illegible] जिस भूमिमें रात दिन उत्तम आचरण न छोडते हुए सदैव एक समान संचार करते रहते हैं और जो भांति भांतिके अन्न-जल देती रहती है वह हमारी मातृभूमि हमारी तेजस्विताके द्वारा हमारी रक्षा करे ॥ ९ ॥

लोगोंका पोषण करनेवाले और शत्रुओंका दमन करनेवाले लोग जिसकी सदैव भलाई किया करते हैं जिसके लिये अपने प्राण तक बडे पराक्रम करते हैं और ज्ञानी शूर पुरुष जिसे अपना मित्र समझते हैं वह हमारी भूमि जिस प्रकार माता अपने बच्चोंको दूध पिलाती है, उसी प्रकार हमें सम्पूर्ण उपभोगके पदार्थ देवे ॥ १० ॥

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥ ११ ॥
यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥ १२ ॥
यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः ।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात् ।
सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना ॥ १३ ॥

अर्थ— हे [पृथिवि ते गिरयः हिमवन्तः पर्वताः अरण्यं च ते] मातृभूमि! पहाड बरफसे ढके पर्वत और वन तुम्हें [स्योनम्] सुखके देनेवाले [अस्तु] हों हम पहाडोंमें वनमें वे सुख सहित हों इसलिये तुम [बभ्रुम्] सबका भरण-पोषण करनेवाली हो, [कृष्णाम्] कृषिकर्मसे उपजाऊ हो [रोहिणीम्] वृक्षादिकोंकी उपज देनेवाली हो, [विश्वरूपाम्] सब तरहका रूप धारण करनेवाली [ध्रुवाम्] स्थिर [पृथिवीम्] बडी विस्तृत लम्बी चौडी [इन्द्र—गुप्ताम्] वीरोंसे रक्षित [भूमिम्] मातृभूमिको [अजितः] जिसे शत्रुओंने नहीं जीता [अहतः] युद्ध आदिमें जिसे हानि नहीं पहुंची, [अक्षतः] शरीरपर किसी अंगमें जिसे घाव नहीं हुआ [अध्यष्ठाम्] ऐसा रहकर मैं इसका अधिष्ठाता या स्वामी होऊंगा ॥ ११ ॥

हे [पृथिवि यत् ते मध्यम्] भूमि! जो तेरे मध्यमें है [यत् च नभ्यम्] जो नाभिस्थान है, (ते याः ऊर्जः) जो तुम्हारा बलयुक्त या अन्न आदि पोषणयुक्त [तन्वः] शरीरधारी अर्थात् [मनुष्य संबभूवुः] आपसमें संगठित हुए अर्थात् एका किए हुए हैं, [तासु] उन उनके समाजमें (नः) हमको [अभिधेहि] स्थापित कर और इस तरह [नः पवस्व] हमारी रक्षा कर [भूमिः] भूमि! तुम हमारी [माता] माता हो [अहम्] हम सब [पृथिव्याः पुत्रः] पृथिवीके पुत्र हैं [नरकसे या दुःखसे जो त्राण या रक्षा करे वह पुत्र है। भूमि हम तेरे दुःखको दूर करेंगे इससे पुत्र हैं] [पर्जन्यः] जलकी वृष्टिसे पोषण करनेवाले मेघ हमारे पिता अर्थात् सस्यसंपत्तिसे पालन करनेवाले हैं [स उ नः] वह हमें विशेष [पिपर्तु] पालन करे। १२ ॥

(यस्याम् भूम्याम् वेदिं परिगृह्णन्ति) जिस भूमिमें सब लोगोंसे वेदीका स्वीकार करते हैं। (यस्यां विश्वकर्माणः) जिसमें शक्तिसे साधन करनेवाले सब लोग (यज्ञं तन्वते) परोपकारका ऐसा यज्ञकार्य करते हैं जिसमें बडे लोगोंका सत्कार हो या ऐसे लोगोंका संगम हो [यस्यां च पृथिव्यां पुरस्तात्] जिस पृथिवीमें पहले [ऊर्ध्वाः] उन्नति करनेवाले, [शुक्राः] वीर्ययुक्त (आहुत्याः) आहुतिके साथ (स्वरवः) यशोगान युक्त होते हैं जहां यज्ञस्तंभ [मीयन्ते] गाडे जाते हैं, [सा नो भूमिः वर्धमाना] वह पृथ्वी हम लोगों द्वारा बढाई गई हो हम लोगोंको [वर्धयतु] बढाया करे ॥ १३ ॥

भावार्थ— हे मातृभूमि! तुमपर जो पहाड और बरफसे ढके हुए पर्वत हैं तथा जो घने बडे जंगल हैं उनमें हमें सुख कभी न रहे, तू सस्यसंपन्न होकर सबका पोषण करनेवाली उपजाऊ उत्तम वृक्षादिसे युक्त स्थिर और वीरोंद्वारा रक्षित हो ऐसी सर्वगुणसम्पन्न तुमपर हम शत्रुओं द्वारा पराजित न होते हुए तथा मृत अथवा घायल न होते हुए आनन्दसे रहें और महान् पदवीको प्राप्त हों, तुम्हें अपने अधिकारमें रखें ॥ ११ ॥

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद् योऽभिदासान्मनसा यो वधेन।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥ १४ ॥
त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो
रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥
ता नः प्रजाः सं दुह्रतां समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥ १६ ॥

अर्थ- हे [पृथिवि यः नः द्वेषत्] मातृभूमि! जो हमसे द्वेष करता है, (यः पृतन्यात्) जो सेनासे हमारा पराभव करना चाहता है (यः मनसा) जो मनसे हमारा अनिष्ट चाहता है (अभिदासात्) जो हमें दास या गुलाम बनाना चाहता है, (वधेन) जो वध करके या हमें कष्ट पहुंचाना चाहता है हे (पूर्वकृत्वरि, पहिलेसे ही प्रारम्भ करनेवाली मातृभूमि! (तं रन्धय) उसका नाश कर ॥ १४ ॥

हे (पृथिवि) हमारी मातृभूमि! जो (मर्त्याः) मनुष्य (त्वज्जाताः) तुम्हारेही में पैदा हुए हैं (त्वयि चरन्ति) तुम्हारेही में चलते फिरते हैं जिन (द्विपदः) दो पांववाले अर्थात् मनुष्योंको (चतुष्पदः) चौपायोंको [त्वं बिभर्षि] धारण पोषण करती हो [येभ्यः मर्त्येभ्यः] जिन मनुष्योंके लिये [अमृतम्] जीवनका हेतुभूत [ज्योतिः] को [उद्यन् सूर्यः रश्मिभिः] उदित हुआ सूर्य किरणोंसे [आतनोति] विस्तार करता है [इमे] ये हम लोग [पंच मानवाः] पांच प्रकारके मनुष्य [तव] तुम्हारी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ॥ १५ ॥

हे [पृथिवि ताः] हमारी मातृभूमि! हम सब लोग तुम्हारी [प्रजाः] प्रजा [समग्राः] सब [वाचः] वाणी [मधु] मधुर प्रेमपूर्वक [संदुह्रताम्] एकत्र हो बोलें [मह्यम्] हमको भी मधुर वचन बोलनेकी शक्ति दे ॥ १६ ॥

भावार्थ- हे मातृभूमि! तेरे भीतर और ऊपर जो जो पदार्थ हैं हम उनकी और तेरी शत्रुओंके हाथसे रक्षा करनेके लिये जो विद्वान् सामर्थ्य और बलवान् मनुष्य एकत्र होकर यत्न करते हैं उनके उस संघमें हमें स्थान दे और हमारी रक्षा कर क्योंकि तू हमारी माता और हम तेरे पुत्र तु असे सुखानेवाले हैं एवं पर्जन्य (मेघ) द्वारा आध्यात्मिक उत्पन्न होते हैं इसलिये हम उसको पिता (पालक) हैं वर्षाकालमें यह नियमित समयमें वर्षा कर हमारी रक्षा करे ॥ १२ ॥

जिस भूमिके लोग सदा ही वैरीके पास जाकर युद्ध करनेके लिये तैयार रहते हैं जिस भूमिमें लोग सदैव परोपकार और उन्नतिके काम करते रहते हैं और जिसमें विशेष कर उन्नतिकारक तथा बलोत्पादक यज्ञ किये जाते हैं इसी प्रकार उत्साह देनेवाले भाषण और उपदेश सदैव किये जाते हैं। हमारे द्वारा उन्नति पानेवाली वह हमारी मातृभूमि हमारे लिये सब प्रकारसे उन्नतिका कारण हो ॥ १३ ॥

हे हमारी मातृभूमि! जो हमसे अन्यायद्वारा द्वेष करते हैं जो हमारे वैरी सेना के हमपर चढाई कर हमें जीतना चाहते हैं, जो हमारा नाश करनेके लिये तुले बैठे हैं जो हमें परतन्त्र और गुलाम बनाना चाहते हैं जो मनसे हमारा अनिष्ट सोचते रहते हैं हमारे उन सब शत्रुओंका पूर्णरूपसे सत्यानाश कर ॥ १४ ॥

हे हमारी मातृभूमि! जो हम लोग तेरेसे उत्पन्न हो तेरेही आधारसे अपने सम्पूर्ण व्यवहार करते हैं, जो सम्पूर्ण पशु, पक्षी मनुष्य और अन्य सम्पूर्ण प्राणिमात्रको तू आधार देकर पालती पोषती है, जिस हमारे जीवनके लिये यह देदीप्यमान सूर्य अपनी अमृतमय किरणोंको चारों ओर फैलाता रहता है वे हम पांच प्रकारके मनुष्य विद्वान् शूरवीर व्यापारी, कारीगर और सेवावृत्तिवाले मनुष्य तुम्हारी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ॥ १५ ॥

हे हमारी मातृभूमि! हम सब लोग आपसमें जो बातचीत करें वह सत्य हितकारी मधुर और परस्पर प्रेमयुक्त हो और अहितकारी तथा कटु न हो। हम सब लोगोंको एकत्र हो आपसमें प्रेमसे मीठा वचन बोलनेकी शक्ति दे ॥ १६ ॥

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा ॥ १७ ॥
महत्सधस्थं महती बभूविथ महान्वेग एजथुर्वेपथुष्टे महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम्।
सा नो भूमे प्र रोचय हिरण्यस्येव संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ १८ ॥
अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु।
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः ॥ १९ ॥

अर्थ-(विश्वस्वम्) सब (ओषधीनाम्) वनस्पति वृक्ष लता आदि की [मातरं ध्रुवां पृथिवीम्] वह माता जो स्थिर लम्बी चौडी स्थिर पृथिवी (धर्मणा) सत्य ज्ञान शूरता वीरता आदि धर्मसे (धृताम्) धारित हो उस (शिवाम्) कल्याणमयी (स्योनाम्) सुख की देनेवाली (भूमिम्) मातृभूमिकी [विश्वहा] सदा [अनुचरेम] हम सेवा करें ॥ १७ ॥

हे मातृभूमि! तुम हम सबका [महत् सधस्थम्] एक साथ मिलकर रहनेका स्थान हो, इस तरह तुम [महती बभूविथ] बडी होती रही हो। [ते] तुम्हारा [एजथुः वेपथुः] हिलना डोलना [महान्] बडा [वेगः] वेग या गतियुक्त होता है। इस प्रकारकी [त्वाम्] तुमको [महान् इन्द्र] शत्रुके नाश करनेवाले बडा शूर, धन ऐश्वर्य, गतियुक्त शूर वीर [अप्रमादम्] सावधानीके साथ [रक्षति] तुम्हारी रक्षा करते हैं। [भूमे] हे मातृभूमि! [सा] सो तुम [हिरण्यस्य इव] सोनेकी तरह [संदृशि] चमकती हुई [नः] हमको [कश्चन] कोई भी आपसमें [मा द्विक्षत] वैरभाव न रक्खे ॥ १८ ॥

[भूम्याम्] पृथिवीके मध्यभागमें [अग्नि] अग्नि है, [ओषधीषु] औषधियोंमें (अग्निः) अग्नि है जिन औषधियोंके सेवनसे बल बढता है जीवन अर्थात् भूख लगती है [आपः] जल (अग्निं) जब मेघरूपमें होता है तब वह अग्नि (बिभ्रति) विद्युत्के रूपमें अग्निको धारण करता है। (अश्मसु) पत्थरोंमें चकमक इत्यादिमें (अग्निः) अग्नि है (पुरुषेषु) मनुष्योंमें (अन्तः) भीतर जठराग्निके रूपमें (अग्नि) अग्नि है (गोषु अश्वेषु अपि) गऊ घोडे आदि पशुओंमें (अग्नयः) अग्नि है जिससे उनका भोजन पचता है ॥ १९ ॥

भावार्थ- जिसमें सब तरहकी उत्तम औषधियां और वनस्पतियां उपजती हैं, जो बडी लम्बी चौडी और स्थिर हो; जिसकी शूरता धर्म वेद आदि सदाचार और सद्गुण युक्त पुरुष जिसकी रक्षा करते हैं, जो कल्याणमयी और सब प्रकारके सुखसाधन हमें देती है; उस मातृभूमिकी हम सदा सेवा करें ॥ १७ ॥

हे हमारी मातृभूमि! तू हम सबको एकत्र रहनेका स्थान देती है; हम सब लोगोंका समावेश होनेयोग्य तेरा विस्तार है, तू आकाशमें हिलते डोलते जिस वेगसे जाती है वह वेग बहुतही बडा है, शूरवीर और साहसी और ऐश्वर्यशाली शत्रुका नाश करनेवाले वीर पुरुषही चौकसीके साथ तेरी रक्षा कर सकते हैं, अनाडी भीरु और विषयोंमें नहीं कर सकते; तू सब सोनेके समान तेजस्वी है, हमें भी तेजस्वी कर और ऐसा कर कि हममेंसे कोई भी परस्परका द्वेष न करे सब एक मतसे व्यवहार करें ॥ १८ ॥

सब पदार्थ अग्निमय हैं। जल अग्निद्वारा भूमि औषध व वनस्पति जल (मेघादिक) पत्थर, मनुष्य गाय घोडे इत्यादि प्राणियोंके शरीर जैसे तेजस्वी दीखते हैं उसी प्रकार हम मनुष्य भी इन सब पदार्थोंमें जो है उससे ब्रह्मचर्य की रक्षा कर और वीर्यरूपी अग्नि को शरीरमें स्थिर कर सब अधिक तेजस्वी हों ॥ १९ ॥

अ॒ग्निर्दि॒व आ त॑पत्य॒ग्नेर्दे॒वस्यो॒र्व१॒॑न्तरि॑क्षम् । अ॒ग्निं मर्ता॑स इन्धते हव्य॒वाहं॑ घृत॒प्रिय॑म् ॥ २० ॥ [२]

अ॒ग्निवा॑साः पृथि॒व्य॑सित॒ज्ञूस्त्विषी॑मन्तं॒ संशि॑तं मा कृणोतु ॥ २१ ॥

भूम्यां॑ दे॒वेभ्यो॑ ददति य॒ज्ञं ह॒व्यमरं॑कृतम् ।
भूम्यां॑ मनु॒ष्या॑ जीवन्ति स्व॒धयान्ने॑न॒ मर्त्याः॑ ।
सा नो॒ भूमिः॑ प्रा॒णमायु॑र्दधातु ज॒रद॑ष्टिं मा पृथि॒वी कृ॑णोतु ॥ २२ ॥

यस्ते॑ ग॒न्धः पृ॑थिवि संब॒भूव॒ यं बिभ्र॒त्योष॑धयो॒ यमापः॑ ।
यं ग॑न्ध॒र्वा अ॑प्स॒रस॑श्च भेजि॒रे तेन॑ मा सुर॒भिं कृ॑णु॒ मा नो॑ द्विक्षत॒ कश्च॒न ॥ २३ ॥

अर्थ- (दिवः) आकाशमें (अग्निः) सूर्यके रूपमें व्याप्त है । (आतपति) जो सब ओर प्रकाश देता हुआ तप रहा है (देवस्य अग्नेः) प्रकाशमय उस अग्निके प्रकाशसे (उरु) बडे (अन्तरिक्षं) प्रकाशमें प्रकाशित होता है, इस का अनेक रूपमें अग्नि विद्यमान है । (हव्यवाहम्) होम की हुई आहुति का ले जानेवाला (घृत-प्रियं) घी को पसन्द करनेवाला (अग्निं) भौतिक अग्नि पशुओंके बढानेपर रोगोंके नाशके लिये (मर्तासः) मनुष्य लोग (इन्धते) दीप्त करते हैं ॥ २० ॥

[अग्निवासाः] अग्निके व्यापक [असितज्ञुः] काले वर्णवाली जो मानो वस्त्र की अग्नि (पृथिवी अग्नि) पृथिवी रूपमें हो (मा) मुझको (त्विषीमन्तं) प्रकाशयुक्त (कृणोतु) करे ॥ २१ ॥

मनुष्य जिस भूमिमें (अरंकृतं) अलंकृत सुसज्ज (हव्यम्) आहुतियुक्त (यज्ञं) यज्ञ (देवेभ्यः) देवताओंको (ददति) देते हैं । इसमें जिस भूमिमें (स्वधया अन्नेन) उत्तम अन्न का देनेवाली वस्तुसे (मर्त्याः) मरणधर्मा (मनुष्याः जीवन्ति) जीते हैं । (सा नः भूमिः प्राणं आयुः) वह भूमि हमें बल आयु (दधातु) दे और वही भूमि (मा) मुझे (जरदष्टिं) अच्छी वृद्धि या वृद्धावस्था (कृणोतु) करनेवाली हो ॥ २२ ॥

हे (पृथिवि ! यस्ते गन्धः संबभूव) पृथिवी जो तेरेमेंसे गन्ध पैदा होती है (यं) जिस गन्धको (ओषधयः) ओषधियां धारण करती हैं (आपः) जिसे (आपः बिभ्रति) जल धारण करता है, जिसे (गन्धर्वाः) सूर्य धारण करते (अप्सरसः च) किरणें धारण करती हैं (च गन्ध) जिस गन्धका (भेजिरे) सुख भोगा (तेन) सुगन्धिसे (मा) मुझ को [सुरभिं] सुगन्धियुक्त [कृणु] कर । [नः] हम लोगोंमें [कश्चन] कोई भी [मा द्विक्षत] किसीसे द्वेष न करे, सब लोग आपसमें मिलजुले रहें ॥ २३ ॥

भावार्थ—आकाशमें चारों ओर अपना प्रकाश फैलानेवाला सूर्य आकाशकी एक बडी भारी अग्नि है । उससे उत्पन्न हुए इस का हवनद्वारा चारों ओर फैलाने के लिये तथा सुगन्धी प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिये मनुष्य घृत आदिसे होम करते हैं । इस अग्निमें हम भी दिन रात हवन करते हैं ॥ २० ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें चारों ओर अग्नि व्याप्त है और जिस भूमिका वर्ण काला है, वह भूमि हमको तेजस्वी और बलवान बनानेवाली हो ॥ २१ ॥

जिस हमारी भूमिमें मनुष्य यज्ञ करते हैं और उसमें उत्तम उत्तम पदार्थोंका हवन करके वायु और जल शुद्ध करते हैं जिस भूमिमें यज्ञोंके कारण समय पर वर्षा होकर विपुल अन्न उपजता है जिसको खाकर मनुष्य आनन्दसे निवास करते हैं वह मातृभूमि हमको उत्तम प्राण और पूर्ण आयुष्य देनेवाली हो ॥ २२ ॥

हे मातृभूमि ! जो तुझमें उत्तम सुगन्ध है वह ओषधि और वनस्पतियोंमें प्रकट होती है उसी सुगन्धिको सूर्य अपनी किरणोंसे ग्रहण करते हैं । उसी उत्तम सुगन्धसे मुझे युक्त करो और हमारे बीच कोई आपसमें किसीसे वैर न करे, सब लोग परस्पर मैत्रीभावसे रहें ॥ २३ ॥

यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश यं संजभ्रुः सूर्याया विवाहे ।
अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्रे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २४ ॥
यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः ।
यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु ।
कन्यायां वर्चो यद् भूमे तेनास्माँ अपि सं सृज मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २५ ॥
शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ॥ २६ ॥
यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा ।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि ॥ २७ ॥

अर्थ- हे [पृथिवि यः ते गन्धः पुष्करं] जो तुम्हारी गन्ध कमलमें [आविवेश] प्रविष्ट हुई है, [अग्रे] पहिले [यं अमर्त्याः] जिस गन्धको वायु आदि देवता [सूर्यायाः] उषाके [विवाहे] विवाहके समय [संजभ्रुः] धारण करते हैं, [तेन मा सुरभिं कृणु] उस सुगन्धिसे हमें सुगन्धित करो । [कश्चन] कोई भी [नः] हम लोगोंसे [मा द्विक्षत] द्वेष न करे ॥ २४ ॥

हे [भूमे] भूमि, [यः ते गन्धः स्त्रीषु पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगः] वीर पुरुषोंमें स्त्रियोंमें साधारण पुरुषोंमें तथा भग कान्तिरूप है [यः अश्वेषु उत मृगेषु हस्तिषु] जो घोडोंमें पशुओंमें, हाथियोंमें, [यत् वर्चः] जो तेज रूप है [कन्यायां] बिना ब्याही कन्याओंमें जो तेज है [तेन] दिव्य तेजसे [अस्मान् अपि] हममें भी वही तेज (संसृज) पैदा कर दे । [कश्चन मा द्विक्षत] हममें कोई किसीसे द्रोह न करे ॥२५॥

जो (शिला अश्मा पांसुः) शिला पत्थर पत्थर और धूलियुक्त (भूमिः) भूमि है (सा भूमिः) वह भूमि हम लोगोंसे विद्या अनेक विज्ञान और वीरतासे (धृता) भलीभांति रक्षित हुई [संधृता] अच्छी तरह वीरताके साथ सुरक्षित हुई रहनेवाली, (तस्यै हिरण्यवक्षसे) उस भूमिको जिसमें सोनेकी खान है (नम अकरं) नमस्कार करते हैं ॥२६॥

(यस्यां) जिसमें (वानस्पत्याः) वनस्पति (वृक्षाः) पेड और लता आदि (विश्वहा) सदा [ध्रुवाः] स्थिर (तिष्ठन्ति) रहते हैं (विश्वधायसं) पूर्वोक्त गुणोंसे जो सबको धारण करनेवाली है [धृताम्] धारण की गई अर्थात् भलीभांति सुरक्षित रखी गई [पृथिवीं अच्छ] उस पृथिवी की हम मुक्तकंठसे [आवदामसि] प्रशंसा गाते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ- हे मातृभूमि ! जो सुगन्धि तुम्हारे कमलमें है सूर्योदयके समय जिसे वायु ले जाती है उस सुगन्धिसे हमें सुगन्धित करो । हममें कोई किसीसे द्वेष न करे । हममें सबका एक दूसरेके साथ स्नेह बढे और सब समाजके लिये हितकारी हों ॥ २४ ॥

हे मातृभूमि ! वीर पुरुषों तथा साधारण स्त्री पुरुषोंमें हाथी घोडे चौपाये आदिमें ब्रह्मचारियों ब्रह्मचारिणी कन्याओंमें जो तेज है वह हममें भी बचपनसे ही हो । हममें कोई भी किसीसे द्रोह न करे ॥ २५ ॥

जिस हमारी मातृभूमिके ऊपर शिला पत्थर और धूल है और जिसके भीतर सुवर्ण रत्नादिक अमूल्य पदार्थ भरे हुये हैं उस मातृ-भूमिको हम नमस्कार करते हैं । जबतक ज्ञान वीर्य आदि गुण हममें बने रहते हैं तभी तक हमारी मातृभूमिका संरक्षण है इसलिये हमको इस प्रकार आचरण करना चाहिये कि ये गुण हममें सर्वदा बने रहें और इनसे सदा मातृभूमिकी रक्षा होती रहे ॥ २६ ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें वृक्ष और वनस्पति बहुतायतसे हैं और सब स्थिर हो रहते हैं, जो अपने अनेक प्रकार फले हुए

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः ।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥ २८ ॥
विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम् ।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे ॥ २९ ॥
शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः ।
पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि ॥ ३० ॥ (१)
यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद् याश्च पश्चात् ।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः ॥ ३१ ॥

अर्थ- [उदीराणाः] चलते फिरते [उत आसीनाः] बैठे हुए [तिष्ठन्तः] खडे हुए [प्रक्रामन्तः दक्षिणसव्याभ्यां पद्भ्यां] दाहिने या बांये पांवसे चलते हुए [भूम्यां मा व्यथिष्महि] भूमिमें हम किसीको दुःख न दें ॥ २८ ॥

[विमृग्वरीं] शुद्ध ... योग्य [ब्रह्मणा] ज्ञानसे [वावृधानां] बढाई गई [ऊर्जं] बल बढानेवाली [पुष्टं] पुष्टि करनेवाली [घृतं अन्नभागं च] घी और खानेके पदार्थ अन्न आदि [बिभ्रतीं] धारण करनेवाली [पृथ्वीं] बडी भारी [क्षमां] प्राणिमात्रके निवास योग्य [भूमिं] मातृभूमिकी [आवदामि] प्रार्थना करते हैं। [भूमे] हमारी मातृभूमि । [त्वा] तुम्हारा [अभिनिषीदेम] हम आश्रय करें ॥ २९ ॥

हे [पृथिवि ! नः तन्वे] हमारे शरीरकी शुद्धिके लिये [शुद्धाः आपः] निर्मल जल [क्षरन्तु] बहा करें; [यः नः] जो हमको [अप्रिये] अहित है या प्रिय नहीं है [सेदुः] उसे भगाकर [पवित्रेण] पवित्र जो हमारा कर्तव्य कर्म है [मा उत्पुनामि] उससे मुझे पवित्र करता हूं ॥ ३० ॥

हे [भूमे !] मातृभूमि ! [याः ते प्राचीः] जो तुम्हारी पूर्व दिशा है [याः उदीचीः] जो उत्तरकी दिशा है [याः ते प्रदिशः] जो तुम्हारी उपदिशा अग्नि नैर्ऋत्य, वायव्य ईशान ये चार कोनेकी दिशायें हैं [याः ते अधरात्] जो तुम्हारे नीचे है [याः च पश्चात्] जो तुम्हारे पृष्ठभागमें या पीछे है [ताः] उन सब दिशाओंमें [चरते] जो चलते फिरते हैं, [मह्यं स्योनाः भवन्तु] मुझे सुख की देनेवाले हों [भुवने] जिस देशमें हम [शिश्रियाणः] रहें [मा निपप्तं] वहीं हमारा अधःपात न हो ॥ ३१ ॥

पृथ्वीपर नदी बहती है और बहुत आधार है, इससे अच्छी तरह सुरक्षित रखी गई इस पृथिवीकी हम ... स्तुति करते हैं।

भावार्थ— हम किसीके दुःखका कारण न बनें ॥ २८ ॥

जिसकी कृपा भी बातको समझ करनेसे अनेक लाभ हो सकते हैं जिसे अनन्त परमेश्वरने अपनी शक्तिसे धारण किया है वह बलवर्धक घृत और पुष्टिकारक अनेक भोजनके पदार्थ अन्न आदिको उत्पन्न करती है, जो सबको प्राणिमात्रके रहनेके योग्य है उस भूमिसे हम प्रार्थना करते हैं कि हे मातृभूमि ! तुम हमें सहारा दो ॥ २९ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! तुम सदा आरमें हमारी शुद्धिके लिये निर्मल जल बहाती हो। जो कोई हमारा अहित करनेकी इच्छा करे अथवा हमारा अनिष्ट करे उसके साथ हम भी वैसा ही बर्ताव करें और सत्कर्म उद्योग करके हम अपनी हर प्रकारसे उन्नति करें ॥ ३० ॥

हे हमारी मातृभूमि ! तुम्हारी जो या दिशाएं और उपदिशाएं हैं उनमें सब मनुष्य तुम्हारे हित करनेवाले होवें इसी प्रकार हमारे हितके लिये काम करते हुए हम भी उन सबका सम्मान करें, हम जहां कहीं रहें अपनी योग्यता बढाते रहें, सुखसे रहें और हमारा अधःपात कभी न हो ॥ ३१ ॥

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत ।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन् परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम् ॥ ३२ ॥
यावत् तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना । तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ३३ ॥
यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम् ।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत् पृष्ठीभिरधिशेमहे । मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि ३४
यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु । मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ॥ ३५ ॥

अर्थ- हे (भूमे! पश्चात् नः मा नुदिष्ठाः) मातृभूमि ! जो तुम्हारे पृष्ठभाग हैं वे हमारा नाश न करें [मा पुरस्तात् मा उत्तरात् उत अधरात् मा नुदिष्ठाः] जो तुम्हारे पूर्व है उत्तर है या नीचे है वह भी हमारा नाश न करें [स्वस्ति] हमारा कल्याण हो । [परिपन्थिनः] मार्ग रोकनेवाले लोग हमें [मा विदन्] न जानें [किन्तु] उन घातकोंके [वधं] वधके लिये [वरीयः] जो हम लोगोंमें सबसे श्रेष्ठ हो [यावय] वह जाय ॥ ३२ ॥

[भूमे मेदिना] हे हमारी मातृभूमि ! —अपने प्रकाशसे आनन्द देनेवाले [सूर्येण] सूर्यसे [यावत् ते अभि विपश्यामि] जहांतक सब ओर हम तुम्हारे स्वरूपको देखते हैं [तावत् उत्तरां उत्तरां समां मे चक्षुः मा मेष्ट] वहांतक वर्षों वर्षों मेरी उमर बढती जाय मेरी इंद्रियां नेत्र आदि अपना अपना काम करनेमें शिथिल न हों अर्थात् कहीं उनमें कमी न हो, अपनी पूरी उमरतक हम सब उत्तम कर्म करते रहें ॥ ३३ ॥

हे [भूमे] हमारी मातृभूमि ! [यत्] जब [शयानः] सोते हुए [दक्षिणं सव्यं पार्श्वं] दाहिने और बांये [अभिपर्यावर्ते] करवट लें [यत् त्वा] जब तुमपर [प्रतीचीं] पश्चिम की ओर पांव कर [उत्तानाः पृष्ठीभिः] पीठ नीचे कर [अधिशेमहे] शयन करें उस हालतमें [सर्वस्य प्रतिशीवरि] सब लोगोंको सहारा देनेवाली [भूमे नः मा हिंसीः] हे हमारी मातृभूमे हमारा नाश न कर ॥ ३४ ॥

हे [भूमे] हमारी मातृभूमि [ते] तुम्हारे में [यत् विखनामि] जो तुमसे खोदकर हम खावें [तत् क्षिप्रं रोहतु] वह जल्द उग और बढे [विमृग्वरि] विवेक करने योग्य हमारी मातृभूमि [ते] तुम्हारे [मर्म] नाजुक स्थानोंमें किसी तरह की क्षति या चाट न पहुंचे और [ते अर्पितं] तुम्हारे अर्पित [हृदयं] मन या चित्त [मा] दुःखित न हो ॥ ३५ ॥

भावार्थ— हे हमारी मातृभूमि ! हमें किसी प्रकारसे हानि न पहुंचे सब तरहसे हमारी उन्नति ही हो । हमारी चारों ओरसे हमारे नाश न करने पावें और हमारे शत्रु लोग जो हमारे शत्रुओंके नाश करनेका प्रयत्न करते रहें ॥ ३२ ॥

हे मातृभूमि ! जबतक हम प्रकाश और ज्ञानकी सहायतासे तेरी बाहरी भीतरी स्थिति सूक्ष्म दृष्टिसे देखते रहें तबतक हमारी बाहरी इन्द्रियां और भीतरी बुद्धि अपना अपना काम करनेमें समर्थ रहें ॥ ३३ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जिस समय हम तेरे ऊपर विश्राम करनेके लिये लेट गए अथवा जभी तेरे ऊपर सोवें उस समय तुम हमें आश्रय दो जिससे कि हम बेखटके सोवें और कोई हमारा नाश न कर सके ॥ ३४ ॥

हे हमारी मातृभूमि जहां तुम ऊंची नीची हो उसे सम समान कर जो हम बोवें वह जल्द उगे और बढे । तुम्हारे कैसा भी कठिन स्थान हमारे अधिकार और स्थिर शान्तिमें न बना रहे जो तुम्हारे जिस अंग पर हम खुदाई करें चोट या क्षति न पहुंचे और तुम्हारे लिये जो हम अपना तन मन अर्पित किये हैं कि तुम्हारी उन्नति करें तो दुःखित न हो हम सदा प्रसन्न चित्त रहें ॥ ३५ ॥

१ (ऋ. सु. भा. पं १९)

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥ ३६ ॥

याप सर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्वन्तः ।
परा दस्यून् ददती देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम् ।
शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे ॥ ३७ ॥

यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते ।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः ।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ॥ ३८ ॥

अर्थ — हे (पृथिवी भूमे,) प्रिय मातृभूमि! (ते ग्रीष्मः वर्षाणि शरद् हेमन्तः शिशिरः वसन्तः) तुम्हारे ये जो गरमी बरसात शरद् हेमन्त शिशिर वसन्त (ऋतवः ते हायनी) ये छः ऋतु वर्षभरमें (विहिताः) स्थापित की गई हैं और (अहोरात्रे) दिन तथा रात (नः दुहाताम्) हमको सुख देनेवाले पदार्थ दें ॥ ३६ ॥

(या विमृग्वरी) जो विशेष रूप शोधन योग्य है (विजमाना अपसर्पं) जो हिलती हुई चलती है, (ये अग्नयः) जो मेघोंमें (अप्सु अन्तः) जिसके भीतर अग्नि हैं वे (यस्यां आसन्) जिसमें हैं वह हमारी मातृभूमि (देवपीयून्) देवोंके हिंसक (दस्यून्) आततायी लोगोंको ... (शक्राय) समर्थ (वृष्णे) वीर्ययुक्त (वृषभाय) सिंचन करनेवालेको (दध्रे) धारण करती है और ... (परा ददती) दूर करती हुई [इन्द्रं] ... [वृत्रम्] नाश करनेवाले शूर वीरको [वृणाना] वरण करनेवाली अर्थात् अपनेमें निवास करानेवाली हमारी मातृभूमि है ॥ ३७ ॥

(यस्यां सदो) जिस भूमिमें घर हैं (हविर्धाने) जिसमें हविष्य अर्थात् हवनके पदार्थ सुरक्षित रहते हैं (यस्यां यूपः निमीयते) जिसमें यज्ञस्तम्भ रखे जाते हैं (यस्यां ऋत्विजः) जिसमें ऋत्विजोंके ... ब्राह्मण यज्ञ करने या करानेवाले (यः ब्रह्माणः ऋग्भिः साम्ना यजुर्विदः अर्चन्ति) जिसमें ऋग्वेद और सामवेदके जाननेवाले ब्राह्मण तथा ... परमात्माका पूजन करते हैं और (सोम पातवे) सोमपानके लिये (इन्द्राय युज्यन्ते) इन्द्रका पूजन करते हैं ॥ ३८ ॥

हे मातृभूमि! छः ऋतु होनेका उत्तम गुण तुम्हारा ही है, इस प्रकार किसी दूसरी भूमिमें छः ऋतु नहीं होती। ये सभी ये छः ऋतु अपने अपने समयमें अपने फल फूल आदिसे हमें सुख देती रहें तथा सब ऋतुके रात और दिन सब भाँति सुख देवें ॥ ३६ ॥

जो हमारी भूमि देवी है कि इसे जितना ही खोदते हो इसमें अमूल्य वस्तु निकलती रहे ... देवोंमें निवास ... जिसमें है वह हमारी मातृभूमि सज्जनोंको सुख देनेवाले दुष्टोंका नाश करके हितके लिये कार्य करे वह हमारी मातृभूमि ... धारण करती है ॥ ३७ ॥

यहां ... बार बार यज्ञ किया है इससे सिद्ध हुआ कि यह हमारी मातृभूमि यज्ञ की भूमि है ॥ ३८ ॥

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः । सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥३९॥
सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे । भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥४०॥
यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः ।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः ॥
सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥
यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः । भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ४२

अर्थ- (यस्यां पूर्वे भूत कृतः) जिस भूमिमें पहिले बड़ा काम करनेवाले (ऋषयः वेधसः) अतीन्द्रियार्थदर्शी और ज्ञानी (सप्त सत्रेण) सात प्रकारके सत्र और (यज्ञेन) यज्ञसे या सत्कार दान मान आदि उत्तम कार्योंसे (तपसा) धर्मके आचरणसे (गाः उदानृचुः) उत्तम वाणीके द्वारा स्तुति करते रहे ॥ ३९ ॥

[सा नो भूमिः] वह हमारी मातृभूमि [यद् धनं] जो धन हम [कामयामहे] इच्छा करते हैं कि हम मिले वह हमें [आ दिशतु] दे [भगः] ऐश्वर्यवान् अपने ऐश्वर्य से [illegible] और पुरुषोंके [अनुप्रयुङ्क्ताम्] सहायक हों, [इन्द्रः] राजाके साथ [illegible] । [पुरोगवः] अगुआ होकर [एतु] लश्कर चढाई करे ॥ ४० ॥

[यस्याम् भूम्यां मर्त्याः] जिस भूमिमें मनुष्य [गायन्ति] गाते हैं [नृत्यन्ति] नाचते हैं [व्यैलबाः] विशेष [illegible] और लोग अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिये [युध्यन्ते] युद्ध करते हैं [यस्यां आक्रन्दः] जिसमें योद्धोंके रिपु हरानेका शब्द होता है [दुन्दुभिः वदति] नगारा बजता है [सा नो भूमिः] वह हमारी मातृभूमि [सपत्नान्] शत्रुओंको [प्रणुदताम्] दूर भगा देवे [पृथिवी] भूमि [मा] हमें [असपत्नं] शत्रुरहित [कृणोतु] करे ॥ ४१ ॥

[यस्यां व्रीहियवौ] जिसमें चावल जौ गेहूं आदि अन्न बहुत उपजते हैं [अन्नं] खानेके पदार्थ जहां [illegible] हैं, [यस्यां इमाः पञ्च कृष्टयः] जहां पांच प्रकारके लोग [illegible] रहते हैं उस [वर्षमेदसे] वर्षात होनेसे जहां अन्न आदि बहुत उपजते हैं [पर्जन्यपत्न्यै] पर्जन्य अर्थात् वर्षासे जिस भूमिका पालन होता है उस [भूम्यै नमः अस्तु] मातृभूमिको नमस्कार है ॥ ४२ ॥

भावार्थ— हमारी मातृभूमि वह है कि जिसमें [illegible] बड़े बड़े काम करनेवाले धर्मात्मा और ज्ञानी [illegible] हुए हैं उस मातृभूमिको हम नमस्कार करते हैं ॥ ३९ ॥

जिससे [illegible] हम इच्छा करें उतना मातृभूमि हमें दे । ऐश्वर्य और [illegible] ॥ [illegible] ॥

जिस भूमिमें [illegible] बजाते [illegible] — [illegible] वह हमारी मातृभूमि हमारे [illegible] हमें शत्रुरहित करे ॥ ४१ ॥

जहां चावल, गेहूं, जौ आदि [illegible] बहुत होते हैं जहां [illegible] जिस भूमिमें [illegible] ऐसी भूमिको [illegible], उस मातृभूमिको नमस्कार है ॥ ४२ ॥

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते ।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥ ४३ ॥
निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥ ४४ ॥
जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥ ४५ ॥
यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा हेमन्तजब्धो भृमलो गुहा शये ।
क्रिमिर्जिन्वत् पृथिवि यद्यदेजति प्रावृषि तन्नः सर्पन्मोप सृपद्यच्छिवं तेन नो मृड ॥ ४६ ॥

अर्थ— [यस्याः देवकृताः पुरः] जिस मातृभूमिके नगर देवोंके बनाये या बसाये हैं [यस्याः क्षेत्रे विकुर्वते] जिसके प्रत्येक भागमें मनुष्य अपने अपने काम अच्छी तरहसे कर सकते हैं [प्रजापतिः] प्रजाका पालक इस भूमिको जो [विश्वगर्भां] सब पदार्थोंको पैदा करनेवाली है, [पृथिवीं] उस हमारी मातृभूमिको [आशां आशां] प्रत्येक दिशाओंमें [रण्यां] रमणीय करे ॥ ४३ ॥

[बहुधा गुहा] बहुत तरह की खानोंमें [वसु] धन [मणिं] रत्न हीरा पन्ना आदि [हिरण्यं] सोना चांदी आदि [निधिं] खजाना [बिभ्रती] धारण करने वाली हमारी पृथिवी [मे] हमको वह सब [ददातु] दे [वसुदा] धनकी देनेवाली [रासमाना] दान करनेवाली [देवी] देवरूप हमारा सब काम साधनेवाली [सुमनस्यमाना] जो हमसे प्रसन्नचित्त होकर [नः] हमको [वसूनि ददातु] धन देवे ॥ ४४ ॥

(बहुधा नानाधर्माणं) बहुत तरहके धर्मोंके माननेवाले (विवाचसम्) अनेक भाषा बोलनेवाले (जनं) जनसमुदायको (यथा ओकसं) जैसा एक घरमें कोई रहे इस तरह (बिभ्रती) धारण करनेवाली (अनपस्फुरन्ती) जिसका नाश न हो ऐसी (ध्रुवा पृथ्वी) स्थिर भूमि (द्रविणस्य धाराः) हजारों धार पर (मे) मुझको (धेनुः इव दुहां) धेनु जैसा दूध देती है ऐसी तरह हमें धन दे ॥ ४५ ॥

हे (पृथिवि ते) हमारी मातृभूमि तुम्हारे (यः सर्पः वृश्चिकः) जो सांप या बीछू (तृष्टदंश्मा) ऐसे जीव आदि जिनके काटनेसे प्यास अधिक लगती हो (हेमन्तजब्धः) [illegible] अर्थात् [illegible] पैदा करनेवाले (भृमलः) या जिनके काटनेसे सुस्ती पैदा हो (क्रिमिः) ऐसे कीडे (गुहा शये) जो बिलोंमें पडे सोया करते हैं (प्रावृषि) बरसातके मौसममें (यद् यद् एजत्) जो कांपते हुए चलते हैं या रेंगते हैं (तत् सर्पत्) जो रेंगा करते हैं वे सब (नः मा उपसृपत्) हमारे पास न आवें (यत् शिवम्) जो हमारे लिये कल्याणकारी हो (तेन नः मृड) उससे हमें सुखी कर ॥ ४६ ॥

भावार्थ— जिस मातृभूमिमें देवोंद्वारा बसाये अनेक नगर हैं, जिसके प्रत्येक भागमें मनुष्य अनेक प्रकारके [illegible] सदैव लगे रहते हैं अर्थात् जो [illegible] जहां सब तरहके पदार्थ पैदा होते हैं उस भूमिको प्रजापालक [illegible] अर्थात् वहां विद्याका अधिक प्रचार कर और वह भूमि प्राकृतिक पदार्थों तथा सौन्दर्यसे सुशोभित हो ॥ ४३ ॥

जिसमें रत्न और सुवर्ण आदिकी बहुतसी खानें हैं और जो हमें उत्तम धन रत्न आदि देती है वह मातृभूमि सदा हमें धनकी देनेवाली हो ॥ ४४ ॥

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे ।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ॥४७॥
मल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः ।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय ॥ ४८ ॥
ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति ।
उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत् ॥ ४९ ॥

अर्थ — हे भूमि! (ये ते बहवः पन्थानः जनायनाः) मनुष्योंके चलने फिरने योग्य जो तुम्हारे बहुतसे मार्ग हैं, (रथस्य वर्त्म) रथके चलने योग्य [अनसः यातवे] छकड़ोंके जानेवाले लायक अथवा [illegible] जानेवाले जो मार्ग हैं, [यैः संचरन्ति भद्रपापाः] जिनसे पापकारी भले लोग या जिन परसे बुरे और भले लोगभी चलते हैं [तं] उसे [अमित्रम्] शत्रुरहित [अतस्करं] ठग और चोरोंके भयसे रहित कर। [जयेम] हम जय प्राप्त करें (यच्छिवं) जो कल्याणकारी है (तेन मृड) उससे हमें सुखी करो ॥ ४७ ॥

(गुरुभृत्) भारी पदार्थको अपनी ओर खींचनेवाली ओर (मल्वं) धारण करनेकी शक्ति (बिभ्रती) धारण करनेवाली (भद्रपापस्य) धर्मात्मा और पापात्मा मनुष्योंको (निधनं) मरण (तितिक्षुः) सहती हुई यह (पृथिवी) भूमि (वराहेण) उत्तम अन्न इत्यादिके साथ (संविदाना) अपनी तरह पाकर अर्थात् अच्छा [illegible] होकर (सूकराय) [illegible] (मृगाय) अपनी किरणोंसे जलबिन्दुओंको पीनेवाले सूर्यके चारों ओर (विजिहीते) विचरती है ॥ ४८ ॥

(पृथिवि ये ते वने हिताः) हे हमारी मातृभूमि! जो तुम्हारे वनमें रखे गये हैं (सिंहाः व्याघ्राः पुरुषादः) सिंह बाघ और दूसरे आदमियोंकी हिंसा करनेवाले मांसाहारी जीव (आरण्याः पशवः मृगाः) वनमें रहनेवाले [illegible] (चरन्ति) जो फिरते हैं उनको और (उलं वृकं दुच्छुनां) [illegible] पागल कुत्ता [ऋक्षीकां] भालू आदि [illegible] [इतः अस्मत् अपबाधय] यहां हमसे दूर रखो ॥ ४९ ॥

भावार्थ — अनेक प्रकारकी [illegible] हमारी [illegible] मातृभूमि [illegible] ॥ ४५ ॥

हे मातृभूमि! तेरे निर्जन और [illegible] कभी हमें [illegible] और [illegible] हमारे [illegible] हमें सुख देवें ॥ ४६ ॥

हे हमारी मातृभूमि! जो तुम्हारा रस्ता [illegible] चलने फिरने हैं — रथ और छकड़ोंके चलने योग्य है जिनपर भले और बुरे दोनों तरहके जन चलते हैं [illegible] वह मार्ग [illegible] और चोर [illegible] अर्थात् निर्भय और [illegible] कर हम [illegible] चलें। जो हमारे लिये [illegible] हो उससे हमें सुखी करो ॥ ४७ ॥

गुरु पदार्थको अपनी ओर खींचने तथा धारण करनेकी शक्ति जिसमें है भले और बुरे दोनोंको जो धारण करते है, दोनोंके मरणको जो सह लेती है। अच्छा [illegible] सूर्य [illegible] किरणोंसे [illegible] ऐसी हमारी मातृभूमि [illegible] सूर्यके चारों ओर [illegible] है ॥ ॥

हे हमारी मातृभूमि! जो तुम्हारे [illegible] जीव [illegible] पागल कुत्ते भालू [illegible] हैं उन सबको हमसे दूर रखो ॥ ४९ ॥

यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः ॥ ५८ ॥
शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती। भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह ॥ ५९ ॥
यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम्।
भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः ॥ ६० ॥
त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना।
यत् त ऊनं तत् त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥ ६१ ॥

अर्थ-[यद्] हम अपने शत्रु का देखके मनुष्योंसे जो [वदामि] कहते हैं [तद् मधुमत् वदामि] वह मिठास के मधुर शब्दोंमें कहते हैं [यत् ईक्षे] जो देखते हैं [तद्] वह सब [मा] हमको सहायक हो [त्विषीमान्] मैं प्रकाशमान तेजस्वी दीप्तिमान् और [जूतिमान्] वेगवान हों इससे [अन्यान्] दूसरे जो हमारी भूमिको दुःख देते हैं [दोधतः] उनका नाश करते हैं ॥ ५८ ॥

[शन्तिवा] शान्तिकारक [सुरभिः] सुगन्धियुक्त [स्योना] सुख देनेवाली [कीलालोध्नी] अन्न की देनेवाली [पयस्वती] जहां बहुत जल हो ऐसी [मे पृथिवी भूमिः पयसा सह] हमारी भूमि जल पदार्थ जो हमें काममें आते उनके हमें [अधि ब्रवीतु] कहे ॥ ५९ ॥

[यद्] जब [विश्वकर्मा] सब काम करनेवाले [रजसि अर्णवे] अन्तरिक्षमें [अन्तः प्रविष्टां याम्] और प्रविष्ट जिस भूमिको [हविषा] यज्ञादि पदार्थोंसे [अन्वैच्छत्] सेवा करते हैं इच्छा करता है तब [गुहा निहितं] गुप्तस्थानमें रखा हुआ [भुजिष्यं पात्रम्] भोजनके योग्य अन्न आदि [मातृमद्भ्यः] मातृभक्तोंके [भोगे] भोगके लिये [आविः अभवत्] प्रकट होता है ॥ ६० ॥

हे मातृभूमि [त्वं जनानां अदितिः] तुम लोगोंको दुःख न देनेवाली [कामदुघा] इच्छित पदार्थों देनेवाली [पप्रथाना] सुख देनेवाली [आवपनी] जिसमें अच्छी तरह बोनेसे बहुत अन्न उपजता है [असि] ऐसी तुम हो [यत् ते ऊनम्] जो तुम्हारेमें कमी है [तत् ते] सो तुम्हारेमें जो कम किये जाते हैं [प्रथमजाः] सृष्टि के आदिमें प्रकट हुआ [प्रजापतिः] परमेश्वर [आपूरयाति] पूर्ण कर देता है ॥ ६१ ॥

भावार्थ— हम जो कुछ भी भाषण करेंगे वह सब हमारी मातृभूमिके लिये हितकारी होगा जो कुछ हम आंखों देखेंगे वह सब भी मातृभूमि ही के लिये सहायक होगा यही प्रकार हमारे सब कार्य मातृभूमि ही के अर्पण होंगे। हम तेजस्वी और बुद्धिमान हों जो हमारे शत्रु हमारी मातृभूमिका नाश करेंगे उनका हम नाश करेंगे ॥ ५८ ॥

शान्ति सुख अन्न पानी आदि की देनेवाली हमारी मातृभूमि हमें सब भोगके पदार्थ और ऐश्वर्य देनेवाली हो इस तरह और हमारी रक्षा करती रहे ॥ ५९ ॥

जहां इस तरह के परोपकारक कर्मकर्ता कुशल पुरुष मातृ भूमि की सेवा करने के लिये उद्यत होते हैं वहां मातृभूमिके गुप्तस्थानमें रखा हुआ तथा पाला हुआ धान्य (जो केवल भक्तों ही के लिये है) बाहर उनके भोगके प्रकट होता है। अर्थात् उनके उपभोगके सारे पदार्थ वहां सहज ही मिल सकते हैं ॥ ६० ॥

हे हमारी मातृभूमि तू हम सबको सुख देनेवाली है इच्छित पदार्थोंको देनेवाली है इसलिये जो तेरे में कमी है उसे परमेश्वर पूरा करे ॥ ६१ ॥

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥ ६२ ॥
भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥ ६३ ॥ (६)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

हे [पृथिवि ते प्रसूताः] भूमि ! तुझसे उत्पन्न सब लोग [अनमीवाः] रोगरहित [अयक्ष्माः] क्षयरोगरहित [अस्मभ्यं उपस्थाः] हमारे पास रहनेवाले [सन्तु] हों [नः आयुः दीर्घं भवतु] हमारी उमर बड़ी हो हम बहुत दिन जीवें [वयं प्रतिबुध्यमानाः] हम ज्ञान विज्ञानयुक्त हों [तुभ्यं बलिहृतः स्याम] तुम्हें बलि समर्पण करनेवाले हों ॥ ६२ ॥

हे [मातर् भूमे] मातृभूमि ! [भद्रया] कल्याणको करानेवाली बुद्धिसे हमें [सुप्रतिष्ठितम्] सुस्थिर या मुख्य कर [मा] मुझको [निधेहि] रखो [दिवा] प्रतिदिन (संविदाना) सब बातको जाननेवाली बनो [कवे मां] हे ज्ञानवती ! हमें [भूत्यां श्रियं धेहि] पृथिवीमें संपत्ति प्राप्त हो ॥ ६३ ॥

भावार्थ हे हमारी मातृभूमि ! हम लोग तुम्हारेसे उत्पन्न हुवे हैं व निरोग स्वस्थ दीर्घायु बुद्धिमान व पूर्ण बल रहें और मातृभूमिके हितके लिये अपना निजके स्वार्थ का बलि देनेमें उद्यत रहें सब भांति तुम्हारा हित करनेमें तत्पर रहें ॥ ६२ ॥

हे मातृभूमे ! मुझे बुद्धिमान कर और तेरे विषयमें प्रतिदिन चिन्ता करनेवाले सूक्ष्म विचारी और दूरदर्शी मनुष्य को सब सुख भरपूर शोभमय सम्पत्ति प्राप्त कर देनेवाली हो ॥ ६३ ॥

प्रथम सूक्त समाप्त ॥१॥



ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः ।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय ॥ ५० ॥ (५)
यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि ।
यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान् ।
वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः ॥ ५१ ॥
यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि ।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि ॥ ५२ ॥
द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः । अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः ॥ ५३ ॥

अर्थ- हे [भूमे ! गन्धर्वाः] मातृभूमि जो [ ]सक बातवाली हमारे वध करनेको उद्यत हैं [अप्सरसः] कर्मनाशक चालचली हैं [ये चारायाः] जो निर्धन हैं [किमीदिनः] पर धनके हरनेवाले हैं [पिशाचान्] मांस खानेवाले हैं, [सर्वा] राक्षसी स्वभाववाले हैं [तान् अस्मद् यावय] सबको हमसे दूर हटा दो ॥ ५० ॥

हमारी वह मातृभूमि है [यां द्विपादः हंसाः सुपर्णाः शकुनाः वयांसि पक्षिणः संपतन्ति] जहां दो पांवोंवाले हंस गरुड आदि पक्षी उडते हैं [यस्यां मातरिश्वा वातः] आकाशमें बहनेवाली या संचार करनेवाली हवा [रजांसि कृण्वन्] धूल उडाती हुई [वृक्षान् च्यावयन्] वृक्षोंको जडसे उखाडती हुई [ईयते] बहती है । [वातस्य प्रवाम् उपवाम्] इस वायुकी गतिको [अर्चिः] तेज या प्रकाश [अनुवाति] अनुसरण करता हुआ चलता है ॥ ५१ ॥

[यस्यां भूम्यां कृष्णं अरुणं च] जिस भूमिमें तमोमय अन्धकार और प्रकाशमय दिन [संहिते] इकट्ठे हैं (अहोरात्रे) दिन और रात [अधि विहिते] होते हैं [सा पृथिवी भूमिः] [वह विस्तृत भूमि] [वर्षेण वृता वृता] वृष्टिसे ढकी हुई [भद्रया] कल्याणके साथ [प्रिये धामनि धामनि] हितकारी स्थानोंमें [नः] हमको [दधातु] धरे ॥ ५२ ॥

(द्यौः) प्रकाशमय आकाश [पृथिवी] भूमि [अन्तरिक्षम्] आकाश और पृथ्वीका बीच [आपः सूर्यः] अग्नि और सूर्य [विश्वे देवाः च] सब प्रकाश करनेवाले देव तथा विद्वान् लोग विशेषतः या ब्रह्माण्डमें [इदं] यह सब [मे] मुझको [मेधां] धारणावती बुद्धि [व्यचः] हमारी सब ओर व्याप्ति या व्यापकशक्ति [ददुः] अच्छी तरह दें ॥ ५३ ॥

भावार्थ- हे हमारी मातृभूमे ! जो हिंसक भावसे विषय वासना हरनेवाले मांसाहारी अत्याचारी धार्मिक और राक्षस हैं उनको दूर करो ॥ ५० ॥

जिस भूमिमें सदा आकाशमें हंस आदि पक्षी आनन्दसे उडते हैं जहां धूलिको उडाते पेडोंको उखाडते वायु जोर शोरसे बहती है और जंगलकी अग्नि जहां जोरसे भभकती है वह हमारी प्रिय मातृभूमि है ॥ ५१ ॥

जिस भूमिमें ठीक समयमें रात और दिन होते हैं और वर्षासे सदा पृथ्वी स्वस्थ रहती है वह हमारी विस्तृत मातृभूमि हमें हितकर स्थानोंमें सुखसे रखे ॥ ५२ ॥

सब घर या जंगल, चेतन या अचेतन सब पदार्थोंको प्रत्यक्षमें हमारी बुद्धि बढे और कीर्तिसे चारों ओर व्यापक होवे

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्। अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥५४॥
अदो यद् देवि प्रथमाना पुरस्ताद् देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम्।
आ त्वा सुभूतमविशत् तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥ ५५ ॥
ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्। ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥५६॥
अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान् य आक्षियन् पृथिवीं यादजायत।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ॥ ५७ ॥

अर्थ- [अहं सहमानः] मैं शत्रुओंको सहनेवाला, [नाम] यश और प्रसिद्धिसे [उत्तरः] श्रेष्ठतर [भूम्यां अधि] भूमिमें [अस्मि] हूं। [अभीषाट्] ... [विश्वाषाट्] ... [आशामाशां] सब ओर पराक्रम करनेवाला [विषासहिः] सब शत्रुओंका नाश करनेवाला [अस्मि] हूं ॥ ५४ ॥

हे [देवि] दिव्य मातृभूमे तुम [यत्] जब [पुरस्तात्] पहिले [देवैः] देवों और विद्वान् विजिगीषु या व्यवहारकुशल लोगोंद्वारा [प्रथमाना] प्रख्यात होकर [उक्ता] प्रशंसित हो गई तब [व्यसर्पः] विशेष उत्कर्षको पहुंची [तदानीम्] तब इसका [चतस्रः प्रदिशः] चारों दिशाओंमें [सुभूतम् माहात्म्यम्] बडी महत्ता [अकल्पयथाः] प्राप्त हो गई, हे भूमि वह तुम्हारी महत्ता [त्वा] तुममें [आविशत्] अब भी पहिले की भी हो ॥ ५५ ॥

[ये ग्रामाः] जो गांव या नगर [यत् अरण्यं] जो वन [याः सभाः] जो राजसभा न्यायसभा धर्मसभा आदि [ये संग्रामाः] जो युद्ध [याः च समितयः] जो बडी बडी परिषदें [अधि भूम्याम्] हमारी भूमिमें [सन्ति] हैं [तेषु] उन सबमें [ते] तुम्हारा वा हमें [चारु वदेम] अच्छा कहना ॥ ५६ ॥

[यत्] जब [पृथिवीम्] भूमिमें कोई युद्ध आदिसे [आक्षियन्] आकर बसे या बसाया जाय तब [तान् जनान्] उन रहनेवाले मनुष्योंको [यः रजः] जो सेनाके जानेसे उठा धूलि [अश्वः इव वि दुधुवे] घोडोंके झटकेके समान उड़ी वह [मन्द्रा] प्रसन्न करनेवाली [अग्रेत्वरी] समयानुसार आगे चलनेवाली [भुवनस्य गोपा] संसार की रक्षा करनेवाली [वनस्पतीनां ओषधीनां गृभिः] वनस्पति और औषधियोंका ग्रहण करनेवाली है ॥ ५७ ॥

भावार्थ- मैं अपनी मातृभूमिके लिये तथा उसके दुःख विना न करनेके लिये हर तरहके कष्ट सहन करनेको तैयार हूं। और प्रयत्नसे सब शत्रुओंको परास्त करूंगा। एक भी शत्रु रहने नहीं दूंगा ॥ ५४ ॥

हे मातृभूमि पहलेके समय जब तुम्हारी स्तुति करते थे उस समय तुम्हारा महत्त्व और कीर्ति चारों दिशाओंमें फैल जाती थी, वही तुम्हारा महत्त्व अब भी फैलाओ ऐसे ॥ ५५ ॥

हे हमारी मातृभूमि! तुम्हारा जहां जहां नगर वन सभा परिषद् संग्राम जहां मनुष्य एकत्र हों वहां वहां हम तुम्हारी प्रशंसा करें। अर्थात् कभी तुम्हारे अहितकी बात न करें ॥ ५६ ॥

युद्धमें विजयी हो जानेपर सेना के घोडोंके चलनेसे धूल उडकर मनुष्योंके चित्तोंको प्रसन्न करती है। अथवा जब किसी विशेष कार्यके लिए मनुष्य आगे बढकर एकत्रित होते हैं तब उन सबको भी एक उत्साहसे एक दिशा उठ खड़ा होती है वह शक्ति सब को आनन्द देनेवाली सब देश का व शान्ति करनेवाली और वनस्पति आदि सब पदार्थ देनेवाली होती है। इसलिये ऐसे मातृभूमिके अंदर सब बढ़ेंगे सबमें रहें ॥ ५७ ॥

यद् वदा॑मि॒ मधु॑मत् तद् व॑दामि॒ यदी॒क्षे तद् व॑नन्ति मा ।
त्विषी॑मानस्मि जू॒तिमा॒नवा॒न्यान् ह॑न्मि॒ दोध॑तः ॥ ५८ ॥
श॒न्ति॒वा सु॑र॒भिः स्यो॒ना की॒लालो॑ध्नी॒ पय॑स्वती । भूमि॒रधि॑ ब्रवीतु मे पृथि॒वी पय॑सा स॒ह ॥ ५९ ॥
याम॒न्वैच्छ॑द्ध॒विषा॑ वि॒श्वक॑र्मा॒न्तर॑र्ण॒वे रज॑सि॒ प्रवि॑ष्टाम् ।
भु॒जि॒ष्यं॑ पात्रं॒ निहि॑तं॒ गुहा॒ यदा॒विर्भो॒गे अ॑भवन्मातृ॒मद्भ्यः॑ ॥ ६० ॥
त्वम॑स्याव॒पनी॒ जना॑ना॒मदि॑तिः काम॒दुघा॑ पप्रथा॒ना ।
यत् त॑ ऊ॒नं तत् त॒ आ पू॑रयाति प्र॒जाप॑तिः प्रथम॒जा ऋ॒तस्य॑ ॥ ६१ ॥

अर्थ-[यद्] हम अपने राष्ट्र वा इसके सम्बन्धमें जो [वदामि] कहते हैं [तद् मधुमत् वदामि] वह हितकर और मधुर शब्दोंमें कहते हैं [यत् ईक्षे] जो देखते हैं [तद्] वह सब [मा] हमको सहायक हो [त्विषीमान्] हम प्रकाशमान तेजस्वी दीप्तिमान् हों [जूतिमान्] ज्ञानवान् हों इससे [अन्यान्] दूसरे जो हमारी भूमिको दुःख देते हैं [अवहन्मि] उनका नाश करते हैं ॥ ५८ ॥

[शन्तिवा] शान्तिकारक [सुरभिः] सुगन्धियुक्त [स्योना] सुख देनेवाली [कीलालोध्नी] अन्न की देनेवाली [पयस्वती] जहां बहुत जल हो ऐसी [मे भूमिः पृथिवी पयसा सह] हमारी भूमि अन्न पदार्थ जो पीनेके काममें आवे उनके सहित [अधि ब्रवीतु] हो ॥ ५९ ॥

[यत्] जब [विश्वकर्मा] सब काम करनेवाले [रजसि अर्णवे] अन्तरिक्षमें [अन्तः प्रविष्टाम्] भीतर प्रविष्ट जिस भूमिको [हविषा] अन्नादि पदार्थोंसे [अन्वैच्छत्] सेवा करनेकी इच्छा करता है तब [गुहा निहितं] गुप्तस्थानमें रक्खा हुआ [भुजिष्यं पात्रम्] भोगनेके योग्य अन्न आदि [मातृमद्भ्यः] मातृभक्तोंके [भोगे] उपभोगके लिये [आविः अभवत्] प्रकट होता है ॥ ६० ॥

हे मातृभूमि [त्वं जनानां अदितिः] तुम लोगोंको दुःख न देनेवाली [कामदुघा] इच्छित पदार्थोंको देनेवाली [पप्रथाना] सुविस्तृत और [आवपनी] जिसमें अच्छी तरह बोनेसे बहुत अन्न उपजता है [असि] ऐसी तुम हो [यत् ते ऊनम्] जो तुम्हारेमें कमी है [तत् ते] सो तुम्हारेमें जो बीज दिये जाते हैं [प्रथमजाः] पहले आदिमें प्रकट हुआ [प्रजापतिः] परमेश्वर [आपूरयाति] पूरा कर देता है ॥ ६१ ॥

भावार्थ— हम जो कुछ भी भाषण करेंगे वह सब हमारी मातृभूमिके लिये हितकारी होगा और कुछ हम आंखोंसे देखेंगे वह सब भी मातृभूमि ही के लिये सहायक होगा इसी प्रकार हमारे सब काम मातृभूमि ही के अर्पण होंगे। हम तेजस्वी और बुद्धिमान हों। जो हमारे शत्रु हमारी मातृभूमिका द्रोह करेंगे उनका हम नाश करेंगे ॥ ५८ ॥

शान्ति सुख अन्न पानी आदि को देनेवाली हमारी मातृभूमि हमें सब भोगके पदार्थ और ऐश्वर्य देनेवाली हो इस तरह और हमारी रक्षा करती रहे ॥ ५९ ॥

जहां सब तरह के उद्योग व मेहनत करनेवाले पुरुष मातृ भूमि की सेवा करने के लिये कटिबद्ध होते हैं वहां मातृभूमिके गुप्तस्थानमें रक्खा हुआ तथा प्राप्त हुआ भाग (जो केवल भक्तों ही के लिये है) आकर उनके सामने प्रकट होता है। अर्थात् उनके उपभोगके सारे पदार्थ उन्हें सहज ही मिल जाते हैं ॥ ६० ॥

हे हमारी मातृभूमि तू हम सबको सुख देनेवाली है, इच्छित पदार्थोंको देनेवाली है इसलिये जो तेरे में कमी है उसे परमेश्वर पूरा करे ॥ ६१ ॥

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥ ६२ ॥
भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥ ६३ ॥ (६)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

हे [पृथिवि ते प्रसूताः] भूमि ! तुम्हारेमें उत्पन्न सब लोग [अनमीवाः] रोगरहित [अयक्ष्माः] क्षयरोगरहित [अस्मभ्यं उपस्थाः] हमारे पास रहनेवाले [सन्तु] हों [नः आयुः दीर्घं भवतु] हमारी उमर बडी हो हम बहुत दिन जीवें [वयं प्रतिबुध्यमानाः] हम ज्ञान विज्ञानयुक्त हों [तुभ्यं बलिहृतः स्याम] तुम्हें बलि, करभार देनेवाले हों ॥ ६२ ॥

हे [मातर् भूमे] मातृभूमि ! [भद्रया] कल्याणको बढानेवाली बुद्धिसे हमें [सुप्रतिष्ठितम्] सुस्थिर या युक्त कर [मा] मुझको [निधेहि] रक्खो [दिवा] प्रतिदिन (संविदाना) सब बातकी जाननेवाली बनो [कवे मां] हे ज्ञानवती ! हमें [भूत्यां श्रियं धेहि] पृथिवीमें सम्पत्ति प्राप्त हो ॥ ६३ ॥

भावार्थ- हे हमारी मातृभूमि ! हम लोग तुम्हारेमें उत्पन्न हुये हैं व नीरोग रहकर दीर्घायु बुद्धिमान जागृत रहें और मातृभूमिके हितके लिए अपने निजके स्वार्थ का बलि देनेमें तत्पर रहें इस भांति तुम्हारा हित करनेमें तत्पर रहें ॥ ६२ ॥

हे मातृभूमे ! मुझे बुद्धिमान कर और तेरे विषयमें प्रतिदिन विचार करनेवाले सूक्ष्म विचारी और दूरदर्शी मनुष्य को तथा मुझे भरपूर शोभायुक्त सम्पत्ति प्राप्त कर देनेवाली हो ॥ ६३ ॥

प्रथम सूक्त समाप्त ॥१॥



मातृभूमिका वैदिक गीत।

जिस देश में जो लोग रहते हैं वह उनकी मातृभूमि कहलाती है। जैसे भारतीयोंकी भारतभूमि, चीनी लोगोंकी चीनभूमि, अंग्रेजोंकी इंग्लैंडभूमि और इसी तरह दूसरे दूसरे लोगोंकी अलग अलग मातृभूमि है। जिस तरह माता के रक्तमांस और दूधसे बच्चेका देह बनता है, उसी तरह मातृभूमि में उत्पन्न होनेवाले अनाज, पानी, वहांकी हवा और वनस्पतियों से उस देश के मनुष्योंके देह बनते हैं। इसलिये उस देश को अपनी मातृभूमि समझना उस देश के निवासियों का स्वभाव होता है।

परमेश्वर का नियम ही है कि माता के दूधपर बच्चे का ही अधिकार रहना चाहिये क्योंकि माताके स्तनों में जो दूध परमेश्वर अपने अटल नियमों से उत्पन्न करता है, वह दूध माता से उत्पन्न होनेवाले बच्चे के लिये ही रहता है। बच्चे का पालन उसकी माता के दूध से ही होना चाहिये। माता का दूध पीना बच्चेका जन्मसिद्ध अधिकार है और वह उसका धर्म भी है। यदि कोई जबरदस्त बालक अपनी माताका दूध पीकर दूसरे बालक की माता का भी दूध जबरदस्तीसे पियेगा और दूसरे बच्चेको भूखा रखेगा तो उसका यह काम परमेश्वरके नियमोंके विरुद्ध होगा। और वह जबरदस्त बच्चा ईश्वर के नियमोंके अनुसार अपराधी समझा जायेगा। इसी तरह एक देशके मातृभूमि के बालक दूसरे देशके मातृभूमिके बालकोंको परतन्त्र बनावें और उस देशमें उत्पन्न होनेवाले उपभोगके पदार्थ उस देशके निवासियोंको न देकर अपने ही सुखके लिये उपभोग करें तो वह उनका बहुत बड़ा अपराध होगा। किसीको भी भूलना न चाहिये कि जो स्थिति माता और बच्चोंकी है वही मातृभूमि और उसके बच्चोंकी है।

प्रत्येक मनुष्य जानता है कि जिस घरमें वह रहता है उस घरपर उसका कितना प्रेम रहता है। रात्रिके समय कोई चोर आता है और उस घरमेंसे कोई वस्तु अपने भोगके लिये ले जाता है। न्यायी सरकार ऐसे चोरको पकड़कर सजा देती है क्योंकि न्यायका मुख्य हेतु यह है कि किसीके भी घरकी उसके पूर्वजोंसे चली आई वस्तुपर उसीका अधिकार होना चाहिए। चोरका उसपर अधिकार नहीं है इसलिये वह सजा पानेके योग्य होता है। जिस तरह एक अकेला घर किसी एक कुटुम्बका रहता है, उसी तरह देश भी एक बड़ा भारी घर है और वह घर उस देशवासियोंका है। यदि उस राष्ट्रके घरपर दूसरे देशोंके बलवान लोग मिलकर हमला करें और वहांकी वस्तुओंपर अपना अधिकार जमावें तो उनका यह अपराध एक घरपर हमला करनेवाले डाकूके अपराधके समान किन्तु उससे कुछ कम स्वरूपका नहीं है। यह सिद्ध करनेकी ज्यादा जरूरत नहीं है। पर, ऐसे बड़े बड़े उत्पातकारी लोग नहीं करते हैं। लेकिन संसारभरमें विजयाभिलाषियोंके इच्छामें न होनेसे, न्याय होने पर भी इस तरहके राष्ट्रीय हमलेको अपराध नहीं समझते और उन अपराधियोंको इसी कारण सजा नहीं होती। परंतु ईश्वरके नियमोंमें इस तरहका पक्षपात नहीं हो सकता।

हमें यह देखना नहीं है कि अपराधीको दण्ड मिलना आवश्यक है या नहीं है। हमें सिर्फ यही दिखलाना है कि माताके दूधपर उसके बच्चेका, घरपर उस घरके मालिकका, राष्ट्रपर उस राष्ट्रके लोगोंका और मातृभूमिकी उपजाऊ वस्तुओंपर उस मातृभूमिके बच्चेका अधिकार है।

बच्चा अपनी माताका दूध पीता है इसलिये उसका अपनी मातापर बहुत प्रेम रहता है। मनुष्य अपनी मातृभूमिमें पैदा होनेवाले अनाज, फल, कन्द, मूल इत्यादि खाते हैं और पुष्ट बनते हैं। इसलिये उनका अपनी मातृभूमि पर प्रेम रहता है। इसलिये कवि जिस तरह मातृभूमिके गाने गाते हैं, उसी तरह लोग माता के गाने गाते हैं और उनकी स्तुति करते हैं।

पाठकोंको यह बात पुनः पुनः बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि माता और मातृभूमि के विषयमें लिखे हुए काव्य वैदिक प्रेम उपजाते हैं। काव्यके भिन्न भिन्न रसोंमें भी भेद है। मातृदेवताके काव्यमें जैसा प्रेमरस भरता है वैसा अन्य किसी काव्यमें हो नहीं सकता। माता क्या है? साक्षात् प्रेम की मूर्ति है। उसके प्रेमको अन्य किसी बात की उपमा ही नहीं है। उसका प्रेम वास्तवमें अनुपम है। यदि माताके प्रेमकी कोई उपमा देनी ही हो तो वह मातृ-प्रेमकी ही हो सकती है, दूसरी नहीं।

यह मनुष्य निरन्तर ही होता है जिससे माताके प्रति आदर बढ़ता है। माताके प्रेम से ही प्रत्येक मनुष्य का पालन होता है। मातृभूमि पर भी मनुष्यका प्रेम होता है। यह देशप्रेम भी असीम होता है। कैसी भी आपत्ति कैसा भी संकट क्यों न हो मनुष्य मातृभूमिका त्याग करनेको तैयार नहीं होता। मरता है पर मातृभूमिके यश के कारण शरीर निछावर करने तक को मनुष्य तैयार रहता है।

यही असीम प्रेम है जिससे सब देश के लोगोंने अपनी जन्मभूमि के गीत भक्तिभर प्रयत्न करके उत्तम उत्तम बनाए हैं। मातृ भूमि के लिये लोगोंने काव्य बनाये हैं। सभी देशों में यह प्रथा है कि आर्यवर्तमें भी, विलायतमें देशवासी अपने अपने राष्ट्रगीत का गान करते हैं।

इस प्रकार का कोई राष्ट्रगीत या मातृभूमिगीत भारतवासियों में है या नहीं इस के विषयमें कई विद्वानोंके भिन्न भिन्न मत हैं। कई विद्वान यह बतलाते हैं कि भारतवासियोंका एक राष्ट्र कभी भी नहीं था इसलिये उनमें राष्ट्रगीत होना असम्भव है। मध्यकालमें अपने विस्तृत देशके बहुतसे छोटे छोटे राज्य बन गये थे। इसलिये यदि कहा जाय कि उस कालमें एक राष्ट्रियत्व की कल्पना न थी तो यह सच हो सकता है। परन्तु हम में प्राचीन राष्ट्रीयताकी कल्पना है, यह ऋषियोंके कालमें थी ही है और इसका निदर्शक राष्ट्रगीत भी हमारे पास है। इसीका समर्थन करनेके लिये इस लेखमें मातृभूमिके वैदिक सूक्तका विचार किया है। यह सूक्त अथर्ववेदके १२ वें कांडका प्रथम सूक्त है।

सूक्तका उपयोग

जिस सूक्त के विषय में हम यहां लिख रहे हैं उसका महत्व राष्ट्रीय है या नहीं यह हम उसके उपयोगसे जान सकते हैं। इसलिये इसका उपयोग कहां किया जाता है देखो—

१ ग्रामपत्तनादिरक्षणाय। (सायणभाष्य)

(अथर्व० १२।१।१)

"ग्राम पत्तन नगर आदि की रक्षाके समय इसका उपयोग करना चाहिये।" अर्थात् ग्राम नगर प्रान्त राष्ट्र स्वदेश आदि की रक्षाके समय इसका उपयोग करना चाहिये। स्वदेश की रक्षाके लिये जब कोई काम करना हो तब यह सूक्त कहना चाहिये। इससे यह सिद्ध है कि स्वराष्ट्र रक्षा से इस सूक्तका निकट संबंध है। जब लोग जानते हैं कि राष्ट्र गीतका यही उपयोग है। सब देशोंमें राष्ट्रगीतका उपयोग इसी कामके लिये किया जाता है। परन्तु इसका विशेष विचार करना चाहिये, इसलिये नीचे और प्रमाण दिये हैं।

२ पार्थिवीं भूमिकामस्य। (नक्षत्रकल्प १७)

"पृथ्वीकी इच्छा करनेवाला पार्थिवी महाशांति करनेके समय इसका उपयोग करे।" देशमें या राष्ट्रमें जब अशांति उत्पन्न होती है तब उस अवस्थाको दूर करनेके लिये जो प्रयत्न किया जाता है उसे पार्थिवी महाशांति यह वैदिक नाम है। इसमें कई महत्वपूर्ण बातें करनी पड़ती हैं। ऐसे समय यह सूक्त कहना चाहिये। यह नक्षत्र-कल्पकर्ताका कहना है। "भूमिकामः अर्थात् भूमीकी इच्छा करनेवाला या अपनी मातृभूमिमें शांतता करने की इच्छा करनेवाला जो मनुष्य है उसने यह काम करते समय यह सूक्त पढ़ना चाहिये इस सूक्तके कहनेसे मातृभूमि के हितका कर्म करनेके लिये उत्साह मिलता है। इसी प्रकार—

सोमस्य हविष्कर्मणि। (कौशीतकी सूत्र ५।१)

"(सोम) प्रवेशके या राष्ट्रके (हविष्कर्म) आदरके लिये जो काम करना है उस काममें इस सूक्तका उपयोग करना चाहिये।" हवि' का अर्थ आदर। हविष्कर्म" का अर्थ है आदरके लिये किया हुआ काम। राष्ट्रीय महोत्सव विजयोत्सवके समय इस सूक्तका उपयोग करना चाहिये। सायणाचार्यजीने अपने भाष्यमें यह भी बतलाया है कि इस सूक्तका उपयोग कौन कौन कर सकते हैं। हम अब उसीको देखेंगे—

१ पुष्टिकामः।

२ ग्रीहियवादिकामः।

३ मणिहिरण्यकामः।

(सायणभाष्य अथर्व १२।१)

"पुष्टीकी इच्छा करनेवालोंको' धान्यकी इच्छा व अन्नके जो रत्न सुवर्ण आदि की इच्छा करनेवालेको इस सूक्तका पाठ करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि इस सूक्तका गायन उस समय करना चाहिये जब हम राष्ट्रीय उन्नतिके काम करते हों। यदि ध्यान दिया जाय कि राष्ट्रगीत ऐसे ही अवसरपर गाये जाते हैं तो ये सूत्रकार एवं भाष्यकारके कथनका रहस्य समझ सकते हैं।

इस सूक्तका विचार करते समय हमें देखना चाहिये कि यह सूक्त किस गणमें है। पूर्व के ऋषियोंने अथर्ववेदके कुछ गण बना दिये हैं। उनमेंसे 'वास्तोष्पति' नामका जो गण है उसमें यह सूक्त है। 'वास्तु' पर प्रतिष्ठा या मन स्थिरता इस बतलाने या सिद्ध करनेवाले सूक्त 'वास्तोष्पति' गणमें हैं। ऊपर बतलाया गया है कि पूर्वोक्त सूक्त उस समय कहनेका है जब किसी देशके निवासी मातृभूमिपर अपना हक बतलाते हों। इसलिये यह सूक्त "वास्तोष्पति" गणमें शामिल किया गया है।

यदि हम उक्त बातोंपर ध्यान दें तो हमें उक्त सूक्त की महत्ता दिखाई देगी, और निश्चयरूपसे विदित होगा कि मातृभूमिका यह वैदिक गीत विशेष प्रकारका राष्ट्रगीत ही है तथा यह राष्ट्रीय अवसरपर ही गाना चाहिये।

मातृभूमि की कल्पना।

इस बाहरी प्रमाणोंका विचार करके ही अबतक हमने मातृभूमिके सूक्तका स्वरूप देखा। अब भीतरी प्रमाणोंका विचार करेंगे और देखेंगे कि इसके विचार कहांतक राष्ट्रीयमहत्त्वके हैं। अतएव पहले यह देखेंगे कि इस सूक्तमें जो मातृभूमि की कल्पना है वह किस प्रकार की है। जो लोग समझते हैं कि हम आर्योंमें "मातृभूमि" की कल्पनातक नहीं है वे इन मन्त्रोंका विचार अच्छी तरह करें और अनुभव करलें कि हमारे अति प्राचीन साहित्यमें मातृभूमिके विचार विद्यमान हैं तब यह भी सिद्ध होगा कि मातृभूमि की कल्पना सर्वप्रथम ऋषियों की है।

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। (अथर्व १२।१।१२)

"मेरी माता भूमि है और मैं मातृभूमिका पुत्र हूं।" हमारी देशभूमि ही हमारी माता है और हम सब उस मातृभूमिके पुत्र हैं। अर्थात् हम सब देशवासी एकही माताके पुत्र हैं, अतएव हम सब सगे भाई हैं। स्पष्ट ही है कि प्रत्येक देशके निवासीको यही भाव मनमें लाना चाहिये। मातृभूमिके मनोहर गौरवके विषयमें ऋग्वेदका यह मन्त्र पढ़ने योग्य है।

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः।

सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन ॥ ६ ॥

(ऋग्वेद ५।५९।६)

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।

(ऋग्वेद ५।६०।५)

"संपूर्ण (पृश्नि-मातरः) मातृभूमि को माता माननेवाले सब (मर्याः) मनुष्य अपने कुलीन हैं। उनमें न कोई (ज्येष्ठ) श्रेष्ठ है न कोई कनिष्ठ है और न कोई मध्यम है। सब समान दर्जे समान हैं। वे सब (उद्-भिदः) अपने ऊपरके दबाव को भेदकर ऊपर उठजाते हैं। उनका निश्चय पक्का है अर्थात् वे (भ्रातरः) बन्धु ही हैं। वे अपने (सौभगाय) धनके बढानेके लिये (सं वावृधुः) सब मिलकर प्रयत्न करते हैं।"

इस मन्त्रमें "पृश्नि-मातरः" अर्थात् भूमिको माता माननेवाले सत्पुरुषोंका वर्णन देखने योग्य है। मातृभूमिके सब एकही विचारवाले रहते हैं। उनमें उच्चनीच भाव नहीं रहता। उन सब लोगोंका दर्जा एकसा रहता है और वे सब मिलकर एक विचारसे मातृभूमिके उद्धारार्थ कार्य करते हैं। वे आपसमें बंधुप्रेम रखते हैं और अपनी उन्नति कर लेते हैं। मातृभूमिको अपनी सबकी माता माननेसे आचरणमें जो फरक पडता है, वह इस मंत्रमें स्पष्ट रीतिसे बताया गया है। अपने माता-रूप देश मातृभूमि है यह माननेवाले और न माननेवाले लोगोंके व्यवहारमें यह भेद होता है। वेदोंने यह बात इतने स्पष्ट तौरसे बतलाई, इसका कारण यह है कि वैदिक ऋषियोंने यह बतलाया है कि इसका विचार करके सब आर्य मातृभूमिकी भक्ति करें और अपनी उन्नति करलें। यही तात्पर्य—

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः।

(ऋग्वेद १।१३।९)

"(मही) मातृभूमि, (सरस्वती) मातृसंस्कृति और (इळा) मातृभाषा ये तीन सुख देनेवाली देवताएं हैं। ये सर्वदा अंतःकरणमें रहें।"

इस मंत्र की तीन देवताओंमें मातृभूमिको स्थान दिया है। तीन देवताओंका संबंध स्पष्ट करके बतलाने की यहां आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वह इतना स्पष्ट है कि वह तुरन्त मालूम हो जायगा। इन सब मन्त्रोंका विचार करनेसे मालूम होगा कि हमारे धर्मग्रंथोंमें मातृभूमिका महत्व और वैभव कितना वर्णन किया हुआ है। इसीके बारेमें और बातें देखनेके लिये यह मंत्र देखिये—

भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ॥

(अथर्व० १२।१।६३)

हे (मातः भूमे) मातृभूमि ! मुझे कल्याण अवस्थामें युक्त कर" अर्थात् मेरा सब प्रकारसे कल्याण कर। इसमें "भूमे मातः" आदि पदोंसे मातृभूमि की योग्यता व्यक्त होती है। इसी तरह—

सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ ३ ॥

सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥

सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहाम् ॥ ९ ॥

सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना ॥ १३ ॥

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे ॥ ४० ॥

सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥

(अथर्ववेद १२।१)

"यह हमारी मातृभूमि हमें अपूर्व पेय पदार्थ देवे। यह हमारी भूमि हमें गायें और अन्न देवे। यह हमारी भूमि हमें बहुत दूध देवे। यह हमारी भूमि हमारा संवर्धन करे। यह हमारी भूमि हमारी इच्छानुसार धन देवे। यह हमारी भूमि हमारे शत्रुओंको दूर करे और मुझे शत्रुरहित बनावे।"

इनके वर्णनका ध्यान रखनेसे विदित होगा कि इन सब मंत्रोंमें भूमि शब्द मातृभूमि के अर्थमें आया है। "मातृभूमि हमारे लिये यह करे वह करे" आदि रचना सम्भवतः अलंकार है। इसका अर्थ वास्तवमें यह है कि मातृभूमिकी कृपासे हमारे हाथसे यह कार्य होवे या यह कार्य होकर यह फल मिले। क्योंकि प्रत्येक कामनामें इस तरह की कर्तृत्वरहित भावना रहती है। इन सब भावनाओंका शाब्दिक अर्थ भिन्न रहता है और अंदरका भाव भिन्न रहता है। इस विषयमें यह मनन करने योग्य मंत्र देखिये—

सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥

(अथर्ववेद १२।१)

"यह हमारी मातृभूमि मुझे अर्थात् अपने पुत्रको बहुत दूध देवे। यह मंत्र कितना अच्छा है और आलंकारिक है देखिये। माता और पुत्रका संबंध दूध पीनेसेही प्रकट होता है। माताका दूध पुत्र पीता है यह सब जानते हैं। भूमिका दूध हम सब पीते हैं इसलिये वह हमारी माता है। भूमिका धान्य रस आदि दूध हमें मिलता है, इसलिये यह हमारी माता है। यह सर्वसाधारण और सीधा व्यवहार है। इसका वर्णन करते समय उपरोक्त मंत्रका जो भाव अर्थात् "मेरी माता मुझेही दूध देवे" और इसी तरहके वर्णनसे हमारी मातृभूमिमें पैदा होनेवाले उपभोगके पदार्थ हमें ही मिलें और दूसरा कोई अन्य हमसे दूर न ले जावे आदि अर्थका जो भाव है वह बहुत अच्छा है और बोधप्रद है। इस तरफ पाठकगणोंको अवश्य ध्यान देना चाहिये।

अब कोई यह भी कह सकता है कि "भूमि या हमारी भूमि" आदि शब्दोंसे "हमारी राष्ट्रभूमि" यह भावार्थ नहीं निकल सकता और इस बातको बिना सिद्ध किये हम यह भी नहीं कह सकते कि मातृभूमिके बारेमें हमारे धर्मग्रंथोंमें पूर्णरूपसे वर्णन किया हुआ है। यह संदेह योग्य है और उसके निवारणके लिये हम यह मंत्र पाठकोंके सन्मुख रखते हैं—

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे।

(अथर्व० १२।१।८)

"यह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें (उत्तमे राष्ट्रे) तेज और बल बढ़ावे।"

इसमें "उत्तमे राष्ट्रे" का अर्थ और "हमारी भूमि" का अर्थ एकही है। "हमारे उत्तम राष्ट्रमें" अर्थात् "हमारी मातृभूमि में तेज और बल की वृद्धि होवे"। "हमारी मातृभूमि में" या "हमारे राष्ट्र में" आदि शब्दों का अर्थ यही है कि "हम लोगों में" या "हमारे देशवासियों में" और यह बात साधारण विचार करनेवाला जान सकता है। परन्तु "हम लोगों में" या "देशवासियों में तेज और बल बढ़े" कहने से यह कहना कि "हमारे राष्ट्र में या हमारी मातृभूमि में तेज और बल बढ़े" अधिक भावना प्रदर्शित करता है। इसी दृष्टि से "मातृभूमि" "हमारा राष्ट्र, हमारा देश" आदि शब्दों में कितना गूढ़ रस भरा हुआ है।

अब इसी मंत्र के "उत्तमे राष्ट्रे" (हमारे अच्छे राष्ट्रमें) शब्द और भी एक उत्तम भाव प्रदर्शित करते हैं। उसका अब विचार करना चाहिये। राष्ट्रभक्ति की दृष्टि से राष्ट्र किस दशा में होना चाहिये यह इन शब्दों से स्पष्ट है। इन शब्दोंसे सूचित होता है कि राष्ट्रभक्तों की यही आकांक्षा होनी चाहिये कि हमारा राष्ट्र सब राष्ट्रों में उत्तम हो। तर, तम प्रत्ययात्मक उत्कृष्टता बतलानेवाले प्रत्यय हैं। इस प्रकार

और उत्तम' उन्नतता की तीन सीढियां बतलाते हैं । "उत्तम" से सर्वोत्कृष्ट अवस्था मालूम होती है । राष्ट्रभक्तों की प्रबल इच्छा होनी चाहिये कि हमारा राष्ट्र सब राष्ट्रों में अति उत्तमरूपमें हो । इस इच्छा से प्रेरित हो उन्हें चाहिये कि वे अपने राष्ट्रको अत्युत्तम कोटिका बनाने में शक्ति भर प्रयत्न करें । उनका कर्तव्य यही मात्र है कि राष्ट्रके किसी भी दशा में स्वतंत्र या परतंत्र होनेसे संतोष न होना चाहिये, अपितु देशवासियों का ध्येय ऐसा चाहिये कि किसी निश्चित, उत्तमतम कोटि को पहुंचे और वे उस ध्येय की पूर्ति करनेमें भरसक प्रयत्न करें ।

इस मंत्र का विचार करनेसे मालूम हो सकता है कि इस वैदिक सूक्त में केवल मातृभूमि की ही कल्पना नहीं है अपितु राष्ट्र के बारे में स्पष्ट भाव है और अपना राष्ट्र सब राष्ट्रों के आगे रहे यह उच्च महत्त्वाकांक्षा इसमें व्यक्त है । पाठक स्मरण रखें कि अपना धर्म इतनी उच्च राष्ट्रीय भावना जाग्रत करनेवाला है और वह इस आदर्श का स्पष्ट शब्दों में जनता के सम्मुख रखता है । जिस किसी को सन्देह हो वह ऊपर लिखे वचनों को पढकर उसे दूर कर ले ।

इतना स्पष्ट उपदेश हमारे धर्मग्रन्थों में होते हुए भी हमारे राष्ट्र में राष्ट्रीय भावना यथोचित रीति से जाग्रत नहीं है । यद्यपि यह बात सच है तो भी इसका कारण धर्म अवश्य होना नहीं है परंतु धर्म की ओर ध्यान न देना और दूसरी अनावश्यक बातों की ओर ध्यान देना है । जिस वेद में यह उच्च राष्ट्रीय भावना जाग्रत करनेवाले वचन हैं उस के प्रति लोगों में जो श्रद्धा या विश्वास है वह केवल दिखावटी है । लोग आधुनिक मतोंपर ही अधिक विश्वास करते हैं । इसलिये इतना घोटाला हो रहा है और मिट्टी खराब हो रही है ।

अपनी मातृभूमि और अपने राष्ट्रके बारेमें इस तरह स्पष्ट विचार अथर्ववेदीय मातृभूमिके गीतोंमें हैं । इन गीतोंसे स्पष्ट कैसे सिद्ध होता कि हमारा धर्म इसमें ही राष्ट्रीय भावना जाग्रत रखनेवाला और उसकी वृद्धि करनेवाला है । यह भूलना नहीं चाहिये कि राष्ट्रका सर्वस्व जो कल्याण है वह अपने धर्मका मुख्य भाग है ।

अध्यात्मज्ञान और राष्ट्रभक्ति ।

हम लोगोंमें धार्मिक बातोंकी ओर कितना दुर्लक्ष हो रहा है यह उदाहरण देकर बतलाना अनावश्यक ही होगा । अध्यात्मज्ञानका और मातृभूमिकी भक्तिका एक दूसरे से संबंध है, ऐसा यदि कहा जाय तो उसे कोई सच नहीं समझेगा । इस दुर्लक्ष उसकी तरफ हो रहा है । अध्यात्मविचार करनेवाले वेदान्ती, इस संसारको छोडकर किसी गुफा में जाकर बैठने का प्रयत्न करते हैं और जिनसे सब लोग राष्ट्रभक्त कहते हैं । लोग साफ कहते हैं कि धर्मका राजकारण में कोई संबंध नहीं है । इस विरोध के देखते यदि कोई कहे कि अध्यात्मज्ञान और राष्ट्रभक्ति का निकट संबंध है तो उसे कौन सच मान सकता है ? वास्तविक दशा देखने के पहले हम इतिहासके एक दो उदाहरणसे देखेंगे कि यह विचार कैसा होना चाहिये ।

अर्जुन युद्धभूमि में उतरा था और शत्रुके नाशकी महत्त्वाकांक्षा रखकर उसने युद्ध की तैयारी की थी । पर युद्ध को प्रारम्भ होने के समय ही वह मोह में फंस गया और जंगल में जाकर तपश्चर्या करने के लिये तैयार हो गया । वह सोचने लगा कि युद्ध करके स्वराज्य लेनेसे तपश्चर्या करके उत्तम अवस्था प्राप्त कर लेना अच्छा, अधिक उत्तम है । तब भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको वैदिक अध्यात्मविद्याका उपदेश किया । वह भगवद्गीता का उपदेश सुनकर अर्जुन का मोह दूर हो गया, तब उसकी अवस्था का ज्ञान प्राप्त हो गया और वह शत्रुको मारने के लिये तैयार हो गया । इसके बाद उसने युद्ध किया और निष्कंटक स्वराज्य पूर्णतासे प्राप्त कर लिया ।

दूसरा उदाहरण श्रीरामचन्द्रजीका है । रामचन्द्रजीका विद्याभ्यास पूर्ण होनेपर उन्हें यह भ्रम हुआ कि "सब बातें दैवाधीन हैं और पुरुषार्थ से कुछ नहीं हो सकता ।" इस भ्रमके कारण उन्होंने पुरुषार्थ के काम करना छोड दिया । तब वसिष्ठ ऋषी ने उन्हें वेदान्तशास्त्रका अध्यात्मज्ञान-उपदेश किया । इस उपदेश के बाद उनका भ्रम दूर हो गया और वे बडे पुरुषार्थी बन गये । इसके बाद उन्होंने लंकाधिपति रावण का नाश किया, संपूर्ण भरतखंड के ३३ कोटी देवोंको बंदिवास से मुक्त कर, पूर्ण स्वतंत्र बना दिया और आर्य साम्राज्य का उज्ज्वल बना दिया ।

इन दोनों उदाहरणोंमें यह बतलाना है कि अध्यात्मज्ञानके बाद स्वयं पुरुषार्थ करके शत्रुके बन्धनोंका पूर्णतासे नाश करके संपूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कर लेनी चाहिये ।

श्रीशिवाजी महाराज को भी एक दो समय [illegible] आ पैठा था और वह समर्थ रामदासस्वामी और संत तुकारामके

उपदेश से शूर हुए। ये बातें महाराष्ट्रके इतिहास में हैं। इन सब बातोंका विचार करनेपर हमें यह कहना पडता है कि अध्यात्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान राष्ट्रीय उत्थान के विरोधी नहीं है। यह इतिहास देखने के बाद हम जिस मातृभूमिके वैदिक गीत के बारेमें विचार कर रहे हैं उस के आगे के और पीछे के सूक्तों में कौन से विषय आये हुए हैं देखो—

यह मातृभूमि का वैदिक राष्ट्रगीत अथर्ववेदके १२ वें कांड का प्रथम सूक्त है। इसके पूर्व जो सूक्त हैं वे सूक्त और उनके विषय क्रमसे आगे दिये हुए हैं—

दशम कांड

सूक्त दूसरा 'केनसूक्त' (केन उपनिषद् का विषय) ब्रह्मविद्या।
सूक्त ३ से ६ तक शत्रु का नाश करना
सूक्त ७ और ८ ज्येष्ठ ब्रह्मसूक्त (ब्रह्मज्ञान)
सूक्त ९ शत्रुपर शस्त्रप्रहार करना
सूक्त १० गौमाताका रक्षण। गौओंको दुःख देनेवाले शत्रुका नाश करना।

एकादश कांड

सूक्त १ ब्रह्मौदन सूक्त (अन्नसूक्त)
२ रुद्रसूक्त (पशुपतिसूक्त)
३ ओदनसूक्त (भात, अन्न)
४ प्राणसूक्त (प्राणशक्तिका वर्णन)
५ ब्रह्मचर्य (ब्रह्मचर्य पालन करना)
६ पापमोचन
७ उच्छिष्ट ब्रह्मसूक्त (अपूर्व अपार धारण करनेवाले ब्रह्मका सूक्त)
८ ब्रह्मसूक्त (शरीर में प्रविष्ट होनेवाले ब्रह्मका सूक्त।)
९ और १० युद्धकी तैयारीका सूक्त।

द्वादश कांड सूक्त १ मातृभूमि का वैदिक गीत।

इन सूक्तों के क्रम में युद्ध शत्रुनाश आदि विषयोंके पहले ब्रह्मज्ञानके सूक्त आये हुए हैं। ब्रह्मज्ञानके बाद शत्रुका नाश करनेका विषय आया है। अथर्ववेदके दशमकांड में ऐसा दो बार निर्देश है। ग्यारहवें कांड में अन्न प्राण, ब्रह्मचर्य काम आदि के बाद ब्रह्मज्ञान है उसके बाद युद्ध की तैयारीका वर्णन है और उसके बाद मातृभूमिका वैदिक गीत है। सूक्तों का यह क्रम देखनेसे स्पष्टतया मालूम होता है कि "ब्रह्मज्ञानके बाद स्वातंत्र्यके लिये युद्ध होता होगा।" पाठकोंको यह विधान कदाचित् आश्चर्यकारक मालूम होगा। इसलिये ऊपर दिये हुए सूक्तोंका अर्थ समझने के लिये और यह जानने के लिये कि हमने किया हुआ विधान योग्य है या नहीं प्रत्येक सूक्तमेंसे नमूनेके लिये एक एक मंत्र यहां दिये हैं।

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ ३१ ॥
तस्मिन्हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ३२ ॥
(अथर्ववेद कांड १० सू० २)

"आठ चक्र और नौ द्वारोंसे युक्त देवोंकी अयोध्या नगरी है। उस नगरीमें तेजयुक्त स्वर्गकोश है। उस कोशमें जो पूज्य देव है उसे ब्रह्मज्ञानीही जानते हैं।" यह ईश्वरस्थानीय ब्रह्मका वर्णन देखनेके बाद अगले सूक्तोंमें शत्रुको छिन्नभिन्न करनेके मंत्र देखो—

देवास्त्वस्य त्वं आयुधं प्रमृणीहि दुरस्यतः।
(अथर्व० १०।१।..)

अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः।
अपि वृश्चाम्योजसा ॥
अथर्व० १०।३।११

"तुम शत्रुओं का नाश करना शुरू करो। मैं शत्रुका सिर मैं तोडता हूं।" इस तरह से सूक्त देखनेके बाद ७ और ८ सूक्तोंमेंका ब्रह्मवर्णन देखो—

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। अग्निं यश्चक्र आस्यं
तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥
(अथर्व० १०।७)

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ४३ ॥
अथर्व० १०।८

"चन्द्रमा और सूर्य जिसकी आंखें हैं, अग्नि जिसका मुख है उस ज्येष्ठ ब्रह्मको नमन करता हूं। ... कमलमें जो देव है उसे ब्रह्मज्ञानी ही जान सकते हैं।" यह ब्रह्मवर्णन देखनेके बाद शत्रुके नाशके सूक्तका प्रथम मंत्र देखो—

अयातयामानि भूता मृणानि मन्त्रैर्वृक्षाणां वृक्षमर्पयन् ॥
(अथर्व० १०।९।१)

“ पापी लोगोंका मुह बंद करो और नदी पार करूंगा पर फेंको। ’ इसी तरह तीसरे प्रकारके सूक्तोंका क्रम है। इन सूक्तोंका विषय यहां नहीं बतलाते। केवल ११ वें काण्डके आठवें सूक्तका एक मंत्र यहां देते हैं और बाकीके ब्रह्म और ब्रह्मचर्यके सूक्तोंमें का वर्णन विस्तारभयसे छोड देते हैं।

तस्माद् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥ ३२ ॥
(अथर्व ११।८)

“ इसलिये इस (पुरुष) पुरुषको ब्रह्म कहते हैं। क्योंकि जिस तरह गायें अपने बाडेमें अपने स्थानमें रहती हैं, उसी तरह सब देवताएं इसमें आश्रयसे रहती हैं। ’ इस ब्रह्मज्ञानके सूक्तके बादका सूक्त देखो—

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत संनह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम्। इमं संग्रामं संजित्य यथा लोकं वि तिष्ठध्वम् ॥२६॥
(अथर्व ११।९)

“ मित्रो ! तैयारी करो उठो। इस युद्धमें जीतनेके बाद अपने अपने स्थानको जाओ। ’ इसी तरह—

सहस्रकुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानाम्।
विविद्धा ककजाकृता ॥ २५ ॥ (अथर्व ११।९)

“ शत्रुकी सेनामेंसे हजारों मुरदे युद्धभूमिमें पडें । इस तरहका वर्णन अध्यात्मज्ञानके बाद कई बार आ चुका है।

इसे अचानक अध्यात्मविषयमें आया हुआ नहीं कह सकते क्योंकि यह तीन जगह इसी तरह आया है। इस और अनुक्रमके उपदेशके समय भी नहीं हुआ है। इसलिये “ अध्यात्मज्ञानके बाद स्वातंत्र्यके लिये युद्ध होना स्वाभाविक है। इन सब सूक्तोंके बाद वैदिक राष्ट्रगीत आया हुआ है। इससे यह समझ सकते हैं कि जिस सूक्तके बीचमें यह लेख लिखा गया है वह सूक्त वास्तवमें राष्ट्रीय महत्वका है क्योंकि यह युद्धके समय आया हुआ है।

इस सूक्तके बारेमें विचार करनेके पहिले हमें यही देखना चाहिये कि अध्यात्मज्ञान ब्रह्मज्ञान आदि विषयोंका युद्धादि राष्ट्रीय बातोंसे क्या संबंध है।

[१] अध्यात्मज्ञान।

बुद्धि मन अहंकार, प्राण इंद्रिय और शरीरके सब अवयवों की आत्माका आधार है। ये सब बडी शक्तियां हैं। इन शक्तियोंका ज्ञान होना अध्यात्मज्ञान कहलाता है।

ये सब शक्तियां हममें हैं। हम बिलकुल क्षुद्र नहीं हैं। हमारे आधीन ये बडी बडी शक्तियां हैं। इनको चलानेवाले हम हैं। यह अपनी शक्ति अध्यात्मज्ञानसे मालूम होती है। अध्यात्मज्ञान प्राप्त करनेके पूर्व जो मनुष्य अपनेको क्षुद्र और निर्बल समझता है वह जब अध्यात्मज्ञान प्राप्त करनेपर अपनेको सबल और समर्थ समझने लगे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। इसलिये राष्ट्रमात्रकी जो अपनेको दैवाधीन और परतंत्र समझते थे वे ही अध्यात्मज्ञान प्राप्त होनेपर दैव को भी अपने आधीन समझने लगे और अपने पुरुषार्थसे विपरीत दैव को भी अपने मनके अनुसार बनानेमें समर्थ समझने लगे। यह शक्ति अध्यात्मज्ञानसे प्राप्त हो सकती है।

[२] ब्रह्मज्ञान।

विश्वव्यापी सच्चिदानंदशक्ति का अस्तित्व स्थिर और चर सब में एकसा है। इस ज्ञान से सब संसार की तरफ देखने की दृष्टि बदल जाती है।

उसे अपने अंदर की शक्ति का और जगत् की शक्तियोंका ज्ञान रहता है, इसलिये उसे योग्य काम करते समय मौत का भय होना असम्भव है। यह अपने जगत लोगोंकी रक्षा करता है और दुष्ट लोगों का नाश करता है। यह सब का अच्छी तरह पालन करके लोगोंमें शांतता रखता है। जगत् की ओर देखने की उसकी दृष्टि उच्च होती है, इसलिये उसे धन की और भोगवस्तुओं का मोह नहीं होता। धन व दौलत का लोभ नहीं होता या दैवभावनाके कारण वह अपने कर्तव्य का छोड नहीं सकता।

इसके सिवा इस ज्ञानसे दूसरा एक लाभ हो सकता है। वह यह है कि पृथ्वीपर जितने युद्ध स्वार्थ के लिये होते हैं, वे नहीं होंगे और उनसे जिन सज्जनों को कष्ट पहुंचते हैं वे नहीं पहुंचेंगे। क्योंकि ब्रह्मज्ञानका कारण उसकी दृष्टि पवित्र होती है। और फिर वह स्वार्थ के कारण दूसरे को परतंत्र करे या सतावे, यह बात असम्भव है। जगत् के सज्जनों को दुष्ट दैत्योंका नाश करने के लिये ही उसकी तलवार म्यान के बाहर निकलेगी। आजकल जिस तरह स्वार्थ के लडाइयां होती हैं दूसरे राष्ट्र का विध्वंस करनेके लिये संगठित राष्ट्रीय अत्याचार

रहे हैं, केवल अपनी सेनामें तोपें हैं इसलिये दूसरों को दबा देना और दूसरों की उन्नति कम करनेके जो राज्यों के प्रयास भयंकर काम हो रहे हैं, यदि हरएक देशमें अध्यात्म ज्ञान और ब्रह्मज्ञान हो जावें तो वे सब बंद हो जायेंगे। राष्ट्र की जो क्षात्रशक्ति है वह बहुत बड़ी महत्त्व की है उस शक्ति को ब्रह्मज्ञानी मनुष्य ही अच्छी तरह सम्हाल सकता है। ब्रह्मज्ञानहीन स्वार्थी लोग इस राष्ट्रीय क्षात्रशक्ति का दुरुपयोग करके जगत् में जबरदस्ती का पापी राज्य फैलाते हैं। इन सब बातोंका विचार करनेसे मालूम होगा कि पहले ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके ठीक जन्म बनाना चाहिये और उसके बाद राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षा धारण करना चाहिये। यही वेदों की आज्ञा है और यही उनकी अपूर्व दूरदर्शिताको बतलाती है। यह बात हमारे वैदिक धर्मने ही पहले पहल सब जगत् को प्राचीन कालमें बतलाई। यह बात यद्यपि अतिप्राचीन काल में भारतवर्षमें जारी थी तथापि वह बादमें लुप्त हो गई और फिर वह कभी भी शुरू नहीं हुई। यह बात फिर शुरू करनेके लिये हमें स्वतंत्रता प्राप्त करनी चाहिये और यह बात जगत् में प्रचलित करनेपर जगत् में शांति रखनेका महामंत्र सबको बतलाना चाहिये।

इस तरह ब्रह्मज्ञान राष्ट्रके पूर्व क्यों होना चाहिये और उसका महत्त्व क्या है यह संक्षेपसे बतलाया है, वास्तवमें यह बात विस्तृत करके लिखनी थी। परन्तु वैसा करनेके लिये जगह नहीं है। इसलिये यह विषय संक्षेपसे दिया है। अब इसके आगे वैदिक राष्ट्रीय जीवनका स्वरूप बतलाना है।

अथर्ववेदके जिसमें मातृभूमिके वैदिक राष्ट्रगीतके संबंधमें सामान्य परिचय इसके पहिले दिया गया है उसकी पूर्ति है। इससे पाठकोंको मालूम हो जायगा कि इस राष्ट्रगीतका विषय राष्ट्रके लिये कितना महत्त्वका है। अब हमें यह देखना है कि इस राष्ट्रगीतके मंत्र कौन कौन महत्त्वपूर्ण बातोंका उपदेश करते हैं। इसलिये प्रथम पहलाही मंत्र देखना चाहिये।

> सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं
> धारयन्ति।
> सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः
> कृणोतु॥
> (अ० १२।१।१)

सत्य, दीक्षा, तप, ज्ञान और यज्ञ

ये गुण मातृभूमि को धारण करते हैं। वह हमारे भूत भविष्यत् और वर्तमान स्थितिका पालन करनेवाली हमारी मातृभूमि हमें कार्य करनेके लिये विस्तृत स्थान देवे!

इस मंत्रके पहले भागमें यह स्पष्ट तौरसे बतलाया है कि मातृभूमिको कौन कौनसे गुण धारण कर सकते हैं। यह सब लोगोंके याद रखने लायक बात है। सब मनुष्य अपने राष्ट्रका धारण नहीं कर सकते और न उसका पोषण ही कर सकते हैं। जो लोग विशेष गुणोंसे युक्त हैं, वे ही राष्ट्र की उन्नति कर सकते हैं। दूसरे लोग सिर्फ संख्या बढानेके लिये ही समान हैं। यह बात पहले मंत्रसे स्पष्ट है और उसे पाठकोंको देखना चाहिये।

सर्वप्रथम राष्ट्रधारक गुण सत्य है। जिन मनुष्योंमें सत्य निष्ठा सत्य-पालनमें आत्मसर्वस्व अर्पण करने की तत्परता है वे ही राष्ट्रका उद्धार कर सकते हैं। जिनमें सत्याग्रह है अर्थात् जो सत्यका आग्रहसे पालन करते हैं वे ही स्वराष्ट्रका उद्धार कर सकते हैं। सूक्तका प्रारंभही 'सत्य' शब्दसे हुआ है। सूक्तके आरंभका शब्द मंगलकारक और सबसे अधिक महत्त्वका होता है। इस विचारसे भी सिद्ध होता है कि वैदिक राष्ट्रीयतामें 'सत्य' अत्यंत महत्त्वका गुण है। अब यह बात सब पर प्रकट है कि सत्याग्रह द्वारा सत्यके निःशस्त्र प्रजा शस्त्र-धारी राजाके विरुद्ध कायमें आ सकती है। और विजय भी पा सकती है। सत्यके व्यक्तिगत सत्य सामाजिक सत्य और राष्ट्रीय सत्य आदि भेद हो सकते हैं। हिंदवासी व्यक्तिगत सत्यका पालन करनेमें संसारके अन्य जातियोंकी तुलना में अधिक तत्पर एवं दक्ष हैं किन्तु वे सामाजिक और राष्ट्रीय सत्य अर्थात् सामुदायिक सत्यका पालन नहीं कर सकते। सामुदायिक सत्यपालनके अभ्यास ही से सत्याग्रहका मार्ग सफल हो सकता है। यदि मान लिया जाय कि सामुदायिक सत्य क्या है और उसका पालन किस प्रकार हो सकता है साथ ही उचित रीतिसे उसका पालन करें, तो केवल इसी गुण से ही उनका उद्धार होगा।

इसके अनंतर गुण ऋत अर्थात् सरलपन है। यह भी सत्यके समान महत्त्वपूर्ण है और उसका आचरण सत्यके बाद होता है। जो मनुष्य सत्यका पालन नहीं करते और जिनका आचरण सीधा नहीं है उनकी उन्नती रुकती है। अतः स्पष्ट है। वे गुर अवनत होते इतनाही नहीं बल्कि उनके विनाश

सकता है वे भी मरने से डरेंगे।

नम्रता सू- वीरोंका गुण है। इस गुणसे मंडित जो क्षत्रिय हैं वे सत्याग्रहके साथ मरनेसे अपने राष्ट्रका बल बढा सकते हैं। दक्षता अनन्य गुण है और यह शासिक्को बतलाता है जो प्रत्येक कार्यमें आवश्यक है। दक्षताके सिवा किसी भी कार्यमें यश प्राप्त नहीं हो सकता यह सब लोग जानते हैं। अतः इसके बारेमें अधिक लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है।

तप उसके आगेका गुण है। यह गुण राष्ट्रीय महत्त्वका है। करनेके कार्यमें शीत उष्ण क्षुधा प्यास सुख दुःख आदि द्वन्द्व आनेपर भी उन्हें सहकर आगे पैर बढाना ही तप का अर्थ है। यदि सिपाही धूपमें थोडी देर घूमनेसे गर्मी होती ठंडमें काम करनेसे अधिरता आवे तो ऐसे कोमल मनुष्यसे राष्ट्रका कोई भी काम हो नहीं सकता अतः यह बात निर्विवाद है कि ठंडी और गर्मी सहना आदि तप राष्ट्रीय सद्गुणोंमें शामिल है। आजकल अपने देशमें लोग तपके नामपर जिसका आचरण करते हैं, वह वैयक्तिक महत्त्वका है। राष्ट्रीय महत्त्वका तप दूसराही है और उसके लिये बिना राष्ट्रीय दृष्टिसे अपनी उन्नति नहीं होगी।

अगला राष्ट्रीय गुण 'ब्रह्म' अर्थात् 'ज्ञान' है। 'ज्ञाना-न्मोक्षः' इस सूत्रको सब लोग जानते हैं। पर यह राष्ट्रीय दृष्टिसे भी सत्य है यह बात बहुत थोडे लोग जानते हैं। ज्ञानसे जिस तरह किसी व्यक्तिकी आत्मा बंधनसे मुक्त हो जाती है और वह व्यक्ति भी मुक्त हो जाती है उसी प्रकार ज्ञान-से राष्ट्र भी दूसरोंकी आधीनतासे मुक्त होता है और इस तरह राष्ट्र स्वतन्त्र हो सकता है। आजकल की भारतवर्षकी पराधीनताका कारण अधिकतर आधिभौतिक विज्ञान शास्त्रोंके ज्ञानका अभाव है। वह इस विज्ञानकी प्राप्तिके बिना दूर नहीं हो सकती और यदि दूर हो गई तो भी स्वतंत्रताकी रक्षा करना कठिन है। यह बात पूर्वजमाके प्रमाण सिद्ध है। अतएव राष्ट्रको चाहिये कि वह अपना ज्ञान संसारके ज्ञानके बराबर रखे या उससे अधिक अपने राष्ट्रका ज्ञान करे इसके लिये प्रयत्न करना चाहिये। तभी राष्ट्रकी स्वतन्त्रता की रक्षा हो सकती है। इस [illegible] सर्वत्र अभिप्रेत है।

इसके आगेका गुण यज्ञ है। "यज्ञ" से आत्मसमर्पणका भाव प्रगट होता है। राष्ट्रोन्नतिके लिये आत्मसमर्पण करने की तैयारी लोगोंमें होनी चाहिये तभी राष्ट्रोन्नति होना सम्भव है उसके अभावमें उन्नति नहीं हो सकती।

वैदिक राष्ट्रनीतिके पाठके मंत्रमें यह महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया है। अपने राष्ट्रकी उन्नति किन गुणोंके बढनेसे होगी और किन गुणोंके अभावसे अपने राष्ट्रका अधःपतन होगा, यह इस मंत्रने स्पष्ट रीतिसे बतलाया है और उसका उपदेश ध्यान देने लायक है।

राष्ट्रीय उन्नति करनेवाले गुण " सत्याग्रह, तीक्ष्ण स्वभाव, उग्रता या शौर्य, दक्षता या तत्परता, सत्कर्म करनेके लिये कष्ट उठानेवाले परिश्रम करनेका सामर्थ्य या यह करते समय कष्ट सहनेकी शक्ति और सहनशीलताकी प्रबलता, ज्ञान और [illegible] कार्य के लिये आत्मसमर्पण करनेकी इच्छा। " यदि ये गुण जनतामें या जनताके मुखियोंमें हों तो वह राष्ट्र उन्नत हो सकता है और यदि न हों तो नहीं।

अब उन अवगुणोंको देखिये जो राष्ट्रकी अवनति करते हैं-

" सत्याग्रहकी तैयारी न रखना अथवा असत्यका पक्ष लेकर मनमाना आचरण करना, डरपोक स्वभाव, [illegible] कर्मकी प्रवृत्ति रखना, कपटका आचरण, कायरता या शौर्य का अभाव, दक्षताका अभाव, परिश्रम करनेकी शक्ति न रखना, अज्ञान, आत्मसमर्पणके लिये तैयार न रहना। " पाठक स्वयं ही विचार करें कि हम लोगोंमें उपरि उक्त राष्ट्रीय गुणोंकी अधिकता है या अवगुणोंकी। इस बातका विचार करने हीसे उनपर प्रगट होगा कि आज हमें क्या करने की आवश्यकता है।

इस प्रकार मंत्रके प्रथम अर्धमें राष्ट्रको धारण करनेके लिये आवश्यक गुणोंकी वृद्धि करनेका उपदेश है। उत्तरार्ध में एक महत्त्वपूर्ण आशंका जनताके सन्मुख रखी गई है। वह इस प्रकार है—" हमारी मातृभूमि हमारे भूत—भविष्यत् वर्तमान कालकी परिस्थिति को देखती है। वह हमें अपने देशमें विस्तृत कार्यक्षेत्र देवे। "

राष्ट्रभक्त मातृभूमिके उपासक हैं। उनके सब काम मातृभूमि को ही अपने शरीरों या देशमें उत्पन्न हो सकते हैं। अत-एव स्पष्ट ही है कि राष्ट्रभक्तोंके भूत भविष्यत्—वर्तमान कालकी नियामक देवता मातृभूमि ही रहेगी। भूतकाल में

यही बात बतलाई गई है। राष्ट्र पर जिस समय आपसी क्षुद्र भेदोंको प्रधानता देकर आपसमें झगडते हैं उस समय राष्ट्रकी शक्ति क्षीण होती है। परन्तु जब भेदभावोंको मिटाकर वे सब मिलकर देशहितका काम करनेमें लग जाते हैं तब उनकी शक्ति बढती है और उनकी उन्नति होती है।

किसी भी देशको या किसी भी राष्ट्रको देखिए। भाषा, जाति, पंथ, धंधे आदि अनेक कारणोंसे उसमें अनेक भेद होते ही हैं। आज संसारमें एक भी राष्ट्र ऐसा नहीं कि जिसमें उपर्युक्त भेदोंका नामोनिशान न हो। परन्तु विचारशील राष्ट्रके धुरंधर लोग इन भेदभावोंकी ओर ध्यान नहीं देते। वे यही समझते हैं कि राष्ट्रहित ही सबसे बडा है। वह अपने स्वार्थपर दृष्टि रख वे एकताके सूत्रमें बंध जाते हैं। आपसमें लडाई झगडा करनेवाली जातियां भी जब देखती हैं कि सारे राष्ट्रपर आपत्ति आई है तो वे आपसके झगडे छोड देती हैं आपसमें मिल जाती हैं और राष्ट्रकी रक्षा किया करती हैं। परिणाम यही होता है कि वह आपत्तिसे बच जाते हैं। परन्तु इसके विपरीत जो लोग अपने भेदभावोंकी ओर ही दृष्टि रखते हैं, जो राष्ट्रके हितकी ओर नहीं देखते जिनके राष्ट्रकी अपेक्षा अपने भेद ही अधिक महत्वके मालूम होते हैं वे क्षुद्र भेदभावोंमें ही पडे रहते हैं और अपनी उन्नति कभी भी नहीं कर पाते। भेदोंके रहते भी जो उनमें अभेदका अनुभव प्राप्त करने को तैयार रहते हैं वे ही सुख राष्ट्रोन्नति साधन कर सकते हैं।

हमारे हिंदुस्थानमें ही सब मनुष्य धर्मभेदोंसे विभक्त हैं यह नहीं। परन्तु अन्य अन्य देशोंमें भी यही हाल है। तब क्या इस देशके निवासियोंको उचित है कि वे ही अपने भेदोंका बढाकर आपसमें अपनी शक्तिको नष्ट करें? क्या भारतवासी इस मंत्र की बातका विचार न करेंगे? आज भी यही सिखाती है कि प्रथम आपसके भेद भावको मिटा दो। उनमें मनन रखना चाहिये कि ऐसा समाज कि जिसमें भेदभावोंका बिलकुल अभाव हो, न कभी इस भूमण्डल पर था, न अब है और न भविष्यमें भी होनेकी संभावना है। इतिहासमें किसी भी समय भी बात कभी न हुई यह सब

इसमें कभी न ... / तीसरे एक बात ...
और यह है आपको ... / न उल्लंघन न कर ...
यह नहीं / हो सकती

यह उचित नहीं है कि लोग भेदभावको सामने रखकर झगडें। वे परस्पर साधन कार्योंको ही करें और अपनी उन्नति कर लें।

भारतवर्षमें तीन धर्म विद्यमान हैं, (आर्य) हिंदू, मुसलमान और ईसाई। यह समझ कि जबतक ये तीन धर्म हैं, तब तक स्वराज्यके लिए प्रयत्न न करना अथवा ये तीन भेद नष्ट होकर जब सबका मिलकर कोई नया धर्म बनेगा, तभी स्वराज्यप्राप्तिका प्रयत्न करना निरा पागलपन है। इन तीन भिन्न धर्मोंके रहते भी सबको मिलकर मातृभूमिकी सेवाके लिए तैयार होना चाहिये। यह तो असंभव है कि ऐसे सर्व प्रकारके भेद मिट जाय। इन भिन्न धर्मोंके रहते भी सबको चाहिए कि अपना अभिन्न राष्ट्रधर्म देखें। जातियोंके व वर्णभेद आदि अनेक भेद अवश्य ही रहेंगे। इन भेदोंको हटानेके लिए यह होना यदि संभव माना जाय, तो उसे इतना अधिक समय लगेगा कि उसके साध्य होनेतक स्वराज्यको दूर रखनेसे हमारी बडी भारी हानि ही होगी। अतः हरएक मनुष्यको, हरएक व्यक्तिको यही सीखना आवश्यक है कि अनेक भेदोंके रहते भी उनमें भूलकर एक घरके एक कुटुंबके भाइयोंके समान एकतासे रहें। इस मंत्रका यही उपदेश है और हरएक राष्ट्रभक्त इसपर ध्यान दे। अब आगेका मंत्र देखिए—

असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः॥ (अथर्व १२।१।२)

जिस मातृभूमिने मनुष्योंमें उच्चता नीचता और समानता न रखें (न कुछ असंबाधं) बहुत ही भिन्नता नहीं है और जो नाना गुणोंसे युक्त औषधी उत्पन्न करती है, वह हमारी मातृभूमि हमारी (प्रथतां) कीर्ति का विस्तार करे।"

यह मंत्र बतलाता है कि भिन्नता होते हुए भी राष्ट्रीय हित साधन कैसे करना चाहिये। मनुष्यका भेदभाव पूर्णतया मिटानेकी चेष्टा करके ही वे काम पर लगें, ऐसा नहीं; किन्तु मन बुद्धि आदिके स्वभावके विकासके तथा उनकी अवस्थाकी भूमिकाके अनुसार उनमें उच्च नीच मध्यम आदि भेद रहना स्वाभाविक है। अतएव संभव नहीं कि सब मनुष्य समान योग्यताके बिलकुल एकसे बनें। ऐसी अवस्था

ही ध्यान देकर उसका पालन करें हो।

मंत्रमें 'अ-इं-भाव' पद है। यह अतीव महत्त्वका है। भाषा भेदोंसे प्रायः ही अब तक एक समाजके मनुष्यों का दूसरे समाजसे विरोध होने लगेगा। एक समाज दूसरे को प्रतिबंध करने लगेगा। दूसरोंको निराधार रखकर ही अपनेको रहनेका प्रयत्न करने लगना। एक हीनता जातियोंमें वैमनस्य उत्पन्न होता है। जातिजातिके झगड़े विरोध आदि बातें इस सम्बन्धसे बढ़ जाती हैं। परस्पर बाधा करने की का नाम 'वैभाव' है। वैभावका अंत है आपसमें युद्ध। जब युद्ध होने लगते हैं तब राष्ट्रकी शक्ति क्षीण होती है। जब एक समाज दूसरे समाजको बाधा पहुंचाता है एक जाति जब दूसरी जातिको कष्ट पहुंचाने लगती है तब राष्ट्र क्षीण होता है। इसीलिये राष्ट्रहितकी दृष्टिसे अर्थात—जातिमें समाज—समाजमें एकमत होना परम आवश्यक है। यही बात अभ्यासके हेतु मंत्रमें कहा है—

यस्या: मातृभावं मनवः बहु अर्थकामम्।

'जिस मातृभूमिके मनुष्योंमें बहुत मित्रभाव रहता है।' वही मातृभूमि अपने पुत्रोंको उत्तम बना देती है। परन्तु जिस भूमिके लोग आपसमें वैमनस्य रखते हैं वहांकी जनता आपसमें बैर रखता है। कोई ऊंचा हो कोई नीचा हो कोई भक्त हो, पर सबोंके हृदयमें यह हो कि वे जो कुछ करें मातृभूमिके लिये करें। अपने गुणापेक्षाके बड़प्पन उनमें गुणहीनोंसे या न्यून गुणवालोंका न देखना चाहिये। कुछ लोग ऊंचे हों और कुछ सामान्य हों तो दोनों मिलकर आपसमें न लड़कर दोनोंको अपनी शक्तियोंका मेल करना चाहिये और अपने मातृभूमिकी वैदीपर चढ़ा देना चाहिए। तभी राष्ट्रकी उन्नति होगी। मनुष्योंमें जो (बहुधा) उत्तम (धर्म) समता, और (बहुधा) भिन्नता रहती है, यह एक दूसरेका घात करनेके लिए नहीं रहती है। एक मनुष्य बड़े किसी एक कार्यमें ऊंचा है तो वह दूसरे कार्योंमें नीचा होगा। अतः किसी कार्यमें ऊंचा होना तो कार्यमें उत्तम होना ही कहा जा सकता है। कोई शक्तिवान्‌ ताकतवान हो तो इसमें उत्तम समता होना संभव है। किन्तु न गुणोंका समान भावसे मनुष्योंकी आवश्यकता है। अतः मनुष्य अपने पराक्रम और एकत्वपर ध्यान रखकर एक दूसरेके लिए न लड़ें और

अपनी उन्नति करें।

मानवोंका कर्तव्य यही है कि अनेक मतोंके रहते भी अपने भावसे अपना मार्ग निकालें। जो मानव इसमें समर्थ है उसीको मानव कहते हैं। मानव कहानेवाला इसके उल्टा नहीं करता वह सोच विचार कर उसका काम करता है और उन्नतिके मार्गसे आगे जाता है। जो अपनी परिस्थितिका विचार नहीं करते, अपनी उन्नतिके लिए प्रयत्न नहीं करते किन्तु आपसके झगड़ेमें ही लगते हैं, वे तो पैदा होनेपर भी मानव या मनुष्य नहीं कहे जा सकते।

इस मंत्रका उपदेश हम लोगोंकी वर्तमान दशामें अच्छी तरह उपयोगी हो सकता है। उपर्युक्त मंत्रोंके पढ़नेसे ज्ञात होगा कि इस वैदिक राष्ट्रगीतके द्वारा देशवासियोंमें एकता बढ़ानेके लिए जो कुछ कहा जा सकता है कह दिया गया है। अब हम चाहें तो उसका उपयोग करें चाहें तो न करें। यदि हम उससे लाभ न उठावें तो इसमें वर्णनकर्ताका क्या दोष? दोष है अनुयायियोंका। इसका उपदेश सुन लेनेपर प्रत्येकको जान लेना चाहिए कि हमारे देशके प्रति हमारा कर्तव्य क्या किस प्रकार है। इस कर्तव्यको जानकर उसे सदैव अपने मनमें जागृत भी रखना होगा। निम्नलिखित मंत्रको अब देखिए—

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं
चतुष्पदः। तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं
मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥

"हे मातृभूमि! तेरेसे उत्पन्न हुए हम सब मनुष्य तुझपर ही घूम रहे हैं। तू ही द्विपाद और चतुष्पादका पालन करती है। हम पांचों प्रकारके मनुष्य तेरे ही हैं। इन मानवोंको प्रतिदिन उदयको प्राप्त सूर्य अपनी किरणोंसे तेज और अमृत देता है।'

इस मंत्रमें सर्वप्रथम यही बतलाया गया है कि हम मनुष्य भूमिमाता [त्वत्-जाताः] से उत्पन्न हुए हैं और तुझपर ही घूमते फिरते हैं। यह भाव स्पष्ट एवं स्वाभाविक है। प्रत्येक राष्ट्रभक्त अपने मनमें यही भाव रखता है। यदि नहीं रखता तो उसे अवश्य ही रखना चाहिए। तभी वह राष्ट्रकी उन्नतिके लिए काम कर सकेगा मातृभूमि हमारी जननीके समान पालनेवाली एवं माननेवाली माता है। यह अनुभव जितना अधिक होगा उतनी ही इस भावनासे वह मन लगा मातृभूमिकी सेवा करेगा।

यदि पाठक विचार करेंगे तो वे जानेंगे कि हमारे देशमें जो अतीव झगडे होते हैं उनका कारण यह है कि हम देशके निवासी नहीं समझते कि सचमुच हम सब मातृभूमिके पुत्र हैं। लोग अपने अपने पंथके हितकी दृष्टि रखते हैं। सबका मिलकर जो राष्ट्रधर्म है उसका पालन कोई नहीं करता। इससे सबको एक राष्ट्रधर्मका बंधन नहीं रहता। प्रत्येकको अपना पंथ ही अधिक प्रिय होता है। सार्व-राष्ट्रीय धर्मके पालनकी कोई फिकर ही नहीं करता। ऐसे पाठक विचार किसी भी देशके निवासियोंमेंसे किसी भी व्यक्तिके दोष न रखें। इसी मंत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि हम सब मातृभूमिके बालक हैं। पाठक यदि इस अनुपम मंत्रपर विचार करें तो उन्हें विदित होगा कि आपसी फूट भी यह अवश्यंभावी रहा है। मनुष्य किसी भी पंथ के या पंथके रहें या उनमें जाति और धर्मके कारण कैसी भी भिन्नता क्यों न आई हो; यदि व एक राष्ट्रधर्मसे बंधे जायेंगे तो परस्पर वैरभाव उत्पन्न ही न होगा।

हमारी मातृभूमि हम द्विपदोंका और अन्य चतुष्पादोंका उत्तम प्रकारसे पोषण करती है। इस स्वार्थी दृष्टिसे भी यदि देखें तब भी हरएक मनुष्यके लिए उत्तम बात यही होगी कि वह हृदयमें मातृभूमिको भक्ति रखे और उसकी रक्षाके लिए सदैव तैयार रहे। हम अपने मकानकी रक्षा करते हैं अपनी जमीन की रक्षा करते हैं यह सब हम इसीलिए करते हैं कि उससे हमारा हित होता है। हमारा हित मातृभूमिसे भी होता है। क्योंकि यही मातृभूमि मनुष्योंको और पशुपक्षियोंको अन्न उदक आदि देती है और उनकी रक्षा करती है। यदि हम मातृभूमिकी रक्षा न करेंगे तो वह किसी दूसरेके आधीन हो जावेगी और तब हमारी आपत्ति होगी हमें भूखों मरनेकी नौबत आवेगी।

इस समय भारतीयोंका यही हाल है। उन्होंने केवल उत्तम मातृभूमिकी रक्षा न की अतएव अब हमें कष्ट सहने पडते हैं। इस आपत्तिके समय भी हम अपना कर्तव्य नहीं भूलते और एकताके मातृभूमिकी सेवा करनेके तैयार नहीं होते !! अब कालमें हम लोगोंने जो गलतियाँ की थीं सो हो चुकीं। उनके बारेमें अब कोई कितना ही क्यों न करे व बदल नहीं सकतीं। परंतु अब गलतियोंका फल भोगते समय भी उनके उचित शिक्षा न लेकर पुनः पुनः वैसी भूल करना और प्रतिदिन आपसी मतभेद की भी बढाना भयंकर भावी आपत्तिका चिह्न है। क्या भारतवासी इसपर विचार न करेंगे ?

इस विचारको मनमें न रख कि "हे मातृभूमि ! हम तेरे बालक हैं।" हम समझते हैं कि हम अपने भिन्न भिन्न पंथोंके हैं। इसके समान दूसरी भयंकर भूल नहीं है। सर्वत्र हम अपने राष्ट्रके हैं, तत्पश्चात् अपने पंथके हैं। यही भाव हरएक मनुष्यको रखना उचित है। यदि मनुष्य यह भाव न रखे तो राष्ट्रहानि होना टल नहीं सकती। पाठक देख सकते हैं कि अथर्ववेदके इस वैदिक राष्ट्र-गीतके मनोरम्य मंत्रोंसे कैसा उत्तम उपदेश किया है। हमारी वर्तमान स्थितिमें ये मंत्रोंके उपदेश-रत्न ही हमारा उत्थान कर सकते हैं। इनका ही श्रवण मनन हमारा यश चारों दिशामें फैला सकते हैं। प्रिय पाठक ! आप इसी दृष्टिसे इन मंत्रोंका विचार करें और उनके उपदेशोंको आचरणमें परिणत करें।

यहांतकके लेखमें बतलाया गया कि मातृभूमिके वैदिक गीतकी साधारण बातें क्या हैं, तथा यह भी दिखाया गया कि अनेकोंमें भिन्नता रहते हुए भी एकताका साधन कैसे करना चाहिए और मातृभूमिकी सेवाके लिये सब मिलकर किस प्रकार तैयारी करें। पिछले लेखोंसे पाठकोंको निश्चय हुआ होगा कि इस वैदिक राष्ट्रगीतमें राष्ट्रकी उन्नतिके लिये उत्तम तत्वोंका समावेश हुआ है वैसे उत्तम अन्य किसी देशके राष्ट्रगीतोंमें नहीं है। तथापि आवश्यक यह है कि इस राष्ट्रगीतपर और भी कई बातोंसे विचार किया जाय।

जनतामें मातृभूमिके लिये प्रेम उत्पन्न होना चाहिए। यह प्रेम तभी हो सकता है जब कि देशके नदी पहाडों एवं अन्यान्य स्थानोंके प्रति आदर हो। आदर किसी विशेष महत्त्वके कारण से ही हो सकता है। यदि हम कहें कि इसका आदर करो तो हमारे कहनेसे कोई आदर न करेगा। किसी स्थानके प्रति आदर तभी हो सकता है जब उसका किसी महत्त्वकी घटनाके साथ संबंध हो या उसका किसी महात्माके साथ संबंध हो या अन्य किसी विशेष बातसे उसका संबंध हो। अतएव हमें यह देखना है कि वैदिक राष्ट्रगीत इसकी सूचना किस प्रकार देता है--

देवोंद्वारा बसाए हुए स्थान।

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते ।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः
कृणोतु ॥ (अथर्व० १२।१।४३)

हमारी प्रिय मातृभूमिके नगर देवों द्वारा बनाए गए हैं और विविध क्षेत्रोंमें सब मनुष्य विविध कर्म करते हैं उन सब स्थानोंको अपने मनमें धारण करनेवाली मातृभूमिको परमेश्वर सब दिशाओंमें हमारे लिये रमणीय बनावे।"

इस मंत्रके (अथर्ववेद पुर०) 'जिसके नगर देवों द्वारा बनाये गए हैं' वाक्य ध्यान दीजिए। जनताको विश्वास होना चाहिये कि हमारी मातृभूमिके नगर देवोंने बनाए हैं, हमारे नगरोंसे देवोंका संबंध है देवोंका देवत्व हमारे नगरोंमें रहता है। इस प्रकारका जीवित विश्वास यदि जनताके मनमें स्थान जमा ले तो निश्चय ही है कि अपने देशके बारेमें मनमें जागृति होगी।

इतिहासमें लेख है कि हमारी हिंदभूमिके विविध नगरोंका संबंध देवोंसे हुआ है। भगवान श्री रामचंद्रजीका संबंध अयोध्या और रामेश्वरसे है। श्रीकृष्णजीका संबंध गोकुल वृंदावन तथा द्वारकासे है। शंकरका संबंध कैलाससे है। हमारे देशके आबालवृद्ध जानते हैं कि इस प्रकार अनेक नगरोंसे देवोंका संबंध है। नदियां, तालाब सरोवर, पर्वत-गण गुफाएं आदि स्थानोंसे देवदेवताओंका या पुण्य पुरुषोंका संबंध रहा है। इसका पता मंत्रोंमें भी पाया जाता है और सब स्त्रीपुरुषोंको भी कथा-पुराण आदि पुस्तकोंसे मालूम हुआ है। गौरीशंकर और कैलासके पर्वत-शिखरोंका संबंध क्रमशः भगवान् शंकरसे है। नदीकिनारेके आश्रमका संबंध नर-नारायण ऋषि-मुनियोंसे है। मातृभूमिकी रक्षा करनेके लिए परम आवश्यक है कि यह संबंध देशके सब बांधवोंको विदित होवे।

कुछ अधिक शिक्षित लोग कहेंगे कि 'यह संबंधविश्वास निरा मिथ्या है। बिलकुल व्यावहारिक दृष्टिसे भी मातृभूमिके प्रति भक्ति हो सकती है।' बात बिलकुल ठीक है। पर व्यावहारिक बातके साथ ही यदि लोगोंके हृदयमें ऊपर लिखे संबंधोंका भी विचार आवे तो भी नुकसान कुछ न होगा। बालक अपनी मातापर प्रेम करता है। पर इसलिए नहीं कि माता सुंदर है, या माता दूध देती है। वह प्रेम करता है क्योंकि 'मातृदेवो भव' के अनुसार माता एक देवता है। बालकका माताके प्रति प्रेम इसी दिव्य भावनाके कारण रहता है। बालकका माताके प्रति और माताका बालकके प्रति अकृत्रिम प्रेम रहता है। बदलेकी आशा न रख जो प्रेम किया जाता है वही दिव्य प्रेम है वही निरपेक्ष अकृत्रिम प्रेम है। इसीलिए मातृप्रेम व्यावहारिक प्रेम नहीं है। मातृभूमिका प्रेम भी इसी प्रकार अकृत्रिम निःसीम आत्यंतिक और दिव्य होना चाहिए। अकृत्रिम प्रेम उत्पन्न होनेके हेतु उपर्युक्त मंत्रमें लिखा है कि अपने देशके नगरोंका संबंध देवोंसे है यह बात सब लोगोंको मालूम रहनी चाहिए और सब लोग यही सोचें कि हमारे नगर देवोंने बसाए हैं।

जो ज्ञानी लोग धार्मिक या व्यावहारिक किसी दृष्टिसे मातृभूमि की भक्ति करते हों, वे भले ही वैसा करें। उसमें किसीको एतराज नहीं। परंतु सब जनता उस कोटिकी ज्ञानी नहीं हो सकती। अतएव साधारण लोगोंमें विशेष प्रेम उत्पन्न होने इसी मार्गसे उनको मालूम होना आवश्यक है कि हमारे देशके स्थानोंका संबंध देवोंसे या वीरोंसे है।

प्रतापगढसे तथा सिंहगढसे शिवाजी महाराजका संबंध, उदयपुरसे महाराणा प्रतापसिंहका संबंध झांसीसे रानी लक्ष्मीबाईका संबंध गढमंडलसे रानी दुर्गावतीका संबंध परलीसे स्वामी रामदासका संबंध और इसी प्रकार भिन्न भिन्न इतिहासप्रसिद्ध स्थानोंसे ऐतिहासिक व्यक्तियोंका संबंध मालूम होना परम आवश्यक है। सिंहगढ या अन्य किसी स्थानका जब एक बार जिससे शिवाजी महाराजका संबंध रहा है यदि कोई भंग करे या अन्य इतिहासप्रसिद्ध व्यक्तिके स्थानका कोई अपमान करे तो उस दुःख धक्केसे संपूर्ण भारतके हृदयमें चोट पहुंचती है। संपूर्ण भारत उस दुःखका बदला चुकानेको तैयार हो जाता है। इसीमें राष्ट्रीय जागृतिका बीज है।

इसीलिए जब विदेशी सरकार दूसरे देशपर अपना अधिकार जमाती है तब उस देशके ऐसे इतिहासप्रसिद्ध स्थानोंको भुलानेमें लग रहती है। वह तत्पर रहती है कि ऐसे स्थानोंका लोगोंको पता भी न रहे। इसका भी मर्म यही है। मुसलमानोंने प्रयागका नाम अलाहाबाद रखा पाटलीपुत्रका नाम इस्लामाबाद रखा, मार्तंडको नष्ट करा बाद मार्तंडका धार्मिक पौराणिक पर कायम श्री शंकराचार्यके स्थानको तख्त-ए-सुलेमान कहा और इसी प्रकार इमारतों बाजारों और स्थानोंके नाम बदल दिये। इसका रहस्य हम ऊपर बतला चुके हैं।

जब अंग्रेजोंका राज हुआ तब उन्होंने हिमालयपरके गौरी-शंकरका नाम मौंट एवरेस्ट रख दिया और शिमला, डलहौसी आदि पर्वतशालोंके विचारके अंग्रेजी नाम बना दिये। इसी प्रकार अन्य कई स्थानोंका अंग्रेजीकरण हुआ।

मुसलमानोंने मंदिरों और मूर्तियोंका विध्वंस किया और बलात्कारसे लोगोंको अपने धर्ममें मिलाया। अब ईसाई लोग

धर्मान्तर करा रहे हैं। वे प्रायः प्रत्येक देवस्थान और तीर्थ स्थानमें जाकर रहकर उनकी निंदा करते हैं। इसका मात्र कारण यही है जिससे कि हमारा हमारे देशके स्थानोंका अभिमान नष्ट हो जाय।

विजेता मुसलमान रहें अंग्रेज रहें या जापानी रहें उनका सबका स्वभाव एकसा होता है। अतः आर्योंके हृदयसे मातृभूमिकी भक्ति नष्ट करनेके लिए वे जो कुछ कर सकते हैं वह करनेमें चूकते नहीं। मातृभूमिके विषयमें प्रेम और भक्ति उत्पन्न करनेके लिए अपने देशके तीर्थस्थानोंका प्रेमपूर्ण इतिहास जनताके हृदयमें सदैव जागृत रहना चाहिये। जबतक जनतामें मातृभूमिका प्रेम जागृत रहता तबतक विदेशी अत्याचारोंके पैर जम नहीं सकते। यही सार्वत्रिक नियम होनेसे सब देशोंके जाती हुई पराधीन जनताकी मातृभूमिके प्रेमके सब चिह्न उनकी विजेताका प्रयत्न करते हैं। संसारके इतिहासमेंसे पाठक इसकी पुष्टिके उदाहरण सहजता देख सकते हैं। पुनि देखोंतर हुए उन्हें इसप्रकारके मंत्रके अर्थका रहस्य विदित होगा।

यह तो स्वाभाविक ही है कि लोगोंको मालूम हो कि हमारे देशके नगर क्योंके बसाए हैं हमारे पूर्वजोंका उनसे जो संबंध है उसका स्मरण रहे बड़े बड़े महात्माओंके जन्मस्थानका स्मरण होनेसे न रहना तथा हो गया है। वेदमंत्रने इसप्रकारके राष्ट्रनीतिके इन भावोंका ज्ञान परिचय करा दिया है। अतएव पाठक इस मंत्रका जितना अधिक विचार करेंगे उतना ही उनके लिए अच्छा होगा।

इसप्रकारके मंत्रमें और दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—(१) आप अपने अपने राष्ट्रमें प्यारसे वास करें। और (२) उसके निवासियोंको चारों दिशाएं रमणीय मालूम हों। अपने ही देशकी चारों दिशाएं हमको रमणीय नहीं मालूम होतीं इसका कारण हमारी पराधीनता है। स्वतंत्र जातियोंको सब दिशाएं रमणीय मालूम होती हैं। यह स्पष्ट है कि सब दिशाएं रमणीय दिखनेके लिए स्वतंत्र होनेकी आवश्यकता है। वर्तमान पराधीनताके ही कारण यदि हम पश्चिममें आफ्रिकामें, दक्षिणमें आस्ट्रेलियामें पूर्वमें अमेरिकामें जाते हैं तो हमें रहनेको भी स्थान नहीं मिलता! तब ऐसे वे देश हमारे लिए रमणीय कैसे हो सकते हैं? इसका कारण यही कि हम पराधीन हैं। स्वतंत्र राष्ट्रके आर्योंका यह हाल नहीं है। स्वतंत्र देशके आर्य कहीं भी जाते उनके लिए रमणीय स्थान तैयार रहते हैं।

स्वार्थपर और परार्थपरता यह भेद ध्यानमें रखना चाहिये।

केवल नगरोंके प्रति अभिमानका भाव जागृत होनेका भाव जो इसप्रकारके मंत्रमें बतलाया गया है वह कैसे सभी आवश्यक है जो अपने देशकी प्रकारकी परिस्थितिसे प्रकट ही समझ सकते हैं। आज जो सात करोड़ भारतीय मुसलमान हैं वे सब भी पूर्व हिंदू ही थे। पर धर्मान्तरके कारण वे हिंदुओंके शत्रु हैं। इसीलिए काशी, रामेश्वर आदि पवित्र तीर्थस्थानोंके प्रति उनमें अभिमानका भाव नहीं है और हिंदुओंके साथ इन्होंने नाना प्रकारके कलह किये हैं। इनको उन्हें भारतवर्ष अपनी मातृभूमि नहीं मालूम होता। पाठक देख सकते हैं कि इस धर्मान्तरकी दृष्टिसे इस देशका कैसा भारी नुकसान हुआ है। धर्मान्तरके समयमें यदि प्राचीन आर्य हिंदुओंने अपनी पूरी रक्षा की होती, तो आज यह दशा न होती। इसकी इस गतकालकी दशाको ध्यानमें रखकर इस मंत्रका विचार करना चाहिये तब इस मंत्रकी महत्ता और उसके अमोघ उपदेशका रहस्य मालूम होगा।

ऋषि-ऋण।

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः।

सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥ ३९ ॥

'जिस मातृभूमिमें पूर्वके हुए भूतकृत ज्ञानी ऋषियोंने गौ और सप्त सत्र यज्ञ तथा तप करके इस (गाः) भूमिका उद्धार किया वह हमारी प्रिय मातृभूमि है।'

(भूतकृतः ऋषयः) हमारे इतिहास भूतकालका निर्माण करनेवाले तपस्वी ऋषि थे। देशवासी यदि इस बातका विचार करें तो उन्हें प्राचीन कालके दिव्य कर्मोंका विचार होगा। पूर्वकालके दिव्यत्वका एवं उत्तमताका विचार हो जायेगा और इच्छा होगी कि भविष्यकाल भी ऐसा ही उज्ज्वल होवे और इस इच्छासे प्रयत्न भी करेंगे। जिनका भूतकाल उज्ज्वल है उनका भविष्यकाल भी तेजस्वी होनेका निश्चय जानो।

हमारे प्राचीन पूर्वज जिन्होंने हमारे प्राचीन इतिहासको बड़े पुरुषार्थ किये अत्यंत तपस्वी और सद थे। इनका इतिहास उनकी लोगोंकी कार्यवाईसे मलिन नहीं है, किंतु महान् तपस्वी ऋषिमुनियोंके प्रयत्नसे उज्ज्वल हुआ है। यह विचार देशी भारी उत्तेजना देनेवाला है। इसी राष्ट्रभक्त सब अमोघ एक मत होकर वे सब राष्ट्रके प्रति प्रेम दर्शाने लगे देश होनेके लिए आवश्यक है कि इनको

शासन मनमें स्थिर हो जावे। हमारे विचारसे इसमें दो मत हो नहीं सकते।

जिन्होंने धर्मान्तर किया है लोग भी अपने ही हैं। वे उन्हीं प्राचीन ऋषियोंके वंशज होते हुए भी धर्मान्तरके कारण उन्हें अपने प्राचीन देदीप्यमान इतिहासके विषयका अभिमान नष्ट हो गया। इससे इनकी बात छोड दें तब अन्यके सिद्धान्तका कोई एकतर नहीं कर सकता।

ऊपरके विवेचनसे विदित होता है कि यह मातृभूमिका वैदिक राष्ट्रगीत कितनी अनेकानेक उच्च भावोंके मनमें अपनी मातृभूमिके प्रति आदर बढाता है। इस अति प्राचीन राष्ट्रगीतके प्रति पाठकोंके मनमें निःसंदेह आदर उत्पन्न होगा।

प्राचीन लोग यज्ञ और तपसे राष्ट्रकी उन्नति और राष्ट्रकी जागृति करते थे। वर्तमान संकुचित यज्ञपद्धतिसे कोई भी प्राचीन यज्ञ और तपकी कल्पना नहीं कर सकता। इस पद्धतिका वर्णन हम स्वतंत्र लेखमालिकामें दिखावेंगे, अतएव यहां उसके बारेमें विवेचन न किजिये। पहलेके वैदिक कालके यज्ञ और तप आजकलके समान छोटेसे मंडपोंमें नहीं हो सकते थे। उनके यज्ञक्षेत्रका विस्तार कई कोसों तक रहा करता था। यह एक, पक्ष समझा देगी कि प्राचीन कालके यज्ञोंका स्वरूप बिलकुल भिन्न था। राष्ट्रीयताका विचार ऋषियोंके अथक परिश्रमसे जनतामें जारी हुआ। इसीलिए ऊपरके मंत्रोंमें "भूतकृत ऋषि" कहकर उनका सन्मान किया है। इसीके संबंधमें निम्नलिखित अथर्ववेदका मंत्र देखिये—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥
(अथर्ववेद १९।४१।१)

"लोगोंका कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले आत्मज्ञानी ऋषियोंने प्रारंभमें तप किया उससे राष्ट्र, बल और ओज हुआ अतएव देवोंको चाहिए कि इसे नमन करें।

इसमें बतलाया है कि राष्ट्रीयताकी कल्पना ऋषियोंके श्रमसे कैसे उत्पन्न हुई। पाठक देख लें कि ऋषि 'भूतकृत' 'कितने प्रकार थे। राष्ट्रीय भाव ऋषिकृत है। इसे भुलनेका प्रसंग हरएकको बचना चाहिए। ऋषियोंने राष्ट्रनिर्माणमें जैसे प्रयत्न किये वैसे ही अन्य पूर्वजोंने भी किये। उनका स्मरण करना भी आवश्यक है। आगेके मंत्रमें उन पूर्वजोंका स्मरण है—

१ (अ. ५. का. प. १२)

देश-स्मरण।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥

'हमारी जिस मातृभूमिमें हमारे प्राचीन पूर्वजोंने पराक्रम किया और जिसमें देवोंने असुरोंको भगा दिया; जो गौओं घोडों और पक्षियोंको उत्तम स्थान देती है, वह हमारी मातृभूमि हमें ऐश्वर्य और तेज देवे।'

हमारे प्राचीन कालके पूर्वजोंने इस भूमिमें बडे बडे प्रयत्न किये अनेक चढाइयां कीं अनेक लडाइयां कीं नयीनयी नीतिके युद्ध किये और युद्धके मैदानमें लडाइयां कीं इतना सब काम करके अपनी मातृभूमिका नाम उज्ज्वल किया। वह हमारी मातृभूमि आज हमने कैसी रखी है? हमारे पूर्वजोंका प्राचीन इतिहास हमारी दृष्टिके सामने है। क्या हम लोगोंका वर्तमान उस इतिहासके लायक है? उन पराक्रमी पूर्वजोंके वंशज होनेका हमें कुछ तो अभिमान चाहिए। उनकी कीर्तिमें शोभा देने लायक हमें कुछ भी तो काम करना चाहिए। पाठक गण! विचार कीजिये। हमारा वैदिक राष्ट्रगीत क्या कहता है यह सुनिये तो।

जिस देशसे प्राचीन समयमें देवोंने असुरोंको युद्धमें पराजित कर भगा दिया और हम लोगोंके लिये यह देश स्वतंत्र रखा उसी देशमें हम लोगोंने पराधीनताकी कालिमा लगा ली! कैसे शोककी क्या!! पाठक ही विचार करें कि राष्ट्रगीत हमें किन बातोंका स्मरण दिलाता है। प्राचीन पूर्वजोंने जो किया और क्यों किया। ये बातें केवल इसी अभिमान और गर्वके लिए नहीं कही गई थीं। उनके कहनेका उद्देश्य यह होता है कि उन पूर्वजोंके उज्ज्वल चरित्रोंसे हमें स्फूर्ति मिले और हम भी कुछ वैसा ही कार्य करें। हम लोगोंको चाहिए कि उस उद्देशकी पूर्ति हम लोगोंसे कहां तक हो सकी है यह देखें और उस गत कार्यको पूरा करनेका निश्चय करें।

हमारा यह वैदिक राष्ट्रगीत हमारे धर्मग्रंथोंमें लिखा हुआ है। इसके जैसा राष्ट्रगीत दूसरे किसी धर्मग्रंथोंमें तो है ही नहीं, पर इस प्रकारके अन्य किसी ग्रंथमें भी नहीं है। ऐसा होते हुए भी हमारे देशके लोग राष्ट्रकी उन्नतिके विषयमें लापरवाह हैं और अन्य बहुतसे देशोंके लोग राष्ट्रके हितके लिये तत्पर हैं। इस दशाको देखकर ऐसा मालूम होता है कि हमारा राष्ट्रगीत इतना विस्तृत है। इसमें उदात्त विचारोंके

अप्रतिम विचारोंसे परिपूर्ण भरे हुए दिव्य मंत्र हैं। ऐसा होते हुए भी हमारे साहित्यमें राष्ट्रीयताका भाव ही नहीं और वह भाव हमारे लिए परकीय है इस प्रकारकी कल्पना कइयोंके मनमें है। परन्तु वस्तुस्थिति क्या है वैसा हमने पाठकोंके सम्मुख रख दी है। जहां उपकरण है वहां विकास नहीं और जहां विकास है वहां उपकरण नहीं ऐसी यह बात यहां चरितार्थ होती है। और देखिये—

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः॥
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः॥ १० ॥

"जिस भूमिको मापा अश्विनी कुमारोंने की, जिस भूमिमें भगवान् विष्णुने पराक्रम किया, शचीपति इन्द्रने जिसे अपने लिए शत्रुरहित किया, वही हमारी मातृभूमि जैसे माता अपने बालकको दूध देती है वैसे ही, मुझे उपभोगके पदार्थ देवे।"

इस मंत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें बतलाया है कि देवोंने इस मातृभूमिके लिये क्या क्या किया। अश्विनीकुमारोंने देवदेवताओंके क्षेत्रोंकी माप की, देशोंकी सीमाएं निश्चित कीं, जमीन नाप की और इस प्रकार मातृभूमिकी सेवा की। भगवान विष्णुने जो पराक्रम किये वे सबको विदित ही हैं। इन्द्रने तो युद्ध किये और इस मातृभूमिको शत्रुके कांटोंसे छुडाया। इस प्रकार सम्पूर्ण देवताओंने भी इस मातृभूमिके लिए जो कुछ बन सकता है किया। उसमें कुछ कसर न रखी। देव और असुरोंके युद्धमें हजारों देवोंने इस मातृभूमिकी रक्षाके लिए युद्धक्षेत्रमें अपना बलि-दान किया और इस भूमको शत्रुरहित कर मान्य प्राप्त किया। यही देवोंका मत हमें भी समझना चाहिए। देवोंने निश्चित किए हुए मार्गका ही निश्चय हम लोग भी करें। यह जानकर कि हम जिनके लिये रहते तथा उन्होंने उसके युद्धोंमें क्या क्या किया हमें उनके जैसे पुरुषार्थ करनेका प्रयत्न करना चाहिए।

अथर्ववेद देवताके ही जैसा दिखलाया, देवताका जीवनका है वैसे ही तथा दिया गया। इन बातोंके मुख्य हेतुके लिए हमें प्रयत्न करना चाहिए। लोकोंको जानना चाहिए कि हम सम्मुख रहकर यहां कर रहे हैं या नहीं। इस देवताके बारेमें एक और मंत्र इसमें कहा है—

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥ ७ ॥

"इस जिस मातृभूमिकी रक्षा आलस्य न करके और प्रमाद न करते करते आए हैं वह मातृभूमि हम लोगोंको तेज और मधुर अन्न आदि खानेके पदार्थ देवे।"

(अ-स्वप्ना देवाः) आलस्य न करते हुए देव इस भूमिकी रक्षा करते आए हैं। प्रारंभ न कर ध्येय पर कार्यको वे देशके सम्मुख रख होनेसे आलसी लोगोंके साथ न रहे चाहिए। न करते हुए, निश्चिंत न बैठे हुए इन लोगोंके लिए जिन देवोंने ऐसा भारी परिश्रम किया, उनके इस पवित्र कार्यके अनेकोंने लोगोंने क्या किया? उनका कार्यस्वरूप भाव क्या इन लोगोंने समझा है? और कुछ नहीं तो क्या इन लोगोंने कुछ चरित्र कार्य करके भी निश्चय किया है? क्या न भूलें कि इन बातोंपर विचार करनेका समय आ गया है।

इसके मन्त्रमें यह भी कहा है कि (देवा अप्रमादम्) देव आलसी न करके रक्षा करते हैं। आलसी न करके उन्होंने किया इसीसे तो देव बंधनसे छुटकारा पा सके। उन्होंने अनेक बार देवोंको निरुत्साहसे पराजितपनसे देखते देखा जाता। इन्द्र, अग्नि और इनके जैसे अन्य देवोंने तो प्रयत्नमें कुछ भी कसर न रखी। किन्तु ऐसे अनेक आत्मघातक देवोंके पुरुष ऐसे पराक्रमी लोगोंको अपनी स्वाधीनता प्राप्त हुई और असुरोंको भग दिया। आलसी न कर इन्होंने अंत कार्यको पूरा करनेकी दीक्षा देनेसे हमें ही। क्या हमें उनका अनुकरण न करना चाहिये? स्वदेशके कार्यमें हम लोगोंकी इतनी क्या देरी है जैसी रखनी चाहिए? हम लोग फिर उनके पद पद पर क्या भारी भूलें नहीं कर रहे? वास्तवमें राष्ट्रधर्मके लिए आत्मसमर्पण करनेको हमें सदैव तैयार रहना चाहिये। किन्तु आत्मसमर्पणका ध्यान अनेक उपयोगी और ध्यान न देनेवाले कितने ही आज हममें हैं। यदि वाचक स्वयं ही इस बातको देखेंगे तो उन्हें विदित हो जायेगा कि हमें क्या करनेकी आवश्यकता है।

विद्वानोंका स्थान।

ऋषियोंका राष्ट्रधर्म हम देख चुके। देवोंने क्या किया सो भी देख लिया। हमें अब देखना है कि उस समयके ज्ञानी पुरुष, बुद्धिमान पुरुषोंने कैसा कार्य करके उसकी सेवा की—

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद्यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे॥ ८ ॥

" हमारी जो मातृभूमि प्रथमारंभमें समुद्रके नीचे थी और जिसकी सेवा मननशील विद्वानोंने अनेक प्रकारके कौशलसे करके की वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें तेज और बल धारण करे। "

इस मंत्रका ' यां मायाभिः अन्वचरन् मनीषिणः ' यह भाग प्रस्तुत लेखके प्रतिपाद्य विषयकी दृष्टिसे अतिशय महत्त्व रखता है। इसका ' माया ' शब्द अतीव महत्त्वका है। इस माया शब्दका अर्थ आजकलका मायावाद नहीं है। माया शब्दके कई अर्थ हैं— (१) कुशलता कामकी कुशलता चौकसीसे किया हुआ कार्य। कौशल काम चातुर्य (२) कपट धर्मसेन जिसकी आवश्यकता राजनीतिमें है चातुरी चपलता दैवी लिया। ये सब अर्थ माया शब्दके ही हैं। इन दोनों अर्थोंमें माया शब्द मंत्रमें आया है। (मनीषी) मननशील लोग समयको देखकर कुशलतासे चतुराईसे अथवा राजनीतिसे विजयोंसे मातृभूमिकी सेवा करते हैं। यही इस मंत्रका आशय है।

इस प्रकार देव ऋषि और अन्य विद्वानोंने हमारी मातृभूमिकी सेवा की है। जो मार्ग ऋषि देव और अन्य बड़े बड़े पुरुषोंने दिखा दिया उसीसे हमें आक्रमण करना चाहिए उसी रस्तेसे हमें जाना चाहिए। तभी हमारी जय होगी। इसपर तीन पथ हैं, ऋषि-पथ देव-पथ और अन्य प्राणियोंका पथ। हमें इन पथोंको देखना चाहिये और उनसे सुख होनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

इस प्रकार वैदिक राष्ट्रगीतके मंत्र हमारे राष्ट्रीय कर्तव्यका कैसा ज्ञान-प्रकाश नयी विभूतियोंसे दिखाते हैं। हमारी वर्तमान राष्ट्रीय स्थिति पर वेदोंके आर्य-शिक्षा देखोंसे उसकी उन्नति और अन्य विद्वानोंसे उसे बढ़ाना। इस विवेचनसे यह हमारे पास आता है। इसीसे हमें उसे अवश्य समझना चाहिये। उसे समझना हमारा अधिकार व कर्तव्य ही है। यदि हम इन बातोंको नहीं समझेंगे तो पतन और दुख हमें प्राप्त होंगे। इसलिए यह बात अच्छी तरह स्मरण रखनी चाहिए।

पाठक विचार करें इस मंत्रके उपदेशानुसार अपनी तरह ज्ञान है और देखें कि हमारा धर्म वे विद्वान और उत्तम राष्ट्रीय धर्मका उपदेश करता है, और वे उसके अनुसार आचरण करनेके लिए तत्पर हों। हमारी राष्ट्रको उत्तम राष्ट्रोंमें उत्तम स्थानपर पहुंचानेकी जवाबदेही हमपर ही है। उसे निभानेके लिए हमें सदैव तैयार रहना चाहिए।

मंत्रोंकी संगति।

यहां इस विवरणको समाप्त करते हुए हमें इस सूक्तके मंत्रोंकी संगति देखनेका विषय थोडासा कथन करना चाहिये। इस सूक्तमें कुल १२ मंत्र हैं। इनमें सबसे प्रथमके मंत्रमें मातृभूमिकी धारणा किन गुणोंसे होती है यह बात कही है इसलिए यह मंत्र सबसे अधिक महत्त्वका है। प्रत्येक राष्ट्रभक्तको उचित है कि वह इस मंत्रको देख विचारे मनन करे और इन गुणोंको अपने अंदर बढ़ाकर अपनी मातृभूमिकी सेवा करनेके लिये सुयोग्य बनावें

द्वितीय मंत्रमें राष्ट्रके लोगोंके अन्दर आपसकी अभेद एकता चाहिए तथा आपसमें प्रेम ही चाहिए, इत्यादि जो महत्त्वपूर्ण उपदेश कहा है वह सदा स्मरण करने योग्य है। तृतीय और चतुर्थ मंत्रमें सामान्यतया भूवर्णन है परंतु उसमें (कृष्टयः सम्बभूवुः) किस रीतिसे कृषिकर्मका जो वर्णन है वह सनातन महत्त्वका विषय है।

पंचम मंत्रमें पूर्वोक्त ७ शब्दों (पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे) का स्मरण करनेकी जो सूचना दी है वह आजकलके लोगोंसे कभी भूलना संभव नहीं। जो अपने पूर्वजोंका महत्त्वपूर्ण इतिहास नहीं जानते वे कि उन्नतिके मार्गमें आगे बढ़ नहीं सकते। इस कारण यहां यह उपदेश दिया है। छठे मंत्रमें भी (मनुष्य भूमि अश्मान [illegible]) आत्मसमर्पित होकर मातृभूमिकी रक्षा करनेका महत्त्वपूर्ण उपदेश है। इसका पंचम मंत्रके साथ संबंध देखकर पाठक बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं।

मंत्र ६ और ७ में मातृभूमिका मनोहर वर्णन है। अष्टम मंत्रमें अहमहमिका संस्थाओंके संघातसे सर्वत्र [illegible] होकर सब प्रजाजनोंके अन्तःकरण ज्ञानविज्ञानके द्वारा शान्तिसे [illegible] का वर्णन है। दशम मंत्रमें इन्द्र और विष्णु परमात्माओंका जो वर्णन है, वह ५ वें और ७ वें मंत्रके साथ मिलाकर पढ़ना चाहिए, तब उसकी संपूर्ण [illegible] ध्यानमें आ सकती है। ११ वें मंत्रमें (अजीतो अहतो पृथिवीमहम् अध्यष्ठाम्) में आक्रमित होकर मातृभूमिका अभिमान [illegible] यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण राष्ट्रके प्रत्येक मनुष्यमें अवश्य होना चाहिए ऐसा जो सूचित किया है वह विशेष ही उत्तम उपदेश है।

१२ वें मंत्रमें 'माता भूमि और उसका मैं पुत्र हूं' यह मातृभूमिभक्ति और वत्सल प्रेम सूचित करनेवाला वाक्य पढकर प्रत्येक पाठक प्रेमसे उल्लसित होगा इसमें संदेह नहीं है। १३ वें मंत्रमें यज्ञका संदेश पाठक देखें। १४ वें मंत्रमें वीरोचित भाव बडी उत्तमतासे बतानेवाला है। 'जो हमारा घात करेगा उसका घात हम करेंगे और नाश करेंगे' इसे पढकर किसमें वीरता न बढेगी? १५ वें मंत्रमें एकही मातासे उत्पन्न हुए पांच मानवजातियोंकी अभेद्य एकताका सुंदर वर्णन है। १६ से १८ तकके मंत्रोंमें (भूमि विचरा अनुचरेम) हम मातृभूमिकी प्रतिदिन सेवा करेंगे यह प्रतिज्ञा सबको अपने मनमें धारण करने योग्य है। क्या कभी ऐसी प्रतिज्ञा करनेवाले मातृभूमिकी उपेक्षा करेंगे?

१९ वें मंत्रसे ३१ वें मंत्रतक मातृभूमिका सुंदर वर्णन अलंकारसे भरपूर भरा हुआ है। अग्नि जलमें हवन, पृथ्वीका गन्धगुण, वनस्पतियोंकी उत्तमता, अग्निकी महत्ता आदि वर्णन देखनेसे सचमुच हृदयका आनंद बढता है। यथा ३१ वें में (परिपन्थी वध) बटमारोंका वध आदि द्वारा शासन करनेकी सूचना है। मंत्र ३३ वें में सूर्यप्रकाशसे नेत्रादि इंद्रियोंकी उत्तम पालना करनेका महत्त्वपूर्ण संदेश दिया है। ३४ वें मंत्रमें अहिंसा और ३५ वें मंत्रमें मर्मच्छेदन न करनेका उपदेश विलक्षण युक्तिके रूप दिया है।

३६ वें मंत्रमें छः ऋतुओं दो अयनों और अहोरात्रका साथ कालचक्रकी परिपूर्ण कल्पना बता रहा है। ३७ वें मंत्रमें इन्द्रवृत्रयुद्धके मिषसे अपनी मातृभूमिके शत्रुओंको दूर करनेकी सूचना बडी मननीय है। ३८ वें मंत्रमें सोमयज्ञका बडाही मनरंजक वर्णन है। अन्न और पानसमृद्धिके बढानेवाले ऋषियोंके अपूर्व कृत्यसमारंभका श्रद्धापूर्ण वर्णन ३९ वें मंत्रमें है।

४० वें और ४४ वें मंत्रमें धनकी कामना प्रमुख स्थान रखती है। ४१ वें गायन नर्तनका आरम्भ और आनन्दके साथ समरघोषका वर्णन है। यह राष्ट्रीय जीवनकी वैदिक ठाठ बता रहा है। ४२ वें मंत्रमें मातृभूमिको नमन किया है।

४३ वें मंत्रमें अन्यके राष्ट्रमें देवोंद्वारा बनाये, अपने और पराये नगरोंके विषयमें पूज्यभाव धारण करनेका उपदेश है। अपने लिये समृद्धि तथा विकास रमणीय होनेका आशीर्वाद भाव इसीमें पाठक मननपूर्वक देख सकते हैं।

४५ वां मंत्र 'नानाधर्मोंवाले और नानाभाषावाले विभिन्न जनोंकी एकता राष्ट्रभक्तिसे होगी' यह महत्त्वपूर्ण संदेश देता है, इसलिए यह मंत्र अनेक भेदोंसे विभक्त लोगोंको प्यार करनेके लिये आवश्यक। राष्ट्रको बढानेवाले नेताओंके मनन योग्य है। ४६ वें मंत्रमें अहिंसक जीवोंके नाश करनेकी न आवे ऐसा कहकर पशु न बढानेका उपदेश अपूर्व ढंगसे किया है।

५० वें मंत्रमें सार्वजनिक स्थानपर सबका समान अधिकार होनेकी घोषणा की है। पुण्यात्मा और पापात्मा सब समान अधिकारसे चलते हैं। इस सार्वजनिक स्थानमें सब मनुष्य जा सकता है। वहां एकको आना और दूसरेको प्रतिबंध नहीं हो सकता।

मातृभूमिका पापी और धर्मात्मा पुत्रोंपर समान है, यह मंत्र ४८ में देखने योग्य है। ४९ से ५१ के तीन मंत्रोंमें पशुओं पक्षियों आदिकोंका वर्णन है। मंत्र ५२ और ५३ में प्रिय धाम और मेधा की प्रार्थना की गयी है।

५४ वें मंत्रमें अपने विजयपक्षकी महत्त्वाकांक्षा है। ५५ वें मंत्रमें चारों दिशाओंमें सबसे फैलनेका संदेश है। और ५६ वें मंत्रोंमें सार्वजनिक सभाओंमें मातृभूमिके विषयमें शुभ भाषण करनेका उपदेश है। ५७ वें मंत्रमें घोडेकी तैयारीका वर्णन है। मंत्र ५९ से ६१ तक पवित्रताका उपदेश है। ६२ वें मंत्रमें मातृभूमिके हितके लिए आत्मसमर्पण करनेका आदेश है और ६३ वें मंत्रमें सब प्रजाओंको सुप्रतिष्ठित करनेका आदेश देकर सूक्तकी पूर्णता की है।

पाठक यह संगति देखकर इस सूक्तका मनन करें और बल प्राप्त करके यशके भागी बनें।

—•—

यक्ष्मरोगनाशन।

[२]

(ऋषिः—भृगुः। देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः २१-३३, मृत्युः)

नडमा रोह न ते अत्र लोक इदं सीसं भागधेयं त एहि।
यो गोषु यक्ष्मः पुरुषेषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकमधराङ् परेहि ॥१॥
अघशंसदुःशंसाभ्यां करेणानुकरेण च। यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि ॥२॥
निरितो मृत्युं निर्ऋतिं निररातिमजामसि।
यो नो द्वेष्टि तमद्ध्यग्ने अक्रव्याद् यमु द्विष्मस्तमु ते प्र सुवामसि ॥३॥
यद्यग्निः क्रव्याद् यदि वा व्याघ्र इमं गोष्ठं प्रविवेशान्योकाः।
तं माषाज्यं कृत्वा प्र हिणोमि दूरं स गच्छत्वप्सुषदोऽप्यग्नीन् ॥४॥

अर्थ— (नडं आरोह) नडपर चढ (न अत्र लोकः ते) तेरे लिये यहां स्थान नहीं है। (इदं सीसं ते भागधेयं) यह सीसा तेरा भाग है। (एहि) तू इधर आ। (यः गोषु यक्ष्मः) जो गौओंमें क्षयरोग है (पुरुषेषु यक्ष्मः) जो मनुष्योंमें रोग है (तेन साकं त्वं अधराङ् परा इहि) उस रोगके साथ तू नीचेकी ओरसे जा ॥ १ ॥

(अघशंस-दुःशंसाभ्यां करेण अनुकरेण च) पापी और दुष्टके साथ उस कृति और अनुकरणके द्वारा (सर्वं यक्ष्मं मृत्युं च) सब रोग और मृत्युको भी (इतः निः अजामसि) यहांसे दूर करते हैं ॥ २ ॥

(इतः मृत्युं निः) यहांसे मृत्युको (निर्ऋतिं निः अरातिं निः अजामसि) दुर्गति और शत्रुको दूर भगा देते हैं। हे अग्ने! (यः नः द्वेष्टि) जो हमारा द्वेष करता है (तं अद्धि) उसको खा अर्थात् उसका नाश कर। (यं उ द्विष्मः) जिसका हम द्वेष करते हैं (तं उ ते प्रसुवामः) उसको तेरे पास भेजते हैं ॥ ३ ॥

(यदि क्रव्याद् अग्निः) यदि मांस खानेवाला अग्नि अथवा (यदि वा अन्योकाः व्याघ्रः) यदि घरसे रहित व्याघ्र—हिंसक— (इमं गोष्ठं प्रविवेश) इस गोस्थानमें प्रविष्ट हुआ हो (तं माषाज्यं कृत्वा) उसे माष—घी—युक्त बनाकर (दूरं प्रहिणोमि) दूर भगा देता हूं (सः अप्सुषदः अग्नीन् गच्छतु) वह जलोंमें रहनेवाले अग्नियोंके पास जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ— यह रोग मनुष्योंके स्थानमें न रहे। किसी दूरके स्थानपर वह चला जावे। जो रोग मनुष्यों और पशुओंमें हो वह एकदम दूर होवे। सब मनुष्य और पशु नीरोग और स्वस्थ हों ॥ १ ॥

सब रोग पापियों और दुराचारियोंके साथ दूर चले जावें। वैसी ही कृति और अनुकृति होवे कि जिससे सब रोग दूर हो सकें ॥ २ ॥

यहांसे मृत्यु, दुःख, दरिद्रता और शत्रु दूर हों। हम सब इनका द्वेष करते हैं इसलिये वे हमारे पास न रहें ॥ ३ ॥

हिंसक अग्नि यदि किसीके घरमें प्रविष्ट हुआ हो अर्थात् यदि किसीके घर किसीकी मृत्यु हुई हो तो वहां माषाज्यविधि पूर्वक यज्ञ करके वह मृत्युजन्य दुःख दूर करे अर्थात् मृत्यु फिर वहां न आवे ॥ ४ ॥

यत् त्वा क्रुद्धाः प्रचक्रुर्मन्युना पुरुषे मृते । सुकल्पमग्ने तत् त्वया पुनस्त्वोद्दीपयामसि ॥५॥
पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः पुनर्ब्रह्मा वसुनीतिरग्ने ।
पुनस्त्वा ब्रह्मणस्पतिराधाद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥६॥
यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश नो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम् ।
तं हरामि पितृयज्ञाय दूरं स घर्ममिन्धां परमे सधस्थे ॥७॥
क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः ।
इहायमितरो जातवेदा देवो देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥८॥
क्रव्यादमग्निमिषितो हरामि जनान् दृंहन्तं वज्रेण मृत्युम् ।
नि तं शास्मि गार्हपत्येन विद्वान् पितॄणां लोकेऽपि भागो अस्तु ॥९॥

अर्थ-(मृते पुरुषे) मनुष्य मरनेपर (यत् क्रुद्धाः मन्युना त्वा प्रचक्रुः) जो क्रुद्ध होकर क्रोधसे तेरा आवाहन करते हैं, हे अग्ने! (त्वया तत् सुकल्पं) तेरे द्वारा वह कल्याण ठीक होनेवाला है। अतः (पुनः त्वा उत् दीपयामसि) फिरसे तुझे प्रदीप्त करते हैं ॥ ५ ॥

हे अग्ने! (आदित्याः रुद्राः वसवः) आदित्य रुद्र और वसु (वसुनीतिः ब्रह्मा ब्रह्मणस्पतिः) धन देनेवाला ब्रह्मा और ब्रह्मणस्पति (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय त्वा पुनः आधात्) सौ वर्षकी दीर्घ आयुके लिये तुझे पुनः स्थापित करते हैं ॥ ६ ॥

(यः क्रव्यात् अग्निः) जो मांसभक्षक अग्नि (इतरं जातवेदसं पश्यन्) दूसरे जातवेदस् अग्निको देखता हुआ (नः गृहं प्रविवेश) हमारे घरमें प्रविष्ट हुआ है (तं पितृयज्ञाय दूरं हरामि) उस अग्निको पितृयज्ञके लिये दूर ले जाता हूं। (सः परमे सधस्थे घर्मं इन्धां) वह परम स्थानमें उष्णता बढावे ॥ ७ ॥

[क्रव्यादं अग्निं दूरं प्रहिणोमि] मांसभक्षक अग्निको दूर ले जाता हूं। वह [रिप्रवाहः यमराज्ञः गच्छतु] दोष दूर करनेवाला यमराजके पास चला जावे। [इह अयं इतरः जातवेदाः] यहां यह दूसरा जातवेद अग्नि है वह [प्रजानन् देवः देवेभ्यः हव्यं वहतु] जानता हुआ देव देवोंके लिये हवनीय भाग ले जावे ॥ ८ ॥

[जनान् वज्रेण मृत्युं दृंहन्तं] लोगोंको वज्रके द्वारा मृत्युके प्रति ले जानेवाले [क्रव्यादं अग्निं इषितः हरामि] मांसभक्षक अग्निको इच्छापूर्वक ले जाता हूं। (विद्वान् गार्हपत्येन तं निशास्मि) जानता हुआ मैं गार्हपत्य द्वारा उसका शासन करता हूं। उसका (पितॄणां लोके भागः अपि अस्तु) पितरोंके लोकमें भाग भी हुआ करे ॥ ९ ॥

भावार्थ- जिस घरमें कोई मनुष्य मर गया तो वहां स्वयं मानसिक चिन्ता और कष्टके कारण क्रोध उत्पन्न होता है उससे आगे किसी प्रकार भय न हो। फिर अग्नि प्रदीप्त करनेपर सर्वत्र शान्ति हो जावे ॥ ५ ॥

घरमें यज्ञके लिये जो अग्नि स्थापित करते हैं उनसे हम कामनाओंको भी प्राप्त होवें आयु भी हमें अच्छी होवे।

एक मांसभक्षक अग्नि है और दूसरा यज्ञका अग्नि है। मांसभक्षक अग्नि पितृयज्ञ करे और उस यज्ञसे पितरोंके पास स्थानमें ले जावे ॥ ७ ॥

मांसभक्षक अग्नि मनुष्यस्थानसे दूर रहे अर्थात् श्मशान वहां मनुष्यस्थानसे दूर होवे। परंतु जो यह दूसरा उत्तम अग्नि यजन करनेके लिये स्थापन किया जाता है वह हवनद्वारा देवोंकी तृप्ति करता रहे अर्थात् वह मनुष्योंको सुखी करे ॥ ८ ॥

मनुष्योंके ऐश्वर्य हरण कर लानेवाले अग्निके क्रोधको अग्नि गार्हपत्य अग्निसे अर्थात् विद्वानके उपदेशसे शान्त करते हैं। इस मंत्रका अर्थ संशयास्पद है। एक मंत्रका भाव और दूसरेका भाव होती है ॥ ९ ॥

क्रव्यादमग्निं शशमानमुक्थ्यं प्र हिणोमि पथिभिः पितृयाणैः ।
मा देवयानैः पुनरा गा अत्रैवैधि पितृषु जागृहि त्वम् ॥१०॥ (७)
समिन्धते संकसुकं स्वस्तये शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।
जहाति रिप्रमत्येन एति समिद्धो अग्निः सुपुना पुनाति ॥११॥
देवो अग्निः संकसुको दिवस्पृष्ठान्यारुहत् । मुच्यमानो निरेणसोऽमोगस्माँ अशस्त्याः ॥१२॥
अस्मिन् वयं संकसुके अग्नौ रिप्राणि मृज्महे ।
अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥१३॥
संकसुको विकसुको निर्ऋथो यश्च निस्वरः । ते ते यक्ष्मं सवेदसो दूराद् दूरमनीनशन् ॥१४॥
यो नो अश्वेषु वीरेषु यो नो गोष्वजाविषु । क्रव्यादं निर्णुदामसि यो अग्निर्जनयोपनः ॥१५॥

अर्थ—([illegible] क्रव्यादं अग्निं) [illegible] अग्निको (पितृयाणैः पथिभिः प्रहिणोमि) पितृयानके मार्गोंसे मैं भगाता हूं। (देवयानैः पुनः मा आगाः) देवयानके मार्गोंसे पुनः यहां मत आ। (अत्र एव एधि) यहीं रह (त्वं पितृषु जागृहि) तू पितरोंमें जागता रह ॥ १० ॥

(शुद्धाः [illegible]) शुचि पवित्र और शुद्ध होकर (स्वस्तये संकसुकं समिन्धते) कल्याणके लिये [illegible] अग्निको प्रदीप्त करते हैं। वह (रिप्रं जहाति) [illegible] भगाता है और (एनः अति एति) पापका अतिक्रमण करता है। (समिद्धः सुपुना अग्निः पुनाति) प्रदीप्त हुआ [illegible] अग्नि सबको पवित्र करता है ॥ ११ ॥

(संकसुकः देवः अग्निः) [illegible] अग्नि देव (दिवः पृष्ठानि आरुहत्) द्युलोकपर चढ़ता है, वह (अस्मान् एनसः निर्मुच्यमानः) हम सबको पापसे छुड़ाता हुआ (अ-शस्त्याः अमोक्) [illegible] मुक्त कर चुका है ॥ १२ ॥

(अस्मिन् संकसुके अग्नौ) इस [illegible] अग्निमें (वयं रिप्राणि मृज्महे) हम सब अपने दोषोंको शुद्ध करते हैं। इससे (यज्ञियाः शुद्धाः अभूम) हम पवित्र और शुद्ध होते हैं। वह [नः आयूंषि प्र तारिषत्] हमारे आयुष्य बढ़ावे ॥ १३ ॥

(संकसुकः विकसुकः) [illegible] और [illegible] [निर्ऋथ या [illegible]] [illegible] और [illegible] अग्नि (ते ते यक्ष्म) तेरे रोगको ([illegible] दूराद् दूरं अनीनशन्) [illegible] दूरसे दूरतक नाश करें ॥ १४ ॥

(यः नः अश्वेषु, यः वीरेषु) जो हमारे घोड़ों और वीरोंमें (यः नः गोषु अजाविषु) जो हमारी गौओंमें और भेड़बकरियोंमें (जनयोपनः अग्निः) लोगोंको कष्ट देनेवाला अग्नि है, उस [क्रव्यादं निः नुदामसि] मांसभक्षक अग्निको हम दूर करते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ—[illegible] मार्गसे [illegible] मांसभक्षक अग्नि है और देवोंके [illegible] मार्गपर [illegible] अग्नि है ॥ १० ॥

मनुष्य शुद्ध पवित्र और मलरहित होकर अपने कल्याणके लिये इस अग्निको प्रदीप्त करते हैं। इससे सब दोष दूर होते हैं पाप दूर होता है और पवित्रता बढ़ती है ॥ ११ ॥

यह अग्नि [illegible] होकर [illegible] [illegible] करती है, और हमें पापसे बचाती है और [illegible] हमारी रक्षा करती है ॥ १२ ॥

इस अग्निमें हम हवन करते हैं और हम अपने दोषोंको दूर करते हैं। इससे हम शुद्ध, पवित्र और [illegible] बनकर अपनी आयुको बढ़ाते हैं ॥ १३ ॥

अग्निमें [illegible] [illegible] गुण हैं [illegible] [illegible] प्रयोग करनेसे [illegible] हमारी [illegible] रोगोंको दूर कर सकता है ॥ १४ ॥

इस तरह घोड़े, वीर, गौवें भेड़, बकरियां आदिको [illegible] करना [illegible] है ॥ १५ ॥

अन्येभ्यस्त्वा पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यस्त्वा ।
निःक्रव्यादं नुदामसि यो अग्निर्जीवितयोपनः ॥१६॥
यस्मिन् देवा अमृजत यस्मिन् मनुष्या उत । तस्मिन् घृतस्तावो मृष्ट्वा त्वमग्ने दिवं रुह ॥१७॥
समिद्धो अग्न आहुत स नो माभ्यपक्रमीः । अत्रैव दीदिहि द्यवि ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ १८ ॥
सीसे मृड्ढ्वं नडे मृड्ढ्वमग्नौ संकसुके च यत् । अथो अव्यां रामायां शीर्षक्तिमुपबर्हणे ॥१९॥
सीसे मलं सादयित्वा शीर्षक्तिमुपबर्हणे ।
अव्यामसिक्न्यां मृष्ट्वा शुद्धा भवत यज्ञियाः ॥ २० ॥ (८)
परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते एष इतरो देवयानात् ।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमीहेमे वीरा बहवो भवन्तु ॥ २१ ॥

अर्थ— (यः जीवितयोपनः अग्निः क्रव्यादं) जो जीवननाशक क्रव्याद् अग्नि है उसको (अन्येभ्यः पुरुषेभ्यः गोभ्यः अश्वेभ्यः त्वा) अन्य मनुष्यों गौओं और घोडोंसे (निः नुदामसि) हम दूर हटाते हैं ॥ १६ ॥

हे अग्ने! (यस्मिन् देवाः अमृजत) जिसमें देव शुद्ध हुए, (उत यस्मिन् मनुष्याः) और जिसमें मनुष्य भी शुद्ध हुए, (तस्मिन् घृतस्तावः मृष्ट्वा) उसमें घृत–आहुति देकर शुद्ध होकर [त्वं दिवं रुह] तू स्वर्गपर चढ ॥ १७ ॥

(आहुत अग्ने!) आहुति दिये हुए अग्नि! (समिद्धः सः नः मा अभि अपक्रमीः) प्रदीप्त होकर तू हमारा उल्लंघन मत कर। (अत्र एव द्यवि दीदिहि) यहां द्युस्थानमें प्रकाशित हो। (सूर्यं ज्योक् दृशे) सूर्यको चिरकाल तक देखें ॥ १८ ॥

(यत् सीसे मृड्ढ्वं) जो सीसेमें लगा जो (नडे मृड्ढ्वं) नडमें लगा और जो [संकसुके अग्नौ] विनाशक अग्निमें उत्पन्न हुआ है (अथो अव्यां रामायां उपबर्हणे शीर्षक्तिं) और जो भेडमें काले रंगवालोंमें तथा सिर रखनेके सिरहानेमें लगा है उस सबको शुद्ध करो ॥ १९ ॥

(सीसे मलं सादयित्वा) सीसेमें मल दूर करके (उपबर्हणे शीर्षक्तिं) सिरहानेपर सिर रखकर, (असिक्न्यां अव्यां मृष्ट्वा) काली भेडमें शुद्ध करके (यज्ञियाः शुद्धाः भवत) पवित्र और शुद्ध हो जाओ ॥ २० ॥

हे मृत्यो! (देवयानात् इतरः यः ते एषः) देवयानसे भिन्न जो तेरा यह मार्ग है उस (परं पन्थां अनु परा इहि) मार्गसे दूर चला जा। (चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि) आंखवाले और सुननेवाले तुझे मैं यह कहता हूं। (इह इमे वीराः बहवः भवन्तु) ये वीर बहुत हों ॥ २१ ॥ (ऋ० १०।१८।१, यजु० ३५।७)

भावार्थ— इससे प्रेतदाहक अग्निको दूर करना योग्य है ॥ १६ ॥

यज्ञसे देवताओंकी शुद्धि हुई मानव भी यज्ञसे शुद्ध बने। इस तरह यज्ञमें घृतकी आहुतियां देनेसे मनुष्य शुद्ध होकर उत्तम स्थान प्राप्त कर सकता है ॥ १७ ॥

यज्ञकी अग्नि प्रदीप्त होकर मर्यादाके ऊपर न जावे। अपनी मर्यादामें प्रदीप्त होकर रहे। दीर्घकाल सूर्यको प्रतिदिन देखें। जहां जहां मल लगा हो वह स्थान शुद्ध और पवित्र करना चाहिये ॥ १९–२० ॥

मृत्यु हम सबसे दूर रहे, हमारे पास न आवे। हमारे बालबच्चे हृष्टपुष्ट और नीरोग तथा दीर्घायुषी बनें ॥ २१ ॥

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य ।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय सुवीरासो विदथमा वदेम ॥२२॥
इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्धमेतम् ।
शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥२३॥
आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति स्थ ।
तान् वस्त्वष्टा सुजनिमा सजोषाः सर्वमायुर्नयतु जीवनाय ॥२४॥
यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्तव ऋतुभिर्यन्ति साकम् ।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम् ॥२५॥

अर्थ—(इमे जीवाः मृतैः वि आ ववृत्रन्) ये जीवित लोग मरे हुओंसे घिरे हुए हैं। (नः देवहूतिः अद्य भद्रा अभूत्) हमारी ईशप्रार्थना आज कल्याणमयी हो गयी। (नृतये हसाय प्राञ्चः अगाम) नृत्य और हास्यके लिये हम सब आगे बढें और हम (सुवीरासः विदथं आ वदेम) उत्तम वीर होकर युद्धका विचार करेंगे ॥ २२ ॥ (ऋ० १०।१८।३)

(जीवेभ्यः इमं परिधिं दधामि) जीवोंके लिये मैं यह मर्यादा देता हूं। (एषां अपरः एतं अर्थं मा नु गात्) इनमेंसे कोई एक भी इस अर्थके पार कभी न जावे। (शतं शरदः पुरूचीः जीवन्तः) अतिदीर्घ सौ वर्षोंतक जीवन अनुभव करते हुए (पर्वतेन मृत्युं तिरः दधतां) पर्वतके द्वारा मृत्युको परे रखें ॥२३॥ (ऋ० १०।१८।४; यजु० ३५।१५)

(जरसं वृणानाः आयुः आरोहत) वृद्धावस्थाका स्वीकार करते हुए दीर्घ आयुको प्राप्त करो। [अनुपूर्वं यतमानाः यति स्थ] एकके पीछे दूसरा जितने तक प्रयत्न करता रहे उतने रहें। [सुजनिमा सजोषाः त्वष्टा] उत्तम जन्मवाला समानप्रेमवाला त्वष्टा [तान् वः जीवनाय सर्वं आयुः नयतु] आप सबको दीर्घजीवनके लिये संपूर्ण आयुतक ले जावे ॥२४॥ [ऋ० १०।१८।६]

[यथा अहानि अनुपूर्वं भवन्ति] जैसे दिन एकके पीछे दूसरा ऐसे आते हैं। [यथा ऋतवः ऋतुभिः साकं यन्ति] जैसे ऋतु ऋतुओंके साथ चलते हैं। [यथा पूर्वं अपरः न जहाति] जैसा पहिलेको दूसरा नहीं छोडता है धाता ! [एषां आयूंषि कल्पय] इनकी आयुकी योजना कर ॥ २५॥ [ऋ० १०।१८।५]

भावार्थ—यहां जो लोग जीवित हैं व चारों ओरसे मृतोंसे घिरे हैं अर्थात् इनके चारों ओर मृत लोग हैं। हम ईशप्रार्थना करके कल्याण प्राप्त करें। हम हास्यमें और नृत्यमें अपना [illegible] समय व्यतीत करें। हम सब उत्तम वीर बनें और युद्धमें अपना [illegible] प्रकट करें ॥ २२ ॥

जीवोंके लिये आयुष्यकी मर्यादा निश्चित हुई है। कोई मनुष्य इस दीर्घजीवनकी मर्यादा न तोडे अर्थात् अल्पायुमें न मरे। सब लोग अतिदीर्घ आयुतक जीवित रहें और मृत्युको दूर करें ॥ २३ ॥

वृद्धावस्थाको प्राप्त होकर दीर्घ आयुष्य स्वीकार करें। एकके पीछे एक अर्थात् इसके पश्चात् तरुण चले वृद्धके पूर्व तरुण न मरे। दीर्घ आयुष्यको प्राप्त करनेका सब प्रयत्न करे। ईश्वर सब यत्न करनेवालोंको दीर्घायु देवे ॥ २४ ॥

जैसे दिनके पीछे दिन ऋतुके पीछे ऋतु और जैसे पहिलेके पीछे दूसरा जाता है वैसे ही वृद्धके पीछे तरुण चले जायें, इसके पूर्व कोई न मरे अर्थात् सब लोग वृद्ध होकर ही पूर्ण आयुकी समाप्तिपर मरें ॥ २५ ॥

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान् ॥२६॥
उत्तिष्ठता प्र तरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम्।
अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान्त्स्योनानुत्तरेमाभि वाजान् ॥२७॥
वैश्वदेवीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः।
अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम ॥२८॥
उदीचीनैः पथिभिर्वायुमद्भिरतिक्रामन्तोऽवरान् परेभिः।
त्रिः सप्त कृत्व ऋषयः परेता मृत्युं प्रत्यौहन् पदयोपनेन ॥२९॥

अर्थ-[अश्मन्वती रीयते] पत्थरोंवाली नदी वेगसे चल रही है। [सं रभध्वं] संभलो [वीरयध्वं] वीरता धारण करो और [सखायः प्रतरत] हे मित्रो! तैर जाओ। [ये दुरेवाः असन् अत्र जहीत] जो दुःखदायी हों उनको यहां ही फेंक दो। [उत्तरेम अनमीवान् वाजान्] यदि हम पार हो जायेंगे तो नीरोग बल प्राप्त करेंगे॥ २६॥ [ऋ० १०।५३।८; यजु० ३५।१०]

हे [सखायः] मित्रो! [उत्तिष्ठत प्रतरत] उठो और तैरो। [इयं अश्मन्वती नदी स्यन्दते] यह पत्थरोंवाली नदी वेगसे चल रही है। [ये अशिवाः असन् अत्र जहीत] जो अशुभ हैं उनको यहां ही फेंक दो। [उत्तरेम शिवान् स्योनान् अभि] यदि हम तैर जायगे तो हम शुभ और सुखदायक बलोंको प्राप्त करेंगे॥ २७॥ [ऋ० १०।५३।८]

[शुद्धाः शुचयः पावकाः भवन्तः] शुद्ध पवित्र और प्रकाशित होकर [वर्चसे वैश्वदेवीं आरभध्वं] तेजस्विताके लिये विश्वदेवकी उपासना आरंभ करो। [दुरिता पदानि अतिक्रामन्तः] पापके स्थानोंको दूर करते हुए [सर्ववीराः शतं हिमाः मदेम] सब वीरोंके समेत हम सौ वर्ष तक आनंदसे रहेंगे॥ २८॥

[वायुमद्भिः उदीचीनैः परेभिः पथिभिः] वायुवाले ऊपरके श्रेष्ठ मार्गोंसे [अवरान् अतिक्रामन्तः] नीचोंका अतिक्रमण करते हुए [परेताः ऋषयः त्रिःसप्त कृत्वः] दूर पहुंचे हुए ऋषि तीन बार सात समय तपस्या करके [पदयोपनेन मृत्युं प्रत्यौहन्] अपने पदविन्यासके मृत्युको दूर करते रहे॥ २९॥

भावार्थ-यह संसार एक बड़ी भारी पत्थरोंवाली नदी है अर्थात् इसमें दुःखोंके और कष्टोंके बड़े बड़े पत्थर हैं। इस नदीका वेग भी बड़ा भारी है। इसलिये इस नदीसे पार करनेके लिये आपसमें संगठन करना चाहिये। इस तरह मिलकर चलोगे तो पार कर सकोगे, आपसमें फूट बढ़ाओगे तो इस नदीमें बह जाओगे। जो चीजें आपके पास अनावश्यक हैं उन सबको यहीं फेंक दो। जब आप तैरकर पार हो जाओगे तब वहीं उत्तम उत्तम चीजोंको प्राप्त कर सकोगे। परंतु यदि अनावश्यक चीजोंका भार अपने ऊपर रखोगे तो तुम उस भारके कारण ही डूब जाओगे॥ २६-२७॥

शुद्ध पवित्र और प्रकाशित बनो और ईश्वरकी भक्ति करो। पापके स्थानमें अपना पद न रखो। इस तरह निर्दोष आचरणसे सौ वर्ष रहो॥ २८॥

प्राणायामका अभ्यास करके प्राणकी स्वाधीनता करनेवाले योगी सूक्ष्म शरीरको निर्दोष बनाकर अपने आधीन करते हैं। वे ही उत्तम तपस्याके द्वारा मृत्युको दूर करके दीर्घजीवी बनते हैं॥ २९॥

मृत्योः पदं योपयन्त एत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ।
आसीना मृत्युं नुदता सधस्थेऽथ जीवासो विदथमा वदेम ॥३०॥ [९]
इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम् ।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥३१॥
व्याकरोमि हविषाहमेतौ ब्रह्मणा व्य१हं कल्पयामि ।
स्वधां पितृभ्यो अजरां कृणोमि दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि ॥३२॥
यो नो अग्निः पितरो हृत्स्व१न्तराविवेशामृतो मर्त्येषु ।
मय्यहं तं परि गृह्णामि देवं मा सो अस्मान् द्विक्षत मा वयं तम् ॥३३॥
अपावृत्य गार्हपत्यात् क्रव्यादा प्रेत दक्षिणा ।
प्रियं पितृभ्य आत्मने ब्रह्मभ्यः कृणुता प्रियम् ॥३४॥

अर्थ–(मृत्योः पदं योपयन्तः) मृत्युके पांवको दूर करते हुए (एतत् आयुः द्राघीयः प्रतरं दधानाः) यह आयु दीर्घ और श्रेष्ठ बनाकर धारण करते हुए (आसीनाः मृत्युं नुदत) आसनादि करते हुए मृत्युको दूर करो। (अथ जीवासः सधस्थे विदथं आवदेम) और यदि जीवोगे तो अपने घरमें यज्ञकी बात करोगे ॥ ३० ॥ (ऋ० १०।१८।२)

(इमाः नारीः सुपत्नीः अविधवाः) ये स्त्रियां उत्तम धर्मपत्नियां बनें और कभी विधवा न बनें। (आञ्जनेन सर्पिषा संस्पृशन्ताम्) तथा अञ्जन और घृत शरीरको लगावें। तथा (अनमीवाः अनश्रवः सुरत्नाः) रोगरहित अश्रुरहित होकर उत्तम रत्नोंसे युक्त हों। ऐसी (जनयः अग्रे योनिं आरोहन्तु) स्त्रियां प्रथम अपने घरमें ऊँचे स्थानपर चढें ॥ ३१ ॥

[अहं एतौ हविषा व्याकरोमि] मैं इन दोनोंको हविसे विशेष उत्तम करता हूं। [ब्रह्मणा अहं विकल्पयामि] ज्ञान-से मैं इनकी विशेष कल्पना करता हूं। [पितृभ्यः अजरां स्वधां कृणोमि] पितरोंके लिये मैं अविनाशी स्वकीय धारक शक्ति बनाता हूं। [इमान् दीर्घेण आयुषा संसृजामि] इनको दीर्घ आयुसे युक्त करता हूं ॥ ३२ ॥

हे [पितरः] पितरो ! [यः नः अमृतः अग्निः] हमारा जो अमर अग्नि (मर्त्येषु हृत्सु अन्तः आविवेश) मर्त्य हृदयोंमें आवेश उत्पन्न करता है [तं देवं अहं मयि परिगृह्णामि] उस दिव्य अग्निको मैं अपनेमें धारण करता हूं। [सः अस्मान् मा द्विक्षत] वह हमारा द्वेष न करे तथा [तं वयं मा] उसका हम द्वेष न करें ॥ ३३ ॥

[गार्हपत्यात् अपावृत्य दक्षिणा क्रव्यादा प्रेत] गार्हपत्य अग्निसे हटकर दक्षिणकी ओर प्रेतमांसभक्षक अग्निके प्रति चलो। और [पितृभ्यः आत्मने ब्रह्मभ्यः प्रियं कृणुत] पितरोंके लिये अपने लिये तथा ब्राह्मणोंके लिये प्रिय करो ॥ ३४ ॥

भावार्थ– इस रीतिसे मृत्युका पांव अपने सिरपरसे दूर करते हुए अपनी आयुको अतिदीर्घ बनाकर आसन प्राणायामादिद्वारा मृत्युको दूर करके और दीर्घ जीवन प्राप्त करके उत्तम स्थानमें विराज कर अपना जीवन यज्ञरूप बनाओ ॥ ३० ॥

स्त्रियां उत्तम धर्मपत्नियां बनें वे कभी विधवा न बनें। वे सौभाग्ययुक्त होकर अपने शरीरको अञ्जन आदि द्वारा सुशोभित करें। नीरोग बनें शोकरहित होकर अश्रुरहित रहें और उत्तम आभूषणोंसे सुशोभित रहें। अपने घरमें ये स्त्रियां सुपूजित होती हुई महत्त्वका स्थान प्राप्त करें ॥ ३१ ॥

हवन द्वारा मृत और जीवितोंको अर्थात् दोनोंको लाभ पहुंचता है। ज्ञानसे ही इसकी विशेष व्यवस्था हो सकती है। इससे मृतोंको स्वधाकारक बल प्राप्त होता है और जीवितोंको दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

यह अमरधर्मयुक्त अग्नि मनुष्योंका हितकारी होनेसे सबसे प्रिय है। इसको मनुष्य प्रज्वलित करें और उसकी सहायतासे उन्नति प्राप्त करें ॥ ३३ ॥

मनुष्योंको ऐसा आचरण करना चाहिये कि जिससे अपना हित हो ज्ञानियोंका सन्मान बढे और पितरोंका यश वर्धित

*

त्रिभागधनमादाय प्र क्षिणात्यवर्त्या । अग्निः पुत्रस्य ज्येष्ठस्य यः क्रव्यादनिराहितः ॥१५॥
यत् कृषते यद् वनुते यच्च वस्नेन विन्दते । सर्वं मर्त्यस्य तन्नास्ति क्रव्याच्चेदनिराहितः ॥१६॥
अयज्ञियो हतवर्चा भवति नैनेन हविरत्तवे। छिनत्ति कृष्या गोर्धनाद् यं क्रव्यादनुवर्तते ॥१७॥
मुहुर्गृध्यैः प्र वदत्यार्तिं मर्त्यो नीत्य । क्रव्याद् यानग्निरन्तिकादनुविद्वान् वितावति ॥१८॥
ग्राह्याः गृहाः सं सृज्यन्ते स्त्रिया यन्म्रियते पतिः ।
ब्रह्मैव विद्वानेष्यो३ यः क्रव्यादं निराददत् ॥१९॥

अर्थ—(यः अनिराहितः क्रव्यात् अग्निः) जो न हटाया हुआ प्रेतमांसभक्षक अग्नि होता है, वह [ज्येष्ठस्य पुत्रस्य त्रिभागं धनं आदाय] बडे लडकेके धनके दो भाग प्राप्त होनेपर भी [अवर्त्या प्रक्षिणाति] दरिद्रतासे उसकी क्षीणता करता है ॥ १५ ॥

[क्रव्यात् अनिराहितः चेत्] प्रेतमांसभक्षक अग्नि यदि न हटाया जाय तो वह [मर्त्यस्य तत् सर्वं न अस्ति] मनुष्यका वह सब नष्ट करता है कि जो [यत् कृषते] जो खेतीसे मिलता है [यत् वनुते] जो अपने संविभागसे प्राप्त होता है और [यत् च वस्नेन विन्दते] जो व्यापारसे मिलता है ॥ १६ ॥

वह मनुष्य [अयज्ञियः हतवर्चाः भवति] अपवित्र और निस्तेज होता है [एनेन हविः अत्तवे न] इसका दिया हुआ अन्न खाने योग्य नहीं होता, [कृष्याः गोः धनात् छिनत्ति] कृषि गौ और धनसे वह छीना जाता है, [यं क्रव्यात् अनुवर्तते] जिसके साथ शवमांसभक्षक अग्नि चलता है ॥ १७ ॥

[यान् अन्तिकात् क्रव्यात् अग्निः] जिनके पास शवमांसदाहक अग्नि [विद्वान् अनु वितावति] जानकर पीछे पीछे पडता है, वह [मर्त्यः आर्तिं नीत्य] मनुष्य कष्टको प्राप्त होकर [गृध्यैः मुहुः प्रवदति] प्रलोभनोंके साथ बारबार दुःख रोता रहता है अर्थात् रोता रहता है ॥ १८ ॥

[यत् स्त्रियाः पतिः म्रियते] जब स्त्रीका पति मर जाता है, तब [गृहाः ग्राह्याः सं सृज्यन्ते] घर पीडाओंसे युक्त होते हैं। उस समय [विद्वान् ब्रह्मा एव एष्यः] ज्ञानी ब्राह्मण ही बुलाने योग्य है [यः क्रव्यादं निराददत्] जो शवमांसभक्षक अग्निको हटा सकता है ॥ १९ ॥

भावार्थ—ऐसे। गृहस्थधर्म स्वीकारनेसे अन्त्येष्टिक मनुष्य नहीं करता रहे ॥ १४ ॥

प्रेतदाहक अग्निको अच्छी तरह विधिपूर्वक शान्त न किया तो ज्येष्ठ पुत्रको पितृधनके दो भाग प्राप्त होनेपर भी उनको दरिद्रताके कष्ट भोगने पडते हैं इसलिये अन्त्येष्टिके अग्निको विधिपूर्वक शान्त करना चाहिये ॥ १५ ॥

कृषिसे व्यापारसे तथा वैभिक विभागसे प्राप्त हुआ धन भी नष्ट होता है यदि अन्त्येष्टिकी अग्निकी शान्ति न की जाय ॥ १६ ॥

अन्त्येष्टिकी अग्नि सतत मनुष्यके साथ रहनेसे मनुष्य अपवित्र और निस्तेज होता है। उसका अन्न अग्राह्य होता है, उसकी कृषि गौवें और धन नष्ट होती है। इसलिये उसकी शान्ति करके मनुष्यको स्नानादिसे पवित्र होना चाहिये ॥ १७ ॥

जिनके घरमें अथवा जिन मनुष्योंमें यह अन्त्येष्टिकी अग्नि बार बार प्रज्वलित होता है अर्थात् जिनमें बारंबार मृत्यु होती है उनको बहुत कष्ट होते हैं और वे लोग बारबार रोते पीटते हुए मरे हुओंके कामोंका वर्णन करते हुए पुकारते रहते हैं ॥ १८ ॥

जब किसी स्त्रीका पति मर जाता है तब उस घरमें बडी पीडा होती है। उस समय विद्वान् ब्राह्मणको बुलाकर उस प्रेतदाहक अग्निकी शान्ति करनी चाहिये ॥ १९ ॥

यद् रिप्रं शमलं चकृम यच्च दुष्कृतम्। आपो मा तस्माच्छुम्भन्त्वग्नेः संकसुकाच्च यत् ४०[१०]
ता अधरादुदीचीराववृत्रन् प्रजानतीः पथिभिर्देवयानैः।
पर्वतस्य वृषभस्याधि पृष्ठे नवाश्चरन्ति सरितः पुराणीः ॥४१॥
अग्ने अक्रव्यान्निः क्रव्यादं नुदा देवयजनं वह ॥४२॥
इमं क्रव्यादा विवेशायं क्रव्यादमन्वगात्। व्याघ्रौ कृत्वा नानानं तं हरामि शिवापरम् ॥४३॥
अन्तर्धिर्देवानां परिधिर्मनुष्याणामग्निर्गार्हपत्य उभयानन्तरा श्रितः ॥४४॥
जीवानामायुः प्र तिर त्वमग्ने पितृणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः।
सुगार्हपत्यो वितपन्नरातिमुषामुषां श्रेयसीं धेह्यस्मै ॥४५॥

अर्थ- [यद् रिप्रं शमलं] जो पाप और मलिनता [यद् च दुष्कृतं चकृम] जो दुराचार हमने किया है, [तस्मात् संकसुकात् अग्नेः] उस विनाशक अग्निसे [आपः मा शुम्भन्तु] जल मुझे पवित्र करें ॥ ४० ॥

[ताः अधरात् उदीचीः] वे नीचे उपरकी ओरसे आती हुई (प्रजानतीः देवयानैः पथिभिः आववृत्रन्) ज्ञान प्राप्त कर देवयानके मार्गोंसे बारंबार चलती है [वृषभस्य पर्वतस्य अधि पृष्ठे] वृष्टि करनेवाले पर्वतके ऊपर [पुराणीः सरितः नवाः चरन्ति] पुरानी नदियां नवीन होकर चलती हैं ॥ ४१ ॥

हे अग्ने ! तू [अ-क्रव्यात् क्रव्यादं निः नुद] मांसभक्षक न बनकर मांसाहारीको दूर कर। और [देवयजनं वह] देवोंका यजन करनेवालेको प्राप्त कर ॥ ४२ ॥

[इमं क्रव्यात् आविवेश] इसके पास मांसभक्षक आ गया है। और [अयं क्रव्यादं अन्वगात्] यह मांसभक्षकके पास चला गया है। [व्याघ्रौ नानानं कृत्वा] इन क्रूर व्याघ्रोंको भिन्न भिन्न बनाकर [तं शिवापरं हरामि] उस अशुभको मैं दूर करता हूं ॥ ४३ ॥

[देवानां अन्तर्धिः] देवोंको अपने अंदर रखनेवाला [मनुष्याणां परिधिः] मनुष्योंका संरक्षणकर्ता [गार्हपत्यः अग्निः] गार्हपत्य अग्नि [उभयान् अन्तरा श्रितः] दोनोंके मध्यमें रहता है। ॥ ४४ ॥

हे अग्ने ! [त्वं जीवानां आयुः प्रतिर] तू जीवोंकी आयु निर्विघ्नताके साथ पार कर व तथा [ये मृताः पितृणां लोकं अपि गच्छन्तु] जो मर चुके हैं वे पितृलोकमें चले जावें। [सुगार्हपत्यः अरातिं वितपन्] उत्तम गार्हपत्य अग्नि शत्रुको ताप देवे। [उषां उषां अस्मै श्रेयसीं धेहि] प्रत्येक उषःकाल इसके लिये कल्याणमय कर देवे ॥ ४५ ॥

भावार्थ— जो पाप दोष और दुराचार भेदकारक अग्निके कारण होता है, उससे शुद्धि जलस्नानसे होती है ॥ ४० ॥

नदियां पर्वतोंपरसे नीचेकी ओर चलती हैं व गर्मीके दिनोंमें कृश होती और वृष्टिके दिनोंमें नवीन होकर चलती हैं। (इसी तरह) मनुष्य मरनेके पश्चात् दूसरा शरीर धारण करके नवीनसा बनकर विचरता है ॥ ४१ ॥

जिसमें देवोंके उद्देश्यसे हवन होता है, वह अग्नि भेदकारक अग्निको दूर करे, अर्थात् घर घरमें हवन हों और मनुष्य दीर्घायु हों ॥ ४२ ॥

एक अग्नि भेदकारक है और दूसरा देवयाजक है। दोनोंमें भक्षक भाव है, परंतु एक शिव है और दूसरा अशिव है। मनुष्य ऐसा आचरण करे कि जिससे शुभ अग्नि सदा प्रदीप्त रहे और अशुभ कभी प्रदीप्त करनेका अवसर न आवे ॥ ४३ ॥

देवोंके अन्दर रहनेवाला मनुष्योंका रक्षकर्ता गार्हपत्य अग्नि दोनों जन्म और मृत्युके अग्नियोंमें रहता है ॥ ४४ ॥

अग्निमें हवन करनेसे मनुष्योंकी आयु दीर्घ होती है। इसी हवनसे मृतोंको पितृलोक प्राप्त होता है। गार्हपत्य अग्नि शत्रुको दूर करता है और प्रतिदिन कल्याण प्राप्त कर देता है ॥ ४५ ॥

सर्वानग्ने सहमानः सपत्नानैषामूर्जं रयिमस्मासु धेहि ॥४६॥
इममिन्द्रं वह्निं पप्रिमन्वारभध्वं स वो निर्वक्षद् दुरितादवद्यात् ।
तेनाप हत शरुमापतन्तं तेन रुद्रस्य परि पातास्ताम् ॥४७॥
अनड्वाहं प्लवमन्वारभध्वं स वो निर्वक्षद् दुरितादवद्यात् ।
आ रोहत सवितुर्नावमेतां षड्भिरुर्वीभिरमतिं तरेम ॥४८॥
अहोरात्रे अन्वेषि बिभ्रत् क्षेम्यस्तिष्ठन् प्रतरणः सुवीरः ।
अनातुरान्त्सुमनसस्तल्प बिभ्रज्ज्योगेव नः पुरुषगन्धिरेधि ॥४९॥
ते देवेभ्य आ वृश्चन्ते पापं जीवन्ति सर्वदा । क्रव्याद् यानग्निरन्तिकादश्व इवानुवपते नडम् ॥५०॥

अर्थ— हे अग्ने! [सर्वान् सपत्नान् सहमानः] सब शत्रुओंको परास्त करता हुआ तू (एषां रयिं ऊर्जं अस्मासु धेहि) इनका धन और बल हमारे अंदर स्थापित कर ॥ ४६ ॥

[इमं इन्द्रं वह्निं पप्रिं अन्वारभध्वं] इस ऐश्वर्ययुक्त पालकको अनुकूलतापूर्वक शुरू करो। [सः वः अवद्यात् दुरितात् नि वक्षत्] वह तुम्हें निंदनीय पापसे छुडावे। [तेन आपतन्तं शरुं अपहत] उसके द्वारा हमला करनेवाले शस्त्र का नाश करो। [तेन रुद्रस्य अस्तां परिपात] उसकी सहायतासे रुद्रके अस्त्रसे सब ओरसे अपने आपको सुरक्षित करो ॥ ४७ ॥

(अनड्वाहं प्लवं अन्वारभध्वं) बलवान् नौकाको तैयार करो। (सः वः अवद्यात् दुरितात् निर्वक्षत्) वह आपको निंद्य पापसे बचावे। (एतां सवितुः नावं आरोहत) इस सविताकी नौकापर चढो। (षड्भिः उर्वीभिः अमतिं तरेम) छः बडी विशाल नौकाओंसे दुर्बुद्धि शत्रुसे भयसे पार होवेंगे ॥ ४८ ॥

तू [अहो रात्रे क्षेम्यः प्रतरणः] दिनरात सुख देकर दुःखसे पार करनेवाला [सुवीरः बिभ्रत् तिष्ठन् अन्वेषि] उत्तम वीरोंसे युक्त सबादिका धारण करनेवाला स्वयं स्थिर होकर अनुकूल रहता है। हे [तल्प] पलंग हे बिछोने! [सुमनसः अनातुरान् बिभ्रत्] उत्तम मनवाले नीरोग मनुष्योंको धारण करता है, ऐसा तू [ज्योक् एव पुरुषगन्धिः नः एधि] सदा मनुष्योंकी सुगंधसे युक्त होकर हमारे पास रह ॥ ४९ ॥

[ते देवेभ्यः आवृश्चन्ते] जो देवोंसे अपने आपको अलग करते हैं वे [सर्वदा पापं जीवन्ति] सदा पापमय जीवन व्यतीत करते हैं। [यान् क्रव्याद् अग्निः अन्तिकात् अनुवपते] जिनका मांसभक्षक अग्नि पाससे ही नाश करता है [अश्वः इव नडं] जैसा घोडा घासका नाश करता है ॥ ५० ॥

भावार्थ— अग्नि सब शत्रुओंको परास्त करे और उनके धन और बल हमारे पास लाकर रखे ॥ ४६ ॥

यह अग्नि धनदाता, दुःखसे पार पहुंचानेवाला और सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है। उससे मनुष्य पापसे बचते हैं। इससे उसका आश्रय करना योग्य है और इसीसे आपत्तिके शस्त्रोंसे बचाव भी होसकता है ॥ ४७ ॥

बलकी नौका तैयार करो और उससे भवसागरके पार हो जाओ। इस नौकापर चढो। ऐसी छः नौकाओंकी सहायतासे दुर्मति शत्रुका पराभव करेंगे। (अथवा बडस्वी नौकाएं शत्रुको दूर करेंगे) ॥ ४८ ॥

घर-घरमें पलंग रहता है जिस उसपर सोते हैं उनको सुख प्राप्त करते हैं, और पुत्रोंका पालन उसपर होता है। यह पर्यंक ऐसे पलंगोंपर उत्तम बिछोने रखकर मनुष्य सोवें और आनंद प्राप्त करें (यह सब विश्रामदायी पलंग सब घरोंमें हो।] ॥ ४९ ॥

जो अपने आपको देवोंसे अलग करते हैं वे पापमार्गमें प्रवृत्त होते हैं और उनका वैसा नाश होता है जैसा घोडा घासका नाश करता है ॥ ५० ॥

ये श्रद्धा धनकाम्या क्रव्यादा समासते। ते वा अन्येषां कुम्भीं पर्यादधति सर्वदा ॥५१॥
प्रेव पिपतिषति मनसा मुहुरा वर्तते पुनः। क्रव्याद् यानग्निरन्तिकादनु विद्वान् वितावति ॥५२॥
अविः कृष्णा भागधेयं पशूनां सीसं क्रव्यादपि चन्द्रं त आहुः।
माषाः पिष्टा भागधेयं ते हव्यमरण्यान्या गह्वरं सचस्व ॥५३॥
इषीकां जरतीमिष्ट्वा तिल्पिञ्जं दण्डनं नडम्।
तमिन्द्र इध्मं कृत्वा यमस्याग्निं निरादधौ ॥५४॥
प्रत्यञ्चमर्कं प्रत्यर्पयित्वा प्रविद्वान् पन्थां वि ह्याविवेश।
परामीषामसून् दिदेश दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि ॥५५॥ (१२)

अर्थ—[ये अश्रद्धा धनकाम्याः] जो श्रद्धाहीन परन्तु धनलोभी हैं [क्रव्यादा स आसते] मांसभक्षक अग्निके पास बैठते हैं, [ते वै अन्येषां कुम्भीं सर्वदा पर्यादधति] वे निश्चयसे दूसरोंकी हंडीपर सदा मन रखते हैं ॥ ५१ ॥

[मनसा प्र पिपतिषति इव] वे मनसे मानो गिरना चाहते हैं [पुनः मुहुः आवर्तते] और फिर लौटना चाहते हैं, [यान् विद्वान् क्रव्याद् अग्निः अन्तिकात् अनु वितावति] जिनको जानता हुआ मांसभक्षक अग्नि पास आकर पीछे पड़ता है ॥ ५२ ॥

हे [क्रव्याद्] मांसभक्षक अग्ने ! (पशूनां कृष्णा अविः ते भागधेयं) पशुओंमें काली भेड़ तेरा भाग है। तथा [सीसं चन्द्रं अपि ते आहुः] सीस और सोना भी तेरा ही कहते हैं। [पिष्टाः माषाः ते हव्यं भागधेयं] पिसे उड़द तेरा हव्यभाग है। अतः तू [अरण्यान्याः गह्वरं सचस्व] वनके गहर भागमें रह ॥ ५३ ॥

हे इन्द्र ! [जरतीं इषीकां] अतिजीर्ण मूंजको [तिल्पिञ्जं दण्डनं नडं इष्ट्वा] तिलोंका पुंज समिधा और नडकी आहुति देकर अर्थात् [तं इध्मं कृत्वा] इसको इंधन बनाकर [यमस्य अग्निं निरादधौ] यमकी अग्निका आधान करे ॥ ५४ ॥

[प्रत्यञ्चं अर्कं प्रत्यर्पयित्वा] अस्त होनेवाले सूर्यको नमस्कार समर्पण करके [पन्थां प्रविद्वान् हि वि आविवेश] धर्ममार्गको जाननेवाला धर्मपथमें विशेष रीतिसे प्रविष्ट होता है। [अमीषां असून् परादिदेश] यह मृतोंके प्राणोंको परम गतिको भेजता है और [इमान् दीर्घेण आयुषा सं सृजामि] मैं इन जीवितोंको दीर्घ आयुसे संयुक्त करता हूं ॥ ५५ ॥

भावार्थ—जो श्रद्धाहीन और धनलोभी होते हैं वे सदा दूसरोंके धनपर अपनी दृष्टि रखते हैं, वे दुर्गति पाते हैं और वे शवदाहक अग्निके भक्ष्य होते हैं अर्थात् अल्पायु होते हैं ॥ ५१ ॥

जिनके पास सदा शवदाहक अग्नि रहता है अर्थात् जिनके घरमें बारबार मृत्यु होता है, वे बारंबार दुःखी कष्टी और चञ्चल होते हैं। इनको उचित है कि वे प्रयत्न करके अपना बचाव करनेका उपाय करें ॥ ५२ ॥

पिसे उड़द का हव्य बनाकर उसका हवन अग्निमें किया जावे। काली भेड़का दूध या घृत इसमें हवन किया जावे। इस तरहका शवदाहक अग्नि मनुष्य स्थानसे दूर वनमें प्रविष्ट किया जावे। अर्थात् मेरका दहन नगरसे दूर हो ॥५३॥

इस शवदाहक अग्निमें जीर्ण इषिका, तिलकी पुञ्ज समिधा और सरकंडेकी आहुतियां दी जावें। इस साधनसे इस यमकी अग्निका आधान किया जावे ॥ ५४ ॥

धर्ममार्गको जाननेवाला मनुष्य अस्तपथ सूर्यकी अर्चना करके अपने आपको धर्ममार्गके योग्य पवित्र बना सकता है। मृतोंको परम गतिकी ओर इसप्रकार प्रेरित करके जीवित मनुष्योंको बड़ी इसका दीर्घायु करना काम है ॥ ५५ ॥

द्वितीय अनुवाक समाप्त।

यक्ष्मरोगको दूर करना ।

इस द्वितीय सूक्तमें मुख्य विषय यक्ष्मरोगको दूर करनेका है। इस रोगको दूर करना परमेश्वरकी प्रार्थनासे मुख्यतः करनेका उत्तम उपदेश यहां किया है। ईश्वरप्रार्थनामें बडा भारी बल है। जो मन एकाग्र करके प्रार्थना करते हैं और अपना हृदय ईश्वरके सामने खोल देते हैं, अनन्य होकर ईश्वरकी आत्मभक्ति सेवन करते हैं उनको ही इस बलका अनुभव हो सकता है। अतः कोई पाठक इस बलसे वंचित न रहें, इतना ही यहां कहना है।

नीचेके मार्ग ।

पहले मंत्रका कथन यह है—जैसे बाण दूर चला जाता है, वैसे मनुष्यमें जो रोग है वह नीचेके मार्गसे शीघ्र चला जावे। अर्थात् दूर चला जावे मनुष्यके पास न रहे। नीचेके मार्गसे (अवराङ्) कहनेका तात्पर्य यह है कि इन रोगबीज दूर करनेका उपाय ही नीचेके मार्ग खुले रखना है। मूत्रमार्ग पुरीषमार्ग (पाखाना अथवा शौच होनेका मार्ग) स्वेदका मार्ग (अर्थात् संपूर्ण रोमरंध्रोंका मार्ग) नासिका मार्ग (जिसमें श्लेष्माद्वारा मल दूर होते हैं) ये सब मार्ग परमेश्वर-ने किये हैं। शरीररूपी मंदिरमें ये सब मोरियां हैं जिनसे मल बाहर जाते हैं। पाठकोंको उचित है कि वे विचार करें कि ये मार्ग अपना अपना कार्य ठीक प्रकार कर रहे हैं या नहीं। यदि कर रहे हैं तो उत्तम है, नहीं तो उनसे ठीक कार्य करनेके लिये प्रवृत्त करनेका यत्न करना आवश्यक है अन्यथा मृत्युकी देर ही नहीं।

पापाचार और दुष्ट विचार ।

द्वितीय मंत्रमें अपकोप और दुःशंस अर्थात् पापाचारी और दुष्टविचारी ये दोनों मृत्युके हरकारेरूप पहुंचानेवाले हैं, ऐसा स्पष्ट सूचित किया है। अतः मनुष्योंको पापसे और दुष्टविचारसे बचना चाहिए। दुष्टविचार और पापाचार ये परस्पर साथी हैं। दुष्ट विचार पहिले आता है और पश्चात् पापका आचरण होता है। इसलिये मनुष्यको बडी सावधान-ताके साथ रहना और इनसे बचना चाहिये।

मनुष्य जो पतित होता है वह दुष्ट और अपकोपी के द्वारा ही होता है। मनुष्य प्रथम दूसरेके दुष्ट विचार सुनता है और उन विचारोंकी अनुकृति (अनुकरण) करता है। पहिले केवल अनुकरणकी ही इच्छा होती है परंतु अनुकरण करते करते वैसे ही विचार करने लगता है। इसी तरह बुरे आचरण पहले देखता है और वैसा करनेकी चेष्टा करता है। इसमें प्रथम केवल अनुकरण इच्छा ही प्रबल रहती है। परंतु अभ्यास होनेपर वही स्वभाव बनता है। इसीलिये अनुकरण करनेके विषयमें भी बडी सावधानता धारण करनी चाहिए।

सत्पुरुषोंकी अच्छे आचारविचारकी अनुकृति और उन्नति करनी योग्य है इससे मनुष्यकी उन्नति होगी। परंतु मनुष्य अच्छे बातोंका अनुकरण नहीं करता प्रत्युत मनुष्यको दुष्टोंका ही अनुकरण करना पसंद होता है। इसलिये वेद सावधान करता है कि देखो ऐसा दुष्टोंका अनुकरण करोगे तो मृत्यु घर है। सावधान रहो। यदि मनुष्य इस विषयमें सावध रहेगा तो मृत्युका भय दूर होगा।

कंजूसी, दारिद्र्य और मृत्यु ।

मृत्यु, दरिद्रता और कंजूसी इनको दूर करनेकी सूचना तीसरे मंत्रमें है। कंजूसीसे दरिद्रता आती है और दारिद्र्यसे अन्तमें मृत्युका भय होता है। ये एकदूसरेको लानेवाले हैं। उदारता, संपन्नता और अमरत्व जीवन यह मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये यही अमरत्व जीवन अमरपन है, जो सबको प्राप्त करना चाहिए।

यदि किसी स्थानपर व्याघ्रके समान क्रूरता सर्वभक्षक एक अग्नि पहुंचता है अर्थात् यदि किसीके अर्धांगमें मृत्यु हो गई है तो वहांसे उस मृत्युको इस प्रकारसे दूर करना चाहिये यह चतुर्थ मंत्रका उपदेश है। इस स्थानपर साधारण विविध योग है। मानवका रस लेकर उससे चोटे लाल करने से मानवका सकता है। इसलिये पूर्व मास बहुत उसमें लिये लेने। उसमें मल स्वांत करना चाहिये तीन वार उसे दूर

दिन रखकर उसका मल मिले और उसमें घृत मधु आदि डालकर सेवन करे यह क्षयादि दूर करनेवाला होता है। इसमें अन्यान्य पदार्थ भी डाल जा सकते हैं। यह मानवीय पेय है। यह केवल धनवाले दुर्लभ मनुष्य भी सेवन कर सकता है। इसकी संपूर्ण विधि उत्तम वैद्योंको पूछकर सिद्ध करनी चाहिये। यह एक ऐसा विषय है कि जिससे अनेक मनुष्योंका लाभ हो सकता है। यह पेय तो बडा सस्ता, मधुर और बडा पौष्टिक है। इसी वैद्य इसकी खोज करके निर्णय करें।

घरमें किसी मनुष्यकी मृत्यु होनेके पश्चात् घरमें दुःखके कारण हवन बंद रहता है। परंतु प्रेताग्निका शमन करके हवनाग्निका प्रदीपन करना चाहिये क्योंकि यही हवनाग्नि आरोग्यवर्धक करनेवाला है। यह पंचम मंत्रका उपदेश है। अर्थात् घरमें यथाक्रम नियम और हवनके लिये अग्नि प्रदीप्त रहा, तो मृत्यु दूर हो सकता है।

इस मंत्रमें जो घरकी दीर्घायुके लिये हवनाग्नि घरमें स्थापित करनेका विचार है, वह प्रत्येक गृहस्थको देखने योग्य है।

पितृयज्ञ

किसीके घरमें मृत्यु हो गयी तो उस देहका यमदेवतार्थ [पितृयज्ञाय एवं हरामि] अर्थात् मृत्यु [illegible] के लिये दूर स्थान निश्चित करना चाहिये। घरके पास, मांसभक्षी पक्षियोंके सदृश प्रेतदाह करना नहीं चाहिये। क्योंकि इस दाहसे जो दुर्गंधयुक्त विषमय वायु बाहर आती है वह जीवित मनुष्योंको अनेक रोग उत्पन्न करती है। इसलिये चतुर्थ और पंचम मंत्रमें प्रेतदाह बस्तीसे दूर करनेका आदेश दिया है।

जो प्रेतका दहन करता है उस अग्निका वैदिक नाम है क्रव्याद् अर्थात् मांस खानेवाला अग्नि। दूसरा नाम है 'जातवेदाः' यह घरोंमें प्रदीप्त रहता है जिसमें हवनके साथ देवोंका सत्कार किया जाता है यह हवनीय वस्तु सब देवताओंतक पहुंचाता है और हवनकर्ताओंको आरोग्य देता है। इस तरह ये दो आरोग्यदायक यह अग्नि है। जो प्रेतदाहक अग्नि है वह मृतदेहको जलाकर आधीन करता है और हवनाग्नि देवताओंके साथ संबंध जोड देता है। इस तरह इन दोनों अग्नियोंके कार्य हैं। पाठक इसका विचार करके बहुत आरोग्य वैदिकज्ञानसे प्राप्त कर सकते हैं।

८ (अ. सु. भा. का. १२)

यही बात नवम मंत्रमें कही है। प्रेतदाहक अग्नि और गार्हपत्य अग्नि ऐसे दो अग्नि हैं। इनका उपयोग भिन्न है। प्रेतदाहक अग्नि प्रेतको जलाकर मृतको पितरोंके स्थानमें पहुंचाता है और दूसरा जो जातवेद अग्नि है, वह यहांके नित्य निवासियोंको आरोग्य प्रदान करता है। इसलिये प्रेतदाहक अग्निका कार्य समाप्त होते ही उसको रहना नहीं चाहिये। हवनाग्निही मनुष्योंके घरोंमें प्रतिदिन प्रदीप्त होना चाहिये। नवम मंत्रका भी यही भाव है।

इसी आशयको दशम मंत्रमें प्रकट करते हुए कहा है कि प्रेतदाहक अग्नि पुनः पुनः यहां न आवे। वह पितृलोकमें प्रदीप्त होता रहे। मनुष्योंके स्थानमें तो यही जातवेद अग्नि प्रदीप्त होना चाहिये। जातवेद अग्निका मार्ग देवयान है और प्रेतदाहक अग्निका मार्ग पितृयान है।

हवन अग्नि।

ग्यारहवें मंत्रमें कहा है कि शुद्ध पवित्र और निर्मल होकर हम हवनाग्निको सदा प्रदीप्त करते हैं। इस हवनसे सब रोग दूर होते हैं और यह हवनाग्नि सब प्रकारकी पवित्रता करता है, लोगोंको आरोग्य देता है और दीर्घायु करता है। वैदिक धर्ममें इस कारण यह अग्नि एक महत्त्वका स्थान रखता है। इसीको केंद्र करके वैदिक धर्मियोंके सब संस्कार होते हैं।

बारहवें मंत्रमें कहा है कि यह हवनाग्नि- [रभसः पुरुषमानः] पापका शोधन करता है, पापको दूर करता है [अवसृष्टाः अमीवाः] अनेक रोगोंको दूर करता है और सब प्रकारके [पापाद्] दूर करता है। तेरहवें मंत्रमें कहा है कि हमने अग्निमें हम [अभिषद् मघ्नी रियाणि मृजन्तो] चलके तासोंसे हवन करते हैं। अर्थात् हमारे अंदरके रोग इस अग्निमें हवन के समीप हवन करनेसे दूर भाग जायेंगे। और हम (शुद्धाः पूताः) यज्ञसे शुद्ध और अग्निसे पवित्र होकर निःसंशय दीर्घ काम (प्र ण आयूंषि तारिषत्) हमारी आयु वृद्धि हो गयी, क्योंकि पाप रहनेसे ही अकाल मृत्यु होती है और पवित्रता रहनेसे ही मृत्यु दूर भागती है।

चौदहवें मंत्रमें कहा है कि यहां हम सब मनुष्य बोले दूर के हानिकारक आयुः है अर्थात् इस घरके पास ये रोगबीज नहीं रहते इसलिये हमको नीरोगता और दीर्घायु प्राप्त होती है। इस तरह ये घोर भीषण आपत्कालविशिष्ट अवस्थामें जो रोग और मृत्युका भय रहता है वह सब हवनाग्निके द्वारा दूर किया जा सकता है। यह आशय ग्यारहवें और बारहवें मंत्रका है।

सत्रहवें मंत्रमें भी यह विषय पुनः अन्यरीतिसे आया है। जिस भूमिमें (सुतस्वाव मृदस) [illegible] प्रादुर्भाव [illegible] उसी [illegible] (स्वः) उन्नति प्राप्त करना संभवनीय है। अठारहवें मंत्रमें कहा है कि जहां ऐसा हवन होता है, वही स्वर्गलोक है। मनुष्य हवनसे ही इस भूमिको स्वर्गधाम बना सकता है।

सूर्यप्रकाशका महत्त्व।

आरोग्यकी दृष्टिसे सूर्यप्रकाशका अत्यंत महत्त्व है। सूर्यप्रकाशसे ही संपूर्ण आरोग्यकी प्राप्ति होती है। इसलिये वेदमें (ज्योक् च सूर्यं दृशे) चिरकाल सूर्यदर्शन होता रहे ऐसी प्रार्थना बार बार आती है। सूर्यदर्शन करना ही मनुष्यको आरोग्यका स्थान है। प्रभात सूर्यदर्शन करनेसे आंखोंके रोग दूर होते हैं, पुनः सूर्यदर्शनका अभ्यास बढानेसे आयनक उपयोगका कारण भी नहीं रहता। नंगे शरीर सूर्यप्रकाशमें [illegible] अर्थात् उस शरीरको सूर्यकिरण लग जाय। इससे शरीरका तेज बढ जाता है, आरोग्य बढता है और रक्तसंचार यथायोग्य होकर बहुतसे रोग दूर होते हैं। सूर्यप्रकाश ही आरोग्यदाता है।

शुद्धिका उपाय।

मंत्र १९ और २० में ये कुछ शुद्धिका उपाय कहा है। परंतु [शुद्धाः पवित्राः भवत] शुद्ध और पवित्र बनो इतने कथनसे न मेरा शुद्धिके विषयमें आदेश दे रहे हैं ऐसा पता लगता है, परंतु जो शुद्धिके साधन इन मंत्रोंमें वर्णन किये गये हैं वे क्या हैं और उनका उपयोग कैसा करना चाहिये यह कुछ अवकाशसे विचार करनेपर भी अबतक हमारी समझमें नहीं आया है। इन मंत्रोंमें जो शुद्धिके साधन कहे हैं वे [शीर] सीसा [नड] नड [[illegible]] [illegible] अग्नि [रामा = [illegible]] [illegible] [उपबर्हण] सिरहाना ये हैं। इनमें [illegible] गुणका [illegible] कुछ ज्ञान हुये हैं, परंतु अन्य साधनोंके विषयमें हमें इस समयतक कोई पता नहीं लगा। जो पाठक इस विषयकी खोज करते हैं वे इस आवश्यक विषयकी खोज करें और प्रकाशित करें। मनुष्यके आरोग्य और दीर्घायुकी दृष्टिसे इन शुद्धियोंकी आवश्यकता है, अतः इस विषयका महत्त्व बहुत है। इन शब्दोंके येही अर्थ हैं अथवा दूसरे कुछ अर्थ हैं इसकी भी खोज होनी चाहिये।

१ अग्नि = अग्नि शब्दका अर्थ [illegible] कुष्ठ [illegible] है। यह [illegible] अर्थात् [illegible] ऐसा [illegible] मंत्रमें कहा है।

२ (नड) - नड, देवनल यह एक प्रकारका घास है। इसके गुण वैद्यकग्रंथोंमें ये लिखे हैं- [[illegible]] [illegible] करनेवाला [मधुरः] मीठा [रक्तपित्तघ्नः] रक्तपित्त दूर करनेवाला [शीतः] [illegible] [बल्यः] शक्ति देनेवाला [वृष्यः] वीर्य बढानेवाला, [वीर्यवृद्धिः] वीर्य अधिक करनेवाला। (देखो राजनिघण्टु व० ८)

३ सीस - सीस धातु, सीसा [illegible]। इसके गुण [[illegible]] मेह रोगका नाश करनेवाला [[illegible]] [illegible] देता है [[illegible]] रोग दूर करता है [[illegible]] [illegible] देता है। [[illegible]] [illegible] [कामवर्धनं करोति] कामको बढाता है [मृत्युं नाशयति] मृत्युको दूर करता है [[illegible]] [illegible] है [रक्तदोषहरः] रक्त-दोष दूर करता है। इसी प्रकार पांडु, प्रमेह, अग्निमांद्य, सूजन, भगंदर आदि रोगोंको दूर करता है। [भाव० पू० १ भा० [illegible] देखो]

४ [illegible] - यह औषधी है जिसके गुण राजनिघण्टु व० [illegible] १० १२ और १३ में दिये हैं।

५ [illegible] - एक औषधि है जो [illegible] काम आती है।

६ [illegible] [[illegible]]- [illegible] जिसके [illegible] शुद्धि होती है।

इन मंत्रोंमें आये हुए शुद्धिसाधनोंके ये वैद्यकशास्त्रका अर्थ हैं। इनका उपयोग कैसा करना और इनसे शुद्धि किस रीतिसे करनी चाहिये इसका विचार [illegible] वैद्य ही कर सकते हैं [illegible] अनभिज्ञोंका नहीं है। यह खोजका विषय है, पाठक खोज करें।

इक्कीसवें मंत्रमें प्रार्थना है कि इस तरह मृत्यु दूर हो और अपने [illegible] दीर्घायु आशीर्वाद और [illegible] हो अर्थात् [illegible] न मरे। यह उपदेश (मनुष्योंको [illegible]) देखना और सुनना लेनेके लिये कहा है। अर्थात् जो विचारसे देखता है और सुनकर समझता है उसीके लिये यह उपदेश है। जो देखते नहीं और सुनते नहीं उनके लिये इसका क्या लाभ होगा?

नृत्य और हास्य।

चालीसवें मंत्रमें कहा है कि जो इसलोकमें जीवित हैं, उनके चारों ओर [मृत्योः आवरणम्] मृत्युका घेरा है अर्थात् वे इस मृत्युके घेरेमें भ्रमण करते हैं। इसके चारों ओर मार्ग होंगे, परंतु उनका स्थूल रूप नष्ट हो जानेसे वे हमें दिखाई नहीं देते। वे तो मृत हो चुके हैं। जो जीवित हैं उनके [नृत्यये हसनाय] नाचने और हंसनेके लिये अर्थात् उनकी आनन्दप्रसन्नताके लिये ही यत्न करना चाहिये।

मनुष्यके आरोग्यके लिये नृत्य और हास्यकी अत्यंत आवश्यकता है। हास्यसे मनकी प्रसन्नता रहती है और शरीरके पुट्ठोंमें उत्साह बढ़ता है। नाच एक बड़ा उत्तम व्यायाम है जो आनंदके साथ किया जाता है। नाचोंको सब सीखना चाहिये और उसका बड़ा काम प्राप्त करना चाहिये। आजकल नाचको बुरा मानते हैं परंतु नाच कोई बुरी चीज नहीं है नाच करनेवालोंमें कई लोग बुरे होंगे। परंतु नाच आरोग्यवर्धक है वैसे ही लाभकारी है।

[द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः] हम उत्तम रीति नाचें और मृत्युको दूर करनेका ही विचार करें। इस तरह जो विघ्न उत्पन्न होगा उसको दूर करना चाहिये। ऐसे सब कष्ट दूर होनेके पूर्व आरंभसे उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त करना और पूर्ण सुख प्राप्त करना। यही मनुष्यका साध्य है। जबतक किसी स्थानपर कष्ट रहेगा तबतक किसी प्रकार सुख प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये मृत्युके साथ ऐसा बर्ताव करना चाहिये कि वह दूर हो और उससे हम स्वतंत्र रहें। यही [मृत्योः पदं योपयन्तः] वचनका तात्पर्य मार्गका हम करते हैं। अर्थात् प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह इस कल्याणमयी मार्गका आश्रय करे और अपना कल्याण प्राप्त करे।

मनुष्यकी आयुष्यमर्यादा॥

वैदिक मंत्रमें कहा है कि मनुष्योंकी [शतं हिमाः] मनुष्यको सौ वर्षोंकी आयुष्यमर्यादा प्राप्त करनी चाहिये। सामान्य प्राणियोंकी आयुष्यमर्यादा भिन्न है। मनुष्योंकी आयुष्यमर्यादा (सौ वर्ष) की है। यह निश्चित मर्यादा है अर्थात् सुनियमोंके पालनसे यह बढ़ सकती है और अनियमोंके आचरण करनेसे घट भी सकती है। यह मनुष्यके आधीन है मनुष्य चाहे योगादि साधनोंके अनुष्ठानसे अपनी आयुष्यमर्यादा बढ़ा सकता है अथवा व्यभिचारादि द्वारा घटा भी सकता है। इस तरह दोनों बातें संभव हैं इसलिये मंत्रमें कहा है कि (मृत्युं अन्वैतन्) मृत्युको प्रतिहत करो अर्थात् मृत्युसे बचकर चलो वह छिपा पड़ा रहे वह उठकर किसीको अपने वश न कर सके। तुम ऐसा व्यवहार करो कि जिससे वह मृत्यु दूर हो जावे।

तीसरे मंत्रमें कहा है कि दीर्घायुष्यको स्वीकार करते हुए दीर्घायु (अतिदीर्घ आयु) धारण करो। अर्थात् अकाल मृत्युसे न मरो। उत्तम रीतिसे सुनियमपालन करते हुए मृत्युको दूर करो। [यतमानाः यतिष्ठ] दीर्घायुष्यका यत्न करते हुए अपना सुनियम में रहो। उन धर्मनियमोंका उल्लंघन न करो। ऐसा करनेसे ही तुमको [जीवातवे शतं आयु मदन्तु] दीर्घायुष्य प्राप्त करनेके लिये पूर्ण आयुष्यका भोगनेकी क्षमता होगी।

यहां दीर्घजीवन प्राप्त होता है इसकी कुंजी है। पहिला नियम सुप्रजननका उपदेश प्रकट हुआ है। सुप्रजनन [सुप्रजनन] का यथायोग्य पालन होना चाहिये। सुप्रजननके नियम जानकर और उनका यथायोग्य पालन करके संतान उत्पन्न करनी चाहिये। मातापिता वैवाहिक सदाचारसे अपने आपको बचावें। सुसंतान निर्माणद्वारा राष्ट्रका बल सुरक्षित करना अपना कर्तव्य है, यही समझें धारण करें और सुप्रजा-जनन करें। दूसरा नियम संयोगद्वारा प्रकट हुआ है। स्त्रीके साथ पुरुषके साथ, एक धार्मिक भावके साथ संपूर्णतया एकता होना चाहिये। इसी तरह राष्ट्रमें सबका मिलके एक हो जाना एक हो और सब लोग समाजके साथ अपना कर्तव्य उत्तम प्रकार करते रहें। यह परस्पर व्यवहारका उपदेश है। तीसरा नियम स्वच्छता उपदेशद्वारा बताया है। स्वच्छ रहने से शरीर शुद्ध धर्म करनेवाला कर्ममें कुशल। मनुष्य जो दीर्घजीवन प्राप्त करना चाहता है वह किसी कार्यक्षेत्रमें निपुण होवे। क्योंकि दर्शनीयोंमें मन ही प्रधानता प्राप्त होती है और इसी कारण आत्मिक दृष्टिसे सुदृढ़ता होती है और दीर्घ जीवन प्राप्त होता है। दीर्घजीवन प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको किस तरह बर्ताव करना चाहिये, इसका निर्देश इस तीन

शब्दोंद्वारा इस मंत्रमें कहा दिया है । पाठक इसका उत्तम मनन करें और योग्य बोध प्राप्त करके उससे अपने आयु एवं इच्छाओंका यत्न करें ।

पचीसवें मंत्रमें यथाक्रम मनुष्यको मृत्यु प्राप्त होने ऐसा कहा है अर्थात् वृद्ध मनुष्य पहिले मरें उसके पीछे आयुके क्रमसे मनुष्य मरें । वृद्ध के पूर्व तरुण अथवा बालक न मरें । सब लोगोंका यथायोग्य उत्तम पालन और पोषण होता रहेगा तो अकालमृत्यु दूर होगा और यथाक्रम मृत्यु होगी ।

नदीका प्रचंड वेग ।

आगेके [२६ और २७ इन] दो मन्त्रोंमें संसाररूपी प्रचंड वेगवाली महानदी का उत्तम काव्यमय वर्णन है । ये मन्त्र पाठकोंको ध्यानमें धारण करने चाहिये । इस प्रचंड वेगवाली नदीसे ही हम सबको पार होना है । य [अश्मन्वती] पथरीली नदी साधारण नहीं है । इसमें स्थानस्थानपर पत्थर हैं अतः मार्ग अच्छी प्रकार नहीं मिलता । पानी भी तीव्र वेगसे बहता है पत्थरोंसे टकराता है । यह नदी [रीयते] बडे प्रचंड वेगसे बह रही है इस वेगके कारण पार होनेवालेका किसी स्थानपर पांव नहीं ठहरता । यही बडा भय है । इसके पार हुए बिना चलेगा नहीं । पार तो होना ही चाहिये । अतः हरएकको पार होनेके लिये तैयार होना चाहिये ।

कैसे पार हो सकते हैं ? क्या अकेला अकेला मनुष्य इस नदीके पार हो सकता है ? कभी नहीं । इस नदीसे पार होनेके लिये कहा है कि (संगिरध्वं) सब [illegible] भाई ! अपने [illegible] संगठनसे अपने जीवनको बनाओ । अश्मन्वतीसे ही सर्व प्रकार [illegible] । [illegible] बड़ा ही कठिन है इसलिये बडी सावधानी धारण करके तैयार होना चाहिए । (वीरयध्वं प्रतरत) भाई ! वीरता धारण करो तरनेमें कोई प्रयोजन नहीं डरना । भाईयो ! न तरोगे तो भी मरना है और न तरोगे तो भी मरोगे, परन्तु संगठन मिलकर पुरुषार्थ प्रयत्न करोगे तोही पार हो सकते हो । यहां रहकर रोनेपीटनेसे आलोच तो कोई काम नहीं होगा । ऐसा रोना व्यर्थ है [illegible] । तैरनेका यत्न करो मिलकर तथा सब बडी सावधानीसे करो तभी कुछ बन सकता है । यही तो कोई दूसरा उपाय नहीं है ।

परंतु आपके पास व्यर्थकी चीजोंका भार बहुत ही है । यह बोझा अपने पास रखोगे तो मिलकरके तैरनेमें भी दुःख होगा । ये व्यर्थकी चीजें आपने अपने पास क्यों रखी हैं ? (अशिवाः) ये अमंगल दुःख देनेवाले (दुरेवाः) पदार्थ हैं । इनको छोड दो । ये चीजें अनावश्यक हैं व्यर्थ हैं जिनका कोई उपयोग नहीं है इनको यहीं छोड दीजिये । इनका भार उठाकर तैरनेसे पार नहीं जा सकोगे । अतः ये अनावश्यक पदार्थ आप यहीं छोड दीजिये । जो पदार्थ हैं कि जो बोझ किये हों जो कुछ पर्याप्त नहीं है उनको यहीं छोड दो । इससे आपका बोझा कम होगा और इस नदीसे पार हो जाओगे । क्योंकि अनावश्यक पदार्थोंका भार कम हो रहा है ।

यदि हम [उत्तरेम] यहां पार हो जायेंगे तो उस परले तीरपर बडा आनंद है यहां जो भी आवश्यक पदार्थ होंगे, वे होंगे । उनको लेकर वहां जानेकी क्या आवश्यकता है ? वहां जानेके पर (अभि वाजान् उत्तरेम, शिवान्) वे भी हमें अवश्य प्राप्त होंगे । परंतु हम अनावश्यक पदार्थोंका भार सिरपर रखेंगे तो परले तीरपर पहुंचना असंभवनीय है ।

यहां काव्यमय भाषासे बडा मनोहर उपदेश दिया है । जो इसका मनन करेंगे वे बहुत बोध प्राप्त कर सकेंगे । ये एक स्थानपर बहुत उत्तम दूर करनेके लिये यहां उपदेश अत्यंत उपयोगी है । पाठक इसका मनन करें और उत्तम बोध प्राप्त कर और उससे अपने जीवनको उन्नत करें ।

सौ वर्षोंकी पूर्ण आयु ।

अठाईसवें मंत्रमें [शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम] हे वर्षोंतक सब वीरोंसहित हम आनंदसे रहेंगे ऐसा कहा है । कैसे हम दीर्घ आयु प्राप्त कर सकेंगे ? अपमृत्यु किस तरह दूर कर सकेंगे ? इसका उत्तर यह है कि [मृत्योः पदानि अतिक्रामन्तः] मृत्युके स्थानोंका अतिक्रमण करोगे तो यह सब हो सकेगा । मृत्युके स्थान अनेक हैं उनकी गिनती नहीं हो सकेगी । परंतु जो मृत्युका स्थान होगा वहां कभी नहीं जाना चाहिये उस स्थानमें जाना नहीं ऐसा और पापाचरण दूर रखना यही एक उपाय है कि जिससे मिलकरके दीर्घायु प्राप्त हो सकेगी ।

अपने मार्गसे न चलनेसे ही [शुद्धाः पूताः यज्ञियासः] शुद्ध, पुनीत और पवित्र होना संभव है। और शुद्ध और पवित्र होनेसेही दीर्घायु होना संभव है। इसकी साधनाके लिये [सर्वैः वचस्वी आत्मना] सब देवताओं की अपने ऊपर धारणा करनी चाहिये धारणा करनी चाहिये। सब देवतायें तो अपने शरीरमें हैं ही उनको जानकर उनका यथायोग्य स्वागत करना चाहिये। सब देवताओंका निवास देह धर्ममें भी है उन देवी शक्तियोंको धारण करनेसे मनुष्य पवित्र और शुद्ध हो सकता है।

यदि उन्नतिकी साधना करनेकी इच्छा है तो २६ वें मंत्रमें कहा है उसके अनुसार [अवरात् अतिक्रामन्तः] नीच कर्मोंका अतिक्रमण करना चाहिये। कभी नीचमार्गमें एक भी कदम आगे बढाना नहीं चाहिये। यहां बडा सावधान रहना है क्योंकि नीच मार्गमें गिरना बडा आसान है। ऊंचे मार्गपर चढना ही प्रयत्नसे साध्य होनेवाली बात है। [वरीयसीः पथिभिः] उच्च स्थानके मार्गोंसे जाना चाहिये, तभी उन्नति होगी। [ऋषयः परेताः] इसी तरह अपनी उन्नति करते हुए ऋषिलोग उस स्थानको पहुंच चुके हैं। उन्होंने बडे बडे यत्न करके तीन तीन बार और सात सात बार तप [त्रिः सप्तकृत्वः] करके अपनी उन्नतिका साधन किया। इसी साधनासे (मृत्युं प्रत्यौहन्) वे मृत्युको दूर करनेमें समर्थ हुए। यही मार्ग दीर्घजीवन प्राप्त करनेका है। अतः प्रत्येक मनुष्य आपको इसी मार्गसे के ध्यान और नियम पूर्वक उन्नतिको प्राप्त करें।

(मृत्योः पदं योपयन्तः) अपने सिरपर जो मृत्युका पांव है, उसको अपने प्रयत्नसे दूर करो। तुम प्रयत्न करोगे तो वह पांव दूर हो सकता है। तुमने प्रयत्न न किया तो उस पांवके नीचे तुम्हारा सिर दब जायगा। अतः अपमृत्यु दूर करनेके लिये तुम्हें प्रतिदिन प्रयत्न करना चाहिये। (द्राघीयः आयुः प्रतरं दधानाः) यह जो वर्षोंसे पूर्ण आयु अधिक दीर्घ स्थायी धारण करो। यदि तुम्हारी जो वर्षोंकी आयु है, वह तो स्वाभाविक मर्यादा है। इस मूल कालको बढ़ाना तुम्हारे आधीन है तुम्हारे प्रयत्नसे ही इस आयुकी वृद्धि हो सकती है। (आसीनाः मृत्युं नुदत) आसनादि योगसाधन अभ्यासके साथ करते हुए तुम सब अपमृत्युको दूर करो। यम नियम आसन प्राणायाम आदि साधन करनेसे शरीरस्वास्थ्य उत्तम प्राप्त होता है, ध्यान धारणा से उत्तम मानसिक स्वास्थ्य मिलता है इस तरह मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होनेसे मनुष्यकी आयु बढती है। मनुष्य इस तरह निरोग रहें तो ही वे (विदथम् आ वदेम) ज्ञानके यथायोग्य विचार कर सकते हैं।

मंत्र ३१ वें मंत्रमें कहा है कि " स्त्रियां विधवा न हों " अर्थात् उनके पति अल्प आयुमें न मरें। स्त्रियां आनंदसे युक्त हों और (अञ्जनेन) आंखोंमें कज्जल- अंजन लगाकर, तैल आदि सिरमें लगाकर आभूषण धारण करके सुंदर रहें। ये घरके भूषण हैं। ये देवियां हैं अतः इनकी पूजा घरघरमें होती रहे। स्त्रियां किसीभी घरमें न (अनश्रवः) रोती रहें न आक्रमणका रहें उनसे वे (अनमीवाः) नीरोग रहें और (सुरत्नाः) उत्तम रत्नोंके आभूषण धारण करके अपना सौंदर्य बढाती रहें। अर्थात् घरमें स्त्रियोंको कष्ट नहीं रहना चाहिए। ऐसी स्त्रियां पतिके साथ आनन्दप्रसन्नतापूर्वक गृहस्थधर्म पालन करें।

घरमें रहनेवाले सभी लोग हवन करते रहें। प्रतिदिन आनंदप्रसन्न होकर हवन करें। इस हवनसे पितरोंको उत्तम गति मिलेगी और जीवित मनुष्योंको दीर्घायु प्राप्त होगी। (मंत्र ३१)

३१ वें मंत्रमें इतना ही कहा है कि हवनाग्निके साथ कोई हेतम न अथवा निषिद्ध भय न रखे। सब लोग आदरके साथ हवन करें। ३७ से ३९ तकके तीन मंत्रोंमें कहा है कि प्रेतदहक अग्नि उत्पन्न न रहे, इसके लिये यत्न करना चाहिये। अर्थात् मनुष्योंको अपनी दीर्घायुके लिये यत्न करना चाहिये। हरएक मनुष्यका कर्तव्य है कि वह (पितृभ्यः) पितरोंके लिये अपने (स्वधया) द्वारा वैद्यकीय लिये और (आत्मने) अपने लिये जो हितकारक होगा वही करे। इससे अहित कभी न करो।

आगेके ३ मंत्रोंमें भी यही क्रव्याद् अग्निकीही बात कही है। जिनके घरमें मृत्यु होती है वे घर (न वर्धिताः) अपवित्र होते हैं (हतवर्चाः) निस्तेज होते हैं शोभारहित होते हैं। कुल भी अन्न उनसे हीन होते हैं। [...] वे घर पीडासे युक्त होते हैं। सब लोग शोकसे युक्त होते हैं। वहां कोई भी मनुष्य आनन्दप्रसन्न नहीं रहता है जहां पुरुषकी मृत्यु होती है वहां स्त्री विधवा होती है और वह घर सुखदायक नहीं रहता है। इसीलिये। हरएकको

दीर्घजीवन प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिए। ११ वें मंत्रका विचार इन मन्त्रोंके मनन करनेसे प्रतीत होता है कि विधवा स्त्रियां व बालक सोकमें रहती हैं व मार्गपर लेट जाती हैं व अपने कपडे फाडती हैं व केशर पकडती हैं व तो सदा रोती रहती हैं आंसू बहाता है और दुःखके कारण कृश होती है और रोगी भी होती है।

आगे ४ वें मन्त्रमें कहा है कि जो (रिपं) पाप और [सुम्ब] दोष मनुष्य करता है जो [दुष्कृतं] कर्म मनुष्य करता है उसकी शुद्धि अवश्य होगी। यक्ष्मरोग कृशता करनेवाला है। सब रोगबीज यक्ष्म प्रभावसे दूर होते हैं, और निर्दोष होनेसे दीर्घजीवी होता है। ४१ वें मंत्रमें पर्वतशिखरपर (पर्वतस्य ककुभे) वास करनेसे बहुत लाभ होता है ऐसा कहा है। पर्वतके शिखरपर वायु शुद्ध होती है और उसके सेवनसे मनुष्य नीरोग हो जाता है। यह अनुभवकी बात है। यहां ' पर्वत ' को वृषभ कहा है यहां वृषभका अर्थ बल बढानेवाला है। पर्वतशिखरपर शुद्ध वायु बल बढानेवाला ही होता है। वायु ही प्राणका रूप धारण करके मनुष्योंमें जीवनशक्ति बढाता है। यहां पर्वतस (धाराः पतिताः) झरने झरते रहते हैं उनका जल भी आरोग्यवर्धक होता है। व्यायाम शुद्ध वायु, उत्तम जल और परिशुद्ध व पुष्टिकर दृश्यों वाली पर्वत शिखरपर होती हैं, इसलिए स्वास्थ्यकर दीर्घायु देनेवाला होता है। पाठक अपने देशमें देखें कि ऐसे उत्तम आरोग्यप्रद पर्वतशिखर कौनसे हैं। वहां जाय और वहांकी शुभ वायुसे अधिकसे अधिक लाभ उठावें।

मंत्र ४२ और ४३ में क्रव्याद् अग्निको दूर करनेका ही विषय है। क्रव्याद् अग्निको दूर करनेका ही अर्थ मृत्युको दूर करना है। आगेके तीन मन्त्रोंमें मुख्यतया यह कहा है कि गृहस्थी लोग घर घरमें अग्नि प्रदीप्त करके हवन करें। इस हवनसे मनुष्योंको दीर्घ आयु प्राप्त हो। जो मर चुके हैं वे पितृलोकमें चले जावें और जो जीवित हैं उनको धनधान्य बल आदि सब प्राप्त हो और व दीर्घजीवी बनें। सब प्रभु पर ही जोर डाल कर जनताको सुख और शान्ति मिले।

आगेके ४६ से ४९ तकके मंत्रोंमें कहा है कि गृहस्थी लोग अपने घरमें हवनाग्नि प्रदीप्त करें। यह अग्नि उनको शुभ अवस्थाको प्राप्त करा देगा। गृहस्थी लोग यज्ञरूप नौकाके द्वारा अपने दुःख दूर करें सूर्यप्रकाशसे लाभ उठावें अपने रोग और व्याधी दूर करें और नीरोगता प्राप्त करके शत वर्षके साथ दीर्घायुष्य प्राप्त करें।

जो लोग पापमें अपना जीवन व्यतीत करते हैं, वे अपमृत्युका दुःख भोगते हैं। अतः मनुष्योंको उचित है कि वे पाप न करें और सदा पुण्यमार्गमें ही चलते रहें। यह आशय ५० वें मंत्रका है। एकपञ्चाशवें मन्त्रमें कहा है कि वे स्वाधीन पदार्थोंका उपभोग करते हैं और जो दूसरोंके सिरपर चढकर उनको खाते हैं, या लूटते या उनको दुःख देते हैं, वे सदा पापभागी होते हैं। उनके पाप अधिकाधिक होते हैं और उस कारण उनके दुःख भी बहुत ही होते हैं। अतः मनुष्य पापसे बचे रहें जिससे व सुखी हो सकते हैं। बावनवें मन्त्रमें ऐसा कहा है कि जो बारबार पाप करते ही रहते हैं, उनको दुःख भोगना ही पडता है। अतः दुःख और कष्टों बचनेका एक मात्र उपाय यह है कि व पापसे बचे रहें। पापसे बचनेसे ही केवल सुख मिले और अपमृत्युसे बचना संभव है।

आगे त्रेपनवें मंत्रमें कहा है कि [कृष्णा धेनुः] काली गौ अथवा कृष्णवर्णकी (सीस) सीसा (लोहं) लोहा [कार्पासः] इनसे बचाव यह सब मनन करना आवश्यक है। वैद्य लोग इन पदार्थोंका विचार करें और इनसे किस तरह लाभ प्राप्त हो सकता है, इसकी विधि निश्चित करें। यह मंत्र बडा महत्त्वका है और खोज करने योग्य है। आगे ५४ वें मंत्रमें भी [इषीका] इषिका मूंज [तिल्पिञ्ज] तिलके डंठल आदि वस्तुओं द्वारा कुछ महत्त्वका प्रयोग कहा है। यह भी अन्वेषणीय है। इसपर विचार सुविज्ञ वैद्य करें। यह बडा आवश्यक विषय है और आरोग्यके साथ इसका संबंध है। अतः इसकी पद्धति सुविज्ञ वैद्योंद्वारा निश्चित होनी चाहिये।

आगे ५५ वें मन्त्रमें कहा है कि सूर्यप्रकाश आदि सेवन मनुष्य करें। यह तो आरोग्यका एक साधन अनुष्ठानके साथ मनुष्यके पास आता। मनुष्य इसका उपयोग अवश्य करे और लाभ उठावे। जो मनुष्य मर चुके हैं वे तो पितृलोकके मार्गसे चले गये हुए हैं। परंतु जो जीवित हैं उनका यहां रहना इस प्रकार करना चाहिये कि जिससे उनकी दीर्घ आयु प्राप्त हो सके।

इस तरह इस सूक्तके बहुत प्रार्थनाएं ही हैं, परंतु इसमें भी बडा बोधप्रद उपदेश दिया है। जो लोग इसका मनन करेंगे और आचरण करेंगे अपने आचरणमें ढालेंगे वे बहुत लाभ प्राप्त करते हुए इहपरलोकमें सुखके भागी हो सकते हैं।

स्वर्ग और ओदन।

(१)

(ऋषिः—यमः। देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः)

पुमान् पुंसोऽधि तिष्ठ चर्मेहि तत्र ह्वयस्व यतमा प्रिया ते।
यावन्तावग्रे प्रथमं संबभूवथुस्तद् वां वयो यमराज्ये समानम् ॥१॥
तावद् वां चक्षुस्तति वीर्याणि तावत् तेजस्ततिधा वाजिनानि।
अग्निः शरीरं सचते यदैधोऽधा पक्वान्मिथुना सं भवाथः ॥२॥
समस्मिंल्लोके समु देवयाने सं स्मा समेतं यमराज्येषु।
पूतौ पवित्रैरुप तद्ध्वयेथां यद्यद् रेतो अधि वां संबभूव ॥३॥

अर्थ—(पुंसः पुमान्) मनुष्योंमें बलवान् पुरुष तू (अधितिष्ठ) सभ्योंका अधिष्ठाता बनकर विराज। (चर्म इहि) आसनपर बैठ। (तत्र ते यतमा प्रिया ह्वयस्व) वहां जो तेरे विशेष प्रिय हैं उनको बुला। (अग्रे यावन्तौ प्रथमं संबभूवथुः) पहिले जो आपसे प्रथम मिल गये थे (तद् वां वयः) वह आपका सामर्थ्य (यमराज्ये समानं) यमराज्यमें समान है ॥ १ ॥

(तावद् वां चक्षुः) वैसी बलवान् आपकी दृष्टि है (तति वीर्याणि) वैसे आपके पराक्रम हैं। (तावत् तेजः) वैसा आपका तेज है (ततिधा वाजिनानि) और वैसे आपके बल हैं। (यदा अग्निः एधः शरीरं सचते) जब आग समिधाके समान इस शरीरको प्राप्त करता है (अधा) तब हे (मिथुना) दम्पतियो (पक्वात् संभवाथः) परिपक्व होनेके पश्चात् तुम उत्पन्न होते हो ॥ २ ॥

(अस्मिन् लोके सं एतं) इस लोकमें मिलकर रहो। (देवयाने उ सं एतं) देवयानमें मिलकर चलो। (यमराज्येषु सं समेतं) नियमराजके राज्योंमें भी मिलकर जाना। (यद् यद् वां रेतः) जो जो तुम दोनोंका वीर्य पराक्रम आदि (सं बभूव) मिलकर होनेवाला है (तद्) वह (पूतौ) स्वयं पवित्र होते हुए तुम दोनों (उप ह्वयेथां) प्राप्त करो, अपने पास बुलाओ ॥ ३ ॥

भावार्थ— मनुष्योंमें जो उत्तम अधिक बलवान् होगा वही सबका अधिष्ठाता होने योग्य है। वैसा मनुष्य अधिष्ठाता बने। वह सुखकर आसनपर बैठे। वहां अपने हितकारी अनुयायियोंको बुलावे, सबको एकत्र मिलावे। यह मिलाप ही शक्ति उत्पन्न करता है। और इसीसे राज्यका निर्धारण होता है। राष्ट्रमें यह शक्ति समान रीतिसे बांटी जाय, अर्थात् किसी एकमें वह अमर्यादित रीतिसे केंद्रित न होवे ॥ १ ॥

ऐसा होनेसे ही सबकी दृष्टी उत्तम रहने व ... होगा सबका तेज फैलेगा और बल बढेगा। जैसा अग्नि समिधाओंसे तेज बढाता है वैसा यह संघटन बल मनुष्यका तेज बढाता है इसीसे सब प्रकारकी शक्तियोंकी परिपक्वता होती है और इसीसे वृद्धि भी हो सकती है ॥ २ ॥

दोनों मिलकर रहें आपसमें कभी विरोध न रखें। इस लोकमें धर्मके मार्गमें देवयानके मार्गमें और यमराज्यमें भी मिलकर रहनेसे लाभ होगा। आपसकी फूट होनेसे ही दुःख होगा। जो कुछ वीर्य पराक्रम करना हो वह सब स्वयं पवित्र होकर अपना उपक्रम करके करो ॥ ३ ॥

आपस्पुत्रासो अभि सं विशध्वमिमं जीवं जीवधन्याः समेत्य ।
तासां भजध्वममृतं यमाहुर्यमोदनं पचति वां जनित्री । ॥४॥
यं वां पिता पचति यं च माता रिप्रान्निर्मुक्त्यै शमलाच्च वाचः ।
स ओदनः शतधारः स्वर्ग उभे व्याप नभसी महित्वा ॥५॥
उभे नभसी उभयांश्च लोकान् ये यज्वनामभिजिताः स्वर्गाः ।
तेषां ज्योतिष्मान् मधुमान् यो अग्रे तस्मिन् पुत्रैर्जरसि सं श्रयेथाम् ॥६॥
प्राचींप्राचीं प्रदिशमा रभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते ।
यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम् ॥७॥

अर्थ- हे (पुत्रासः) पुत्रो ! (आपः अभिसंविशध्वम्) जलोंमें घुसो। हे (जीवधन्याः) जीवको धन्य करनेवालो ! (इमं जीवं समेत्य) इस जीवदशाको प्राप्त होकर (तासां अमृतं भजध्वं) उन जीवदशाओंसे अमृतको प्राप्त करो। (यं ओदनं वां जनित्री पचति) जिस अमृतान्नको आपकी जननी–प्रकृति–पका रही है उसका सब (आहुः) वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

(वां पिता माता च) आपके माता और पिता (रिप्रात् शमलात् च वाचः निर्मुक्त्यै) पापयुक्त और मलिनता युक्त वाणीसे मुक्त होनेके लिये (यं पचतः) जिसको परिपक्व कर रहे हैं (सः शतधारः स्वर्गः ओदनः) वह सैकडों धाराओंसे सुख देनेवाला स्वर्गसाधक अन्न (महित्वा उभे नभसी व्याप) अपनी महिमासे दोनों लोकोंको व्यापता है ॥ ५ ॥

(ये यज्वनां अभिजिताः स्वर्गाः) जो याजकोंको प्राप्त होनेवाले स्वर्गलोक हैं उन (उभे नभसी उभयान् च लोकान्) उन दोनों लोकोंको प्राप्त होओ। (तेषां यः मधुमान् ज्योतिष्मान्) उनमें जो मीठा और तेजस्वी स्वर्ग है, उसे प्राप्त करो। (तस्मिन् अग्रे) उसमें मुख्य स्थानपर (पुत्रैः जरसि संश्रयेथाम्) पुत्रोंके साथ वृद्ध अवस्थामें आश्रय करो ॥ ६ ॥

(प्राचीं प्राचीं प्रदिशं आरभेथां) पूर्व दिशाकी ओर आगे बढो, (एतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते) इस लोकको श्रद्धावान् लोग प्राप्त करते हैं। (यत् वां पक्वं अग्नौ परिविष्टं) जो तुम्हारा परिपक्व होकर अग्निमें हवन किया गया है। (दम्पती) स्त्रीपुरुषो ! (तस्य गुप्तये संश्रयेथाम्) उसकी रक्षाके लिये गृहस्थाश्रमका आश्रय करो ॥ ७ ॥

भावार्थ— हे अपने कर्मोंसे धन्य बननेवाले पुत्रो ! तुम अपने जीवनमें शुद्ध रहो कभी अशुद्ध न बनो। इस जीवनको प्राप्त करके अमर बनो तुम्हारे लिये अमृत प्रदान करनेके लिये ही तुम्हारी प्रकृतिमाता इस अन्नको तैयार कर रही है ॥ ४ ॥

पापवृत्ति और मलिन वाणीसे दोनोंसे मुक्त होना चाहिये। यही माता पिता और पुत्रोंको भी करना चाहिये। इस अन्नसे शुद्ध बनें। इसीसे अनुपम स्वर्गसुख प्राप्त हो सकता है जो दोनों लोकोंमें मिलनेवाला है ॥ ५ ॥

यज्ञकर्ताओंको जो सुखलोक प्राप्त होते हैं उनमें जो सबसे श्रेष्ठ स्थान है जो अधिक सुखदायी और अधिक तेजस्वी है उसको प्राप्त करके वृद्ध अवस्थामें पुत्रोंके समेत वहां आनंदसे रहो ॥ ६ ॥

श्रद्धासे प्रकाशकी दिशाके मार्गसे जाओ। श्रद्धासे ही उन्नति प्राप्त होती है। जो कुछ परिपक्व अन्न हुआ है उसकी रक्षा करनेके लिये मिलकर रहो ॥ ७ ॥

दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत् ।
तस्मिन् वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाय शर्म बहुलं नि यच्छात् ॥ ८ ॥
प्रतीची दिशामियमिद् वरं यस्यां सोमो अधिपा मृडिता च ।
तस्यां श्रयेथां सुकृतः सचेथामधा पक्वान्मिथुना सं भवाथः ॥ ९ ॥
उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावद् दिशामुदीची कृणवन्नो अग्रम् ।
पाङ्क्तं छन्दः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वाङ्गैः सह सं भवेम ॥१०॥(१३)
ध्रुवेयं विराण्नमो अस्त्वस्यै शिवा पुत्रेभ्य उत मह्यमस्तु ।
सा नो देव्यदिते विश्ववार इर्य इव गोपा अभि रक्ष पक्वम् ॥११॥

अर्थ-(दक्षिणां दिशं अभिनक्षमाणौ) दक्षिण दिशाकी ओर अपना कदम बढाते हुए (एतत् पात्र अभिपर्यावर्तेथां) इस पात्रके चारोंओर भ्रमण करो। (तस्मिन् वां) उसमें तुमको (पितृभिः संविदानः यम) पितरोंके साथ रहनेवाला यम (पक्वाय बहुलं शर्म नियच्छात्) परिपक्व होनेके लिए बहुत सुख प्रदान करे ॥ ८ ॥

(इयं प्रतीची) यह पश्चिमदिशा है (इत् दिशां वर) यह दिशाओंमें श्रेष्ठ दिशा है। (यस्यां सोमः अधिपा मृडिता च) जिस दिशामें सोम अधिराजा और सुखदाता है (तस्यां श्रयेथां) उसमें आश्रय करो और (सुकृतं सचेथां) सुकृतको प्राप्त होओ। (हे मिथुनौ अधा पक्वात् सं भवाथः) हे स्त्रीपुरुषो ! पश्चात् परिपक्व होनेपर मिलकर उन्नतिको प्राप्त होओ ॥ ९ ॥

(उत्तरं राष्ट्रं प्रजया उत्तरावत्) श्रेष्ठ राष्ट्र सुप्रजासे अधिक श्रेष्ठ होता है। (उदीची दिशां नः अग्रं कृणवत्) यह उत्तर दिशा हमको आगे बढावे। (पुरुषः पाङ्क्तः छन्दः बभूव) मनुष्य पञ्चविध छन्दवाला होता है। हम सब (विश्वैः विश्वाङ्गैः सह सं भवेम) सब अंगोंके साथ परिपूर्ण उन्नत होवें ॥ १० ॥

(इयं ध्रुवा विराट्) यह ध्रुव दिशा बडी शोभायमान है (अस्यै नमः अस्तु) इसके लिए नमस्कार हो। (पुत्रेभ्यः उत मह्यं शिवा अस्तु) यह पुत्रोंके लिये और मेरे लिये शुभ हो। हे (विश्ववार अदिते देवि) विश्वका हित करनेवाली अखण्डनीय देवी ! (सा नः इर्य इव) वह तू हमें बलके समान (गोपा पक्वं अभि रक्ष) सुरक्षित करती हुई परिपक्व करके सुरक्षित कर ॥ ११ ॥

भावार्थ— गृहस्थाश्रममें दक्षिणकी दिशासे आगे बढते हुए अपनी पात्रताके केन्द्रके पास रहो। वहां तुम्हारी परिपक्वता होनेके लिये नियामक देव तुम्हारी सहायता करेगा। वही तुम्हें सुख देता हुआ आगे ले जायगा ॥ ८ ॥

पश्चिमदिशा विश्रामकी दिशा है, वहां सोमदेव सुख देता है। इसमें-गृहस्थाश्रममें-विश्राम करके अच्छे कर्म करो और अपने आपको परिपक्व करते हुए उन्नत हो जाओ ॥ ९ ॥

प्रजाकी उन्नतिसे राष्ट्र अधिक ऊंचा होता है। अधिक ऊंचा होना ही उत्तर [उत्तर] दिशाका संदेश है। मनुष्योंके पांच भेद हैं और उनकी सर्वांगीण उन्नति एकत्रतासे ही हो सकती है ॥ १० ॥

यह ध्रुवदिशा है यह सब तेजवाली पृथ्वी है इस मातृभूमिके लिए मेरा नमस्कार है। यह सुझ और मेरी संतानोंके लिये शुभ होवे। यह हमारी उत्तम रक्षा करे ॥ ११ ॥

पितेव पुत्रानभि सं स्वजस्व नः शिवा नो वाता इह वान्तु भूमौ ।
यमोदनं पचतो देवते इह तं नस्तप उत सत्यं च वेत्तु ॥१२॥
यद्यत् कृष्णः शकुन एह गत्वा त्सरन् विषक्तं बिल आससाद ।
यद्वा दास्या र्द्रहस्ता समङ्क्त उलूखलं मुसलं शुम्भतापः ॥१३॥
अयं ग्रावा पृथुबुध्नो वयोधाः पूतः पवित्रैरप हन्तु रक्षः ।
आ रोह चर्म महि शर्म यच्छ मा दम्पती पौत्रमघं नि गाताम् ॥१४॥
वनस्पतिः सह देवैर्न आगन् रक्षः पिशाचाँ अपबाधमानः ।
स उच्छ्रयातै प्र वदाति वाचं तेन लोकाँ अभि सर्वान् जयेम ॥१५॥

अर्थ — (पिता इव पुत्रान् नः अभि सं स्वजस्व) जैसे पिता पुत्रोंको वैसे तुम हम सबको मिलो । (इह भूमौ शिवाः वाताः वान्तु) इस भूमिमें हमारे लिये शुभ वायु बहते रहें । हे देवते ! (इह यं ओदनं पचतः) यहां जिस अन्नको ये दो पकाते हैं (तं नः तपः सत्यं च वेत्तु) वह हमारे तप और सत्यको जाने ॥ १२ ॥

(यत् यत् कृष्णः शकुनः इह आगत्य) यदि काला पक्षी-कौवा यहां आकर (त्सरन् विषक्तं बिले आससाद) छिपता हुआ छिपछिपकर अपने बिलमें-घरमें-घुसकर बैठ जाय (यत् वा आर्द्रहस्ता दासी) अथवा यदि गीले हाथोंवाली दासी (उलूखलं मुसलं समङ्क्त) ऊखल और मूसलको गीला करे (आपः शुम्भत) वह जल इसे शुद्ध करे ॥ १३ ॥

(अयं ग्रावा पृथुबुध्नः वयोधाः) यह पत्थर विशाल आधारवाला अन्न देता है- अन्न कूटकर तैयार कर देता है (पवित्रैः पूतः रक्षः अप हन्तु) पवित्रता करनेवाले साधनोंसे शुद्ध होता हुआ यह दुष्टोंका नाश करे । (चर्म आरोह) चर्मपर बैठ (महि शर्म यच्छ) बडा सुख दे । (दम्पती पौत्रं अघं मा निगाताम्) स्त्रीपुरुषोंपर पुत्रका दुःख न आवे ॥ १४ ॥

(वनस्पतिः देवैः सह नः आगन्) यह वन देवताओंके साथ यहां हमारे पास आगया है । (रक्षः पिशाचान् अपबाधमानः) वह राक्षसों और पिशाचोंको दूर करता है । (स उच्छ्रयातै वाचं प्रवदाति) वह ऊंचा उठता है और घोषणा करता है । (तेन सर्वान् लोकान् अभिजयेम) उससे सब लोकोंको जीतेंगे ॥ १५ ॥

भावार्थ — पिता पुत्रोंको प्यार करता है वैसा प्यार सब परस्पर करें । हमें अनुकूल वायु मिलती रहे । यज्ञके लिये अन्न परिपाक करनेवाले तप और सत्यका महत्त्व जानें ॥ १२ ॥

यदि कौवा आकर एकदम अपने घोंसलेमें घुसे अथवा गीले हाथसे दासी ऊखलमूसलको गीला करे, तो वह दोष नाश करो अर्थात् गीले हाथसे कोई इसको स्पर्श न करे ॥ १३ ॥

पत्थर ऊखल और मूसल धान्य स्वच्छ करनेके लिये अच्छा है । पहिले पानी डालके स्वच्छ करो और उसके बाद किसी चर्म आदिपर रखो और कूटो । कूटनेसे सब दोष दूर होंगे और यह धान्य हितकारी होगा । इससे स्त्रीपुरुषोंको पुत्रके नाशका दुःख सहना न पडे अर्थात् पुत्र शीघ्र नहीं मरेंगे ॥ १४ ॥

वनस्पति सब रोगबीजरूपी राक्षसों और पिशाचोंको दूर करती है, उसकी घोषणा है कि उसके सेवनसे सब सुख प्राप्त होंगे ॥ १५ ॥

सप्त मेधान् पशवः पर्यगृह्णन् य एषां ज्योतिष्माँ उत यश्चकर्श।
त्रयस्त्रिंशद् देवतास्तान्त्सचन्ते स नः स्वर्गमभि नेष लोकम् ॥१६॥
स्वर्गं लोकमभि नो नयासि सं जायया सह पुत्रैः स्याम।
गृह्णामि हस्तमनु मैत्वत्र मा नस्तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः ॥१७॥
ग्राहिं पाप्मानमति ताँ अयाम तमो व्यस्य प्र वदासि वल्गु।
वानस्पत्य उद्यतो मा जिहिंसीर्मा तण्डुलं वि शरीर्देवयन्तम् ॥१८॥
विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुप याह्येतम्।
वर्षवृद्धमुप यच्छ शूर्पं तुषं पलावानप तद् विनक्तु ॥१९॥

अर्थ—(पशवः सप्त मेधान् परि अगृह्णन्) पशु सातों यज्ञोंको घेरते हैं। (त्रयस्त्रिंशत् देवताः तान् सचन्ते) तेतीस देवताएं उनका सेवन करते हैं। (यः एषां ज्योतिष्मान् उत यः चकर्श) जो इनमें तेजस्वी और जो इनमें कृश होता है (सः नः स्वर्गं लोकं अभि नेष) वह सोम हमें स्वर्गलोकको प्राप्त करावे॥१६॥

(नः स्वर्गं लोकं अभिनयासि) हमें तू स्वर्गलोकमें पहुंचाता है (जायया पुत्रैः सह स्याम) स्त्री और पुत्रोंके साथ हम वहां सुखसे रहें। (हस्तं गृह्णामि) जिसका मैं पाणिग्रहण करके हाथ पकड़ता हूं (मा अत्र अनु एतु) मेरा यहां अनुसरण करे। (निर्ऋतिः अरातिः नः मा तारीत्) दुर्गति और शत्रु हमें कष्ट न देवें॥१७॥

(तां ग्राहिं पाप्मानं) उस पापसे उत्पन्न होनेवाले रोगको (अति अयाम) पार करेंगे। (तमः व्यस्य वल्गु प्रवदासि) अंधेरेको दूर करके मनोहर वचन बोलोगे। हे (वानस्पत्य) वन पत्तियोंसे बने हुए! तू (उद्यतः मा जिहिंसीः) उठकर मत हिंसा कर। (मा तण्डुलं) चावलका नाश न कर। (देवयन्तं मा वि शरीः) देव बननेकी इच्छा करनेवालेका नाश न कर॥१८॥

(विश्वव्यचाः घृतपृष्ठः भविष्यन्) चारों ओर फैला हुआ घी जिसपर रखा है ऐसा होता हुआ। (सयोनिः एतं लोकं उपयाहि) एक स्थानमें उत्पन्न हुआ तू इस लोकको प्राप्त हो। (वर्षवृद्धं शूर्पं उपयच्छ) एक वर्षका सूप पास ले और (तद् तुषं पलावान् विनक्तु) वह तुष और छिलकोंको दूर करे॥१९॥

भावार्थ—सातों यज्ञोंमें जो अग्नि पशुओंके घृत आदि पदार्थोंका उपयोग होता है। तैंतीस देवताओंका इसमें संबंध रहता है। शुक्लपक्षमें तेजस्वी होनेवाला और कृष्णपक्षमें क्षीण होनेवाला सोम अर्थात् चन्द्र हमें स्वर्गलोकमें पहुंचावेगा॥१६॥

मृत्युके पीछे हम स्वर्गको प्राप्त होंगे तबतक यहां भी स्त्री पुत्रोंके साथ आनन्दसे रहेंगे। मैं जिस स्त्रीका पाणिग्रहण करता हूं वह भी मेरे साथ मेरी अनुगामिनी होकर रहे। हमें कोई दुर्गति और शत्रु कभी कष्ट न देवे॥१७॥

दोष आचारसे रोग उत्पन्न होते हैं उनको दूर करना चाहिये। अज्ञानान्धकार दूर करना चाहिये। मनोहर भाषण करना चाहिये। इसके साथ अन्नरूपक चावलोंका नाश न करे उसमें धान्योंका भी नाश न हो। धान्य उत्पन्न करनेके इच्छुकका कभी नाश न हो॥१८॥

चारों ओर फैला हुआ धान्य हाथमें लेकर सूपसे तुष और छिलकोंको दूर करके उत्तम चावल अलग करो॥१९॥

त्रयो लोकाः संमिता ब्राह्मणेन द्यौरेवासौ पृथिव्यन्तरिक्षम् ।
अंशून् गृभीत्वान्वारभेथामा प्यायन्तां पुनरा यन्तु शूर्पम् ॥२०॥(१४)
पृथग्रूपाणि बहुधा पशूनामेकरूपो भवसि सं समृद्ध्या ।
एतां त्वचं लोहिनीं तां नुदस्व ग्रावा शुम्भाति मलग इव वस्त्रा ॥२१॥
पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि तनूः समानी विकृता त एषा ।
यद्यद् द्युत्तं लिखितमर्पणेन तेन मा सुस्रोर्ब्रह्मणापि तद् वपामि ॥२२॥
जनित्रीव प्रति हर्यासि सूनुं सं त्वा दधामि पृथिवीं पृथिव्या ।
उखा कुम्भी वेद्यां मा व्यथिष्ठा यज्ञायुधैराज्येनातिषक्ता ॥२३॥

अर्थ—(ब्राह्मणेन त्रयः लोकाः संमिताः) ब्राह्मणके ज्ञानसे तीनों लोक प्राप्त हुए हैं। (असौ द्यौः एव पृथिवी अन्तरिक्षं) यह द्यु यह अन्तरिक्ष और यह पृथ्वी है। (अंशून् गृभीत्वा अनु आरभेथां) धान्यके अंशोंको लेकर क्रमपूर्वक पकाना आरंभ करो और (आप्यायन्तां) वृद्धिको प्राप्त हो तथा [पुनः शूर्पं आयन्तु] फिर छाजपर शुद्ध होनेके लिये प्राप्त किया जावे ॥ २० ॥

[पशूनां पृथक् बहुधा रूपाणि] पशुओंके पृथक् पृथक् अनेक रूप हैं तथापि [समृद्ध्या एकरूपः भवसि] अपनी महिमासे सोम एकरूप होता है। [एतां तां लोहिनीं त्वचं नुदस्व] इस लाल त्वचाको दूर कर। [मलगः इव] जैसा धोबी वस्त्रोंको शुद्ध करता है वैसा ही ओषधिको [ग्रावा शुम्भाति] पत्थर भी शुद्ध करता है ॥ २१ ॥

[त्वा पृथिवीं पृथिव्यां आवेशयामि] पृथ्वीतत्त्वको पृथ्वीमें ही स्थापित करता हूं। [एषा ते विकृता तनूः] यह तेरी [प्रत्यक्ष] विकृत हुई तनू है। दूसरी तेरी (समानी) समानी अर्थात् न बिगडी हुई (प्रकृतिरूप) है। (यत् यत् द्युत्तं अर्पणेन लिखितं) जो कुछ घिसनेसे छिला या खुदा गया है (तेन मा सुस्रोः) उस कारण रस न चूवे। [तत् ब्रह्मणा अपि वपामि] वह ज्ञानद्वारा ठीक करता हूं ॥ २२ ॥

[जनित्री सूनुं इव] जननी जैसे अपने पुत्रको करती है वैसे ही [त्वा प्रति हर्यासि] तुझे प्यार करती है। [पृथिवीं पृथिव्या संदधामि] पृथ्वीतत्त्वको पृथ्वीके साथ मिलाता हूं। [उखा कुंभी वेद्यां मा व्यथिष्ठाः] घडे और कुंभ आपपर न हटें [यज्ञायुधैः आज्येन अतिषक्ता] वे यज्ञसाधनों और घृतसे सिंचित हुए हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ— ब्राह्मणके ज्ञानसे भूमि अन्तरिक्ष और द्युलोककी प्राप्ति होती है। वैसे ही छाजसे धान्य स्वच्छ होता है, पुष्ट होता है और उत्तम स्वच्छ धान्य मिलता है। इस तरह वारंवार धान्य स्वच्छ करना योग्य है ॥ २० ॥

पशुओंमें अनेक रूप हैं परंतु औषधि एक होती है। वही ओषधि सब पशुओंको ठीक करती है। धोबी जैसे साफ करता है उस प्रकार पत्थरभी वस्त्रोंको साफ करता है ॥ २१ ॥

पृथ्वीमें पृथ्वीतत्त्व है इसी तरह अन्य तत्त्व अन्योंमें हैं। मूल प्रकृति गुणसाम्या है उससे बिगडकर यह सृष्टि बनी है अतः यह विकृति है। उपयोगसे इसमें बिगाड होता है। ज्ञानसे यह विकृति कम भी हो सकती है ॥ २२ ॥

माता पुत्रको जैसा प्यारसे पकडती है वैसा ही यज्ञपात्र पकडना चाहिये। पात्रोंसे अव्यवस्थित होना नहीं चाहिये। जो इनका बर्तनमें घी भरा होता है और यज्ञसाधनोंका उससे सेवन होता है ॥ २३ ॥

अग्निः पचन् रक्षतु त्वा पुरस्तादिन्द्रो रक्षतु दक्षिणतो मरुत्वान्।
वरुणस्त्वा दृंहाद्धरुणे प्रतीच्या उत्तरात् त्वा सोमः सं ददातै ॥२४॥
पूताः पवित्रैः पवन्ते अभ्राद् दिवं च यन्ति पृथिवीं च लोकान्।
ता जीवला जीवधन्याः प्रतिष्ठाः पात्र आसिक्ताः पर्यग्निरिन्धाम् ॥२५॥
आ यन्ति दिवः पृथिवीं सचन्ते भूम्याः सचन्ते अध्यन्तरिक्षम्।
शुद्धाः सतीस्ता उ शुम्भन्त एव ता नः स्वर्गमभि लोकं नयन्तु ॥२६॥
उतेव प्रभ्वीरुत संमितास उत शुक्राः शुचयश्चामृतासः।
ता ओदनं दम्पतिभ्यां प्रशिष्टा आपः शिक्षन्तीः पचता सुनाथाः ॥२७॥
संख्याता स्तोकाः पृथिवीं सचन्ते प्राणापानैः संमिता ओषधीभिः।
असंख्याता ओप्यमानाः सुवर्णाः सर्वं व्यापुः शुचयः शुचित्वम् ॥२८॥

अर्थ-[पचन् अग्निः पुरस्तात् त्वा रक्षतु] पकानेवाला अग्नि तेरी आगेसे रक्षा करे। [मरुत्वान् इन्द्रो दक्षिणतः रक्षतु] मरुतोंके साथ इन्द्र दक्षिणकी ओरसे रक्षा करे। [प्रतीच्याः वरुणः धरुणे त्वा दृंहात्] पश्चिमसे वरुण तुझे आधारके स्थानमें सुदृढ करे। [सोमः त्वा उत्तरात् संददातै] सोम तुझे उत्तर दिशासे जोडकर सुरक्षित रखे ॥ २४ ॥

जलधाराएं [पवित्रैः पूताः अभ्रात् पवन्ते] पवित्रसे पुनीत होकर मेघोंसे आकर सबको पवित्र करते हैं। [दिवं पृथिवीं च लोकं यन्ति] द्यु और पृथिवीको प्राप्त होते हैं। [ताः जीवलाः जीवधन्याः प्रतिष्ठाः] वह जीवन देनेवाली और जीवको धन्यता देनेवाली तथा सबका आधार देनेवाली [पात्रे आसिक्ताः] पात्रमें डाली गई जलधाराओंको [अग्निः परि इन्धां] अग्नि चारों ओरसे तपावे ॥ २५ ॥

[दिवः आयन्ति] जलधाराएं द्युलोकसे आती हैं [पृथिवीं सचन्ते] पृथ्वीपर एकत्रित होती हैं, [भूम्याः अन्तरिक्षं अधिसचन्ते] भूमिसे वाष्परूपसे अन्तरिक्षमें जमा होती हैं। वे [शुद्धाः सतीः ताः उ शुम्भन्त एव] शुद्ध हुए जल सबको पवित्र करते हैं। [ताः नः स्वर्गं लोकं अभिनयन्तु] वे हमें स्वर्गलोकको प्राप्त करावें ॥ २६ ॥

[उत इव प्रभ्वीः उत संमितासः] जल निश्चयसे प्रभावयुक्त है और संमत [उत शुक्राः शुचयः अमृतासः च] और वह बलवर्धक, पवित्र और अमृत है। [ताः प्रशिष्टाः शिक्षन्तीः आपः] वह उत्तम शिक्षायुक्त उत्तम बनाया हुआ जल [दंपतीभ्यां ओदनं पचत] स्त्रीपुरुषके लिये चावल अन्न पकाता है ॥ २७ ॥

[संख्याताः स्तोकाः पृथिवीं सचन्ते] गिने हुए जलबिंदु पृथ्वीपर आते हैं। वे [प्राणापानैः ओषधीभिः संमिताः] औषधियोंके साथ मिलनेसे प्राणापानके गुणोंसे युक्त होते हैं। [असंख्याताः ओप्यमानाः सुवर्णाः शुचयः] असंख्यात बिखरे हुए उत्तम रंगवाले शुद्ध जलबिंदु [सर्वं शुचित्वं व्यापुः] सब पवित्रताको व्यापते हैं ॥ २८ ॥

भावार्थ— अग्नि इन्द्र वरुण और सोम ये देव पूर्व दक्षिण पश्चिम और उत्तर दिशासे सबकी रक्षा करें ॥ २४ ॥

मेघके द्वारा पृथ्वीपर आया जल पात्रमें भरकर रखा जाता है। वह जल जीवोंको जीवन देता, पुष्ट करता और धन्य बनाता है। इसको अग्निद्वारा उष्ण किया जावे ॥ २५ ॥

जल वाष्परूपसे ऊपर जाता है और वहांसे वृष्टिरूपसे नीचे पृथ्वीपर आता है। यह शुद्ध अवस्थामें सबको शुद्ध करता हुआ सुख पहुंचाता है ॥ २६ ॥

जल प्रभावशाली प्रशंसनीय बलवर्धक पवित्र रोग दूर करनेवाला है। ऐसा उत्तम जल परिशुद्ध रीतिसे लाये हुए अन्नका पाक करनेमें प्रयुक्त हो ॥ २७ ॥

कुछ थोडे जलके बिंदु औषधियोंसे मिश्रित होकर प्राणियोंके प्राण धारण करते हैं। परंतु असंख्यात सुंदर जलबिंदु इधर उधर विचर रहे हैं। वे ही सबमें फैले रहते हैं ॥ २८ ॥

उदौधन्त्यभि वल्गन्ति तप्ताः फेनमस्यन्ति बहुलांश्च बिन्दून् ।
योषेव दृष्ट्वा पतिमृत्वियायैतैस्तण्डुलैर्भवता समापः ॥१९॥
उत्थापय सीदतो बुध्न एनानद्भिरात्मानमभि सं स्पृशन्ताम् ।
अमासि पात्रैरुदकं यदेतन्मितास्तण्डुलाः प्रदिशो यदीमाः ॥२०॥ (१५)
प्र यच्छ पर्शुं त्वरया हरौषमहिंसन्त ओषधीर्दान्तु पर्वन् ।
यासां सोमः परि राज्यं बभूवामन्युता नो वीरुधो भवन्तु ॥२१॥
नवं बर्हिरोदनाय स्तृणीत प्रियं हृदश्चक्षुषो वल्ग्वस्तु ।
तस्मिन् देवाः सह दैवीर्विशन्त्विमं प्राश्नन्त्वृतुभिर्निषद्य ॥२२॥
वनस्पते स्तीर्णमा सीद बर्हिरग्निष्टोमैः संमितो देवताभिः ।
त्वष्ट्रेव रूपं सुकृतं स्वधित्यैना एहाः परि पात्रे ददृश्राम् ॥२३॥

अर्थ— [तप्ताः उदौधन्ति अभिवल्गन्ति] तपा जल कूदता है पुकारता है [फेनं बहुलान् बिन्दून् च अस्यन्ति] फेन और बहुतसे बिंदु फेंकता है। हे [आपः] जलो ! [योषा पतिं दृष्ट्वा ऋत्वियाय समवति] जैसी स्त्री भी पतिको देखकर ऋतुकर्मके लिये एक होती है उसी प्रकार [एतैः तण्डुलैः समभवत] इन चावलोंके साथ तुम मिल जाओ ॥ १९ ॥

[बुध्ने सीदतः एनान् उत्थापय] नीचे बैठे हुए इन चावलोंको ऊपर उठाओ। [अद्भिः आत्मानं अभिसंस्पृशन्ताम्] जलोंके साथ वह स्वयं अच्छी तरह संयुक्त हो जाय। [यत् एतत् उदकं पात्रैः अमासि] यह जल पात्रोंसे मैंने नाप लिया है। [इमाः प्रदिशः तण्डुलाः मिताः] तथा ये चारों दिशाओंमें नापनेवाले चावल भी मापे हुए हैं ॥ २० ॥

[पर्शुं प्रयच्छ] फरसा दो [त्वरय] शीघ्रता कर और [ओषं हर] यहां ले आ। [अहिंसन्तः ओषधीः पर्वन् दान्तु] हिंसा न करते हुए ओषधीके पर्वोंको काटा जावे। (यासां राज्यं सोमः परि बभूव) इन औषधियोंके राज्य का राजा सोम है। [वीरुधः नः अमन्युताः भवन्तु] औषधियां हमारे साथ क्रोधरहित हों ॥ २१ ॥

[नवं बर्हिः ओदनाय स्तृणीत] नवीन चटाई इस चावलके लिये फैलाओ। [हृदः प्रियं चक्षुषः वल्गु अस्तु] वह सब हृदयके लिये प्रिय और देखनेके लिये सुंदर हो। [तस्मिन् देवाः दैवीः सह विशन्तु] वहां देवियोंके समेत सब देव आ जावें। [निषद्य इमं ऋतुभिः प्राश्नन्तु] बैठकर इस अन्नको ऋतुओंके अनुसार खावें ॥ २२ ॥

[वनस्पते स्तीर्णं बर्हिः आसीद] हे वनस्पतिसे उत्पन्न स्तंभ ! इस फैले आसनपर बैठ। तू [अग्निष्टोमैः देवताभिः संमितः] अग्निष्टोम यज्ञके देवोंसे संमानित हो। [त्वष्टा स्वधित्या रूपं सुकृतं] त्वष्टा अपने कुल्हाडेसे तेरे रूपको सुंदर बनाता है। [एना एहाः पात्रे परि ददृश्रन्] ये आकांक्षायुक्त इस पात्रमें रहें ॥ २३ ॥

भावार्थ— जल तप जानेपर उछलता है शब्द करता है, फेन और बुदबुदोंको ऊपर फेंकता है पुरुष करनेके समान हलचल करता है। जैसी स्त्री पतिके साथ मिलती है वैसा ही यह जल चावलोंके साथ मिल जाता है ॥ १९ ॥

चावल पकानेके समय आग पकनेपर नीचेसे ऊपर आने चाहिये जिससे वे जल चावलके साथ मिल जावें। पात्रमें चावल और जल भी मिलने चाहिये ॥ २० ॥

घास काटनेके लिये शीघ्र फरसा हाथमें ले शीघ्रताके साथ जोरसे काटो, परंतु ओषधियोंका नाश न करो। ये सब घास सोम राजाके राज्यमें हैं। इनसे ही हमारा पोषण होता है ॥ २१ ॥

चावल पकनेपर उसको रखनेके लिये नई चटाई फैलाओ। वह ऐसी हो कि जो देखनेके लिये सुंदर और हृदयके लिये प्रिय हो। वहीं सब देव आकर बैठें और यथेच्छ भक्षण करें ॥ २२ ॥

यज्ञस्तंभ अपने स्थानपर रखा जाय। वह स्तंभ तरखानके हथियारोंसे बना है। कारीगरोंसे इसका रूप सुंदर बनाया गया है। इसके साथ पात्रमें यह भात रहे ॥ २३ ॥

षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात् स्वः पक्वेनाभ्यश्नवातै ।
उपैनं जीवान् पितरश्च पुत्रा एतं स्वर्गं गमयान्तमग्नेः ॥३४॥
धर्ता ध्रियस्व धरुणे पृथिव्या अच्युतं त्वा देवताश्च्यावयन्तु ।
तं त्वा दम्पती जीवन्तौ जीवपुत्रावुद्वासयातः पर्यग्निधानात् ॥३५॥
सर्वान्त्समागा अभिजित्य लोकान् यावन्तः कामाः समतीतृपस्तान् ।
वि गाहेथामायवनं च दर्विरेकस्मिन् पात्रे अध्युद्धरैनम् ॥३६॥
उप स्तृणीहि प्रथय पुरस्ताद् घृतेन पात्रमभि घारयैतत् ।
वाश्रेवोस्रा तरुणं स्तनस्युमिमं देवासो अभिहिङ्कृणोत ॥३७॥

अर्थ— [निधिपाः षष्ट्यां शरत्सु] खजाना पालक इसी साठ वर्षोंमें [पक्वेन अभ्यश्नवातै स्वः अभीच्छात्] पके अन्नके दानसे स्वर्गप्राप्तिकी इच्छा करे। [पितरः पुत्राः च एनं उपजीवान्] पिता और पुत्र इसपर निर्भर रहें। [एनं अग्नेः अन्तं स्वर्गं गमय] इसको अग्निके पाससे स्वर्गके प्रति पहुंचाओ ॥ ३४ ॥

[धर्ता पृथिव्याः धरुणे ध्रियस्व] धारण करनेवाला तू अग्नि पृथिवीके आधारपर स्थिर रह। [अच्युतं त्वा देवताः च्यावयन्तु] न हिलनेवाले तुझे देवताएं हिला देवें। [जीवपुत्रौ जीवन्तौ दम्पती] जिनके पुत्र जीवित हैं ऐसे जीवित स्त्रीपुरुष [तं त्वा अग्निधानात् परि उद् वासयातः] तुझे अग्निधानके स्थानसे उठा देवें ॥ ३५ ॥

[तान् सर्वान् लोकान् अभिजित्य] उन सब लोकोंको जीतकर [समागाः यावन्तः कामाः समतीतृपः] संगत हुए जितने कामनाओंको तुमने तृप्त किया है। [आयवनं च दर्विं विगाहेथां] करछी आदि चमस अन्दर डालो और [एकस्मिन् पात्रे एनं अधि उद्धर] एकही पात्रमें इसको रख ॥ ३६ ॥

[उपस्तृणीहि पुरस्तात् प्रथय] घी डालो आगे फैलाओ [घृतेन एतत् पात्रं अभिघारय] घीसे यह पात्र भर दो। हे [देवासः] देवो! [स्तनस्युं तरुणं वाश्रा उस्रा इव] स्तन पीनेवाले बछड़ेको जैसी गौ चाहती है वैसे ही प्रेम इससे [अभि हिङ्कृणोत] मधुरताका शब्द करते हुए स्वीकार करें ॥ ३७ ॥

भावार्थ—जो अन्नका संग्रह करके उसको पकाकर दान करता है वह साठ वर्षतक दान करता रहेगा तो वह स्वर्गका अधिकारी होता है। इसी दानसे सब पारिवारिक जन जीवित रहते हैं। प्रार वह अन्नका हवन अग्निमें करता है जो अग्नि इसको स्वर्गमें पहुंचाता है ॥ ३४ ॥

अग्नि सबका धारण करता है, वह भूमिपर स्थिर रहे। देवतागण उसे अपने स्थानसे हटा देवें। जिनके पुत्रादि जीवित हैं ऐसे स्त्रीपुरुष अग्निस्थानसे अग्निको उठाकर हवनस्थानमें रखें ॥ ३५ ॥

सब मनुष्य उन सब लोकोंको जीतकर अपनी सब मनःकामनाओंको तृप्त करनेके लिये इस अन्नमें चमस डालकर उसका थोड़ा भाग इस पात्रमें ले लो ॥ ३६ ॥

पात्रमें घी डालो उसे फैलाओ घीसे पात्र भर दो चारों ओर लगाओ। उसमें अन्न रखकर वह देवताओंको दो, वे उसका स्वीकार करें। जैसे स्तन पीनेवाले बछड़ेको गौ स्वीकार करती है ॥ ३७ ॥

उपास्तरीरकरो लोकमेतमुरुः प्रथतामसमः स्वर्गः ।
तस्मिञ्छ्रयातै महिषः सुपर्णो देवा एनं देवताभ्यः प्र यच्छान् ॥१८॥
यद्यज्जाया पचति त्वत् परःपरः पतिर्वा जाये त्वत् तिरः ।
सं तत् सृजेथां सह वां तदस्तु संपादयन्तौ सह लोकमेकम् ॥१९॥
यावन्तो अस्याः पृथिवीं सचन्ते अस्मत् पुत्राः परि ये संबभूवुः ।
सर्वांस्ताँ उप पात्रे ह्वयेथां नाभिं जानानाः शिशवः समायान् ॥२०॥
वसोर्या धारा मधुना प्रपीना घृतेन मिश्रा अमृतस्य नाभयः ।
सर्वास्ता अव रुन्धे स्वर्गः षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात् ॥२१॥

अर्थ— तूने [एतं लोकं अकरः] इस लोकको बनाया और [उप अस्तरीः] उसको व्यवस्थित किया है। [असमः स्वर्गः उरुः प्रथताम्] जिसके समान कोई नहीं है ऐसा यह स्वर्ग खूब फैले। [तस्मिन् महिषः सुपर्णः श्रयातै] उसमें बलवान् सुपर्ण —सूर्य— आश्रय करता है। [एनं देवाः देवताभ्यः प्रयच्छान्] इसको देव देवताओंके लिये देते हैं ॥ १८ ॥

(यत् यत् त्वत् परः परः जाया पचति) जो कुछ तेरेसे अलग तेरी धर्मपत्नी पकाती है, हे (जाये) स्त्री! (त्वत् तिरः पतिः वा) तेरेसे भिन्न छिपकर पति जो कुछ पकाता है (तत् संसृजेथां) वह तुम दोनों मिलाओ, (तत् वां सह अस्तु) वह तुम दोनोंका साथ साथ किया हुआ हो (एकं लोकं सह संपादयन्तौ) तुम दोनों एक ही लोकको साथ साथ प्राप्त करते हो ॥ १९ ॥

(यावन्तः अस्मत् अस्याः पुत्राः) जितने मुझसे इस स्त्रीमें उत्पन्न हुए पुत्र (ये परि संबभूवुः) जो यहां चारों ओर हैं और जो पृथिवीं सचन्ते) मातृभूमिकी सेवा करते हैं (तान् सर्वान् पात्रे उपह्वयेथां) उन सबको पासमें भोजनके लिये बुलावें। (शिशवः जानानाः नाभिं समायान्) पुत्र भी जानते हुए इस एक ही केन्द्रमें आ जावें ॥ २० ॥

(याः मधुना प्रपीनाः घृतेन मिश्राः) जो मधुसे भरपूर और घीसे मिश्रित (अमृतस्य नाभयः वसोः धाराः) अमृतकी केन्द्रभूत धनकी धाराएं हैं (ताः सर्वाः स्वर्गः अवरुन्धे) उन सबको स्वर्ग अपने पास रखे। (निधिपाः षष्ट्यां शरत्सु अभीच्छात्) निधिका रक्षक साठ वर्षोंकी आयुमें इसकी इच्छा करे ॥ २१ ॥

भावार्थ— ईश्वरने इस लोकको और स्वर्गको बनाया और विस्तीर्ण करके फैलाया है। उसमें प्रकाशमान सूर्य स्थित है। सब देव इसके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं ॥ १८ ॥

पत्नी जो करे अथवा पति जो करे वह सब मिलाया जावे, दोनोंका मिलकर एक संसार हो। दोनोंमें भेद न हो। ऐसे मिलजुल कर रहें और एक ही गृहस्थधर्मकी शोभा बढावें ॥ १९ ॥

पतिपत्नीके जितने पुत्र हों अथवा संतान हों भोजनके समय सबको एकत्र बुलाया जावे। क्योंकि एक केन्द्रमें आना सबको योग्य है। सब मातृभूमिकी सेवा करें ॥ २० ॥

जो ऐश्वर्यके प्रवाह मधुर और घीसे मिले हुए अमरत्व देनेवाले स्वर्गमें हैं उनकी इच्छा मनुष्य अपनी आयुके साठ वर्ष होनेके पश्चात् करे ॥ २१ ॥

निधिं निधिपा अभ्येनमिच्छादनीश्वरा अभितः सन्तु येऽन्ये ।
अस्माभिर्दत्तो निहितः स्वर्गस्त्रिभिः काण्डैस्त्रीन्त्स्वर्गानरुक्षत् ॥४२॥
अग्नी रक्षस्तपतु यद् विदेवं क्रव्यात् पिशाच इह मा प्र पास्त ।
नुदाम एनमप रुध्मो अस्मदादित्या एनमङ्गिरसः सचन्ताम् ॥४३॥
आदित्येभ्यो अङ्गिरोभ्यो मध्विदं घृतेन मिश्रं प्रति वेदयामि ।
शुद्धहस्तौ ब्राह्मणस्यानिहत्यैतं स्वर्गं सुकृतावपीतम् ॥४४॥
इदं प्रापमुत्तमं काण्डमस्य यस्माल्लोकात् परमेष्ठी समाप ।
आ सिञ्च सर्पिर्घृतवत् समङ्ग्ध्येष भागो आङ्गिरसो नो अत्र ॥४५॥

अर्थ-(निधिपाः एनं निधिं अभीच्छात्) निधिका रक्षक यजमान इस निधिकी इच्छा करे। (ये अन्ये अनीश्वराः अभितः सन्तु) जो दूसरे ऐश्वर्यहीन हैं व चारों ओर भटकते रहें। (अस्माभिः दत्तः स्वर्गः निहितः) हमारे द्वारा दानसे प्राप्त हुआ स्वर्ग सुरक्षित रखा है। यह (त्रिभिः काण्डैः त्रीन् स्वर्गान् अरुक्षत्) तीनों विभागोंसे तीन स्वर्गोंके ऊपर चढे ॥ ४२ ॥

(यत् विदेवं रक्षः अग्निः तपतु) जो ईश्वरके विरोधी राक्षस हैं उनको अग्नि ताप देवे। (क्रव्यात् पिशाचः इह मा प्र पास्त) रक्तमांसभक्षक लोग यहां जलपान भी न करें। (एनं नुदामः) इस दुष्टको हम दूर करते हैं (अस्मत् अपरुध्मः) अपनेसे इसको पास आने नहीं देते। (आदित्याः अङ्गिरसः एनं सचन्ताम्) आदित्य और अंगिरस इस दुष्टको पकड रखें ॥ ४३ ॥

(इदं मधु घृतेन मिश्रं) यह मधु घीसे मिश्रित हुआ (आदित्येभ्यः अङ्गिरोभ्यः प्रतिवेदयामि) आदित्यों और अंगिरसोंके लिये है ऐसा कहता हूं। (शुद्ध-हस्तौ ब्राह्मणस्य अनिहत्य सुकृतौ) जो शुद्ध हाथ ज्ञानी मनुष्यका घात नहीं करते वे पुण्यवान् होते हैं। वे (एतं स्वर्गं अपि इतः) इस स्वर्गको प्राप्त हों ॥ ४४ ॥

(यस्मात् लोकात् परमेष्ठी समाप) जिस लोकसे परमेष्ठी परमेश्वर प्राप्त होता है (अस्य इदं उत्तमं काण्डं प्रापम्) इसका यह उत्तम भाग मैंने प्राप्त किया है। (घृतवत् सर्पिः आसिञ्च, समङ्ग्धि) घीसे युक्त मधु यहां रख और मिला (नः एषः भागः अत्र अङ्गिरसः) हमारा यह भाग अंगीरसोंका है ॥ ४५ ॥

भावार्थ— निधिका रक्षक यजमान दानद्वारा श्रेष्ठ ऐश्वर्यकी इच्छा करे। जो दूसरे शक्तिहीन हैं वे चारों ओर भटकते रहें। हमारे दानसे प्राप्त हुआ स्वर्ग ही यह है जो तीनों विभागोंसे तीनों स्वर्गोंसे श्रेष्ठ है ॥ ४२ ॥

जो ईश्वरका विरोध करते हैं और रक्त या मांस खाते हैं उनको पास आने न दो दूर रखो। वे दण्डके पात्र हैं ॥ ४३ ॥

शहद और घी सब देवताओंको दिया जाय। जो किसीकी हिंसा नहीं करते उनको पवित्र हाथ कहते हैं। वे ही स्वर्गको प्राप्त कर सकते हैं ॥ ४४ ॥

जहांसे परमेश्वर सबको प्राप्त होता है उसका उत्तम स्थान मनुष्य प्राप्त करे। घी और मधु भरपूर बरतन रखा जावे और देवताओंके उद्देशसे अर्पण किया जावे ॥ ४५ ॥

सत्याय च तपसे देवताभ्यो निधिं शेवधिं परि दद्म एतम् ।
मा नो द्यूतेऽव गान्मा समित्यां मा स्मान्यस्मा उत्सृजता पुरा मत् ॥४६॥
अहं पचाम्यहं ददामि ममेदु कर्मन् करुणेऽधि जाया ।
कौमारो लोको अजनिष्ट पुत्रोऽन्वारभेथां वय उत्तरावत् ॥४७॥
न किल्बिषमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रैः समममान एति ।
अनूनं पात्रं निहितं न एतत् पक्तारं पक्वः पुनरा विशाति ॥४८॥
प्रियं प्रियाणां कृणवाम तमस्ते यन्तु यतमे द्विषन्ति ।
धेनुरनड्वान् वयोवय आयदेव पौरुषेयमप मृत्युं नुदन्तु ॥४९॥
समग्नयो विदुरन्यो अन्यं य ओषधीः सचते यश्च सिन्धून् ।
यावन्तो देवा दिव्यातपन्ति हिरण्यं ज्योतिः पचतो बभूव ॥५०॥(१७)

अर्थ— (सत्याय तपसे देवताभ्यः च) सत्य, तप और देवताओंके लिये (एतं शेवधिं निधिं परि दद्मः) इस खजानेरूपी निधिको देते हैं। (द्यूते समित्यां नः मा अव गात्) द्यूत और सभामें यह हमसे दूर न होवे और (मत् पुरा अन्यस्मै मा उत्सृजत) मुझे छोड़कर दूसरेको भी न मिले ॥ ४६ ॥

(अहं पचामि अहं ददामि) मैं पकाता हूं, मैं दान देता हूं। (मम जाया करुणे कर्मन् अधि) मेरी धर्मपत्नी दयामय कर्ममें प्रवृत्त करती है। (कौमारः पुत्रः लोकः अजनिष्ट) कुमार पुत्र इस लोकके लिये हुआ है। (उत्तरावत् वयः अन्वारभेथां) उत्तम अवस्था प्राप्त करनेवाला अपना जीवन उत्तमतासे व्यतीत करे ॥ ४७ ॥

(अत्र न किल्बिषं) यहां अर्पणमें कोई पाप नहीं (न आधारः अस्ति) न कोई आधारमें पीछे रखता है। (यत् मित्रैः समममानः न एति) जो मित्रोंके साथ मिलजुलकर भी जाता नहीं। (एतत् पात्रं नः अनूनं निहितं) यह पात्र परिपूर्ण रखा है। (पक्वः पक्तारं पुनः आविशाति) पका हुआ पकानेवालेके पास फिर आ जाता है ॥ ४८ ॥

(प्रियाणां प्रियं कृणवाम) मित्रोंका प्रिय हम करें। (यतमे द्विषन्ति ते तमः यन्तु) जो द्वेष करते हैं वे अन्धेरेमें जांय। (धेनुः अनड्वान् वयोवयः आयत् एव) गौ और बैल ये बल ही लाते हैं। ये (पौरुषेयं मृत्युं अप नुदन्तु) मनुष्यकी मृत्यु दूर करें ॥ ४९ ॥

(अग्नयः अन्यः अन्यं सं विदुः) अग्नि परस्परको जानते हैं। (यः ओषधीः सचते यः च सिन्धून्) जो औषधियोंके साथ रहता है और जो दूसरा नदियोंमें रहता है। (यावन्तः देवाः दिवि आतपन्ति) जितने देव द्युलोकमें प्रकाशते हैं उनके (हिरण्यं ज्योतिः पचतः बभूव) तेजस्वी ज्योति सब पकानेवालेके दानके लिये मिले ॥ ५० ॥ (१७)

भावार्थ— सत्य, तप और देवताओंके लिये यह हम समर्पण करते हैं। यह धन हमसे किसी प्रकार दूर न होवे, न द्यूतमें दूर हो और न सभामें दूर हो अर्थात् सदा हमारे पास रहे ॥ ४६ ॥

मनुष्य अन्न पकावे और दान करे। स्त्री भी धर्मकर्ममें दयायुक्त यत्न करे। इस तरह श्रेष्ठ पुत्रको उत्पन्न करें और उत्तम अवस्था प्राप्त करें ॥ ४७ ॥

दान करनेमें कोई पाप नहीं, न इसमें कुछ पीछे रखना है, यह इन मित्रोंके साथ भी जाता नहीं। यह दान भरकर पूर्ण रखा जावे, जो परिपक्व होनेपर फिर फल रूपसे दाताके पास पहुंचता ॥ ४८ ॥

मनुष्य अपने मित्रका हित करे। द्वेषी लोगोंको दूर हटा देवे। गौ आदि पशु मनुष्यका आरोग्य आयु और बल देते हैं और मृत्यु दूर करते हैं ॥ ४९ ॥

एषा त्वचां पुरुषे सं बभूवानग्नाः सर्वे पशवो ये अन्ये ।
क्षत्रेणात्मानं परि धापयाथोऽमोतं वासो मुखमोदनस्य ॥५१॥
यदक्षेषु वदा यत् समित्यां यद् वा वदा अनृतं वित्तकाम्या ।
समानं तन्तुमभि संवसानौ तस्मिन्त्सर्वं शमलं सादयाथः ॥५२॥
वर्षं वनुष्वापि गच्छ देवांस्त्वचो धूमं पर्युत्पातयासि ।
विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुप याह्येतम् ॥५३॥
तन्वं स्वर्गो बहुधा वि चक्रे यथा विद आत्मन्नन्यवर्णाम् ।
अपाजैत् कृष्णां रुशतीं पुनानो या लोहिनी तां ते अग्नौ जुहोमि ॥५४॥

अर्थ- (पुरुषे एषा त्वचां सं बभूव) मनुष्यमें यह त्वचा अन्य त्वचाओंसे उत्पन्न होती है। (ये अन्ये सर्वे पशवः अनग्नाः) जो दूसरे पशु हैं वे नग्न नहीं हैं। (क्षत्रेण आत्मानं परि धापयाथः) धैर्यसे अपने आपको ओढनेके लिये ओ। (अमा-ओतं वासः ओदनस्य मुखं) मिलकर बुना वस्त्र चावलोंपर डालने योग्य मुख्य वस्त्र है ॥ ५१ ॥

(यत् अक्षेषु वदाः) जो खेलोंमें तुम बोलते हो (यत् समित्यां) जो सभामें बोलते हो (यत् वा वित्तकाम्या अनृतं वदाः) जो धनकी इच्छासे असत्य भाषण किया हो उसमें (सर्वं शमलं तस्मिन् सादयाथः) सब दोष उसीमें रख दो और (समानं तन्तुं अभिसंवसानौ) समान वस्त्र पहनकर तुम रहो ॥ ५२ ॥

(वर्षं वनुष्व) वृष्टिकी प्राप्ति करो, (देवान् अपि गच्छ) देवोंके पास जाओ (त्वचः परि धूमं उत्पातयासि) त्वचाके ऊपरका धूआं उठा दो। (विश्वव्यचाः घृतपृष्ठः भविष्यन्) विश्वमें विस्तृत घृतसे पुष्ट होनेकी इच्छा करनेवाला (सयोनिः एतं लोकं उपयाहि) सजातीय होकर इस लोकको प्राप्त हो ॥ ५३ ॥

(स्वर्गः बहुधा तन्वं विचक्रे) द्युलोक ही बहु प्रकारसे अपने शरीरको बनाता है (यथा आत्मन् अन्यवर्णं विद) आत्मवत् दूसरे वर्णको भी देखता है। (रुशतीं पुनानः) तेजस्वी आत्माको पवित्र करता है (कृष्णां अपाजैत्) काले रूपको दूर करता है (या लोहिनी तां ते अग्नौ जुहोमि) जो लाल रूप है उसको अग्निमें हवन करता हूं ॥ ५४ ॥

भावार्थ—अग्निलोक परस्पर संबंध होकर एक पृथ्वीमें और दूसरा आकाशमें रहता है। आकाशमें प्रकाशनेवाले देव अपना प्रकाश सदा हमारे लिये देवें ॥ ५० ॥

सब अन्य पशु नंगे नहीं हैं, उनको ईश्वरनिर्मित वस्त्र हैं। परंतु मनुष्यके लिये ओढनेको वस्त्र चाहिये ऐसीही त्वचा मनुष्यको स्वभावसे मिली है। इसलिये मिलजुलकर वस्त्र बुनो और पहनो। वही वस्त्र चावल आदिपर भी डालनेके लिये रखो ॥ ५१ ॥

जो खेलोंमें असत्य बोलते हैं या सभामें और जो धनकी इच्छासे असत्य बोलते हैं उनके सब पापको दूर करो। समानता धारण करो और समानताके लिये समान ही वस्त्र पहनाया करो ॥ ५२ ॥

उचित भोजन उत्पन्न करो जिस अन्नसे भाव न हो। देवताकी उपासना करो अपनी निर्मलता करो। जगत्में प्रसिद्ध होओ, घृतिवर्धक पदार्थ पास रखो इस भूलोकमें मानवजातिकी सेवा करो ॥ ५३ ॥

द्युलोकने ही अनेक रूप धारण करके इस विश्वको बनाया है। ज्ञानी उसको आत्मवत् ही देखता है। मनुष्य तमोगुणको दूर करे सत्वगुणको बढावे और रजोगुणका शमन करे ॥ ५४ ॥

प्राच्यै त्वा दिशेऽग्नयेऽधिपतयेऽसिताय रक्षित्र आदित्यायेषुमते ।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः ॥
दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥५५॥
दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते । एतं ०।० ॥५६॥
प्रतीच्यै त्वा दिशे वरुणायाधिपतये पृदाकवे रक्षित्रेऽन्नायेषुमते । एतं ०।० ॥५७॥
उदीच्यै त्वा दिशे सोमायाधिपतये स्वजाय रक्षित्रेऽशन्या इषुमत्यै । एत ०।० ॥५८॥
ध्रुवायै त्वा दिशे विष्णवेऽधिपतये कल्माषग्रीवाय रक्षित्र ओषधीभ्य इषुमतीभ्यः। एतं ०।० ॥५९॥
ऊर्ध्वायै त्वा दिशे बृहस्पतयेऽधिपतये श्वित्राय रक्षित्रे वर्षायेषुमते ।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः ॥
दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥६०॥ (१८)

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (प्राच्यै दिशे) पूर्व दिशामें (अग्नये अधिपतये) अग्नि अधिपति (रक्षित्रे असिताय) रक्षणकर्ता असित (इषुमते आदित्याय) इषुवाला आदित्य (दक्षिणायै दिशे) दक्षिण दिशामें इन्द्र अधिपति रक्षणकर्ता तिरश्चिराजि यम इषुमान् (प्रतीच्यै दिशे) पश्चिम दिशामें वरुण अधिपति, रक्षणकर्ता पृदाकु इषुवाला अन्न (उदीच्यै दिशे) उत्तर दिशामें सोम अधिपति स्वज रक्षणकर्ता और अशनी इषुवाली है (ध्रुवायै दिशे) ध्रुव दिशामें विष्णु अधिपति कल्माषग्रीव रक्षिता और ओषधियां इषुवाली हैं (ऊर्ध्वायै दिशे) ऊर्ध्व दिशामें बृहस्पति अधिपति श्वित्र रक्षिता और वर्षा इषुमान् है। इनके लिये (एतं परिदद्मः) हम इसको दान करते हैं। (ते नः गोपायत) उसका स्वीकार करके हमारी रक्षा करो। (अस्माकं आ इतोः) हमारी उन्नतिके लिये सहायक हो। (अत्र नः दिष्टं जरसे निनेषत्) यहां हमारी वृद्ध आयु होनेके लिये योग्य मार्गसे हमें ले जाय। (जरा नः मृत्यवे परि ददातु) वृद्धावस्था हमें मृत्युतक पहुंचावे। (अथ पक्वेन सह संभवेम) और परिपक्व फलके साथ हम पुनः उत्पन्न होंगे॥ ५५-६ ॥

भावार्थ— प्रत्येक दिशामें अधिपति रक्षक और इषुमान् योद्धा है वे सबकी रक्षा करें। उनको हम यौवन दान देते हैं, वे पालन करते हुए हमें उन्नतितक पहुंचावें। वे हमें वृद्धावस्थातक सुरक्षित पहुंचावें और वहांसे मृत्युतक ले जावें। मृत्युके पश्चात् परिपक्व कर्मफलके साथ हम फिर जन्म लेकर आगे उन्नतिको प्राप्त करेंगे ॥ ५५-६ ॥

तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥

स्वर्गका साम्राज्य।

स्वर्गका साम्राज्य सब मानव जातिके लिये खुला हुआ है। उसको प्राप्त करना और वहां दीर्घकालतक रहना हर एकके लिये योग्य है। परंतु वह पुण्यका लोक होनेसे वह उत्तम कर्मके बिना प्राप्त नहीं हो सकता। यह बात सबको मनमें रखनी चाहिये। यह स्वर्ग इस भूलोकमें भी है और परलोकमें भी है। परलोकका स्वर्ग प्राप्त करनेके लिये भी यहीं प्रयत्न करना पडता है। इससे स्पष्ट होगा कि यहां अथवा परलोकमें स्वर्गसुख प्राप्त करना मनुष्यके पुरुषार्थपर अवलंबित है। इस सूक्तका संक्षेपसे यह तात्पर्य है। अब क्रमशः इन मंत्रोंमें जो मुख्य मुख्य उपदेश कहे हैं उनका निरीक्षण करते हैं—

बलका महत्त्व।

स्वर्ग प्राप्त करनेमें बलका महत्त्व है बलके बिना कोई उन्नति प्राप्त नहीं हो सकती। यह बल हरएकको प्राप्त करना चाहिये। मनुष्योंमें जो सबसे अधिक सामर्थ्यवान् और प्रभावशाली होगा वही राष्ट्रका अधिष्ठाता बने। कोई दुर्बल राज्याधिकार न रहे। क्योंकि राष्ट्रकी उन्नति प्रबल राज्याधिकार पर अवलंबित रहती है। निर्बल राजाके कारण संपूर्ण राष्ट्र दुर्बल हो जाता है। अतः सुख प्राप्तिकी इच्छा करनेवालोंको उचित है कि वे सामर्थ्यवान् पुरुषको राष्ट्राधिष्ठाताके स्थानपर नियुक्त करें। वह अधिष्ठाता अपने सुयोग्य सामर्थ्यवान् मनुष्यवीरोंको इकट्ठा करे और उनकी सहायतासे राष्ट्रका शासन चलावे। सबका उत्तम निरीक्षण करे और सबकी उन्नति होने योग्य सुव्यवस्था रखे। इसीका नाम यमराज्य अर्थात् नियमके अनुसार चलनेवाला राज्य है। [१]

इस तरहका राज्यशासन होनेके पश्चात् आपको उचित है कि आप अपनी शक्ति सूक्ष्म और परिशुद्ध करें अर्थात् सुयोग्य ज्ञान प्राप्त करें वीर्य अर्थात् अनेक बलोंको प्राप्त करें। आपके राष्ट्रमें दूरदृष्टि और सामर्थ्य जितना अधिक होगा उतना ही आपका उत्कर्ष होनेवाला है। अतः तेज बल सामर्थ्य ज्ञान और दूरदृष्टि बढाना आपका मुख्य कर्तव्य है। परिपक्व होनेपर ही मिठास उत्पन्न होती है अतः आपको उचित है कि आप अपने आपको परिपक्व करें जिससे आपका कल्याण होगा। [२]

एकताका संदेश।

इस लोकमें तुम सब मिलजुलकर एकभावसे रहो परमेश्वर उपासना भी मिलकर करो राज्यव्यवस्था भी मिलकर चलाओ, जो कुछ पराक्रम करना हो वह मिलकर ही हो सकता है। मिलनेसे ही बल बढता है। मिलनेके लिये अपनी पवित्रता और निर्दोषता स्थापन करनी चाहिये। जितना संगठन होगा उतना बल बढेगा और जितना बल बढेगा उतना प्रभाव विशेष होगा। इस तरह यह एकताका संदेश मानवी उन्नतिके लिये कहा गया है। [३]

सब लोगोंकि यह इच्छा है कि वे अपने जीवनको धन्य बनानेके लिये प्रयत्न करें। यह प्रयत्न जितना मिलकर होगा उतना बल तुम्हें प्राप्त होगा। आपसमें फूट रखोगे तो नाशका बीज बढेगा। तुममेंसे प्रत्येकको अमृत प्राप्त करनेका अधिकार है। घरमें भी पुत्र और गृहपति मिलकर रहते हैं, वहां एकताका उपदेश मिलता है और वहीं सुखकी प्राप्ति हो सकती है इस गृहस्थाश्रममें माता अन्न पकाती है पिता धन लाता है पुत्र अन्यान्य कर्म करते हैं। इस तरह परस्परकी सहायता करनेसे सबको अमर्यादित सुख प्राप्त हो सकता है। इस तरह विचार करके पाठक एकताका बोध प्राप्त करें और उसका आचरण करके उन्नत हो जाय। [४-५]

घरमें शुभपीठ बने हुए हैं व धर्मभार वैभव रहे हैं, क्योंकि यज्ञाग्नि सेवन हो रही है स्वर्गका आनन्द यहां सेवन होनेसे स्त्रियोंको मिल रहा है वही इस लोकका तेजस्वी स्वर्ग है जो प्रत्येक गृहस्थीको प्राप्त करना चाहिये। [६]

चारों दिशाओंमें हलचल।

उन्नतिके लिये हलचल तो चारों दिशाओंमें शुरू करनी चाहिये। पूर्व दिशा उन्नतिकी दिशा है जब मनुष्य इसी

दिशासे प्राप्त होता है। प्रज्ञावान् लोग ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानका प्रसार खूब करें। जैसा सूर्य सबको प्रकाश देता है वैसा प्रकाश सबको मिले। ज्ञानका उपयोग अपनी रक्षाके लिये किया जावे। स्त्रीपुरुष मिलकर कर्म करें और सब लोग ज्ञानसे सुप्रकाशित हों। [७]

ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् दक्षतासे उद्योग करने चाहिये। दक्षता न रही तो सब यत्न निष्फल हो जाते हैं। यह संदेश दक्षिण दिशा दे रही है। यहां यम अर्थात् नियामक देव है। यह कहता है कि नियमोंमें रहो। नियम छोडकर चलना तो मानो मृत्यु उपस्थित है। उससे छुटकारा नहीं हो सकता। इस नियामकके साथ पितर भी हैं। वे सबके रक्षक हैं। रक्षा करना और नियमविरुद्ध आचरण न करना ही यहां का उपदेश है। जो यह उपदेश लेकर तदनुकूल चलेंगे वे ही उन्नत हो सकते हैं। [८]

पश्चिम दिशा विश्रामकी सूचना देती है। योग्य पुरुषार्थ करनेके पश्चात् विश्राम अवश्य लेना चाहिये जिससे काम- और प्रयत्न करनेका बल प्राप्त होता है। अर्थात् विश्राम अधिक पुरुषार्थके लिये होना चाहिये। यहां सोमादि औषधियां हैं जिनका सेवन करनेसे बल पुष्टि और आयु बढती है। [९]

उत्तर दिशा उत्तर अवस्था प्राप्त करनेकी सूचना दे रही है। अपने राष्ट्रकी अवस्था उत्तर करो श्रेष्ठ करो इस प्रकारसे आगे बढो पांच जनोंका समुदाय उन्नत हो सबकी मनःप्रवृत्ति करो किसी भी अवस्थामें पीछे न रहो। यह उपदेश यहां मिलता है। [१०]

ध्रुवदिशा स्थिरताका संदेश दे रही है। अपने स्थानपर स्थिर रहो अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर रहो युद्धमें अपने स्थान पर स्थिर रहो धर्म चंचल न हो। अपनी रक्षा करनेके लिये पूर्वोक्त योग्य रीतिसे पालन करनेके लिये अनेक शुभ कर्म करनेके लिये स्थिर होनेकी सूचना इस दिशासे मिलती है।

इस तरह ये सब दिशाएं मनुष्योंको ये उपदेश दे रही हैं। यह उपदेश सुनकर मनुष्योंको उन्नतिका साधन करनेका मार्ग विदित हो सकता है। इस मार्गसे मनुष्य जाय और अपनी उन्नतिका साधन करे। [११]

ऊखल और मूसल

पूर्वोक्त पालन उत्तम रीतिसे किया जावे। जिससे घरमें शुद्ध और कल्याणकारी रक्षा होवे। सबकी प्रीति और उत्तम रुचि मनुष्योंमें बढे और सबको अन्न भी यथायोग्य प्राप्त हो। घरमें ऊखल और मूसल पासीसे कोई न छिपावे क्योंकि यह सूचना रहे तो ही उत्तम कर्म कर सकता है। वह धान्य स्थानमें रहे और धान्य आदि स्वच्छ करके वहीं रखे [अर्थात् यहां घरका उपदेश यह है कि [सर्वत्र] स्वच्छता साफ किये चावल आटा आदि कोई न खावे। परंतु घर घरमें ऊखल मूसल रखकर हाथसे पीसा जाय और ऊखल मूसल द्वारा हाथसे साफ किये चावल मनुष्य खावें। पाठक मन इसका विचार करें। क्योंकि इस कार्यके लिये चावलों और अन्न शुद्ध हुए हैं। यंत्रसे स्वच्छ करनेसे धान्यके जीवनतत्व नष्ट होते हैं और हाथसे साफ करनेसे वे जीवनतत्व सुरक्षित रखे जाते हैं। वेद उपदेश द्वारा बताना चाहता है कि यंत्रका बनाया आटा कोई न खावे और यंत्रके निर्मित चावल भी कोई न लेवे। इससे परिपूर्ण दीर्घआयु प्राप्त होवे और उत्तम आरोग्य रहेगा। वैसाही वैदिकधर्मी देखता है कि जो आपसे ऐसा करेगा और कमसे कम खानेपीनेमें तो वेदका उपदेश मानेगा ?] [१२-१४]

यहां अन्नरीतिसे बना ऊखल और मूसल दैवी शक्तिरूप है जो राक्षसों और पिशाचोंको इन लोगोंसे दूर कर देता है। यह इस ऊखलकी भावना है। अनन्तर इस योगसे पूर्वोक्त जो लोग घर घरमें ऊखल मूसलसे धान्यको साफ करके उसीका सेवन करेंगे उनपर राक्षसों और पिशाचोंका हमला नहीं हो सकता। [अर्थात् जो मशीन-यंत्र-द्वारा बने आटा आदि खायेंगे उनका नाश वे ही राक्षस और पिशाच करेंगे। अतः लोग समझकर रहें] [१]

पशुपालन।

घर घरमें गौ आदि पशुओंका पालन हो। घर घरमें यज्ञयाग होते रहें। घर घरमें देवताओंका सन्तोष होता रहे। जल वायु आदि देवता किसी भी घरमें अप्रसन्न न रहें। यहां भी अप्रसन्नता उत्पन्न न होवे। [१६]

गृहव्यवस्था॥

स्त्री और पुत्र तथा गृहपति मिलकर घर होता है। वे सब घरमें मिलजुलकर रहें। इस एकताके विषयमें अथर्ववेद

र्व १ सू० २ में जो उपदेश आया है वह पाठक यहां देखें। यह उत्तम उपदेश है और हरएक गृहस्थाश्रमीको सदा ध्यानमें धारण करने योग्य है। पुरुष जिस स्त्रीका पाणिग्रहण करे वे दोनों परस्पर अनुकूलताके साथ रहें, आपसमें झगडा न बढावें। आपसमें झगडा करेंगे तो दुर्गति और नाशको प्राप्त होंगे यह हरएक गृहस्थीको स्मरण रखना चाहिये। घरके सब लोग आनंद-प्रसन्न और मिलजुलकर रहें और प्रसन्न रहकर अपनी उन्नतिका साधन करते रहें। [१]

सब मिलकर दुर्गतासे सब रोगोंको दूर करें, अज्ञान और अन्धकार दूर करें। घरमें अन्धकार न रहे क्योंकि अन्धेरे घरमें रोगजन्तु बढते हैं और रोग होते हैं। अतः घरमें बहुत अन्धेरा न रहने पावे ऐसा घर बनाया जाय। घरघरमें लकडीका बना ऊखल और मूसल हो और उसीमें चावल साफ करके पकाया हुआ अन्न भोग करें। [१८]

ऊखल मूसलसे साफ किये धान्यसे तुष आदि दूर करनेके लिये एक घरमें रहे। इस तुष-छालसे चावल आदि साफ किये जाय, तुष रखा जावे और स्वच्छ चावल लिये जाय। इनका ही सेवन गृहस्थी करे। (१९)

जिससे तीनों लोकोंका आनंद और स्वास्थ्य प्राप्त होता है ऐसे शुद्ध चावल इसी तरह स्वच्छ होते हैं। [मंत्र-मशीन द्वारा साफ किये चावल तो रक्तको और पित्तादिको अर्थात् अनेक रोगोंको बुलानेवाले हैं।] वे चावल जो ऊखल और मूसल द्वारा तथा छाजसे साफ होते हैं वे जो आप्यायन करनेवाले अर्थात् सब प्रकारकी पुष्टि करनेवाले हैं। (२०)

छाजमें पुनः पुनः लेकर इस तरह धान्य स्वच्छ किया जावे। चावलोंपर जो लाल रंगकी त्वचा होती है उसको मूसलसे कूट कूटकर हटाया जावे। जैसा धोबी कपडा स्वच्छ करता है वैसा ही ऊखल मूसलद्वारा ये चावल स्वच्छ किये जाय और इनका सेवन गृहस्थी करे। पशुओंमें विविध रंग होते हैं परंतु एक ही घास खाकर वे परिपुष्ट होते हैं। इसी प्रकार विविध रंगरूपवाले मनुष्य इन चावलोंका सेवन करके हृष्ट, पुष्ट और दीर्घजीवी बनें। (२१)

पकानेका कार्य।

अब पकानेका समय आता है। इसके लिये बहुत प्रकारके बर्तन होते हैं। वे बर्तन मिट्टीके ही अनेक प्रकारके बनाये जाते हैं। वे फूटे टूटे न हों, चूनेवाले न हों। किसी स्थानपर सुराख हो तो उसको शीघ्रतासे बंद किया जावे। जैसी माता पुत्रको प्यारसे संभाल कर लेती है उस प्रकार ये बर्तन बर्ते जाय। ऐसे बर्ते जाय कि वे न टूटें। देगची कडाही पतीला आदि बर्तन चूल्हेपर जमाकर रखे जाय। इनमें समय रखे जाय और वे पात्र दूध आदिसे सिंचित रहें। (२२—२३)

इन पात्रोंकी रक्षा चारों ओरसे होवे। अग्निसे रक्षा हो अर्थात् पात्र अच्छी तरह पका हुआ हो, वरुणदेवताके बलसे इसकी रक्षा हो अर्थात् पानीमें गल जानेवाला न हो, वनस्पतियो द्वारा इसका टूट जानेका संभव न हो। (२४)

जलका महत्त्व।

पृथ्वीके जलभी भाप बनकर मेघमंडलमें जाती है वहां मेघ बनते हैं उनसे वृष्टि होकर फिर वह जल पृथ्वीपर आता है। यह जल प्राणियोंको जीवन देनेवाला और जीवनकी धन्यता करनेवाला है। यह पात्रोंमें भरकर रखना और पकानेके समय यह पात्र चूल्हेपर रखना चाहिये। यह परिशुद्ध जल मनुष्यको सुख देनेवाला है (२५—२६)

यह जल मनुष्यमें बल लाता, प्रसन्नता उत्पन्न करता, वीर्य बढाता, पवित्रता करता और रोगादि मृत्युओंको दूर करता है। यही जल गृहस्थियोंके अन्न पकानेमें प्रयुक्त होवे। [२७]

थोडासा जल पवित्रतापूर्वक भूमिपर गिरकर औषधिवनस्पतियोंमें जाकर-उत्तम गुणकारी औषधिरस बनता है। यह मनुष्योंका हित करता है। इसके अतिरिक्त इसका हितकारी दूसरा जल मेघोंसे बहुत ही गिरता है वह सब जगत् को व्यापता है। [२८]

जब बर्तनमें जल डालकर तपाया जाता है तो जलके अणु एक दूसरेपर उछलते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि वे परस्पर युद्ध करते हैं वार्तालाप करते हैं या झगडा करते हैं। जैसी स्त्री पतिको देखकर उसके साथ प्रेमसे मिलना चाहती है वैसा ही जल पकानेके समय चावलोंके साथ मिलता है जिससे चावल पकते हैं। [२९]

पकानेके समय बर्तनमें पानी डालकर नीचेके चावल ऊपर और ऊपरके नीचे करना चाहिये। अर्थात् अच्छी तरह चावल हिलाना चाहिए। जिससे सब हरएक चावलके साथ अच्छा

तरह मिल जाते जाता है और चावल उत्तम रीतिसे पक जावें। [३]

शाकभाजी।

जैसे चावल पकाने होते हैं उसी प्रकार शाकभाजी पकानेकी भी रीति है। उत्तम परशु, छुरा भाजी काटनेके लिये लो। उसकी धारा ठीक करो। औषधियां शाकभाजी आदि हाथमें लो। उनको ऐसा काटो कि जिससे उनका सत्व न निचुडे। औषधियोंकी हिंसा न हो और उनका कोप हमपर न हो। [३१]

पकनेपर।

चावल पकनेपर उनको बर्तनसे निकालना चाहिये। उनको रखनेके लिये उत्तम नई चटाई [बांसकी बनी] दूर भूमिपर फैलानी चाहिये और उसपर बर्तनसे सब चावल रखने चाहिये। यह इस ढंगसे करना चाहिये कि जो आंखको प्रिय और हृदयको मनोहर प्रतीत हो। देवतार्द यहां अपनी धर्मपत्नियोंके समेत आजाय और इस अन्नका सेवन करें। (३२)

इस तरह यज्ञ करनेसे यजमान स्वर्गको प्राप्त करता है। साठ वर्ष कोई गृहस्थी इस रीतिसे यज्ञ करेगा तो उसको स्वर्ग मिलेगा। घरमें पिता माता पुत्र आदि संतुष्ट रहें तो यही भूलोकका स्वर्ग है और अन्तकालमें परलोक मिलता है। (३३–३५)

अपूर्व सुखोपभोग विजय प्राप्त होनेसे ही प्राप्त होते हैं। विजयके बिना भोग मिलना असंभव है। यह एक जातिके लिये बडी महत्वकी सूचना यहां दी है। दूध अन्न उत्तम घी मधु (शहद) आदि पदार्थ हितकारी पौष्टिक और बलवर्धक हैं। इनका स्वयं सेवन करना दूसरोंको देना और देवताओंके यज्ञमें समर्पण करना चाहिये। यह लोक अर्थात् इस भूलोकमें स्वयं पुरुषार्थसे ही जो कुछ होगा सो होगा। इसलिये यह लोक पुरुषार्थप्रधान है। जो पुरुषार्थ करता है उसको सब देवताओंका सहाय्य होता है। (३६ ३८)

कुटुंबमें एकता।

स्त्री कुछ करती है पुरुष भी धर्मपत्नीके साथ है सुबक अपने कर्म करते हैं। वे सब जो भी कुछ करें कुटुंबकी रक्षा और उन्नतिके लिये करें। मिलजुलके ही घरमें स्वर्गसुख प्राप्त हो सकता है अतः भोजनके समय अपने साथ सब पुत्रों पुत्रियों और पारिवारिक जनोंको बुलाना चाहिये और साथ साथ बैठकर भोजन करना चाहिये। सब जनोंको इससे एकताका पाठ मिल जायगा और इस एकतामें ही सब सुखका बीज है। (३९ ४)

मधु घृत आदिसे मिश्रित अन्न हो, जनके प्रयत्न जारी रहें, आयुके साठ वर्षतक उत्तम दान होता रहे, सर्वत्र सत्कार हो किसी प्रकार न्यूनता कहीं भी न हो। यही स्वर्ग देनेवाला है। अन्य लोग कितने भी क्यों न हों उनको वह आनंद नहीं मिलेगा जो इस प्रकारके दानसे प्राप्त हो सकता है। (४१ ४२)

देवनिंदकको दूर करो।

कई लोग देवताओंकी निंदा करनेवाले होते हैं, उनको समाजसे बाहर करना चाहिये। उनको कोई अधिकार नहीं देना चाहिये। सब राज्याधिकार ऐसे लोगोंके हाथमें दें कि जो देवोंके अनुकूल चलनेवाले हों। देवद्रोहियोंको सब मिलकर एकमतसे बहिष्कृत करें। जो पापी, क्रूर इन कर्मोंके सहायक होंगे उनको मधु और घी तथा अन्न आदर न मिलना चाहिये। (४३ ४४)

परमेष्ठी प्रजापति।

परमेष्ठी प्रजापति परम श्रेष्ठ स्थानमें विराजमान है, इसलिये उसे (परमे–ष्ठिन्) परमेष्ठी कहते हैं। उसको प्राप्त करनेके लिये ही सब कुछ धर्मकर्म किये जाते हैं। जो ये दान करते हैं चाहे दान हो मनुष्य हो या अन्य कितने हों पर सब इस एक ही कार्यके लिये होता है। सत्य और तप मुख्यतः इसकी प्राप्तिके लिये है। इनका अवलंबन करनेसे बडा फल प्राप्त होता है तप बडी पवित्रता करनेवाला है। देवी सत्य और तप बडा आध्यात्मिक ऐश्वर्य तथा दैवी बल देते हैं। मनुष्यको यहांतक सावधान रहना चाहिये कि कभी भी वह सत्यसे दूर न हो सभाओंमें सदा सत्य ही का अवलंबन करना चाहिये। जो सत्य और तपसे दूर होते हैं उनकी उन्नति कभी नहीं हो सकती। इसलिये मनुष्यको अपनी उन्नति की इच्छा होगी तो इनका अवलंबन करना आवश्यक है। (४५–४९)

आदर्श गृहस्थाश्रम।

मैं अन्न पकाता हूं, मैं दान देता हूं, मेरी धर्मपत्नी यज्ञकर्ममें सहायता करती है, मेरे पुत्र कर्तव्य करनेके कार्य करते हैं,

में दीर्घ जीवन प्राप्त करके उसका उपयोग धर्मकार्य करनेके लिये करना। ऐसा हरएक गृहस्थीको करनेका सौभाग्य प्राप्त हो। यही एक बडा ऐश्वर्य है। जिसका ऐसा कुल हो वह धन्य है। इसी तरह यहां हमारे घरमें पाप करनेवाला कोई न रहे दान देनेके समय उसमेंसे कुछ पाऊं रखनेवाला कंजूस कोई न हो चारों ओर मित्र बढें, इनके पास सदा भरपूर हों और सब शुभ कर्मोंका परिपक्व फल ऐसे गृहस्थीको प्राप्त होता रहे। यह है आदर्श गृहस्थाश्रम। गृहस्थी मित्रोंका मित्र बने सतत प्रयत्न करता रहे गौका दूध पीवे बैलोंका उपयोग खेतीके लिये होता रहे रोग और मृत्यु दूर होता रहे। (४७–४९)

परस्परका प्रेम चाहिये। मित्रताके लिये इसकी अत्यंत आवश्यकता है। इसके प्रेमके बिना संगठन भी नहीं हो सकता। जो भी पृथिवी आदि देव हैं, वे सब योग्य मनुष्यको सुवर्ण और तेज देनेके लिये बैठे हैं। परंतु उनसे लेनेके लिये भी तो यत्न करना चाहिये। अपने अन्दर आत्मतेज बढाना और उससे अपनी रक्षा करनी चाहिये। यह आत्मरक्षा करनेका कार्य तो प्रत्येकका है। अतः कोई इस आत्म-तेजके बिना न रहे सब लोग तेजस्वी बनें। (५ –५१)

जो किसी कार्यके लिये अलग बाडा बांधता है वह सब पापका हेतु है। फिर वह अलग भाषण करनेमें हो या व्यवहारसे हो। सबकी उन्नतिका एक ही तन्तु है और वह केवल एकमात्र यज्ञ है। यज्ञके बिना किसीकी उन्नति होती नहीं है। [५२]

जो घरमें होती है उसका उत्तम उपयोग करो अर्थात् जल व्यर्थ न जाने दो। सब पदार्थ स्वच्छ रखो किसीभी स्थानमें मलिनता न रहे। अपना प्रभाव चारों ओर फैलाओ घृत आदि पदार्थ भरपूर रहें उनकी न्यूनता न रहे। [५३]

सब विश्व इस स्वर्गधामके ही तत्त्व विविध रूपोंमें बना है। इस विश्वमें सत्व रज और तम गुण हैं जिनकी शुभ्रता, रक्तिमा और मलिनता सुप्रसिद्ध है। मलिनता दूर करनी चाहिये तेजस्विताको अपनाना चाहिये और रजोगुणका दान करना चाहिये। यह एक उपस्थित नियम सर्वसाधारण है [५४]

हरएक दिशामें अधिपति रक्षणकर्ता शस्त्रास्त्रधारी सैनिक रखकर अपने राष्ट्रकी सुरक्षा उत्तम करनी चाहिये। वे रक्षणका कार्य करें और सुरक्षित हुए लोग इनका योगक्षेम चलानेके लिये उनको योग्य दान करें। इनकी रक्षासे सुरक्षित हुए लोग स्वावलम्बनसे अपनी उन्नतिका कार्य करें। इस तरह करनेसे यही स्वर्गधाम होगा और मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोक भी प्राप्त होगा। [५५–६]

यहांतक इस सूक्तमें मन्त्रोंका सरल आशय उन्हीं भाषासे दिया है। मन्त्रोंका सूक्ष्मभाव इससे पाठक जान सकेंगे। इस सूक्तमें वेदने इस भूमिपरको ही स्वर्गधाम बनानेकी विधि बताई है। जो लोग ऐसा करेंगे वे न केवल इस संसारमें जीते जी स्वर्गसुख प्राप्त करेंगे परंतु मरणोत्तर मिलनेवाले स्वर्गलोक भी निःसन्देह प्राप्त करके वहां बहुत समय अपूर्व सुख प्राप्त करके उत्तम कुलमें जन्म लेकर फिर भी आगेकी उन्नति प्राप्त करेंगे।

आशा है कि यह उपदेश पाठक धार्मिकोंके आचरणमें आजाय और सब प्रकारका स्वर्गधाम बन जाय।

तरह मिल जाते जाता है और आप
जायें। [१]

शाकभाजी।

घेरे बालक पकने होते हैं
पकानेकी भी रीति है। उत्तम पर
सिमे को। उसकी धारा ठीक कर
आदि हाथमें लो। उसका ऐसा
धरत न मिलते। औषधियोंकी हि
हमपर न हो। [११]

पकनेपर।

बालक पकनेपर उसकी बढेम
रखनेके लिये उत्तम नई पक्की
पर देखनी चाहिये और उसपर
चाहिये। यह उत्तम देखा परम
और हृदयको मनोहर मतीत
परिवर्तित समेत बालोंक था।

इस तरह यह करनेसे न
साठ वर्ष कोई पुरुषकी इस
स्वर्ग मिलेगा। यहमें पिता
यही भूलोकका स्वर्ग है
(१२-१५)

संपूर्ण सुखोपभोग वि
विवाहके लिया मोक्ष मि
लिये बड़ी महत्वकी र।
मधु (शहद) आदि
चीज हैं। इनका स
देवताओंके उद्देश्य
इस भूलोकमें स्वर्ग पु
इसलिये यह लोक पुर
सबको सब देवताओं

कृ

की कृषि करती है
अपने कर्म करते हैं। ये
और वनस्पतिके लिये करें।
हो सकता है अतः ओषध
पृथिवी और परिचारिक कन

पदोरस्या अधिष्ठानाद् विक्लिन्दुर्नाम विन्दति । अनामनात् सं शीर्यन्ते या मुखेनोपजिघ्रति ॥५॥
यो अस्याः कर्णावास्कुनोत्या स देवेषु वृश्चते ।
लक्ष्म कुर्व इति मन्यते कनीयः कृणुते स्वम् ॥६॥
यदस्याः कस्मै चिद् भोगाय बालान् कश्चित् प्रकृन्तति ।
ततः किशोरा म्रियन्ते वत्सांश्च घातुको वृकः ॥७॥
यदस्या गोपतौ सत्या लोम ध्वाङ्क्षो अजीहिडत् ।
ततः कुमारा म्रियन्ते यक्ष्मो विन्दत्यनामनात् ॥८॥
यदस्याः पल्पूलनं शकृद् दासी समस्यति । ततोऽपरूपं जायते तस्मादव्येष्यदेनसः ॥९॥
जायमानाभि जायते देवान्त्सब्राह्मणान् वशा ।
तस्माद् ब्रह्मभ्यो देयैषा तदाहुः स्वस्य गोपनम् ॥१०॥ (१९)

अर्थ-(अस्याः पदोः अधिष्ठानात्) इस गौके पांव रखनेके स्थानसे (विक्लिन्दुः नाम विन्दते) विक्लिन्दु नामक रोग होता है। (याः मुखेन उपजिघ्रति) जिनको मुखसे सूंघती है वे (अनामनात् संशीर्यन्ते) न जानते हुए भी क्षीण होकर नष्ट होते हैं ॥५॥

(यः अस्याः कर्णौ आस्कुनोति) जो इस गौके कानोंको दुःख देता है, (सः देवेषु आवृश्चते) वह मानो देवोंपर आघात करता है जो गायपर (लक्ष्म कुर्वे इति मन्यते) चिह्न करता हूं ऐसा मानता है वह (स्वं कनीयः कृणुते) अपना धन न्यून करता है ॥ ६ ॥

(यत् कश्चित् कस्मैचित् भोगाय) जो किसी भोगविशेषके लिये (अस्याः बालान् प्रकृन्तति) इस गौके बालोंको काटता है उससे (ततः किशोराः म्रियन्ते) उसके बालक मरते हैं तथा (वृकः वत्सान् च घातुकः) भेडिया बच्चोंका घात करता है ॥ ७ ॥

[यत् अस्याः सत्याः गोपतौ] यदि इसके साथ गोरक्षक रहते हुए भी यदि [ध्वाङ्क्षः लोम अजीहिडत्) कौवा-बालोंको नोचता तो (ततः कुमाराः म्रियन्ते) उससे बच्चे मर जाते हैं और (अनामनात् यक्ष्मः विन्दति) सहजहीसे क्षय रोग पकड लेता है ॥ ८ ॥

(यत् अस्याः पल्पूलनं शकृत्) इस गौका मूत्र और गोबर (दासी समस्यति) नौकरानी फेंक देवी तो उससे (ततः तस्मात् एनसः अ—व्येष्यत्) उस पापसे न छूटनेके कारण (अप रूपं जायते) विरूप होता है ॥ ९ ॥

(जायमाना वशा स—ब्राह्मणान् देवान् अभिजायते) उत्पन्न होते ही गौ ब्राह्मणोंके साथ देवोंके लिये होती है। (तस्मात् एषा ब्रह्मभ्यः देया) इसलिये यह गौ ब्राह्मणोंको देनी चाहिये। [तत् स्वस्य गोपनं आहुः] वह अपनी सुर—क्षिता है ऐसा कहते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ- गौके पांवके स्थानमें विक्लिन्दु नामक रोग फैलता है। जिसे वह सूंघती है उसका क्षय होता है और वह मरता है॥५॥
गौके कानोंपर चिह्न करनेसे जो गौको वेदना होती है उससे गौके स्वामीका धन कम होता है ॥ ६ ॥
यदि कोई मनुष्य अपनी सजावटके लिये गौके बाल काटेगा तो उसके बालबच्चे मर जांयगे ॥ ७ ॥
यदि पशुपालक गौकी रखवाली करता हुआ गौको कौवा काट देवे, तो उस पशुपालकके बच्चे मर जायगे ॥ ८ ॥
यदि गौकी परिचारिका गौका मूत और गोबर इधर उधर फेंक देवे तो उस पापसे उसका रूप विगड जायगा ॥ ९ ॥
गौ जो उत्पन्न होती है वह ब्राह्मणोंके लिये ही देवोंने उत्पन्न की होती है। इसीलिये उसका दान ब्राह्मणोंको देना उचित है। उससे दाताकी ही रक्षा होती है ॥ १० ॥

य एनां वनिमायन्ति तेषां देवकृता वशा । ब्रह्मज्येयं तदब्रुवन् य एनां निप्रियायते ॥११॥
य आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्सति ।
आ स देवेषु वृश्चते ब्राह्मणानां च मन्यवे ॥१२॥
यो अस्य स्याद् वशाभोगो अन्यामिच्छेत तर्हि सः ।
हिंस्ते अदत्ता पुरुषं याचितां च न दित्सति ॥१३॥
यथा शेवधिर्निहितो ब्राह्मणानां तथा वशा ।
तामेतदच्छायन्ति यस्मिन् कस्मिंश्च जायते ॥१४॥
स्वमेतदच्छायन्ति यद् वशां ब्राह्मणा अभि ।
यथैनानन्यस्मिन् जिनीयादेवास्या निरोधनम् ॥१५॥

अर्थ— [ये एनां वनिं आयन्ति] जो ब्राह्मण इस गौको मांगने आते हैं [तेषां देवकृता वशा] उनके लिये ही यह गौ देवोंने बनाई है। [यः एनां नि प्रियायते] जो इसको अपनी प्रिय है करके अपने ही पास रखता है और दान नहीं देता (तद् ब्रह्मज्येयं अब्रुवन्) वह उसका कृत्य ब्राह्मणोंपर अत्याचार जैसा ही है ॥ ११ ॥

[यः याचद्भ्यः आर्षेयेभ्यः] जो मांगनेवाले ऋषिपुत्रोंको (देवानां गां न दित्सति) देवोंकी गौ देता नहीं (ब्राह्मणानां मन्यवे] वह ब्राह्मणोंके कोपके लिये [देवेषु आवृश्चते] देवोंमें आघात करता है ॥ १२ ॥

[यः अस्य वशाभोगः स्यात्] जो इस गौका उपभोग लेता है [सः तर्हि अन्यां इच्छेत] वह तो दूसरी गौ प्राप्त करे। [अदत्ता पुरुषं हिंस्ते] दान न दी हुई गौ उस पुरुषकी हिंसा करती है कि [याचितां च न दित्सति] जो याचना करनेपर भी नहीं देता ॥ १३ ॥

(यथा निहितः शेवधिः) जैसा सुरक्षित खजाना होता है [तथा ब्राह्मणानां वशा] वैसी ही ब्राह्मणोंकी यह गौ है। [यस्मिन् कस्मिन् च जायते] जहां कहीं उत्पन्न हुई हो [एतम् अच्छ आयन्ति] उसके पास वे ब्राह्मण पहुंचते ही हैं ॥ १४ ॥

[यद् ब्राह्मणाः वशां अभि] यदि ब्राह्मण गौके पास आते हैं तो [एतत् स्वं अच्छ आयन्ति] वे अपने धनके पास ही आते हैं। [अस्याः निरोधनं] इस गायको प्रतिबंध करना मानो [यथा एनान् अन्यस्मिन् जिनीयात्] जैसा इनको दूसरे अर्थमें कष्ट देना है ॥ १५ ॥

भावार्थ— ब्राह्मण याचना करनेके लिये आनेपर उनको गौ प्रदान न करना उनपर अत्याचार करनेके समान है। क्योंकि देवोंने ही उनके लिये यह बनाई होती है ॥ ११ ॥

अतः जो मांगनेपर भी ब्राह्मणोंको गौ नहीं देता वह मानो देवोंपर ही आघात करता है। उससे उसपर ब्राह्मणोंका क्रोध और देवोंका संताप होता है ॥ १२ ॥

यदि गौसे किसीको लाभ होता हो तो वह दूसरी गौसे वह प्राप्त करे। क्योंकि जो गौको मांगनेपर भी नहीं देता उसको गौ ही उसकी घातक बनती है ॥ १३ ॥

यह गौ ब्राह्मणोंकी ही है जैसा सुरक्षित खजाना होता है वैसी ही यह है। कहीं किसीके पास भी उत्पन्न हुई हो जिसकी वह होगी वे ब्राह्मण उसे मांगने आवेंगे ॥ १४ ॥

ब्राह्मण जिस गौको मांगते हैं वह उनकी ही होती है। अतः उनको उस गौका दान न करना अपराध है ॥ १५ ॥

चरेदेवा त्रैहायणादविज्ञातगदा सती । वशां च विद्यान्नारद ब्राह्मणास्तर्ह्येष्याः ॥१६॥
य एनामवशामाह देवानां निहितं निधिम् । उभौ तस्मै भवाशर्वौ परिक्रम्येषुमस्यतः ॥१७॥
यो अस्या ऊधो न वेदाथो अस्या स्तनानुत ।
उभयेनैवास्मै दुहे दातुं चेदशकद्वशाम् ॥१८॥
दुरदभ्नैनमा शये याचितां च न दित्सति ।
नास्मै कामाः समृध्यन्ते यामदत्त्वा चिकीर्षति ॥१९॥
देवा वशामयाचन् मुखं कृत्वा ब्राह्मणम् ।
तेषां सर्वेषामददद्धेडं न्येति मानुषः ॥ २० ॥ (२०)
हेडं पशूनां न्येति ब्राह्मणेभ्योऽददद्वशाम् ।
देवानां निहितं भागं मर्त्यश्चेन्निप्रियायते ॥२१॥

अर्थ — [अविज्ञातगदा सती आ त्रैहायणात् चरेत् एव] अज्ञातकामवाली गौ तीन वर्ष होनेतक माताके साथ घूमे । हे नारद ! [वशां विद्यात् तर्हि ब्राह्मणाः एष्याः] गौ देने योग्य होनेपर, तो उसके लिये ब्राह्मण ढूंढे जांय ॥ १६ ॥

[यः देवानां निहितं निधिं एनां अवशां आह] देवोंके निहित खजानारूप इस गौको न देने योग्य कहे [तस्मै भवाशर्वौ उभौ परिक्रम्य इषुं अस्यतः] उसे भव और शर्व दोनों घेरकर बाण मारते हैं ॥ १७ ॥

(यः अस्याः ऊधः अथो उत अस्याः स्तनान् न वेद) जो इसके दुग्धाशयको और इसके स्तनोंको नहीं जानता (चेत् दातुं अशकत्) वह यदि दान देनेमें समर्थ हुआ तो [उभयेन अस्मै दुहे] वह गौ उसे उभय दोनोंसे दूध देती है ॥ १८ ॥

[याचितां न दित्सति] मांगनेपर भी ब्राह्मणको जो नहीं दी जाती वह गौ (दुर—अदभ्ना एनं आशये) बंद होने में कठिन होकर इसके पास रहती है । (अस्मै कामाः न समृध्यन्ते) इसके मनोरथ सफल नहीं होते [यां अदत्त्वा चिकीर्षति] जिसे न दान करके कमाना चाहता है ॥ १९ ॥

(ब्राह्मणं मुखं कृत्वा) ब्राह्मणरूपी मुख करके (देवाः वशां अयाचन्) देव गौकी याचना करते हैं । [अददत् मानुषः] न देनेवाला मनुष्य (तेषां सर्वेषां हेडं नि एति) उन सबके क्रोधको प्राप्त करता है ॥ २० ॥

[मर्त्यः देवानां निहितं भागं निप्रियायते चेत्] मनुष्य देवोंका निहित भाग अपने पास यदि रखेगा और [ब्राह्मणेभ्यः वशां अददत्] ब्राह्मणोंको गौ न देगा तो [पशूनां हेडं नि एति] पशुओंके क्रोधको भी प्राप्त होता है ॥२१॥

भावार्थ — तीन वर्षतक गौके उसका स्वामी पाले पश्चात् कोई मांगने न आवे तो सुयोग्य ब्राह्मणकी खोज करे और उसे देवे ॥ १६ ॥

गौ देवोंका खजाना है । जो उसे नहीं दान करता उसपर भव और शर्व क्रुद्ध होते हैं ॥ १७ ॥

जो गौका दान करता है उसको दूध आदि पर्याप्त मिलता है ॥ १८ ॥

जो मांगनेपर भी गौका दान ब्राह्मणोंको नहीं करता उसके घरमें गौ सुखसे नहीं रहती । गौ न देनेवालेकी कामना तृप्त नहीं होती ॥ १९ ॥

देवोंका मुख ब्राह्मण है । ब्राह्मणके मुखसे ही देव मांगते हैं । अतः दान न देनेवाला मनुष्य देवोंके क्रोधको अपने ऊपर लेता है ॥ २० ॥

कोई मनुष्य इस देवोंके भागको ब्राह्मणोंको दान न देगा तो पशुओंके क्रोधको प्राप्त होगा ॥ २१ ॥

यदन्ये शतं याचेयुर्ब्राह्मणा गोपतिं वशाम्। अथैनां देवा अब्रुवन्नेवं ह विदुषो वशा ॥२२॥
य एवं विदुषेऽदत्त्वाथान्येभ्यो ददद् वशाम्।
दुर्गा तस्मा अधिष्ठाने पृथिवी सहदेवता ॥२३॥
देवा वशामयाचन् यस्मिन्नग्रे अजायत। तामेतां विद्यान्नारदः सह देवैरुदाजत ॥२४॥
अनपत्यमल्पपशुं वशा कृणोति पूरुषम्। ब्राह्मणैश्च याचितामथैनां निप्रियायते ॥२५॥
अग्नीषोमाभ्यां कामाय मित्राय वरुणाय च।
तेभ्यो याचन्ति ब्राह्मणास्तेष्वा वृश्चतेऽददत् ॥२६॥
यावदस्या गोपतिर्नोपशृणुयादृचः स्वयम्।
चरेदस्य तावद् गोषु नास्य श्रुत्वा गृहे वसेत् ॥२७॥

अर्थ-(यत् गोपतिं शतं अन्ये वशां याचेयुः) यदि गौके स्वामीके पास दूसरे सौ जाकर गौको मांगे (अथ एनां देवाः एवं अब्रुवन्) इस विषयमें देवोंने ऐसा कहा है कि (विदुषः वशा ह) विद्वान्‌की ही गौ है ॥ २२ ॥

(यः एवं विदुषे अदत्त्वा) जो इस तरह विद्वान्‌को गौ न देकर (अन्येभ्यः वशां ददत्) दूसरे अविद्वानोंको गौ देवे (तस्मै अधिष्ठाने सह देवता पृथ्वी दुर्गा) उसके लिए उसके स्थानमें सब देवताओंके साथ पृथ्वी दुःखदायी होती है ॥ २३ ॥

(यस्मिन् अग्रे अजायत) जिसमें गौ पहिले हुई (देवाः वशां अयाचन्) देवोंने उसीके पास गौकी याचना की। (नारदः विद्यात्) नारद समझे कि (तां एतां देवैः सह उदाजत) उस गौकी देवोंके साथ उत्पत्ति होती है ॥ २४ ॥

(ब्राह्मणैः याचितां एनां निप्रियायते) ब्राह्मणोंके द्वारा याचना होनेपर भी जो उसको प्रिय समझकर अपने पास रखता है उस (पूरुषं वशा अनपत्यं अल्पपशुं कृणोति) गौ उस मनुष्यको संतानहीन और अल्पपशुवाला करती है ॥ २५ ॥

(अग्नी सोमाभ्यां मित्राय वरुणाय कामाय तेभ्यः) अग्नि सोम मित्र वरुण और काम इनके लिये ही (ब्राह्मणाः याचन्ति) ब्राह्मण गौकी याचना करते हैं अतः (अददत् तेषु आवृश्चते) न देनेवाला उन देवोंपर आघात करता है ॥ २६ ॥

(यावत् अस्याः गोपतिः) जबतक इस गौका स्वामी (स्वयं ऋचः न उपशृणुयात्) स्वयं ऋचाएं नहीं सुनेगा, (तावत् अस्य गोषु चरेत्) तबतक इसकी गौओंमें गौ चरा करे परंतु (श्रुत्वा अस्य गृहे न वसेत्) सुननेके पश्चात् वह गौ उसके घरमें न रहे ॥ २७ ॥

भावार्थ— गौके स्वामीके पास सैंकडों याचक गौके लिये आजाय परंतु देवोंकी आज्ञा है कि विद्वान् ब्राह्मणको ही गौ देनी चाहिये ॥ २२ ॥

जो विद्वान् ब्राह्मणको गौ न देकर दूसरेको देता है उसको बडे कष्ट प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

जहां गौ उत्पन्न होती है वहांसे ही देव उसकी याचना करते हैं। और देवोंके साथ रहनेसे उसकी उन्नति होती है ॥ २४ ॥

ब्राह्मणोंकी याचना होनेपर जो मनुष्य गौका दान नहीं करता उसको संतान नहीं होती और उसके पास पशु भी कम होते हैं ॥ २५ ॥

ब्राह्मण जो गौकी याचना करते हैं वे केवल अग्नि आदि देवताओंके लिये ही याचना करते हैं अपने लिये नहीं अतः उनको न देना देवताओंका अपमान करना है ॥ २६ ॥

जब तक गौका स्वामी वशाका मंत्रघोष नहीं सुनता तबतक उसके पास वो रहे। मंत्रपाठ सुननेके पश्चात् उसके घरमें गौ न रहे ॥ २७ ॥

यो अस्या ऋचं उपश्रुत्याथ गोष्वचीचरत् ।
आयुश्च तस्य भूतिं च देवा वृश्चन्ति हीडिताः ॥ २८ ॥
वशा चरन्ती बहुधा देवानां निहितो निधिः ।
आविष्कृणुष्व रूपाणि यदा स्थाम जिघांसति । ॥ २९ ॥
आविरात्मानं कृणुते यदा स्थाम जिघांसति ।
अथो ह ब्रह्मभ्यो वशा याच्ञ्याय कृणुते मनः ॥ ३० ॥ (२१)
मनसा सं कल्पयति तद् देवाँ अपि गच्छति ।
ततो ह ब्रह्माणो वशामुपप्रयन्ति याचितुम् ॥ ३१ ॥
स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यः ।
दानेन राजन्योऽवशाया मातुर्हेडं न गच्छति ॥ ३२ ॥

अर्थ-(यः अस्याः गोपतिः ऋचः उपश्रुत्य) जो इस गौका स्वामी ऋचायें सुनकर (अथ गोषु अचीचरत्) पश्चात् भी गौओंमें ही अपनी गौको चराया करता है (देवाः हीडिताः तस्य आयुः च भूतिं च वृश्चन्ति) देव क्रोधित होकर उसकी आयु और संपत्तिको विनाश करते हैं ॥ २८ ॥

(वशा बहुधा चरन्ती देवानां निधिः निहितः) यौ बहुत स्थानोंमें भ्रमण करती हुई देवोंका सुरक्षित खजाना ही है। (यदा स्थाम जिघांसति) जब वह रहनेके स्थानके पास जाना चाहती है तब (रूपाणि आविष्कृणुष्व) अनेक रूप प्रकट करती है ॥ २९ ॥

(यदा स्थाम जिघांसति) जब रहनेके स्थानके पास जाना चाहती है, तब (आत्मानं आविः कृणोति) अपने आपको प्रकट करती है। (अथो ह ब्रह्मभ्यः याच्ञ्याय मनः कृणुते) ब्राह्मणोंकी याचनाके लिये वह गौ अपना मन करती है ॥ ३० ॥

वह गौ (मनसा संकल्पयति) मनसे संकल्प करती है (तद् देवान् अपि गच्छति) वह संकल्प देवोंके पास पहुंचता है (ततः ह ब्राह्मणः वशां याचितुं उप प्रयन्ति) उसके पश्चात ही ब्राह्मण गौकी याचना करनेके लिये आते हैं ॥ ३१ ॥

[पितृभ्यः स्वधाकारेण] पितरोंके लिये स्वधाकारसे [देवताभ्यः यज्ञेन] देवताओंके यज्ञसे तथा [दानेन] दानसे [राजन्यः वशायाः मातुः हेडं न गच्छति] क्षत्रिय गौकी माताका क्रोध प्राप्त नहीं करता ॥ ३२ ॥

भावार्थ— मंत्रघोष सुननेके पश्चात् यदि गौके स्वामीने गौ अपने घरमें रखी तो उसके ऊपर देवोंका क्रोध होता है ॥ २८ ॥

गौ यह देवोंका सुरक्षित खजाना है। जब वह अपने स्थानपर जाना चाहती है तब वह अनेक भाव प्रकट करती है ॥ २९ ॥

जब वह गौ अपने स्थानके पास जाना चाहती है तब अपने भावको प्रकट करती है अर्थात् वह अपने मनमें ब्राह्मणोंकी याचना हो ऐसा भाव मनमें करती है ॥ ३० ॥

गौ यह संकल्प मनमें करती है वह संकल्प देवोंके पास पहुंचता है देव ब्राह्मणोंको प्रेरणा करते हैं और ब्राह्मण गौको मांगनेके लिये आते हैं ॥ ३१ ॥

स्वधाकारसे पितरोंकी तृप्ती यज्ञसे देवोंकी संतुष्टता और दानसे अन्योंकी तृप्ती होती है इसलिये गौका दान करनेसे उसकी माताका क्रोध क्षत्रियपर नहीं होता है ॥ ३२ ॥

वशा माता राजन्यस्य तथा संभूतमग्रशः। तस्या आहुरनर्पणं यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते ॥३३॥
यथाज्यं प्रगृहीतमालुम्पेत् स्रुचो अग्नये।
एवा ह ब्रह्मभ्यो वशामग्नय आ वृश्चतेऽददत् ॥३४॥
पुरोडाशवत्सा सुदुघा लोकेऽस्मा उप तिष्ठति।
सास्मै सर्वान् कामान् वशा प्रददुषे दुहे ॥३५॥
सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रददुषे दुहे।
अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम् ॥३६॥
प्रवीयमाना चरति क्रुद्धा गोपतये वशा।
वेहतं मा मन्यमानो मृत्योः पाशेषु बध्यताम् ॥३७॥
यो वेहतं मन्यमानोऽमा च पचते वशाम्।
अप्यस्य पुत्रान् पौत्रांश्च याचयते बृहस्पतिः ॥३८॥

अर्थ—[वशा राजन्यस्य माता] गौ क्षत्रियकी माता है [तथा अग्रशः सं भूतं] ऐसा पहिलेसे ही हुआ है। [यत् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते] जो गौ ब्राह्मणोंके लिये दी जाती है [तस्याः अनर्पणं आहुः] उसका वह दान ही नहीं है [क्योंकि वह गौ ब्राह्मण की ही होती है] ॥ ३३ ॥

[यथा अग्नये प्रगृहीतं आज्यं स्रुचः आलुम्पेत्] जैसा अग्निके लिए लिया हुआ घी स्रुचासे गिरता है [एवा ह ब्रह्मभ्यः अददत्] ऐसे ही गौ ब्राह्मणोंको न देनेवाला [अग्नये आवृश्चते] अग्निके लिये अपराधी होता है ॥ ३४ ॥

[पुरोडाशवत्सा सुदुघा लोके अस्मै उपतिष्ठति] पुरोडाशरूपी बछडा जिसके पास है ऐसी उत्तम दूध देनेवाली गौ परलोकमें इस दाताके पास जाकर खडी रहती है। (सा वशा अस्मै प्रददुषे सर्वान् कामान् दुहे] वह गौ इस दानीके लिए सब कामनाएं पूर्ण करती है ॥ ३५ ॥

[यमराज्ये वशा प्रददुषे सर्वान् कामान् दुहे] यमराज्यमें गौ दाताके लिये सब कामनाएं देती है। [अथ याचितां निरुन्धानस्य नारकं लोकं आहुः] और याचना करनेपर न देनेवालेको नरक लोक है ऐसा कहते हैं ॥ ३६ ॥

[प्रवीयमाना वशा गोपतये क्रुद्धा चरति] सन्तान उत्पन्न करनेवाली भी अपने स्वामीके लिये क्रुद्ध होकर विचरती है। वह कहती है कि [मा वेहतं मन्यमानः मृत्योः पाशेषु बध्यतां] मुझे गर्भघातिनी कहनेवाला मृत्युके पाशोंमें बांधा जावे ॥ ३७ ॥

[यः वशां वेहतं मन्यमानः] जो गौको गर्भ गिरानेवाली मानकर [अमा च वशां पचते] घरमें गौको पकाता है [बृहस्पतिः अस्य पुत्रान् पौत्रान् अपि याचयते] इसके पुत्रों और पौत्रोंको बृहस्पति भीख मंगवाता है ॥ ३८ ॥

भावार्थ— जो क्षत्रियकी माता कही जाती है उसका ब्राह्मणोंको प्रदान करना दान नहीं है क्योंकि वह ब्राह्मणोंकी होती है ॥ ३३ ॥

जैसा स्रुवासे घी अग्निमें गिरता है। वैसा ही गौका दान न करनेवाला गिरता है ॥ ३४ ॥

दान दी हुई गौ दाताकी परलोकमें हरएक प्रकारकी कामना सफल करती है ॥ ३५ ॥

गौदान करनेवालेकी समस्त कामनाएं यमराज्यमें सफल होती हैं परंतु दान न देनेवालेको तो नरक ही प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

गौका अपमान करनेवालेको गौ क्रुद्ध होकर शाप देती है कि वह मृत्युके पाशोंसे बांधा जावे ॥ ३७ ॥

जो गौको बन्ध्या मानकर अपने घरमें पकाता है उसके पुत्र-पौत्रोंको ईश्वर भीख मंगवाता है ॥ ३८ ॥

महदेषाव तपति चरन्ती गोषु गौरपि। अथो ह गोपतये वशाददुषे विषं दुहे ॥ ३९ ॥
प्रियं पशूनां भवति यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते
अथो वशायास्तत् प्रियं यद् देवत्रा हविः स्यात् ॥४०॥(२१)
या वशा उदकल्पयन् देवा यज्ञादुदेत्य। तासां विलिप्त्यं भीमामुदाकुरुत नारदः ॥ ४१ ॥
तां देवा अमीमांसन्त वशेया३मवशेति। तामब्रवीन्नारद एषा वशानां वशतमेति ॥ ४२ ॥
कति नु वशा नारद यास्त्वं वेत्थ मनुष्यजाः।
तास्त्वा पृच्छामि विद्वांसं कस्या नाश्नीयादब्राह्मणः ॥ ४३ ॥
विलिप्त्या बृहस्पते या च सूतवशा वशा।
तस्या नाश्नीयादब्राह्मणो य आशंसेत भूत्याम् ॥ ४४ ॥

अर्थ-(गोषु गौः चरन्ती अपि) गौओंमें गौ चलती हुई भी (एषा महत् अवतपति) यह बडा ताप देती है। (अथो अददुषे गोपतये विषं दुहे) मानो दान न करनेवाले गौके स्वामीके लिये यह विष देती है ॥ ३९ ॥

(यत् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते) जो ब्राह्मणोंके लिये दी जाती है वह (पशूनां प्रियं भवति) पशुओंके भी हितकारी होता है (अथो वशायाः तत् प्रियं) और गौके लिये वह प्रिय है (यत् देवत्रा हविः स्यात्) जो देवोंके लिये हवि होवे ॥ ४० ॥

(याः वशाः देवाः) जिन गौओंको देवताओंने (यज्ञात् उदेत्य उदकल्पयन्) यज्ञसे आकर संकल्पित किया था (तासां भीमां विलिप्त्यं नारदः उदाकुरुत) उनकी भयानक ... विलिप्ती गौको नारदने अनुमत किया ॥ ४१ ॥

(तां देवाः अमीमांसन्त) उस विषयमें देवोंने विचार किया (वशा इयं अवशा) यह गौ अपने वशमें रखने योग्य नहीं है। (नारदः तां अब्रवीत्) नारदने उसके विषयमें कहा कि (एषा वशानां वशतमा इति) यह गौओंमें अधिक वश होनेवाली है ॥ ४२ ॥

हे नारद! (याः त्वं मनुष्यजाः वेत्थ) जिनको तू मनुष्योंमें उत्पन्न जानता है वे (कति नु वशा) गौवें कितनी वशा हैं। (त्वा विद्वांसं पृच्छामि) तुझ विद्वान्से मैं पूछता हूं कि (कस्याः अब्राह्मणः न अश्नीयात्) किसका ब्राह्मणभिन्न अतिथि न खावे। ॥ ४३ ॥

हे बृहस्पते! (यः भूत्यां आशंसेत) जो ऐश्वर्य चाहता है वह (विलिप्त्या या च सूतवशा वशा) अधिक घी देनेवाली गौ है जो ब्यानेसे ही वश होती है और जो वशमें है (अब्राह्मणः तस्याः न अश्नीयात्) अब्राह्मणने उसका अन्न न खाना चाहिये (यः भूत्यां आशंसेत) जो ऐश्वर्य चाहे ॥ ४४ ॥

भावार्थ—जो गौका दान नहीं करता उसके लिये वसही गौ विष दुहती है ॥ ३९ ॥

गौका दान करनेसे पशुओंका हित होता है गौओंका हित होता है। क्योंकि गौके दुग्धपदार्थ देवताओंके लिये मिलते हैं ॥ ४० ॥

यज्ञसे आकर सब देवताओंने मिलकर गौओंके रक्षणकी ... अधिक घी देनेवाली है उसकी योग्यता विशेष है ॥ ४१ ॥

देवोंने निश्चय ठहराया कि यह स्वामीके वशमें रहने योग्य नहीं है क्योंकि यह वशतम गौ है अतः यह दानके योग्य है ॥ ४२ ॥

मनुष्योंके पास जो गौवें होती हैं उनमेंसे कौनसी गौका अन्न अब्राह्मण स्वामी न खावे? ॥ ४३ ॥

निश्चय यह हुआ कि अधिक घी देनेवाली सर्वदा वशमें रहनेवाली और ब्याकरके वश रहनेवाली ये तीन गौवें दानके योग्य हैं अतः इनका अन्न अब्राह्मण स्वामी न खावे ॥ ४४ ॥

नमस्ते अस्तु नारदानुष्ठु विदुषे वशा । कतमासां भीमतमा यामदत्त्वा पराभवेत् ॥ ४५ ॥
विलिप्ती या बृहस्पतेऽथो सूतवशा वशा ।
तस्या नाश्नीयादब्राह्मणो य आशंसेत भूत्याम् ॥ ४६ ॥
त्रीणि वै वशाजातानि विलिप्ती सूतवशा वशा ।
ताः प्र यच्छेद् ब्रह्मभ्यः सोऽनाव्रस्कः प्रजापतौ ॥ ४७ ॥
एतद् वो ब्राह्मणा हविरिति मन्वीत याचितः ।
वशां चेदेनं याचेयुर्या भीमाददुषो गृहे ॥ ४८ ॥
देवा वशां पर्यवदन् न नोऽदादिति हीडिताः ।
एताभिर्ऋग्भिर्भेदं तस्माद् वै स पराभवत् ॥ ४९ ॥

अर्थ- हे नारद ! (ते नमः अस्तु) तेरे लिये नमस्कार है । (अनुष्ठु विदुषे वशा) अनुकूलतासे विद्वान्‌को गौ दान करनी चाहिये । (आसां कतमा भीमतमा) इनमें कौनसी भयानक है (यां अदत्त्वा पराभवेत्) जिसका दान न करनेसे पराभव होगा ? ॥ ४५ ॥

हे बृहस्पते ! (या विलिप्ती अथो सूतवशा वशा) जो अधिक घी देनेवाली और सूतकी वश करनेवाली और उसके वश रहनेवाली गौ है (अब्राह्मणः तस्याः न अश्नीयात्) अब्राह्मण उसका अन्न न खावे (यः भूत्यां आशंसेत) जो ऐश्वर्य समृद्धिकी इच्छा करता है ॥ ४६ ॥

[त्रीणि वै वशाजातानि विलिप्ती सूतवशा वशा] गौकी तीन जातियां हैं—एक अधिक घी देनेवाली दूसरी सौतके वश होनेवाली और तीसरी सबको वश होनेवाली । [ताः ब्रह्मभ्यः प्रयच्छेत्] उनको वो ब्राह्मणोंको देवा [सः अ... पतौ अनाव्रस्कः] वह प्रजापतिके पास निरपराधी होता है ॥ ४७ ॥

हे ब्राह्मणो ! [एतद् वः हविः] यह आपका हवि है [इति याचितः मन्वीत] ऐसा याचना करनेपर मनमें स्वयं कहे । [वशां चेत् एनं याचेयुः] गौकी जब इसके पास याचना की जाती है तब [या भीमा अददुषः गृहे] वह भयंकर होती है अदाताके घरमें रखना ॥ ४८ ॥

[नः न अदात् इति हीडिताः देवाः] हमें इसने दिया नहीं इस कारण क्रोधित हुए देव [वशां] गौके [पर्यवदन्] इन मंत्रोंसे भेदके विषयमें कहने लगे [तस्मात् वै सः पराभवत्] इस कारण उसका पराभव हुआ ॥ ४९ ॥

भावार्थ—जिस गौका दान न करनेसे अधिक हानिकी संभावना है वह कौनसी गौ है ? ॥ ४५ ॥

गौओंमें तीन जातियां हैं एक अधिक घी देनेवाली दूसरी सबके वशमें रहनेवाली और तीसरी सौतके वश होनेवाली ये तीन प्रकार की गौवें हैं जिनका अन्न गौका स्वामी न खावे । स्वामी ये गौएं ब्राह्मणको दान देवे जिससे वह निर्दोष होता है ॥ ४६-४७ ॥

मांगनेपर गौका स्वामी कहे कि हे ब्राह्मणो ! यह आपका अन्न है । मांगनेपर भी जो न देवे उसके घरमें वह गौ भयंकर हानि करनेवाली होती है ॥ ४८ ॥

गौका दान न करनेसे देव क्रोधित होकर उसके घरमें भेद करते हैं और इस कारण उसका पराभव होता है ॥ ४९ ॥

उतैनां भेदो नाददाद् वशामिन्द्रेण याचितः। तस्मात् तं देवा आगसोऽवृश्चन्नहमुत्तरे॥ ५० ॥
ये वशाया अदानाय वदन्ति परिरापिणः।
इन्द्रस्य मन्यवे जाल्मा आ वृश्चन्ते अचित्त्या ॥ ५१ ॥
ये गोपतिं पराणीयाथाहुर्मा ददा इति। रुद्रस्यास्तां ते हेतिं परि यन्त्यचित्त्या ॥ ५२ ॥
यदि हुतां यद्यहुताममा च पचते वशाम्।
देवान्त्सब्राह्मणानृत्वा जिह्मो लोकान्निरृच्छति ॥ ५३ ॥ (२३)

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अर्थ— [उत एनां वशां इन्द्रेण याचितः भेदः] और इस गौको इन्द्रसे याचना करनेपर भी भेदने [न अददात्] नहीं दिया [तस्मात् आगसः देवाः तं अहमुत्तरे अवृश्चन्] उस पापके कारण देवोंने उस युद्धमें काट डाला ॥ ५० ॥

[ये परिरापिणः वशायाः अदानाय वदन्ति] जो दुष्ट लोग गौका दान न करनेका भाषण बोलते हैं वे [जाल्माः अचित्त्या इन्द्रस्य मन्यवे आवृश्चन्ते] दुष्ट मनुष्य मतिहीनता के कारण इन्द्रके क्रोधकेलिये काटे जाते हैं ॥ ५१ ॥

[ये गोपतिं पराणीय] जो गोके स्वामीको दूर ले जाकर [अथ आहुः मा ददा इति] कहते हैं कि मत दान कर [ते अचित्त्या रुद्रस्य अस्तां हेतिं परि यन्ति] वे न समझते हुए रुद्रके फेंके हुए हथियारको प्राप्त होते हैं ॥ ५२ ॥

[यदि हुतां यदि अहुतां] यदि हवन की गई अथवा न की गई [वशां अमा च पचते] गौको अपने घरमें जो पकाता है वह [स ब्राह्मणान् देवान् ऋत्वा] ब्राह्मणोंके साथ देवोंका अपराधी बनकर [जिह्मः] कुटिल होकर [लोकात् निरृच्छति] इस लोकसे गिरता है ॥ ५३ ॥

चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥

भावार्थ– गौ की याचना करनेपर भी जो नहीं देता उसके राज्यमें भेद उत्पन्न होकर युद्धमें उसका पराभव होता है॥५० ॥
जो गौका दान न करनेके विषयमें उपदेश करते हैं उनका भी इन्द्रके क्रोधसे नाश होता है ॥ ५१ ॥
जो लोग गौके स्वामीको दूर ले जाकर गौ दान न करनेका उपदेश करते हैं उनका नाश रुद्रके शस्त्रसे होता है॥५२॥
जो गौको अपने घरमें पकाते हैं उनपर देवों और ब्राह्मणोंका क्रोध होता है और वे गिरते हैं ॥ ५३ ॥

चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥

ब्राह्मणकी गौ ।

[५]

(ऋषिः– अथर्वाचार्यः । देवता-ब्रह्मगविः)

(५।१)

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तर्ते श्रिता ॥ १ ॥
सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता ॥ २ ॥
स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥ ३ ॥
ब्रह्म पदवायं ब्राह्मणोऽधिपतिः ॥ ४ ॥
तामाददानस्य ब्रह्मगवीं जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥ ५ ॥
अप क्रामति सूनृता वीर्यं१ पुण्या लक्ष्मीः ॥ ६ ॥ (१४)

(५।२)

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥ ७ ॥
ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥ ८ ॥

अर्थ– (श्रमेण तपसा सृष्टा) श्रम और तपसे उत्पन्न हुई (ब्रह्मणा वित्ता) ज्ञानसे प्राप्त हुई और (ऋते श्रिता) सत्यके आश्रयसे रही है ॥ १ ॥ (सत्येन आवृता) सत्यसे आच्छादित (श्रिया प्रावृता) श्रीसे भरी हुई और (यशसा परीवृता) यशसे घिरी है ॥ २ ॥ (स्वधया परिहिता) अपनी धारणासे सुरक्षित हुई (श्रद्धया पर्यूढा) श्रद्धाभक्तिसे युक्त (दीक्षया गुप्ता) दीक्षाव्रतसे सुरक्षित हुई (यज्ञे प्रतिष्ठिता) यज्ञमें प्रतिष्ठित हुई और (लोकः निधनं) इस लोकमें आश्रयको प्राप्त हुई है ॥ ३ ॥ जो (ब्रह्म पदवायं) ज्ञानरूप पदसमूह है उसका (अधिपतिः ब्राह्मणः) स्वामी ब्राह्मण है ॥ ४ ॥ (तां ब्रह्मगवीं आददानस्य) उस ब्राह्मणकी गौका हरनेवाले (ब्राह्मणं जिनतः क्षत्रियस्य) ब्राह्मणका नाश करनेवाले क्षत्रिय की इस (सूनृता वीर्यं पुण्या लक्ष्मी अपक्रामति) सत्य वीर्यवती पुण्यमयी लक्ष्मी दूर होती है ॥ ६ ॥ [१४]

(५।२)

ओज तेज (सहः) शत्रुसामर्थ्य बल वाणी इन्द्रियशक्ति (श्रीः) शोभा धर्म ॥ ७ ॥ (ब्रह्म) ज्ञान (क्षत्र) शौर्य राष्ट्र (विश) प्रजा (त्विषिः) तेज यश (वर्चः) ब्रह्मतेज (द्रविणं) धन ॥ ८ ॥ आयु रूप ना

आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥ ९ ॥
पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥ १० ॥
तानि सर्वाण्यप क्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥ ११ (२५)

(५।३)

सैषा भीमा ब्रह्मगव्य१घविषा साक्षात् कृत्या कूल्बजमावृता ॥ १२ ॥
सर्वाण्यस्यां घोराणि सर्वे च मृत्यवः ॥ १३ ॥
सर्वाण्यस्यां क्रूराणि सर्वे पुरुषवधाः ॥ १४ ॥
सा ब्रह्मज्यं देवपीयुं ब्रह्मगव्यादीयमाना मृत्योः पड्वीश आ द्यति ॥ १५ ॥
मेनिः शतवधा हि सा ब्रह्मज्यस्य क्षितिर्हि सा ॥ १६ ॥
तस्माद् वै ब्राह्मणानां गौर्दुराधर्षा विजानता ॥ १७ ॥
वज्रो धावन्ती वैश्वानर उद्वीता ॥ १८ ॥
हेतिः शफानुत्खिदन्ती महादेवो३पेक्षमाणा ॥ १९ ॥
क्षुरपविरीक्षमाणा वाश्यमानाभि स्फूर्जति ॥ २० ॥

अर्थ— कीर्ति, प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र ॥ ९ ॥ (पयः) दूध, रस, अन्न (अन्नाद्य) खाद्य पदार्थ, सत्य (इष्टं च पूर्तं च) इष्ट और पूर्त, प्रजा, पशु ॥ १० ॥ (तानि सर्वाणि) ये सब [illegible] (ब्रह्मगवीं आददानस्य ब्राह्मणं जिनतः क्षत्रियस्य) ब्राह्मणकी गौको छीननेवाले और ब्राह्मणका नाश करनेवाले क्षत्रियके दूर होते हैं ॥ ११ ॥ [२५]

(५।३)

(सा एषा ब्रह्मगवी भीमा) यह यह ब्राह्मणकी गौ भयानक है, यह (अघविषा साक्षात् कृत्या) विषैली और साक्षात् नाश करनेवाली (कूल्बजं आवृता) विनाशक पदार्थ व्याप्त है ॥ १२ ॥ (अस्यां सर्वाणि घोराणि) इसमें सब भयंकरता है (सर्वे च मृत्यवः) इसमें सब मृत्यु है ॥ १३ ॥ (अस्यां सर्वाणि क्रूराणि) इसमें सब क्रूरता है (सर्वे पुरुषवधाः) सब पुरुषोंके वध हैं ॥ १४ ॥

(सा ब्रह्मगवी आदीयमाना) यह ब्राह्मणकी गौ छीनी जानेपर (ब्रह्मज्यं देवपीयुं मृत्योः पड्वीशे आ द्यति) ब्रह्मघाती देवनिन्दकको मृत्युके पाशमें बांध देती है ॥ १५ ॥ (सा शतवधा मेनिः) यह सौ वध करनेवाला हथियार है (सा ब्रह्मज्यस्य क्षितिः हि) यह ब्रह्मघातीका विनाश ही है ॥ १६ ॥ (तस्मात् वै विजानता ब्राह्मणानां गौः दुराधर्षा) इसलिये ज्ञानी [illegible] ब्राह्मणोंकी गौ पर आक्रमण करना कठिन है ॥ १७ ॥ (धावन्ती वज्रः उद्वीता वैश्वानरः) यह जब दौडती है तब वज्र बनती है, जब उठती है तब यह आग बनी होती है ॥ १८ ॥ (शफान् उत्खिदन्ती हेतिः) खुरोंको उठाती हुई यह हथियार बनती है और (अपेक्षमाणा महादेवः) देखती हुई यह महादेव बनती है ॥ १९ ॥ (ईक्षमाणा क्षुरपविः) [illegible] है ॥ (वाश्यमाना अभिस्फूर्जति) [illegible] ॥ २० ॥ (हिङ्कृण्वती मृत्युः) [illegible] (पुच्छं पर्यस्यन्ती उग्रः) [illegible]

मृत्युर्हिङ्कृण्वत्युग्रो देवः पुच्छं पर्यस्यन्ती ॥ २१ ॥
सर्वज्यानिः कर्णौ वरीवर्जयन्ती राजयक्ष्मो मेहन्ती ॥ २२ ॥
मेनिर्दुह्यमाना शीर्षक्तिर्दुग्धा ॥ २३ ॥
सेदिरुपतिष्ठन्ती मिथोयोधः परामृष्टा ॥ २४ ॥
शरव्या मुखेऽपिनह्यमान ऋतिर्हन्यमाना ॥ २५ ॥
अघविषा निपतन्ती तमो निपतिता ॥ २६ ॥
अनुगच्छन्ती प्राणानुप दासयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य ॥ २७ ॥ (२६)

(५।४)

वैरं विकृत्यमाना पौत्राद्यं विभाज्यमाना ॥ २८ ॥
देवहेतिर्ह्रियमाणा व्यृद्धिर्हृता ॥ २९ ॥
पाप्माधिधीयमाना पारुष्यमवधीयमाना ॥ ३० ॥
विष प्रयस्यन्ती तक्मा प्रयस्ता ॥ ३१ ॥
अघं पच्यमाना दुष्वप्न्यं पक्वा ॥ ३२ ॥
मूलबर्हणी पर्याक्रियमाणा क्षितिः पर्याकृता ॥ ३३ ॥

[illegible] होती है ॥ २१ ॥ (कर्णौ वरीवर्जयन्ती सर्वज्यानिः) [illegible] नाश करनेवाली होती है और (मेहन्ती राजयक्ष्मा) मूत्र करनेपर [illegible] बनती है ॥ २२ ॥ (दुह्यमाना मेनिः) [illegible] होती है (दुग्धा शीर्षक्तिः) [illegible] बनती है ॥ २३ ॥ (उपतिष्ठन्ती सेदिः) [illegible] होती है और (परामृष्टा मिथोयोधः) [illegible] ॥ २४ ॥ (मुखे अपिनह्यमाने शरव्या) [illegible] और (हन्यमाना ऋतिः) [illegible] ॥ २५ ॥ (निपतन्ती अघविषा) [illegible] और (निपतिता तमः) [illegible] ॥ २६ ॥ (ब्रह्मगवी अनुगच्छन्ती) [illegible] (ब्रह्मज्यस्य प्राणान् उप दासयति) [illegible] नाश करती है ॥ २७ ॥

(५।४)

(विकृत्यमाना वैरं) [illegible] (विभाज्यमाना पौत्राद्यं) [illegible] ॥ २८ ॥ (ह्रियमाणा देवहेतिः) [illegible] (हृता व्यृद्धिः) [illegible] ॥ २९ ॥ (अधिधीयमाना पाप्मा) [illegible] (अवधीयमाना पारुष्यं) [illegible] ॥ ३० ॥ (प्रयस्यन्ती विष) [illegible] होती है और (प्रयस्ता तक्मा) [illegible] ॥ ३१ ॥

(पच्यमाना अघं) [illegible] (पक्वा दुष्वप्न्यं) [illegible] ॥ ३२ ॥ [illegible] (पर्याकृता क्षितिः) [illegible] ॥ ३३ ॥

असंज्ञा गन्धेन शुगुद्ध्रियमाणाशीविष उद्धृता ॥ ३४ ॥
अभूतिरुपह्रियमाणा पराभूतिरुपहृता ॥ ३५ ॥
शर्वः क्रुद्धः पिश्यमाना शिमिदा पिशिता ॥ ३६ ॥
अवर्तिरश्यमाना निर्ऋतिरशिता ॥ ३७ ॥
अशिता लोकाच्छिनत्ति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यमस्माच्चामुष्माच्च ॥ ३८ ॥ (२७)

(५।५)

तस्या आहननं कृत्या मेनिराशसनं वलग ऊबध्यम् ॥ ३९ ॥
अस्वगता परिह्णुता ॥ ४० ॥
अग्निः क्रव्याद् भूत्वा ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यं प्रविश्यात्ति ॥ ४१ ॥
सर्वास्याङ्गा पर्वा मूलानि वृश्चति ॥ ४२ ॥
छिनत्त्यस्य पितृबन्धु परा भावयति मातृबन्धु ॥ ४३ ॥
विवाहां ज्ञातीन्त्सर्वानपि क्षापयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य क्षत्रियेणापुनर्दीयमाना ॥ ४४ ॥
अवास्तुमेनमस्वगमप्रजसं करोत्यपरापरणो भवति क्षीयते ॥ ४५ ॥
य एवं विदुषो ब्राह्मणस्य क्षत्रियो गामादत्ते ॥ ४६ ॥ (२८)

अर्थ- (गन्धेन असंज्ञा) यह गंधसे बेहोशी करती है (उद्ध्रियमाणा शुक्) उठाई जानेपर शोक पैदा करती है और (उद्धृता आशीविषः) उठाई गयी सांपके समान होती है ॥ ३४ ॥ (उपह्रियमाणा अभूतिः) पास की गई विपत्ति बनती है (उपहृता पराभूतिः) पास रखी पराभवरूप होती है ॥ ३५ ॥ (पिश्यमाना क्रुद्धः शर्वः) पीसी जाते समय क्रोधित शर्वके समान और (पिशिता शिमिदा) पीसी हुई सुखका नाश करनेवाली होती है ॥ ३६ ॥ (अश्यमाना अवर्तिः) खायी जाती हुई विपदा होती है और (अशिता निर्ऋतिः) खाई जानेपर विराधक बनती है ॥ ३७ ॥ (अशिता ब्रह्मगवी) खाई हुई ब्राह्मणकी गौ (ब्रह्मज्यं अस्मात् अमुष्मात् च लोकात् छिनत्ति) ब्राह्मणघातकीको इस लोकसे और परलोकसे उखाड देती है ॥ ३८ ॥

(५।५)

(तस्याः आहननं कृत्या) उसका वध घात करनेवाला है (आशसनं मेनिः) उसके टुकडे करना वज्रपातसमान है। और (ऊबध्यं वलगः) उसका पक्व अन्न विनाशक होता है ॥ ३९ ॥

यह (परिह्णुता अस्वगता) छीनी जानेपरभी अपने पास नहीं रहती अर्थात् अपना घात करती है ॥ ४० ॥ (ब्रह्मगवी क्रव्यात् अग्निः भूत्वा ब्रह्मज्यं प्रविश्य अत्ति) ब्राह्मणकी गौ मांसभक्षक आग बनकर ब्राह्मणघातकीमें प्रवेश करके खा जाती है ॥ ४१ ॥ (अस्य सर्वा अंगा मूलानि वृश्चति) इसके सब अंगों और मूलोंको काट डालती है ॥ ४२ ॥ (अस्य पितृबन्धु छिनत्ति) इसके पिताके बन्धुओंको छेदती है और (मातृबन्धु पराभावयति) माताके बन्धुओंको परास्त करती है ॥ ४३ ॥ (क्षत्रियेण अपुनर्दीयमाना ब्रह्मगवी) क्षत्रियके द्वारा पुनः वापस न दी गयी ब्राह्मणकी गौ (ब्रह्मज्यस्य विवाहान् सर्वान् ज्ञातीन् क्षापयति) क्षत्रियके सब विवाहों और सब जातिबांधवोंका नाश करती है ॥ ४४ ॥ (एनं अवास्तुं अस्वगं अप्रजसं करोति) इसे घरके बिना आश्रयरहित और प्रजारहित करती है (अपरापरणः भवति क्षीयते) संतानसे रहित होता है और नष्ट होता है ॥ ४५ ॥ (यः क्षत्रियः विदुषः ब्राह्मणस्य गां एवं आदत्ते) जो क्षत्रिय विद्वान् ब्राह्मणकी गौको इसी तरह छीनता है ॥ ४६ ॥ [२८]

(५।६)

क्षिप्रं वै तस्याहनने गृध्राः कुर्वत ऐलबम् ॥ ४७ ॥
क्षिप्रं वै तस्यादहनं परि नृत्यन्ति केशिनीराघ्नानाः पाणिनोरसि कुर्वाणाः पापमैलबम् ॥ ४८ ॥
क्षिप्रं वै तस्य वास्तुषु वृकाः कुर्वत ऐलबम् ॥ ४९ ॥
क्षिप्रं वै तस्य पृच्छन्ति यत् तदासी३ इदं नु ता३ इति ॥ ५० ॥
छिन्ध्या च्छिन्धि प्र च्छिन्ध्यपि क्षापय क्षापय ॥ ५१ ॥
आददानमाङ्गिरसि ब्रह्मज्यमुप दासय ॥ ५२ ॥
वैश्वदेवी ह्यु१च्यसे कृत्या कूल्बजमावृता ॥ ५३ ॥
ओषन्ती समोषन्ती ब्रह्मणो वज्रः ॥ ५४ ॥
क्षुरपविर्मृत्युर्भूत्वा वि धाव त्वम् ॥ ५५ ॥
आ दत्से जिनतां वर्च इष्टं पूर्तं चाशिषः ॥ ५६ ॥
आदाय जीतं जीताय लोके३ऽमुष्मिन् प्र यच्छसि ॥ ५७ ॥
अघ्न्ये पदवीर्भव ब्राह्मणस्याभिशस्त्या ॥ ५८ ॥
मेनिः शरव्या भवाघादघविषा भव ॥ ५९ ॥

(५।६)

अर्थ— (तस्य आहनने गृध्राः क्षिप्रं वै ऐलबं कुर्वते) उस पुरुषके हनन होनेपर गीध शीघ्र ही कोलाहल मचाते हैं ॥ ४७ ॥

(तस्य आदहनं) उसकी जलती चिताको घेरकर (केशिनीः पाणिना उरसि आघ्नानाः पापं ऐलबं कुर्वाणाः परिनृत्यन्ति) बाल खोलकर हाथोंसे छातियोंपर मार मार बुरा शब्द करती हुई स्त्रियां इतस्ततः नाचती हैं ॥ ४८ ॥ (तस्य वास्तुषु वृकाः ऐलबं क्षिप्रं कुर्वन्ति) उसके घरोंमें भेडिये शीघ्र ही अपना शब्द करने लगते हैं ॥ ४९ ॥ (क्षिप्रं वै तस्य पृच्छन्ति) शीघ्र ही उसके विषयमें पूछते हैं कि (यत् तत् आसीत्) जैसा वह था (इदं नु तत् इति) क्या वह यही है ॥ ५० ॥ (छिन्धि आच्छिन्धि प्रच्छिन्धि) उसको काटो सब काटो और टुकडे करो। (अपि क्षापय क्षापय) नाश करो उसका नाश करो ॥ ५१ ॥ हे (आङ्गिरसि) अङ्गिरसकी शक्ति ! (आददानं ब्रह्मज्यं उपदासय) ब्राह्मणकी गौको छीननेवाले घातकीका नाश करो ॥ ५२ ॥ तू (वैश्वदेवी हि कृत्या) सब देवोंकी विनाशक शक्ति (कूल्बजं आवृता उच्यसे) विनाशिनी है ऐसा कहते हैं ॥ ५३ ॥ (ओषन्ती समोषन्ती ब्रह्मणः वज्रः) तापदायक दाह करनेवाली यह ब्राह्मणकी वज्ररूप शक्ति है ॥ ५४ ॥ (त्वं क्षुरपविः मृत्युः भूत्वा विधाव) तू छुरेके समान तीक्ष्ण बनकर उसका मृत्यु करनेके लिये दौड ॥ ५५ ॥ (जिनतां वर्चः इष्टं पूर्तं च आशिषः आदत्से) विनाश करनेवालेका तेज इष्टपूर्त और आशिषोंको तू छीनती है ॥ ५६ ॥

(जीतं आदाय अमुष्मिन् लोके) छिने गयेकी पुरुषको पकडकर परलोकमें (जीताय प्रयच्छसि) उसके बदलेमें तू देती है ॥ ५७ ॥ हे (अघ्न्ये) अवध्य गौ ! तू (ब्राह्मणस्य अभिशस्त्या पदवीः भव) ब्राह्मणपर्यंतके बदलेकी प्रतिज्ञा करनेवाली हो ॥ ५८ ॥ तू (मेनिः शरव्या भव) विनाशक शस्त्र बन [अघात् अघविषा भव] पापके नाशकी बन ॥ ५९ ॥

अघ्न्ये प्र शिरो जहि ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः ॥ ६० ॥
त्वया प्रमूर्णं मृदितमग्निर्दहतु दुश्चितम् ॥ ६१ ॥ (२९)

(५।७)

वृश्च प्र वृश्च सं वृश्च दह प्र दह सं दह ॥ ६२ ॥
ब्रह्मज्यं देव्यघ्न्य आ मूलादनुसंदह ॥ ६३ ॥
यथायाद् यमसादनात् पापलोकान् परावतः ॥ ६४ ॥
एवा त्वं देव्यघ्न्ये ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः ॥ ६५ ॥
वज्रेण शतपर्वणा तीक्ष्णेन क्षुरभृष्टिना ॥ ६६ ॥
प्र स्कन्धान् प्र शिरो जहि ॥ ६७ ॥
लोमान्यस्य सं छिन्धि त्वचमस्य वि वेष्टय ॥ ६८ ॥
मांसान्यस्य शातय स्नावान्यस्य सं वृह ॥ ६९ ॥
अस्थीन्यस्य पीडय मज्जानमस्य निर्जहि ॥ ७० ॥
सर्वास्याङ्गा पर्वाणि वि श्रथय ॥ ७१ ॥
अग्निरेनं क्रव्यात् पृथिव्या नुदतामुदोषतु वायुरन्तरिक्षान्महतो वरिम्णः ॥ ७२ ॥
सूर्य एनं दिवः प्र णुदतां न्योषतु ॥ ७३ ॥ (३०)

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

॥ द्वादशं काण्डं समाप्तम् ॥

हे [अघ्न्ये] अवध्य गौ! तू [ब्रह्मज्यस्य कृतागसः देवपीयोः अराधसः शिरः प्रजहि] ब्रह्मघातकी पापी देवनिंदक अदानी कपटीका सिर काट डाल ॥ ६० ॥ [त्वया प्रमूर्णं मृदितं दुश्चितं अग्निः दहतु] तेरे द्वारा मारा गया वह भ्रष्ट दुष्ट बुद्धिवालेको अग्नि जला दे ॥ ६१ ॥

[वृश्च प्रवृश्च संवृश्च] काट अधिक काट अच्छी तरहसे काट [दह प्रदह संदह] जला अधिक जला अच्छी तरहसे जला ॥ ६२ ॥ हे [अघ्न्ये देवि] अहिंसनीय गौ देवि! [ब्रह्मज्यं आमूलात् अनुसंदह] ब्रह्मघातीको समूल जला डाल ॥ ६३ ॥ [यथा यमसदनात् परावतः पापलोकान् अयात्] जैसा यमसदनसे परेके पापी लोकोंके प्रति वह जाय [एवा कृतागसः देवपीयोः अराधसः ब्रह्मज्यस्य] इस तरह पापी देवशत्रु कंजूस ब्रह्मघातकी मनुष्यका [शिरः स्कन्धान्] सिर और कंधे [शतपर्वणा क्षुरभृष्टिना तीक्ष्णेन वज्रेण प्रजहि] सौ नोकवाले छुरेके समान धारवाले तीक्ष्ण वज्रसे काट डाल ॥ ६४-६७ ॥ [अस्य लोमानि सं छिन्धि] इसके लोम काट डाल [अस्य त्वचं वि वेष्टय] इसकी त्वचाको उधेड़ [अस्य मांसानि शातय] इसके मांसको काट डाल [अस्य स्नावानि संवृह] इसके स्नायुओंको कुचल [अस्थीनि पीडय] इसकी हड्डियोंको पीस दे [अस्य मज्जानं निर्जहि] इसकी मज्जाको नाश कर [अस्य सर्वा पर्वाणि विश्रथय] इसके सब पर्वोंको अलग कर ॥ ६८-७१ ॥ [एनं क्रव्याद् अग्निः पृथिव्याः नुदतां] इसको मांसभक्षक अग्नि पृथिवीके बाहर निकाले और [उत् ओषतु] जला देवे ॥ [वायुः महतः वरिम्णः अन्तरिक्षात्] वायु बड़े भारी अन्तरिक्षसे दूर करे ॥ [सूर्यः एनं दिवः प्र णुदतां] सूर्य इसे द्युलोकसे दूर कर देवे और [नि ओषतु] जला देवे ॥ ७२-७३ ॥ [१]

गौका महत्त्व ।

इस सूक्तमें और अगले सूक्तमें गौका महत्त्व वर्णन किया है इस दृष्टिसे ये दोनों सूक्त मनन करने योग्य हैं। पाठकोंको ही मालूम हुआ है कि (वशाम् दात एव ब्रह्मणः० ॥ १ ॥) मैं दान देता हूं ऐसा ही बढमान भाव दाता उसमें उत्पन्न न हो। न दान लेनेवाले [illegible] किसी प्रकार विकार न हो। दाता उपकार करनेका ही विचार मन में रखे।

ब्राह्मण क्यों याचना करते हैं ?

ब्राह्मणाश्रम पर एक गुरुकुल होता है जहां अनेक छात्र होते हैं उनका पालन करना और उनको विद्या पढाना यह ब्राह्मणका कर्तव्य होता है। यह [illegible] उनका कर्तव्य है इस कार्यके लिये महान् ब्राह्मणोंको धनकी आवश्यकता होती है। इस परोपकार और जगदुद्धारके कार्यके लिये ब्राह्मण अन्य [illegible] याचना करते हैं और अन्य लोग उनके न मांगने पर भी सत्पात्र ब्राह्मण देखकर दान करते हैं।

ऐसा दान तो एक सत्पात्र ब्राह्मणको स्वयं करना चाहिये। जो ऐसा नहीं करते परन्तु भोगपरायण नहीं रहते [illegible] समझते हुए बडा सामाजिक पाप होता है। ब्राह्मणोंके लिये राज्य में [illegible] आवश्यकता होती है अर्थात् उनको सहायताकी अपेक्षा रहती है उस राज्यमें बडा पाप होता है। क्योंकि मनुष्य [illegible] विद्याप्रचारसे ही राष्ट्र उन्नत और सभ्यताविस्तार हो सकती है। इस तरह विचार करनेसे विदित होगा कि ब्राह्मणोंके मांगनेपर भी न देना कितना हानिकारक पातकका हेतु हो सकता है।

दानका अधिकारी ब्राह्मण ।

हरएक ब्राह्मण गौ लेनेका भी अधिकारी नहीं है और गौका दान लेनेका भी अधिकारी नहीं है। इस विषयमें पहिले स्पष्ट दानके अधिकारी ब्राह्मणका लक्षण बताया है—

[illegible] ब्राह्मणेभ्यो [illegible] वशाम् ।

[illegible] ॥ (मं० ११)

'[illegible] लोग [illegible] याचना करते रहें परन्तु उसको उत्तम विद्वान्को ही दान देना चाहिये' यह वेदका आदेश बडा स्मरण रखने योग्य है। जो कोई भी ब्राह्मण दानका अधिकारी नहीं है जो विद्वान् ब्राह्मण होगा वही दान लेनेका अधिकारी होगा। यहां वेदने ब्राह्मण जातीका पक्षपात नहीं किया है, केवल विद्वान् तत्त्वज्ञानी आचारसंपन्न ब्राह्मण जो कि सदा अध्ययन अध्यापनमें मग्न रहते हैं जिनसे अपने लिये धन कमानेका प्रयत्न नहीं हो सकता जो कि अपना जीवन जनताके लिये समर्पण हुए हैं जिनके [illegible] रहते हुए अनेक [illegible] हो रहे हैं ऐसे सुयोग्य विद्वान्को ही गौ दान देनी चाहिये। यह आदेश सब दाताओंके लिये है और गौके दानके लिये विशेष है।

यहां पाठकोंको विदित हुआ कि ऐसे ब्राह्मणको ही गौका दान करना है और ऐसा यह अधिकार है यह बात (वेदका अनुवाद) स्पष्ट स्वयं कही है। अतः इसमें कोई किसी प्रकारका संशय नहीं है।

मंत्र ९ और १० में एक महान् ब्राह्मणको गौ न देनेसे जो दुष्परिणाम होता है वह बात कही है। विद्वान् ब्राह्मण राष्ट्रमें न हो तो ज्ञानवृद्धि नहीं होगी और राष्ट्रमें ज्ञान न रहा तो उस राष्ट्रकी उन्नति होना असंभव है यह बात स्पष्ट हो सकती है।

चौथे मंत्रमें 'किलासीत' शब्द और पांचवें मंत्रमें '[illegible]' [illegible] है। ([illegible]) [illegible] होता है और वह मरता है। [illegible] यह रोग कौनसा है इसका ज्ञान आवश्यक है [illegible] सकते हैं। वैद्य और [illegible] इसकी खोज करें।

छठे मंत्रमें कहा है कि [illegible] गौके शरीरपर चिन्ह करते हैं [illegible] कानपर अथवा किसी अन्य भागपर चिन्ह करते हैं यह भी गौओंको [illegible] बहुत बुरी है क्योंकि इससे भी [illegible] होते हैं। गौओंको ऐसा कष्ट देना योग्य नहीं है। [illegible] ऐसी उत्तम [illegible] रखना चाहिये कि उनको किसी प्रकार भी कोई कष्ट न हो। वह आनन्दप्रसन्न रहे। ऐसी आनन्द [illegible] रहेगी तो ही उसके सब गुण प्रकट होते हैं और वही गौ [illegible] देती है जो कि मनुष्यमात्रके लिये हितकारी हो सकता है।

गौकी रक्षा ।

यह लोग पाप [illegible] करते हैं। ऐसा [illegible] नहीं है ऐसा सातवें मंत्रमें कहा है। आठवें मंत्रमें गौकी रक्षाके संबंधमें एक बडी महत्त्वपूर्ण बात कही है। पांचवें

चोरोंको लेकर यावर भूमिमें जाते हैं और गौओंको चरानेके लिये छोड़ देते हैं और स्वयं इधर उधर भटकते रहते हैं। ऐसी दशामें कोई गौके पीछे पड़कर उनको सताते हैं। ऐसा न हो यह सूचना मंत्र ८ वें में है। तात्पर्य यह कि गौकी योग्य रक्षा करे। कोई भी आदमी गौको पीड़ा तो नहीं देता है इस विषयमें सावधानता रखे। रघुवंशमें दिलीप राजा जैसी नन्दिनी गौकी रक्षा करता था वैसी रक्षा हरएक गोरक्षक करे। कोई हिंसक पशु गौको पीड़ा न देवे। ऐसी रक्षा करनेवाला ही सुयोग्य गोरक्षक कहलावेगा।

गोबर और मूत्र।

नवम मंत्रमें गौका गोबर और मूत्र इधर उधर न फेंक देनेकी आज्ञा कही है। किसी विशेष स्थानमें उनको अर्थात् गोबरको और मूत्रको सुरक्षित रखना चाहिये। क्योंकि यह उत्तम खाद है जिससे धान्य फल फूल घास आदि उत्तम पैदा हो सकती है। इधर उधर फेंकनेसे खाद नष्ट होगी और उससे गंदगी हानि होगी। ऐसी अवस्था किसीभी गृहस्थीके घरमें न हो इसलिये यह आज्ञा दी है गोबर और मूत्र इधर उधर फेंक देना [एनस] पाप है यह कहनेका हेतु है। यह पाप कोई न करे।

आगे दसमसे द्वादशतक के मंत्रोंमें फिर कहा है कि यह गौ विद्वान् सुयोग्य सदाचारी ब्राह्मणकी होती है। [ऋत्विज] ऋषिप्रज्ञाओंके अनुसार आचरण करनेवाले को ही इसका दान करना चाहिये।

तेरहवें मंत्रमें कहा है कि जो भौतिक पदार्थ गायसे प्राप्त होता है उसका विचार दाता गौका दान करनेके समय न करे। क्योंकि उसका यह भौतिक लाभ दाताको भी प्राप्त होगा। यदि कोई दाता दान देनेके समय यह विचार करे कि मेरे घरमें तो इससे यह लाभ मिलेगा और न इस भौतिक ऐसे सुख प्राप्त करूंगा इसका दान करनेसे मुझे ये दुःख उठाने पड़ते हैं। कोई दाता ऐसे संकुचित विचार मनमें न लावे। इस प्रकार विचार मनमें लानेसे दान का सब महत्त्व नष्ट हो जाएगा। दानसे जो मनकी उच्चता होती है वह इन प्रकारके विचारोंसे समूल दूर होगी।

सोलहवें मंत्रमें फिर कहा है कि गौ तो ऐसे सत्पात्र ब्राह्मणोंका ही धन है। पहले स्वामीके पास था यह तीन वर्षपर्यंत रहे उसके पश्चात् यह सुविद सत्पात्र ब्राह्मणको ही जाय। योग्य ब्राह्मण प्रार्थना करनेके लिये न आवे तो ऐसे ब्राह्मणको ढूंढना चाहिये परंतु कभी अयोग्यको दान देना नहीं।

आगे २१ वें मंत्रतक दानका ही महत्त्व वर्णन किया है। २२ वें मंत्रमें विद्वान् ब्राह्मणको ही गौका दान करना चाहिये यह बात फिर कही है। सैकड़ों अविद्वान मांगें तो उनको देनी नहीं चाहिये। केवल विद्वान ही दान लेनेका अधिकारी है यह बात हरएक दान देनेवालेको स्मरण रखनी चाहिये। इस तरह दान होते रहेंगे तो जगत्का उद्धार होगा। कुपात्र लिये दान ही अनर्थकारी करनेवाले होते हैं।

आगे तेईसवें मंत्रमें विशेष ही बलसे कहा है कि यदि कोई मनुष्य ऐसे विद्वानको दान न देकर अन्य अविद्वानोंको देगा तो उसको बड़ा दुःख होगा।

आगेके तीन मंत्रोंमें कहा है कि ब्राह्मण अग्न्यादि देवताओंके उद्देश्यसे यज्ञके द्वारा आहुतियां देते हैं और देवताओंको संतोष करते हैं इसलिये उनको गौ दान करना चाहिये। यदि दान न किया तो ब्राह्मणको बड़ा कष्ट भोगना पड़ेगा। आगे ३१ वें मंत्रतक यही विषय कहा है।

क्षत्रियकी माता।

३२ वें मंत्रमें कहा है कि गौ क्षत्रियकी माता है (वशा राजन्यस्य माता) इसलिये क्षत्रियको उचित है कि वह गौको अपनी माता मानकर उसका सत्कार यथायोग्य करे। गौको यदि कोई मनुष्य कष्ट देवे तो क्षत्रिय अपनी माताका कष्ट समझकर यथायोग्य दण्ड देवे।

आगे ५३ वें मंत्रतक अर्थात् सूक्तकी समाप्ति तक गौका दान सुयोग्य ब्राह्मणको देना चाहिये दान न देनेका भाव कोई भी मनमें न धारण करे दान देनेसे कल्याण और न देनेसे दुःख होता है यह वर्णन है।

इन मंत्रोंमें कई स्थानोंपर पाठकों को पढ़कर जो स्वयं पकाने लिये [पचत वशा] गौको पकाता है" ऐसे वाक्य हैं। जिनको वेदकी भाषाका परिचय नहीं है वे इससे ऐसा अनुमान करेंगे कि गौको पकाना अर्थात् मांसका पकाना ही यहां अभीष्ट है। जो लोग ऐसा विचार मनमें लावें उनके विचारके निरासके लिये यहां थोडासा लिखनेकी आवश्यकता है।

वेदमें इत्यादिक शब्दप्रयोग होते हैं जिससे 'गो' शब्द 'गौसे उत्पन्न हुए पदार्थोंका वाचक' होता है। अथवा 'गां पचति' का अर्थ 'गौसे उत्पन्न हुए घृत दही छाछ आदि पदार्थ है दीर्घजपसे ऐसा पाचन तैयार करता है। ऐसा है। इसी प्रकार 'गो वा गवा' के अर्थ जैसे दूध, दही छाछ घृत आदि पदार्थ हैं वैसे ही इस शब्दके अर्थ गौका चमडा चाम गोबर गोमूत्र आदि भी हैं। हमारे विचारसे दूध दही छाछ घृत आदि अर्थ ही यहां लेना चाहिये। पाठक इसका विचार करें और इस मंत्रोंका आशय समझें।

चतुर्थ अनुवाक समाप्त।

पञ्चम अनुवाक।

इस पञ्चम अनुवाकमें ७ पर्याय (विभाग) और १ सूक्त है। इस संपूर्ण सूक्तमें गौकी महिमा कही है और ब्राह्मणोंके कोई न छीने ब्राह्मणको जो दानमें दी जावे जो ब्राह्मणों-अर्थात् विद्वान् ब्राह्मणोंको सताते हैं उनकी जो दुर्गति है वह कही है, उनके सर्वस्वका नाश होता है इत्यादि वर्णन है।

विषय सरल होनेसे इस सूक्तका विशेष स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता नहीं है। जो पाठक मंत्रका अर्थ पढेंगे उनको समझमें उसका आशय सहजहीमें आ सकता है। वर्णन भी अलंकारसे पूर्ण है और उसी दृष्टिसे यह सूक्त देखना चाहिये।

पञ्चम अनुवाक समाप्त॥

द्वादश काण्ड समाप्त॥ १२॥



द्वादश काण्डकी विषयसूची ।





ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

त्रयोदशं काण्डम् ।

लेखक

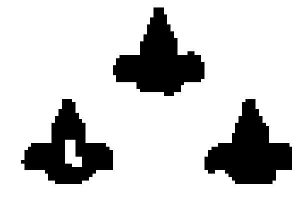
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

साहित्यवाचस्पति वेदाचार्य गीतालंकार

अध्यक्ष स्वाध्यायमण्डल आनन्दाश्रम किल्ला पारडी (जि. सूरत)

तृतीय वार

संवत् २००७ शक १८७२ सन १९५१



राष्ट्रधारक ।

ये देवा राष्ट्रभृतोऽभितो यन्ति सूर्यम् ।
तैष्टे रोहितः संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः ॥

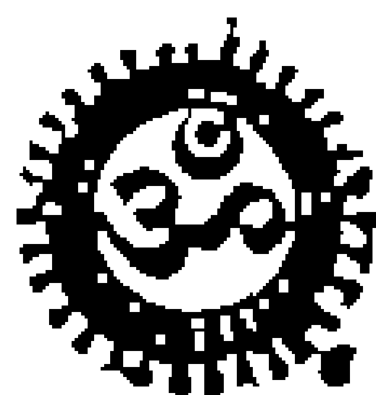
अथर्ववेद १३।१।३५

(ये राष्ट्रभृतः देवाः) जो राष्ट्रका धारणपोषण करनेवाले देव [सूर्यं अभितः यन्ति] सूर्यदेवके चारों ओर घूमते हैं [तैः संविदानः सुमनस्यमानः रोहितः] उनके साथ रहनेवाला उत्तम संकल्पवाला रोहित अर्थात् सूर्य [ते राष्ट्रं दधातु] तेरे राष्ट्रका धारणपोषण करे ।

राष्ट्रका धारणपोषण करनेवाले ज्ञानदेव बलदेव धनदेव कर्मदेव और कलादेव ये पंच जन सूर्यदेवको अपना आदर्श मानें जैसा सूर्य सब जगत को प्रकाशित करता है वैसे ये अपने राष्ट्रको ज्ञान बल धन कर्म आदि द्वारा प्रकाशित करें । इनकी संगतसे कार्य करनेवाला राष्ट्रका रोहित हमारे राष्ट्रका उत्तम रीतिसे धारणपोषण करे ।



मुद्रक तथा प्रकाशक— वसंत श्रीपाद सातवळेकर बी ए
स्वाध्यायमंडल भारतमुद्रणालय किल्ला पारडी (जि सूरत)



अथर्ववेदका सुबोध

भाष्य ।

त्रयोदश काण्ड ।

यह त्रयोदश काण्ड अथर्ववेदके तृतीय महाविभागका पहिला काण्ड है। पहिला महाविभाग १ से ७ तक के सात काण्डोंका है। दूसरा महाविभाग ८ से १२ तक के पांच काण्डोंका है और तीसरा महाविभाग १३ से १८ काण्डतक के छः काण्डोंका है। इस तृतीय महाविभागका यह तेरहवां काण्ड पहिला है। इस काण्डमें चार सूक्त हैं और चारों सूक्तोंमें 'अध्यात्म रोहित आदित्य' का वर्णन है। इस काण्डकी मन्त्रसंख्या इस प्रकार है—

सूक्त	अनुवाक	दशति	मन्त्रसंख्या
१	१	६	६०
२	२	४+१ मंत्र	४६
३	३	२+६ "	२६
४	४	६ पर्याय	५६
४ सूक्त	४ अनुवाक		१८८ कुल मंत्रसंख्या

अब इसके ऋषि देवता और छन्द देखिये—

ऋषि देवता और छंद।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१	६०	ब्रह्मा	अध्यात्मम् रोहित आदित्यः	त्रिष्टुप्; ३-५, ९, १२ जगत्यः; १५ अतिजागतगर्भा जगती; ८ भुरिक्; १६ पञ्चपदा ककुम्मत्यतिजगती;

३ मरुतः
२८ ३१ अग्निः
३१ बहुदैवत्यं।

११ अतिशाक्वरगर्भातिजगती, १४ त्रिपदा पुरःशाक्वर विपरीतपादलक्ष्मा पङ्क्तिः १८ १९ ककुम्मत्यनुष्टुब्
(१८ परशाक्वरा भुरिक्) २१ आर्षी निचृद्गायत्री
२२ २३ २७ प्रकृता, २६ विराट् परोष्णिक् १८ ३,
३२ ३६ ४ ४५-५, ५१-५६; ५०-५८ अनु-
ष्टुभः (२८ भुरिक्, ५२-५५ पथ्यापङ्क्तिः, ५६ ककु-
ती बृहतीगर्भा; ५७ ककुम्मती); ३१ पंचपदा ककुम्मती
शाक्वरगर्भा जगती; ३५ उपरिष्टाद्बृहती; ३६ निचृन्महा-
बृहती; ३० परशाक्वरा विराड् अतिजगती; ४१ विराड्
जगती; ४२ विराड् महाबृहती; ४४ परोष्णिक्। ५
६ गायत्र्यौ।

२१ ,, अध्यात्मं रोहितः आदित्यः

१ १२-१५, ३९-४१ अनुष्टुभः; २, ३ ८ ११
जगत्यः; ३ आस्तारपङ्क्तिः, ११ बृहतीगर्भा; १६ १४
आर्षी गायत्री; २५ ककुम्मती आस्तारपङ्क्तिः; २६ पुरो-
द्व्यतिजगत्या भुरिग्जगती; २७ विराड्जगती; २९
बार्हतगर्भाऽनुष्टुप्; ३० पंचपदा उष्णिग्गर्भाऽतिजगती;
३४ आर्षी पङ्क्तिः; ३७ पंचपदा विराड्गर्भा जगती;
४४, ४५ जगत्यौ [४४ चतुष्पदा पुरः शाक्वरा भुरिक्
४५ अतिजागतगर्भा]।

२ २६

१ चतुरवसानाष्टपदा आकृतिः २-४ त्र्यवसाना
षट्पदा [२ ३ अष्टिः २ भुरिक् ४ अतिशाक्वरगर्भा
धृतिः]; ५-७ चतुरवसाना सप्तपदा [५, ६ शाक्व-
रातिशाक्वरगर्भा प्रकृतिः ७ अनुष्टुब्गर्भाति धृतिः] ८
त्र्यवसाना षट्पदा अत्यष्टिः ९-१९ चतुरवसाना
[९-१२, १५, १७ सप्तपदा भुरिगतिधृतिः १३ निचृ-
त्; १७ कृतिः; १३ १४ १६ १ १९ आकृतिः
१४ १४ विकृतिः; १६ १८ १९, आकृतिः १९
भुरिक], २ २२ त्र्यवसाना अष्टपदा अत्यष्टिः; २३
२३ २५ चतुरवसाना अष्टपदा [२४ सप्तपदा कृतिः
२१ आकृतिः; २३ २५ विकृतिः]

४ (१) ११ ,,

१ ११ प्राजापत्यानुष्टुभः; १२ विराड् गायत्री; १३
आसुरी उष्णिक्।

(२) ८

१४ भुरिक् साम्नी त्रिष्टुप्; १५ आसुरी पंक्तिः १६
१९ प्राजापत्याऽनुष्टुप्; १७ १८ आसुरी गायत्री।

(३) ७ ,,

२२ भुरिक् प्राजापत्या त्रिष्टुप्; २१ आर्षी गायत्री;
२५ एकपदा आसुरी गायत्री; २६ आर्षी अनुष्टुप्; २७
२८ प्राजापत्याऽनुष्टुप्।

(४) १० , [illegible]

(५) १ , [illegible]

(६) ५ [illegible]

इस प्रकार इन सूक्तों [illegible]

वह निःसंदेह एक है ।

स एष एक एकवृदेक एव ॥ २० ॥
सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥ २१ ॥

अथर्ववेद १३ । ४

"वह एक है, वह अकेला एक अपार व्यापक है निःसन्देह एक ही है सब अन्य देव उसमें एकरूप होते हैं ।

वह परमेश्वर केवल अकेला एक ही है, निःसन्देह उसके समान दूसरा कोई नहीं है ।



अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

त्रयोदश काण्डम्।

अध्यात्म—प्रकरण।

(१)

उदेहि वाजिन् यो अप्स्व१न्तरिदं राष्ट्रं प्र विश सूनृतावत् ।
यो रोहितो विश्वमिदं जजान स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु ॥ १ ॥
उद्वाज आ गन् यो अप्स्व१न्तर्विश आ रोह त्वद्योनयो याः ।
सोमं दधानोऽप ओषधीर्गाश्चतुष्पदो द्विपद आ वेशयेह ॥ २ ॥

अर्थ- हे (वाजिन् ! उत् इहि) सामर्थ्यवान् आत्मदेव ! तू उदयको प्राप्त हो। (यः अप्सु अन्तः) जो तू आपोमय प्राणोंके बीच है, वह तू (इदं सूनृतावत् राष्ट्रं प्रविश) इस प्रिय राष्ट्रमें प्रविष्ट हो (यः रोहितः इदं विश्वं जजान) जिस देवने यह सब उत्पन्न किया है (सः त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु) वह तुझे इस राष्ट्रके लिए उत्तम भरणपोषणपूर्वक धारण करे ॥ १ ॥

(यः अप्सु अन्तः) जो आपोमय प्राणोंके अन्दर विद्यमान है वह (वाजः उत् आगन्) सामर्थ्य ऊपर आगया है। (याः त्वत्- योनयः विशः) जो तेरी उत्पत्तिकी प्रजाएं हैं उनमें तू (आरोह) उच्च स्थानमें विराजमान हो। (इह सोमं दधानः) इस राष्ट्रमें सोमादि वनस्पतियोंका पोषण करते हुए (अपः ओषधीः गाः चतुष्पदः द्विपदः) जल, औषधियां गौवें चतुष्पाद और द्विपाद प्राणियोंको (आवेशय) निवास कराओ ॥ २ ॥

भावार्थ— प्रत्येक आत्मा अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करे। प्रत्येक मनुष्य राष्ट्रकी उन्नतिके साथ अपनी उन्नति करे। अपने राष्ट्रपर प्रेम करे और उसकी उन्नति करनेका प्रयत्न करे। इस सूर्यदेवने इस जगत् की उत्पत्ति की है वही तुम्हें राष्ट्रीय उन्नति करनेके लिये उत्साह देगा ॥ १ ॥

मनुष्यका सामर्थ्य वही है जो उसके अन्दर विद्यमान है। उस सामर्थ्यसे युक्त होकर अपनी उन्नतीके प्रयत्नमें— अब तू अपने राष्ट्रमें रहकर अभ्युदय प्राप्त करना चाहिये। यहां अपने राष्ट्रमें रहकर वनस्पतियां अन्नपान औषधियां, गौवें और अनेक द्विपाद तथा चतुष्पाद पशुओंको धारण करे ॥ २ ॥

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून्।
आ वो रोहितः शृणवत् सुदानवस्त्रिषप्तासो मरुतः स्वादुसंमुदः ॥ ३ ॥
रुहो रुरोह रोहित आ रुरोह गर्भो जनीनां जनुषामुपस्थम्।
ताभिः संरब्धमन्वविन्दन् षडुर्वीर्गातुं प्रपश्यन्निह राष्ट्रमाहाः ॥ ४ ॥
आ ते राष्ट्रमिह रोहितोऽहार्षीद् व्यास्थन्मृधो अभयं ते अभूत्।
तस्मै ते द्यावापृथिवी रेवतीभिः कामं दुहातामिह शक्वरीभिः ॥ ५ ॥
रोहितो द्यावापृथिवी जजान तत्र तन्तुं परमेष्ठी ततान।
तत्र शिश्रियेऽज एकपादोऽदृंहद् द्यावापृथिवी बलेन ॥ ६ ॥

अर्थ- हे (मरुतः) मरनेतक लडनेवाले वीरो ! (यूयं उग्राः पृश्निमातरः) तुम उग्र शूर और भूमिको अपनी माता माननेवाले हो तुम (इन्द्रेण युजा शत्रून् प्रमृणीत) इन्द्रके साथ रहकर शत्रुओंका नाश करो। हे (सुदानवः) रोहित (वः शृणवत्) उत्तम दान देनेवाले वीरो ! वह सूर्यदेव तुम्हारी बात सुने। (त्रि-सप्तासः मरुतः स्वादुसंमुदः) ये तीन गुणा सात अर्थात् इक्कीस प्रकारके वीर उत्तम आनंद देनेवाले हैं ॥ ३ ॥

(रोहितः रुहः रुरोह) प्रकाशमान सूर्यदेव उच्च स्थानमें विराजमान हुआ है, अर्थात् (जनुषां जनीनां गर्भः उपस्थं आरुरोह) स्त्रीयोंकी गोदमें यह गर्भ बैठ गया है। (षट् उर्वीः ताभिः संरब्धं अन्वविन्दत्) छः दिशाओंने उनके द्वारा बढाये गर्भको प्राप्त किया। वह (गातुं प्रपश्यन् इह राष्ट्रं आहाः) उन्नतिका मार्ग जानता हुआ यहां राष्ट्रको लाया करता है ॥ ४ ॥

(ते राष्ट्रं इह रोहितः आहार्षीत्) तेरे राष्ट्रको यहां उसी सूर्यदेवने लाया है। (मृधः वि आस्थत्) शत्रुओंको दूर किया, और (ते अभयं अभूत्) तेरे लिए निर्भयता हो गयी है। (तस्मै ते रेवतीभिः शक्वरीभिः द्यावापृथिवी इह कामं दुहाताम्) उस तेरे हितके लिए धन और शक्तियोंद्वारा ये द्युलोक और पृथिवीको यहां इस राष्ट्रमें अपेक्षित कामना देवें ॥ ५ ॥

[रोहितः द्यावापृथिवी जजान] इस सूर्यदेवने इस द्युलोक और पृथ्वीलोकको उत्पन्न किया है। [तत्र परमेष्ठी तन्तुं ततान] वहां परमात्माने सूत्ररूपको फैलाया है। [तत्र एकपाद् अजः शिश्रिये] वहां एकपाद आत्माने आश्रय किया है। उसीने [बलेन द्यावापृथिवी अदृंहत्] अपने बलसे द्युलोक और पृथ्वीको सुदृढ बनाया ॥ ६ ॥

भावार्थ- सब लोग अपनी मातृभूमिकी रक्षा अपने उग्र वीर्यसे करें। मातृभूमिके शत्रुओंका नाश करें। सबमें उदारता, शत्रुनाश भाव धारण करें। जो वीर मरनेतक लडनेवाले होते हैं वे ही उत्तम आनन्द देनेवाले होते हैं ॥ ३ ॥

यह सूर्य उच्चपदको प्राप्त हुआ है मानो यह अपनी माताकी गोदमें बैठा है। इस समय मानो छहों दिशाओंने उस गर्भको धारण किया है। यह गर्भ आगे उन्नत होता है स्वयं उन्नतिका मार्ग जानता है और राष्ट्रको भी उन्नत करता है ॥ ४ ॥

इस सूर्यदेवने ही तेरे राष्ट्रको उच्च स्थितिमें लाया है। उसी ने शत्रुओंको दूर किया और तुझे निर्भय किया है। इस भूमिमें रहनेवालोंके लिए इस भूमिसे धन और शक्तियां प्राप्त हों ॥ ५ ॥

इस सूर्यदेवने द्युलोक और पृथ्वीलोकको बनाया है। वहां परमात्माने सूत्ररूप आत्माको फैलाया है। वहां अजन्मा आत्माने आश्रय किया है। उसीने अपने बलसे इस पृथ्वीको सुदृढ किया है ॥ ६ ॥

रोहितो द्यावापृथिवी अदृंहत् तेन स्वः स्तभितं तेन नाकः ।
तेनान्तरिक्षं विमिता रजांसि तेन देवा अमृतमन्वविन्दन् ॥ ७ ॥
वि रोहितो अमृशद् विश्वरूपं समाकुर्वाणः प्ररुहो रुहश्च ।
दिवं रूढ्वा महता महिम्ना सं ते राष्ट्रमनक्तु पयसा घृतेन ॥ ८ ॥
यास्ते रुहः प्ररुहो यास्त आरुहो याभिरापृणासि दिवमन्तरिक्षम् ।
तासां ब्रह्मणा पयसा वावृधानो विशि राष्ट्रे जागृहि रोहितस्य ॥ ९ ॥
यास्ते विशस्तपसः संबभूवुर्वत्सं गायत्रीमनु ता इहागुः ।
तास्त्वा विशन्तु मनसा शिवेन संमाता वत्सो अभ्येतु रोहितः । ॥ १० ॥(१)
ऊर्ध्वो रोहितो अधि नाके अस्थाद् विश्वा रूपाणि जनयन् युवा कविः ।
तिग्मेनाग्निर्ज्योतिषा वि भाति तृतीये चक्रे रजांसि प्रियाणि ॥ ११ ॥

अर्थ— (रोहितः द्यावापृथिवी अदृंहत्) सूर्यदेवने द्युलोक और पृथिवी लोकको सुदृढ बनाया। (तेन स्वः नाकः स्तभितं) उसीने स्वर्गधामरूप सुखपूर्ण लोक ऊपर थाम रखा है। (तेन अन्तरिक्षं रजांसि विमिता) उसने अन्तरिक्ष लोकको बनाया और (तेन देवाः अमृतं अन्वविन्दन्) उसके द्वारा सब देवोंको अमरत्व प्राप्त हुआ ॥ ७ ॥

(रोहितः प्ररुहः रुहः च समाकुर्वाणः विश्वरूपं वि अमृशत्) सूर्यदेवने ऊंचे और नीचे सब दिशाओंको इकट्ठा करके सब विश्वके रूपको बनानेका विचार किया। वह (महता महिम्ना दिवं रूढ्वा) अपने बडे सामर्थ्यसे द्युलोकपर आरूढ होकर (ते राष्ट्रं पयसा घृतेन सं अनक्तु) तेरे राष्ट्रको घी और दूधसे भरपूर करे ॥ ८ ॥

(याः ते रुहः प्ररुहः याः ते आरुहः) जो तुम्हारे आगे पीछे और ऊपर चढनेके मार्ग हैं (याभिः दिवं अंतरिक्षं आपृणासि) जिनके द्वारा तू द्युलोक और अन्तरिक्ष लोकको भरपूर करता है (तासां ब्रह्मणा पयसा वावृधानः) उनके ज्ञानपूर्वक रससे बढता हुआ तू (रोहितस्य विशि राष्ट्रे जागृहि) सूर्यदेवकी प्रजाओंमें और राष्ट्रमें जाग्रत रह ॥ ९ ॥

[ते तपसः याः विशः संबभूवुः] तेरे प्रकाशसे जो प्रजाएं उत्पन्न होगयी हैं [ताः इह वत्सं गायत्रीं अनु आगुः] वे प्रजाएं यहां संतान और अपने प्राणत्राणकर्ती व्यापारके अनुकूल होकर चलती हैं। [ताः शिवेन मनसा त्वा विशन्तु] वे प्रजाएं शुभसंकल्पयुक्त मनसे तेरे अन्दर प्रविष्ट हों। (समाता रोहितः वत्सः अभ्येतु) माता और सूर्य रूपी बछडा मिलकर आगे बढें ॥ १० ॥

(युवा कविः विश्वा रूपाणि जनयन्) तरुण ज्ञानी सब जगत् के रूपको प्रकाशित करता हुआ (रोहितः ऊर्ध्वः नाके अधि अस्थात्) सूर्य ऊपर स्वर्गमें ठहरा है। वह (अग्निः तिग्मेन ज्योतिषा विभाति) अग्नि तीक्ष्ण प्रकाशसे प्रकाशता है। वह (तृतीये रजांसि प्रियाणि चक्रे) तीसरे अन्तरिक्ष लोकमें प्रिय पदार्थोंको बनाता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—सूर्यदेव ही पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोक को सुदृढ बनाता है उसीसे सब देवोंको अमरत्व प्राप्त हुआ है ॥ ७ ॥

सूर्यके कारण ही सब जगत् को सुंदर रूप मिला है। वह अपनी महिमासे स्वर्गलोकपर चढकर इस राष्ट्रको दूध और घीसे भरपूर करता है ॥ ८ ॥

जो अनेक मार्ग स्वर्गधामको प्राप्त करनेके हैं उनके द्वारा तथा ज्ञानयुक्त आदिसे बढते हुए इस राष्ट्रमें और इस प्रजामें सतत जाग्रत रहो ॥ ९ ॥

सूर्यसे ही ये सब प्रजाजन-सब प्राणिमात्र-उत्पन्न हो गये हैं वे सब प्राणरक्षणके प्रयत्नमें सदा दत्तचित्त रहते हैं। वे सब ही सब प्रजाएं उत्तम शिवसंकल्पयुक्त मनसे ईश्वरमें आश्रय प्राप्त करें। माता और पुत्र मिलकर सब तत्त्वको प्राप्त हों ॥ १० ॥

सहस्रशृङ्गो वृषभो जातवेदा घृताहुतः सोमपृष्ठः सुवीरः ।
मा मा हासीन्नाथितो नेत् त्वा जहानि गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि ॥ १२ ॥
रोहितो यज्ञस्य जनिता मुखं च रोहिताय वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।
रोहितं देवा यन्ति सुमनस्यमानाः स मा रोहैः सामित्यै रोहयतु ॥ १३ ॥
रोहितो यज्ञं व्यदधाद् विश्वकर्मणे तस्मात् तेजांस्युप मेमान्यागुः ।
वोचेयं ते नाभिं भुवनस्याधि मज्मनि ॥ १४ ॥
आ त्वा रुरोह बृहत्युत पङ्क्तिरा ककुब् वर्चसा जातवेदः ।
आ त्वा रुरोहोष्णिहाक्षरो वषट्कार आ त्वा रुरोह रोहितो रेतसा सह ॥ १५ ॥

अर्थ-यह (जातवेदा सहस्रशृङ्ग वृषभः) जो कुछ सब पदार्थोंको जाननेवाला हजारों किरणोंसे युक्त वृष्टि करनेवाला [घृताहुतः सोमपृष्ठः सुवीरः] घृतकी आहुतियां स्वीकारनेवाला सोमका हवन जिसपर होता है ऐसा उत्तम वीर यह है। यह [नाथितः मा मा हासीत्] याचना करनेपर मेरा त्याग न करे। तथा [त्वा इत् न जहानि] तुझे निश्चयसे मैं नहीं छोडूंगा। [मे गो-पोषं वीर-पोषं च धेहि] मुझे गोपालनका तथा वीरोंके पालनका सामर्थ्य दे ॥ १२ ॥

[रोहितः यज्ञस्य जनिता मुखं च] सूर्य यज्ञका उत्पादकर्ता और यज्ञका मुख है। [वाचा श्रोत्रेण मनसा च रोहिताय जुहोमि] वाणीसे कानसे और मनसे इस सूर्यके लिये हवन करता हूं। [सुमनस्यमानाः देवाः रोहितं यन्ति] उत्तम संकल्प करनेवाले देव सूर्यको प्राप्त होते हैं। [सः सामित्यै रोहैः मा रोहयतु] वह सभाके लिये अनेक उन्नतियोंसे मुझे उन्नत करे ॥ १३ ॥

[रोहितः विश्वकर्मणे यज्ञं व्यदधात्] सूर्यने विश्वकर्माके लिए यज्ञ किया। [तस्मात् इमानि तेजांसि मा उप आगुः] उस यज्ञसे ये तेज मेरे पास प्राप्त हुए हैं। [भुवनस्य मज्मनि अधि ते नाभिं वोचेयम्] अतः इस भुवनके महत्वके बीच तेरा मुख्य भाग है ऐसा मैं कहता हूं ॥ १४ ॥

हे (जातवेद) सब उत्पन्न हुएको जाननेवाले ! (त्वा बृहती आ रुरोह) तुझपर बृहती चढी है, [उत पंक्तिः आ ककुप् वर्चसा आ] पंक्ति और ककुप अपने तेजके साथ चढे हैं। (उष्णिहाक्षरः त्वा आरुरोह) उष्णिक् छन्दके अक्षर भी तेरे ऊपर चढे हैं। तथा (रोहितः रेतसा सह) सूर्य अपने वीर्यके साथ है ॥ १५ ॥

भावार्थ - यह सदा तरुण सब देखनेवाला सूर्य अपने रश्मियोंसे प्रकाशित करता हुआ द्युलोकमें रहा है। सब अपने अन्दर तेजके साथ प्रकाशता है और तीसरे लोकमें रहकर सब का प्रिय करता है ॥ ११ ॥

यही सूर्य अग्नि है जिसमें घृत और सोमकी आहुतियां दी जाती हैं। यह मेरा कभी त्याग न करे और मैं इसका कभी त्याग न करूं। इससे हमारी गौवें तथा वीरोंमें वृद्धि हो ॥ १२ ॥

इसी सूर्यसे यज्ञ बना है यज्ञमें अग्नि रूपसे यही मुख्य है। हवन करने के समय वाणी कान और मनका साथ साथ उपयोग होना चाहिये। शुभ संकल्प करनेवाले सब इसीको प्राप्त होते हैं। यह मुझपर कृपा करे और सभाओंद्वारा या सभाकी उन्नति द्वारा उन्नत करे यह मुझे प्राप्त करावे ॥ १३ ॥

सूर्यदेव द्वारा ही सब शुभ कर्मोंका यज्ञरूप बना है। इससे जो सामर्थ्य प्राप्त होता है वह सब मुझे प्राप्त हो। इस भुवनके मध्यमें महत्त्वकी दृष्टिसे यही मुख्य है ॥ १४ ॥

बृहती पंक्ति ककुप्, उष्णिक् वषट्कार आदि सब इसी एक देवका वर्णन कर रहे हैं मानो यह इनमें रहा है। ॥ १५ ॥

अथ यस्ते गर्भं पृथिव्या दिवं यस्तेऽयमन्तरिक्षम् ।
अथ प्रभस्य विष्टपि स्वर्लोकान् व्यानशे ॥ १६ ॥
वाचस्पते पृथिवी नः स्योना स्योना योनिस्तल्पा नः सुशेवा ।
इहैव प्राण सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यग्निरायुषा वर्चसा दधातु ॥ १७ ॥
वाचस्पत ऋतवः पञ्च ये नौ वैश्वकर्मणाः परि ये संबभूवुः ।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् परि रोहित आयुषा वर्चसा
दधातु ॥ १८ ॥
वाचस्पते सौमनसं मनश्च गोष्ठे नो गा जनय योनिषु प्रजाः ।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यहमायुषा वर्चसा दधामि ॥ १९ ॥
परि त्वा धात् सविता देवो अग्निर्वर्चसा मित्रावरुणावभि त्वा ।
सर्वा अरातीरवक्रामन्नेहीदं राष्ट्रमकरः सूनृतावत् ॥ २० ॥(२)

अर्थ- (अथ पृथिव्याः गर्भं यस्ते) यह पृथिवीके मध्यमें बसता है। (अथं दिवं अन्तरिक्षं यस्ते) यह द्युलोक और अन्तरिक्ष लोकमें बसता है। (अथ प्रभस्य विष्टपि स्वर्लोकान् व्यानशे) यह प्रकाशलोकके शिरोभागपर स्वर्गलोकमें व्यापता है ॥ १६ ॥

हे (वाचस्पते) वाणीके स्वामिन् ! (नः पृथिवी स्योना) हमारे लिए पृथिवी सुखकर होवे। (योनिः स्योना) हमारे लिए हमारा घर सुखदायी हो। (नः तल्पा सुशेवा) हमारे लिए बिछोने सुखदायी हों। (इह एव नः सख्ये प्राणः अस्तु) यहां ही हमारे सख्यमें प्राण रहे। हे परमेष्ठिन् ! (तं त्वा अग्निः आयुषा वर्चसा परि दधातु) तुझको यह अग्नि आयु और तेजसे धारण करे ॥ १७ ॥

हे वाचस्पते ! (ये नौ विश्वकर्मणाः पंच ऋतवः परि संबभूवुः) जो हमारे संपूर्ण कर्मोंको पालन करनेवाले पांच ऋतु उत्पन्न हुए हैं। यहां ही प्राण हमारे सख्यमें रहे। हे परमेष्ठिन् ! उस तुझको यह (रोहित) सूर्य आयु और तेजके साथ धारण करे ॥ १८ ॥

हे वाचस्पते ! हमारा (मनः सौमनसं) मन उत्तम शुभसंकल्पयुक्त हो। (नः गोष्ठे गाः जनय) हमारी गोशालामें गौओंको उत्पन्न कर और (योनिषु प्रजाः) घरोंमें संतानोंको उत्पन्न कर। यहां हमारे सख्यमें यह प्राण रहे। हे परमेष्ठिन् ! उस तुझको (अहं) मैं आयु और तेजके साथ (दधामि) धारण करता हूं ॥ १९ ॥

(सविता देवः त्वा परि धात्) सविता देव तेरे चारों ओर रहे। (अग्निः वर्चसा मित्रावरुणौ त्वा अभि) अग्नि अपने तेजसे और मित्र तथा वरुण तेरी चारों ओरसे रक्षा करें। (सर्वाः अरातीः अवक्रामन् एहि) सब शत्रुओंके ऊपर चढाई करते हुए आगे बढ तथा (इदं राष्ट्रं सूनृतावत् अकर) इस राष्ट्रको आनंदपूर्ण कर ॥ २ ॥

भावार्थ- यह एक देव पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोकके अंदर विद्यमान है। यह सुखरूप उच्च स्थानपर रहता हुआ सबमें व्यापता है ॥ १६ ॥

हे वाणीके स्वामी ! हमारे लिए पृथ्वी घर बिछोना आदि सब पदार्थ सुखदायक हों। हममें प्राण दीर्घकालतक रहे और हमें यह दीर्घ आयु और तेजके साथ प्राप्त हो ॥ १७ ॥

सब विविध कर्म करनेवाले ऋतु हैं वे हमें सहायक हों उनसे हम दीर्घ आयु और तेजस्विता प्राप्त हों ॥ १८ ॥

हमारा मन शुभसंकल्प करनेवाला बने हमारी गोशाला में विपुल गौवें और घरमें वीर संतान हों। मैं परमात्माको धारण दीर्घायु और तेजस्विताके साथ करता हूं ॥ १९ ॥

यं त्वा पृषती रथे प्रष्टिर्वहति रोहित । शुभा यासि रिणन्नपः ॥ २१ ॥
अनुव्रता रोहिणी रोहितस्य सूरिः सुवर्णा बृहती सुवर्चाः ।
तया वाजान् विश्वरूपां जयेम तया विश्वाः पृतना अभि ष्याम ॥ २२ ॥
इदं सदो रोहिणी रोहितस्यासौ पन्थाः पृषती येन याति ।
तां गन्धर्वाः कश्यपा उन्नयन्ति तां रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम् ॥२३॥
सूर्यस्याश्वा हरयः केतुमन्तः सदा वहन्त्यमृताः सुखं रथम् ।
घृतपावा रोहितो भ्राजमानो दिवं देवः पृषतीमा विवेश ॥ २४ ॥
यो रोहितो वृषभस्तिग्मशृङ्गः पर्यग्निं परि सूर्यं बभूव ।
यो विष्टभ्नाति पृथिवीं दिवं च तस्माद् देवा अधि सृष्टीः सृजन्ते ॥ २५ ॥

अर्थ—हे (रोहित) सूर्य ! (यं त्वा पृषतीः प्रष्टिः वहति) जिस तुझको विविध रंगवाली घोडी ले जाती है, वह तू (अपः रिणन् शुभा यासि) पानीको चलाता हुआ प्रकाशके साथ शुभ रीतिसे चलता है ॥ २१ ॥

(रोहितस्य अनुव्रता) सूर्यके अनुकूल चलनेवाली (सूरिः सुवर्णा सुवर्चाः बृहती रोहिणी) ज्ञानी उत्तम रंगवाली, तेजस्विनी बडी रोहिणी है। उससे (विश्वरूपान् वाजान् जयेम) हम अनेक प्रकारसे बल प्राप्त करेंगे और (विश्वाः पृतनाः अभिष्याम) सब शत्रुओंकी सेनाओंको परास्त करेंगे ॥ २२ ॥

(इदं रोहितस्य सदः रोहिणी) यह सूर्यका घर रोहिणी है। (असौ पन्थाः येन पृषती याति) यह मार्ग है जिससे उसको विविधरंगवाली घोडी जाती है। (तां गन्धर्वाः कश्यपाः उन्नयन्ति) उसको गंधर्व और कश्यप उन्नत करते हैं (कवयः तां अप्रमादं रक्षन्ति) ज्ञानी प्रमादरहित होकर उसकी रक्षा करते हैं ॥ २३ ॥

(केतुमन्तः अमृताः हरयः अश्वाः सूर्यस्य रथं सदा सुखं वहन्ति) प्रकाशयुक्त अमर गतिमान् घोडे सूर्यके रथको सदा सुखपूर्वक चलाते हैं। (घृतपावा भ्राजमानः देवः रोहितः इमां पृषतीं दिवं विवेश) घृतसे पवित्र करनेवाला तेजस्वी सूर्यदेव इस विविध रंगवाली प्रभा समेत द्युलोकमें प्रविष्ट होता है ॥ २४ ॥

(यः तिग्मशृङ्गः वृषभः रोहितः) जो तीक्ष्ण सींगवाला बलवान् रोहित (अग्निं परि, सूर्यं परि बभूव) अग्नि और सूर्यके चारों ओर होता है। (यः पृथिवीं दिवं च विष्टभ्नाति) जो पृथ्वी और द्युलोकको थाम रखता है [तस्मात् देवाः सृष्टीः अधिसृजन्ते] उससे देव सृष्टिकी उत्पत्ति करते हैं ॥ २५ ॥

भावार्थ—सब देव हमें सहायक हों। सब शत्रु परास्त हों और यह हमारा राष्ट्र आरोग्यसम्पन्नतासे युक्त हो ॥ २० ॥

सूर्यकी विविध रंगवाली किरणें सूर्यतत्त्वको चलाती हैं जिससे हमें प्रकाश मिलता है ॥ २१ ॥

सूर्यप्रकाशमें चलनेकी शक्ति है उससे हमें अनेक प्रकारके अन्न और बल प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥

सूर्य ही इस अद्भुत शक्तिका घर है। इन विविध रंगवाली किरणोंसे यह शक्ति फैलती है। ज्ञानी लोग विशेष दक्षतासे इसीको अपने अन्दर धारण करते हैं ॥ २३ ॥

ये प्रकाशमान अद्भुत अमर शक्तिसे युक्त सूर्यकिरण सदा सुखद चल हैं। इन गतिमान किरणोंसे युक्त सूर्य इस द्युलोकमें प्रकाशता है ॥ २४ ॥

यह तीक्ष्ण किरणरूप बलवान् सूर्य चारों ओर घूमकर सब जगत्के पदार्थोंको धारण करता है ॥ २५ ॥

रोहितो दिवमारुहन्महतः पर्यर्णवात्। सर्वा रुरोह रोहितो रुहः ॥ २६ ॥
वि मिमीष्व पयस्वतीं घृताचीं देवानां धेनुरनपस्पृगेषा।
इन्द्रः सोमं पिबतु क्षेमो अस्त्वग्निः प्र स्तौतु वि मृधो नुदस्व ॥ २७ ॥
समिद्धो अग्निः समिधानो घृतवृद्धो घृताहुतः।
अभीषाड् विश्वाषाडग्निः सपत्नान् हन्तु ये मम ॥ २८ ॥
हन्त्वेनान् प्र दहत्वरिर्यो नः पृतन्यति।
क्रव्यादाग्निना वयं सपत्नान् प्र दहामसि ॥ २९ ॥
अवाचीनानव जहीन्द्र वज्रेण बाहुमान्।
अधा सपत्नान् मामकानग्नेस्तेजोभिरादिषि ॥ ३० ॥ (६)
अग्ने सपत्नानधरान् पादयास्मद् व्यथया सजातमुत्पिपानं बृहस्पते।
इन्द्राग्नी मित्रावरुणावधरे पद्यन्तामप्रतिमन्यूयमानाः ॥ ३१ ॥

अर्थ-(महतः अर्णवात् रोहितः दिवं परि आरुहत्) बड़े समुद्रसे सूर्य द्युलोकसे भी ऊपर चढ़ा है। (रोहितः सर्वाः रुहः रुरोह) यह सूर्य सब उच्चताओंपर चढ़ा है ॥ २६ ॥

(पयस्वतीं घृताचीं वि मिमीष्व) दूधवाली और घीवाली गौको सिद्ध करो [एषा देवानां धेनुः अनपस्पृक्] यह देवोंकी गौ हलचल न करनेवाली है। (इन्द्रः सोमं पिबतु) इन्द्र सोम पीवे (क्षेमः अस्तु) सबका क्षेम हो (अग्निः प्र स्तौतु) अग्नि स्तुति करे (मृधः वि नुदस्व) शत्रुओंको दूर कर ॥ २७ ॥

(अग्निः समिद्धः घृतवृद्धः घृताहुतः समिधानः) अग्नि उत्तम प्रदीप्त होनेपर घीकी आहुतियां डालकर बढ़ाया हुआ अच्छी प्रकार जलने लगा है। वह (अभीषाड् विश्वाषाड् अग्निः ये मम सपत्नान् हन्तु) सर्वत्र विजय करके शत्रुओंको दूर करनेवाला अग्नि जो मेरे शत्रु हैं उन सबका नाश करे ॥ २८ ॥

(यः अरिः नः पृतन्यति) जो शत्रु हमपर सेना चलाकर हमला करता है (एनान् हन्तु प्रदहतु) इन शत्रुओंको मारे अच्छी प्रकार भस्म करे। (क्रव्यादा अग्निना वयं सपत्नान् प्र दहामसि) मांसभक्षक अग्निद्वारा हम शत्रुओंको भस्म करते हैं ॥ २९ ॥

हे इन्द्र! (वज्रेण बाहुमान् अवाचीनान् अवजहि) वज्रसे बहुत सामर्थ्यवान् होकर शत्रुओंको नीचे दबाकर मार दे। (अधा मामकान् सपत्नान् अग्नेः तेजोभिः आदिषि) और मेरे शत्रुओंको अग्निके तेजोंसे अपने वशमें करता हूं ॥ ३० ॥

हे अग्ने! (सपत्नान् अस्मद् अधरान् पादय) हमारे शत्रुओंको हमारे सम्मुख नीचे गिराओ। हे बृहस्पते! (उत्पिपानं सजातं व्यथय) कष्ट देनेवाले सजातीय शत्रुको व्यथा कर। हे इन्द्राग्नी! हे मित्रावरुणो! (अप्रति-मन्यूयमानाः अधरे पद्यन्ताम्) हमारे शत्रु निरुत्साह क्रोधवाले होकर नीचे गिर जांय ॥ ३१ ॥

भावार्थ- सूर्य उदय होकर आकाशके मध्यतक ऊपर चढ़ता है और वहांसे सबके ऊपर प्रकाशता है ॥ २६ ॥

उत्तम दूध और घी देनेवाली गौएं पाली जांय उनके दूध घी का यज्ञमें हवन किया जावे। यहां दूध आदिके साथ सोम रस पिया जावे। इससे सबका कल्याण हो और यह यज्ञ द्वारा उपासना सबका भला करे ॥ २७ ॥

अग्निमें घीका हवन हो, अग्नि उपासकोंके समान ही तेजस्वी हो और वह मिलकर अपने शत्रुओंको दूर भगा देवें ॥ २८ ॥

यदि शत्रुका दल सेना लेकर अपने ऊपर आक्रमण करे तो वीर लोग उसको पराजित करके भगा देवें। अपने अंदरके जो शत्रु होंगे उनको भी वशमें रखना चाहिए। कोई शत्रु सिर ऊपर न कर सके ॥ २९-३१ ॥

उद्यस्त्वं देव सूर्य सपत्नानव मे जहि ।
अवैनानश्मना जहि ते यन्त्वधमं तमः ॥ १२ ॥
वत्सो विराजो वृषभो मतीनामा रुरोह शुक्रपृष्ठोऽन्तरिक्षम् ।
घृतेनार्कमभ्यर्चन्ति वत्सं ब्रह्म सन्तं ब्रह्मणा वर्धयन्ति ॥ १३ ॥
दिवं च रोह पृथिवीं च रोह राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह ।
प्रजां च रोहामृतं च रोह रोहितेन तन्वं सं स्पृशस्व ॥ १४ ॥
ये देवा राष्ट्रभृतोऽभितो यन्ति सूर्यम् ।
तैष्टे रोहितः संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः ॥ १५ ॥
उत् त्वा यज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति ।
तिरः समुद्रमति रोचसेऽर्णवम् ॥ १६ ॥

अर्थ— हे सूर्यदेव ! (त्वं उद्यन् मे सपत्नान् अवजहि) तू उदय होता हुआ मेरे शत्रुओंका नाश कर । (एनान् अश्मना अवजहि) इन शत्रुओंका पत्थरसे नाश कर । (ते अधमं तमः यन्तु) वे गहरे अंधेरेमें जावें ॥ १२ ॥

(विराजः वत्सः मतीनां वृषभः शुक्रपृष्ठः अन्तरिक्षं आ रुरोह) विराट्‌का बच्चा मतियोंको बढानेवाला बलवान् वीर्यवाला होकर अन्तरिक्षपर चढा है । (घृतेन वत्सं अर्कं अभि अर्चन्ति) घीसे बच्चारूपी सूर्यकी पूजा करते हैं । स्वयं (ब्रह्म सन्तं ब्रह्मणा वर्धयन्ति) ब्रह्म होता हुआ भी उसीको ब्रह्म नाम स्तुतियोंसे बढाते हैं ॥ १३ ॥

(दिवं च रोह पृथिवीं च रोह) द्युलोक पर चढ और पृथ्वीपर चढ । (राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह) राष्ट्रपर चढ और धनपर चढ । (प्रजां च रोह अमृतं च रोह) प्रजा और अमरपनपर चढ (रोहितेन तन्वं सं स्पृशस्व) अपने प्रकाशसे मेरे शरीरको पूर्ण कर ॥ १४ ॥

[ये राष्ट्रभृतः देवाः सूर्यं अभितः यन्ति] जो राष्ट्रपोषक देव सूर्यके चारों ओर घूमते हैं (तैः संविदानः रोहितः सुमनस्यमानः ते राष्ट्रं दधातु) उनके साथ मिला हुआ रोहित सुमनस्क होकर तेरे राष्ट्रका धारण करे ॥ १५ ॥

[ब्रह्मपूताः यज्ञाः त्वा उत् वहन्ति] ज्ञानसे पवित्र हुए यज्ञ तुझे ऊपर उठाते हैं । [अध्वगतः हरयः त्वा वहन्ति] मार्गसे चलनेवाले घोडे तुझे ले चलते हैं । [समुद्रं अर्णवं तिरः अति रोचसे] समुद्र महासागर तू अति प्रकाशित करता है ॥ १६ ॥

भावार्थ— परमेश्वर कृपा करे और हमारे शत्रुओंका बल कम करे । शत्रु नीच स्थानमें भाग जावें ॥ १२ ॥

सूर्य बलवर्धक बुद्धिवर्धक है । इसीका बच्चा अग्नि है । अग्निमें घीके हवन करनेसे उसकी पूजा होती है । सूर्य स्वयं ब्रह्मरूप है और वही ब्रह्म नाम मंत्रोंसे स्तुतियों द्वारा बढाया जाता है ॥ १३ ॥

स्वर्ग, पृथ्वी राष्ट्र धन प्रजा अमरपन आदि विषयमें प्रगति संपादन करना चाहिये । इस कार्य करनेका बल प्राप्त करना हो तो सूर्य प्रकाशसे अपने शरीरका संबंध जोड दो जिससे विलक्षण बल प्राप्त होकर उक्त कार्य सिद्ध होगा ॥ १४ ॥

राष्ट्रका भरणपोषण करनेवाले देव सूर्यकी उपासना करते हैं इसलिये सूर्यके प्रकाशमें रहते हैं । वे बल प्राप्त करते हैं व सुसंस्कृत करते हैं राष्ट्र धारण करने योग्य बनते हैं ॥ १५ ॥

सूर्य उदय होते ही मन्त्रघोष और यज्ञ प्रारंभ होते हैं । सूर्यकिरण सर्वत्र फैलते हैं और समुद्रतक व भूमिपर प्रकाश होता है ॥ १६ ॥

रोहित द्यावापृथिवी अधि श्रिते वसुजिति गोजिति संधनाजिति।
सहस्रं यस्य जनिमानि सप्त च वोचेयं ते नाभिं भुवनस्याधि मज्मनि ॥ ३७ ॥
यशा यासि प्रदिशो दिशश्च यशाः पशूनामुत चर्षणीनाम्।
यशाः पृथिव्या अदित्या उपस्थेऽहं भूयासं सवितेव चारुः ॥ ३८ ॥
अमुत्र सन्निह वेत्थेतः संस्तानि पश्यसि।
इतः पश्यन्ति रोचनं दिवि सूर्यं विपश्चितम् ॥ ३९ ॥
देवो देवान् मर्चयस्यन्तश्चरस्यर्णवे।
समानमग्निमिन्धते तं विदुः कवयः परे ॥ ४० ॥ (६)
अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित्सूते नहि यूथे अस्मिन् ॥ ४१ ॥

अर्थ— [वसुजिति गोजिति संधनाजिति रोहिते द्यावापृथिवी अधिश्रिते] धन गौवें और ऐश्वर्य प्राप्त करनेवाले सूर्यके आश्रयसे द्युलोक और भूलोक रहते हैं [यस्य सहस्रं सप्त च जनिमानि] जिस तेरे हजार और सात जन्म हैं। [भुवनस्य मज्मनि अधि ते नाभिं वोचेयं] इस जगत् की महिमामें तेरा ही केन्द्र है ऐसा मैं कहूंगा ॥ ३७ ॥

[प्रदिशः दिशः च यशाः यासि] दिशा और उपदिशाओंमें यशस्वी होकर तू जाता है। (पशूनां उत चर्षणीनां यशाः) पशु और प्रजाओंमें यशस्वी होकर तू जाता है। [पृथिव्याः अदित्याः उपस्थे यशाः] पृथ्वीके ऊपर और अदितिकी गोद में यशस्वी होकर [अहं सविता इव चारुः भूयासं] मैं सूर्य सविताके समान सुन्दर बनूं ॥ ३८ ॥

[अमुत्र सन् इह वेत्थ इतः सन् तानि पश्यसि] वहां रहकर यहां का ज्ञान प्राप्त करते और यहां रहकर उनको देखते हैं। [इतः दिवि रोचनं विपश्चितं सूर्यं पश्यन्ति] यहांसे द्युलोकमें प्रकाशमान ज्ञानी सूर्यको देखते हैं ॥ ३९ ॥

[देवः देवान् मर्चयसि अर्णवे अन्तः चरसि] प्रकाशमान होकर अन्य प्रकाशकोंको शुद्ध करता है समुद्रके अन्दर संचार करते हैं [समानं अग्निं इन्धते] समान तेजस्वी अग्निको प्रदीप्त करता है। [कवयः तं परे विदुः] ज्ञानी उसको परे जानते हैं ॥ ४० ॥

[एषा गौः अवः परेण परः अवरेण पदा वत्सं बिभ्रती] यह गाय निम्न स्थानवालेको दूरके पदसे और परवालेको पासवाले पदसे बछडेको धारण करती हुई [उत् अस्थात्] ऊपर उठती है। [सा कद्रीची कं स्वित् अर्धं परा अगात्] वह कहांसे आती है और किस अर्धभागके पास जाती है? वह [क्व स्वित् सूते] कहां प्रसूत होती है? [अस्मिन् यूथे न] इस समूहमें तो नहीं होती ॥ ४१ ॥ (ऋ. १।१६४।१७, अथर्व. ९।९।१७)

भावार्थ— धन गौवें और ऐश्वर्य सूर्यसे संबंधित है। इसके हजारों प्रकार हैं। इन सबका मध्य केन्द्र सूर्य ही है ॥ ३७ ॥
दिशा उपदिशा पशु, प्रजाजन भूमि आदि सबका यश देनेवाला सूर्य है। सूर्यको आदर्श मानकर सब लोग सूर्यके समान तेजस्वी बनें ॥ ३८ ॥
सूर्य दूरदूरका भी देखता है। द्युलोकमें रहता हुआ सर्वत्र प्रकाशता है ॥ ३९ ॥
सूर्य सब अन्य प्रकाशकोंको भी प्रकाशित करता है। उसके तेजसे अग्नि प्रदीप्त होता है। ज्ञानी लोग सूर्यको ही श्रेष्ठ मानते हैं ॥ ४० ॥
यह गौ अपने दूरके पदसे पासवाले और पासवाले पदसे दूर वत्सको धारण पोषण करती है। वह कहांसे आती है किस आधे भागके पास पहुंचती है कहां प्रसूत होती है इसको जानना चाहिए। वह इस यूथमें तो नहीं रहती ॥ ४१ ॥

एकपदी द्विपदी सा चतुष्पद्यष्टापदी नवपदी बभूवुषी ।
सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति ॥ ४२ ॥
आरोहन् द्यामसृतः प्राव मे वचः ।
उत् त्वा यज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति ॥ ४३ ॥
वेद तत् ते अमर्त्य यत् त आक्रमणं दिवि ।
यत् ते सधस्थं परमे व्योमन् ॥ ४४ ॥
सूर्यो द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽति पश्यति ।
सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुरा रुरोह दिवं महीम् ॥ ४५ ॥
उर्वीरासन् परिधयो वेदिर्भूमिरकल्पत ।
तत्रैतावग्नी आधत्त हिमं घ्रंसं च रोहितः ॥ ४६ ॥

अर्थ- [सा एकपदी द्विपदी चतुष्पदी अष्टापदी नवपदी बभूवुषी] वह एक दो चार आठ और नौ पादोंवाली तथा युक्त होनेकी इच्छा करनेवाली [सहस्राक्षरा भुवनस्य पंक्तिः] हजारों अक्षरोंवाली भुवनकी पंक्ति है। [तस्याः समुद्राः अधि वि क्षरन्ति] उससे सब समुद्र रस बहते हैं ॥ ४२ ॥ (ऋ. १।१६४।४१; अथर्व. ९।१०।२१)

(अमृतः द्यां आरोहन् मे वचः प्र अव) हे अमर देव द्युलोक पर आरूढ होकर मेरे भाषण की रक्षा कर। (त्वा ब्रह्मपूताः यज्ञाः उत् वहन्ति) तुझे मंत्रसे पवित्र हुए यज्ञ बढाते हैं तथा (अध्वगतः हरयः त्वा वहन्ति) मार्गस्थ घोडे तुझे ले चलते हैं ॥ ४३ ॥

हे (अमर्त्य) देव ! (यत् ते दिवि आक्रमणं) जो तेरा द्युलोकमें आक्रमण है और (यत् ते परमे व्योमन् सधस्थं) जो तेरा परम आकाशमें स्थान है (तत् ते वेद) तेरा वह मुझे विदित है ॥ ४४ ॥

(सूर्यः द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्यः आपः अति पश्यति) सूर्य द्युलोक पृथ्वी और जल को अत्यंत देखता है। (सूर्यः भूतस्य एकं चक्षुः महीं दिवं आरुरोह) सूर्य सब भुवनका एकमात्र नेत्र है वह बडे द्युलोक पर आरूढ हुआ है ॥ ४५ ॥

(उर्वीः परिधयः आसन्) बडी परिधियें थीं (भूमिः वेदिः अकल्पयत) भूमि वेदी बनायी गयी। (तत्र रोहितः हिमं घ्रंसं च एतौ अग्नी आधत्त) वहां सूर्यने शीत और उष्ण ये अग्नि रखे ॥ ४६ ॥

भावार्थ- यह वाणीरूपी गौ अर्थात् छन्दमयी वाणी एक दो चार आठ अथवा नौ पादोंवाले छन्दोंमें विभक्त हुई है। यह अनेक प्रकारकी है और हजार अक्षरों तक इसकी मर्यादा है। मानो यह सब भुवनोंको पूर्ण करनेवाली है और इससे विविध प्रकार रस बहते हैं ॥ ४२ ॥

सूर्य हमारा रक्षक है आकाशमें चढकर सबको सामर्थ्य देता है। सब यज्ञ उसीकी महिमा बढाते हैं उसके किरण उसको सब जगत्में पहुंचाते हैं ॥ ४३ ॥

सूर्यका द्युलोकमें स्थान उसका महत्त्व यह सब ज्ञानी जान जाते हैं ॥ ४४ ॥

सूर्य द्युलोक आकाश पृथ्वी आप आदिको देखता है। सूर्य ही सबका प्रकाशक है। वह पृथ्वी और आकाशको प्रकाशित करता है ॥ ४५ ॥

इस जगत्‌का प्रारंभ भूमिरूपी वेदीपर हुआ। इसकी परिधियें बडी विस्तृत थी। शीतकाल और उष्णकाल ये दो अग्नि इस यज्ञमें थे ॥ ४६ ॥

हिमं घ्रंसं चाधाय यूपान् कृत्वा पर्वतान् ।
वर्षाज्यावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ४७ ॥
स्वर्विदो रोहितस्य ब्रह्मणाग्निः समिध्यते ।
तस्माद् घ्रंसस्तस्माद्धिमस्तस्माद् यज्ञोऽजायत ॥ ४८ ॥
ब्रह्मणाग्नी वावृधानौ ब्रह्मवृद्धौ ब्रह्माहुतौ ।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ४९ ॥
सत्ये अन्यः समाहितोऽप्स्व१न्यः समिध्यते ।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ५० ॥ (५)
यं वातः परि शुम्भति यं वेन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः ।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ५१ ॥
वेदिं भूमिं कल्पयित्वा दिवं कृत्वा दक्षिणाम् ।
घ्रंसं तदग्निं कृत्वा चकार विश्वमात्मन्वद् वर्षेणाज्येन रोहितः ॥ ५२ ॥
वर्षमाज्यं घ्रंसो अग्निर्वेदिर्भूमिरकल्पत ।
तत्रैतान् पर्वतानग्निर्गीर्भिरूर्ध्वाँ अकल्पयत् ॥ ५३ ॥

अर्थ-(हिमं घ्रंसं च आधाय पर्वतान् यूपान् कृत्वा) शीत और उष्ण ऋतु बनाकर पर्वतोंको यूप बनाकर (वर्षाज्यौ अग्नी स्वर्विदः रोहितस्य ईजाते) वर्षारूप घृतको प्राप्त करनेवाले ये दोनों अग्नि आत्मज्ञ रोहित देवके लिये यज्ञ करते हैं ॥ ४७ ॥

(स्वर्विदः रोहितस्य ब्रह्मणा अग्निः समिध्यते) आत्मज्ञानी सूर्यके मंत्रोंसे अग्नि प्रदीप्त किया जाता है। [तस्मात् घ्रंसः तस्मात् हिमः तस्मात् यज्ञः अजायत] उससे उष्णता उससे सर्दी और उससे यज्ञ होता है ॥ ४८ ॥

[ब्रह्मणा वावृधानौ ब्रह्मवृद्धौ ब्रह्माहुतौ अग्नी] ज्ञानसे बढनेवाले, मंत्रके साथ प्रदीप्त होनेवाले मंत्रसे हवन किये गये, दो अग्नी हैं। (स्वर्विदः रोहितस्य ब्रह्मेद्धौ अग्नी ईजाते) आत्मज्ञानी सूर्यके प्रकाशमें मंत्रसे प्रज्वलित हुए वे दो अग्नी प्रदीप्त होते हैं ॥ ४९ ॥

[अन्यः सत्ये समाहितः] एक सत्यमें स्थिर है [अन्यः अप्सु समिध्यते] दूसरा जलमें प्रदीप्त होता है। [स्वर्विदः रोहितस्य ब्रह्मेद्धौ अग्नी ईजाते] आत्मज्ञानी सूर्यके प्रकाशमें वे मंत्रसे प्रदीप्त हुए दोनों अग्नि प्रदीप्त होते हैं ॥ ५० ॥ [५]

(वातः इन्द्रः ब्रह्मणस्पतिः वा यं परि शुम्भति) वायु इन्द्र और ब्रह्मणस्पति ये जिसके लिए प्रकाश फैला रहे हैं उस (स्वर्विदः) आत्मज्ञानी सूर्यदेवके लिए वे अग्नि प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ५१ ॥

(भूमिं वेदिं कृत्वा दिवं दक्षिणां कृत्वा) भूमिकी वेदी बनाकर द्युलोककी दक्षिणा करके (घ्रंसं तदग्निं कृत्वा वर्षेण आज्येन रोहितः विश्वं आत्मन्वत् चकार) उष्ण ऋतुको वहांका अग्नि करके वृष्टिरूप घीसे सूर्यने सब जगत् को आत्मवान् बना दिया है ॥ ५२ ॥

[वर्षं आज्यं, घ्रंसः अग्निः भूमिः वेदिः अकल्पयत्] वृष्टिको घी उष्णताको अग्नि भूमिको वेदी बनाया गया। (तत्र अग्निः गीर्भिः एतान् पर्वतान् ऊर्ध्वान् अकल्पयत्) वहां अग्निने शब्दोंसे इन पर्वतोंको ऊंचा बना दिया है ॥ ५३ ॥

१ (अ. पु. मा. कां. ११)

गीर्भिरूर्ध्वान् कल्पयित्वा रोहितो भूमिमब्रवीत् ।
त्वयीदं सर्वं जायतां यद् भूतं यच्च भाव्यम् ॥ ५४ ॥

स यज्ञः प्रथमो भूतो भव्यो अजायत ।
तस्माद्ध जज्ञ इदं सर्वं यत् किं चेदं विरोचते रोहितेन ऋषिणाभृतम् ॥ ५५ ॥

यश्च गां पदा स्फुरति प्रत्यङ् सूर्यं च मेहति ।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम् ॥ ५६ ॥

यो माभिच्छायमत्येषि मां चाग्निं चान्तरा ।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम् ॥ ५७ ॥

यो अद्य देव सूर्य त्वां च मां चान्तरायति ।
दुःष्वप्न्यं तस्मिञ्छमलं दुरितानि च मृज्महे ॥ ५८ ॥

अर्थ — (गीर्भिः ऊर्ध्वान् कल्पयित्वा, रोहितः भूमिं अब्रवीत्) वाणियोंसे पर्वतोंको ऊंचा बनाकर सूर्य भूमिसे बोला कि (यद् भूतं यच्च भाव्यं सर्वं त्वयीदं जायताम्) जो हो चुका और जो होनेवाला है, वह सब तेराही बनता रहे ॥ ५४ ॥

(सः प्रथमः यज्ञः भूतः भव्यः अजायत) वह पहिला यज्ञ भूत और भविष्यके लिए बना। (तस्मात् इदं सर्वं जज्ञे यत् किं च इदं विरोचते) उससे यह सब उत्पन्न हुआ जो कुछ यह विराजता है वह (ऋषिणा रोहितेन आभृतं) रोहित ऋषिने—सूर्यदेवने भरण किया हुआ है ॥ ५५ ॥

(यः गां च पदा स्फुरति) जो गौको पांवसे ठुकराता है (सूर्यं च प्रत्यङ् मेहति) किंवा सूर्यके सम्मुख मूत्र करता है (तस्य ते मूलं वृश्चामि परं छायां न करवः) उस पुरुषका मूल काटता हूं, उसके पश्चात् तू अपनी छाया नहीं करेगा ॥ ५६ ॥

(यः मां अभिच्छायं अत्येषि) जो तू मुझे अपनी छायामें रखकर चलता है (मां अग्निं च अन्तरा) मेरे और अग्निके बीचमें गुजरता है उस तेरा मूल मैं काटता हूं जिससे तू इस तरह आगे छाया न कर सकेगा ॥ ५७ ॥

हे देव सूर्य ! (यः अद्य त्वां च मां च अन्तरा आयति) जो आज तेरे और मेरे बीचमें आता है (तस्मिन् दुःष्वप्न्यं शमलं दुरितानि च मृज्महे) उसमें बुरे स्वप्न बुरे कल्मष और पाप जमा देते हैं ॥ ५८ ॥

भावार्थ—पर्वत यूप बनाये गये भूमि वेदीका कार्य करने लगी और मंत्रपाठपूर्वक यह यज्ञ प्रारंभ हुआ। इसमें वायु सहायकारी होकर कार्य करने लगा। वर्षा ही हविष्य सामग्री के लिये रखी गयी। इस यज्ञसे सबमें आत्मिक बल आगया ॥ ४७–५३ ॥

जो भूत भविष्य और वर्तमान है वह सब इसीसे प्रकाशित है ॥ ५४ ॥

यही यज्ञ भूत भविष्यके लिए आदर्श हुआ। इसी यज्ञसे सब कुछ बना ॥ ५५ ॥

जो गायको लात मारता है सूर्यके सम्मुख मूत्रादि मल त्याग करता है वह दण्डनीय है ॥ ५६ ॥

जो अपनी छायामें दूसरेको रखता है अग्नि तथा सूर्य और उपासक के बीच आता रहता है वह भी दण्डनीय है ॥ ५७–५८ ॥

मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः ।
मान्त स्थुर्नो अरातयः ॥ ५९ ॥
यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः ।
तमाहुतमशीमहि ॥ ६० ॥ (६)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(वयं पथः मा प्रगाम) हम मार्गको न छोडें हे इन्द्र! (सोमिनः यज्ञात् मा) हम सोम यागसे भी दूर न जावें, (नः अरातयः अन्तः मा स्थुः) हमारे शत्रु हमारी उन्नतिके बीचमें न खडे रहें ॥ ५९ ॥ [ऋ १ । ५७ । १]

(यः यज्ञस्य प्रसाधनः तन्तुः देवेषु आततः) जो यज्ञका साधक ज्ञानतन्तु देवोंमें फैला है, (तं आहुतं अशीमहि) उसका सेवन हम करें ॥ ६० ॥

(६) ऋ १ । ५७ । २

भावार्थ- हम सत्यके शुद्ध मार्ग कभी न छोडें । यज्ञसे दूर न हों । हमारे शत्रु कभी प्रबल न हों ॥ ५९ ॥
जो यज्ञ सब देवोंमें फैलकर व्याप्त होकर रहा है, वह हम सबमें रहे ॥ ६० ॥

प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥

॥ २ ॥

उदस्य केतवो दिवि शुक्रा भ्राजन्त ईरते ।
आदित्यस्य नृचक्षसो महिव्रतस्य मीढुषः ॥ १ ॥
दिशां प्रज्ञानां स्वरयन्तमर्चिषा सुपक्षमाशुं पतयन्तमर्णवे ।
स्तवाम सूर्यं भुवनस्य गोपां यो रश्मिभिर्दिश आभाति सर्वाः ॥ २ ॥

अर्थ—(मीढुषः महिव्रतस्य नृचक्षसः अस्य आदित्यस्य) सिंचन करनेवाले बडे व्रत करनेवाले मनुष्योंके निरीक्षक इस सूर्यके (शुक्राः भ्राजन्तः केतवः उत् ईरते) शुद्ध तेजस्वी किरण उदित होकर चमकते हैं ॥ १ ॥

(अर्चिषा प्रज्ञानां दिशां स्वरयन्तं) प्रकाशसे ज्ञापक दिशाओंको प्रकाशित करनेवाले (अर्णवे सुपक्षं आशुं पतयन्तं) अन्तरिक्षमें उत्तम किरणोंके साथ चलनेवाले [भुवनस्य गोपां सूर्यं स्तवाम] त्रिभुवनके रक्षक सूर्यकी हम प्रशंसा करते हैं । (यः रश्मिभिः सर्वाः दिशः आभाति) जो अपने किरणोंद्वारा सब दिशाओंको प्रकाशित करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—सूर्य से वृष्टि होती है वह बडा व्रती है मनुष्योंका निरीक्षण करता है भूमिकी आर्द्रता धारण करता है इसके उदय होनेपर चारों ओर स्वच्छ प्रकाश होता है ॥ १ ॥

यह सूर्य अपने प्रकाशसे सब दिशाओंको प्रकाशित करता है अन्तरिक्षमें संचार करता है यह सब भुवनोंकी रक्षा करनेवाला है इसकी स्तुति करना योग्य है ॥ २ ॥

यत् प्राङ् प्रत्यङ् स्वधया यासि शीभं नानारूपे अहनी कर्षि मायया।
तदादित्य महि तत् ते महि श्रवो यदेको विश्वं परि भूम जायसे ॥ ३ ॥
विपश्चितं तरणिं भ्राजमानं वहन्ति यं हरितः सप्त बह्वीः।
स्रुताद् यमत्त्रिर्दिवमुन्निनाय तं त्वा पश्यन्ति परियान्तमाजिम् ॥ ४ ॥
मा त्वा दभन् परियान्तमाजिं स्वस्ति दुर्गाँ अति याहि शीभम्।
दिवं च सूर्य पृथिवीं च देवीमहोरात्रे विमिमानो यदेषि ॥ ५ ॥
स्वस्ति ते सूर्य चरसे रथाय येनोभावन्तौ परियासि सद्यः।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥ ६ ॥
सुखं सूर्य रथमंशुमन्तं स्योनं सुवह्निमधि तिष्ठ वाजिनम्।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥ ७ ॥

अर्थ-(यत् प्राङ् प्रत्यङ् स्वधया शीभं यासि) जो तू पूर्व और पश्चिम दिशामें अपनी धारक शक्तिके साथ शीघ्र जाता है (मायया नानारूपे अहनी कर्षि) अपनी शक्तिसे अनेक रूपवाले दिन और रात बनाता है। हे आदित्य ! (तत् ते महि महि श्रवः) वह तेरा ही बडा महिमा है। (यत् एक विश्वं भूम परि जायसे) जो अकेला तू सब जगतके ऊपर प्रभाव करता है ॥ ३ ॥

(बह्वीः सप्त हरितः) बडी सात किरणें (यं भ्राजमानं तरणिं विपश्चितं वहन्ति) जिस तेजस्वी तारनेवाले ज्ञानी देवको ले जाती हैं। (यं अत्रिः स्रुतात् दिवं उन्निनाय) जिसको अत्रि ज्ञानमार्गसे चलनेवालेने ऊपर द्युलोक तक पहुंचाया है (तं त्वा आजिं परियान्तं पश्यन्ति) उस तुझको चारों ओर घूमते हुए देखते हैं ॥ ४ ॥

(परियान्तं आजिं त्वा मा दभन्) चारों ओर घूमनेवाले तुझको शत्रु न दबा देवें। (स्वस्ति, दुर्गान् शीभं अति याहि) सुखपूर्वक कठिन स्थानोंके पार शीघ्रतासे चल। हे सूर्य ! (दिवं च देवीं पृथिवीं च अहोरात्रे विमिमानः यत् एषि) द्युलोक और दिव्य पृथिवीको अहोरात्रका निर्माण करता हुआ तू जाता है ॥ ५ ॥

हे सूर्य ! (ते चरसे रथाय स्वस्ति) तेरे चलनेवाले रथके लिए शुभमंगल हो। (येन उभौ अन्तौ सद्यः परि यासि) जिससे दोनों सीमाओंतक तत्काल जाता है। (सप्त बह्वीः यदि वा वहिष्ठाः हरितः शतं अश्वाः यं ते वहन्ति) जो किरणें या चलनेवाली सात अथवा किरणें जिस तुझको चलाती हैं ॥ ६ ॥

हे सूर्य ! (अंशुमन्तं स्योनं सुवह्निं वाजिनं सुखं रथं अधितिष्ठ) तेजस्वी सुखदायी चलानेवाले शक्तिवाले उत्तम रथपर चढ। (यं ते) उस तुझको सात किरणें अथवा सैंकडों किरणें ले चलती हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ- जो पूर्व दिशामें उदय होकर पश्चिम दिशामें अस्त होता है जो अपने प्रभावसे दिन और रात्रीका निर्माण करता है उसका महिमा बडा है वह सब स्थानमें बडा प्रभावशाली है ॥ ३ ॥

सात तेजस्वी किरणें सूर्यको चलाती हैं, प्रभावयुक्त बनाती हैं। ज्ञानी लोग इसका महत्त्व जानते हैं। वह इस द्युलोकमें चढकर सबको अच्छी तरह देखता है ॥ ४ ॥

तू शत्रुओंका प्रभाव या नाश करता है, तेरी किरणें कठिनसे कठिन स्थानपर भी प्रकाश करती हैं, तेरे प्रकाशसे सबका कल्याण होता है। तू द्युलोक और पृथ्वीको प्रकाशित करता हुआ दिन और रातका निर्माण करता है ॥ ५ ॥

तेरा रथ बडा चलनेवाला है जिससे तू इधर उधर सतत भ्रमण करता है। सात किरणें और अनंत प्रकाश तेरा प्रभाव बढाता है ॥ ६ ॥

सप्त सूर्यो हरितो यातवे रथे हिरण्यत्वचसो बृहतीरयुक्त ।
अमोचि शुक्रो रजसः परस्ताद् विधूय देवस्तमो दिवमारुहत् ॥ ८ ॥
उत् केतुना बृहता देव आगन्नपावृक् तमोऽभि ज्योतिरश्रैत् ।
दिव्यः सुपर्णः स वीरो व्यख्यददितेः पुत्रो भुवनानि विश्वा ॥ ९ ॥
उद्यन् रश्मीना तनुषे विश्वा रूपाणि पुष्यसि ।
उभा समुद्रौ क्रतुना वि भासि सर्वांल्लोकान् परिभूर्भ्राजमानः ॥ १० ॥ (७)
पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम् ।
विश्वान्यो भुवना विचष्टे हैरण्यैरन्यं हरितो वहन्ति ॥ ११ ॥

अर्थ-(सूर्यः हिरण्यत्वचसः बृहतीः सप्त हरितः यातवे रथे अयुक्त) सूर्यने सुवर्णके समान चमकनेवाले बडे सात किरण चलनेके लिए अपने रथमें जोडे हैं । (शुक्रः देवः तमो विधूय रजसः परस्तात् अमोचि दिवं आरुहत्) शुद्ध देवने अन्धकारको आघातसे हटाकर रजोलोकसे परे प्रवेश किया और स्वयं द्युलोकपर चढा ॥ ८ ॥

(देवः बृहता केतुना उत् आगन्) सूर्यदेव बडे प्रकाशके साथ उदयको प्राप्त हुआ है (तमः अपावृक् ज्योतिः अश्रैत्) उसने अन्धकार दूर किया और तेजका आश्रय किया है । (सः दिव्यः सुपर्णः अदितेः वीरः पुत्रः विश्वा भुवनानि व्यख्यत्) उस दिव्य प्रकाशमान अदितिके वीर पुत्र सूर्यने सब भुवनोंको प्रकाशित किया है ॥ ९ ॥

(उद्यन् रश्मीन् आ तनुषे) उदय होनेपर किरणोंको तू फैलाता है । (विश्वा रूपाणि पुष्यसि) सब रूपोंको पुष्ट करता है । (उभौ समुद्रौ क्रतुना विभासि) दोनों समुद्रोंको शक्तिसे प्रकाशित करता है और (परिभूः भ्राजमानः सर्वान् लोकान्) सबपर प्रभाव करता हुआ तेजस्वी तू सब लोकोंको प्रकाशित करता है ॥ १० ॥ (७)

(एतौ शिशू क्रीडन्तौ मायया पूर्वापरं चरतः) ये दो बालक अर्थात् सूर्य और चन्द्र खेलते हुए, स्वशक्तिसे आगे पीछे चलते हैं । और (अर्णवं परियातः) समुद्रतक भ्रमण करते हुए पहुंचते हैं । [अन्यः विश्वा भुवना विचष्टे] उनमेंसे एक सब भुवनोंको प्रकाशित करता है और (अन्यः ऋतून् विदधत् नवः जायते) दूसरा ऋतुओंको बनाता हुआ नया नया बनता है ॥ ११ ॥ (अथर्व ७।८१ (८६) ।१; १४।१।२३)

भावार्थ—तेरा रथ तेजस्वी सुखदायी, गतिमान् बलवान् है । उसकी किरणें तेरा प्रभाव बता रही हैं ॥ ७ ॥

सूर्य अपने चमकनेवाली किरणोंके साथ अपने रथमें विराजता है । यह प्रकाशमान देव अन्धकारको दूर करके उसको दूर भगा देता है और द्युलोकमें विराजता है ॥ ८ ॥

सूर्य उदय होता है उससे अन्धकार दूर होता है उसके प्रकाशसे संपूर्ण विश्व प्रकाशित होता है ॥ ९ ॥

सूर्य उदय होनेपर उसका प्रकाश फैलता है, समुद्रतकके संपूर्ण भूमिपर सब लोक पराक्रम शुरू करते हैं इस तरह सब जगत् देदीप्यमान होता है ॥ १० ॥

तेजस्वी बालके जैसे बडे (चंद्र और सूर्य) बालक अपनी शक्तिसे चलते हुए समुद्र तक पुरुषार्थ करते हुए जाते हैं । उनमेंसे एक जगत्को प्रकाशित करता है और दूसरा ऋतुओंको बनाता है । इसी तरह सब गृहस्थियोंके पुत्र अपने पुरुषार्थसे जगत् को प्रकाशित करें ॥ ११ ॥

दिवि त्वात्रिरधारयत् सूर्या मासाय कर्तवे।
स एषि सुधृतस्तपन् विश्वा भूतावचाकशत् ॥ १२ ॥
उभावन्तौ समर्षसि वत्सः संमातराविव।
नन्वेतदितः पुरा ब्रह्म देवा अमी विदुः ॥ १३ ॥
यत् समुद्रमनु श्रितं तत् सिषासति सूर्यः।
अध्वास्य विततो महान् पूर्वश्चापरश्च यः ॥ १४ ॥
तं समाप्नोति जूतिभिस्ततो नाप चिकित्सति।
तेनामृतस्य भक्षं देवानां नाव रुन्धते ॥ १५ ॥
उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ १६ ॥

अर्थ- हे सूर्य (मासाय कर्तवे अत्रिः त्वा दिवि अधारयत्) महिने बनानेके लिए अत्रिने तुझे द्युलोकमें धारण किया (सः तपन् विश्वा भूता अवचाकशत् सुधृतः एषि) वह तपता हुआ सब भूतोंको प्रकाशित करता हुआ स्वयं सुस्थिर होकर चलता है ॥ १२ ॥

[वत्सः मातरौ इव उभौ अन्तौ सं अर्षसि] जैसा बछडा मातापिताओंको प्राप्त होता है वैसा तू दोनों अन्तिम भागोंको प्राप्त होता है। (ननु इतः पुरा अमी देवाः एतत् ब्रह्म विदुः) निश्चयपूर्वक इससे पूर्व ही ये देव इस ज्ञानको जानते हैं ॥ १३ ॥

(यत् समुद्रं अनुश्रितं तत् सूर्यः सिषासति) जो समुद्रके आश्रयसे रहता है वह सूर्य प्राप्त करना चाहता है। (अस्य पूर्वः अपरः च महान् अध्वा विततः) इसका यह पूर्व पश्चिम बडा मार्ग फैला है ॥ १४ ॥

(तं जूतिभिः समाप्नोति ततो न अपचिकित्सति) उस मार्गको वह वेगोंसे समाप्त करता है, उस मार्गमें वह इधर उधर मनको नहीं जाने देता (तेन देवानां अमृतस्य भक्षं न अवरुन्धते) इस कारण देवोंके अमृत अन्नके खानेमें रुकावट नहीं होता ॥ १५ ॥

(केतवः त्यं जातवेदसं देवं सूर्यं) किरण उस बने हुएको जाननेवाले सूर्य देवको (विश्वाय दृशे) समस्त जगत्‌के देखनेके लिए (उत् उ वहन्ति) ऊपर आकाशमें प्रकाशित करते हैं ॥ १६ ॥ (ऋ० १।५०।१; वा० यजु० ७।४१; अथर्व० २०।४७।१३)

भावार्थ- सूर्य महिने बनानेके लिए द्युलोकमें प्रकाशित होता है वह प्रकाशता है सबका धारण भी करता है ॥ १२ ॥

जैसा बच्चा माता पिताओंको प्राप्त करता है वैसाही सूर्य उदय और अस्तके प्रान्तको प्राप्त होता है। इसका ज्ञान सब देव पहलेसे जानते हैं ॥ १३ ॥

जो समुद्रमें रसादि है वह सूर्य प्राप्त करता है इस सूर्यका यह पूर्वसे पश्चिमतकका मार्ग बडाभारी है ॥ १४ ॥

वह अपने मार्गको शीघ्रतासे समाप्त करता है अपना मन इधर उधर जाने नहीं देता। इस कारण उसको अमृतान्नका भाग निरंतर प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

सूर्यकी किरणें उसको विश्वको प्रकाशित करनेके लिए ही ऊपर उठाती हैं और उसको उच्च आकाशमें धारण करती हैं ॥ १६ ॥

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः ।
सूराय विश्वचक्षसे ॥ १७ ॥
अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु । भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥ १८ ॥
तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य । विश्वमा भासि रोचन ॥ १९ ॥
प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषीः
प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥ २० ॥ (८)
येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।
त्वं वरुण पश्यसि ॥ २१ ॥
वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहर्मिमानो अक्तुभिः ।
पश्यन् जन्मानि सूर्य ॥ २२ ॥

अर्थ- (यथा त्ये तायवः, नक्षत्रा अक्तुभिः अप यन्ति) जैसे वे चोर वैसे नक्षत्रगण रात्रिके साथ दूर भाग जाते हैं और (विश्वचक्षसे सूराय) संसारके प्रकाशित करनेवाले सूर्यके लिए स्थान करते हैं ॥ १७ ॥ (ऋ० १।५०।२; अथर्व० १३।२।१७)

(यथा भ्राजन्तः अग्नयः) जैसे चमकनेवाले अग्नि होते हैं (अस्य केतवः रश्मयः जनान् अनु वि अदृश्रन्) इसके ध्वजरूपी किरण लोगोंके प्रति जाते हुए दीखते हैं ॥ १८ ॥ (ऋ० १।५०।३, वा० य० ८।४०; अथर्व० १३।२।१८)

हे (रोचन सूर्य) प्रकाशक सूर्य! तू (तरणिः विश्वदर्शतः ज्योतिष्कृत् असि) तारक विश्वको दर्शनीय और प्रकाश करनेवाला है (विश्वं आ भासि) सब जगत् को प्रकाशित करता है ॥ १९ ॥ (ऋ० १।५०।४)

[देवानां विशः प्रत्यङ्] देवोंकी प्रजाओंके प्रति और (मानुषीः प्रत्यङ् उदेषि) मानवी प्रजाओंके प्रति तू उदित होता है तथा (स्वः दृशे विश्वं प्रत्यङ्) प्रकाशके दर्शनके लिए सब विश्वके प्रति जाता है ॥ २० ॥ ८ ॥ [ऋ० १।५०।५]

हे (पावक वरुण) पवित्र करनेवाले श्रेष्ठ देव! [येन चक्षसा त्वं जनान् भुरण्यन्तं अनु पश्यसि] जिस नेत्रसे तू मनुष्योंमें धारणपोषण करनेवाले मनुष्यको देखता है उससे मुझे देख ॥ २१ ॥ [ऋ० १।५०।६]

हे सूर्य! [अक्तुभिः अहः मिमानः] रात्रियोंसे दिनको मापता हुआ [पृथु रजः द्यां एषि] विस्तृत अन्तरिक्ष लोकको और द्युलोकको प्राप्त होता है और [जन्मानि पश्यन्] सब जन्म लेनेवालोंको देखता है ॥ २२ ॥ [ऋ० १।५०।७]

भावार्थ— जैसे चोर स्वामीके आनेसे भाग जाते हैं वैसेही सूर्यके आनेसे सब नक्षत्र भाग जाते हैं और सूर्यदेवके लिए स्थान खाली छोड देते हैं ॥ १७ ॥

चमकनेवाले अग्निके समान इसके किरण अत्यंत तेजस्वी और सबको प्रकाश देनेवाले हैं ॥ १८ ॥

सूर्य तेजस्वी है तारक है सबको दर्शन देनेवाला है ज्योतिको फैलानेवाला है इसीसे सब जगत तेजस्वी होता है ॥ १९ ॥

दैवी और मानवी प्रजाओंके हितार्थ यह सूर्य उदित होता है। सब विश्वको यह तेजका मार्ग बताता है ॥ २० ॥

सूर्य जिस प्रेममय नेत्रसे पुरुषार्थी मनुष्यको देखता है उसी नेत्रसे यह मुझे देखे अर्थात् यह मुझपर प्रेम करे ॥ २१ ॥

दिवि त्वात्रिरधारयत् सूर्या मासाय कर्तवे ।
स एषि सुधृतस्तपन् विश्वा भूतावचाकशत् ॥ १२ ॥

उभावन्तौ समर्षसि वत्सः संमातराविव ।
नन्वे३तदितः पुरा ब्रह्म देवा अमी विदुः ॥ १३ ॥

यत् समुद्रमनु श्रितं तत् सिषासति सूर्यः ।
अध्वास्य विततो महान् पूर्वश्चापरश्च यः ॥ १४ ॥

स समाप्नोति जूतिभिस्ततो नाप चिकित्सति ।
तेनामृतस्य भक्षं देवानां नाव रुन्धते ॥ १५ ॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ १६ ॥

अर्थ- हे सूर्य (मासाय कर्तवे अत्रिः त्वा दिवि अधारयत्) महिने बनानेके लिए अत्रिने तुझे द्युलोकमें धारण किया (सः तपन् विश्वा भूता अवचाकशत् सुधृतः एषि) वह तपता हुआ सब भूतोंको प्रकाशित करता हुआ स्वयं सुस्थिर होकर चलता है ॥ १२ ॥

[वत्सः मातरौ इव उभौ अन्तौ सं अर्षसि] जैसा बछडा मातापिताओंको प्राप्त होता है वैसा तू दोनों अन्तिम भागोंको प्राप्त होता है । (ननु एतत् पुरा अमी देवाः एतद् ब्रह्म विदुः) निश्चयपूर्वक इससे पूर्व ही ये देव इस ज्ञानको जानते हैं ॥ १३ ॥

(यत् समुद्रं अनुश्रितं तत् सूर्यः सिषासति) जो समुद्रके आश्रयसे रहता है वह सूर्य प्राप्त करना चाहता है । (अस्य पूर्वः अपरः च महान् अध्वा विततः) इसका यह पूर्व पश्चिम बडा मार्ग फैला है ॥ १४ ॥

(स जूतिभिः समाप्नोति ततो न अपचिकित्सति) उस मार्गको वह वेगोंसे समाप्त करता है, उस मार्गसे वह इधर उधर मनको नहीं जाने देता (तेन देवानां अमृतस्य भक्षं न अवरुन्धते) इस कारण देवोंके अमृत अन्नके भागसे दूर नहीं होता ॥ १५ ॥

(केतवः त्यं जातवेदसं देवं सूर्यं) किरण उस सबके ज्ञानसे जाननेवाले सूर्य देवको (विश्वाय दृशे) समस्त संसारके दर्शनके लिए (उत् उ वहन्ति) ऊपर आकाशमें प्रकाशित करते हैं ॥ १६ ॥ (ऋ. १।५०।१, वा. यजु. ७।४१, अथर्व. २०।४७।१३)

भावार्थ- सूर्य महीने बनानेके लिए द्युलोकमें प्रकाशित होता है वह प्रकाशता है जगत्का धारण भी करता है ॥ १२ ॥

जैसा बच्चा माता पिताओंको प्राप्त करता है वैसाही सूर्य उदय और अस्तके प्रान्तको प्राप्त होता है । इसका ज्ञान सब देव यथावत् जानते हैं ॥ १३ ॥

जो समुद्रमें रसादि है वह सूर्य प्राप्त करता है, इस सूर्यका यह पूर्वसे पश्चिमतकका मार्ग बडाभारी है ॥ १४ ॥

वह अपने मार्गका शीघ्रतासे समाप्त करता है अपना मन इधर उधर होने नहीं देता । इस कारण उसको अमृतका भाग निश्चयसे प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

सूर्यदेवकी किरणें संपूर्ण विश्वको प्रकाशित करनेके लिए ही प्रकाशती हैं और उसको उच्च स्थानमें धारण करती हैं ॥ १६ ॥

अतन्द्रो यास्यन् हरितो यदास्थाद् द्वे रूपे कृणुते रोचमानः।
केतुमानुद्यन्त्सहमानो रजांसि विश्वा आदित्य प्रवतो वि भासि ॥ २८ ॥
बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि।
महांस्ते महतो महिमा त्वमादित्य महाँ असि ॥ २९ ॥
रोचसे दिवि रोचसे अन्तरिक्षे पतङ्ग पृथिव्यां रोचसे रोचसे अप्स्वन्तः।
उभा समुद्रौ रुच्या व्यापिथ देवो देवासि महिषः स्वर्जित् ॥ ३० ॥ (९)
अर्वाङ् परस्तात् प्रयतो व्यध्व आशुर्विपश्चित् पतयन् पतङ्गः।
विष्णुर्विचित्तः शवसाधितिष्ठन् प्र केतुना सहते विश्वमेजत् ॥ ३१ ॥
चित्रश्चिकित्वान् महिषः सुपर्ण आरोचयन् रोदसी अन्तरिक्षम्।
अहोरात्रे परि सूर्यं वसाने प्रास्य विश्वा तिरतो वीर्याणि ॥ ३२ ॥

अर्थ— (अतन्द्रः यास्यन् हरितः यदा आस्थात्) आलस्य न करनेवाला जब जानेकी इच्छा करता है तब वह अपने घोडोंपर आरूढ होकर (रोचमानः द्वे रूपे कृणुते) प्रकाशित होकर दो रूप बनाता है। हे आदित्य ! (केतुमान् उद्यन् विश्वा रजांसि सहमानः) किरणोंसे युक्त होकर उदयको प्राप्त होनेवाला सब लोकोंको जीतनेवाला तू (प्रवतः विभासि) उच्च स्थानसे चमकता है ॥ २८ ॥

हे सूर्य ! हे आदित्य ! (बट् महान् असि) तू सचमुच बडा है (ते महतः महिमा महान्) तुझ महान् देवकी महिमा बहुत बडी है ॥ २९ ॥ [ऋ० ८।१०१।११; वा० यजु० ३३।३९; अथर्व० २०।५८।३]

हे (देव पतंग) चालक देव ! तू (दिवि अन्तरिक्षे पृथिव्यां अप्सु अन्तः रोचसे) द्युलोक अन्तरिक्षलोक भूलोक और जलोंके अन्दर प्रकाशित होता है। (रुच्या उभौ समुद्रौ व्यापिथ) तू अपने तेजसे दोनों समुद्रोंको व्यापता है। ऐसा तू (स्वः-जित् देवः महिषः असि) प्रकाशको प्राप्त करनेवाला देव महासामर्थ्ययुक्त है ॥ ३० ॥ ९ ॥

[आशुः विपश्चित् पतंगः व्यध्वे प्रयतः] शीघ्रगामी ज्ञानी संचालक विशेषतः मार्गमें युक्त [परस्तात् अर्वाङ्] उधरसे यहां तक [विष्णुः विचित्तः शवसा अधितिष्ठन्] व्यापक और विशेष चित्तशक्तिसे युक्त अपने बलसे अधिष्ठाता होता हुआ (केतुना एजत् विश्वं प्र सहते) प्रकाशसे गतिमान् विश्वका धारण करता है ॥ ३१ ॥

[चित्रः चिकित्वान् महिषः सुपर्णः] विलक्षण ज्ञानी समर्थ, और उत्तम गतिमान् [अन्तरिक्षं रोदसी आरोचयन्] अन्तरिक्ष, पृथिवी और द्युलोकको प्रकाशित करनेवाला सूर्य है। इसे [सूर्यं अहोरात्रे परिवसाने] सूर्यपर दिन और रात रहते हुए [अस्य विश्वा वीर्याणि प्र तिरतः] इसके सब वीर्य फैलाते हैं ॥ ३२ ॥

भावार्थ— यह एक पांववाला होनेपर भी अनेक पांववालोंसे आगे बढता है। सब अनेक पांववाले इसी एक पांववाले के आश्रयसे रहते हैं ॥ २७ ॥

यह आलस्य छोडकर सदा अपने कर्तव्यमें तत्पर रहता है। यह प्रकाश और अंधेरा उत्पन्न करता है। यह किरणोंसे सबको प्रकाशित करके उच्च स्थानमें विराजता है ॥ २८ ॥

सूर्य सबसे बडा है उसकी महिमा भी बहुत बडी है ॥ २९ ॥

यह सूर्य पृथ्वी पर अन्तरिक्ष तथा द्युलोकमें प्रकाशता है पूर्वापर और अन्तरिक्ष के दोनों समुद्रोंमें अपना प्रकाश फैलाता है। यही सबमें अधिक सामर्थ्यवाला है ॥ ३० ॥

यह शीघ्रगामी देवोंका संचालक इधर मार्गमें दूरसे यहांतक सब विश्वको अपने प्रकाशसे प्रकाशित करता है ॥ ३१ ॥

तिग्मो विभ्राजन् तन्वं१ शिशानोऽरंगमासः प्रवतो रराणः ।
ज्योतिष्मान् पक्षी महिषो वयोधा विश्वा आस्थात् प्रदिशः कल्पमानः ॥ १३ ॥
चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान् प्रदिशः सूर्य उद्यन् ।
दिवाकरोऽति द्युम्नैस्तमांसि विश्वातारीद् दुरितानि शुक्रः ॥ १४ ॥
चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ १५ ॥
उच्चा पतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम् ।
पश्याम त्वा सवितारं यमाहुरजस्रं ज्योतिर्यदविन्ददत्रिः ॥ १६ ॥

अर्थ- (तिग्मः विभ्राजन् तन्वं शिशानः) तीक्ष्ण प्रकाशवाला अपने शरीरको तीक्ष्ण करनेवाला [अरंगमासः प्रवतः रराणः] पर्याप्त गतिवाला उच्च स्थानपर रमनेवाला [ज्योतिष्मान् पक्षी महिषः वयोधाः] तेजस्वी आकाशमें संचार करनेवाला बलवान् और बल धारण करनेवाला (विश्वाः प्रदिशः कल्पमानः आस्थात्) सब दिशाओंमें सामर्थ्ययुक्त होता हुआ स्थिर रहता है ॥ १३ ॥

[देवानां केतुः चित्रं अनीकं] देवोंका ध्वज विलक्षण मुख्य आधाररूप (ज्योतिष्मान् सूर्यः प्रदिशः उद्यन्) तेजस्वी सूर्य दिशाओंमें उदित होता हुआ [शुक्रः विश्वा दुरितानि तमांसि द्युम्नैः अतारीत्] शुद्ध सूर्य सब पापरूप अंधकारोंको अपने तेजोंसे पार करता है और [दिवा करोति] दिनका प्रकाश करता है ॥ १४ ॥ [अथर्व. २० । १ । ७ । १३]

(देवानां चित्रं अनीकं मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः चक्षुः) देवोंका अद्भुत धारक बल मित्र वरुण और अग्निकी आंख (द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं आप्रात्) द्युलोक अन्तरिक्ष और पृथिवीको व्यापता है ऐसा [सूर्यः जगतः तस्थुषः च आत्मा] सूर्य जंगम और स्थावरका आत्मा है ॥ १५ ॥ [ऋ. १ । ११५ । १, वा. यजु. ७ । ४२ । १३ । ४६ अथर्व २ । १ । ७ । १४]

(उच्चा पतन्तं सुपर्णं दिवः मध्ये भ्राजमानं तरणिं) उच्च आकाशसे गमन करनेवाले पक्षी जैसे आकाशके मध्यमें तेजस्वी होकर तैरनेवाले [यं अजस्रं ज्योतिः आहुः तं सवितारं त्वा पश्याम] जिसे विशेष तेजस्वी करके कहते हैं उस तुझ सूर्यको हम देखते हैं (यत् अत्रिः अविन्दत्) जिसे भोक्ता प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

भावार्थ- यह विलक्षण सामर्थ्यवाली इस त्रिलोकीको प्रकाशित करता है। यह दिन और रातको निर्माण करके सबको पराक्रमादिको समर्पित करता है ॥ १२ ॥

यह तेजस्वी और तीखा सूर्य अपनी गतिसे युक्त और उच्च स्थानमें विराजनेवाला पक्षीके समान आकाशमें संचार करता हुआ सब दिशाओंको तेज देता हुआ ठहरा है ॥ १३ ॥

यह देवोंके आगमनकी सूचना देता है यह विचित्र अद्भुत बलसे युक्त है यह सब बलको प्राप्त होता है, तब सब स्थानका अंधेरा दूर करके सर्वत्र प्रकाश करता है ॥ १४ ॥

यह सब देवोंका बल और उनकी आंख ही है। यह अपने प्रकाशसे विश्वको भर देता है। यही सूर्य मानो सब स्थावर जंगम जगत् का आत्मा है ॥ १५ ॥

यह शीघ्रगामी पक्षीके समान आकाशमें तैरता है। इसका विलक्षण तेज है जो हम देखते हैं। जो इस तेजका स्वीकार करना चाहे उसको यह प्राप्त हो सकता है ॥ १६ ॥

दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णमदित्याः पुत्रं नाथकाम उप यामि भीतः ।
स नः सूर्य प्र तिर दीर्घमायुर्मा रिषाम सुमतौ ते स्याम ॥ ३७ ॥
सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥ ३८ ॥
रोहितः कालो अभवद् रोहितोऽग्रे प्रजापतिः ।
रोहितो यज्ञानां मुखं रोहितः स्वराभरत् ॥ ३९ ॥
रोहितो लोको अभवद् रोहितोऽत्यतपद् दिवम् ।
रोहितो रश्मिभिर्भूमिं समुद्रमनु सं चरत् ॥ ४० ॥ (१०)
सर्वा दिशः समचरद् रोहितोऽधिपतिर्दिवः ।
दिवं समुद्रमाद् भूमिं सर्वं भूतं वि रक्षति ॥ ४१ ॥

अर्थ- (दिवः पृष्ठे धावमानं सुपर्णं अदित्याः पुत्रं) द्युलोकके पीठपर दौडनेवाले पक्षीके समान अदितीके पुत्रको [नाथकामः भीतः उपयामि] नाथ की इच्छा करनेवाला भयभीत हुआ मैं शरण जाता हूं । हे सूर्य ! (नः दीर्घं आयुः प्रतिर) वह तू हमें दीर्घ आयु दे (ते सुमतौ स्याम मा रिषाम) तेरी उत्तम बुद्धिमें हम रहें और हमारा नाश न हो ॥ ३७ ॥

(हरेः हंसस्य सहस्राह्ण्यं स्वर्गं पततः अस्य पक्षौ वियतौ) हरणशील हंसके समान गतिशील हजार दिवस मार्ग पर स्थित द्युलोक पर चलनेवाले इस सूर्यके दोनों ओर किरण फैले हैं । (स सर्वान् उरसि उपदद्य) वह सब देवोंको अपनी छातीपर धारण करता हुआ (विश्वा भुवनानि सं पश्यन् याति) सब भुवनोंको देखता हुआ चलता है ॥ ३८ ॥
(अथर्व १० । ८।१८ १३।३।१४)

(रोहितः कालः अभवत्) यह सूर्य ही काल हुआ है (अग्रे रोहितः प्रजापतिः) आगे सूर्यही प्रजापालक बना है (रोहितः यज्ञानां मुखं) यही सूर्य यज्ञोंका मुख्य होकर (स्वः आभरत्) प्रकाश प्रदान करता है ॥ ३९ ॥

(रोहितः लोकः अभवत्, दिवं अतपत्) सूर्य ही सब लोक बना और द्युलोक को प्रकाशित करने लगा । (रोहितः रश्मिभिः भूमिं समुद्रं अनु सं चरत्) सूर्यही अपने किरणोंसे भूमि और समुद्रमें संचार करता है ॥ ४० ॥ (१०)

(दिवः अधिपतिः रोहितः सर्वाः दिशः समचरत्) द्युलोक का स्वामी सूर्य सब दिशाओंमें संचार करता है । (दिवं समुद्रं आत् भूमिं सर्वं भूतं वि रक्षति) द्युलोक समुद्र भूमि सब प्राणी अर्थात् सबकी यह रक्षा करता है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—आकाशके पृष्ठभागपर दौडनेवाले पक्षीके समान यह सूर्य है । मैं दुःखोंसे पीडित होकर भयभीत हुआ इसकी प्रार्थना करता हूं कि यह हमें दीर्घ आयु देवे और हमें सुरक्षित रखे ॥ ३७ ॥

इस तेजस्वी सूर्यके किरण सब ओर हजार दिवसतक प्रवास करते हुए फैलते जाते हैं । यही सब देवोंका आधार है यह सबका निरीक्षण करता हुआ चलता है ॥ ३८ ॥

यह सूर्य काल प्रजापालक यज्ञ तेज सब कुछको बनाता है, यही अपने प्रकाशसे सब जगत् को परिपूर्ण करता है ॥ ३९-४० ॥

यह द्युलोकका स्वामी सर्वत्र संचार करके सब जगत की रक्षा करता है ॥ ४१ ॥

आरोहञ्छुक्रो बृहतीरतन्द्रो द्वे रूपे कृणुते रोचमानः ।
चित्रश्चिकित्वान् महिषो वातमाया यावतो लोकानभि यद् विभाति ॥ ४२ ॥
अभ्यन्यदेति पर्यन्यदस्यतेऽहोरात्राभ्यां महिषः कल्पमानः ।
सूर्यं वयं रजसि क्षियन्तं गातुविदं हवामहे नाधमानाः ॥ ४३ ॥
पृथिवीप्रो महिषो नाधमानस्य गातुरदब्धचक्षुः परि विश्वं बभूव ।
विश्वं संपश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि ॥ ४४ ॥
पर्यस्य महिमा पृथिवीं समुद्रं ज्योतिषा विभ्राजन् परि द्यामन्तरिक्षम् ।
सर्वं संपश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि ॥ ४५ ॥
अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम् ।
यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ ॥ ४६ ॥ (११)

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ- (अतन्द्रः शुक्रः रोचमानः बृहतीः आरोहन्) आलस्यरहित बलवान् तेजस्वी सूर्य बडी दिशाओंमें आरूढ होकर (द्वे रूपे कृणुते) दो रूप बनाता है। वह (चित्रः चिकित्वान् महिषः) विलक्षण ज्ञानी और समर्थ (वातमायाः) वायुसे प्रसन्न होता है और (यत् यावतः लोकान् अभि विभाति) जितने लोक हैं उन सबको वह प्रकाशित करता है ॥ ४२ ॥

(अहोरात्राभ्यां कल्पमानः महिषः) दिन और रात्रिसे समर्थ होता हुआ वह सूर्य (अन्यत् अभि एति, अन्यत् परि अस्यते) एक भागके सम्मुख होता है और दूसरा भाग दूसरी ओर फेंका जाता है । [वयं नाधमानाः गातुविदं रजसि क्षियन्तं सूर्यं हवामहे] हम सब त्रस्त हुए मार्गदर्शक और अन्तरिक्षमें निवास करनेवाले सूर्यकी स्तुति करते हैं ॥ ४३ ॥

(महिषः पृथिवीप्रः) बलवान् पृथिवीको पूर्ण करनेवाला (नाधमानस्य गातुः अदब्धचक्षुः विश्वं परि बभूव) दुःखी मनुष्यका मार्गदर्शक जिसका आंख न दबा है ऐसा सूर्य इस विश्वपर है। वह [विश्वं संपश्यन् सुविदत्रः यजत्रः] सब विश्वको देखनेवाला ज्ञानी याजक [इदं शृणोतु यत् अहं ब्रवीमि] वह सुने जो मैं कहता हूं ॥ ४४ ॥

[अस्य महिमा पृथिवीं समुद्रं परि] इस का महिमा पृथिवी और समुद्रके चारों ओर फैला है । [ज्योतिषा विभ्राजन् द्यां अन्तरिक्षं परि] तेजसे प्रकाशता हुआ द्युलोक और अन्तरिक्ष में चारों ओर फैला है । (सर्वं संपश्यन्) सब को देखता हुआ वह ज्ञानी याजक वह सुने कि जो मैं कहता हूं ॥ ४५ ॥

[जनानां समिधा अग्निः प्रति अबोधि] जनोंकी समिधाओंसे अग्नि जाग उठा है। (धेनुं इव आयतीं उषासं) गौ जैसी उषा आनेके समय जागती है। (वयां प्र उज्जिहानाः यह्वा इव) शाखाओंके ऊपर फैलनेवाले ऊंचे वृक्षोंके समान (भानवः नाकं अच्छ प्र सिस्रते) किरण स्वर्गधामकी ओर पहुंचते हैं ॥ ४६ ॥ [११]

भावार्थ- आलस्य छोडकर समर्थ और तेजस्वी यह सूर्य सबसे ऊंचे स्थानपर आरूढ होता है। अन्धकार और प्रकाश इसीसे उत्पन्न होते हैं। जहांतक लोक हैं वहांतक इसका प्रकाश फैलता है ॥ ४२ ॥

यह सूर्य दिन और रात बनाता है जिस समय यह जिस भूभागके सम्मुख होता है वहां दिन होता है और दूसरे भूभागमें रात्रि होती है । इस अन्तरिक्ष भागमें विराजमान तेजस्वी सूर्यकी हम स्तुति करते हैं वह हमें मार्गदर्शक होवे ॥ ४३ ॥

यह सूर्य सामर्थ्यशाली है दुःखी मनुष्यको यही सुखका मार्ग बताता है । सब विश्वपर इसकी प्रभुता है। यह दर्शन दे हमें ॥ ४४ ॥

इसकी महिमा पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकमें फैली है। ॥ ४५ ॥

(३)

य इमे द्यावापृथिवी जजान यो द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते ।
यस्मिन् क्षियन्ति प्रदिशः षडुर्वीर्याः पतङ्गो अनु विचाकशीति ॥
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति ।
उद् वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान् ॥ १ ॥
यस्माद् वाता ऋतुथा पवन्ते यस्मात् समुद्रा अधि विक्षरन्ति । तस्य देवस्य ० ॥ २ ॥
यो मारयति प्राणयति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा । तस्य देवस्य ० ॥ ३ ॥
यः प्राणेन द्यावापृथिवी तर्पयत्यपानेन समुद्रस्य जठरं यः पिपर्ति । तस्य देवस्य० ॥ ४ ॥
यस्मिन् विराट् परमेष्ठी प्रजापतिरग्निर्वैश्वानरः सह पङ्क्त्या श्रितः ।
यः परस्य प्राणं परमस्य तेज आददे ॥ तस्य देवस्य ० ॥ ५ ॥

अर्थ-(यः इमे द्यावा पृथिवी जजान) जो इन दोनों द्युलोक और पृथिवी लोकको उत्पन्न करता है (यः भुवनानि द्रापिं कृत्वा वस्ते) जो सब भुवनोंको चोगा बनाकर उसमें रहता है, (यस्मिन् षड् उर्वीः प्रदिशः क्षियन्ति) जिसमें छः बडी दिशाएं निवास करती हैं (याः पतङ्गः अनु विचाकशीति) जिनको गतिमान् सूर्य प्रकाशित करता है । (यः एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति) जो एस ज्ञानी ब्राह्मणको नाश करता है, या कष्ट देता है, (एतद् आगः तस्य क्रुद्धस्य देवस्य) इसका पाप उस क्रुद्ध देवके प्रति होता है। हे (रोहित) सूर्य! उस पापीको (उद् वेपय) कम्पा दे, तथा (प्रक्षिणीहि) उसका नाश कर (ब्रह्मज्यस्य पाशान् प्रतिमुञ्च) ब्रह्मघातकीके ऊपर पाशोंको गिरा दे, अर्थात् उसे बंधनमें डाल दे ॥ १ ॥

(यस्मात् वाताः ऋतुथा पवन्ते) जिससे वायु ऋतुओंके अनुसार बहते हैं, (यस्मात् समुद्राः अधि वि क्षरन्ति) जिससे समुद्र-जलप्रवाह विविध प्रकारसे प्रवाहित होते हैं ॥ ॥ (यः मारयति प्राणयति) जो मारता है, जो जीवित रखता है (यस्मात् विश्वा भुवनानि प्राणन्ति) जिससे सब भुवन जीवित रहते हैं ॥ ॥ २-३ ॥

(यः प्राणेन द्यावापृथिवी तर्पयति) जो प्राणसे द्युलोक और भूलोकको तृप्त करता है और (यः अपानेन समुद्रस्य जठरं पिपर्ति) जो अपानसे समुद्रका पेट पूर्ण करता है ॥ ॥ (यस्मिन्) जिसमें विराट् परमेष्ठी प्रजापति अग्नि वैश्वानर (सह पङ्क्त्या श्रितः) पंक्तिके साथ आश्रय लिए हैं ॥ ॥ ४-५ ॥

भावार्थ- जनताने जो समिधायें डाली थीं उनसे यह अग्नि प्रदीप्त हुआ है। जैसी भी प्रज्वालक सामग्री है वैसा यह अग्नि भड़क उठा है। जैसे पक्षी अपनी शाखाओंके ऊपर आश्रयमें बैठते हैं वैसेही अग्निकी ज्वालाएं सीधी ऊपर जाती हैं और प्रकाशसे फैलाती हैं ॥ ४६ ॥

द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥

जिस परमात्माने यह संपूर्ण जगत् निर्माण किया है और जो उसके अन्दर व्यापकर रहता है जिसके अन्दर वे सूर्यसे प्रकाशित होनेवाली छः दिशा और उपदिशाएं रहती हैं वह विश्वाधिपति परमात्मा उसपर बडा क्रुद्ध होता है जो ज्ञानी मनुष्यको कष्ट देता है, उसका घातपात करता है पीडन करता है और अन्तमें बंधनमें डाल देता है ॥ १ ॥

यस्मिन् षडुर्वीः पञ्च दिशो अधि श्रिताश्चतस्र आपो यज्ञस्य त्रयोऽक्षराः।
यो अन्तरा रोदसी क्रुद्धश्चक्षुषैक्षत ॥ तस्य देवस्य ० ॥ ६ ॥
यो अन्नादो अन्नपतिर्बभूव ब्रह्मणस्पतिरुत यः।
भूतो भविष्यद् भुवनस्य यस्पतिः ॥ तस्य देवस्य ० ॥ ७ ॥
अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते ॥ तस्य देवस्य० ॥ ८ ॥
कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत् पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्य ॥ तस्य देवस्य० ॥ ९ ॥
यत् ते चन्द्रं कश्यप रोचनावद् यत् संहितं पुष्कलं चित्रभानु।
यस्मिन्त्सूर्या आर्पिताः सप्त साकम् ॥ तस्य देवस्य० ॥ १० ॥ (११)
बृहदेनमनु वस्ते पुरस्ताद् रथन्तरं प्रति गृह्णाति पश्चात्।
ज्योतिर्वसाने सदमप्रमादम् ॥ तस्य देवस्य० ॥ ११ ॥

अर्थ- (यस्मिन् षट् उर्वीः पञ्च दिशः अधिश्रिताः) जिसमें छः तथा पांच बडी दिशाएं आश्रित हुई हैं तथा जिसमें (चतस्रः आपः यज्ञस्य त्रयः अक्षराः) चार प्रकारके जल और यज्ञके तीन अक्षर हैं (यः अन्तरा क्रुद्धः चक्षुषा रोदसी ऐक्षत) जो अन्दरसे क्रुद्ध होकर आंखसे द्युलोक और भूलोकको देखता है ॥ ॥ ६ ॥

(यः अन्नादः अन्नपतिः उत यः ब्रह्मणस्पतिः बभूव) जो अन्नभक्षक अन्नका स्वामी और ज्ञानका स्वामी बना है तथा (यः भुवनस्य पतिः भूतः भविष्यत्) जो जगत् का स्वामी था और रहेगा ॥ ॥ [यः अहोरात्रैः विमितं त्रिंशदङ्गं] जो दिन और रात्रीके तीस दिनोंका बना एक महिना देके (त्रयोदशं मासं यः निर्मिमीते) तेरह महिने को निर्माण करता है ॥ ॥ ७-८ ॥

(अपः वसानाः सुपर्णाः हरयः) जलका धारण करनेवाले उत्तम गतिमान् सूर्यकिरण (कृष्णं नियानं दिवं उत्पतन्ति) कृष्ण वर्ण या नीलवर्णवाले सबके स्थानरूप द्युलोक के प्रति चलते हैं [ते ऋतस्य सदनात् आववृत्रन्] वे किरण अपने स्थानसे पुनः पुनः लौटते हैं ॥ ॥ हे [कश्यप] देखनेवाले देव ! (यत् ते चन्द्रं रोचनावत् पुष्कलं संहितं चित्रभानु) जो तेरा आनन्दकारी प्रकाशमय बहुत इकट्ठा हुआ विचित्र तेज है (यस्मिन् सप्त सूर्याः साकं आर्पिताः) इसमें सात सूर्य साथ साथ रहते हैं ॥ ॥ ९-१० ॥

[बृहत् एनं पुरस्तात् अनुवस्ते] बृहत् साम इसके सामने होता है और (रथन्तरं पश्चात् प्रतिगृह्णाति) रथन्तर साम पीछेसे इसका ग्रहण करता है ॥ ॥ (बृहत् अन्यतः पक्ष आसीत्) बृहत् सामका एक पक्ष है और [रथन्तर

भावार्थ- जिसकी प्रेरणासे वायु और जलप्रवाह चल रहे हैं। जो सबको मारता तथा जीवित करता है, जिसकी जीवनशक्तिसे सब प्राणिमात्र जीवित रहते हैं ॥ जो प्राणसे पापाणुओंको दूर करके अपानसे समुद्रको परिपूर्ण करता है जिसमें अग्नि आदि सब देव पंक्ति बांधकर रहते हैं जिसमें सब दिशाएं, सब जलप्रवाह, यज्ञके सब विभिन्नांग आश्रित हुए हैं, जो क्रुद्ध होकर अपने आंखसे सबका निरीक्षण करता है ॥ १-६ ॥

जो एक मात्र सबका भक्षक है तथापि जो अन्न और ज्ञान सबको देता है जो सबका एक मात्र स्वामी था है और होगा, जो दिन रात महिना और वर्षकी कालचक्र निर्माण करता है जिसके किरण पृथ्वीसे जल लेकर आकाशमें जाते हैं और वहां मेघमंडलमें वारंवार प्रकाशित होते हैं जिसका प्रकाश एकत्रित होकर सबको प्रकाशित करता है और जिसमें ये सब सूर्य रहते हैं ॥ ७-१ ॥

बृहदन्यतः पक्ष आसीद् रथन्तरमन्यतः सबले सध्रीची ।
यद् रोहितमजनयन्त देवाः ॥ तस्य देवस्य० ॥ १२ ॥
स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन् ।
स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् ॥
तस्य देवस्य० ॥ १३ ॥
सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥ तस्य देवस्य० ॥ १४ ॥
अयं स देवो अप्स्वन्तः सहस्रमूलः पुरुशाको अत्त्रिः ।
य इदं विश्वं भुवनं जजान ॥ तस्य देवस्य० ॥ १५ ॥
शुक्रं वहन्ति हरयो रघुष्यदो देवं दिवि वर्चसा भ्राजमानम् ।
यस्योर्ध्वा दिवं तन्वस्तपन्त्यर्वाङ् सुवर्णैः पटरैर्वि भाति ॥ तस्य देवस्य० ॥ १६ ॥
येनादित्यान् हरितः संवहन्ति येन यज्ञेन बहवो यन्ति प्रजानन्तः ।
यदेकं ज्योतिर्बहुधा विभाति ॥ तस्य देवस्य० ॥ १७ ॥

अन्यतः] रथन्तर सामका दूसरा पक्ष है [सबले सध्रीची] ये दोनों बलवान् तथा साथ रहनेवाले पक्ष हैं। [यद् रोहितं देवाः अजनयन्त] जहां देवोंने रोहित सूर्यको निर्माण किया ॥ ॥ ११-१२ ॥

[सः वरुणः सायं अग्निः भवति] वह वरुण है परंतु वह सायंकाल अग्नि होता है [सः प्रातः उद्यन् मित्रः भवति] वह सबेरे उदय होनेके समय मित्र कहलाता है। [सः सविता भूत्वा अन्तरिक्षेण याति] वही सविता बनकर अन्तरिक्षमें संचार करता है [सः इन्द्रः भूत्वा मध्यतः दिवं तपति] वह इन्द्र होकर द्युलोकके मध्यमें तपता है॥ ॥ १३ ॥

[अर्थ देखो अथर्व १।८।१८;१३।२।३८] ॥ ॥ १४ ॥

[यः इदं विश्वं भुवनं जजान] जिसने यह सब जगत् निर्माण किया [अयं सः देवः सहस्रमूलः पुरुशाखः अत्त्रिः अप्सु अन्तः] वह देव यही है जिसके हजारों मूल और शाखाएं हैं और जो सबका भक्षक है वह जलोंमें है॥ ॥ १५ ॥

(वर्चसा भ्राजमानं शुक्रं देवं) तेजसे चमकनेवाले पवित्र देवको (रघुष्यदः हरयः दिवि वहन्ति) गतिमान् किरण द्युलोकमें चलाते हैं। (यस्य ऊर्ध्वाः तन्वः दिवं तपन्ति) जिसके ऊपरके भाग सूर्यलोकको तपाते हैं और (अर्वाङ् सुवर्णैः पटरैः विभाति) इस ओर उत्तम रंगवाले तेजोंसे वह चमकता है॥ ॥ (येन हरितः आदित्यान् सं वहन्ति) जिसके साथ किरण सूर्योंको चलाते हैं (येन यज्ञेन प्रजानन्तः बहवः यन्ति) जिस यज्ञके साथ बहुत ज्ञानी जाते हैं, (यत् एकं ज्योतिः बहुधा विभाति) जो एक तेज अनेक प्रकारसे प्रकाशता है॥ ॥ १६—१७ ॥

भावार्थ- बृहत् और रथन्तर साम इसके आगेपीछे के पक्ष हैं। ये दोनों बड़े प्रबल पक्ष हैं इनका गान होता है तब सूर्य देव उदयको प्राप्त होते हैं। वही वरुण अग्नि मित्र सविता और इन्द्र क्रमशः सायं प्रातः द्वितीय प्रहर और मध्य दिनमें कहलाता है। (मंत्र १४ का भावार्थ १३।२।३८ में देखो) जिसने यह जगत् निर्माण किया वह देव यही है जिसके मूल और शाखाएं हजारों हैं, वह जलोंमें विराजमान है॥ ११-१५ ॥

तेजस्वी सूर्यको द्युलोकमें किरण प्रकाशित करते हैं। इसके ऊपरके किरण द्युलोकको प्रकाशित करते हैं और इस ओरके किरण इस प्रकार प्रकाश देते हैं। एकत्वस्थाके सूर्यरथको सात किरण प्रकाशित करते हैं। एक ही ये सात भाग हैं। इसका यह

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥ तस्य देवस्य० ॥ १८ ॥
अष्टधा युक्तो वहति वह्निरुग्रः पिता देवानां जनिता मतीनाम्।
ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः सर्वा दिशः पवते मातरिश्वा॥ तस्य देवस्य ॥ १९ ॥
सम्यञ्चं तन्तुं प्रदिशोऽनु सर्वा अन्तर्गायत्र्याममृतस्य गर्भे। तस्य देवस्य० ॥२०॥(१३)
निम्रुचस्तिस्रो व्युषो ह तिस्रस्त्रीणि रजांसि दिवो अङ्ग तिस्रः।
विद्मा ते अग्ने त्रेधा जनित्रं त्रेधा देवानां जनिमानि विद्म॥ तस्य देवस्य० ॥ २१ ॥
वि य और्णोत् पृथिवीं जायमान आ समुद्रमदधादन्तरिक्षे। तस्य देवस्य० ॥ २२ ॥
त्वमग्ने क्रतुभिः केतुभिर्हितोऽर्कः समिद्ध उदरोचथा दिवि।
किमभ्यार्चन्मरुतः पृश्निमातरो यद् रोहितमजनयन्त देवाः। तस्य देवस्य० ॥ २३ ॥

अर्थ- [एकचक्र रथं सप्त युञ्जन्ति] एक चक्रवाले रथको सात अश्व-किरण-जोडे हैं। [सप्तनामा एकः अश्वः वहति] सात नामवाला एक अश्व उसको चलाता है। इसका [त्रिनाभि अजरं अनर्वं चक्रं] तीन केन्द्रोंवाला जरा रहित और अरहित यह चक्र है (यत्र इमा विश्वा भुवना अधि तस्थुः) जहां ये सब भुवन ठहरे हैं। ॥ १८ ॥ [अ० ॥१३॥ अथर्व ९।९।२]

(देवानां पिता मतीनां जनिता) देवोंका पालक और बुद्धियोंका उत्पादक (उग्रः वह्निः अष्टधा युक्तः वहति) उग्र अग्नि आठ प्रकारसे युक्त होकर चलता है। [ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः] यज्ञके धागेको मनसे मापता हुआ (मातरिश्वा सर्वाः दिशः पवते) अंतरिक्षमें विचरण करनेवाला सब दिशाओंमें गति करता है॥ ॥ १९ ॥

(सम्यञ्चं तन्तुं सर्वाः प्रदिशः अनु) इस सीधे यज्ञके धागेको सब दिशाओंके अनुसार (गायत्र्यां अन्तः अमृतस्य गर्भे) गायत्रीके अंदर अमृतके गर्भमें देखते हैं। ॥ २० ॥

(तिस्रः निम्रुचः तिस्रः व्युषः) तीन अस्त और तीन उदय काल हैं। हे (अंग) प्रिय! (त्रीणि रजांसि तिस्रः दिवः) तीन अन्तरिक्ष और तीन द्युलोक हैं। हे अग्ने! (ते त्रेधा जनित्रं विद्म) तेरा तीन प्रकारका जन्म हम जानते हैं। तथा (देवानां त्रेधा जनिमानि विद्म) देवोंके तीन जन्म हम जानते हैं॥ ॥ (यः जायमानः पृथिवीं वि और्णोत्) जो जन्मते ही पृथ्वीको आच्छादित करता है (अन्तरिक्षे समुद्रं आ अदधात्) अन्तरिक्षमें समुद्रको धारण करता है॥ ॥ २१—२२ ॥

हे अग्ने! [त्वं क्रतुभिः अर्कः केतुभिः हितः] तू यज्ञोंसे और सूर्य किरणोंसे युक्त है तू (समिद्धः दिवि उत् अरोचथाः) प्रदीप्त होकर द्युलोकमें प्रकाशता है। (मरुतः पृश्निमातरः किं अभ्यार्चन्) भूमिको माता माननेवाले मरुत् तब उसकी अर्चना करने लगे कि (यत् देवाः रोहितं अजनयन्त) जिस समय देवोंने सूर्यको प्रकट किया॥ ॥ २३ ॥

अजर अमर है और इसीके आधारसे सब भुवन रहते हैं। यह सब देवोंका और बुद्धियोंका उत्पादक और पालक है। यह उग्र अग्नि है और आठ प्रकारका होकर प्रकाशता है। इसीसे यज्ञका धागा फैलाया जाता है। यह अन्तरिक्षमें रहकर सर्वत्र प्रकाशित होता है। यह यज्ञका तन्तु सब दिशाओंमें फैल रहा है यह गायत्रीमें अमृतके केन्द्रमें है॥ १९-२०॥

अस्त उदय तथा द्यु, अन्तरिक्ष ये सब तीन हैं। अग्निका जन्म तीन प्रकारका है। जन्मतेही पृथ्वीको प्रकाशित करता और अन्तरिक्षमें जलोंको भरता है। अग्नि यज्ञोंके साथ और सूर्यकिरणोंके साथ प्रकाशित होता है। अर्थात् अग्नि यहां और [illegible] प्रकाशता है। जब देवोंके द्वारा सूर्यका उदय हुआ तब वायु भी यह रहे थे॥ २१-२३॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः ॥ तस्य देवस्य॰ ॥ २४ ॥
एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
चतुष्पाच्चक्रे द्विपदामभिस्वरे संपश्यन् पङ्क्तिमुपतिष्ठमानः तस्य देवस्य ॥
क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति ।
उद् वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान् ॥ २५ ॥
कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो राम्या वत्सोऽजायत ।
स ह द्यामधि रोहति रुहो रुरोह रोहितः ॥ २६ ॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ— [य आत्मदा बलदा यस्य प्रशिषं विश्वे देवाः उपासते] जो आत्मिक बल देनेवाला और शक्ति देनेवाला है जिसकी आज्ञाका पालन सब देव करते हैं (यः अस्य द्विपदः चतुष्पदः ईशे) जो इस द्विपाद और चतुष्पादका स्वामी है ॥ २४ ॥

(एकपाद् द्विपदः भूयः विचक्रमे) एक पाँववाला दो पाँववालेसे अधिक दौडता है (द्विपाद् त्रिपादं पश्चात् अभ्येति) दो पाँववाला तीन पाँववालेके पीछेसे चलता है। (अथर्व १३ । २ । १०) (चतुष्पाद् द्विपदां अभिस्वरे पंक्तिं संपश्यन् उपतिष्ठमानः चक्रे) चार पाँववाला दो पाँववालोंकी पुकारमें रहनेवालोंकी पंक्तिको देखता हुआ और उनकी सेवा करता है। (तस्य देवस्य) इस देवके प्रति यह पाप होता है कि जो ज्ञानी ब्राह्मणको नाश करनेसे होता है। उस पापकर्मसे यह कंपाता क्षीण करता और बंधनमें डालता है ॥ २५ ॥ (अ. १ । ११० । ४)

(कृष्णायाः राम्याः पुत्रः वत्सः अर्जुनः अजायत) काले वर्णवाली रात्रिका पुत्र वत्स प्रकाशमान सूर्य हुआ है। [सः रोहितः रुहः रुरोह] यह लाल रंगवाला सब चढनेवालोंके ऊपर चढा है वही (ह द्यां रोहति) निश्चयसे द्युलोक पर चढता है ॥ २६ ॥ (१४)

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

भावार्थ- आत्मिक और शारीरिक बल देनेवाला देव है उसकी आज्ञा सब मानते हैं सब द्विपाद चतुष्पाद उसीके आश्रयमें रहते हैं ॥ २४ ॥

यह देव एकपादस्वरूप होनेपर भी अनेक पाँववालोंसे आगे बढता है। यह सबकी पूजा स्वीकारता हुआ सबको पंक्तिमें रखकर उपासक बनाता है। इस देवताका अपराध वह करता है कि जो ज्ञानी ब्राह्मणको सताता है। यह इस अपराधीको कंपाता क्षीण करता और बंधनमें डालता है ॥ २५ ॥

रात्री अतीत होकर दिन हुआ और सूर्य वत्स सा हुआ है। यह उदय होते ही सबके ऊपर चढके आया और आकाशमें द्युलोकमें विराजमान होकर प्रकाशने लगा है ॥ २६ ॥

तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥

(४)

[१] स एति सविता स्वर्दिवस्पृष्ठेऽवचाकशत् ॥ १ ॥
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥ २ ॥
स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम् ।० ॥ ३ ॥
सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ।० ॥ ४ ॥
सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः ।० ॥ ५ ॥
तं वत्सा उप तिष्ठन्त्येकशीर्षाणो युता दश ० । ॥ ६ ॥
पश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति वि भासति ।० ॥ ७ ॥
तस्यैष मारुतो गणः स एति शिक्याकृतः ॥ ८ ॥
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥ ९ ॥
तस्येमे नव कोशा विष्टम्भा नवधा हिताः ॥ १० ॥
स प्रजाभ्यो वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न ॥ ११ ॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥ १२ ॥
एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥ १३ ॥

अर्थ- (१) (स्वः सविता दिवः पृष्ठे अवचाकशत् सः एति) यह सूर्य द्युलोकके पृष्ठभागपर प्रकाशता है और अपने तेजको प्राप्त करता है ॥ १ ॥ उसने अपने (रश्मिभिः नभः आभृतं) किरणोंसे आकाशको भरपूर कर दिया। वह (महेन्द्रः आवृतः एति) बडा इन्द्र तेजसे आवृत होकर चलता है ॥ २ ॥ (सः धाता) वह धाता विधाता और वही (वायुः) वायु है जिसने (नभः उच्छ्रितं) आकाश ऊंचा बनाया है ॥ ३ ॥

वह अर्यमा वरुण रुद्र और महादेव है ॥ ४ ॥ वह अग्नि सूर्य और महायम भी वही है ॥ ५ ॥ [तं एकशीर्षाणः दश वत्साः युताः उपतिष्ठन्ति) उसके साथ एक मस्तकवाले दस बछडे संयुक्त होकर रहते हैं ॥ ६ ॥

(पश्चात् प्राञ्चः आ तन्वन्ति) पीछेसे पूर्व दिशामें तेज फैलाता है (यत् उदेति विभासति) जो उदय होता और प्रकाशता है ॥ ७ ॥

(तस्य च एष मारुतः गणः शिक्याकृतः एति) उसके साथ यह वायु गण छिक्केमें रखेके समान चलता है ॥ ८ ॥ उसने किरणोंसे आकाश व्याप्त किया है वह महा इन्द्र तेजसे आवृत होकर चलता है ॥ ९ ॥ [तस्य इमे नव कोशाः विष्टम्भाः नवधा हिताः] उसके ये नौ कोश विविध रूपसे नौ प्रकार रखे हैं ॥ १० ॥

(सः प्रजाभ्यः विपश्यति यत् च प्राणिति यत् च न) वह प्रजाओंको देखता है जो प्राणधारण करते हैं और जो नहीं करते ॥ ११ ॥ (तं इदं निगतं सहः) यह वह इकट्ठा हुआ सामर्थ्य है। (सः एषः एकः एकवृत् एक एव) यह वह एक है एकमात्र व्यापक देव केवल एक ही है ॥ १२ ॥

(एते देवाः अस्मिन् एकवृतः भवन्ति) ये सब देव इसमें एकरूप होते हैं। १३ ॥ [१५]

(५)

(२) कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च ॥ १४ ॥
य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ १५ ॥
न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ।० ॥ १६ ॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ।० ॥ १७ ॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ।० ॥ १८ ॥
स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न । ॥ १९ ॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ।० ॥ २० ॥
सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ।० ॥ २१ ॥ (१६)

(६)

(३) ब्रह्म च तपश्च कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च ॥ २२ ॥
भूतं च भव्यं च श्रद्धा च रुचिश्च स्वर्गश्च स्वधा च ॥ २३ ॥
य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ २४ ॥
स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं१ स रक्षः ॥ २५ ॥
स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके वषट्कारोऽनु संहितः ॥ २६ ॥
तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते ॥ २७ ॥
तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह ॥२८॥(१७)

अर्थ—[१][यः एतं देवं एकवृतं वेद] जो इस देवको एकमात्र एक जानता है उसे कीर्ति यश,[अम्भः] जल,(नभः) अवकाश और (ब्राह्मणवर्चस) ब्रह्मतेज अन्न और (अन्नाद्य) खानपानके सब भोग प्राप्त होते हैं ॥ १४–१५ ॥ वह द्वितीय तृतीय चतुर्थ पंचम षष्ठ सप्तम अष्टम नवम दशम है (न अपि उच्यते) ऐसा नहीं कहा जाता है ॥१६–१८॥

[स सर्वस्मै विपश्यति यत् च प्राणिति यत् च न] वह सबको देखता है जो जीवित है और जो नहीं ॥ १९ ॥ [तं इदं] यह सब इकट्ठा हुआ सामर्थ्य है वह एक है एकमात्र व्यापक देव केवल एकही है। ये सब देव इसमें एक रूप होते हैं ॥ २०–२१ ॥

(२) (ब्रह्म) ज्ञान तप कीर्ति यश (अंभः नभः) जल अवकाश ब्रह्मतेज अन्न और खानपानके पदार्थ भूत भविष्य श्रद्धा (रुचि) तेज, कान्ति स्वर्ग और स्वधा उसे प्राप्त होती है जो (य एतं देवं एकवृतं वेद) इस देवको एक मात्र व्यापक देव जानता है ॥ २२–२४ ॥ (१६)

वही मृत्यु है वही अमृत है वह (अभ्वं) महान् है और वही (रक्षः) रक्षक अथवा राक्षस है ॥ २५ ॥ वह रुद्र (वसुदेये वसुवनिः नमो वाके अनुसंहितः वषट्कारः) धनदानके समय धन प्राप्त करनेवाला है और वही नमस्कार वचनमें उत्तम रीतिसे बोला गया वषट्कार है ॥ २६ ॥ [तस्य प्रशिषं इमे सर्वे यातवः उप आसते] उसकी आज्ञामें ये सब राक्षस रहते हैं ॥ २७ ॥ (तस्य वशे अमू सर्वा नक्षत्रा चन्द्रमसा सह) उसके वशमें ये सब नक्षत्र चन्द्रमाके साथ रहते हैं ॥ २८ ॥ (१७)

(७)

(४) स वा अह्नोऽजायत तस्मादहरजायत ॥ २९ ॥
स वै रात्र्या अजायत तस्माद् रात्रिरजायत ॥ ३० ॥
स वा अन्तरिक्षादजायत तस्मादन्तरिक्षमजायत ॥ ३१ ॥
स वै वायोरजायत तस्माद् वायुरजायत ॥ ३२ ॥
स वै दिवोऽजायत तस्माद् द्यौरध्यजायत ॥ ३३ ॥
स वै दिग्भ्योऽजायत तस्माद् दिशोऽजायन्त ॥ ३४ ॥
स वै भूमेरजायत तस्माद् भूमिरजायत ॥ ३५ ॥
स वा अग्नेरजायत तस्मादग्निरजायत ॥ ३६ ॥
स वा अद्भ्योऽजायत तस्मादापोऽजायन्त ॥ ३७ ॥
स वा ऋग्भ्योऽजायत तस्मादृचोऽजायन्त ॥ ३८ ॥
स वै यज्ञादजायत तस्माद् यज्ञोऽजायत ॥ ३९ ॥
स यज्ञस्तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम् ॥ ४० ॥
स स्तनयति स वि द्योतते स उ अश्मानमस्यति ॥ ४१ ॥
पापाय वा भद्राय वा पुरुषायासुराय वा ॥ ४२ ॥
यद् वा कृणोष्योषधीर्यद् वा वर्षसि भद्रया यद् वा जन्यमवीवृधः ॥ ४३ ॥
तावांस्ते मघवन् महिमोपो ते तन्वः शतम् ॥ ४४ ॥
उपो ते बध्वे बद्धानि यदि वासि न्यर्बुदम् ॥ ४५ ॥ (१८)

अर्थ— (७) (सः वै अह्नः रात्र्याः अन्तरिक्षात् वायोः दिवः दिग्भ्यः भूमेः, अग्नेः, अद्भ्यः ऋग्भ्यः, यज्ञात् अजायत) वह निश्चयसे दिन रात्रि अन्तरिक्ष वायु द्यु दिशा भूमि अग्नि जल ऋचा यज्ञसे हुआ। वैसाही (तस्मात् अहः, रात्रिः अन्तरिक्षं वायुः द्यौः दिशः भूमिः अग्निः आपः ऋचः यज्ञः (अजायत) उससे दिन रात्री अन्तरिक्ष वायु द्यु दिशा भूमि अग्नि जल ऋचा और यज्ञ हुआ ॥ २९-३९ ॥

(सः यज्ञः तस्य यज्ञः) वह यज्ञ है उसीका यज्ञ है। (सः यज्ञस्य शिरस्कृतम्) वह यज्ञका सिर बनाया है ॥ ४० ॥ (सः स्तनयति स विद्योतते) वह गर्जता है वह चमकता है (सः उ अश्मानं अस्यति) वह पत्थर (ओले) फेंकता है ॥ ४१ ॥ (पापाय वा भद्राय वा पुरुषाय वा असुराय वा) पापीके लिए उत्तम पुरुषके लिए [illegible] पुरुषके लिये ॥ ४२ ॥ (यत् वा ओषधीः कृणोषि यत् वा वर्षसि) जो ओषधियां निर्माण करता है जो वर्षा करता है (भद्रया यत् वा जन्यं अवीवृधः) उत्तम कल्याण बुद्धिसे जो तू जन्म हुए को बढाता है ॥ ४३ ॥ हे (मघवन्) इन्द्र ! (तावान् ते महिमा) वह तेरा महिमा है (उपो ते तन्वः शतम्) ये सब तेरे सैकडों शरीर हैं ॥ ४४ ॥ [उपो ते बध्वे बद्धानि] ये सब तेरे [illegible] बंध हैं, [यदि वा न्यर्बुदं असि] और तू [illegible] है ॥ ४५ ॥ [१८]

(८)

(५) भूयानिन्द्रो नमुराद् भूयानिन्द्रासि मृत्युभ्यः ॥ ४६ ॥
भूयानरात्याः शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ॥ ४७ ॥
नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥ ४८ ॥
अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ४९ ॥
अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम् ।०।० ॥ ५० ॥
अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम् ।०।० ॥ ५१ ० (१९)

(९)

(६) उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम् ।०।० ॥ ५२ ॥
प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम् ।०।० ॥ ५३ ॥
भवद्वसुरिदद्वसुः संयद्वसुरायद्वसुरिति त्वोपास्महे वयम् ॥ ५४ ॥
नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥ ५५ ॥
अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ५६ ॥(२०)

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

॥ त्रयोदशं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ- [५] [नमुरात् इन्द्रः भूयान्] अमरसे भी इन्द्र बड़ा है [इन्द्र मृत्युभ्यः भूयान् असि] हे इन्द्र तू मृत्युओंसे भी बड़ा है ॥ ४६ ॥ [इन्द्र अरात्याः भूयान्] हे प्रभो! शत्रुओंसे भी तू बड़ा है [त्वं शच्याः पतिः असि] तू शक्तिका स्वामी है। [विभूः प्रभूः इति त्वा वयं उपास्महे] तू व्यापक और स्वामी है, ऐसी हम तेरी उपासना करते हैं ॥ ४७ ॥

[पश्यत नमस्ते अस्तु] हे दर्शनीय तेरे लिये नमस्कार है। [पश्यत मा पश्य] हे दर्शक! तू मुझे देख ॥४८॥ [अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन] धान्यादि यश तेज और ब्राह्मवर्चसके साथ मुझे युक्त कर ॥ ४९ ॥ [अम्भः अमः महः सहः इति वयं त्वा उपास्महे] जल जीवन महत्ता और बल रूपसे तेरी हम उपासना करते हैं ॥ ५० ॥ [अम्भः अरुणं रजं रजतं सहः इति त्वा वयं उपास्महे] जल लाल रज और बल सामर्थ्यरूप तेरी हम उपासना करते हैं ॥ ५१ ॥ [१९]

[६] [उरुः पृथुः सुभूः भुवः इति त्वा वयं उपास्महे] महान् विस्तृत उत्तम होनेवाला प्राणयुक्त तुझकी ही हम उपासना करते हैं ॥ ५२ ॥

[प्रथः वरः व्यचः लोकः इति त्वा वयं उपास्महे] विस्तृत श्रेष्ठ, व्यापक और स्थानरूप तुझी की हम उपासना करते हैं ॥ ५३ ॥ [भवद्वसुः इदद्वसुः आयद्वसुः इति त्वा वयं उपास्महे] धनयुक्त, इस समय युक्त सब धनोंको इकट्ठा करनेवाला सब धनोंको प्राप्त करनेवाला मानकर तुझी हम उपासना कर रहे हैं ॥ ५४ ॥ [पश्यत ते नमः अस्तु] हे दर्शनीय! तेरे लिये नमस्कार हो [मा पश्य] मुझे देख ॥ ५५ ॥ [अन्नाद्येन] धान्यादि यश तेज और ब्रह्मवर्चससे मुझे युक्त कर ॥ ५६ ॥ [२०]

भावार्थ-यही एक धाता विधाता अग्नि वायु रुद्र महादेव आदि है। सब अन्य देवता इसके अंदर हैं। यह एक है, निःसन्देह केवल एक है। जो इसको एक जानता है वही तेजस्वी, वर्चस्वी और अन्नपानादि भोगसे युक्त होता है। उसीसे सब उत्पन्न हुए हैं और सब पदार्थोंमें वही विद्यमान है। वह भी उसीसे मुक्त और यज्ञमें यही रहता है। यह बुरे और भलेके लिए सब वनस्पतियां बनाता है। यही सब इसकी ही महिमा है इसके सैकडों हजारों करोडों अरबों शरीर हैं। यह अणुसे और मृत्युसे भी महान् है। सब शक्तियां इसीकी हैं, अतः शक्तियोंकी उपस्थिति उसमें है ऐसी उपासना उसी देवकी सबको करना उचित है ॥ १-५६ ॥

तेरहवां काण्ड समाप्त।

अथर्ववेदके तेरहवें काण्डका मनन।

रोहित देवता।

अथर्ववेदके तेरहवें काण्डका देवता रोहित है, यह रोहित का स्वरूप क्या है, इसका सबसे प्रथम मनन करना आवश्यक है। इस देवताके विषयमें अथर्ववेदकी सर्वानुक्रमणी में ये निर्देश हैं—

उदेहि वाजिन्निति काण्डं अध्यात्मकं रोहितादित्यदैवत्यम् आनुष्टुभम् ॥ अथर्व० बृ० स० १३।१

इस तेरहवें काण्डका देवता अध्यात्म रोहित आदित्य है।" यहां आदित्य शब्द है कि जो देवताका विषय समझनेमें सहायक हो सकता है। आदित्यका अर्थ सूर्य है। इस संपूर्ण काण्डका विचार करनेसे पता लगता है कि यहां सूर्य ही देवता प्रामुख्यसे वर्णित हुई है। इस विषयके सूचक मंत्रभाग ये हैं—

रोहित सूर्य।

अनुव्रता रोहिणी रोहितस्य। १।२२

इदं सदो रोहिणी रोहितस्य। १।२३

रोहिणी नक्षत्र यह रोहितका घर है और यह रोहिणी रोहित का अनुसरती है।" यहां आकाशस्थ रोहितका वर्णन है, अतः यह सूर्यपरक है। द्वितीय सूक्तके १४ मंत्र साक्षात् सूर्यपरक हैं और २५ वें मंत्रमें यह तपस्वी रोहित द्युलोकपर चढता है ऐसा कहा है अतः यहां रोहित शब्द पूर्वोक्त सूर्यके लिये ही है।

रोहितः कालो अभवत्। २।३९

यहां रोहित काल अर्थात् समय है ऐसा कहा है। सूर्यसे काल होता है यह प्रत्यक्ष अनुभव है क्योंकि दिनरात सूर्यसे होते हैं और अन्यत्र सूर्यका 'काल' नाम आता है। आगे

रोहितो यज्ञानां मुखम्। २।३९

रोहित यज्ञोंका मुख है। ऐसा कहा है यह सूर्य ही है क्योंकि सूर्योदय होनेसे यज्ञका प्रारंभ होता है। आगे—

रोहितोऽत्यतपद्दिवम् ॥ ३।१०

"रोहित द्युलोकपर तपता है। यह वर्णन सूर्यका स्पष्ट ही है। और इसमें तपनेका वर्णन सूर्यका ही है क्योंकि सूर्यके अतिरिक्त तपनेवाला दूसरा कोई तेजस्वी पदार्थ इस जगत् में नहीं है। आगे तृतीय सूक्तके अन्तिम मंत्रमें-

कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वत्सोऽजायत।

स ह द्यामधि रोहति रुहो रुरोह रोहितः ॥ (३।२६)

'कृष्ण वर्णवाली रात्रिका पुत्र श्वेत रंगवाला हुआ। वह रोहित बढता हुआ द्युलोकपर चढा।' इस वर्णन में तो स्पष्टही रोहित नाम सूर्यके लिये आया है। रात्रीका पुत्र सूर्य निःसन्देह है क्योंकि रात्रिके उदरमें वह जन्मता है ऐसा आलंकारिक वर्णन अन्यत्र वेदमें भी है।

इस तरह इन सूक्तमें रोहित शब्दसे सूर्यका वर्णन मुख्यतया है ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है। तथापि अग्निका भी निर्देश इन रोहित सूक्तमें है-

रोहित-अग्नि।

रोहितो यज्ञस्य जनिता। (१।१३)

'रोहित यज्ञका उत्पादक है।' अग्नि ही यज्ञका उत्पादक है यह बात सिद्ध करनेके लिए अन्य प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है। यद्यपि सूर्योदयके पश्चात् यज्ञ होते हैं इसलिए सूर्य भी यज्ञका उत्पादक माना जा सकता है और वैसा वह है भी, परंतु साक्षात् अग्निमें आहुतियां दीजाती हैं इस कारण अग्नि भी यज्ञका उत्पादक है। यही बात अन्य शब्दोंसे कही है-

रोहितो यज्ञं व्यदधात्। (१।१४)

रोहित यज्ञको बनाता है यह अग्नि है इसलिए यज्ञको बना सकता है। अस्तु। इस तरह रोहित नाम अग्निका भी है। अर्थात् रोहित शब्द द्वारा जैसी अग्निकी वैसी सूर्यकी भी कल्पना इन सूक्तोंमें स्पष्ट है। कोई इसका इन्कार कर नहीं सकता। इन सूक्तों के मंत्र देखनेसे कई मंत्र स्पष्ट सूर्यपरक हैं ऐसा दीखता है कई अग्निपरक हैं यह बात भी स्पष्ट है कई दोनोंके समानपरक हो सकते हैं। यह क्या बात है ? सूक्त पढते पढते बीच बीचमें अग्निके और सूर्यके मंत्र मिलजुलकर आते हैं यह बात पढनेवालेके ध्यानमें आ सकती है। ऐसा क्यों है इसका विचार करना आवश्यक है।

वेदमें आग्नेय पदार्थोंका मुख्य केन्द्र सूर्य माना है। अतः भी पृथ्वीपर जो अग्नि है वह सूर्यका पोता है। विद्युत् सूर्यका पुत्र है और विद्युत्का पुत्र अग्नि है अतः आलंकारिक भाषामें सूर्यका पोता अग्नि हुआ। अग्नि कैसा उत्पन्न होता है यह प्रश्न यहां हो सकता है। इसके उत्तरमें निवेदन है कि सूर्यकी उष्णतासे मेघमण्डलमें विद्युत् बनती है वह विद्युत् सूखे घास आदिपर गिरकर अथवा वृक्षपर गिरकर अग्नि उत्पन्न होता है। अतः यह अग्नि वास्तविक सूर्यका ही अंश है। वस्तुतः विचार किया जाय तो यह बात स्पष्ट विदित होगी, कि इस पृथ्वीपर अथवा इस सूर्यमालिका में जो भी कुछ आग्नेयतत्त्व अथवा उष्ण पदार्थ किंवा उष्णता उत्पन्न करनेवाला पदार्थ है, वह सब सूर्यके संबंधके कारण ही उष्णता देनेमें समर्थ है अग्नि सूर्यसे उत्पन्न हुआ यह बात इससे पूर्ण दर्शाई ही है। अब पाठक लकडीका विचार करें। लकडी जलानेसे उष्णता उत्पन्न होती है, यह उष्णता कहांसे आगयी ? जो उष्णता इन सूर्यकिरणोंसे प्राप्त करके अपनेमें संग्रहित करते हैं वही लकडीमें रहती है और जलनेसे वही प्रकट होती है वस्तुतः यह सूर्यकी अपनी उष्णता ही है। इसी तरह लकडीका कोयला या भूमिके अंदर मिलनेवाला कोयला मिट्टीका तेल आदि या जो पदार्थ उष्णता उत्पन्न करनेवाले करके प्रसिद्ध हैं उनमें सबको सब उष्णता सूर्यसे प्राप्त होती है। कोई सूर्यसे भिन्न अन्य पदार्थ नहीं है जो उष्णता दे सके। अतः सब आग्नेय पदार्थ सूर्यके ही विविध रूप हैं।

तीन अग्नि।

पृथ्वीपर अग्नि अन्तरिक्षमें विद्युत्, द्युलोकमें सूर्य ये तीन अग्नि हैं। वेदमें तीन अग्निका वर्णन अनेक बार आया है ये तीन अग्नि ये हैं। परंतु ये तीन अग्नि भिन्न भिन्न नहीं हैं। ये सब एक ही अग्निके रूप हैं और वह एक अग्नि सूर्य ही है। क्योंकि सूर्यके ही रूपान्तर होकर ये अग्नि बने हैं। अतः कहा है-

स एति सविता। स मरुद्भिः। स इन्द्रः। [४।१-५]

"वह सूर्य ही अग्नि और इन्द्र अर्थात् विद्युत् है।" क्योंकि सूर्य ही रूपान्तरित होकर अग्नि और विद्युत् बना है। इस प्रकार तीन पृथक् अग्नि अनुभवमें आते हैं तथापि वे भिन्न नहीं हैं इसी पूर्व तीन रूपमें दिखाई देता है।

जब गुरुकुलमें आठ वर्षका बालक प्रविष्ट होता है तब उसको सन्ध्याके पश्चात् अग्निमें हवन करनेका उपदेश होता है। उस समय वह समझता है कि अपना उपास्य देव अग्नि है। वह श्रद्धाभक्तिसे अग्निकी उपासना करता है और मनमें सोचता है कि क्या यह अग्निदेव स्वतंत्र है ? विचार करते करते उसके ध्यानमें पृथ्विस्थानमें आकाशमंडलमें चमकनेवाली विद्युत् आती है। किसी समय वह विद्युत् किसी वृक्षपर गिरती है तब समय वह वृक्ष जलता है। इस प्रसंगमें गुरु उस शिष्य को बताता है कि अपना अग्नि विद्युत् से इसी प्रकार इस पृथ्वीपर उत्पन्न हुआ। पश्चात् वह विद्युत् को महादेव मानता है, परंतु पीछे अधिक विचार करनेपर उसे पता लगता है कि वह विद्युत् भी सूर्यसे ही उत्पन्न हुई है। अतः वह उस समय सूर्यको ही महादेव मानता है। उस समय वह कहता है—

स एति सविता स्वर्दिवस्पृष्ठे ।
स धाता स विधर्ता स वायुः ।
स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ।
सो अग्निः स उ सूर्यः स उ महायमः । (७।१—५)

वही सविता धाता विधाता वायु वरुण रुद्र महादेव अग्नि सूर्य और महायम है। इस तरह इस सूर्यमालिकामें सर्वत्र अधिष्ठाता वही सूर्य है, सबका एक मात्र आधार वह सूर्य है, यह ज्ञान उस शिष्यको होता है। इस समय वह अपनी सूर्योपासना गायत्रीमंत्रसे ही करता है—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

इस गुरुमंत्रका अर्थ इस समय वह ऐसा करता है कि 'हम उस सूर्यके बुद्धिको उत्साह देनेवाले तेजका ध्यान करते हैं।' ऐसा ध्यान करता हुआ वह सूर्यको अपने ब्रह्मचर्यका आदर्श मानता है अपनी तपस्याका वह नमूना मानता है अपने ब्रह्मचर्यका प्रतिरूप सूर्यमें वह देखता है। आदित्य ब्रह्मचारी होनेकी परम इच्छा वह धारण करता है। वह विचार करता है कि यदि सभी सूर्यमालिका इस सूर्यसे ही बने हैं तो इस पृथ्वीपरके सभी जीवजन्तु और वनस्पति में स्वयं भी सब मिलकर इसी सूर्यके अंश हैं। सूर्यसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं अतः वेद कहता है कि—

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ॥ वा० य० ४० ।१७

जो सूर्यके अंदर पुरुष है वह मैं हूं। " सूर्यके साथ मेरा इतना घनिष्ठ संबंध है। सूर्य मेरा पिता है और मैं उसका अमृतपुत्र हूं। जो इस आदित्यमें तत्त्व है वही मुझमें है। मेरी परम गति आदित्य है और मेरा प्रारंभभी आदित्यसेही हुआ है। मैं इसी आदित्यसे जन्मा हूं मैं इसी आदित्यकी शक्तिसे जीवित हूं और अन्तमें मैं आदित्यमेंही मिल जाऊंगा।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ।
यं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति ॥ तै० उ० ३।१

"जिससे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं होनेपर जिससे जीवित रहते हैं फिर जाकर अन्तमें जिसमें मिलते हैं वह ब्रह्म है।" यह ब्रह्मका लक्षण यह शिष्य इस समय सूर्यमें सार्थ हुआ अनुभव करता है क्योंकि सब भूतमात्र सूर्यसे उत्पन्न हुए, सूर्यसे जीते हैं और अन्तमें सूर्यमेंही मिल जाते हैं। यह अनुभव स्पष्टतया दर्शाता है कि सूर्यही हमारे लिए साक्षात् ब्रह्म है। इस तरह विचार करता हुआ वह ब्रह्मचारी सूर्यकोही अपना उपास्य मानता है इस समय उसके सम्मुख ये वाक्य आते हैं—

एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यदादित्यो दृश्यते। कौ० उ० २। १२
आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः ॥ छां० उ० ३।१९।१
आदित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते। छां० उ० ३।१९।१
स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते ॥ छां० उ० ३।१९।४

असावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । श. ब्रा. १४।८।३।१।१७

य आदित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । मै. उ. ६।३५ ७।७

आदित्यो ब्रह्म । मै. उ. ६।१६

ब्रह्म तमसः परमपश्यद्यदमुष्मिन्नादित्ये विभाति । मै. उ. ६।२४

य एष आदित्ये पुरुषः स परमेष्ठी ब्रह्मात्मा । महाना. उ. २१।१

आदित्यं पुरुषं एतमहं ब्रह्मोपासे । छा. उ. २।१।१२ ३।१२

आदित्यात्मा ब्रह्म । मै. उ. ६।१६

आदित्यवर्णमूर्धस्थान्तं ब्रह्म । मै. उ. ६।२४

'जो यह सूर्य दीखता है वही ब्रह्म प्रकाशता है। आदित्य ब्रह्म है यह आदेश है। आदित्य ब्रह्म है ऐसी उपासना करता है। जो मनुष्यमें है और जो आदित्यमें है वह एकही है। जो हृदयमें है और जो आदित्यमें है वह एकही है। यह आदित्यही ब्रह्म है। अंधकारके परे रहनेवाला यह आदित्य है उसमें ब्रह्म प्रकाशता है। इस आदित्यमें जो पुरुष है वही परमेष्ठी आत्मा है। इस आदित्यमें जो पुरुष है वह ब्रह्म है ऐसी मैं उपासना करता हूं। आदित्यका आत्मा ब्रह्म है। ब्रह्म तेजस्वी है और सूर्यके देखता है।'

इस प्रकार अनेक वाक्य हैं जो सूर्यको ब्रह्म कहते हैं। ये वाक्य इस समय इस ब्रह्मचारीके सम्मुख आते हैं और वह आदित्य को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है। जो ब्रह्मचारी अग्निकी उपासना करता था वही उस अग्निके अनंतर विद्युत की उपासना करने लगा था वही अब सूर्य को अपना आराध्य उपास्य मानता है। सूर्यको कर्ता धर्ता मानता है, वही सब विश्वस्थितिका केन्द्र है वही सबका धारक और आकर्षक है सबको आधीन रखनेवाला वही एक देव है। जो सब सूर्यमालाके ग्रहों और उपग्रहोंको धारण करता है वह सब सूर्यमालाके अन्तर्गत पदार्थमात्रको धारण करता है उसके देव होनेमें क्या संदेह हो सकता है? अत एव अथर्वश्रुति में कहा है कि—

स धाता स विधर्ता । अथर्व. १३। ४।३

'वही सविता धारण करनेवाला और विशेष रीतिसे आधार देनेवाला है।' पूर्वोक्त उपनिषद्वचनोंमें 'इस आदित्यमें ब्रह्म है' ऐसा वचन आया है। इससे आदित्यका देह और उसमें विराजमान ब्रह्म है यह कल्पना व्यक्त होती है। मानो यहां सूर्यका दृश्यमान आकार ब्रह्मका देह है और उसमें व्यापनेवाला ब्रह्म है। जैसा मनुष्य में देह और आत्मा है वैसाही सूर्यमें देह और परमात्मा है। अतः 'सूर्यमें जो पुरुष है वह मैं हूं' इस वचन का आशय सूर्य में जो ब्रह्म और मेरेमें है उनका अंश मेरा अन्तर भाग है वह है ऐसा स्पष्ट है। जो कुछ इस पृथ्वीपर बना है वह सूर्यके अंशका बना है यह एकवार मान लिया जाय तो सभी चराचर पार्थिव और अपार्थिव वस्तु जो भी इस भूमिपर है वह सूर्यसे बनी है यह सिद्ध होता है।

पूर्वोक्त प्रकार यह ब्रह्मचारी अपने मनमें इन वाक्यों की संगति लगाता है। वह विचार करता है कि—

स एष एक एकवृदेक एव ।

सर्वे अस्मिन्देवा एकवृतो भवन्ति ॥ अथर्व. १३।४

"वह एक है एकमात्र एक है सब देव इसमें एकरूप होते हैं।" जो अग्नि विद्युत आदि विभिन्न देव हैं वे सब इस सूर्यदेवमें एकरूप हो जाते हैं। पूर्व स्थानमें बताया है कि अग्नि विद्युत्से मिला रहता है और उसी प्रकार विद्युत भी सूर्यसे एक होकर रहती है। अर्थात् सूर्यमें विद्युत और अग्नि एकरूप होकर रहते हैं इसी तरह यह पृथ्वी भी एक समय सूर्यकीही थी। यह पृथ्वी सूर्यका एक भाग भी था अतः पृथ्वीपरके सभी पदार्थ सूर्यसे भिन्न कैसे हो सकते हैं?

इस रीतिसे अनेक प्रकारसे मनन कर करके यह ब्रह्मचारी अनुभव करता है और विचार करता है अनुभव करता है और सबकी एकता का अनुभव करता है और सबमें एक ही एक और अभिन्न परमात्मा देखता है फिर कहता है कि—

१ (अ. गृ. भा. पं. ११)

प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ।
मह इति त्वोपास्महे वयम् ।
भुमभुव इति त्वोपास्महे वयम् ।
लोक इति त्वोपास्महे वयम् ॥ अ १३।४ ९ मंत्र ४७-५१

' तू प्रभु है, तू महान् है तू उत्तम सत्त्व और प्रकाशसे युक्त है और तूही सबको स्थान देता है ऐसी हम सब मिलकर तेरी उपासना करते हैं। " (वयं त्वा उपास्महे) हम सब तेरी उपासना करते हैं इस प्रयोगमें सब मिलकर उपासना है, संघद्वारा होनेवाली यह उपासना है, एक व्यक्तिद्वारा होनेवाली यह उपासना नहीं है। यह संघ प्रजाजनों कर्मोंका पुरुषार्थियोंका हो अथवा ग्राम या नगरवासोंका हो। इससे कोई विचारमें भिन्नता नहीं हो सकती। सूर्य ही सब सूर्यमालाके अन्तर्गत सब मानवका प्रभु और कर्तावर्ती है वही सबसे महान् है वही सबको स्थान देनेवाला है और वही सबका उत्तम रीतिसे निर्माण करनेवाला है यह निश्चित है। ये और मंत्र ४१से ५१ तक के ११ मंत्र इन मंत्रोंमें जो अनेकानेक गुण वर्णन किये हैं वे सबका ज समय सूर्यमें कैसे बसते हैं इसीका विचार उपासक करते हैं। और अपने उपास्य की कृति अपने में धारण करनेका यत्न करते हैं। जैसा मेरा उपास्य देव है वैसा मैं तेजस्वी और कर्तावर्ती बनूं यही आकांक्षा उपासकोंकी सदा रहती है और उसके लिए प्रयत्नसे सफलता भी होती है।

स स्तनयति स वियोतते स उ अश्मानमस्यति ।
पापाय वा भद्राय वा पुरुषायासुराय वा ॥ १३।४।४१ -४२

यह हमारा उपास्य देव पुण्यात्मा मनुष्य और पापी राक्षसके लिए समानतया गर्जता चमकता और ओले फेंकता और वृष्टि करता है। यह किसीका पक्षपात नहीं करता उसका प्रकाश सबके लिए समान रीतिसे आता है यह पुण्यात्माके लिये प्रकाशता है और पापीके लिए नहीं, ऐसी बात नहीं। वह सबके ही अपने प्रकाशसे मार्ग दर्शाता है। जो यह मंत्रभाग देखकर उपासक भी कहने लगता है कि मैं भी सब मनुष्यमात्रकी ओर अथवा प्राणीमात्रकी ओर समान अपनी दृष्टि रखूंगा किसीका पक्षपात नहीं करूंगा। मानव कृत्रिम वैरत्व द्वारा भिन्नत्व अत्यन्त घातक आदि सबकी समानता समभावसे करूंगा। मेरा उपास्य सूर्य देव है वह अपना प्रकाश सबको देता है यही मेरा कर्तव्य बताता है अतः मैं भी वैसा करूंगा। समभाव रखनाही मेरा कर्तव्य है। सामाजिक आचरणमें विषमता नहीं रखनी चाहिए। यह सामूहिक उपासना है सब आवें और सम्मिलित होकर उपासना करें। जिसपर उस उपास्य सूर्यदेवका प्रकाश पड़ता है व सब उस उपासनामें सम्मिलित हो सकते हैं।

सब जीवोंको तथा सब जगत्को अंधेरेसे हटाकर प्रकाशमें लानेके लिए रात्रि और दिनके युगमें इस सूर्यदेवका अवतार होता है। प्रत्येक युगमें इस तरह इस देवका अवतार हो रहा है। और यह यहां आकर हमें प्रकाशका मार्ग बताकर उद्धार करता है। यदि यह देव इस तरह युगयुगमें न आवे तो सब जगत् अंधेरेमें रहेगा और जीवमात्रकी स्थिति नहीं होगी। हम सबका जीवन इसीके प्रकाशके साथ संबंधित है। अहा! हमारे जीवनका आधार यह देव है। इसीकी शक्तिसे सबका जीवन हो रहा है, इस तरह इस जगत्का अणुरेणु उसके साथ संबंधित है। इस समय उपासकके सामने ये मंत्र आते हैं-

तस्मादहरजायत रात्रिरजायत अन्तरिक्षमजायत .. वायु
रजायत द्यौरजायत दिशोऽजायन्त .. भूमिरजायत
अग्निरजायत .. आपोऽजायन्त ऋचोऽजायन्त यज्ञोऽजायत ..

अ० १३।४।१९ २१

इसी सूर्य देवसे दिवस रात्रि अन्तरिक्ष वायु द्यौ दिशा भूमि अग्नि जल मंत्र और यज्ञ होगये हैं। " यदि यह न होता तो इनमेंसे कुछ भी न बनता इसप्रकार कर्तावर्ता यही हमारा उपास्य देव है।

तावांस्ते मघवन् महिमोपो ते तन्वः शतम्।

यदि वासि न्यर्बुदम्॥ अ० १३।४।४४-४५

" हे ऐश्वर्यवान् प्रभो! यह अद्भुत तेरा महिमा है, जो सब सैकडों (हजारों लाखों करोडों वा) अरबोंकी संख्यामें जो अनंत शरीर हैं, वे सब तेरे ही हैं। " तात्पर्य तूही इस विश्वरूपमें अपने आपको व्यक्त करता है क्योंकि भूमिभी तेरेसे ही बनी और भूमिसे सब पदार्थ बने हैं। अतः तुझसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। यह देव एकमात्र अकेला एक है

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।

न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते॥ अ० १३।५।१६—१८

वह एक है दूसरा तीसरा चौथा पांचवां छठा सातवां आठवां नववां दसवां वह नहीं है। क्योंकि वह एकमात्र अकेला एक है। सूर्यमालामें सूर्यका यही स्थान है यही महत्त्व है और यही वैभव तथा ऐश्वर्य है। तथा—

स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं स रक्षः।

स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके॥

तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते।

तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह॥ अ० १३।६।२५—२८

' वही मृत्यु है वही अमृत है वही बड़ा देव है और वही रक्षक अथवा राक्षस है। वही रुद्र है। सब ये चलने-वाले मंगलबुधादिक, तथा सब नक्षत्र और चन्द्रमा भी इसीकी आज्ञामें रहते हैं। " क्योंकि सूर्यकी आकर्षणमें ये सब ग्रह हैं जो सूर्यमालामें विद्यमान हैं। सूर्यके आकर्षणका प्रभाव इन सबपर हो रहा है। ऐसा यह महान् सूर्यदेव सबको अमरपन देनेवाला है और सबको मृत्यु देनेवाला भी यही है। वही रुद्र है वही राक्षस है और संरक्षक भी है। अर्थात् यही सब कुछ है।

सूर्यके न होनेसे अथवा सूर्यके अतितापसे मृत्यु होता है तथा सूर्यका प्रकाश जीवन देता है इसलिए यही अमरत्व देनेवाला है। इसलिए इसी एक देवको ये सब नाम लगते हैं। इस प्रकरणमें इसके नाम अमृत मृत्यु, रक्षः रुद्र ये आगये हैं इन नामोंके अतिरिक्त इस सूक्तमें आये नाम अब देखिए—

स एति सविता स धाता स विधर्ता

स वायुः सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः।

सोऽग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः। अ० १३।७।१-५

वह सविता महेन्द्र धाता विधर्ता वायु अर्यमा, वरुण रुद्र, महादेव अग्नि सूर्य महायम है। ' इस सूर्यके ये नाम हैं तथा—

इन्द्रः शच्याः पतिः—विभुः प्रभुः। अ० १३।८।४६-४७

इन्द्र, शचीपति विभु प्रभु भी यही है। " ये सब नाम इसी देवके वाचक हैं। अर्थात् ये सब नाम इसीके गुणवर्णन कर रहे हैं। यदि यह सत्य है तो इन देवताओंके जो मंत्र हैं वे सब मंत्र इसी सूर्यदेवताका वर्णन करते हैं ऐसा मानना चाहिए। तभी तो ये इसके नाम सार्थ अन्वर्थक और योग्य हो सकते हैं। इसी कल्पनाको उपासक के मनमें आते ही वह इन सब मंत्रोंमें इसका वर्णन देखता है और अपने उपास्य देवका माहात्म्य जानता है और उसको मनमें धारण करता है।

स एति सविता स्वर्दिवस्पृष्ठेऽवचाकशत्।

रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥

स प्रजाभ्यो वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न।

अ० १३।४।१,२,११

यह द्युलोक के पीठपर प्रकाशता है उसके किरणोंसे आकाश भर गया है यह सब प्रजाओंको विशेष रीतिसे देखता है। यह सब वर्णन उपास्य को लगता है। सूर्य आकाशमें प्रकाशता है उसके किरणोंसे आकाश भर गया है वह सबको देखता है यह सब सूर्यके विषय में प्रतिदिन मनुष्यको प्रत्यक्ष हो रहा है। इस तरह अपने उपास्य देवकी महिमा उपासक जानता है और उसके विषयमें अपने मनका आदर बढाता है।

इस काण्डके पहिले तीन सूक्त मुख्यतः सूर्यके वाचक ही हैं। इनमें मुख्यतः जो मंत्र सूर्यका वर्णन करते हैं और जो विशेषकर मनुष्योंके सम्मुख सूर्यका ध्यान करते समय आते हैं, उनका अब मनन करते हैं।

उदेहि वाजिन्। १३।१।१

"हे बलवान् सूर्यदेव! उदयको प्राप्त हो।" यह प्रार्थना सूर्य को लक्ष्य करके ही है। इसके साथ देखने योग्य मंत्र ये हैं-

सूर्यस्याश्वा हरयः केतुमन्तः सदा वहन्त्यमृताः सुखं रथम्।
घृतपावा रोहितो भ्राजमानो दिवं देवः पृषतीमा विवेश ॥२५॥
ऊर्ध्वस्त्वा देव सूर्य सपत्नानव मे जहि ॥३२॥
ये देवा राष्ट्रभृतोऽभितो यन्ति सूर्यम् ॥३५॥
इतः पश्यन्ति रोचनं दिवि सूर्यं विपश्चितम् ॥३९॥
सूर्यो द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽति पश्यति।
सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुरा रुरोह दिवं महीम् ॥४५॥
यो अद्य देव सूर्य त्वां च मां चान्तरायति ॥५८॥

अ० १३।१

सूर्यके घोडे सदा प्रकाशयुक्त हैं इसके रथको सुखपूर्वक चलाते हैं। सर्वत्र पवित्रता करनेवाला सूर्यदेव विविध रंगवाले प्रभाके साथ द्युलोकमें प्रविष्ट होता है। हे सूर्यदेव! तू उदयको प्राप्त होता हुआ मेरे शत्रुओंका नाश कर। राष्ट्रके पोषक देव सूर्यके चारों ओर भ्रमण करते हैं॥ द्युलोकमें प्रकाशित होनेवाले सूर्यको सब देखते हैं॥ सूर्य द्युलोक भूमिलोक आदि सबको देखता है। सूर्यही सब जगत् का एकमात्र आंख है। वह द्युलोकपर आरूढ होकर विराजता है॥ हे सूर्य! जो पुरुष तेरे और मेरे बीचमें विरोध करता है वह पापी है। इत्यादि मंत्र सूर्यका वर्णन स्पष्ट रूपसे करते हैं और उपास्य देवका महत्त्व उपासकके अन्तःकरणमें स्थिर करते हैं। इस प्रथम सूक्तके अन्य मंत्र भी इन मुख्य मंत्रोंके अनुसंधानसे विचारने चाहिए। अब द्वितीय सूक्तके मंत्रोंमें सूर्यका वर्णन कैसा गंभीर रीतिसे किया है वह देखिए—

उदस्य केतवो दिवि शुक्रा भ्राजन्त ईरते।
आदित्यस्य नृचक्षसो महिव्रतस्य मीढुषः ॥१॥
स्वधाम सूर्य भुवनस्य गोपा यो रश्मिभिर्दिश आभाति सर्वाः ॥२॥
विपश्चितं तरणिं भ्राजमानं वहन्ति यं हरितः सप्त बह्वीः ॥४॥
दिवं च सूर्य पृथिवीं च देवीमहोरात्रे विमिमानो यदेषि ॥५॥
स्वस्ति ते सूर्य चरसे रथाय येनोभावन्तौ परियासि सद्यः
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥६॥
सुखं सूर्य रथमंशुमन्तं स्योनं सुवह्निमधि तिष्ठ वाजिनम् ॥७॥
सप्त सूर्यो हरितो यातवे रथे हिरण्यत्वचसो बृहतीरयुक्त ॥८॥
उपलिप्सया उदुपे पिता रूपाणि पुष्यति ॥९॥
दिवि त्वात्रिरधारयत्सूर्या मासाय कर्तवे ॥१२॥

यत्समुद्रमनुश्रितं तत् सिषासति सूर्यः ॥ १७ ॥

अ. १३।२

'दृष्टि करनेवाले नियमोंसे चलनेवाले मानवोंका निरीक्षण करनेवाले सूर्यके तेजस्वी किरण उदयको प्राप्त होनेके पश्चात् बहुतही चमकते हैं॥ जो अपने तेजस्वी किरणोंद्वारा सब दिशाओंको प्रकाशित करता है, उस सूर्यदेवकी प्रशंसा हम करते हैं उसके गुण गाते हैं॥ बडे प्रभाववाले सात किरण तेजस्वी ज्ञानी सूर्यदेवको उठाकर ले जाते हैं॥ द्युलोक भूलोक तथा अहोरात्रको निर्माण करके, हे सूर्य! तू जाता है॥ जिससे दोनों सीमाओं तक तू जाता है, उस चलनेवाले रथके लिये स्वस्ति हो। जहां सात किरणें किंवा गतिमान् सौ किरणें तुझको चला रही हैं॥ हे सूर्य! तू ऐसे सुखदायी गतिमान् उत्तम रथपर चढ॥ सूर्यने सुवर्णके समान चमकनेवाले तेजस्वी किरण वेगके लिये अपने रथको जोते हैं। उदय होनेपर तू किरणोंको फैलाता है और सब रूपोंको प्रकाशित करता है॥ ऋतुओंका विभाग करनेके लिये तुझे द्युलोकमें रखा है। जो समुद्रके आश्रयसे रहता है वह सूर्य प्राप्त करना चाहता है॥'

त्रयोदशके सब मंत्र प्रायः सूर्यपरक ही हैं। जो मंत्र यहां अधूरे दिये हैं उनके शेष भाग पाठक पूर्वस्थलमें देखें और उनके अर्थका मनन करें। इससे त्रयोदशके सब मंत्र सूर्यके गुणगान करनेवाले हैं ऐसा स्पष्ट हो जायगा। इसके (१६ से २४ तक) आगेके ९ मंत्र ऋग्वेदमें मंडल १।५० में आगये हैं और वहां भी इनकी सूर्यदेवता ही है। अतः ये सूर्यका गुणवर्णन कर रहे हैं इसमें कोई संदेह नहीं। इनमेंसे कुछ मंत्र यजुर्वेद और अथर्ववेदमें भी दूसरे स्थान पर आगये हैं और सर्वत्र सूर्यदेवताकेही ये मंत्र हैं। इस कारण इनके संबंधमें अधिक विचार करनेकी यहां कोई आवश्यकता नहीं है। इसके आगेके मंत्रोंमें सूर्यविषयक मंत्र देखिये—

अनभ्रो वाऽस्यमहितो यदास्थाद् ईं दर्भे क्रतुसे रोचमानः।
केतुमानुद्यन्त्सहमानो रजांसि विश्वा आदित्य प्रवतो विभासि ॥ १८ ॥
बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि।
महांस्ते महतो महिमा त्वमादित्य महाँ असि ॥ १९ ॥
रोचसे दिवि रोचसे अन्तरिक्षे पतङ्ग पृथिव्यां रोचसे रोचसे अप्स्वन्तः ॥ २० ॥
अहोरात्रे परि सूर्यं वसाने ॥ ३२ ॥
चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान् प्रदिशः सूर्य उद्यन्।
दिवाकरोऽति द्युम्नैस्तमांसि विश्वातारीद् दुरितानि शुक्रः ॥ ३४ ॥
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ ३५ ॥
उच्चा पतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम्।
पश्याम त्वा सवितारं यमाहुरजस्रं ज्योतिर्यदविन्ददत्रिः ॥ ३६ ॥
स नः सूर्य प्रतिर दीर्घमायुः ॥ ३७ ॥
रोहितः काले अभवद्रोहितोऽग्रे प्रजापतिः ॥ ३९ ॥
रोहितो रश्मिभिर्भूमिं समुद्रमनु सं चरत् ॥ ४१ ॥
सूर्यं वयं रजसि क्षियन्तं गातुविदं हवामहे नाधमानाः ॥ ४२ ॥ अ. १३।२

कभी अस्त न होनेवाला यह सूर्यदेव अपने किरणरूप अश्वोंपर आरूढ होकर जाता है और इस जगत्में छाया और प्रकाशमय दो रूप बनाता है। किरणोंसे युक्त होनेवाला यह विश्वको सूर्य उदय स्थानसे चमकता है॥ सूर्य सबसे बडा है सूर्यकी महिमा बहुत ही बडी है॥ सूर्य द्युलोकमें, अन्तरिक्षलोकमें पृथ्वीमें जलोंमें प्रकाशता है॥ सूर्यके ऊपर दिन और रात्रि अवलंबित हैं॥ देवोंका झंडा जैसा अनंत प्रकाशमान् यह सूर्य अंधकारको हटाता है और सर्वत्र प्रकाश फैलाता है॥ यह सबका स्थावर जंगम पदार्थोंका जीवन है॥ आकाशमें उदयके स्थानसे गमन करनेवाले पक्षीके समान आकाशमें तैरनेवाले इस

तेजस्वी सूर्यका प्रकाश हम सर्वत्र देखते हैं ॥ यह सूर्य हमें दीर्घ आयु देता है ॥ सूर्यही यमन है और सूर्यही प्रकाश भी है। इस सूर्य देवने अपने किरणोंसे भूमि और समुद्रको प्रकाशित किया है॥ सूर्य हमारा मार्गदर्शक है हम उसीके गुणगान करते हैं॥"

ये सब मंत्र स्पष्टतया सूर्यके वर्णनपरक हैं। यदि यह निश्चय हो जावे कि इनमें सूर्यका वर्णन है, तो इनके पीछके मंत्रोंमें सूर्यस्तुतिही है इसमें कोई संदेहही नहीं हो सकता। अब तृतीय सूक्तमेंसे कुछ मंत्र देखिये

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्सदनादृतस्य ॥ ९ ॥
यत्ते चन्द्रं कश्यप रोचनावद्यत्संहितं पुष्कलं चित्रभानु। यस्मिन्त्सूर्या आर्पिताः साकम् ॥ १० ॥
स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् ॥ १३ ॥
शुक्रं वहन्ति हरयो रघुष्यदो देवं दिवि वर्चसा भ्राजमानम्।
यस्योर्ध्वा दिवं तन्वस्तपन्त्यर्वाङ् सुवर्णैः पटरैर्वि भाति ॥ १६ ॥
सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ॥ १८ ॥
कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वत्सोऽजायत।
स ह द्यामधि रोहति ॥२६॥ अ० १३।३

अंधकार का नाश करनेवाले सूर्यकिरण जीवनप्रदजलके साथसाथ द्युलोकसे ऊपर जाते हैं, वे जलके साथ मेघोंके रूपमें पहुंचते हैं॥ हे सूर्य! जो आनन्द देनेवाला चन्द्रप्रकाश है, उसमें सूर्यके सात किरण ही समर्पित हुए हैं (अर्थात् सूर्यके किरण चन्द्रमें जाकर वहांसे जो प्रकाश हमें प्राप्त होता है, वह चन्द्रमा करके प्रसिद्ध है॥) वही सूर्य जब अन्तरिक्षमें होता है तब उसको सविता कहते हैं और जब मध्याह्नमें तपता है तब उसको इन्द्र कहा जाता है (अर्थात् ८ बजेसे ११ बजेतक सूर्यका नाम सविता है और ११ से १ बजेतकके सूर्यका नाम इन्द्र है॥) सूर्यकी पवित्र तेजका प्रकाश आकाशमें देता है जिसके किरण एक ओर द्युलोकको प्रकाशित करते हैं और दूसरी ओर भूमण्डलकी ओर वही विविध प्रकाश के साथ आता है। सूर्यके रथको सात अश्व चलाते हैं (अर्थात् सात किरण हैं) ॥ कृष्णा नामक काले रंगवाली रात्रिका पुत्रही यह प्रकाशमान हुआ है वह द्युलोकपर चढता है॥

इस तरह तीनों सूक्तोंके जो मंत्र हैं वे सब सूर्यका वर्णन कर रहे हैं। इनमें कई मंत्र अत्यन्त स्पष्ट हैं कई जरासे छिपसे सूर्यका वर्णन करते हैं कई विद्युतके मिषसे सूर्यकाही वर्णन करते हैं। और कई रूपक रूपसे सूर्यकाही वर्णन करते हैं। पाठक इन मंत्रोंका जो अर्थ पूर्व स्थानमें दिया है बारबार देखें मनन करें और मंत्रोंके भावको जानें और देखें कि यहां सूर्यकी स्तुति किस तरह है।

इस काण्डकी देवता आदित्य रोहित और अध्यात्म है। आदित्य और रोहित ये नाम सूर्यके हैं। रोहित नाम अग्निका भी है परंतु अग्नि परंपरासे सूर्यका पौत्र होनेसे सूर्यके साथ संबंधित है। अध्यात्म पक्षमें यही सूर्य आत्माके पक्षमें देखना चाहिये। इसका तात्पर्य व्यक्तिगत आत्माके विषयमें विचार करनेपर व्यक्ति भी सूर्यका ही अंश है इसलिये जो प्राकृतिक रूप सूर्यमें है और प्रकाश तत्त्व सूर्यमें है वह अंशरूपसे प्रत्येक व्यक्तिमें आया है क्योंकि इस सूर्यमालामें जो अणुरेणु है वह सूर्यसेही बना है इस तरह विचार जो इसके पूर्व बताया ही है वह ध्यानमें आनेसे व्यक्तिगत सूर्यकी उपासना अनुभव प्राप्त होता है यही सूर्यका अध्यात्म विज्ञान है।

परमात्मा सर्वव्यापक और पूर्ण निराकार है उसकी उपासना निर्विषय ध्यानादि द्वारा होती है। परंतु हरएक मनुष्य प्रारंभसे अन्ततक अमूर्त ब्रह्मकी उपासना यथायोग्य रीतिसे कर सकता है ऐसी बात नहीं है। साधारणके लिये तथा उपासनाका अभ्यास न करनेवाले ६ या ८ वर्षकी आयुमें अमूर्त ब्रह्मका ध्यान कैसा करे! इनके लिये यह असंभव है। ध्यानधारणाकी सिद्धिके पश्चात् वह उपासना होना संभव हो सकती है। यह निराकारोपासना उन्नतिकी अवस्थामें सम्भवनीय है। तब तक साकारोपासना करनेकी अवस्था रहती है उसमें अग्निहोत्रादि करते करता हुआ और सूर्योपस्थान करता हुआ उपासक अपनी उन्नति कर सकता है। यह साधन उपासना इस काण्डके इन सब सूक्तोंमें बताई है और इस उपासनाके लिये सूर्य का निर्देश यहां किया है।

निरुक्तादि ग्रंथोंमें जहां देवताओंका निरूपण किया है वहां भी सब वेदके देवताओंके नाम सूर्यपर घटानेका ही यत्न किया है। और देवशत्रु असुरोंके नाम मेघोंपर घटानेका यत्न किया है। यदि यह प्रकरण पाठक सूक्ष्म विचार के साथ वहां अनुसंधान करके देखेंगे तो उनको यही बात वहां दीख सकती है।

इस सूक्तमें भी सूर्यके नाम जो गिनाये हैं, उनमें रुद्र इन्द्र, यम महेन्द्र सविता आदित्य धाता, विधाता विधर्ता पर्जन्य अर्यमा, वरुण यम महायम, देव महादेव एक एकवृत्, रोहित सुपर्ण, अग्नि इत्यादि नाम गिनाये हैं। अर्थात् इन नामोंके अनेक देवताओंके सूक्तोंसे एक ही सूर्यदेवका वर्णन होता है यह बात इस रीतिसे स्पष्ट हो जाती है। सब अन्य देव एक ही सूर्यमें मिल जाते हैं इस तरहके वर्णनसे अनेक देवोंका अन्तर्भाव सूर्यमें स्पष्ट होता है यह स्पष्ट है अर्थात् अनेक देवताओंके मंत्रोंसे वेदमें सूर्यका ही वर्णन है और वह उपासना के लिये ही है।

पुराणोंमें भी सूर्यपर ही 'विष्णु' का रूपक करके अनेक अवतारोंका वर्णन और अनेक कथाओंके प्रसंग वर्णन किये हैं। श्री मद्भागवतमें भी प्रातःकालके सूर्यका नाम ब्रह्मा मध्याह्नके सूर्यका नाम विष्णु और रात्रिके समय के सूर्यका नाम शिव कहकर त्रिमूर्तिको सूर्यमें ही बताया है। इस तरह सूर्यके रूपकपरही ब्रह्मा विष्णु शिवकी अनंत कथाएं कल्पित हैं, यह बात यहां स्पष्ट हो गयी है। ब्रह्मा की पुत्री सावित्री विष्णुकी पत्नी लक्ष्मी और शिवकी पत्नी उमा यह सब इस तरह सूर्यपर ही रूपक है। इसका संपूर्ण विवेचन करनेसे बहुतसी पुराणोंका महाग्रंथ बनेगा, वैसा यहां बनानेका विचार नहीं है और वैसी यहां आवश्यकता भी नहीं है। यहां जितना दिग्दर्शन किया है उतना इस वैदिक विषयके ज्ञानके लिये पर्याप्त है। वेदके अन्यान्य वर्णन जैसे सूर्यपर घटते हैं वैसे ही ब्राह्मण ग्रंथकी कथाएं और इतिहास पुराणकी कथाएं भी सूर्यपर रूपकालंकार से रचित हैं यही बात यहां संक्षेपसे बताया है। इसका अर्थ कोई यह न समझे कि प्रत्येक पंक्ति सूर्यपरक है। परंतु इतनाही समझें कि मुख्य कथाप्रसंग सूर्यपर अलंकार मानकर रचा गया था। उपप्रसंगोंमें विविध प्रकार हुए ही होंगे। इस तरह इन ग्रंथोंके वर्णन मुख्यतया सूर्यपरक हैं। इतना कहनेसे सबका उपास्य देवता सूर्य है यह बात सूचित होती है। इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किसी स्वतंत्र ग्रंथ में करेंगे इतनाही यहां बताकर इस काण्डका विवेचन यहां समाप्त करते हैं॥

बोध वाक्य।

इस काण्डमें कई वाक्य अत्यन्त रीतिसे विशेष उपदेश देते हैं उनका विचार अब संक्षेपसे करेंगे-

प्रथम सूक्त।

१ उदेहि वाजिन् (१) = हे बलवान्! अभ्युदयको प्राप्त हो! अपना अभ्युदय करो कदापि अवनत न हो।

२ इदं राष्ट्रं प्रविश सूनृतावत् = इस सत्यनिष्ठ राष्ट्रमें आवेश उत्पन्न कर इस प्रिय राष्ट्रमें प्रविष्ट होकर कार्य कर।

३ स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु = वह तुझे अपने राष्ट्रकी उन्नतिके हेतु उत्तम भरणपोषणके साधनोंसे युक्त करे। तू अपने राष्ट्रमें राष्ट्रीय उन्नतिके लिये उत्तम भरणपोषणके साधनोंसे युक्त होकर विराजमान हो।

४ उद्वाज आगन् (२) = अपना बल उन्नतिके लिये प्रकट कर उन्नतिके ही कार्यमें अपना सामर्थ्य लगा दो।

५ विश आरोह त्वद्योनयो याः = प्रजाजनोंमें चढ जा जिनमें तुम्हारी उत्पत्ति है। तू अपनी जातिमें उन्नत हो उच्च स्थान प्राप्त कर।

६ अप ओषधीर्गाश्चतुष्पदो द्विपद आवेशयेह = जलस्थानों औषधियोंके बगीचों गौओं, चतुष्पादों और द्विपादोंको यहां अपने देशमें उत्तम रीतिसे रहने दो। वे रहें और उन्नत होवें।

७ यूयमुग्राः पृश्निमातरः (३) = तुम बडे शूरवीर भूमिको माता माननेवाले हो। शूरवीर सब अपने मातृभूमिका सत्कार करें।

८ प्रमृणीत शत्रून् = शत्रुओंका नाश करो।

९ रुहो रुरोह (४) = चढनेवाले चढे। जो उन्नति प्राप्त करना चाहते हैं वे न रुकें उनके मार्गमें रुकावट पैदा न हो।

१० आरुह प्रवस्वतिह राष्ट्रमाहाः = उन्नतिके मार्गको देखता हुआ तू यहां राष्ट्रको उन्नति के मार्गपर रख।

११ आ ते राष्ट्रमिह रोहितोऽहार्षीत् (५) = तेरे राष्ट्रको इस (परिस्थितिमें) नवी नीतिसे लाया है, उसका रक्षण करना तुझे योग्य है।

१२ व्यास्थन्मृधो अभयं ते अभूत् = उसने शत्रु दूर भगा दिये और तेरे लिए निर्भयता की है।

१३ तं ते राष्ट्रमनक्तु पयसा घृतेन (८) = तेरे राष्ट्रमें दूध और घी भरपूर हो वे पौष्टिक पदार्थ विपुलतासे प्राप्त हों।

१४ ऊर्जया पयसा पिन्वमानो विशि राष्ट्रे जागृहि (९) = अन्न और दूध से पुष्ट होता हुआ तू अपने प्रजाजनों और राष्ट्रमें जागता रह कभी न सो जा। राष्ट्रमें जाग्रत रहकर राष्ट्रको उन्नत करनेका यत्न कर।

१५ यास्ते विशस्तपसः संबभूवुः (१०) = जो प्रजाएं तपके लिये संगठित होती हैं (उनकी उन्नति होती है।)

१६ तास्त्वा विशन्तु मनसा शिवेन = वे प्रजाजन शुभ मनोभावनाके साथ तेरे साथ संगठनमें प्रविष्ट हों और मिलकर शुभ कर्म करें।

१७ चित्रा रूपाणि कृणवन्नमुष्य कविः (११) = तरुण कवि अनेक काव्य के रूप बनाता है अनेक रचना निर्माण करता है।

१८ त्रिमेधाग्निर्ज्योतिषा विभाति = अग्नि तीक्ष्ण प्रकाशके साथ प्रकाशता है।

१९ गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि (१२) = मेरे गौओंका और वीरोंका पोषण होता रहे।

२० वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि (१३) = वाणी कान और मनके साथ हवन करता हूं (वाणीसे मंत्रोच्चारण कानसे मंत्रश्रवण और मनसे मनन करता हुआ हवन करता हूं।)

२१ स मा रोहैः सामित्यै रोहयतु = वह मुझे उन्नतियोंके साथ समितिके लिए उन्नत बनावे।

२२ तस्मात्तेजांस्युप मेमान्यागुः (१४) = इस (यज्ञ) से अनेक तेज मुझे प्राप्त हो गये हैं। यज्ञसे विविध रस प्राप्त होते हैं।

२३ आ त्वा रुरोह रेतसा सह (१५) = वीर्यके साथ वह तुझे उन्नत करे पराक्रम के साथ वह (यज्ञ) तुझे बढावे।

२४ वाचस्पते पृथिवी नः स्योना योनिस्तल्पा नः सुशेवा (१७) = हे वाणीके पति! पृथ्वी हमारे लिए कल्याण करनेवाली होवे घर हमारे लिए सुखदायक होवे जिससे हम सबके लिए कल्याणकारी होवें।

२५ इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु = यहां ही प्राण हमारी मित्रतामें रहे हम दीर्घायु हों।

२६ तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यग्निरायुषा वर्चसा दधातु = हे परमात्मन्! अग्नि तुझे आयु और तेजके साथ युक्त करे।

२७ वाचस्पते सौमनसं मनश्च गोष्ठे नो गा जनय योनिषु प्रजाः (१९) = हे वाणीके अधिष्ठाता! मेरा मन शुभविचार युक्त हो गोशालामें गौवें हों और हमारे घरमें संतान हों।

२८ सर्वा अरातीरवक्रामन्नेहि (२१) = सब शत्रुओंपर चढाई करता हुआ आगे बढ सब शत्रुओंका नाश कर और उन्नत हो।

२९ इदं राष्ट्रमकाः सूनृतावत् = इस राष्ट्रको सत्यनिष्ठ तथा धर्मप्रवण बनाओ।

३० अनुव्रता रोहिणी सूरिः सुवर्णा बृहती सुवर्चाः (२२) = विदुषी उत्तम वर्णवाली तेजस्विनी पतिव्रताकी प्रतिज्ञा धारण करती है।

३१ तया वाजान् विश्वरूपान् जयेम = ऐसी विदुषी अनुकूल स्त्रीके साथ सब प्रकारके अन्न तथा बल प्राप्त करेंगे।

३२ तया विश्वाः पृतना अभिष्याम = उसके साथ सब शत्रुसेनाओंको पराजित करेंगे।

३३ तां रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम् (२३) = कविलोग प्रमाद रहित होकर उसकी रक्षा करते हैं।

३४ यमश्वा हरितो वहन्ति सदा बहन्तु सुखं रथं (२४) = वेगवाले तेजस्वी घोडे सदा उत्तम सुखदायी रथको इस रोहितके ले चलाते हैं।

३५ वि मिमीष्व पयस्वतीं घृताचीं देवानां धेनुरनपस्फुगेषा (२७) = दूध और घी देनेवाली गौको विशेष रीतिसे तैयार कर, यह दोहनेके समय हलचल न करनेवाली उत्तम गौ है।

३६ क्षेमो अस्तु, विमृधो नुदस्व = सबका कल्याण हो शत्रु दूर हो जाय।

३७ अभीवाद् विवाधाद् सपत्नान् हन्तु ये मम (२८) = जो मेरे शत्रु हैं उन सबका नाश विजयी वीर करे।

३८ हन्त्वेवान्प्रहरतो नः पृतन्यति (२९) = जो शत्रु हमपर सेनाके साथ हमला करता है, उसको मारा जावे।

३९ सर्वं सपत्नान् प्रदहामसि = हम सब शत्रुओंको जलावेंगे।

४० अधराचीनावथ कृधि भवा सपत्नानामकान् (१) = हमारे शत्रुओंको नीचे करके दबा दे।

४१ सपत्नानधरान्पादयस्वास्मत् (११) = हमारे शत्रुओंको नीचे गिरा दो।

४२ अस्मद्द्विषतः सपत्नानुत्पिपर्धि = हमारे प्रजापीडक शत्रुको ... पुष्ट कर, दुःखी कर।

४३ अधरे पद्यन्तामप्रतिमन्यूयमानाः (३१) = हमारे शत्रु विफलक्रोधयुक्त होकर नीचे गिर जाय।

४४ सपत्नाक्ष मे जहि अवैनानश्मना जहि ते यन्त्वधमं तमः (१४) = मेरे शत्रुओंका नाश कर, शत्रुओंका पत्थरोंसे नाश कर, मेरे शत्रु अंधेरेमें जावें।

४५ वर्त्म यद्य मर्त्यं ज्ञानेन वर्तयन्ति (११) = कपटको ज्ञानवान् होते हुए भी ज्ञानके साथ चलाते हैं।

४६ पृथिवीं च रोह राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह प्रजां च रोह अमृतं च रोह (३७) पृथ्वी राष्ट्र, धन, प्रजा और अमरपन की वृद्धि कर।

४७ ये राष्ट्रभृतः, तैस्ते राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानाः (३५) = जो राष्ट्रपोषक वीर हैं उनके द्वारा तेरे राष्ट्रका उत्तम मनके साथ धारण होवें।

४८ भूमिमब्रवीत्, त्वयीदं सर्वं यावत्तो बभूव यच्च भाव्यम् (५७) - उसने मातृभूमिसे कहा कि जो हुआ और जो होनेवाला है वह सब तेरे लिये अर्पण हो जाय।

४९ स यज्ञः प्रथमो भूतो भव्यो अजायत। तस्माद्ध जज्ञ इदं सर्वं यत्किंचेदं विरोचते। (५१) = वह पहिला यज्ञ हुआ और बननेवाला यज्ञ हुआ उससे यहां यह सब जो कुछ चमकता है।

द्वितीय सूक्त।

५० स्तवाम भुवनस्य गोपां (२) = भुवनके रक्षक की प्रशंसा करते हैं।

५१ मा त्वा दमन्परियान्तमाजिं (५) = युद्धमें जानेवाले तुझे शत्रु न दबावें।

५२ स्वस्ति दुर्गां अति याहि शीभं = कुशलतापूर्वक शीघ्र कठिन स्थानोंसे परे जा।

५३ रथमातिष्ठ स्योनं सुवन्हिमधि तिष्ठ वाजिनं (७) = तेजस्वी सुखदायी बलवान्, उत्तम चलनेवाले सुन्दर रथपर चढ।

५४ द्यावापृथिवी जनयन्नेव एकः (२६) = एक ही ईश्वरने द्युलोक और भूलोक बनाये हैं।

५५ अतन्द्रो यास्यन् (२८) = आलस्य छोडनेपर ही प्रगति करता है।

इस तरह अनेक उपदेशपर वाक्य इस काण्डमें हैं, जो सुबन्ध देवताका वर्णन करते हुए अन्यान्य बोध पाठकोंको देते हैं। पाठक इस रीतिसे इस काण्डका अध्ययन करें।

अथर्ववेद।

त्रयोदश काण्डकी विषयसूची।

त्रयोदश काण्ड समाप्त।

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

चतुर्दशं काण्डम् ।

लेखक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
साहित्यवाचस्पति, वेदाचार्य गीतालंकार
अध्यक्ष स्वाध्यायमंडल आनन्दाश्रम पारडी (जि. सूरत)

तृतीय वार

[illegible] २ [illegible] ६, शक १८७१ सन १९५[illegible]

दम्पती वियुक्त न हो।

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥

(अथर्व० १४।१।२२)

"हे वर व वधू ! हे विवाहित स्त्रीपुरुषो ! (इह एव स्तं) तुम दोनों इस गृहस्थाश्रममें रहो (मा वि यौष्टं) तुम कभी वियुक्त न हुआ करो। [पुत्रैः नप्तृभिः क्रीडन्तौ] पुत्रों और नातियोंके साथ खेलते हुए और [मोदमानौ] उत्तम प्रकार आनन्द करते हुए [सु अस्तकौ] उत्तम घरबारसे युक्त होकर [विश्वं आयुः व्यश्नुतं] पूर्ण आयुष्यका उपभोग करते रहो।"



अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

चतुर्दश काण्ड ।

यह चतुर्दश काण्ड अथर्ववेदके तृतीय महाविभागमें द्वितीय है। इस काण्डमें 'विवाह-संस्कार' यही एक महत्त्वपूर्ण विषय है। अतः जो पाठक इस काण्डका विशेष मननपूर्वक अध्ययन करेंगे उनको 'वैदिक विवाह-पद्धति' का यथायोग्य ज्ञान हो सकता है।

इसमें दो अनुवाक हैं। प्रथमानुवाकमें ६४ मंत्रोंका एक सूक्त है और द्वितीयानुवाकमें ७५ मंत्रोंका एक सूक्त है। सब मिलकर १३९ मंत्र इस काण्डमें हैं। ये दोनों सूक्त दशतिविभागसे विभक्त हुए हैं प्रथम सूक्तमें १० मंत्रोंकी ५ दशतियां हैं और छठी दशति १४ मंत्रोंकी है; इसी तरह द्वितीय सूक्तमें ७ दशतियां दस मंत्रोंकी हैं और आठवीं दशति ५ मंत्रोंकी है। परंतु यह दशतिविभाग केवल मंत्रोंकी संख्याके अनुसार है, इसका अर्थके साथ विशेषसा संबंध नहीं है। अब इस काण्डके ऋषि देवता और छंद देखिये—

ऋषि, देवता और छन्द ।

सूक्त	ऋषि	मंत्रसंख्या	देवता	छन्द
प्रथमोऽनुवाकः ।				
१	सावित्री सूर्या	६४	आत्मदैवत्यं (सम) १-५ सोमः; ६ स्वविवाहः; २३ सोमार्कौ, २४ चन्द्रमाः; २५ विवाहमन्त्राशिषः, २५ २७ वधूवास संस्पर्शमोचनम्,	अनुष्टुप्; १४ विराट् प्रस्तारपंक्तिः; १५ आस्तार पंक्तिः; १९, २०, २३, २४, ३१-३३, ३७, ३९,४०, ४५, ४७, ४९, ५०, ५३, ५६, ५७ (५८, ५९, ६१) त्रिष्टुभः (१३, ११, ५४ बृहतीगर्भा त्रि.,) २१, ४६, ५४, ६४, जगत्यः (४७, ६४ भुरिक् त्रिष्टुभौ); २९, ५५ पुरस्ताद्बृहत्यौ; ३४ प्रस्तार पंक्तिः; ३८ पुरोबृहती त्रिपदा परोष्णिक्; (४८ पथ्यापंक्तिः) ६ पथ्या-बृहती

द्वितीयोऽनुवाकः।

२ सावित्री सूर्या ७५	आत्मदैवत्यम् (स्व) १ यक्ष्मनाशनं; ११ दम्पत्योः परिपन्थि- नाशनं; ३६ देवाः	अनुष्टुप्	५, ६ १२, ३१ ३७ ३९, ४० जगत्यः (३७ ३९ भुरिक् त्रिष्टुभौ;) ९ व्यवसाना षट्पदा विराडत्यष्टिः; १३ १४ १७-१९ (३४ ३६, ३८) ४१, ४२ ४९, ६१, ७० ७४ ७५ त्रिष्टुभः; १५ ५१ भुरिजौ; २० पुरस्ताद्बृहती २३ २४ २५, ३२ ३३ पुरोबृहत्यः (२६ त्रिपदा विराण्णाम गायत्री;) ३३ विराडास्तारपंक्तिः; ३५ पुरोबृहती त्रिष्टुप्; ४३ त्रिष्टुब्गर्भा पंक्तिः; ४४ प्रस्तारपंक्तिः; (४७ पथ्याबृहती) ४८ सतः पंक्तिः; (५ उपरिष्टाद्बृहती निचृत्;) ५२ विराट् परोष्णिक्; ५९, ६ , ६२ पथ्यापंक्तयः; (६८ पुरोष्णिक्;) ६९ त्र्यवसाना षट्पदा अतिजगती; ७१ बृहती।

इस सूक्तमें 'आत्मादेवता' का अर्थ जो ऋषि है वही देवता है। अर्थात् सावित्रीसूर्याने अपनेही विवाहका वर्णन, जैसा विवाह हुआ वैसा किया है। इस विवाहका स्पष्टीकरण इस काण्डके अन्तमें किया जायगा। इस चतुर्दश काण्डके दोनों सूक्त विवाहप्रकरण का वर्णन करनेवाले होनेके कारण इन दोनों सूक्तोंका अर्थ करनेके पश्चात् हम इस वैदिक विवाहका स्पष्टीकरण करेंगे। प्रथम पाठक इन दोनों सूक्तोंका अर्थ देखें—

ॐ

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

चतुर्दशं काण्डम् ।

विवाह—प्रकरण ।

(१)

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः । ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः ॥१॥
सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही । अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥२॥

अर्थ—(सत्येन भूमिः उत्तभिता) सत्यने भूमिको उठाया है। और (सूर्येण द्यौः उत्तभिता) सूर्यने द्युलोक उठाया है। (ऋतेन आदित्याः तिष्ठन्ति) ऋतसे आदित्य रहते हैं। और (सोमः दिवि अधि श्रितः) सोम द्युलोकमें आश्रित हुआ है ॥ १ ॥

(सोमेन आदित्याः बलिनः) सोमसे आदित्य बलवान् हुए हैं। तथा (सोमेन पृथिवी मही) सोमसेही पृथ्वी बडी हुई है। (अथो एषां नक्षत्राणां उपस्थे) और इन नक्षत्रोंके पास (सोमः आहितः) सोम रखा है ॥ २ ॥

भावार्थ— सत्यसे मातृभूमिका उद्धार किया जाता है सूर्यके प्रकाशसे आकाश तेजस्वी होता है, सरलता के कारण आदित्य अपने स्थानमें स्थिर रहते हैं और सोम द्युलोक के मध्यभागमें आश्रय लेकर रहा है। (इसी प्रकार से मनुष्य सत्य पूर्वप्रकाश सरलता और द्युलोक अर्थात् स्वर्ग के आधारसे अपना जीवनक्रम चलावें।) ॥ १ ॥

सोमसे आदित्योंमें बल आया और पृथ्वीका विस्तार हुआ है और नक्षत्रों में भी सोम ही तेज बढा रहा है। इसी तरह से मनुष्य सोम आदि वनस्पति सेवन कर अपने बल महत्त्व और तेज की वृद्धि करें ॥ १ ॥

द्वितीयोऽनुवाकः ।

२ सावित्री सूर्या ७५ आत्मदैवत्य (सम).
१ यक्ष्मनाशनं;
११ दंपत्योः परिपंथि नाशनं; १९ देवाः

अनुष्टुप् ५, ६ १२, ३१ ३७ ३९ ४ जगत्यः (३७, ३९ भुरिक् त्रिष्टुभौ;) ९ व्यवसाना षट्पदा विराडत्यष्टिः, १३ १४ १७-१९ (१४ १६, २४) ४१, ४२ ४९, ६१ ७ ७४ ७५ त्रिष्टुभः; १५ ५१ भुरिजौ; २ पुरस्ताद्बृहती ११ २४ २५, २९ ३३ पुरोबृहती; (२६ त्रिपदा विराण्नाम गायत्री;) ३३ विराडास्तार पंक्तिः; ३५ पुरोबृहती त्रिष्टुप्; ४३ त्रिष्टुब्गर्भा पंक्तिः; ४७ प्रस्तारपंक्तिः; (४७ पथ्याबृहती) ४८ सतः पंक्तिः; (५ उपरिष्टाद्बृहती त्रिष्टुप्;) ५२ विपरीतपुरोष्णिक्; ५९ ६०, ६२ पथ्यापंक्तिः; (६८ पुरोष्णिक्;) ६९ त्र्यवसाना षट्पदा अतिजगती; ७१ बृहती ।

इस सूक्तमें 'आत्मादेवता' का अर्थ जो ऋषि है वही देवता है। अर्थात् सावित्रीसूर्याने अपनेही विवाहका वर्णन, जैसा विवाह हुआ वैसा किया है। इस विवाहका स्पष्टीकरण इस काण्डके अन्तमें दिया जायगा। इस चतुर्दश काण्डके दोनों सूक्त विवाहप्रकरण का वर्णन करनेवाले होनेके कारण इन दोनों सूक्तोंका अर्थ करनेके पश्चात् हम इस वैदिक विवाहका स्पष्टीकरण करेंगे। प्रथम पाठक इन दोनों सूक्तोंका अर्थ देखें—

स्तोमा आसन्प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः । सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत्पुरोगवः ॥८॥

सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा । सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सवितादधात् ॥९॥

मनो अस्या अन आसीद् द्यौरासीदुत च्छदिः । शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात्सूर्या पतिम् ॥१०॥

ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावैताम्। श्रोत्रे ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः ॥११॥

शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः । अनो मनस्मयं सूर्यारोहत्प्रयती पतिम् ॥१२॥

अर्थ—[स्तोमाः प्रतिधयः आसन्] स्तुतिके मन्त्र जब बना था, [कुरीरं छन्दः ओपशः] कुरीर नामक छन्द उसके सिरके भूषण बने । [अश्विनौ सूर्यायाः वरौ] दोनों अश्विदेव सूर्याके साथी थे और [अग्निः पुरोगवः आसीत्] अग्निदेव अग्रेसर था ॥ ८ ॥

[सोमः वधूयुः अभवत्] सोम वधूकी इच्छा करनेवाला था, [उभौ अश्विनौ वरौ आस्तां] दोनों अश्विदेव साथी थे । [यत् सविता मनसा शंसन्तीं सूर्यां पत्ये अददात्] जब सविताने मनसे स्तुति करनेवाली सूर्याको पतिके हाथमें दान किया ॥ ९ ॥

[अस्याः मनः अनः आसीत्] इसका मन रथ बना था [उत द्यौः छदिः आसीत्] और द्युलोक छत हुआ । [शुक्रौ अनड्वाहौ आस्तां] दो बलवान् बैल जोते थे । [यत् सूर्या पतिं अयात्] जब सूर्या पतिके पास गयी ॥ १० ॥

(ऋक्—सामाभ्यां अभिहितौ ते गावौ) ऋग्वेद मन्त्रों और सामवेदके मन्त्रोंद्वारा प्रेरित हुए तेरे दोनों बैल (सामनौ ऐतां) शान्तिसे चलते हैं । (श्रोत्रे ते चक्रे आस्तां) दोनों कान तेरे रथके दो चक्र थे । (दिवि पन्थाः चराऽचरः) द्युलोकमें तेरा मार्ग चर और अचर रूप समस्त संसार है ॥ ११ ॥

(ते यात्याः चक्रे शुची) तेरे जानेके रथके दोनों चक्र शुद्ध हैं । (अक्षे व्यानः आहतः) उसके अक्षके स्थानपर व्यान नामक प्राण रखा है । (पतिं प्रयती सूर्या) पतिके पास जानेवाली सूर्या इस ((मनः-मयं अनः रोहत्) मनोमय रथ पर चढती है ॥ १२ ॥

भावार्थ-पतिके घरके बड़े ही वधूके लिये मोद और वेदमन्त्रही उसके भूषण होते हैं । जो वधूकी संगती के लिए आते हैं, वे मानो अश्विदेव होते हैं । और जो पहिले मार्गदर्शनके लिये जाता है वह उसका मार्गदर्शक अग्निदेव ही है ॥ ८ ॥

जो वर है वह मानो सोम है मनकी करनेवाले अश्विनीदेव हैं और वधूका पिता सूर्य है जो अपनी पुत्रीको वरके हाथमें दान करता है । वधू भी पतिके विषयमें मनमें प्रशंसाके भाव रखती है । [वधूवरकी परिस्थिति ऐसी होनी चाहिये ।] ॥ ९ ॥

जब वधू अपने पतिके घर जावे तब वह रथमें बैठकर जावे । उसको दो उत्तम बैल (या घोडे) जोते हुए हों । समय हुआ तो वे उत्तम श्वेतवर्ण के हों । (वस्तुतः वधूका मनही वह रथ है बाह्य रथकी अपेक्षा वधूका मनही ऐसा चाहिये कि जिसमें वे रथ आदि बाह्य आडम्बर कल्पनासेही पूर्ण हों ।) ॥ १० ॥

इस वधूके रथके वाहक वेदमंत्रों द्वारा चलने और साथसाथ सामवेद मन्त्रोंका पाठन होता रहे । यह वधू इसलिये गृहस्थाश्रम स्वीकारने के लिये पतिके घर जाती है कि इसका स्वर्गका मार्ग सुगम्य हो अर्थात् पतिपत्नी मिलकर ऐसा आचरण करें कि जिससे उनको सहज स्वर्ग प्राप्त हो जाय ॥ ११ ॥

वह वधू पतिके घर जाते समय जिस मनोमय रथपर बैठती है उसके चक्र शुद्ध हों । (यहां आचरणसम्बन्धी शुद्धता और मनोरथों की पवित्रता वधू धारण करे यह बात सूचित की है ।) ॥ १२ ॥

सूर्याया वहतुः प्रागात्सविता यमवासृजत् । मघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनीषु व्युह्यते ॥१३॥
यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः ।
क्वैकं चक्रं वामासीत्क्व देष्ट्राय तस्थथुः ॥१४॥
यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप ।
विश्वे देवा अनु तद्वामजानन् पुत्रः पितरमवृणीत पूषा ॥१५॥
द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः । अथैकं चक्रं यद्गुहा तदद्धातय इद्विदुः ॥१६॥
अर्यमणं यजामहे सुबन्धुं पतिवेदनम् । उर्वारुकमिव बन्धनात्प्रेतो मुञ्चामि नामुतः ॥१७॥

अर्थ- (यं सविता अवासृजत्) जिसको सविताने भेजा था वह (सूर्यायाः वहतुः प्रागात्) सूर्याका दहेज आगे गया है। (मघासु गावः हन्यन्ते) मघा नक्षत्रोंमें गौवें भेजी जाती हैं। और (फल्गुनीषु व्युह्यते) फल्गुनी नक्षत्रोंमें विवाह होता है। १३ ॥

हे (अश्विना) अश्विदेवो ! (यत् सूर्यायाः वहतुं) जब सूर्याका दहेज लेकर (पृच्छमानौ त्रिचक्रेण अयातं) तुम दोनों पूछते हुए तीन चक्रोंवाले रथसे चले, तब [वां एकं चक्रं] तुम्हारा एक चक्र (क्व आसीत्) कहां था, और तुम दोनों (देष्ट्राय क्व तस्थथुः) दानदेनेके लिये कहां ठहरे थे ? ॥ १४ ॥

हे [शुभस्पती] शुभ करनेवाले ! तुम दोनों (यत् वरेयं सूर्यां उप अयातं) जब वरके द्वारा वरने योग्य सूर्याके समीप गये [वां तत् विश्वे देवाः अन्वजानन्] तुम्हारा यह कर्म सब देवोंने पसंद किया था (पूषा पुत्रः पितरं अवृणीत) पूषाने पुत्र पिताको स्वीकार करनेके समान तुम्हारा स्वीकार किया ॥ १५ ॥

हे (सूर्ये) सूर्या ! (ते द्वे चक्रे ब्रह्माणः ऋतुथा विदुः) तेरे दोनों चक्रों को ज्ञानी लोग ऋतुके अनुसार जानते हैं। (अथ यत् एकं चक्रं गुहा) और जो एक चक्र गुप्त है (तत् अद्धातयः इत् विदुः) उसको विशेष ज्ञानी ही जानते हैं ॥ १६ ॥

(सुबन्धुं पतिवेदनं) उत्तम बन्धुबान्धवोंसे युक्त पतिको प्राप्त करानेवाले (अर्यमणं यजामहे) श्रेष्ठ मनवालेका हम सत्कार करते हैं। (उर्वारुकं बन्धनात् इव) ककडी जैसा बेलके बन्धनसे दूर होता है, उस प्रकार (इतः प्र मुञ्चामि) इस पितृकुलसे तुझे छुडाता हूं, (न अमुतः) परंतु पतिकुलसे नहीं अलग करता अर्थात् पतिकुलसे जोडता हूं ॥१७॥

भावार्थ- वधूका पिता दहेज समर्पण करनेके लिये भेजनेकी दहेज पहिले वरके स्थानपर पहुंचावे। वह पहिले वहां पहुंचे और पश्चात् विवाह हो। जैसा मघा नक्षत्रमें गौवें भेजी जांय तो फल्गुनी नक्षत्रमें विवाह होवे ॥ १३ ॥

वधूकी ओरसे जो दहेज वरके पास भेजा जाता है वह ले जानेवाले सज्जन (यहां दो अश्विनी देव) अपने रथमें बैठकर के वहां पूछ पूछ कर ठीक वरके स्थानपर पहुंच जांय। वे ही वधूके रथको वरके स्थानका मार्ग दिखानेवाले होंवे, इस लिये वे किसी योग्य स्थानपर ठहरें ॥ १४ ॥

वरकी ओरसे मंगनी करनेवाले (दोनों अश्विनीकुमार) जो वैद्य वधूके पिताके पास कन्याकी मंगनी करनेके लिये आवें तब लोग उनका सन्मान देवें। जैसा पुत्र पिताका आदरके साथ स्वागत करता है वैसा उन मंगनी करनेके लिये आनेवालोंका स्वागत वधूका पिता करे ॥ १५ ॥

सूर्या नामक सविताकी पुत्री तीन चक्रोंवाले रथपर बैठकर अपने पतिके घर गई थी। इसी तरह वधू रथमें बैठकर पतिके घर जावे। रथके व्यक्त और गुप्त चक्रोंको ज्ञानी लोग जानें ॥ १६ ॥

श्रेष्ठ मनवाला बन्धुबान्धवोंसे युक्त सज्जनही कन्याका पति बनें। कन्याका पति किसी हीन मनुष्यको कभी न किया जाय। जैसे पका हुआ खरबूजा बन्धनसे मुक्त होता है उस प्रकार वधू अपने पितृकुलसे अपना संबन्ध छोड देवे परंतु पतिकुलसे संबन्ध कभी न छूटे ॥ १७ ॥

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्। यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥ १८ ॥
प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवाः।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके स्योनं ते अस्तु सहसंभलायै ॥ १९ ॥
भगस्त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥ २० ॥ (२)
इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं सं स्पृशस्वाथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥ २१ ॥
इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥ २२ ॥

अर्थ- (इतः प्रमुञ्चामि न अमुतः) यहां [पितृकुल]से तुझे मुक्त करता हूं परंतु वहां (पतिकुल)से नहीं। (अमुतः सुबद्धां करं) वहांसे तो मैं उत्तम प्रकार बंधी हुई करता हूं। हे (मीढ्वः इन्द्र) दाता इन्द्र! [यथा इयं] जैसे यह वधू (सुपुत्रा सुभगा असति) उत्तम पुत्रवाली और उत्तम भाग्यसे युक्त होवे ॥ १८ ॥

(त्वा वरुणस्य पाशात् प्र मुञ्चामि) तुझको मैं वरुणके पाशसे मुक्त करता हूं (येन त्वा सुशेवाः सविता अबध्नात्) जिससे तुझे सेवा करनेयोग्य सविताने बांधा था। (ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके) सत्याचारीके घरमें और सत्कर्म करनेवालोंके लोकमें (सह-संभलायै ते) पतिके सहवर्तमान तुझे (स्योनं अस्तु) सुख होवे ॥ १९ ॥

(भगः त्वा हस्तगृह्य इतः नयतु) भग तुझे हाथ पकडकर यहांसे ले जावे, अश्विना (त्वा रथेन प्र वहतां) अश्विदेव तुझे रथमें बिठलाकर पहुंचावें। (गृहान् गच्छ) घरको जा। (यथा गृहपत्नी वशिनी असः) वहां तू घरकी स्वामिनी और सबको वशमें रखनेवाली हो। वहां (त्वं विदथं आवदासि) तू उत्तम विवेकका भाषण कर ॥ २० ॥

(इह ते प्रजायै प्रियं समृध्यतां) यहां तेरे संतानके लिये प्रिय वस्तु बढे। (अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि) इस घरमें गृहस्थधर्मके लिये जागती रह। (एना पत्या तन्वं संस्पृशस्व) इस पतिके साथ अपने शरीरका स्पर्श कर (अथ जिर्विः) बाद तू वृद्ध होनेपर (विदथं आ वदासि) उत्तम उपदेश कर ॥ २१ ॥

(इह एव स्तं) यहांही रहो (मा वि यौष्टं) कभी वियुक्त न हो। [पुत्रैः नप्तृभिः क्रीडन्तौ] पुत्रों और नातियोंसे खेलते हुए [मोदमानौ स्वस्तकौ] आनंदित होकर अपने घरमें सुखसे रहते हुए [विश्वं आयुः व्यश्नुतं] पूर्ण आयुका भोग करो ॥ २२ ॥

भावार्थ- वधूका बंधन पितृकुलसे छूटे, परंतु पतिके कुलसे न छूटे। पतिकुलसे बंधन दृढ होवे। परमेश्वर इस वधूको पतिकुलमें उत्तम पुत्रोंसे युक्त और उत्तम भाग्यसे युक्त करे ॥ १८ ॥

विवाह होते ही कन्या वरुणके बन्धनोंसे मुक्त होती है। [illegible] कन्याका विवाह होते ही वह पतिके घर सत्याचारी और सत्कर्म करनेवालोंके घरमें पहुंचती है। पतिके घर वधूको सर्वविध सुख मिलना चाहिये ॥ १९ ॥

वधूका हाथ पकडकर भाग्यवान देव उसको पतिके घर ले जावे, अश्विदेव रथमें बिठलाकर विवाहके पश्चात् पतिके घर पहुंचावे। इस तरह वधू पतिके घर पहुंचे। वहां पतिके घरकी स्वामिनी और सबको अपने वशमें रखनेवाली होकर रहे। ऐसी स्त्री ही [illegible] उत्तम सम्मति दे सकती है ॥ २० ॥

इस धर्मपत्नीके संतान उत्तम सुखमें रहें। यह धर्मपत्नी अपना गृहस्थाश्रम उत्तम रीतिसे चलावे। यह धर्मपत्नी अपने पतिके साथ सुखसे रहे। जब इस तरह धर्मभावसे गृहस्थाश्रम चलाती हुई यह स्त्री वृद्ध होगी तब वह लोगोंको उपदेश देने योग्य होगी ॥ २१ ॥

स्त्री पुरुष एकसाथ घरमें रहें कभी विभक्त न हों। अपने बालबच्चोंके साथ खेलते अपने घरमें आनंद मनावें और धर्मानुसार गृहस्थाश्रम चलाते हुए संपूर्ण आयुष्य उपभोग करें ॥ २२ ॥

१ (अ इ भा. पं १४)

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम्।
विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः॥ २३॥
नवोनवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः॥ २४॥
परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु। कृत्यैषा पद्वती भूत्वा जाया विशते पतिम्॥ २५॥
नीललोहितं भवति कृत्यासक्तिर्व्यज्यते। एधन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्बन्धेषु बध्यते॥ २६॥
अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया। पतिर्यद् वध्वो वाससः स्वमङ्गमभ्यूर्णुते॥ २७॥

अर्थ — [एतौ शिशू क्रीडन्तौ] ये दोनों बालक खेलते हुए [मायया पूर्वापरं चरत] शक्तिसे आगे पीछे चलते हैं और [अर्णवं परि यात] समुद्रतक भ्रमण करते हुए पहुंचते हैं। [अन्यः विश्वा भुवना विचष्टे] उनमेंसे एक सब भुवनोंको प्रकाशित करता है और [अन्यः ऋतून् विदधत् नवः जायते] दूसरा ऋतुओंको बनाता हुआ नया नया बनता है॥ २३॥

[जायमानः नवः नवः भवसि] प्रकट होता हुआ नया नया होता है। [अह्नां केतुः उषसां अग्रं एषि] दिनों को बतानेवाला और उषाओंके अग्र भागमें होता है। [आयन् देवेभ्यः भागं विदधासि] आता हुआ देवोंके लिये विभाग समर्पण करता है। तथा हे चन्द्रमा! [दीर्घं आयुः प्र तिरसे] तू दीर्घ आयु देता है॥ २४॥

[शामुल्यं परा देहि] वह उत्तम वस्त्र दान कर। [ब्रह्मभ्यः वसु विभज] ब्राह्मणोंको धन दे। जब [एषा कृत्या जाया पद्वती भूत्वा] यह पत्नी कृत्या अर्थात् विनाशक स्वभाववाली सी बनकर [पतिं विशते] पतिके पास जाती है॥ २५॥

[नीललोहितं भवति] नीला और लाल बनता है, क्रोधयुक्त होता है तब [कृत्यासक्तिः व्यज्यते] विनाशकी इच्छा बढती है [अस्याः ज्ञातयः एधन्ते] इसके जातिके मनुष्य बढते हैं। और [पतिः बन्धेषु बध्यते] पति बन्धनमें बांधा जाता है॥ २६॥

[यत् वध्वाः वाससः] जब स्त्रीके वस्त्रसे [पतिः स्वं अंगं अभि ऊर्णुते] पति अपने शरीरको आच्छादित करता है, तब [अमुया पापया] इस पापी रीतिसे [रुशती तनूः] सुन्दर शरीर हुआ तो भी [अश्लीला भवति] शोभारहित होता है॥ २७॥

भावार्थ — इन गृहस्थियोंके बालक छोटी बडी आयुमें अपनी शक्तिसे खेलते कूदते हुए बडे होकर समुद्रतक पुरुषार्थ करते हुए जावें। एक सब जगत को प्रकाशित किया करे दूसरा ऋतुके अनुसार नवीन नवीन होकर जगतको प्राप्त हो। अर्थात् गृहस्थियोंके पुत्र अपने पुरुषार्थसे जगत को प्रकाशित करें॥ २३॥

गृहस्थी लोग नये नये उत्साहसे पुरुषार्थ करते हुए जनोंको प्रकाशित करनेवाले सूर्यके समान बनके मार्गदर्शक हों। यज्ञमें देवोंका भाग उनको समर्पण करें और चन्द्रमाके समान आनन्द व्यतीत करते हुए दीर्घ आयुका उपभोग लें॥ २४॥

विवाहके समय उत्तम उत्तम वस्त्र विद्वान् ब्राह्मणोंको दान दिये जावें और उनको धन भी बांटा जावे। (ये ब्राह्मण वधूको शिक्षा देवें। यदि वधूको उत्तम शिक्षा न मिली) तो वह वधू पतिके घर प्रवेश करके सब कुलका विनाश कर सकती है। (वधूके अपमानसे कुलका नाश होता है)॥ २५॥

[पति कुलमें वधूका अपमानादि होता रहा तो] कुल खराब होता है, वह दुराचारी वधूकी विनाशक बुद्धि बढ जाती है उसके पितृके संबंधी लोग बलवान् हो जाते हैं और इस प्रकार बिचारा पति बन्धनमें फंसता है। [इसलिये वधूको उत्तम शिक्षा देनी चाहिये।]॥ २६॥

स्त्रीका वस्त्र पुरुष कभी न पहने। यदि किसीने पहना तो उसके पतिका तेजस्वी शरीर भी शोभारहित होजाता है॥ २७॥

आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम्। सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मोत शुम्भति ॥२८॥
तृष्टमेतत् कटुकमपाष्ठवद्विषवन्नैतदत्तवे। सूर्यां यो ब्रह्मा वेद स इद् वाधूयमर्हति ॥ २९ ॥
स इत् तत् स्योनं हरति ब्रह्मा वासः सुमङ्गलम्। प्रायश्चित्तिं यो अध्येति येन जाया न रिष्यति
युवं भगं सं भरतं समृद्धमृतं वदन्तावृतोद्येषु ॥३०॥
ब्रह्मणस्पते पतिमस्यै रोचय चारु संभलो वदतु वाचमेताम् ॥ ३१ ॥
इहेदसाथ न परो गमाथेमं गावः प्रजया वर्धयाथ।
शुभं यतीरुस्रियाः सोमवर्चसो विश्वे देवाः क्रन्निह वो मनांसि ॥ ३२ ॥

अर्थ-[आशसनं विशसनं] काटनेवाला वस्त्र सिरका वस्त्र तथा [अथो अधिविकर्तनं] और कमरपर रखनेवाला वस्त्र इनमें [सूर्यायाः रूपाणि पश्य] सूर्याके रूप देख। [तानि ब्रह्मा शुम्भति] इनको ब्राह्मण तेजस्वी करता है ॥ २८ ॥

[एतत् तृष्टं] यह तृषा उत्पन्न करनेवाला है [कटुकं] यह कडुवा है [अपाष्ठवत् विषवत्] यह दूषित और यह विषयुक्त जैसा है अतः [एतत् अत्तवे न] यह खानेके योग्य नहीं है। [यः ब्रह्मा सूर्यां वेद] जो ब्राह्मण सूर्याको इस तरह जानता है [सः इत् वाधूयं अर्हति] वह निःसंदेह वधूकी ओरसे वस्त्र लेनेयोग्य है ॥ २९ ॥

[सः इत्] वही निश्चयसे (तत् सुमङ्गलं स्योनं वासः हरति) उस मंगल और सुखकर वस्त्रको लेता है। [यः प्रायश्चित्तिं अध्येति] जो प्रायश्चित्त प्रकरण अर्थात् चित्त शुद्ध करनेका अध्ययन करता है (येन जाया न रिष्यति) जिससे पत्नी नष्ट नहीं होती ॥ ३० ॥

(युवं ऋत-उद्येषु ऋतं वदन्तौ) तुम दोनों सत्य व्यवहारोंमें रह कर सत्य बोलते हुए (समृद्धं भगं संभरतं) समृद्धियुक्त भाग्य प्राप्त करो। हे ब्रह्मणस्पते! (पतिं अस्यै रोचय) पतिके विषयमें इस स्त्रीके मनमें रुचि उत्पन्न कर। (संभलः एतां वाचं चारु वदतु) पति इन वाणीको सुन्दरतासे बोले ॥ ३१ ॥

हे (गावः) गौवो! (इह इत् असाथ) तुम यहां ही रहो। [न परः गमाथ] मत दूर जाओ। (इमं प्रजया वर्धयाथ) इसको उत्तम संततिके साथ बढाओ। हे [उस्रियाः] गौवो! आप [शुभं यतीः सोमवर्चसः] शुभको प्राप्त करानेवाली और चन्द्रके समान तेजस्वितासे युक्त होओ। [विश्वे देवाः वः मनांसि इह क्रन्] सब देव तुम्हारे मनोंको यहां स्थिर करें ॥ ३२ ॥

भावार्थ— एक वस्त्र काटनेवाला होता है दूसरा दुःखका जैसा चमत्कार होता है तीसरा ओढनेका वस्त्र होता है। इन वस्त्रोंसे वधूके रूपकी सुंदरता जानी जाये। इन वस्त्रोंके संबंधका योग्य ज्ञान ब्राह्मण पुरोहितोंको देवे जिससे वस्त्रोंके दोष दूर हो जांय ॥२८॥

एक वस्त्र तृष्णाको बढानेवाला दूसरा कडुवा तीसरा बुरा दुष्ट और चौथा विषयुक्त होता है। इस प्रकारके अन्न महीसे मैंसे खानेयोग्य नहीं हैं। इस तरह भी विवाह देनेवाले ब्राह्मणको वधूकी ओरसे वस्त्र दिया जावे ॥ २९ ॥

जो ब्राह्मण चित्त शुद्ध करनेका ज्ञान जानता है जिस ज्ञानके प्राप्त होनेसे स्त्री का चित्त नष्ट नहीं होता इस प्रकारकी शुद्धता देनेवाले अध्यापक ब्राह्मणको ही मंगल और सुंदर वस्त्र देना उचित है और ऐसा ब्राह्मण ही वस्त्र दान लेवे ॥ ३० ॥

गृहस्थी स्त्रीपुरुष सीधे व्यवहार करें, सत्य बोलें और धनसंपत्ति कमावें। पत्नीके मनमें पतिके विषयमें बडा आदरभाव रहे और पति भी सुंदर और मधुर भाषण करे ॥ ३१ ॥

गृहस्थीके घरमें गौवें रहें, गौवें भाग न जावें। गौवें बछडे देती रहें। उनकी संख्या बढ जाय। गौवें शुभगमनवाली और तेजयुक्त हों और गौवें भी घरवालोंपर प्रीति करें ॥ ३२ ॥

*

इमं गावः प्रजया सं विशाथायं देवानां न मिनाति भागम्।
अस्मै वः पूषा मरुतश्च सर्वे अस्मै वो धाता सविता सुवाति ॥ ३३ ॥
अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थानो येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम्।
सं भगेन समर्यम्णा सं धाता सृजतु वर्चसा ॥ ३४ ॥
यच्च वर्चो अक्षेषु सुरायां च यदाहितम्। यद्गोष्वश्विना वर्चस्तेनेमां वर्चसावतम् ॥ ३५ ॥
येन महानघ्न्या जघनमश्विना येन वा सुरा। येनाक्षा अभ्यषिच्यन्त तेनेमां वर्चसावतम् ॥ ३६ ॥
यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तर्यं विप्रास ईडते अध्वरेषु।
अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्यावान् ॥ ३७ ॥

अर्थ- हे [गावः] गौवे ! [इमं प्रजया सं विशाथ] इसके घरमें अपनी सन्तानके साथ प्रवेश करो। [अयं देवानां भागं न मिनाति] यह देवोंके भागका लोप नहीं करता है। [पूषा सर्वे मरुतः] पूषा और सब मरुत् [धाता सविता] धाता और सविता [अस्मै अस्मै वः सुवाति] इसी मनुष्यके लिये तुमको उत्पन्न करता है ॥ ३३ ॥

[पन्थानः अनृक्षराः ऋजवः सन्तु] सब मार्ग कण्टकरहित और सरल हों [येभिः नः सखायः वरेयं यन्ति] जिनसे हमारे सब मित्र कन्याके घरके प्रति पहुंचते हैं। [धाता भगेन अर्यम्णा वर्चसा सं सं सृजतु] विधाता, भग और अर्यमाके द्वारा तेजसे हमें संयुक्त करे ॥ ३४ ॥

हे [अश्विनौ] अश्विदेवो ! [यत् वर्चः अक्षेषु] जो तेज आंखोंमें होता है और [यत् सुरायां आहितं] जो सम्पत्तिमें रखा होता है [यत् च वर्चः गोषु] जो तेज गौवोंमें है [तेन वर्चसा इमां अवतं] उस तेजसे इसकी रक्षा करो ॥ ३५ ॥

हे [अश्विनौ] अश्विदेवो ! [येन महानघ्न्याः जघनं] जिससे बडी गौका जघन अर्थात् जिसका गुप्तस्थान [येन वा सुरा] जिससे सम्पत्ति [येन अक्षाः अभ्यषिच्यन्त] जिससे आंखें भरपूर रहती हैं [तेन वर्चसा इमां अवतं] उस तेजसे इस वधूकी रक्षा करो ॥ ३६ ॥

[यः अप्सु अन्तः अनिध्मः दीदयत्] जो जलोंमें इन्धनोंके बिना चमकता है [यं विप्रासः अध्वरेषु ईडते] जिसकी ज्ञानी लोग यज्ञोंमें स्तुति करते हैं। हे [अपां नपात् ! मधुमतीः अपः दाः] जलोंके न गिरानेवाले देव ! मीठा जल हमें दो। [याभिः वीर्यावान् इन्द्रः वावृधे] जिससे वीर्यवान् इन्द्र बढता है ॥ ३७ ॥

भावार्थ- गौवें अपने बछडोंके साथ घरमें प्रवेश करें। गृहस्थ देवयज्ञ प्रतिदिन करे कभी यज्ञका लोप न हो। सब देव इस गृहस्थीके घरमें गौओं की संख्या बढावें ॥ ३३ ॥

वरके तथा वधूके घर जानेके मार्ग कण्टकरहित और सरल हों। परमेश्वर इन गृहस्थियोंको तेजस्वी करके उन्नत करे ॥ ३४ ॥

जो तेज आंखोंमें, ऐश्वर्यमें और गौवोंमें होता है उस तेजसे यह वधू युक्त हो। यह भी तेजस्विनी हो ॥ ३५ ॥

जिस तेजसे गौका गुप्तस्थान तेजस्वी हुआ है जो तेज ऐश्वर्यमें और आंखोंमें होता है उस तेजसे यह भी युक्त होवे और यह भी अपने कर्ममें सुरक्षित रहे ॥ ३६ ॥

जलोंमें इन्धनोंके बिना चमकनेवाला तेज है, जलोंमें विद्युत्का [illegible] तेज है, और जलोंमें मधुरता है और वीर्य भी है। इन जल, [illegible] माधुर्य और वीर्य से ये गृहस्थी युक्त हों। इस रसके सेवनसे इन्द्र महान् हुआ है ॥ ३७ ॥

इदमहं रुशन्तं ग्राभं तनूदूषिमपोहामि । यो भद्रो रोचनस्तमुदचामि ॥ ३८ ॥
आस्यै ब्राह्मणाः स्नपनीर्हरन्त्ववीरघ्नीरुदजन्त्वापः ।
अर्यम्णो अग्निं पर्येतु पूषन् प्रतीक्षन्ते श्वशुरो देवरश्च ॥ ३९ ॥
शं ते हिरण्यं शमु सन्त्वापः शं मेथिर्भवतु शं युगस्य तर्द्म ।
शं त आपः शतपवित्रा भवन्तु शमु पत्या तन्वं सं स्पृशस्व ॥ ४० ॥ (४)
खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो । अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्वाकृणोः सूर्यत्वचम् ॥ ४१ ॥
आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम् । पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम् ॥ ४२ ॥

अर्थ- [इदं अहं तनूदूषिं रुशन्तं ग्राभं अपोहामि] यह मैं शरीरमें दोष उत्पन्न करनेवाले हिंसक रोगको दूर करता हूं। और [यः भद्रः रोचनः तं उदचामि] जो कल्याणमय तेजस्वी है उसको प्राप्त करता हूं ॥ ३८ ॥

[ब्राह्मणाः अस्यै स्नपनीः आपः आहरन्तु] ब्राह्मण लोग इसके लिये स्नानका जल ले आवें। [अवीरघ्नीः आपः उदजन्तु] वीरका नाश न करनेवाला जल ले आवें। [अर्यम्णः अग्निं पर्येतु] यह अर्यमाके अग्निकी प्रदक्षिणा करे। हे [पूषन्] पूषा! [श्वशुरः देवरः च प्रतीक्षन्ते] श्वशुर और देवर प्रतीक्षा करें ॥ ३९ ॥

[ते हिरण्यं शं] तेरे लिये सुवर्ण कल्याणकारी होवे [उ आपः शं भवन्तु] और जल सुखकर होवे [मेथिः शं भवतु] मेथी बांधनेका स्तंभ सुखदायी हो। तथा (युगस्य तर्द्म शं) जुएका छिद्र सुखकर हो [ते शतपवित्राः आपः शं भवन्तु] तेरे लिये सौ प्रकारसे पवित्रता करनेवाला जल सुखदायी होवे। [पत्या तन्वं सं स्पृशस्व] पतिके साथ अपने शरीरका स्पर्श सुखकारक रीतिसे कर ॥ ४० ॥

हे [शतक्रतो इन्द्र] सैकडों कर्म करनेवाले इन्द्र! [रथस्य खे] रथके छिद्रमें [अनसः खे] गाडेके छिद्रमें और [युगस्य खे] जुएके छिद्रमें [अपालां त्रिः पूत्वा] अपालाको तीन बार पवित्र करके [सूर्यत्वचं अकृणोः] सूर्यके समान तेजस्वी त्वचावाली तूने किया ॥ ४१ ॥

[सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिं आशासाना] उत्तम मन, संतान, सौभाग्य और धन की आशा करनेवाली तू [पत्युः अनुव्रता भूत्वा] पतिके अनुकूल आचरण करनेवाली होकर [अमृताय कं सं नह्यस्व] अमरत्वके लिये सुखपूर्वक तैयार हो ॥ ४२ ॥

भावार्थ- शरीरमें दोष उत्पन्न करनेवाले रोगजन्तुओंको दूर करना चाहिये और जिससे शरीर नीरोगी और आनन्दप्रसन्न होता है, उसको प्राप्त करना चाहिये ॥ ३८ ॥

ब्राह्मण लोग बतावें कि यह जल स्नान करनेयोग्य है यह जल वीरताका नाश करनेवाला नहीं है। वधूवर मेल मन धारण करके अग्निकी प्रदक्षिणा करें। ऐसे गुणवाली वधूकी प्रतीक्षा पतिगृहमें श्वशुर और देवर करते रहते हैं ॥ ३९ ॥

सुवर्ण, जल, मेथी बांधनेका स्तंभ जुएके साथ आदि सब गृहस्थके कल्याण करनेवाले हों। जल तो सौ प्रकारसे पवित्रता करनेवाला है। गृहस्थके कार्यमें धर्मपत्नी पतिके साथ मिल जुलकर रहे ॥ ४० ॥

गृहस्थ तथा स्त्री अपनी तीन प्रकारकी शुद्धता प्रभुकी उपासना करके सूर्यके समान तेजस्वी बनकर यहां विराजें ॥ ४१ ॥

गृहस्थके घरमें स्त्री उत्तम मन उत्तम संतान सौभाग्य व धन की इच्छा करती हुई पतिके अनुकूल कर्म करती हुई अमरत्व प्राप्तिके लिये सुखदायी कार्यका आरम्भ करे ॥ ४२ ॥

त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम्।
तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परि धत्तां प्रजया ॥ ५३ ॥
इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा।
बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु ॥ ५४ ॥
बृहस्पतिः प्रथमः सूर्यायाः शीर्षे केशाँ अकल्पयत्।
तेनेमामश्विना नारीं पत्ये सं शोभयामसि ॥ ५५ ॥
इदं तद्रूपं यदवस्त योषा जायां जिज्ञासे मनसा चरन्तीम्।
तामन्वर्तिष्ये सखिभिर्नवग्वैः क इमान् विद्वान् वि चचर्त पाशान् ॥ ५६ ॥
अहं वि ष्यामि मयि रूपमस्या वेददित् पश्यन् मनसः कुलायम्।
न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान् ॥ ५७ ॥

अर्थ-[त्वष्टा वासः] त्वष्टाने वस्त्र [शुभे कं] कल्याण और सुख होनेके लिये [बृहस्पतेः कवीनां प्रशिषा] ज्ञानी और कवियोंकि आज्ञाके साथ [व्यदधात्] बनाया है। [तेन इमां नारीं] उससे इस स्त्रीको [सविता भगः च] सविता और भग सूर्याको जैसा पहिनाता है उस प्रकार (प्रजया परिधत्तां) संतानके साथ संयुक्त करे ॥ ५३ ॥

(इन्द्राग्नी) इन्द्र अग्नि, (द्यावापृथिवी) द्युलोक भूमि (मातरिश्वा वायु मित्र वरुण भग, (उभा अश्विना) दोनों अश्विनी कुमार बृहस्पति मरुत ब्रह्म सोम ये सब (इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु] इस स्त्रीको सन्तानके साथ बढावें ॥ ५४ ॥

(बृहस्पतिः प्रथमः) बृहस्पतिने सबसे प्रथम (सूर्यायाः शीर्षे केशान् अकल्पयत्] सूर्याके सिरपर केशोंको बनाया। [तेन] उस तरह (अश्विना) अश्विनी कुमार (इमां नारीं पत्ये सं शोभयामसि] इस स्त्रीको पतिके लिये सुशोभित करें ॥ ५५ ॥

[यत् योषा अवस्त इदं तत् रूपं) जो स्त्रीने वस्त्र धारण किया उसका रूप यह है। [मनसा चरन्तीं जायां जिज्ञासे] मनसे भ्रमण करनेवाली स्त्रीको मैं जानता हूं। (नवग्वैः सखिभिः तां अन्वर्तिष्ये) नयों और मित्रोंके साथ उसका मैं अनुसरण करता हूं। (कः विद्वान् इमान् पाशान् वि चचर्त) कौन ज्ञानी इन पाशोंको काट सकता है ? ॥ ५६ ॥

(अहं वि ष्यामि) मैं खोलता हूं (अस्याः मयि रूपं) जो इसका रूप मुझमें है। (मनसः कुलायं पश्यन् इत् वेद) मनका घोंसला देखकर ही ज्ञान होता है। (न स्तेयं अद्मि) मैं चोरी करके नहीं खाता हूं। मैं (स्वयं वरुणस्य पाशान् श्रथ्नानः) स्वयं वरुणके पाशोंको शिथिल करता हुआ (मनसा उत् अमुच्ये] मनसे मुक्त होता हूं ॥ ५७ ॥

भावार्थ— इस स्त्रीके सुखके लिये बनाया यह वस्त्र है ज्ञानी महात्माओंने इसको आशीर्वाद दिया है। यह धर्मपत्नी इसको पहिने और इसको इससे उत्तम सन्तानसे युक्त होवे ॥ ५३ ॥

इन्द्रादि सब देव आशीर्वाद देकर इस नारीको उत्तम सन्तानोंके साथ बढावें ॥ ५४ ॥

स्त्रीके सिरपर उत्तम बाल हों और वह नारी पति की प्रसन्नताके लिये सुशोभित हो ॥ ५५ ॥

स्त्रीका उत्तम वस्त्रधारण करनेसे जो रूप बनता है वही दर्शनीय है। मनका चालचलन कैसा है यह भी उसे देखना चाहिये। यदि सज्जनोंने धर्मपत्नीको अपने पास रख लिया। विपत्तिके पाशोंको कौन विद्वान् काट सकता है ? ॥ ५६ ॥

मैं इन बन्धनोंको खोलता हूं। इस मेरी धर्मपत्नीका रूप देखकर मैंने लिया है। इसके मनकी परीक्षा करके ही इसे मैंने ग्रहण किया है। मैं जो भोग करता हूं वह सत्यसे कमाये धनका भोग करता हूं चोरीके धनका भोग मैं नहीं करता। मैं बन्धके पाशोंको शिथिल करता हुआ मनसे सदा मुक्त होता हूं ॥ ५७ ॥

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाऽबध्नात् सविता सुशेवाः ।
उरुं लोकं सुगमत्र पन्थां कृणोमि तुभ्यं सहपत्न्यै वधु ॥५८॥
उद्यच्छध्वमप रक्षो हनाथेमां नारीं सुकृते दधात ।
धाता विपश्चित् पतिमस्यै विवेद भगो राजा पुर एतु प्रजानन् ॥५९॥
भगस्ततक्ष चतुरः पादान् भगस्ततक्ष चत्वार्युष्पलानि ।
त्वष्टा पिपेश मध्यतोऽनु वर्ध्रान्त्सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥६०॥
सुकिंशुकं वहतुं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् ।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम् ॥६१॥
अभ्रातृघ्नीं वरुणापशुघ्नीं बृहस्पते । इन्द्रापतिघ्नीं पुत्रिणीमास्मभ्यं सवितर्वह ॥६२॥

अर्थ– हे (वधु) स्त्री ! [त्वा वरुणस्य पाशात् प्रमुञ्चामि] तुझको वरुणके पाशसे मुक्त करता हूं । [येन सुशेवाः सविता त्वा अबध्नात्) जिनसे सेवा करनेयोग्य सविताने तुझे बांध दिया था । [तुभ्यं सहपत्न्यै] तुझ सहधर्मचारिणीके लिये (अत्र उरु लोक सुग पन्थां कृणोमि] यहां विस्तृत स्थान और उत्तम गमनयोग्य मार्ग करता हूं ॥ ५८ ॥

[उद् यच्छध्वं] अपने शस्त्रोंको ऊपर उठाओ । (रक्षः अप हनाथ) राक्षसोंको मारो । (इमां नारीं सुकृते दधात) इस स्त्रीको पुण्य कर्ममें रखो । (विपश्चित् धाता अस्मै पतिं विवेद) ज्ञानी विधाताने इसके लिये पति प्राप्त कराया है । (भग राजा प्रजानन् पुरः एतु) राजा भग जानता हुआ आगे चले ॥ ५९ ॥

(भगः चतुरः पादान् ततक्ष] भगने चार पावोंको बनाया, उसपर (भगः चत्वारि उष्पलानि ततक्ष) भगने चार कपलोंको बनाया । [त्वष्टा मध्यतः वर्ध्रान् अनु पिपेश] त्वष्टाने मध्यमें कमरपट्टोंको बनाया । (सा नः सुमंगली अस्तु) वह हमारे लिये उत्तम मंगल करनेवाली होवे ॥ ६० ॥

हे (सूर्ये) सूर्ये ! (सुकिंशुकं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रं वहतुं आरोह) उत्तम पुष्पोंसे युक्त, अनेक रूपवाला, सोनेके रंगके समान चमकनेवाला उत्तम वेष्टनोंसे युक्त उत्तम चक्रोंसे युक्त इस रथपर चढ । (अमृतस्य लोकं आरोह) अमृतके लोकपर चढ । (त्वं वहतुं पतिभ्यः स्योनं कृणु) तू इस विवाह दहेज या रथको पतियोंके लिए सुखदायी कर ॥ ६१ ॥

हे(वरुण बृहस्पते इन्द्र सवितः)देवो! (अभ्रातृघ्नीं) यह वधू भाइयोंका वध न करनेवाली,(अपशुघ्नीं अपतिघ्नीं,पुत्रिणीं अस्मभ्यं वह)पशुका वध न करनेवाली पतिका नाश न करनेवाली और पुत्र उत्पन्न करनेवाली हमारे लिये प्राप्त करो॥६२॥

भावार्थ– सविताने तुझे इस समयतक जिन पाशोंसे बांध रखा था उन वरुणके पाशोंको मैं खोलता हूं । तुझ जैसी सुयोग्य धर्मपत्नीके लिये यहां विस्तृत लोक प्राप्त हुआ है और उन्नतिका मार्ग सुगम हुआ है ॥ ५८ ॥

इस धर्मपत्नीको कष्ट देनेवाले राक्षसोंका नाश करनेके लिये तुम लोग हथियार सदा सुसज्जित रखो । सदा इस स्त्रीको पुण्यकर्ममें लगाओ । ज्ञानी विधाताकी संमतिसे इसको यह पति प्राप्त हुआ है । राजा भी यह जानता हुआ विवाहमें अग्रगामी हुआ था ॥ ५९ ॥

भगने पांवोंके चार आभूषण और शरीरपर धारण करनेके चार फूल बनाये और कमरमें धारण करनेयोग्य कमरपट्टा बनाया है । इनको धारण करके यह स्त्री उत्तम मंगलमयी बने ॥ ६० ॥

यह वधू उत्तम फूलोंसे युक्त, सुंदर सोनेके वर्णकी चमकसे सुशोभित उत्तम चक्रवाले रथपर चढकर अमर पदके मार्गका आक्रमण करे । यह धर्मपत्नीका विवाहमंगल पतिके बांधवोंके लिए सुखदायक होवे ॥ ६१ ॥

यह स्त्री पतिके कुलमें पतिके भाई पशु आदिकोंको सुख देवे । पतिको सुख देवे । पुत्रोंको उत्पन्न करे । और सबको आनन्द बढानेवाली बने ॥ ६२ ॥

१ (ऋ. मं १० सू ८५)

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा। एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य ॥४३॥
सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु। ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः ॥४४॥
या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्ताँ अभितोऽददन्त।
तास्त्वा जरसे सं व्ययन्त्वायुष्मतीदं परि धत्स्व वासः ॥४५॥
जीवं रुदन्ति वि नयन्त्यध्वरं दीर्घामनु प्रसितिं दीध्युर्नरः।
वामं पितृभ्यो य इदं समीरिरे मयः पतिभ्यो जनये परिष्वजे ॥४६॥
स्योनं ध्रुवं प्रजायै धारयामि तेऽश्मानं देव्याः पृथिव्या उपस्थे।
तमा तिष्ठानुमाद्या सुवर्चा दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥४७॥

अर्थ- [यथा वृषा सिन्धुः] जैसा बलवान् समुद्र [नदीनां साम्राज्यं सुषुवे] नदियोंका साम्राज्य बनाता है [एवा त्वं पत्युः अस्तं परेत्य] वैसी तू पतिके घर पहुंचकर [सम्राज्ञी एधि] सम्राज्ञी होकर वहां रह ॥ ४३ ॥

[श्वशुरेषु सम्राज्ञी एधि] श्वशुरोंमें स्वामिनीके समान होकर रह। [उत देवृषु सम्राज्ञी] देवरोंमें भी सम्राज्ञीके समान आदरसे रह। [ननान्दुः सम्राज्ञी एधि] ननदके साथ भी रानीके समान रह और [उत श्वश्र्वाः सम्राज्ञी] सासके साथ भी सम्राज्ञीके समान होकर रह ॥ ४४ ॥

[याः देवीः अकृन्तन्] जिन देवियोंने स्वयं सूत काता है [याः च अवयन्] जिन्होंने बुना है [याः च तत्निरे] जो ताना तनती हैं [याः च अभितः अन्तान् ददन्त] और चारों ओर अन्तिम भागोंको ठीक रखती हैं, [ताः त्वा जरसे सं व्ययन्तु] वे तुझे वृद्धावस्थातक रहनेके लिये बुनें। तू [आयुष्मती इदं वासः परि धत्स्व] दीर्घ आयुवाली होकर इस वस्त्रको धारण कर ॥ ४५ ॥

[जीवं रुदन्ति] जीवित मनुष्यके विदाई पर लोग रोते हैं, [अध्वरं वि नयन्ति] यज्ञको पास ले जाते हैं [नरः दीर्घां प्रसितिं अनु दीध्युः] मनुष्य दीर्घ मार्गोंका विचार करते हैं। [ये पितृभ्यः इदं वामं समीरिरे] जो लोग अपने मातापिताके लिये यह सुन्दर कार्य करते हैं, यह [पतिभ्यः मयः जनये परिष्वजे] पतिके लिये सुखदायी है, जो स्त्रीको आलिंगन करता है ॥ ४६ ॥

[देव्याः पृथिव्याः उपस्थे] पृथ्वी देवीके पास [ते प्रजायै स्योनं ध्रुवं अश्मानं धारयामि] तेरी संतानके लिये सुखदायी स्थिर पत्थर जैसा आधार करता हूं। [तं आतिष्ठ] उसपर खडा रह, [अनुमाद्या] आनंदित हो [सुवर्चाः] उत्तम तेजसे युक्त हो। और [सविता ते आयुः दीर्घं कृणोतु] सविता तेरी आयु लंबी बनावे ॥ ४७ ॥

भावार्थ— जैसा महासागर नदियोंका सम्राट् है इस प्रकार पतिके घर पहुंचकर यह वधू गृहस्थको चलावे और सबकी सम्राज्ञी बनकर व्यवहार करे ॥ ४३ ॥

श्वशुर, देवर, ननद और सास आदि सबके साथ रानीके समान वर्ताव करे और सबको सुख देवे ॥ ४४ ॥

घरमें देवियां सूत कातें, कपडा बुनें, ताना तानें, कपडेके अन्तिम भाग ठीक करें। ऐसा उत्तम कपडा तुझे कि जो वृद्धावस्थातक काम देवे। तू दीर्घायु बनकर इस कपडेको पहने ॥ ४५ ॥

विदाईपर मनुष्य रोया करते हैं। परंतु यह कन्या यद्यपि पितृकुलसे विदा होती है, तथापि पतिके घरमें सुखका [illegible] किये जा रही है अतः इस गृहस्थाश्रमके दीर्घ मार्गका लोग विचार करें और न रोवें। पितृघरके लोगोंके लिये यह सुख का दिन है क्योंकि यह वधूके गृहस्थ प्रारंभ है। यह वधू पतिको सुख देती है और पति इसको आलिंगनसे सुख देता है। परस्पर [illegible] करनेकी गृहस्थाश्रम का है ॥ ४६ ॥

इस भूमिपर तेरी संतान सुखपूर्वक दीर्घ काल रहे इसलिये यह पत्थरका आधार रखता हूं। इसपर खडा रह आनंदित और तेजस्वी हो। इस तरह गृहस्थाश्रममें युक्त रहनेसे तेरी आयु दीर्घ होगी ॥ ४७ ॥

येनाग्निरस्या भूम्या हस्तं जग्राह दक्षिणम्।
तेन गृह्णामि ते हस्तं मा व्यथिष्ठा मया सह प्रजया च धनेन च ॥४८॥
देवस्ते सविता हस्तं गृह्णातु सोमो राजा सुप्रजसं कृणोतु।
अग्निः सुभगां जातवेदाः पत्ये पत्नीं जरदष्टिं कृणोतु ॥४९॥
गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥५०॥(५)
भगस्ते हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत्। पत्नी त्वमसि धर्मणाऽहं गृहपतिस्तव ॥५१॥
ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद्बृहस्पतिः। मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम् ॥५२॥

अर्थ- [येन अग्निः] जिससे अग्निने [अस्याः भूम्याः दक्षिणं हस्तं जग्राह] इस भूमिका दायाँ हाथ ग्रहण किया [तेन ते हस्तं गृह्णामि] उसी कारणसे तेरा हाथ मैं पकड़ता हूं, [मा व्यथिष्ठाः] दुःख मत कर, [मया सह प्रजया च धनेन च] मेरे साथ प्रजा और धनके साथ रह ॥ ४८ ॥

[सविता देवः ते हस्तं गृह्णातु] सविता देव तेरा पाणिग्रहण करे। [राजा सोमः सुप्रजसं कृणोतु] राजा सोम उत्तम सन्तानयुक्त करे। [जातवेदाः अग्निः पत्ये सुभगां पत्नीं जरदष्टिं कृणोतु] जातवेद अग्नि पतिके लिये सौभाग्य युक्त पत्नी वृद्धावस्थातक जीनेवाली करे ॥ ४९ ॥

[ते हस्तं सौभगत्वाय गृह्णामि] तेरा हाथ मैं सौभाग्यके लिये पकड़ता हूं। [यथा मया पत्या जरदष्टिः असः] जिससे तू मुझ पतिके साथ वृद्धावस्थातक जीनेवाली होकर रह। भग, अर्यमा, सविता, पुरंधि। और सब देवोंने [त्वा मह्यं गार्हपत्याय अदुः] तुझको मेरे हाथमें गृहस्थाश्रम चलानेके लिये दिया है ॥ ५० ॥

[भगः ते हस्तं अग्रहीत्] भगने तेरा हाथ पकड़ा है [सविता हस्तं अग्रहीत्] सविताने हाथ पकड़ा है, [त्वं धर्मणा पत्नी असि] तू धर्मसे मेरी पत्नी है [अहं तव गृहपतिः] मैं तेरा गृहपति हूं ॥ ५१ ॥

[इयं मम पोष्या अस्तु] यह स्त्री मेरी पोषण करनेयोग्य हो। [बृहस्पतिः त्वा मह्यं अदात्] बृहस्पतिने तुझे मुझको दिया है। हे [प्रजावति] प्रजावाली स्त्री! [मया पत्या शरदः शतं संजीव] मुझ पतिके साथ तू सौ वर्ष तक जीवित रह ॥ ५२ ॥

भावार्थ- जैसा अग्नि और भूमिका संबंध है, वैसे धर्मके लिये मैं इस वधूका पाणिग्रहण करता हूं। वधूको कष्ट न हो। यह वधू मेरे साथ प्रजा, धन और ऐश्वर्यसे युक्त हो ॥ ४८ ॥

सविता जैसा तेजस्वी बनकर पति इसका पाणिग्रहण करे और सोम जैसा सौम्यगुणयुक्त होकर धर्मपत्नीसे उत्तम सन्तान उत्पन्न करे। पतिपत्नी मिलकर दोनों इस गृहस्थाश्रममें वृद्धावस्थातक आनन्दसे रहें ॥ ४९ ॥

हे स्त्री! मैं पति तेरा पाणिग्रहण सौभाग्यप्राप्तिके लिये करता हूं। मुझ पतिके साथ तू वृद्धावस्थातक रह। सब देवोंने तुझको गृहस्थाश्रम चलानेके लिये मेरे हाथमें सौंप दिया है ॥ ५० ॥

भग अर्थात् भाग्यवान होकर और सविता अर्थात् सूर्यके समान तेजस्वी होकर तेरा पाणिग्रहण मैं करता हूं। धर्मसे तू धर्मके अनुसार मेरी धर्मपत्नी हो और मैं तेरा गृहपति हूं ॥ ५१ ॥

यह धर्मपत्नी मेरे (पतिके) द्वारा पालन होने योग्य है। परमेश्वरने यह मेरे हाथमें दी है। यह स्त्री सन्तानसे युक्त हो और मुझ पतिके साथ सौ वर्ष रहे ॥ ५२ ॥

त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम् ।
तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परि धत्तां प्रजया ॥ ५३ ॥
इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा ।
बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु ॥ ५४ ॥
बृहस्पतिः प्रथमः सूर्यायाः शीर्षे केशाँ अकल्पयत् ।
तेनेमामश्विना नारीं पत्ये सं शोभयामसि ॥ ५५ ॥
इदं तद्रूपं यदवस्त योषा जायां जिज्ञासे मनसा चरन्तीम् ।
तामन्वर्तिष्ये सखिभिर्नवग्वैः क इमान् विद्वान् वि चचर्त पाशान् ॥ ५६ ॥
अहं वि ष्यामि मयि रूपमस्या वेददित् पश्यन् मनसः कुलायम् ।
न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान् ॥ ५७ ॥

अर्थ-[त्वष्टा वासः] त्वष्टाने वस्त्र [शुभे कं] कल्याण और सुख होनेके लिये [बृहस्पतेः कवीनां प्रशिषा] ज्ञानी और कवियोंके आशीर्वादके साथ [व्यदधात्] बनाया है। [तेन इमां नारीं] उससे इस स्त्रीको (सविता भगः च) सविता और भग सूर्याको जैसा परिधान है उस प्रकार (प्रजया परिधत्तां) सन्तानके साथ संयुक्त करे ॥ ५३ ॥

(इन्द्राग्नी) इन्द्र अग्नि (द्यावापृथिवी) द्युलोक भूमि (मातरिश्वा) वायु मित्र वरुण भग, (उभा अश्विना) दोनों अश्विनी कुमार बृहस्पति मरुत् ब्रह्म सोम ये सब (इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु] इस स्त्रीको संतानके साथ बढावें ॥ ५४ ॥

(बृहस्पतिः प्रथमः) बृहस्पतिने सबसे प्रथम (सूर्यायाः शीर्षे केशान् अकल्पयत्] सूर्याके सिरपर केशोंको बनाया [तेन] उस तरह (अश्विनौ) अश्विनी कुमार (इमां नारीं पत्ये सं शोभयामसि] इस नारीको पतिके लिये सुशोभित करें ॥ ५५ ॥

[यत् योषा अवस्त तत् रूपं इदं) जो स्त्रीने वस्त्र धारण किया उसका रूप यह है। (मनसा चरन्तीं जायां जिज्ञासे) मनसे प्रसन्न रहनेवाली स्त्रीको मैं जानता हूं। (नवग्वैः सखिभिः तां अन्वर्तिष्ये) नवों और मित्रोंके साथ उसका अनुसरण करता हूं। (कः विद्वान् इमान् पाशान् वि चचर्त) कौन ज्ञानी इन पाशोंको काट सकता है ? ॥ ५६ ॥

(अहं वि ष्यामि) मैं खोलता हूं (अस्याः मयि रूप) जो इसका रूप मुझमें है। (मनसः कुलायं पश्यन् इत् वेद) मनका घोंसला देखकर ही ज्ञान होता है। (न स्तेयं अद्मि) मैं चोरी करके नहीं खाता हूं। मैं (स्वयं वरुणस्य पाशान् श्रथ्नानः) स्वयं वरुणके पाशोंको शिथिल करता हुआ (मनसा उत् अमुच्ये] मनसे मुक्त होता हूं ॥ ५७ ॥

भावार्थ— इस स्त्रीके पहननेके लिये वस्त्र यह बना है ज्ञानी ब्राह्मणोंने इसको आशीर्वाद दिया है। यह धर्मपत्नी इसे पहने और ईश्वरकी कृपासे उत्तम सन्तानोंसे युक्त होवे ॥ ५३ ॥

इन्द्रादि सब देवी शक्तियां इस नारीको उत्तम संतानोंके साथ बढावें ॥ ५४ ॥

कन्याके सिरपर उत्तम बाल हों और वह नारी पति की प्राप्तिके लिये सुशोभित हो ॥ ५५ ॥

स्त्रीका उत्तम वस्त्रधारण करनेसे जो रूप बनता है वही देखनेयोग्य है। उसका मानसिक स्वरूप कैसा है, यही स्त्रीके विषयमें देखना चाहिये। पति मित्रगणोंमें धर्मपत्नीको अपने साथ बरता रखे। विषयोंके पाशोंको कौन विद्वान् काट सकता है ? ॥ ५६ ॥

मैं इन बन्धनोंको खोलता हूं। इस मेरी धर्मपत्नीका रूप केवल मेरे लिये है। इसके मन की परीक्षा करके ही मैंने इसका स्वीकार किया है। मैं जो भोग करता हूं वह अपने कमाये धनका भोग करता हूं चोरीके धनका भोग मैं नहीं करता। वरुणके पाशोंको शिथिल करता हुआ मनसे मुक्त होता हूं ॥ ५७ ॥

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाऽबध्नात् सविता सुशेवाः।
उरुं लोकं सुगमत्र पन्थां कृणोमि तुभ्यं सहपत्न्यै वधु ॥५८॥
उद्यच्छध्वमप रक्षो हनाथेमां नारीं सुकृते दधात।
धाता विपश्चित् पतिमस्यै विवेद भगो राजा पुर एतु प्रजानन् ॥५९॥
भगस्ततक्ष चतुरः पादान् भगस्ततक्ष चत्वार्युष्पलानि।
त्वष्टा पिपेश मध्यतोऽनु वर्ध्रान्त्सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥६०॥
सुकिंशुकं वहतुं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम् ॥६१॥
अभ्रातृघ्नीं वरुणापशुघ्नीं बृहस्पते। इन्द्रापतिघ्नीं पुत्रिणीमास्मभ्यं सवितर्वह ॥६२॥

अर्थ- हे (वधु) स्त्री ! [त्वा वरुणस्य पाशात् प्रमुञ्चामि] तुझको वरुणके पाशसे मुक्त करता हूं। [येन सुशेवाः सविता त्वा अबध्नात्) जिससे सेवा करनेयोग्य सविताने तुझे बांध दिया था। [तुभ्यं सहपत्न्यै] तुझ सहधर्मचारिणीके लिये (अत्र उरुं लोकं सुगं पन्थां कृणोमि] यहां विस्तृत स्थान और उत्तम गमनयोग्य मार्ग करता हूं ॥ ५८ ॥

[उद् यच्छध्वं] अपने शस्त्रोंको ऊपर उठाओ। (रक्षः अप हनाथ) राक्षसोंको मारो। (इमां नारीं सुकृते दधात) इस स्त्रीको पुण्य कर्ममें रखो। (विपश्चित् धाता अस्यै पतिं विवेद) ज्ञानी विधाताने इसके लिये पति प्राप्त कराया है। (भग राजा प्रजानन् पुरः एतु) राजा भग जानता हुआ आगे चले ॥ ५९ ॥

(भगः चतुरः पादान् ततक्ष] भगने चार पावोंको बनाया, उपरान्त (भगः चत्वारि उष्पलानि ततक्ष) भगने चार उष्पलोंको बनाया। [त्वष्टा मध्यतः वर्ध्रान् अनु पिपेश] त्वष्टाने मध्यमें चमरपट्टोंको बनाया। (सा नः सुमंगली अस्तु) वह हमारे लिये उत्तम मंगल करनेवाली होवे ॥ ६० ॥

हे (सूर्ये) सूर्ये ! (सुकिंशुकं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रं वहतुं आरोह) उत्तम पुष्पोंसे युक्त, अनेक रूपवाला सोनेके रंगके समान चमकनेवाला उत्तम वेष्टनोंसे युक्त उत्तम चक्रोंसे युक्त इस रथपर चढ। (अमृतस्य लोकं आरोह) अमृतके लोकपर चढ। (त्वं वहतुं पतिभ्यः स्योनं कृणु) तू इस विवाह दहेज या रथको पतियोंके लिये सुखदायी कर ॥ ६१ ॥

हे (वरुण बृहस्पते इन्द्र सवितः) देवो ! (अभ्रातृघ्नीं) यह वधू भाइयोंका वध न करनेवाली, (अपशुघ्नीं अपतिघ्नीं, पुत्रिणीं अस्मभ्यं वह) पशुका वध न करनेवाली पतिका घात न करनेवाली और पुत्र उत्पन्न करनेवाली हमारे लिये प्राप्त करो ॥ ६२ ॥

भावार्थ- सविताने तुझे इस समयतक जिस पाशमें बांध रखा था उन वरुणके पाशोंसे मैं छोडता हूं। तुझ जैसी सुयोग्य धर्मपत्नीके लिये यहां विस्तृत लोक प्राप्त हुआ है और उत्तम मार्ग सुगम हुआ है ॥ ५८ ॥

इस धर्मपत्नीको कष्ट देनेवाले राक्षसोंका नाश करनेके लिये तुम लोग हथियार सदा सुसज्जित रखो। सदा इस स्त्रीको पुण्यकर्ममें लगाओ। ज्ञानी विधाताकी सम्मतिसे इसको यह पति प्राप्त हुआ है। राजा भी यह जानता हुआ विवाहमें अग्रगामी हुआ था ॥ ५९ ॥

अपने पांवोंके चार आभूषण और शरीरपर धारण करनेके चार फूल बनाये और कमरमें धारण करनेयोग्य कमरपट्टा बनाया है। इनको धारण करके यह स्त्री उत्तम मंगलमयी बने ॥ ६० ॥

यह वधू उत्तम फूलोंसे युक्त सुंदर सोनेके जैसी चमकसे सुशोभित उत्तम चक्रवाले रथपर चढकर अमर पदके मार्गका आक्रमण करे। यह धर्मपत्नीका विवाहमंगल पतिके घरवालोंके लिये सुखदायक होवे ॥ ६१ ॥

यह स्त्री पतिके घरमें पतिके भाई पशु आदि सबको सुख दे। पतिको सुख देवे। पुत्रोंको उत्पन्न करे। और सबका आनन्द बढानेवाली बने ॥ ६२ ॥

१ (आ. गृ. सू. १७)

मा हिंसिष्टं कुमार्यं स्थूणे देवकृते पथि । शालाया देव्या द्वारं स्योनं कृण्मो वधूपथम् ॥६३॥
ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः ।
अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके वि राज ॥६४॥

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[२]

तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह । स नः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥१॥
पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा । दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥२॥
सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्तेऽपरः पतिः । तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥३॥

अर्थ- हे (स्थूणे) दोनों स्तंभो! (देवकृते पथि) देवोंके बनाये मार्गपर (कुमार्यं मा हिंसिष्टं) इस कुमारी स्त्रीकी हिंसा न करो। (देव्याः शालायाः द्वारं वधूपथं स्योनं कृण्मः) घररूप देवताके द्वारको वधू जानेके मार्गको हम सुखदायी करते हैं ॥ ६३ ॥

(अपरं पूर्वं अन्ततः मध्यतः सर्वतः ब्रह्म युज्यतां) आगे पीछे अन्तमें बीचमें अर्थात् सब ओर ब्रह्म अर्थात् ईशप्रार्थनाके मन्त्रोंका प्रयोग किया करो। हे वधू! तू (अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य) व्याधि रहित इस नगरीको प्राप्त होकर (पतिलोके शिवा स्योना वि राज) अपने पतिके स्थानमें कल्याणकारिणी और सुख देनेवाली होकर प्रकाशित हो ॥ ६४ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः।

अर्थ- हे अग्ने! (अग्रे तुभ्यं) आरंभमें तेरे लिये (वहतुना सह सूर्यां पर्यवहन्) दहेजके साथ सूर्याको ले आये। (सः) वह तू (नः पतिभ्यः) हम सब पतियोंको (प्रजया सह जायां दाः) संतानसहित पत्नीको प्रदान कर ॥ १ ॥

(आयुषा वर्चसा सह) दीर्घायुष्य और तेजके साथ (अग्निः पत्नीं पुनः अदात्) अग्निने पत्नीको पुनः प्रदान किया। (अस्याः यः पतिः) इसका जो पति है वह (दीर्घायुः शरदः शतं जीवाति) दीर्घायु बनकर सौ वर्ष जीवित रहता है ॥ २ ॥

(प्रथमं सोमस्य जाया) सबसे प्रथम सोमकी स्त्री है (ते अपरः पतिः गन्धर्वः) तेरा दूसरा पति गन्धर्व है। (ते तृतीयः पतिः अग्निः) तेरा तीसरा पति अग्नि है और (ते तुरीयः मनुष्यजाः) तेरा चतुर्थ पति मानव है ॥ ३ ॥

भावार्थ— यह वधू इसी मार्गसे जा रही है अतः इसको किसी तरह कष्ट न हो। इसके पतिके घरका मार्ग और इसके पतिके घरका द्वार इसके लिए सुखदायी होवे ॥ ६३ ॥

इस वधूके आगे और पीछे सब ओर ईशप्रार्थनाका मन्त्रपाठ हो। जहां व्याधि नहीं है ऐसी पतिके घर देवनगरीमें वधू प्राप्त हो। पतिके घरमें सुखदायी और कल्याणमयी बनकर वह विराजे ॥ ६४ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः।

प्रत्येक पतिके घर आनेसे पूर्व कन्या अग्निकी उपासना प्रथम करती है जिससे उस कन्याको पतिके घर सुख और ज्ञान प्राप्त होता है ॥ १ ॥

अग्नि उपासना अर्थात् यजन अथवा हवन करनेसे दीर्घ आयुष्य और शारीरिक आरोग्य प्राप्त होती है। इसका पति भी इस हवनसे दीर्घजीवी अथवा शतायु बनता है ॥ २ ॥

सोम, गन्धर्व, अग्नि ये तीन कन्याके देव पति हैं। और पश्चात् उस कन्याका विवाह मनुष्य पतिके साथ होता है॥

सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो ददद्ग्नये। रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् ॥४॥
आ वामगन्त्सुमतिर्वाजिनीवसू न्यश्विना हृत्सु कामा अरंसत।
अभूतं गोपा मिथुना शुभस्पती प्रिया अर्यम्णो दुर्याँ अशीमहि ॥५॥
सा मन्दसाना मनसा शिवेन रयिं धेहि सर्ववीरं वचस्यम्।
सुगं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्पती स्थाणुं पथिष्ठामप दुर्मतिं हतम् ॥६॥
या ओषधयो या नद्यो यानि क्षेत्राणि या वना। तास्त्वा वधु प्रजावतीं पत्ये रक्षन्तु रक्षसः ॥७॥
एमं पन्थामरुक्षाम सुगं स्वस्तिवाहनम्। यस्मिन् वीरो न रिष्यत्यन्येषां विन्दते वसु ॥८॥

अर्थ- जिसको [सोमः गन्धर्वाय ददत्] सोमने गन्धर्वको दी (गन्धर्वः अग्नये ददत्) गन्धर्वने अग्निको दी [अथो इमां] और इसी कन्याको तथा [रयिं च पुत्रान् च अग्निः मह्यं अदात्] धन और पुत्रोंको अग्निने मुझे प्रदान किया ॥ ४ ॥

[वां सुमतिः आगन्] आपकी उत्तम मति प्राप्त हुई है। हे [वाजिनीवसू अश्विनौ] बल और धनयुक्त अश्विनी देवो! [कामाः हृत्सु नि अरंसत] हमारी शुभ इच्छाएं हृदयोंमें स्थिर हो गई हैं। हे [शुभस्पती] शुभके पालको! [मिथुना गोपा अभूतं] तुम दोनों इन्द्रियोंके पालक बनो। [अर्यम्णः प्रियाः दुर्यान् अशीमहि] आर्य मनवालेके श्रेष्ठ देवके प्रिय होकर हम उत्तम घरोंको प्राप्त हों ॥ ५ ॥

[सा मन्दसाना] वह आनन्दित रहनेवाली तू स्त्री [शिवेन मनसा] शुभ भावनायुक्त मनसे [सर्ववीरं वचस्यं रयिं धेहि] सर्व वीरोंसे युक्त प्रशंसनीय धनको धारण कर। हे (शुभस्पती) शुभके पालको! हमारे लिये (तीर्थं सुगं) तीर्थोंका स्थान सुगम हो (सुप्रपाणं) उत्तम जल पीनेका स्थान हो तथा (पथिष्ठां स्थाणुं) मार्गमें प्रतिबंध करनेवाले स्तंभ जैसी (दुर्मतिं) दुष्ट बुद्धिवाले शत्रुको (हतं) मार कर दूर करो ॥ ६ ॥

हे वधु! (याः ओषधयः) औषधियां या (याः नद्यः) जो नदियाँ, (यानि क्षेत्राणि) या क्षेत्र और (या वना) जो वन हैं (ताः) वे सब पदार्थ (त्वा प्रजावतीं त्वा) पतिके लिये संतानयुक्त तुझको (रक्षसः रक्षन्तु) राक्षसोंसे सुरक्षित रखें ॥ ७ ॥

(इमं पन्थां आरुक्षाम) इस मार्गसे चलें, जो [सुगं स्वस्तिवाहनं] सुगम और गाडीके लिये भी सुखकर है, (यस्मिन् वीरः न रिष्यति) जिसमें वीरका नाश नहीं होगा और (अन्येषां वसु विन्दते) दूसरोंकी अपेक्षा जहां धन अधिक मिलता है ॥ ८ ॥

भावार्थ— सोम गन्धर्वको देता है, गन्धर्व अग्निके हाथमें समर्पण करता है और अग्नि पुत्रोत्पादनशक्तिके साथ मनुष्यके स्वाधीन इस कन्याको करता है ॥ ४ ॥

जब देवोंके अश्विपक्षमें कन्याको उत्तम बुद्धि प्राप्त होती है। पश्चात् उसके हृदयमें कामको स्थान मिलता है। उस समय अश्विनी देव इन पतिपत्नीके रक्षक होते हैं। इस समय श्रेष्ठ मन का विचारोंसे युक्त करके अपने घरोंमें रहनेका यत्न करना उचित है ॥ ५ ॥

अपने पतिके घरमें आनन्दसे रहनेवाली धर्मपत्नी अपने मनमें शुभसंकल्प धारण करे और वीरभावयुक्त धन और प्रशंसा योग्य यश प्राप्त करे। इन देवोंके मार्ग सुगम हों, इनको पर्याप्त जलपान प्राप्त हो और इनके मार्गमें कोई प्रतिबन्धक न हो और दुष्ट बुद्धि इनसे दूर हो ॥ ६ ॥

औषधियां नदियां खेत स्थान वन आदि सब पदार्थोंमें संतानवाली और पतिके घर जानेवाली इस स्त्रीकी रक्षा हो अर्थात् कोई राक्षस इसको दुःख न पहुंचावे ॥ ७ ॥

जो मार्ग सुगम और निर्भय हो उससे लोग चलें, और उस मार्गसे चलें कि जिसमें उत्तम निवासके साधन मिलते हों ॥ ८ ॥

इदं सु मे नरः शृणुत ययाऽऽशिषा दम्पती वाममश्नुतः।
ये गन्धर्वा अप्सरसश्च देवीरेषु वानस्पत्येषु येऽधि तस्थुः।
स्योनास्ते अस्यै वध्वै भवन्तु मा हिंसिषुर्वहतुमुह्यमानम् ॥९॥
ये वध्वश्चन्द्रं वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनाँ अनु। पुनस्तान् यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः ॥१०॥
मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती। सुगेन दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः ॥११॥
सं काशयामि वहतुं ब्रह्मणा गृहैरघोरेण चक्षुषा मित्रियेण।
पर्याणद्धं विश्वरूपं यदस्ति स्योनं पतिभ्यः सविता तत् कृणोतु ॥१२॥
शिवा नारीयमस्तमागन्निमं धाता लोकमस्यै दिदेश।
तामर्यमा भगो अश्विनोभा प्रजापतिः प्रजया वर्धयन्तु ॥१३॥

अर्थ- हे (नरः) मनुष्यो! (मे इदं सु शृणुत) मेरा यह भाषण सुनो। (यया आशिषा) जिस आशीर्वादसे (दम्पती वामं अश्नुतः) ये वर और वधू सुखको प्राप्त होते हैं। (एषु वानस्पत्येषु) इस वनमें (ये गन्धर्वाः देवीः अप्सरसः अधि तस्थुः) जो गन्धर्व और अप्सराएं रहती हैं (ते अस्यै वध्वै स्योनाः भवन्तु) वे इस वधूके लिये सुखदायी हों और (उह्यमानं वहतुं मा हिंसिषुः) दहेज के जानेवाले इस रथका नाश न करें ॥ ९ ॥

(ये यक्ष्माः जनान् अनु) जो रोग मनुष्योंके संबन्धसे (वध्वः चन्द्रं वहतुं यन्ति) वधूके तेजस्वी दहेज रथके पास पहुंचते हैं, (तान् यज्ञियाः देवाः) उन रोगोंको वहांसे याजक देव (पुनः यतः आगताः नयन्तु) फिरसे जहांसे आए थे वहां ले जावें ॥ १० ॥

(ये परिपन्थिनः आसीदन्ति) जो लुटेरे समीप प्राप्त होंगे वे (दम्पती मा विदन्) इस पतिपत्नीको न जानें। वे वधूवर (सुगेन दुर्गं अतीतां) सुगमतासे कठिन प्रसंगसे पार हों जांय। और इनके (अरातयः अप द्रान्तु) शत्रु दूर हों ॥ ११ ॥

(वहतुं) वधूके दहेजयुक्त रथको (गृहैः ब्रह्मणा अघोरेण मित्रियेण चक्षुषा) चारों ओरके घरवाले लोग ज्ञानपूर्वक शांत और मित्रताकी आंखसे देखें, ऐसा मैं (सं काशयामि) इसको प्रकाशित करता हूं। (यत् विश्वरूपं पर्याणद्धं अस्ति) जो विविध रूपवाला बन्धा हुआ है उसको (सविता पतिभ्यः स्योनं कृणोतु) ईश्वर पतिके लिये सुखदायी बनावे ॥ १२ ॥

(इयं शिवा नारी अस्तं आगन्) यह कल्याणकारिणी स्त्री पतिके घर आगयी है। (धाता अस्यै इमं लोकं दिदेश) ईश्वरने इस पत्नीके लिये मार्ग दर्शाया है। (अर्यमा भगः उभा अश्विना प्रजापतिः) ये सब देव (तां प्रजया वर्धयन्तु) उसको प्रजाके साथ बढावें ॥ १३ ॥

भावार्थ— सब लोग इस भावनाको सुनें कि यह विवाहित स्त्रीपुरुष इस संसारमें सुखपूर्वक रहें। वनवासी तथा जंगली कोईभी इनको दुःख न देवे। वे भ्रमणार्थमें चलने लगें तो भी किसी प्रकार इनको दुःख न हो ॥ ९ ॥

जनसमुदायमें जानेसे जो रोग उत्पन्न होनेके कारण होते हैं और वधूके मार्गमें भी जो रोग होना संभव है वे सब रोग दूर होवें ॥ १० ॥

मार्गपर जो लुटेरे होंगे उनसे इस दम्पतीको कष्ट न हो। वे पतिपत्नी सुगमतासे कठिन प्रसंगोंसे पार हो जावें। और इनके सब शत्रु दूर हों ॥ ११ ॥

जब दहेजका रथ या पत्नीका पतिके घर जानेका रथ मार्गसे चलने लगे तब चारों ओरके घरवाले उस रथको प्रेमकी मित्रदृष्टिसे देखें। जो भी कुछ विविध रूपवाले पदार्थ हों वे सब ईश्वरकी कृपासे इस पतिपत्नीके लिये सुखदायी बनें ॥ १२ ॥

यह सुखभावरूपी स्त्री पतिके घर आती है क्योंकि विधाताने यही स्थान इसके लिये निश्चित किया था। सब देव इनको उत्तम संतान दें ॥ १३ ॥

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् तस्यां नरो वपत बीजमस्याम्।
सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धमृषभस्य रेतः ॥१४॥
प्रति तिष्ठ विराडसि विष्णुरिवेह सरस्वति। सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत् ॥१५॥
उद् व ऊर्मिः शम्या हन्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत। मादुष्कृतौ व्येनसावघ्न्यावशुनमारताम् ॥१६॥
अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः।
वीरसूर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना ॥१७॥

अर्थ— (आत्मन्वती उर्वरा इयं नारी आगन्) आत्मिक बलसे युक्त तथा सुपुत्र उत्पन्न करनेवाली यह नारी पतिके घर आगई है। (नरः तस्यां अस्यां बीजं वपत) हे मनुष्यो! इस स्त्रीमें बीज बोओ अर्थात् वीर्यका आधान करो। (सा वः) वह तुम्हारे लिये (ऋषभस्य दुग्धं रेतः बिभ्रती) बलवान् पुरुषका वीर्य धारण करती हुई (वक्षणाभ्यः प्रजां जनयत्) अपने गर्भाशयसे सन्तान उत्पन्न करे ॥ १४ ॥

हे स्त्री! तू (प्रति तिष्ठ) यहां प्रतिष्ठित हो। तू (विराट् असि) विशेष तेजस्वी है। तुम्हारा पति (विष्णुः इव इह) विष्णुके समान यहां है। हे (सरस्वति, सिनीवालि) विद्या देवी और अन्नवाली देवी! तुझे (प्रजायतां) सन्तान हो और वह (भगस्य सुमतौ असत्) भाग्यके देवकी सुमतिमें रहे ॥ १५ ॥

(वः ऊर्मिः शम्याः उद् हन्तु) आपकी लहर समिधाकी स्थिरताका भंग करे। हे (आपः) जलो! (योक्त्राणि मुञ्चत) जुवोंको छोड दो। (अदुष्कृतौ व्येनसौ अघ्न्यौ) बुरा कर्म न करनेवाले पापसे छोडे हुए दोनों बैल [अशुनं मा आरतां] अशुभको न प्राप्त हों ॥ १६ ॥

[गृहेभ्यः] अपने घरोंके लिये [अघोर चक्षुः अपतिघ्नी स्योना] क्रूर दृष्टि न करनेवाली, पतिहत्या न करनेवाली सुखकारिणी [शग्मा सुशेवा सुयमा] कल्याणकारिणी सेवा करने योग्य सुनियमोंसे चलनेवाली! [वीरसूः देवृकामा] वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली देवरकी इच्छा धारण करनेवाली और [सुमनस्यमाना] उत्तम मन करनेवाली तुझ [त्वया एधिषीमहि] तुझसे हम बढते हों ॥ १७ ॥

भावार्थ—यह स्त्री आत्मिक बलसे युक्त है और पुत्र उत्पन्न होनेकी शक्तिसे युक्त है अर्थात् वह वंध्या नहीं है। पति इस स्त्रीमें अपने वीर्यका आधान करता है और पश्चात् वह स्त्री उस वीर्यको धारण करती हुई अपने गर्भाशयसे संतानोत्पत्ति करती है ॥ १४ ॥

स्त्री अपने पतिगृहमें प्रतिष्ठाको प्राप्त हो। स्त्री घरको चलाती है, उसका पति देव है और वह उसकी देवी है। इस पतिपत्नी-को उत्तम संतान प्राप्त हो और वे दोनों उत्तम बुद्धि धारण करें ॥ १५ ॥

विवाहमें जब शान्तिका भंग होवे अर्थात् मनको क्षोभ प्रतीत हो, उस समय वाहनके बैल छोड दिये जांय और उनको उत्तम स्थानमें सुरक्षित रखा जाय ॥ १६ ॥

यह स्त्री पतिके घरमें आकर आनन्दसे रहे, कभी क्रोधयुक्त न होवे, पतिकी हितकारिणी बने, धर्मनियमोंका पालन करे, सबको सुख देवे, अपनी संतानोंको वीरताकी शिक्षा देवे, देवर आदिको संतुष्ट रखे, अन्तःकरणमें शुभ भाव रखे। ऐसी स्त्रीसे घर सुंदर होता है ॥ १७ ॥

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः ।
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य ॥१८॥
उत्तिष्ठेतः किमिच्छन्तीदमागा अहं त्वेडे अभिभूः स्वाद् गृहात् ।
शून्यैषी निर्ऋते याजगन्थोत्तिष्ठाराते प्र पत मेह रंस्थाः ॥१९॥
यदा गार्हपत्यमसपर्यैत् पूर्वमग्निं वधूरियम् । अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु ॥२०॥(८)
शर्म वर्मैतदा हरास्यै नार्या उपस्तिरे । सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत् ॥२१॥
यं बल्बजं न्यस्यथ चर्म चोपस्तृणीथन । तदा रोहतु सुप्रजा या कन्या विन्दते पतिम् ॥२२॥

[अदेवृघ्नी अपतिघ्नी] देवरका नाश न करनेवाली, पतिका घात न करनेवाली [पशुभ्यः शिवा] पशुओंका हित करनेवाली [सुयमा सुवर्चाः] उत्तम नियमोंसे चलनेवाली और उत्तम तेजसे युक्त [प्रजावती वीरसूः] प्रजायुक्त, वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली [देवृकामा स्योना] पतिके घरमें देवर रहें ऐसी कामना करनेवाली सुखदायिनी तू [इमं गार्हपत्यं अग्निं सपर्य] इस गार्हपत्य अग्निकी पूजा कर ॥ १८ ॥

हे [निर्ऋते।] दरिद्रते! [इतः उत्तिष्ठ] यहांसे उठो। [किं इच्छन्ती] तू क्या चाहती हुई [इदं आगाः] यहां आगई है। [अहं अभिभूः] मैं तेरा पराभव करनेवाला [स्वात् गृहात् त्वा ईडे] अपने घरसे तुझे हटा देता हूं। [या शून्यैषी] जो घरको शून्य करना चाहती हुई तू [आजगन्थ] यहां आगई है, हे [अ-राते] कंजूस दरिद्रे! [उत्तिष्ठ] यहांसे उठ और [प्र पत] दूर भाग जा। [इह मा रंस्थाः] यहां मत रममाण हो ॥ १९ ॥

(यदा इयं वधूः) जब यह वधू (गार्हपत्यं अग्निं पूर्वं असपर्यैत्) गार्हपत्य अग्निकी पहिले पूजा करे, (अध) तत्पश्चात् हे (नारि) स्त्री! तू (सरस्वत्यै पितृभ्यः च नमस्कुरु) सरस्वतीको और पितरोंको नमन कर ॥ २० ॥

(अस्यै नार्यै) इस स्त्रीके लिये (उपस्तरे एतत् शर्म वर्म) बिछानेके लिये यह सुख और कवच (आहर) ला। हे (सिनी-वालि) अन्न देनेवाली देवी! (प्र जायतां) यह स्त्री उत्तम रीतिसे संतति उत्पन्न करे और (भगस्य सुमतौ असत्) भाग्यकी उत्तम मतिमें रहे ॥ २१ ॥

(यं बल्बजं न्यस्यथ) जो चटाई नीचे बिछाते हैं (च चर्म उपस्तृणीथन) और चर्म ऊपर बिछाते हैं। (या कन्या पतिं विन्दते) जो कन्या पतिको प्राप्त करती है, वह (सुप्रजा तत् आरोहतु) उत्तम संतान उत्पन्न करनेवाली उस पर चढे ॥ २२ ॥

भावार्थ— स्त्री पतिके गृहमें आकर देवर और पतिका हित करे, पशुओंका उत्तम पालन करे, धर्मनियमोंके अनुसार चले, तेजस्विनी बने, अपनी संतानको वीरताकी शिक्षा देवे और अग्निकी यथायोग्य उपासना करे ॥ १८ ॥

गृहस्थाश्रमके घरमें दरिद्रता न रहे। गृहस्थ अपने प्रयत्नसे दारिद्र्य दूर करे। जो घर पुरुषार्थसे शून्य होता है उसमें दारिद्र्य रहता है। अतः प्रयत्नद्वारा दारिद्र्य दूर करना योग्य है ॥ १९ ॥

स्त्री पतिगृहमें प्रतिदिन प्रथम गार्हपत्याग्निकी यथायोग्य उपासना करे पश्चात् विद्यादेवीकी और पश्चात् पितरोंकी पूजा करे ॥ २० ॥

पति अपनी स्त्रीके लिये उत्तम प्रकारसे सुख देवे और उसकी उत्तम रक्षा करे। वह स्त्री उत्तम संतान उत्पन्न करे और ऐसा आचरण करे कि इसे भाग्यका आशीर्वाद प्राप्त हो ॥ २१ ॥

नीचे चटाई बिछाई जावे, उसपर मृगचर्म बिछाया जावे। जो स्त्री पतिको प्राप्त करती है वह सुसंतान उत्पन्न करनेवाली भी इस बिछौनेपर बैठे ॥ २२ ॥

उपं स्तृणीहि बल्बजमधि चर्मणि रोहिते । तत्रोपविश्यं सुप्रजा इममग्निं संपर्यतु ॥२३॥
आरोह चर्मोपं सीदाग्निमेष देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा ।
इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै सुज्यैष्ठ्यो भवत् पुत्रस्त एषः ॥२४॥
वि तिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः ।
सुमङ्गल्युपं सीदेममग्निं संपत्नी प्रति भूषेह देवान् ॥२५॥
सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः ।
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् ॥२६॥
स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः । स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ॥२७॥
सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत । सौभाग्यमस्यै दत्त्वा दौर्भाग्यैर्विपरेतन ॥२८॥

अर्थ—(बल्बजं उपस्तृणीहि) पहिले चटाई फैला दो पश्चात् (अधि चर्मणि रोहिते) इस चर्मके ऊपर (तत्र सुप्रजा उपविश्य) वहां सुप्रजा उत्पन्न करनेवाली यह स्त्री (इमं अग्निं सपर्यतु) इस अग्निकी उपासना करे ॥ २३ ॥

(चर्म आरोह) इस चर्मपर चढ (अग्निं उप सीद) अग्निके समीप बैठ। (एषः देवः सर्वा रक्षांसि हन्ति) यह देव सब राक्षसोंका नाश करता है। (इह अस्मै पत्ये प्रजां जनय) यहां इस पतिके लिये संतान उत्पन्न कर। (ते एषः पुत्रः सुज्यैष्ठ्यः भवत्) तेरा यह पुत्र उत्तम श्रेष्ठ बने ॥ २४ ॥

(अस्याः मातुः उपस्थात्) इस माताके पास (जायमानाः नाना रूपाः पशवः वि तिष्ठन्ताम्) उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकारके पशु रहें। (सुमंगली संपत्नी इमं अग्निं उपसीद) उत्तम मंगल कामनावाली और उत्तम पतिके साथ यह स्त्री इस अग्निकी उपासना करे और (इह देवान् प्रति भूष) यहां देवोंकी सेवा करे शोभा बढावे ॥ २५ ॥

(सुमंगली) उत्तम मंगल आभूषण धारण करनेवाली (गृहाणां प्रतरणी) घरोंके दुःखसे दूर करनेवाली (पत्ये सुशेवा) पतिकी उत्तम सेवा करनेवाली (श्वशुराय शंभूः) श्वशुरको सुख देनेवाली (श्वश्र्वै स्योना) सासको आनंद देनेवाली तू (इमान् गृहान् प्रविश) इन घरोंमें प्रविष्ट हो ॥ २६ ॥

(श्वशुरेभ्यः स्योना भव) श्वशुरोंके लिये सुख देनेवाली हो (पत्ये गृहेभ्यः स्योना) पति और घरके लिये हितकारिणी हो (अस्यै सर्वस्यै विशे स्योना) इस सब प्रजासमूहको सुखदायिनी (स्योना एषां पुष्टाय भव) सुखदायक होकर इन सबकी पुष्टिके लिये हो ॥ २७ ॥

(इयं सुमंगली वधूः) यह मंगलयुक्त वधू है। (समेत इमां पश्यत) इकट्ठे होओ और इसको देखो। [अस्यै सौभाग्यं दत्त्वा] इसको सौभाग्यका आशीर्वाद देकर [दौर्भाग्यैः वि परेतन] दुर्भाग्यको दूर करते हुए वापस जाओ ॥ २८ ॥

भावार्थ—पहिले चटाई फैलाओ उसपर चर्म बिछा दो वहां उत्तम संतान उत्पन्न करनेवाली स्त्री बैठकर अग्निकी उपासना करे ॥ २३ ॥

इस चर्मपर चढ अग्निके पास बैठ। यह अग्नि देव सब राक्षसोंका नाश करता है। इस संसारमें अपने पतिके लिये संतान उत्पन्न कर। यह तेरा पहिला पुत्र उत्तम श्रेष्ठ बने ॥ २४ ॥

जब यह स्त्री माता होगी, तब उसके पास विविध रंगरूपके गौ आदि पशु रहेंगे। यह स्त्री उत्तम मंगल धारण की कामना करके अग्निकी उपासना करे और देवोंको सुभूषित करे ॥ २५ ॥

उत्तम मंगल कामनावाली, घरवालोंके दुःखको दूर करनेवाली, पतिकी सेवा करनेवाली, श्वशुरको सुख देनेवाली, सासका हित करनेवाली स्त्री अपने घरमें प्रविष्ट हो ॥ २६ ॥

यह स्त्री श्वशुरोंका हित करे, पतिको सुख दे, सब घरवालोंका हित करे और सबको पुष्ट रखे ॥ २७ ॥

सब मनुष्य इकट्ठे होकर यहां आवें और इस वधूका दर्शन करें। यह वधू बहुत कल्याण करनेवाली है। अतः वे इस वधूको शुभाशीर्वाद देकर, इसके जो दुःख भाग हैं, उनको दूर करके वापस अपने घर जावें ॥ २८ ॥

या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि । वर्चो न्व१स्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन ॥२९॥
रुक्मप्रस्तरणं वह्यं विश्वा रूपाणि बिभ्रतम् । आरोहत् सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय कम् ॥३०॥
आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै ।
इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि ॥३१॥
देवा अग्रे न्यपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्व१स्तनूभिः ।
सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह ॥३२॥
उत्तिष्ठेतो विश्वावसो नमसेडामहे त्वा ।
जामिमिच्छ पितृषदं न्यक्तां स ते भागो जनुषा तस्य विद्धि ॥३३॥

अर्थ-[याः दुर्हार्दः युवतयः] जो दुष्ट हृदयवाली स्त्रियां हैं और [याः च इह जरतीः अपि] जो यहां वृद्ध स्त्रियां हैं, वे [अस्यै नु वर्चः सं दत्त] इसको निश्चयपूर्वक तेज देवें [अथ अस्तं विपरेतन] और अपने घरको वापस जावें ॥२९॥

[रुक्मप्रस्तरणं] सोनेके बिछौनेसे युक्त (विश्वा रूपाणि बिभ्रत) अनेक सुंदर आकारोंको धारण करनेवाले [वह्यं] सुखदायक रथपर [सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय आरोहत्] सूर्या सावित्री बडे सौभाग्यकी प्राप्तिके लिये चढी है। ३०॥

[सुमनस्यमाना तल्पं आरोह] उत्तम मनके भाव धारण करती हुई तू बिस्तरेपर चढ। [इह अस्मै पत्ये प्रजां जनय] यहां इस पतिके लिये संतान उत्पन्न कर। [इन्द्राणी इव सुबुधा] इन्द्राणीके समान उत्तम ज्ञानवाली होकर [ज्योतिः अग्राः उषसः बुध्यमाना] जिनके आगे सूर्यकी ज्योति चलनेवाली है ऐसी उषाओंके पूर्व जानकर [प्रति जागरासि] निद्रा छोडकर उठ ॥३१॥

[अग्रे देवाः पत्नीः नि अपद्यन्त] पूर्व समयमें देव लोग अपनी स्त्रियोंके साथ सोते थे। [तन्वः तनूभिः सं अस्पृशन्त] अपने शरीरोंसे स्त्रियोंके शरीरको स्पर्श करते थे। इस प्रकार हे [नारि] स्त्री! तू [इह] इस संसारमें [सूर्या इव] सूर्यप्रभाके समान [महित्वा विश्वरूपा] महत्त्वसे अनेक रूपवाली होकर [प्रजावती पत्या संभव] प्रजायुक्त होकर पतिके साथ संतान उत्पन्न कर ॥३२॥

हे [विश्वावसो] सब धनसे युक्त वर! [इतः उत्तिष्ठ] यहांसे उठ [त्वा नमसा ईडामहे] तेरी नमस्कारोंसे पूजा करते हैं। [पितृषदं न्यक्तां जामिं इच्छ] पिताके घरमें रहनेवाली सुशोभित वधूको तू प्राप्त करनेकी इच्छा कर। [स ते भागः] वह तेरा भाग है। [तस्य जनुषा विद्धि] उसका जन्मसे ज्ञान प्राप्त कर ॥३३॥

भावार्थ— जो दुष्ट हृदयवाली और बूढी स्त्रियां हैं वे भी सब स्त्रियां इस वधूको अपना तेज अर्पण करें और अपने घरको वापस चली जावें ॥२९॥

जिसपर सोनेके बनावटका काम किया है ऐसे गद्दे बिछाये गये हैं और विविध सुंदरोंसे जिसकी शोभा बढाई है, ऐसे सुंदर रथपर यह वधू चढे और पतिके घर प्राप्त होकर बडा सौभाग्य प्राप्त करे ॥३०॥

यह स्त्री मनके उत्तम भाव धारण करती हुई बिस्तरेपर चढे और पतिके लिये उत्तम संतान निर्माण करे। उत्तम ज्ञान प्राप्त करके उषःकालके पूर्व जागकर निद्रासे निवृत्त होकर उठे ॥३१॥

पूर्व समयमें देव भी अपनी धर्मपत्नियोंके संग सोते रहे अपने शरीरसे स्त्रीके शरीरका आलिंगन देते रहे। इसी प्रकार यह स्त्री भी अनेक प्रकार अपने रूपको प्रकट करती हुई उत्तम प्रजा निर्माण करनेकी इच्छासे पतिके साथ मिलकर रहे ॥३२॥

हे धनवाले पुरुष! यहांसे उठकर यहां आ हम आपका स्वागत करते हैं। यह वधू इस समयतक पिताके घर रहती थी, आप इस वधूको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं तो यह आपका भाग हो सकता है। इस आपके भाग के- इस स्त्रीके जन्मके वृत्तान्त आप चाहें तो जान सकते हैं ॥३३॥

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च ।
तास्ते जनित्रमभि ताः परेहि नमस्ते गन्धर्वर्तुना कृणोमि ॥३४॥
नमो गन्धर्वस्य नमसे नमो भामाय चक्षुषे च कृण्मः ।
विश्वावसो ब्रह्मणा ते नमोऽभि जाया अप्सरसः परेहि ॥३५॥
राया वयं सुमनसः स्यामोदितो गन्धर्वमावीवृताम ।
अगन्त्स देवः परमं सधस्थमगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ॥३६॥
सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः ।
मर्य इव योषामधिरोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम् ॥३७॥

अर्थ-[हविर्धानं अन्तरा सूर्यं च] हविर्धान और सूर्यके मध्यमें [अप्सरसः सधमादं मदन्ति] अप्सराएं साथ साथ मिलकर आनन्दित होनेवाले कर्ममें आनन्दित होती हैं । [ताः ते जनित्रं] वह तेरा जन्मस्थान है । [ताः अभि परेहि] उनके पास जा । [गन्धर्व ऋतुना ते नमः कृणोमि] गन्धर्वके ऋतुओंके साथ तुझे मैं नमन करता हूं ॥ ३४ ॥

[गंधर्वस्य नमसे नमः] गंधर्वके नमस्कारको हम नमस्कार करते हैं । उसकी [भामाय चक्षुषे च नमः कृण्मः] तेजस्वी आंखके लिये हम नमन करते हैं । हे (विश्वावसो) सब धनसे युक्त! (ते ब्रह्मणा नमः) तुझे हम ज्ञानके साथ नमन करते हैं । [अप्सरसः जायाः अभि परेहि] अप्सरा जैसी स्त्रियोंके साथ परे जा ॥ ३५ ॥

[वयं राया सुमनसः स्याम] हम धनके साथ उत्तम मनवाले हों । (इतः गंधर्वं उद् आवीवृताम) यहांसे गन्धर्वको घेरे स्वीकार करें, प्राप्त करें । (सः देवः परमं सधस्थं अगन्) वह देव परम श्रेष्ठ स्थानको प्राप्त हुआ है । (यत्र आयुः प्रतिरन्तः अगन्म) वहां आयुको दीर्घ बनाते हुए हम पहुंचते हैं ॥ ३६ ॥

हे [पितरौ] मातापिताओ ! [ऋत्विये संसृजेथां] ऋतुकालमें संयुक्त होओ । [रेतसः माता च पिता च भवाथः] वीर्यके योगसेही तुम माता और पिता बनोगे । [मर्यः इव युवा योषां अधिरोहय] मर्दके समान इस स्त्रीके साथ बिस्तरेपर चढ । [इह प्रजां कृण्वाथां] यहां सन्तान उत्पन्न करो और [रयिं पुष्यत] धनको पुष्ट करो अर्थात् बढाओ ॥ ३७ ॥

भावार्थ— इस यज्ञस्थानभूमि और सूर्य इनके बीच अन्तरिक्षमें अप्सराएं [सधमादं] एक घरमें आनन्दसे रहकर बहुत आनन्द प्राप्त करती हैं । इस प्रकार पुरुष अपने घरमें आनन्दसे रहे । स्त्रियां ही इसकी उत्पत्तिका स्थान है अतः उनके पास पुरुष रहे । और ऋतुके अनुसार आदरपूर्वक ऋतुगामी होवे ॥ ३४ ॥

दूसरेके नमस्कार करनेपर उसको नमन करना उचित है उसकी तेजस्वी आंखके साथ अपनी आंख मिलाकर नमन करना उचित है । इस तरह परस्परको जानकर नमस्कार किया जावे । और युवती स्त्रीके साथ पुरुष दूर जाकर एकान्त करे ॥ ३५ ॥

मनुष्यको जैसा जैसा धन मिले वैसा वैसा वह मनसे शुभ संकल्पोंसे युक्त बने । और वे ईश्वरको माननेवाले हों । वह ईश्वर परम उच्च स्थानपर विराजमान है वहां हम आयुको दीर्घ करते हुए पहुंच सकते हैं ॥ ३६ ॥

हे स्त्री पुरुषो! तुम अपने रजवीर्यके बलसेही मातापिता बन सकते हो अर्थात् सन्तान उत्पन्न कर सकते हो । अतः ऋतुकालमें संयुक्त होवो । मर्दके समान स्त्रीसे युक्त होवो सन्तान उत्पन्न करो और धन भी प्राप्त करो और बढाओ ॥ ३७ ॥

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति ।
या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः ॥३८॥
आ रोहोरुमुप धत्स्व हस्तं परि ष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः ।
प्रजां कृण्वाथामिह मोदमानौ दीर्घं वामायुः सविता कृणोतु ॥३९॥
आ वां प्रजां जनयतु प्रजापतिरहोरात्राभ्यां समनक्त्वर्यमा ।
अदुर्मङ्गली पतिलोकमा विशेमं शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥४०॥ (१०)
देवैर्दत्तं मनुना साकमेतद् वाधूयं वासो वध्वश्च वस्त्रम् ।
यो ब्रह्मणे चिकितुषे ददाति स इद् रक्षांसि तल्पानि हन्ति ॥४१॥
यं मे दत्तो ब्रह्मभागं वधूयोर्वाधूयं वासो वध्वश्च वस्त्रम् ।
युवं ब्रह्मणेऽनुमन्यमानौ बृहस्पते साकमिन्द्रश्च दत्तम् ॥४२॥

अर्थ- हे [पूषन्] पूषा ! [तां शिवतमां एरयस्व] उस कल्याणमयी स्त्रीको प्राप्त कर। [यस्यां मनुष्याः बीजं वपन्ति] जिसमें मनुष्य बीज बोते हैं। [या उशती नः ऊरू विश्रयाति] जो इच्छा करती हुई हमारे लिये अपना शरीर देती है। [यस्यां उशन्तः शेपः प्रहरेम] जिसकी कामना करनेवाले हम विषय-सेवन करें॥ ३८॥

[ऊरुं आरोह] ऊपर की ओर चढ [हस्तं उप धत्स्व] हाथ लगा दो। [सुमनस्यमानः जायां परि ष्वजस्व] उत्तम मनसे युक्त होकर स्त्रीको आलिङ्गन कर। [इह मोदमानौ प्रजां कृण्वाथां] यहां आनन्द भोगते हुए प्रजाको उत्पन्न करो। [सविता वां दीर्घं आयुः कृणोतु] सविता आप दोनोंकी दीर्घ आयु करे॥ ३९॥

[प्रजापतिः वां प्रजां जनयतु] प्रजापति ईश्वर तुम दोनोंकी सन्तान उत्पन्न करे। [अर्यमा अहोरात्राभ्यां समनक्तु] अर्यमा तुम दोनोंको दिनरात संयुक्त करे। [अ-दुर्मङ्गली इमं पतिलोकं आविश] अशुभभावको न धारण करनेवाली तू इस पतिस्थानको प्राप्त कर। [नः द्विपदे चतुष्पदे शं भव] हमारे द्विपाद और चतुष्पादके लिये सुखदायी हो॥ ४०॥

[देवैः दत्तं] देवोंद्वारा दिया हुआ [मनुना साकं] मनुके साथ प्राप्त हुआ [एतत् वाधूयं वासः] यह विवाहके समयका वस्त्र [वध्वः च वस्त्रं] और जो वधूका वस्त्र है, वह [यः चिकितुषे ब्रह्मणे ददाति] जो ज्ञानी ब्राह्मणको दान देता है। [स इत् तल्पानि रक्षांसि हन्ति] वह निःसन्देह बिछौनेपर रहनेवाले राक्षसोंका नाश करता है॥ ४१॥

हे [बृहस्पते] बृहस्पति! और [साकं इन्द्रः च] साथ रहनेवाले इन्द्र! तुम दोनों [वधूयोः वाधूयं वासः] वधूका विवाहके समयका वस्त्र और [वध्वः च वस्त्रं] जो वधूका वस्त्र है। [यं ब्रह्मभागं मे दत्तः] जिस ब्राह्मणके भागको तुम दोनों मुझको देते हो। [युवं ब्रह्मणे अनुमन्यमानौ दत्तम्] तुम दोनों ब्राह्मणको प्रदान करनेकी संमति देकर ब्राह्मणको वस्त्र प्रदान करते हो॥ ४२॥

भावार्थ- शुभ संस्कारोंसे युक्त वधूको पुरुष प्राप्त करे। मनुष्य उत्तम स्त्रीमें ही बीज बोते हैं। पुत्रप्राप्तिकी इच्छासे स्त्री अपना शरीर पुरुषको समर्पण करती है जिसमें पुरुष बीजारोपण करे॥ ३८॥

पुरुष स्त्रीके साथ प्रेमसे मिले उसे अपने हाथसे आलिंगन देवे दोनों स्त्रीपुरुष आनन्दसे रममाण होवें और सन्तान उत्पन्न करें। इन स्त्रीपुरुषोंकी आयु सविता अति दीर्घ बनावे॥ ३९॥

प्रजापालक ईश्वर इन स्त्रीपुरुषोंमें संतान उत्पन्न करे। वहां दिन रात इनको प्रेमके साथ इकट्ठे रखे। वधूमें कोई दुर्गुण न हो और उत्तम शुभगुणवाली स्त्री पतिघर प्राप्त करे। इस स्त्रीके घरके सब द्विपाद चतुष्पादका कल्याण हो॥ ४०॥

वधूके पहननेके लिये अपना वस्त्र विद्वान् ब्राह्मणको दान देनेसे शयनस्थानमें उत्पन्न होनेवाले कुसंस्कार दूर हो सकते हैं॥ ४१॥

वधूके पहननेके लिये अपना वस्त्र ब्राह्मणका भाग है। वह अनुमतिपूर्वक ब्राह्मणको दिया जावे॥ ४२॥

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः ॥४३॥
नवं वसानः सुरभिः सुवासा उदागां जीव उषसो विभातीः ।
आण्डात् पतत्रीवामुक्षि विश्वस्मादेनसस्परि ॥४४॥
शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते । आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥४५॥
सूर्यायै देवेभ्यो मित्राय वरुणाय च । ये भूतस्य प्रचेतसस्तेभ्य इदमकरं नमः ॥४६॥
य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ।
संधाता संधिं मघवा पुरूवसुर्निष्कर्ता विहृतं पुनः ॥४७॥

अर्थ-[हसामुदौ महसा मोदमानौ] हास्यविनोद करनेवाले महत्त्वके विचारसे आनंदित होनेवाले [स्योनात् योनेः अधि बुध्यमानौ] सुखदायक शयनमंदिरसे जागकर उठनेवाले, [सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ] उत्तम इंद्रियों और गौओंसे युक्त उत्तम पुत्र और उत्तम घरवाले [जीवौ] दो जीव अर्थात् स्त्री और पुरुष [विभातीः उषसः तराथः] प्रकाशमय उषःकाल वाले दीर्घ आयुष्यके दिनोंको सुखके साथ तैर जाओ ॥४३॥

मैं [नवं वसानः सुरभिः सुवासाः जीवः] नवीन वस्त्र पहनता हुआ सुगंध धारण करके उत्तम वस्त्र पहननेवाला जीवधारी मनुष्य [विभातीः उषसः उदागां] तेजस्वी उषःकालोंमें उठता हूं। [आण्डात् पतत्री इव] अण्डेसे निकलनेवाले पक्षीके समान मैं [विश्वस्मात् एनसः परि अमुक्षि] सब पापसे मुक्त होऊं ॥ ४४ ॥

[द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते शुम्भनी] द्यौ और पृथिवी ये दोनों लोक समीपसे सुख देनेवाले बड़े नियम पालन करनेवाले और शोभावाले हैं। [देवीः सप्त आपः सुस्रुवुः] दिव्य सातों जलप्रवाह चल रहे हैं [ताः अंहसः नः मुञ्चन्तु] वे जलप्रवाह पापसे हम सबका बचाव करें ॥ ४५ ॥ [अथर्व] ७।११२।१

[सूर्यायै देवेभ्यः मित्राय वरुणाय च] तथा अग्नि आदि देव सूर्य वरुण तथा [ये भूतस्य प्रचेतसः] जो भूतोंके ज्ञानदाता देव हैं [तेभ्यः इदं नमः अकरं] उनके लिये यह नमस्कार मैं करता हूं ॥ ४६ ॥ [ऋ० १ ।८५।१७]

[यः ऋते अभिश्रिषः] जो चिपकानेके बिना तथा [चित् जत्रुभ्यः आतृदः] गरदनकी हड्डीमें सुराख करनेके बिना [संधिं संधाता] जोड़को जोड़नेवाला और [विहृतं पुनः निष्कर्ता] टूटे हुएको पुनः ठीक करनेवाला ऐसा [पुरूवसुः मघवा] उत्तम पर्याप्त धन देनेवाला भगवान् ईश्वर है ॥ ४७ ॥ [ऋ० ८।१।१२]

भावार्थ-स्त्रीपुरुष हास्यविनोद करते हुए, आनंद मनाते हुए सुखदायक शयनमंदिरमें जाकर प्रातः समयमें जागते हुए उत्तम गौओंसे युक्त उत्तम पुत्रोंसे युक्त उत्तम घरवाले होकर दीर्घ आयुके सब दिन आनंदपूर्वक व्यतीत करें ॥ ४३ ॥

मैं उत्तम वस्त्र पहनकर सुगंध धारण करता हुआ शरीरको सुशोभित करके, ऐसा प्रयत्न करूंगा कि जिससे सब प्रकारके पाप दूर हो जायें ॥ ४४ ॥

द्युलोक और पृथ्वी लोक ये सबको सुख देनेवाले हैं वे अपने नियमसे चलते हैं। इनके मध्यमें सात प्रवाह बह रहे हैं। वे हम सबको पापसे बचावें ॥ ४५ ॥

सूर्य अग्नि देव मित्र वरुण आदि सबको मैं नमस्कार करता हूं ॥ ४६ ॥

जो ईश्वर मानवी शरीरमें दो हड्डियोंको बिना चिपकाये और बिना सुराख किये जोड़ता है वही सबको जोड़नेवाला है। वह सब टूटे हुएकी मरम्मत करता है ॥ ४७ ॥

अपास्मत् तम उच्छतु नीलं पिशङ्गमुत लोहितं यत् ।
निर्दहनी या पृषातक्य१स्मिन् तां स्थाणावध्या सजामि ॥४८॥
यावतीः कृत्या उपवासने यावन्तो राज्ञो वरुणस्य पाशाः ।
व्यृद्धयो या असमृद्धयो या अस्मिन् ता स्थाणावधि सादयामि ॥४९॥
या मे प्रियतमा तनूः सा मे बिभाय वाससः ।
तस्याग्रे त्वं वनस्पते नीविं कृणुष्व मा वयं रिषाम ॥५०॥(११)
ये अन्ता यावतीः सिचो य ओतवो ये च तन्तवः ।
वासो यत् पत्नीभिरुतं तन्नः स्योनमुप स्पृशात् ॥५१॥
उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः । अव दीक्षामसृक्षत स्वाहा ॥५२॥

अर्थ-[यत् नीलं पिशङ्गं उत लोहितं तमः] जो नीला पीला अथवा लाल रंगका मैलापन है, वह [अस्मत् अप उच्छतु] हम सबसे दूर होवे । [या निर्दहनी पृषातकी अस्मिन्] जो जलानेवाली दोषस्थिति इसमें है (तां स्थाणौ अधि सजामि) उसको इस स्तंभमें लगा देता हूं ॥ ४८ ॥

[यावतीः कृत्याः उपवासने] जो हिंसाकर्म उपवस्त्रमें हैं [यावन्तः राज्ञः वरुणस्य पाशाः] जितने राजा वरुणके पाश हैं [याः व्यृद्धयः याः असमृद्धयः] जो दरिद्रताएं और दुरवस्थाएं हैं [ताः अस्मिन् स्थाणौ अधि सादयामि] उन सबको मैं इस स्तम्भमें स्थापन करता हूं ॥ ४९ ॥

[या मे प्रियतमा तनूः] जो मेरा अत्यंत प्रिय शरीर है [सा मे वाससः बिभाय] वह मेरे वस्त्रसे डरता है । इसलिये हे [वनस्पते] वृक्ष ! [अग्रे त्वं तस्य नीविं कृणुष्व] पहिले तू उसकी ग्रंथी बना जिससे [वयं मा रिषाम] हम दुःखी न हों ॥ ५० ॥ [११]

[ये अन्ताः यावतीः सिचः] जो झालरें हैं और किनारियां हैं [ये ओतवः ये च तन्तवः] जो धागे हैं और जो ताने हैं, [यत् वासः पत्नीभिः उतं] जो वस्त्र स्त्रियोंने बुना है [तत् नः स्योनं उपस्पृशात्] वह हमारे शरीरको सुख स्पर्श करनेवाला बने ॥ ५१ ॥

[उशतीः इमाः कन्यलाः] पतिकी इच्छा करनेवाली ये कन्याएं [पितृलोकात् पतिं यतीः] पिताके स्थानसे पतिके घर जाती हुई [दीक्षां अव सृक्षत सु-आहा] दीक्षाव्रतको धारण करें यह उत्तम उपदेश है ॥ ५२ ॥

भावार्थ-जो सब प्रकारका हमारा अज्ञान है वह हम सबसे पूर्णतासे दूर हो जावे । जो हृदयको जलानेवाली दोषस्थिति है, वह हम सबसे दूर हो ॥ ४८ ॥

जो कुछ हिंसा और घातपातक कर्म हैं जो दरिद्रताएं और दुःस्थितियां हैं वे सबकी सब हमसे दूर हों ॥ ४९ ॥

मेरा शरीर सुशील और हृष्टपुष्ट है । वस्त्रधारणसे उसकी शोभा बढती है । तथापि जोडकर हम वस्त्र धारण करते हैं जिससे हमें कष्ट न हों ॥ ॥

जो हमारे स्त्री वर्गने उत्तम वस्त्र बुना है जिसमें सुंदर किनारियां और झालरें बनी हैं वह वस्त्र हमें सुख देनेवाला हो ॥ ५१ ॥

ये कन्याएं तत्पर होनेके कारण पतिकी कामना करती हैं और पतिके पास पहुंचती हैं । अर्थात् ब्रह्मचर्यकी दीक्षा छोडती हैं ॥ ५२ ॥

बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन्। वर्चो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥५३॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन्। तेजो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥५४॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन्। भगो गोषु प्रविष्टो यस्तेनेमां सं सृजामसि ॥५५॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन्। यशो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥५६॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन्। पयो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥५७॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन्। रसो गोषु प्रविष्टो यस्तेनेमां सं सृजामसि ॥५८॥
यदीमे केशिनो जना गृहे ते समनर्तिषू रोदेन कृण्वन्तोऽघम्।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥५९॥
यदीयं दुहिता तव विकेश्यरुदद् गृहे रोदेन कृण्वत्यघम्।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥६०॥(१२)
यज्जामयो यद्युवतयो गृहे ते समनर्तिषू रोदेन कृण्वतीरघम्।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥६१॥
यत् ते प्रजायां पशुषु यद्वा गृहेषु निष्ठितमघकृद्भिरघं कृतम्।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥६२॥
इयं नार्युप ब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका। दीर्घायुरस्तु मे पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥६३॥

अर्थ– [बृहस्पतिना अवसृष्टां] बृहस्पतिसे रची हुई इस स्त्रीको [विश्वे देवाः अधारयन्] सब देवोंने धारण किया है। [यत् वर्चः गोषु प्रविष्टं] जो तेज गौओंमें प्रविष्ट हुआ है [तेन इमां सं सृजामसि] उससे इसको संयुक्त करते हैं ॥५३॥
बृहस्पतिसे रची हुई इस स्त्रीको सब देवोंने धारण किया है। जो [तेजः भगः यशः पयः रसः] तेज भाग्य यश दूध और रस गौओंमें प्रविष्ट है उससे इसको संयुक्त करते हैं ॥ ५४–५८ ॥
[यदि इमे केशिनो जनाः] यदि ये [illegible] लोग [ते गृहे समनर्तिषुः] तेरे घरमें नाचते रहे और [रोदेन अघं कृण्वन्तः] रोनेसे पाप करते रहे ॥ [यदि इयं दुहिता] यदि यह पुत्री [विकेशी तव गृहे अरुदत्] बालोंको खोलकर तेरे घरमें रोती रही और (रोदेन अघं कृण्वती) रोनेसे पाप करती रही । [यत् जामयः यत् युवतयः] जो बहिनें और स्त्रियां तेरे घरमें रोती रहीं और रोकर पाप करती रहीं ॥ [यत् ते प्रजायां पशुषु यत् वा गृहेषु निष्ठितं] जो तेरी प्रजामें पशुओंमें [illegible] जो तेरे घरोंमें (अघकृद्भिः अघं कृतं) पापियोंने पाप किया है [अग्निः सविता च] अग्नि और सविता [तस्मात् एनसः त्वा प्रमुञ्चतां] उस पापसे तुझ बचावें ॥ ५९–६२ ॥
[इयं नारी पूल्यानि आवपन्तिका] यह स्त्री [illegible] आहुति देती हुई [उप ब्रूते] कहती है कि [मे पतिः दीर्घायुः अस्तु] मेरा पति दीर्घायु होवे वह [शरदः शतं जीवाति] सौ वर्ष जीवित रहे ॥ ६३ ॥

भावार्थ– [illegible] ॥ ५३–५८ ॥
[illegible] ॥ ५९–६२ ॥
[illegible] ॥ ६३ ॥

इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती । प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ॥ ६४॥
यदासन्द्यामुपधाने यद् वोपवासने कृतम्। विवाहे कृत्यां यां चक्रुरास्नाने तां नि दध्मसि॥६५॥
यद् दुष्कृतं यच्छमलं विवाहे वहतौ च यत्। तत् संभलस्य कम्बले मृज्महे दुरितं वयम्॥ ६६॥
संभले मलं सादयित्वा कम्बले दुरितं वयम्। अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूंषि तारिषत् ६७॥
कृत्रिमः कण्टकः शतदन् य एषः । अपास्याः केश्यं मलमप शीर्षण्यं लिखात् ॥६८॥
अङ्गादङ्गाद् वयमस्या अप यक्ष्मं नि दध्मसि ।
तन्मा प्रापत् पृथिवीं मोत देवान् दिवं मा प्रापदुर्वन्तरिक्षम् ।
अपो मा प्रापन्मलमेतदग्ने यमं मा प्रापत् पितॄंश्च सर्वान् ॥६९॥

अर्थ- हे इन्द्र! [चक्रवाका इव] चक्रवाक पक्षीके जोडेके समान (इमौ दम्पती इह सं नुद) ये पतिपत्नी इस लोकमें प्रेरित कर। [एनौ सु-अस्तकौ प्रजया) ये दोनों उत्तम घरवाले होकर सन्तानके साथ [विश्वं आयुः व्यश्नुतां] सब आयु का उपभोग करें ॥ ६४ ॥

[यत् आसंद्यां] जो बैठकपर कुर्सीपर [यत् उपधाने] जो बिस्तरेपर सिरहानेपर (यत् वा उपवासने कृतं) जो वस्त्रपर किया था तथा [विवाहे यां कृत्यां चक्रुः] विवाहमें जिस हिंसक प्रयोगको किया था, [तां आस्नाने नि दध्मसि] उसको हम स्नानमें धो डालते हैं ॥ ६५ ॥

[यत् विवाहे यत् च वहतौ] जो विवाहमें और जो बरातके रथमें [दुष्कृतं यत् शमलं] जो बुरा कर्म और मलिन कर्म किया [तत् दुरितं संभलस्य कम्बले मृज्महे] वह पाप हम संभलके कम्बलमें धो देते हैं ॥ ६६ ॥

[संभले मलं सादयित्वा] संभलमें मल डालकर और [दुरितं कम्बले] पापको कम्बलमें रखकर [वयं यज्ञियाः शुद्धाः अभूम] हम यज्ञ करनेयोग्य शुद्ध हों। वह [नः आयूंषि प्र तारिषत्) हमारी आयुओंको दीर्घ बनावे ॥ ६७ ॥

[यः एषः शतदन् कृत्रिमः कंटकः] जो यह सैकडों दांतवाला कृत्रिम कंगवा है वह [अस्याः शीर्षण्यं केश्यं मलं अप लिखात्] इसके मस्तकके मलको दूर करे ॥ ६८ ॥

[वयं अस्याः अङ्गात् अङ्गात् यक्ष्मं] हम इसके प्रत्येक अंगसे रोगको [अप निदध्मसि] दूर करते हैं [तत् पृथिवीं मा प्रापत्] वह रोग पृथ्वीको न प्राप्त हो [उत देवान् मा] और देवोंको न प्राप्त हो [दिवं उरु अन्तरिक्षं मा प्रापत्] द्युलोक और अन्तरिक्ष लोकको भी न प्राप्त हो। हे अग्ने! [एतत् मलं अपः मा प्रापत्] यह मल जलको प्राप्त न हो [यमं सर्वान् पितॄन् च मा प्रापत्] यमको और सब पितरोंको न प्राप्त हो ॥ ६९ ॥

भावार्थ- हे प्रभो! पतिपत्नी मिलकर सदा एक विचारसे रहें। चक्रवाकपक्षीके जोडेके समान आनंदसे रहें। उत्तम घर कर और उत्तम संतान निर्माण करके संपूर्ण आयु आनंदसे व्यतीत करें ॥ ६४ ॥

बैठक सिरहाना बिस्तर वस्त्र तथा विवाहके विषयमें जो कुछ पाप या घातक दोष होते हों वे सबके सब स्नानसे दूर किये जावें ॥ ६५ ॥

विवाहमें और बरातमें जो कुछ पाप या दोष होता हो वह भी विचारके साथ दूर किया जावे ॥ ६६ ॥

अपने मल और दोष दूर कर हम सब पूज्य पवित्र और रोगरहित तथा दीर्घायु बनें ॥ ६७ ॥

कंगवा लेकर स्त्रीके मस्तकका मल दूर किया जावे और बालोंकी स्वच्छता की जावे ॥ ६८ ॥

इसी प्रकार स्त्रीके शरीरका प्रत्येक भाग स्वच्छ किया जावे परंतु वह मल पृथ्वी अन्तरिक्ष, आकाश जल इनमेंसे किसीके पास न जावे वहां एसे स्थानपर मल नाश किया जावे कि जो फिर किसीको कष्ट न दे सके ॥ ६९ ॥

सं त्वा नह्यामि पयसा पृथिव्याः सं त्वा नह्यामि पयसौषधीनाम् ।
सं त्वा नह्यामि प्रजया धनेन सा संनद्धा सनुहि वाजमेमम् ॥७०॥(१२)
अमोऽहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम् ।
ताविह सं भवाव प्रजामा जनयावहै ॥७१॥
जनियन्ति नावग्रवः पुत्रियन्ति सुदानवः । अरिष्टासू सचेवहि बृहते वाजसातये ॥७२॥
ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन् । ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु ॥७३॥
येदं पूर्वागन् रशनायमाना प्रजामस्यै द्रविणं चेह दत्त्वा ।
तां वहन्त्वगतस्यानु पन्थां विराडियं सुप्रजा अत्यजैषीत् ॥७४॥

अर्थ- [त्वा पृथिव्याः पयसा संनह्यामि] तुझ पृथ्वीके पोषक पदार्थसे मैं युक्त करता हूं। (त्वा ओषधीनां पयसा संनह्यामि] तुझ ओषधियोंके पौष्टिक रससे युक्त करता हूं। [त्वा प्रजया धनेन संनह्यामि] तुझे प्रजा और धनसे युक्त करता हूं। [सा संनद्धा इमं वाजं सनुहि] वह तू भी उक्त गुणोंसे युक्त होकर इस बलको प्राप्त कर ॥ ७० ॥ [१२]

[अहं अमः अस्मि] मैं प्राण हूं और [सा त्वं] शक्ति तू है। [साम अहं ऋक् त्वं] साम मैं हूं और ऋचा तू है, [द्यौः अहं पृथिवी त्वं] द्युलोक मैं हूं और पृथ्वी तू है। [तौ इह संभवाव] वे हम दोनों इकट्ठे हों और [प्रजां आ जनयावहै] संतान उत्पन्न करें ॥ ७१ ॥

[अग्रवः नौ जनियन्ति] अविवाहित लोग हम जैसेही विवाहकी इच्छा करते हैं। [सुदानवः पुत्रियन्ति] दाता लोग पुत्रकी कामना करते हैं। [अरिष्टासू बृहते वाजसातये सचेवहि] नाश रहनेतक हम दोनों बड़े बलप्राप्तिके लिये साथ साथ मिलकर रहें ॥ ७२ ॥ [ऋ. ७।६।११३]

[ये वधूदर्शाः पितरः] जो वधूको देखनेकी इच्छा करनेवाले बड़े लोग [इमं वहतुं आगमन्] इस बरातको देखने आये हैं (ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै) वे इस वधू अर्थात् उत्तम पत्नीके लिये (प्रजावत् शर्म यच्छन्तु) प्रजायुक्त सुख प्रदान करें ॥ ७३ ॥

[या रशनायमाना पूर्वा इदं आ अगन्] जो रशनाके समान सुसंबद्ध युक्त पहिली स्त्री इस स्थानपर प्राप्त हुई थी [अस्यै प्रजां द्रविणं च इह दत्त्वा) इसके लिये संतान और धन यहां देकर (तां अगतस्य पन्थां अनु वहन्तु) उसको भविष्यकालके मार्गसे सुरक्षित ले जावें। (इयं विराट् सुप्रजा अति अजैषीत) यह वधू तेजस्विनी और उत्तम प्रजावाली होकर विजयी होवे ॥ ७४ ॥

भावार्थ- स्त्रीको पृथ्वी और ओषधियोंके पौष्टिक रससे पुष्ट किया जावे। उसको धन दिया जावे और उत्तम संतान उत्पन्न हो। स्त्री बलशालिनी होकर बलसे विराजे ॥ ७० ॥

पुरुष प्राण है और स्त्री शक्ति है पुरुष सामगान है और स्त्री मंत्र है। पुरुष सूर्य है और स्त्री पृथ्वी है। ये दोनों मिलकर इस संसारमें रहें और उत्तम संतान उत्पन्न करें ॥ ७१ ॥

अविवाहित स्त्री पुरुष अपने गृहस्थाश्रमके लिये योग्य पुरुष और योग्य स्त्री की अपेक्षा करते हैं। जो उदार दाता होते हैं उनसे ही उत्तम संतान होते हैं। वे मनुष्य मिलकर उत्तम बलकी प्राप्तिका यत्न करें ॥ ७२ ॥

नव वधूको देखनेके लिये बरातके समय अनेक स्त्री पुरुष जमा होते हैं। वे सब नववधूको सुसंतान होनेका शुभ आशीर्वाद देवें ॥ ७३ ॥

जैसे डोरीमें अनेक धागे मिलकर रहते हैं वैसेही गृहस्थाश्रम मिलकर रहनेका आश्रम है। गृहस्थाश्रममें इकट्ठे हुए सब श्रेष्ठ स्त्रीको धन और सुसंतान प्राप्त होनेका शुभाशीर्वाद देकर उसको शुभ मार्गसे चलावें; इस तरह यह स्त्री तेजस्विनी, यशस्विनी तथा सुसंतान युक्त होकर विजयी होवे ॥ ७४ ॥

(१२) प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय [illegible]
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः [illegible] ॥७५॥(१७)

॥ इति [illegible] ॥

॥ [illegible] समाप्तम् ॥

अर्थ-(सुबुधा बुध्यमाना) [illegible] (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय प्र बुध्यस्व) सौ वर्षके दीर्घजीवनके लिये जागती रह। (गृहान् [illegible]) [illegible] (यथा गृहपत्नी असः) गृहस्वामिनी जैसी बनकर रह। (सविता ते आयुः दीर्घं कृणोतु) [illegible] दीर्घ बनावे ॥ ७५ ॥

भावार्थ- [illegible] सौ वर्षकी दीर्घ आयुके लिये ज्ञानप्राप्तिपूर्वक प्रयत्न करे। [illegible] बनकर रहे। [illegible] बनकर रहे। परमात्मा इसको दीर्घायु करे ॥ ७५ ॥

द्वितीय अनुवाक समाप्त।

चतुर्दश काण्ड समाप्त।

वैदिक विवाहका स्वरूप।

प्रथम-सूक्त।

अथर्ववेदके इस चतुर्दश काण्डमें वैदिक विवाहका स्वरूप और वैदिक विवाह-पद्धति दर्शायी है। जो पाठक अपनी विवाह पद्धतिका विचार करना चाहते हैं वे इन दो सूक्तोंका विशेष मनन करें। प्रथम सूक्तके प्रारंभमें पांच मंत्र केवल सामान्य उपदेश देनेवाले हैं। इनमें सूर्य चन्द्र नक्षत्र पृथ्वी और सोम आदिका वर्णन है परंतु इन मंत्रोंमें इन देवताओंका वर्णन करते हुए विवाहका तथा पतिपत्नीका आदर्श बताया है, देखिये

द्यौ और भूमि।

प्रथममंत्रमें भूमि पत्नीके स्थानपर और सूर्य अथवा द्युलोक पतिके स्थानपर वर्णन किये गये हैं। मानो सबकी माता पृथ्वी है और सबका पिता सूर्य है। यह सब संसार मानो पृथ्वी और सूर्य इन मातापिताओंका संतानरूप है। एकही परिवारके हम सब हैं। जितने भी संसारके मनुष्य या पशुपक्षी हैं, वे सब एकही परिवारके हैं। संपूर्ण मनुष्योंमें तो भाईभाईका नाता है। पतिका आदर्श सूर्य है या द्युलोक है। द्युलोक वह है जो उच्चस्थ है, सदा प्रकाशित है। वह सबको प्रकाश देता है। इसी प्रकार पति अपने परिवारको उत्तम ज्ञानका प्रकाश देवे और सब संतानोंको ज्ञानवान करे। इसी तरह भूमि सबको आधार देती है अन्न और जल देकर सबकी तृप्ति करती है। इसी प्रकार माता सब संतानोंको अपना प्रेमका आधार देवे और सब को खानपान द्वारा योग्य रीतिसे पुष्ट रखे। इस तरह विचार करनेपर तथा द्यावाभूमिके आदर्शका मनन करनेसे स्त्री पुरुषके अथवा पतिपत्नीके आदर्श उपदेश इस मंत्रमें स्पष्ट रीतिसे ज्ञात हो सकते हैं।

गृहस्थधर्मका आधार सत्य है यह बात इस सूक्तका प्रारंभ ही "सत्य" शब्द द्वारा करके बताती है। स्त्रीपुरुषका व्यवहार सत्यकी मर्यादामेंही होवे उनमें असत्य, छल, कपट आदि कभी न आवे। इसीसे आदर्श गृहस्थधर्म हो सकता है। द्वारा यह सत्य है। सत्यका अर्थ सरलता है। सत्य और ऋत ये दो ही जगतिके नियम हैं। सब धर्म इनहींका नाम है। सत्य और ऋतको छोडकर कोई धर्म स्थानपर रह नहीं सकता।

सोम

द्वितीय मंत्रमें "सोम" का माहात्म्य वर्णन किया है। यह सोम स्वर्गमें है पृथ्वीपर है और नक्षत्रोंमें भी है। पाठक जान सकते हैं कि नक्षत्रोंमें जो सोम है वह चन्द्र ही है। यह सब नक्षत्रोंकी शोभा बढाता है रात्रीके समय इसकी अवर्णनीय शोभा है। यह शान्तिका आदर्श है। मनुष्य इस शान्तिके आदर्शको सदा मनमें धारण करे और शान्त रहें। क्रोध या शांतिभंग करनेवाले दुर्गुणोंको दूर रखें। यह आदर्श सोम द्वारा पतिके लिये इस मंत्रमें दिया है।

पृथ्वीपर भी 'सोम' है यहां सोमका अर्थ "वनस्पति तथा अन्न" है। आकाशके सोमका यह पृथ्वीपर रहनेवाला प्रतिनिधि है। यह पृथ्वीपर रहनेवाले मनुष्यों और पशुपक्षियों की तृप्ति करता है। पाठक यहां पृथ्वीके सोमको और आकाश के सोमको यथावत् जानें। दोनोंका नाम सोम है परंतु वे दोनों एक नहीं हैं। सोमके अनेक अर्थ हैं और सोम शब्द द्वारा अनेक पदार्थोंका बोध वेदमें होता है। अतः सर्वत्र सोम शब्दसे एकही पदार्थका बोध मानना अयोग्य है।

आगे तृतीय मंत्रके पूर्वार्धमें सोमरसका पान करनेका वर्णन है। यह सोमपान यज्ञमें होता है इसको सब जानतेही हैं। परंतु इसी मंत्रमें आगे उत्तरार्धमें विशेष अर्थसे सोमपानका उल्लेख है। यहां कहा है कि "जो सोमपान ब्रह्मज्ञानी पीते हैं, वह सोमपान कोई अन्य मनुष्य कर नहीं सकता।" यहां का सोमपान ब्रह्मानंदका पान है। जो ब्रह्मज्ञानीही कर सकता है। यह भी सोम है। यही परमात्माका परमोच्च आनंदरूप रस है। परमात्माको एकरस कहतेही हैं। यही अन्तिम और अति-श्रेष्ठ सोमपान है। धर्म मनुष्यको इसी सोमपानके लिए योग्य बनाता है। साधारण मनुष्य इस सोमपानको कर नहीं सकता क्योंकि विशेष उच्च अवस्था प्राप्त होनेपर ही यह सोमपान होना संभव है।

पाठक यहां देखें कि परमात्माके अर्थवाचक रसरूप सोमके विचारके साथ साथ वनस्पतिके सोमरसकी अनेक सोमादिपरक

कारण ये वेदमें बड़ी प्रशंसा है । इनके बीच मध्य भागमें सोम का पुत्र हैं । इस प्रकार यह सोमपानका माहात्म्य है । इसका वर्णन यहां करनेका हेतु यह है कि गृहस्थी लोग अपने घरमें सोमपान करें । सर्वसाधारणतया सोमपानका अर्थ है औषधिरस का सेवन करना । यह सब गृहस्थी करें । गृहस्थियोंमें यह भाव है । वनस्पति धान्य फल शाक आदिका सेवन गृहस्थि योंके परिवारोंमें होता रहे और इनसे बना आहार सेवन किया है । यही माता जिस आमरसके मधकी पुष्टि कर रही हैं वह यही वानस्पत्य सोम है । यही गृहस्थधर्ममें रहनेवालोंका सर्व साधारण वानस्पत्य आहार होना चाहिये यह बात यहां कही है ।

इसके पश्चात् ऋषि मुनि साधु संत आदि अपनी आध्यात्मिक उन्नति करते हुए परमात्माके ज्ञान रसका रसपान करते हैं । वह भी सोमपान ही है । इसको सोमरसका सर्वसाधारण गृहस्थियोंके पास नहीं जाता । पु रुष धर्मका धर्म इस सोमपानको मनुष्यमें उत्पन्न करता है । अर्थात् गृहस्थाश्रमका धर्म का योग्य रीतिसे पालन करनेपर वानप्रस्थाश्रमधर्मका पालनपूर्वक संन्यासाश्रममें मनुष्यके अन्दर यह सोमरस प्राप्त हो सकता है । गृहस्थाश्रमसे आगे चलकर प्राप्त होनेवाली यह बात है । यह सूचित करनेके लिये और गृहस्थियोंपर भी जिम्मेवारी बतानेके हेतु से वे सब प्रकारके सोमपान यहां इन मंत्रोंमें बताये हैं ।

बरातका रथ

आगे मंत्र ६ से १२ तक बरातके रथका वर्णन है । यह सब आलंकारिक वर्णन है । यह तो स्पष्ट ही काल्पनिक (अनो मन-स्मयं । मं० ११ तथा मनो अस्या अन आसीत् । मं० १०) रथ है । तथापि यह आलंकारिक रथका वर्णन इसलिये दिया है कि मनुष्य विवाहके समय एसे उत्तम रथ बनावें और बरात निकालें और वधूको पतिके घर बड़े आदरसे ले जावें । इस बरातका रथ कैसा हो इस विषयमें इन मंत्रोंका वर्णन देखनेयोग्य है ।

बरातके रथका नमूना यहां देखें । जब (सूर्या यद् अयात्) सूर्याकी पुत्री अपने पतिके घर चली तब इस प्रकारके सुंदर रथपर वह बैठकर चली थी । यही नमूना सब पुत्रियोंके बरातके समय रखा जावे । इस समय (रथ्याभवं । मं० ६) उस रथकी सज्जा रथमें था जिसने अपनी आंखोंमें (आंजन) काजल लगाया था । पदोंमें (कोशः) धन साथ लिया था । वह आभूषण हो या सुवर्णमें धन हो । परंतु वह इस रथमें था । जब रथ चलने लगा तब धन बढाने (अनुदेयी । मं० ७) अनुकूल आशीर्वाद दिये, तब दोनोंने वधूके साथ (गाथाओंको) गाया । इस तरह सब वातावरण अनुकूल बना था । उस मंडलीमें एक भी मनुष्य इसके प्रतिकूल था, या विरोध करनेवाला था । सब आनन्दसे चल रहे और सब वधूवरका हित एकचित्तसे चाहते थे ।

(भद्र गाथा) इस समय सूर्याका वस्त्र उत्तम था तथा ही सुंदर था । एसे सुंदर वस्त्रोंसे युक्त होकर वह विशेष शोभ रही थी ।

इस बरातमें आगे उत्तम गायक थे, वे सुंदर स्वरोंसे मधुर तालमें उत्तम पद गाते हुए आगे चल रहे थे । उनके पीछे वैद्य चल रहे थे उनके साथ अग्नि अग्रेसर था । इस प्रकारसे यह बरात चल रही थी ।

जिस रथमें यह वधू बैठी थी उस रथका सुंदर छत थी, मंदिर जैसा उसका शिखर था, अंदरसे सुंदर आकाशके समान दिखाई देता (द्यौः छदिः । मं० १०) था । दो बैल (सूर्य चन्द्र) इस रथको खींचते थे । वह अत्यंत शोभायमान था । क्योंकि सोमही इस सूर्याका पति था । सोमनेही इस सूर्याकी मंगनी की थी और सोमके साथ इस सूर्याका विवाह हुआ था ।

जब सोमने मंगनी की थी, तब उसके सहायक अश्विनीकुमार दोनों देव थे । अर्थात् वरपक्षके साथमें वह मंगनी हुई थी । इस प्रकारका स्वीकार सूर्याके पिताने किया था ।

सूर्या यद् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताददात् ॥ मं० ९

" सविताने मनसे पतिके विषयमें पूर्ण भाव रखनेवाली अपनी सूर्याका हाथ पतिके हाथमें दिया था । " इसमें सविता अपनी पुत्रीको पतिके हाथमें दान करता है ऐसा वर्णन है । यह एक विवाहका आदर्श यहां वैदिक ऋषियोंके सन्मुख रखा है । इसमें वधूका पिता अपनी कन्याका दान करता है और इस दानसे कन्या वरको प्राप्त होती है । यहां सावर्ण विवाहका आदर्श ही वैदिक ऋषियोंके सामने रखा गया है । वर अपने लिये वधूकी मंगनी करता है वधूका पिता उस मंगनीका स्वीकार करता है और शुभमुहूर्तपर अपनी पुत्रीका दान करता है । इससे स्पष्ट है कि कन्यापर अधिकार पहिले पिताका रहता है और इस कन्यादान विधिसे कन्यादानके पश्चात् पतिका अधिकार होता है । वैदिक धर्मकी दृष्टिसे भी इसका अर्थात् स्वयंवरका भी यहां । इसके अतिरिक्त पिताके अधिकारमें रह अपना कालके आधीन रहे । इसके अनुयायियोंमें यह परंपरा शुभ मानी जाती ...

रहे परन्तु स्वतन्त्र न रहे। (अतएव) बाल जो होता है वह स्वतंत्रता नहीं हुआ करता जो स्वतंत्र नहीं होता उसीका दान होना संभव है। पुरुषका दान कभी नहीं होता क्योंकि वह स्वतंत्र है। कन्याकाही दान यहां किया है।

सूर्यां सविता पत्ये ददात्। [अथर्व १४ । १ । ९]

मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः। (ऋ० १ । ८५ । ३६ । अथर्व १४ । १ । ५)

इन दोनों स्थानोंपर अर्थात् ऋग्वेदमें और अथर्ववेदमें (ददात्, ददुः) कन्यादान ही किया है। अतः जो लोग समझते हैं कि वैदिक धर्ममें स्त्री स्वतंत्र थी वह उनकी भूल है।

न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति।

यह स्मृतिवचन वेदके अनुकूल ही है ऐसा यहां प्रतीत होता है। जो लोग इस स्मृतिवचनका उपहास करते हैं वे इस वेदवचनका अधिक मनन करें। स्त्री स्वतंत्र न रहे बाल्यपनमें मातापिताओंकी निगरानीमें रहे विवाहित होनेपर पतिके निगरानी प्राप्त करें। वर कन्याकी मांगनी वधूके पिताके पास करे और पिता (अथवा भ्राता) अपने मनसे संमति दे। तब विवाह हो। कन्या स्वयं पिताकी अनुमतिके बिना अपना स्वयंवर न करे, स्वयंवर करना भी हो, तो उसके लिये भी पिताकी संमति हो। वेदमें स्वयंवरके मंत्र किसी स्थानपर अबतक देखनेमें नहीं आये हैं। इससे प्रतीत होता है कि स्वयंवर की प्रथा पीछेसे चल पडी है। अस्तु।

इस तरह कन्यादानपूर्वक विवाह होनेके पश्चात् वधू अपने पतिके घर चली जाती है। उस समय सुंदर रथ सिद्ध किया जावे। उसमें गद्दियां और तकिये हों तथा सुंदर सजाया जावे। उत्तम बैल उसको जोते जांय कोई घोडे जोते उसके लिये प्रतिबंध नहीं है। रथके चाक भी (पहिये) सुदृढ स्वच्छ और सब प्रकारसे युक्त हों। इस तरह सब प्रकारसे सुंदर और सजाये हुए मनोरम अपने सुखदायी रथपर आरूढ होकर वधू अपने पतिके घर चली जावे।

दहेज।

विवाह होनेके पूर्व वधूका पिता अपने दामादके लिये अपने सामर्थ्यके अनुसार (दायज) दहेज भेज देवे। मंत्र १६ में [भाग] गौवें दहेजके रूपमें भेजनेका उल्लेख है। गौवें ही बडा धन है। अन्य धन इनसे कम योग्यताका है। गौओंके दूधसे घरके सब मनुष्योंकी पुष्टि होती है इस लिये वधूका पिता अपनी कन्याके पतिको उत्तम उत्तम गौवें देवे और ये गौवें विवाहके पूर्व पतिके घर पहुंचें। पश्चात् विवाह होवे और तत्पश्चात् वधू अपने पतिके घर चली जावे। चन्द्रमा मघा नक्षत्रमें होनेके समय दहेज भेज दिया, तो चन्द्रमा फल्गुनी नक्षत्रमें आनेके समय विवाह हो। प्रायः यह कमसे कम पंद्रह दिनका समय है अधिकसे अधिक पहले भेजनेमें जितना भी उचित है उतना समय रखते हैं। दामादके घर गौवें पहुंचनेके पश्चात् उन गौओंको वहां प्रेम लगनेके पश्चात् विवाह हो, यह तात्पर्य है। जब यह वधू अपने पतिके घर चली जावेगी तब उसको अपनीही परिचित गौवें मिलेंगी और गौओंको भी अपने परिवारकी स्वामिनी मिलनेसे परस्परका प्रेम परस्पर होनेके लिये सुभीता होगा। इस तरह यह कन्यादानके पूर्व गौओंका दान वैदिक विवाहमें एक मुख्य बात है।

मंत्र १० और १५में कहा है कि वधूपक्षके दो मनुष्य (अश्विनौ) घोडोंपर सवार होकर वरपक्षके पास पहुंचते हैं। वरके पास वह दहेजको अर्पण करते हैं। इस तरह इस प्रकार वरपक्षका सब पारिवारिक लोग संमति और अनुमति देते हैं। ऐसे इससे यह विवाह होता है और सब जातिकी संमति उसमें रहती है। मंगनी के समय विवाहके समय और बरातके समय सब पारिवारिक जन सब जातिके सज्जन उपस्थित होते हैं। यह बात इससे स्पष्ट सिद्ध होती है। सूर्यके और सोमदेवके पारिवारिक जन तथा जातिके सज्जन (देव) थे। इसी तरह मनुष्योंमें विवाह होते समय वधू और वर पक्षके पारिवारिक तथा जातिके लोग संमिलित होने चाहिये यह बात इसी वर्णनसे स्पष्ट होती है। क्योंकि वैदिक विवाह सूर्यने अपनी पुत्री सूर्याका सोमके साथ किया वैसाही मानवोंने अपनी पुत्रियोंका करना है। वस्तुतः सूर्यने जो अपनी पुत्री सूर्याका विवाह किया यह एक आलंकारिक बात है। यह वर्णन इसलिये वेदमें दिया है कि इसको देखकर अन्य मानव उसके इस विधिके अनुसार करें। वेदका यह वर्णन सूर्य किरण चन्द्रमाको प्रकाशित करता है इस मूल बातको लेकर रचा गया है। और विवाहके अन्तर्गत विधियां इस आलंकारिक वर्णनमें उत्तम रीतिसे समाविष्ट किये गये हैं।

फलरूप ऐश्वर्य देनेवाली है। इसके बीच सब प्रकारके सोम आ चुके हैं। इस प्रकार यह सोमपानका माहात्म्य है। इसका वर्णन यहां करनेका उद्देश यह है कि गृहस्थी लोग [illegible] सोमपान करें। सर्वसाधारणका सोमपानका [illegible] का सेवन करना। यह सब गृह[illegible] आय है। वनस्पति धान्य [illegible] योंके परिवारोंमें इसका [illegible] विशेष है। पूर्वोक्त [illegible] यह नहीं [illegible] साधारण [illegible] इसके [illegible] प्रकृति [illegible] भी [illegible] [मं० १४] [illegible] पितृकुलसे [illegible] है कि यह [illegible] पितृकुलसे छूटना [illegible] होता है कि यह [illegible] छूट सकती है या नहीं [illegible] है कि कन्या पतिकुलसे [illegible] किसी भी अवस्थामें संबंध [illegible] पतिसे असंभव है। इस [illegible] है [अमुतः अमुतः सुबद्धां करं] [illegible] तो उसको उत्तम प्रकार बांधता हूं। इस [illegible] पितृकुलसे तो [illegible] तात्पर्य यह है कि यह पतिकुलसे कभी वियुक्त न [illegible] वियुक्त पुरुषके साथ संबंध होनेसे भी [illegible] पतिकुलका संबंध जुडा रहता है और संतान तो पूर्व पतिकी ही होती है। परंतु पुनर्विवाह तो सर्वथा असंभव है, क्योंकि पुन-विवाहसे तो पतिकुलका संबंध छूट जाता है। इस कारण वैदिक धर्ममें स्त्रीका पुनर्विवाह संभव नहीं है। वर्तमानमें द्विजातियोंमें तो सर्वथा पुनर्विवाह असंभव है।

आजकलका पतित्याग ([illegible]) का प्रश्न तो नि-श्चय अवैदिक है। आजकल यूरप अमेरिकाके अनुकरण कर यहांके लोग भी भारतीय साथ विवाहित संबंध आसानीसे तोड सकनेवाले लगे हैं। परंतु यह रीति वैदिक धर्मके अ-नुकूल नहीं है। [illegible] के प्रश्नमें भी पतिपरित्याग या पत्नी-परित्याग संमत नहीं है फिर अथर्ववेदके अनुसार तो वे [illegible] हो सकता है। पूर्वोक्त मंत्रमें उपमा दी है कि जैसा कोई [illegible] ([illegible]) अपने [illegible] रखता है वैसा यह कन्या पितृकुलसे [illegible] नहीं है। इसका अर्थ पतिकुलसे हुआ है और यह संबंध [illegible] अर्थात् [illegible] हो चुका है [illegible] नहीं हो सकता। यहां पाठक [illegible] विवाह की [illegible]

[illegible] करे। यह स्थिर संबंध है [illegible] क्षणभंगुर नहीं है।

[illegible] १६ वें मंत्रमें कहा है कि यह कन्या वरुणके [illegible] [illegible] से मुक्त हुई थी। विवाहके समय वे पाश छोड दिये गये हैं। वरुणके पाश किसी अन्य कारणसे दूर नहीं होते। पितृकुलसे संबंध तोडकर पतिके कुलसे नया संबंध जोड दिया है। यह संबंध जो पतिके कुलसे हो गया है वह (अर्य-माके) साथ साथ संभाल होनेके लिये है। पतिके कुलके [illegible] साथ इस स्त्रीका संभाल होता रहे। अर्थात् यह कन्या बाल्यमें पितृकुलसे पाशोंके साथ बांधी थी वरुणदेवके पाशोंसे बांधी थी और वरुणके पाश ऐसे होते हैं कि वे तोडनेका सामर्थ्य किसीके अन्दर नहीं होता है। वे वरुणके पाश [illegible] दूर जाते हैं परंतु यही वधू पतिकुलसे वैसे कभी छूटती नहीं क्योंकि आमरण वह अपना संबंध छोड नहीं सकती। इस [illegible] कुलमें रहती हुई वह—

भगस्य नावो सुकृतस्य लोके [illegible] [मं० ११]

संपत्तिके घरमें और पुण्यवानोंके स्थानमें जो सुख प्राप्त हो सकता है वह इसको पतिके घर प्राप्त हो। " अर्थात् यह पतिके घरमें रहती हुई सब सामर्थ्य पावे और पुण्य कर्म करती हुई सुखको प्राप्त हो। यह स्त्रीका धर्म है। पति रहनेतक [illegible] पतिके मरनेके पश्चात् भी स्त्रीका यही धर्म है, वह [illegible] पतित न हो, और इस धर्मका आचरण करती हुई सुखको प्राप्त करे। स्त्रीका स्वतन्त्र आचार या स्वेच्छाचार वर्जित किया है। न स्त्री पितृघरमें स्वतंत्र है न पतिके घरमें स्वतंत्र है और न पतिके मरनेके पश्चात् वह स्वतन्त्र हो सकती है।

पश्चात् बालकपनमें जो पिताने वरुणके पाशसे उसे पितृकुलसे बांध रखा था (मं० १९), विवाह होनेके बाद वे पाश तो दूर गये परंतु अर्यमादेवने उसका हाथ [illegible] [illegible] पश्चात् जब यह पतिके घर [illegible] जिस रथमें बैठी तब आश्विनीदेव उसके रथके [illegible] [मं० [illegible]] जबतक यह वधू पतिके घर नहीं पहुंचती तबतक [illegible] देवोंको ध्यानमें रखती है। पश्चात्—

गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी [illegible] ([illegible])

पतिके घर जब यह वधू पहुंचती है और वहां वशिनी होकर रहती है। वहां अपनी इच्छा वशमें रखती है, सब परिवारको वशमें रखती है और सब घर [illegible]

गी है। इस तरह वह पतिके घर पहुंचनेके पश्चात् बर्ताव है। तत्पश्चात् वह पितृगृहमें बहनके नातेसे बसी है। स्वतंत्र नहीं होती। इसके ऊपर माता पिता और पराली करते हैं, देवताओंकी निगरानी रहती है परिकी निगरानी होती है। कुछ भी हुआ तो भी स्वतंत्रता नहीं रही है जैसी कि आजकल यूरोप विशेषतया रूसमें इस समय स्त्रियोंकी स्वतंत्रता। नियमबद्ध पारतंत्र्यमें जितनी स्वतंत्रता हो नी तो अवश्य है। विद्या तथा संस्कारके लिये जितना आवश्यक है उतनी स्वतंत्रता तु आजकल जो कुमारिकाएं कुमारोंके साथ मिलजुल कर कालेजोंमें सीखती हैं वैसी शिक्षापद्धति भी वैदिक समयमें नहीं थी। उस समय प्रत्येक कुमारी अपने मातापिताके पास रहकर शिक्षा पाती थी और पश्चात् पतिसे। स्वतंत्र रीतिसे कालेजोंमें रहना और कुमारोंमें मिलकर शिक्षा पाना यह सब वैदिक समयमें प्रायः असंभवसा प्रतीत होता है।

गृहस्थाश्रमका आदर्श।

आगे मंत्र २१-२२ तक गृहस्थाश्रमका सुंदर वर्णन है। प्रत्येक गृहस्थी इस सुखका अधिकारी है। जो धर्मानुकूल रहे और गृहस्थीका धर्म पालन करे। वह इस सुखको प्राप्त कर सकता है।

(१) अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि। (मं० २१)

इस पतिके घरमें अपने गृहस्थ धर्मका जानते हुए पालन कर अपने गृहस्थ धर्ममें जागृति न कर, दक्षतासे अपने पतिके घरमें रह और अपना कर्तव्य कर।

(२) इह ते प्रजायै प्रियं समृध्यताम्। [मं० २१]

इस गृहस्थाश्रममें रहते हुए अपने सन्तानका प्रिय प्राप्त और कल्याण करना तथा सुदृढ कर्तव्य है। सुसन्तान निर्माण करना गृहस्थका धर्म है। गृहस्थधर्मका यह पुष्प और फल है यह सुसन्तान बनानेके लिये जो यत्न किया जाय वह थोडा है। मातापिताके सब संस्कार बालकपनसे संतानमें आते हैं अतः मातापितापर यह जिम्मेवारी है कि वे अपनेपर कोई अशुभ संस्कार न होने दें। कारण रोग दुष्ट आदतें और अन्य कुसंस्कार संतानोंमें बालकपनसे उतरते हैं अतः मातापिताओंको उचित है कि वे स्वयं पवित्र रहें और शुभ संतान निर्माण करनेका यत्न करें। इस तरह प्रयत्न करते करते संतानोंके लिये शुभ संस्कारही मिलने लगेंगे और क्रमशः संतान सुधरती और सुसंस्कारसंपन्न होती जायेगी।

[३] एना पत्या तन्वं सं स्पृशस्व। [मं० २१]

इस पतिके साथ आनन्दप्रसन्न होकर रह।' सब प्रकार के धर्मानुकूल उपभोग प्राप्त कर। तथा प्रसन्नतासे दिवसको व्यतीत कर। दुःखी कभी रहनेसे वैसा चिडचिडापन संतानमें आ जायगा इसलिये प्राप्त ऐश्वर्यके उपभोगसे चित्तकी प्रसन्नता रख और इसी तरह अन्यान्य प्रसंगोंमें अन्तःकरण सदा शुभ चित्तही रखना योग्य है। इस संसारमें रहनेका यही मुख्य नियम है।

[४] जिव्रिर्विदथमा वदासि। [मं० २१]

' इस रूपसे गृहस्थाश्रममें रहते हुए जब तारुण्य चला जाय और वृद्ध अवस्था प्राप्त हो अर्थात् बहुत अनुभव आ जाय तब तू अपने अनुभवके सिद्धान्त उपदेशद्वारा दूसरोंको कह। " इसके पूर्व नहीं। इसके पूर्वका समय ज्ञानग्रहण करनेका है उपदेश देनेका नहीं। उपदेश देना अनुभवी वृद्धोंका कर्म होता। इस संसारमें पर्याप्त अनुभव आनेपर ही मनुष्य उपदेश करे। इसके पूर्व जो उपदेश करते हैं उनसे लाभकी अपेक्षा हानि की अधिक संभावना ही रहती है। अनुभव जैसा जिसको अधिक होता है वैसा उसका अधिकार उपदेश करनेमें अधिक होता है।

[५] इहैव स्तं मा वि यौष्टं, विश्वमायुर्व्यश्नुतम् (मं० २२)

पतिपत्नी इस गृहस्थाश्रममें रहें उनमें वियोग न हो पूर्ण आयुकी समाप्तितक वे दोनों एक विचारसे रहें। यह है विवाहित कुटुम्बका आदर्श। नहीं तो विवाह होतेही वैवाहिक संबंधका परित्याग करनेका कुत्सा जो अनार्य देशोंमें चली है वह तो वैदिक विवाहमें सर्वथा नहीं है। वेद चाहता है कि जो विवाह एक समय हुआ वह जीवनके अन्ततक स्थिर रहे उस में किसी तरह विरोध न आता हो जिससे होकर उनका वैवाहिक संबंध न टूटे।

[६] स्वस्तकौ मोदमानौ पुत्रैर्नप्तृभिः क्रीडन्तौ।

[मं० २२]

' पतिपत्नी उत्तम घरवाले हों आनन्दप्रसन्न हों और पुत्रोंके साथ तथा नातियोंके साथ खेलते हुए सुखसे गृहस्थाश्रमका कर्तव्य करते रहें। गृहस्थाश्रममें रहनेवाले दुःखी

विवाहिके न हों मन आनन्दप्रसन्न रखकर सुखसे भाग अपने कर्तव्य गृहस्थी सेवन करते रहें।

(७) सूर्यचन्द्रके समान तेजस्वी पुत्र हों।

(मं० २३)

जैसे सूर्य और चन्द्र सब जगत्‌को प्रकाश देनेवाले हैं, वैसेही गृहस्थाके घरमें उत्तम तेजस्वी संतान हों वे विविध खेलोंमें (क्रीडन्तौ) प्रवीण हों (मायया चरतः) कौशल्यके साथ जगत्‌में भ्रमण करें अर्थात् कुशलताके कर्म करें, सदाचार ही और विश्वमें भ्रमण करें। अपनी कलाका खूब विकास करें। जैसे उपमामें चन्द्रमा कलायुक्त होता है उसकी कला विधि बढती है वैसा ही यह कलाओंका विधि करे। और कलाकुशलतासे अपनी तथा अपने राष्ट्रकी उन्नति सिद्ध करे। अपनी संतानोंको कला-कारीगरीकी शिक्षा देनी चाहिये यह बात यहां स्पष्ट हो जाती है।

ब्राह्मणोंको धन और वस्त्रदान।

मंत्र २५ में (ब्राह्मणेभ्यो वसु विभज शामुल्यं न देहि। मं २५) ब्राह्मणोंको धन दान दो और वस्त्रका दान करो। यह ब्राह्मणोंको दान करनेकी आज्ञा यहां की है। विवाहके समय सुयोग्य विद्वान् ब्राह्मणोंको धन और वस्त्र देना चाहिये। गौ भूमि आदिका भी दान दिया जावे। यह दान वधूके समक्ष दिया जावे और इसका सात्त्विक परिणाम वधूके मनपर होवे। यह दान देना चाहिये यह बात इस प्रकार वधूके मनपर प्रतिबिंबित हो। यदि दान देनेका गुण वधूमें न रहा और केवल भोगमेंही वधूका मन आसक्त रहने लगा तो वह एक दुर्लभ धन करनेवाली राक्षसी सिद्ध होगी। ऐसी भोगी स्त्री—

कृत्या पद्वती भूत्वा जाया पतिं विशते॥ (मं २९)

'यह एक पांववाली विनाशक राक्षसी जायारूपसे पतिके घर प्रवेश करती है।' जिस स्त्रीके मनपर दान देनेका भाव प्रतिबिंबित नहीं हुआ वह भोगी ही ऐसीही घातक राक्षसी माननी चाहिये। गृहस्थीका भूषण उदार स्त्री है। उदारता की शिक्षा उस वधूको अपने पिताके घरमें मिलनी चाहिये और पतिके घरमें भी मिलनी चाहिये। इसलिये दान देनेका महत्त्व उस स्त्रीके मनपर स्थिर करना चाहिये। गृहविधानका यह एक विशेष महत्त्वका भाग है।

जिसमें दानभाव स्थिर नहीं हुआ उसके मनमें (कृत्या कि) विनाश या घातपात करनेकी बुद्धि प्रकट होती है। किसी स्त्रीमें ऐसी क्रूर बुद्धि न हो इसलिये दानकी बुद्धि वधूमें जगानी चाहिये। यदि ऐसा न हुआ और वह घातपात करनेवाली हुई तो उसमें पतिकुलका नाश होता है—

एधन्ते अस्या ज्ञातयः, पतिर्बन्धेषु बध्यते। (मं २९)

'इसकी जातियोंमें कलह प्रारंभ होता है, और उसमें विकार पति बन्धनके बंधनमें बांधा जाता है।' इसलिये वधू और वधूमें प्रारंभसे ही दानकी बुद्धि परोपकार करनेकी बुद्धि स्थिर होनी चाहिये। अपने सुखका त्याग करके भी दूसरोंकी सेवा करनेकी सुबुद्धि स्थिर होनी चाहिये। धर्मसेवा, जनसेवा, आदि सेवाभाव उसमें बढे और इस सेवासे ही सब दोषभाव दूर होंगे, यह बात सब जान जावें।

पुरुष स्त्रीका वस्त्र न पहने।

मंत्र २७ में कहा है कि पुरुष कभी स्त्रीका वस्त्र न पहने। पुरुषका शरीर कितना भी सुंदर हो परंतु स्त्रीका वस्त्र पहननेसे वह अश्लील बनता है, शोभारहित होता है।

यह निषेध स्त्रीका पहनावा वस्त्र पुरुषके पहननेके लिये है, या नाटकोंमें जो पुरुष स्त्रीवेष धारण करते हैं उस प्रसंगमें यह नियम है यह एक विचारणीय प्रश्न है। पाठक इसका अधिक विचार करें। परिवारमें पति कभी स्त्रीका वस्त्र न पहने, यह यहां निःसन्देह है। इस प्रकारका निषेध पुरुषका वस्त्र स्त्रीके पहननेके विषयमें नहीं है यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है। इससे स्पष्ट है कि स्त्रियोंके पहने वस्त्र पुरुषोंको पहननेके अयोग्य होते हैं। परंतु स्त्रीका वस्त्र पुरुषका वस्त्र पहने या न पहने इस विषयमें भी निषेध नहीं है। स्त्रीका वस्त्र पुरुष न पहने यह बात यहां स्पष्ट और अबाधित है। पाठक इस बातका अधिक विचार करें और निश्चय करें।

विविध वस्त्र पहननेसे स्त्रीके रूप विशेष शोभायुक्त होते हैं यह बात मं २८ में कही है। (आशसनं) कटिबन्धका वस्त्र, (विशसनं) सिरपर ओढनेकी ओढनी, और (अधिविकर्तनं) यह स्तनोंपर ओढनेका वस्त्र है। स्त्रियोंके पहननेके तीन वस्त्र हैं। इनके विविध रंगरूपोंके कारण स्त्रियोंके रूपकी सुंदरता बढती है।

कन्याका गुरु ।

कन्या की शिक्षा कैसी होनी चाहिये यह एक बडा विकट प्रश्न है। आजकल तो कन्या और पुत्र एकही पाठशालामें पढते हैं और उनकी पाठविधि समान होती है। वस्तुतः देखा जाय तो पुरुषों और स्त्रियोंके कार्य इस संसारमें भिन्न भिन्न होते हैं अतः एकही पाठविधि होनेसे स्त्रियें कार्यक्षम नहीं हो सकती। आजकल स्त्रियोंका पुरुषीकरण हो रहा है और पुरुषोंका स्त्रीकरण किया जाता है। मिश्रपठनविधि और सहशिक्षाका यह दोष है। वेदके उपदेशानुसार स्त्रीपुरुषोंकी पाठविधि भिन्न होनी चाहिये। स्त्रियोंको विशेषतया सूपशास्त्र अर्थात् खाना पकाना आदि की विशेष ज्ञान होना चाहिये। [एतत् पूर्व] यह पदार्थ पुष्ट करनेवाला अर्थात् पित्तकारक है, [एतत् मधुर] यह मधुर है [एतत् कफकारक] यह पदार्थ कफकारक और वातकारक है, ये पदार्थ विकारको उत्पन्न करनेवाले हैं (एतत् अत्तवे न) ये पदार्थ खानेयोग्य नहीं हैं, इसी तरह विविध पदार्थोंका ज्ञान कन्याओंको पाठविधिमें देना चाहिये। तथा साथमें पौष्टिक और सात्विक पदार्थोंका भी योग्य ज्ञान स्त्रियोंको पढाना चाहिये। स्त्रियोंके ऊपर बालबच्चोंके पालनपोषणका भार रहता है इसलिये उनको भक्ष्य भोज्य लेह्य पेय आदि पदार्थोंका उत्तम ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकार की पाठविधि स्त्रियोंके लिये होनी चाहिये और उसपर जो कर्तव्य भार आनेवाला है, वह पूर्ण करनेकी योग्यता उनमें उत्पन्न करनी चाहिये।

जो गुरु इस तरह की शिक्षा कन्याओंको देता है उसको उस कन्याके विवाहके समय उत्तम धन दान करना योग्य है। इसी तरह मंत्र १ में कहा है कि जो गुरु (प्रशास्ति अस्मै ...) शिक्षक उपदेश देता है, जिस गुरुके मार्गसे चलनेसे कन्या तो उसकी धर्मपत्नीपनका आदेश विवेक लिये सद्गुरुकी कृपासे मनमें उत्पन्न होता है उस शिक्षक का सम्मान करना चाहिये। उस कन्याके विवाहके समय (पूर्णमनसं ...) उत्तम मंगल और शुभ धन उस ब्राह्मणको अवश्य दिया जावे, जिसने उस कन्याको पूर्वोक्त ज्ञान दिया है ... है, उत्तम शिक्षा दी है। क्योंकि इसी ज्ञानसे (... न रिष्यति) वह स्त्री पीडित नहीं होती। वह सुशिक्षित स्त्री अपने धर्मपत्नीत्वमें रहती हुई उनको आनन्द देती है। यह शिक्षाका प्रभाव है ऐसी शिक्षा स्त्रीको देनी चाहिये।

स्त्रीको योग्य शिक्षा न दी तो वह कैसे पतिकुलका नाश करती है, इसका वर्णन मं० १५—२६ में पूर्व स्थानपर किया है। इससे स्पष्ट है कि स्त्रियोंको सुशिक्षा देना अत्यंत आवश्यक है। शिक्षा न होनेसे बडे भयानक परिणाम होते हैं।

सद्व्यवहारसे धन कमाओ ।

गृहस्थाश्रममें धनकी आवश्यकता सदा रहती है। कोई कर्म धनके बिना हो नहीं सकता। अतः गृहस्थीको धन कमाने की अत्यंत आवश्यकता है। यह धन कैसा कमाया जावे यह एक बडी भारी समस्या गृहस्थियोंके सन्मुख सदा रहती है। इसका उत्तर ३ में मंत्रने दिया है।

(ऋत—वदत्तु सर्व मनस्यौ) सरल व्यवहारोंमें सरल भाषण करो। उसमें छलकपट न हो। सबसे प्रथम टेढे व्यवहारमें न पडो। जो व्यवहार करना हो वह सरल व्यवहार हो और उसके करनेके समय भी सरल भाषण करो। और इस प्रकारके धर्मानुकूल सरल व्यवहार करके—

(वसूनि ...) बहुत धन प्राप्त करो। अपने लिये जितने धनकी आवश्यकता है उतना धन कमाओ। धर्मानुकूल व्यवहार करनेसे निःसंदेह यश प्राप्त होगा और समृद्धि भी होगी।

पतिपत्नी अपने घरमें प्रेमके साथ रहें। पति (...) अपनी धर्मपत्नीके साथ मीठा भाषण बोले मधुर भाषण करे सुंदर वचन कहे तथा [...] इस स्त्रीको पतिके विषयमें बडी रुचि हो बडा प्रेम हो। इस तरह दोनों प्रेमके साथ रहें व्यवहार करें और उन्नति करते रहें।

गोरक्षा ।

मंत्र१२ और १३में गृहस्थी लोग गोरक्षा करें इस विषयका बडा उपयोगी उपदेश है। गौवें घरकी शोभा हैं, बालकोंकी उन्नति इसीसे होती है। सब प्रकारका आरोग्य गौओंसे होता है इसलिये गोपालन गृहस्थीका धर्म है।

सरल मार्ग ।

सबके चलनेके मार्ग सरल और निष्कंटक हों इस विषयमें १४ वें मंत्रका आदेश ध्यानमें धरने योग्य है—

कन्यासाः ... (मं १४)

" मार्ग कंटकरहित और सरल हों। " घरको पहुंचनेके मार्ग, घरके पासके मार्ग, राष्ट्रमें जाने आनेके सब मार्ग निष्कंटक और सीधे हों। उनमें जहांतक हो वहांतक टेढापन न हो। मनुष्योंके सब व्यवहारके मार्ग भी सीधे ही हों। यहां आनेके और जानेके मार्ग सीधे हों, यह बात कहनेका हेतु नहीं है क्योंकि वे मार्ग तो जैसी भूमि होगी वैसे ही बनेंगे। परंतु मनुष्योंके व्यवहारके मार्ग सीधे हों यह बात विशेषतया यहां कही है। बीचमें कांटे न बिछाये जावें। आजकलके राष्ट्रके और समाजके व्यवहार देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य स्वयंही अपनी मतिभिन्नतासे अपने मार्गपर कांटे बिछाते हैं और सीधा व्यवहार होनेकी संभावना होनेपर भी टेढामेढा व्यवहार करते हैं और इस कारण सुखप्राप्तिके प्रयत्नसे सदा दुःख ही प्राप्त करते हैं। इस तरह ये गृहस्थी अपनी उन्नतिके मार्गमें कांटे न डालें यह उपदेश वेद यहां गृहस्थाश्रमके प्रारंभमें दे रहा है। सब गृहस्थी इसका अवश्य स्मरण रखें। इस प्रकारके सीधे मार्गसे चलनेपर [भगः भगेन वर्चसा सं सृजतु] परमेश्वर धन और तेज देवे। वह परमात्मा तो सरल व्यवहार करनेवालोंको यह सब अवश्य ही देगा। इसमें किसीको संदेह करनेकी आवश्यकता नहीं है। परमात्माकी सहायता प्राप्त करनेका मार्ग भी सीधा और निष्कंटक है। यही धर्ममार्ग है। इससे चलकर सब मनुष्य सुखधाम को पहुंच सकते हैं। इस प्रकार इस मंत्रका उपदेश बडा मनन करने योग्य है और प्रत्येक गृहस्थीको सदा ध्यानमें रखनेयोग्य है क्योंकि अपनी उन्नति सरल और निष्कंटक मार्गसेही होनी संभव है। उन्नतिका दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

तेजस्वी बनो

गृहस्थी तेजस्वी बनें, उत्साही बनें, कदापि निरुत्साही न हों। गृहस्थीका धर्म उत्साहका है, यह तेजस्वी मनुष्योंका धर्म है इसीलिये वेद उपदेश देता है कि गृहस्थी तेजस्वी बने। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि गृहस्थी तेजस्वी कैसा बने? उत्तरमें वेद कहता है कि—

यद् वर्चो अक्षेषु सुरायाम्। (मं० १५)

जो तेज अक्षोंमें अथवा जूएके पासोंमें होता है और जो मद्यमें होता है वह तेज इन गृहस्थियोंमें आवे। यह पढकर पाठक कहेंगे कि यह क्या अनर्थ है! वेद ऐसा उपदेश क्यों देता है? क्या वेद इस उपदेशसे गृहस्थियोंको जूआरी और मद्यपी बनाना चाहता है? कदापि नहीं। वेद तो इन दुर्व्यसनोंसे गृहस्थियोंको बचाना चाहता है परंतु यहां तेजस्वी उत्साहका वर्णन है। जिन लोगोंमें तेजस्वी स्वभाव अधिक होता है उसमें जूआरी और मद्यपमें होता है ऐसा कहना पडता। देखिये जूआ खेलनेके कार्यमें सरकारी प्रतिबंध है, जूआरीको राजपुरुष पकडते हैं और अदालतमें न्यायालयोंमें इनको दण्ड दिया जाता है, सरकार इन जूआरीके विरोधी होते हैं। इसके मित्र तथा परिवारके लोग चाहते हैं कि यह जूआ न खेले, इस तरह सब लोग इसका विरोध करते रहते हैं, तथापि जूआखोर मनुष्य रातके समय अंधेरेमें [illegible] धारण करते हुए, छिपते और छिपाते हुए जूएके घरमें पहुंचता है, न उसको किसीका भय होता है और न भूख प्यास होती है, एकमात्र निश्चय पर अटूट होता है कि मैं जूआ खेलूंगा। सब जगत् विरुद्ध होनेपर भी यह अपने निश्चय पर अटूट रीतिसे स्थिर रहता है, यह इसका विलक्षण उत्साह और एकाग्र मन देखने लायक है। यदि कोई तेजस्वी पुरुष भी इसके पासोंके खेलमें लगे वैसा यदि ये इस पुरुषके धर्ममें लग जाय तो उसका बेडा पार होनेमें क्या देर है! बताना यह चाहता है कि जो तेज और उत्साह तथा निश्चय जूआरी लोग अपने खेलमें बताते हैं वही तेज और उत्साह गृहस्थी मनुष्य अपने गृहस्थधर्मपालनमें बतावें, उतना ही निश्चय, उतना उत्साह, उतना प्रयत्न गृहस्थी अपने धर्मपालनमें दर्शावें यह उपदेश यहां है।

मद्यपी भी इसी तरह मद्यपानका समय आया तो मद्यपानके स्थानपर जाता है और मद्य पीता ही है, उसके साथ अपने साथ इन मित्रोंको भी पिलाता है यह उदारता भी मद्यपीमें होती है। इस मद्यपीमें समयपर यह कर्म करनेकी जो आतुरता होती है और अपने साथियोंको पिलानेकी जो उदारता होती है यह आतुरता और उदारता गृहस्थियोंमें आ रहे। गृहस्थी अपने कर्तव्य कर्म बडी आतुरतासे करें और उदारतासे दान देते रहें। यह उपदेश गृहस्थी ध्यानमें रखें।

यहां सुरा और पासोंका उल्लेख मंत्र १५ में हुआ [illegible] से जानना है। उसका भी भाव यही है। इसमें भी [illegible]

ना है यही देखना चाहिये बड़े महात्मा लोग कुत्तोंसे और चींटि-योंसे भी उपदेश लेते रहते हैं। वात्सल्य निष्ठा और स्वाभिमान-पूर्ण उपदेश कुत्तेसे और प्रशस्तशीलताका उपदेश चींटियोंसे लिया जाता है। इनके अन्य दुर्गुणोंसे और महात्मा लोग वे लेते नहीं हैं केवल उनके-गुणोंको अपनाते हैं। इसी तरह भक्त और पुजारी भी गृहस्थियोंसे पूर्वोक्त उपदेश लेते हैं। वे उपदेश इनसे गृहस्थी प्राप्त करें और अपने गृहस्थधर्मका पालन उत्तम रीतिसे करके कृतकृत्य बनें।

पाठक पूछेंगे कि ये उपदेश यहां क्यों दिये हैं? क्या उत्तम उदाहरण जगत् में नहीं मिलेंगे? उत्तर में निवेदन है कि मनुष्य की तन्मयता जो व्यसनोंमें होती है वैसी सदाचारमें नहीं होती। प्रायः यही नियम सर्वत्र है। संसारमें रहते हुए मनुष्य परमार्थसाधन कैसा करे? इसके उत्तरमें व्यभिचारिणी स्त्रीके समान करे ऐसा उत्तर शास्त्रकार देते हैं। जैसी व्यभिचारिणी स्त्री अपने विवाहित पतिके सब कार्य करती हुई अपने मनमें परपुरुषका ध्यान सदा करती है और समय मिलते ही उसके पास उपस्थित होती है उसी प्रकार संसारी लोग संसारके कार्य करते हुए अपना सब ध्यान परमात्मामें रखें और जो समय मिल जावे उस समय परपुरुष परमात्माकी उपासना करें। यहां पर पुरुष किंवा परम पुरुष और उपास्य इसके लिये है। यह उपमा यद्यपि हीन है तथापि पूर्ण है। ऐसी ही कुत्ते और मक्खी की उपमा भी पूर्ण है। मनुष्योंको चाहिये कि वे उनकी कार्यतत्परता अपनेमें लावें और उससे पुरुषार्थ करके कृतकृत्य बनें।

मंत्र १५ और १६ में बीजोंके अन्दर तेजस्विता दृष्टान्तरूप दे रखी है इस तेजस्वितासे सब गृहस्थी युक्त हों ऐसा कहा है। ' [गोषु वर्चः। महाकम्या वचर्न] " इन शब्दोंद्वारा पौष्टिक दुग्धपान दर्शाता है। वस्तुतः बीज एक अमृत तेजस्वी है। गौ का दूध पुष्टि करनेवाला है गौका दूध पुष्टि दायक है। अतः सब गृहस्थी और उनके घरके बालबच्चे गौका ही दूध पीकर तेजस्वी वर्चस्वी ओजस्वी आयुष्मान और पुरुषार्थी बनें।

मंत्र १७ में कहा है कि बालोंमें एक प्रकारका तेज है जिससे तेजस्विता माधुर्य वीर्य और सामर्थ्य बढ़ता है। गृहस्थी को इस मंत्रसे ये गुण प्राप्त हों। केशमें अन्यत्र मनके ओजका एक बड़ा कारण बताया है, लोमशादुक कहा है, ब्रह्मतेजवर्धक

१ (अ. सु. भा. पं. १४)

माना है यही सब भावना इस मंत्रमें सारांशरूपसे कहा है। गृहस्थी इस मंत्रका उत्तम मनन करें।

मंत्र १८ तो सब लोगोंके मनन करनेयोग्य मंत्र है। इसको सभी कण्ठमें रखें।

[१] यक्ष्मं न्यूहामि माम अपोहामि ॥
[२] मह्यं तेजः तं दधामि ॥ [मं. १८]

' [१] जो शरीरका क्षीण करनेवाला शरीरमें फिर उत्पन्न करनेवाला और शरीरमें आकर स्थिर रहनेवाला रोग बीज या रोग रहता उसको मैं हटाता हूं और (२) जो शरीरका तेज बढ़ानेवाला और अपना पूर्णता प्रभाव जमानेवाला है उसको मैं अपने पास करता हूं। यह नियम तो सब मनुष्य लोग सदा सर्वदा ध्यानमें धारण करना चाहिये और इसी प्रकार आचरण करना चाहिये। हरएक स्थानमें दोषोंसे दूर करना और गुणोंसे अपनेमें बढ़ाना योग्य है। उन्नतिका यही एकमात्र उपाय है। गृहस्थ तो अपने घरमें यही नियम पालन करें।

मंत्र १९ में कहा है कि (श्वशुराः देवराः च प्रतीक्षन्ते) पतिके घरमें श्वशुर और देवर वधूके आनेकी मार्गप्रतीक्षा करते हैं। वधूका स्वागत करनेके लिये सब लोग उत्सुक हो गये हैं। यह अच्छा वधू अपने पतिके घर प्रविष्ट हो वहां पहुंचते ही अग्निसे प्रदक्षिणा करे, अग्निको नमन करे और पश्चात् अन्दर आसिथ दर्शन करे वहां मंगल मंत्रोंसे उसके इस वधूके अभिषेक करे। वह जब वधूके बाहर जो भीरुता (अभीरुघ्नीः आपः) होती उसको दूर करना। यह अत्यंत महत्त्वकी बात है। आर्योंमें भीरुता रहनी नहीं चाहिये। आर्य तो सदा निडर और धैर्यके मेरु होने चाहिये। इसलिये वधू गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होकर पतिके घर जो प्रथम स्नान करती है वह स्नान जलोंके द्वारा वेदमन्त्रसे पवित्र और निर्दोष हुए जलसे करे। जिस मंत्र पवित्र जलके स्नानसे इस वधूके भीरुताः आपः नष्ट होवें और वह पावन मंगल और धैर्यशाली बने। ऐसी पुत्रोत्पादक गृहस्वामिनी बने कि जो अपनी संतानोंको सुशील उपदेश द्वारा उत्तम आर्य बनावे।

पतिके घरके सुवर्ण रत्न आदि आभूषण इस वधूके उपभोगमें कल्याण-कारी हों, विनाशकारी न हों। नहीं तो धन मनुष्यको गिराता है। धनसे उत्पन्न हुआ मद मनुष्यकी अधोगति करता है। इसलिये सावधानताकी सूचना देनेके लिये यहां कहा है कि

सुवर्ण आदि धन वस्तुको विखेर न करे। दूसरे बालकी स्त्रियोंके उत्तमोत्तम आभूषण देखकर अपने लिये वैसे आभूषण चाहिये ऐसा हठ [illegible] करती हैं और पतिको बडे कष्ट देती हैं ऐसा कोई न करे और [illegible] सुवर्णमें ही वह संतुष्ट रहे। सुवर्ण आभूषण गाडी घोडे आदि सुखसाधन सबके सब भोगार्थमें व्यय हैं। भोगवस्तुके कारण घरमें विविध झगडे होते हैं [illegible] रहा है। [illegible] इन भोगसाधनोंमें कोई झगडा न हो परंतु (वंसगतु) पतिके घरमें शान्ति रहे झगडे होकर अशान्ति न बने। और पत्नी ([illegible]) अपने पतिके साथ सुखसे आनन्दपूर्वक रहे। पतिपत्नी एक दूसरेके साथ ऐसे रहें कि वहां किसी भी कारण विवाद न हो घरमें अशान्ति न बढे और दोनोंको गृहस्थीका सुख यथायोग्य प्राप्त हो।

स्त्रीकी इच्छा।

[illegible] ॥ (म० ४१)

पतिके घर आनेपर [illegible] अर्थात् पतिकी [illegible] क्या करती है अर्थात् क्या चाहती है यह प्रश्न कोई पूछे तो उसके उत्तरमें निवेदन है कि वह स्त्री [मैं—मनकी] अपने पतिके घर क्षेम आनन्दपूर्वक रहे झगडा विवाद न हो परस्परका व्यवहार प्रेमपूर्वक हो घरमें उत्तम शान्ति आनंद और [illegible] रहे यही इच्छा पूर्ण होती हो। दूसरी इच्छा यह होनी चाहिये कि, (प्रजां) उत्तम संतान उत्पन्न होवे और ये संतान सुशील बन अपनी कुलपरंपराका [illegible] करता रहे। तीसरी इच्छा यह होवे कि [पतिमनसं] उत्तम भाग्य प्राप्त हो अपने पतिके घरमें परम भाग्य [illegible] होता रहे। सौभाग्यमें [illegible] भाग्य विशेष कर समाविष्ट होता है कि जो पतिसे पत्नीको और पत्नीसे पतिको [illegible] सुख देता है और जिस सुखके लिये विवाह होते रहते हैं। यह सौभाग्य अपने घरमें बढे यही इच्छा [illegible]। इसके पश्चात् चतुर्थ इच्छा यह है कि [रयिं] धन प्राप्त हो [illegible] किसी प्रकार [illegible] न रहे। पर्याप्त धन सुवर्ण आभूषण आदि सब विपुल रहें और इन [illegible] सुख प्राप्त होता रहे। [illegible] भी [illegible] [illegible] इच्छा हो। यहां पाठक ध्यानमें रखें कि [illegible] इच्छाएं हैं उनके अंदर [illegible] उत्तम सुखकी इच्छा है, और अन्तमें धनकी

इच्छा है। क्योंकि धन सुखका साधन तो है परंतु [illegible] न होवेगा, घरमें सुखशान्ति न होनेसे [illegible], [illegible] विरोधभावमें कोई सुख नहीं देगा, परंतु [illegible] दुःखदायी होता है। इसलिये [illegible] करनी चाहिये और [illegible] करनी चाहिये इसका विचार गृहस्थी लोग इस मंत्रसे समझ जावें।

स्त्री कैसी हो।

(अनुव्रता) पतिके अनुकूल रहकर नियमानुसार चलनेवाली स्त्री हो। स्त्री कभी पतिके प्रतिकूल आचरण न करे। [illegible] नियमके अंदर यद्यपि स्त्रीके लिये पतिके अनुकूल होनेकी बात कही है तथापि इसीसे पति भी स्त्रीके अनुकूल रहे यह भी बात निकलता है। पति जैसा चाहे वैसा आचरण करे और केवल पत्नी ही पतिके आधीन रहे यह [illegible] मंत्रका भाव नहीं है। [illegible] हुआ करता है और यह [illegible] देख लेना योग्य है। तात्पर्य यह है कि जैसे धर्मपत्नी पतिके अनुकूल रहे उसी प्रकार पति भी पत्नीके अनुकूल हो। इस प्रकार अनुकूल रहकर एक दूसरेको सुख बढावें और गृहको [illegible] बनावें। (अमृताय कं [illegible]) अमृत [illegible] लिये सुखपूर्वक सिद्ध हो। धर्मपत्नी और पति ये दोनों [illegible] अमृतत्व है अर्थात् मोक्ष है ऐसा निश्चय मनमें रखे। यह अमृतत्व मोक्षधामको पहुंचनेका जो मार्ग है वह मार्ग सुखसे चलनेके लिये यह गृहस्थाश्रम बीच है यह [illegible] गृहस्थी न भूले। इस बातके लिये सब गृहस्थी सिद्ध हों। [illegible] व्यवहार वे इसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये करें। अर्थात् [illegible] अनुकूल व्यवहार करते हुए मोक्षकी सिद्धि प्राप्त करें। [illegible] गृहस्थोंका यह कर्तव्य है। प्रत्येक गृहस्थी प्रत्येक [illegible] कर्मोंके समय ध्यानमें रखे कि मेरा यह कर्म [illegible] हो, और कभी बाधक न हो। प्रत्येक कर्म [illegible] पर मोक्षके लिये बाधक हो सकता है। यदि प्रत्येक कर्म सावधानपूर्वक किया जाय [illegible] किया जाय तो सभी कर्म सभी मोक्षधामके साधन होकर [illegible] सकते हैं। [illegible] मनुष्य [illegible] है [illegible] है कि ([illegible] । [illegible]) [illegible] [illegible] कोई [illegible] और [illegible]

का निर्मलताके किया हुआ कर्म मोक्ष मार्गमें सुख देनेवाला होता है। गृहस्थधर्मके सभी कर्म सुख देते हुए मोक्षमार्गके साधक होनेवाले हैं।

गृहस्थीका साम्राज्य।

गृहस्थीका घर एक बडा भारी साम्राज्य है। साधारण राज्य नहीं है बडा साम्राज्य है। यजमान गृहस्थी कर्म सम्राट् है। उसकी पत्नी सम्राज्ञी है। यह गृहस्थीकी सहधर्मचारिणी उसकी मंत्रणा देनेवाली है इसमें जो परिवार है वे सब प्रजाजन हैं। इस प्रजाजनोंमें पारिवारिक जन हैं इतना ही नहीं परंतु गौ, घोडे आदि जो घरके उपयोगी पशु पक्षी हैं वे सब इस साम्राज्यकी प्रजा है और इस प्रजाका योग्य पालन करना गृहस्थीका आवश्यक कर्तव्य है। (सम्राज्ञी श्वशुरे भव। मं ४१) जो यजमान शीघ्र नहीं इस साम्राज्यका पालन और संवर्धन कर सकता है। यजमानका कार्य बडा नहीं है। (इस) जो यजमान होता नहीं इस गृहस्थाश्रममें यजमानी होगा। यजमानोंका ही सम्राज्य हो सकता है। यजमानोंका साम्राज्य यह होगा। यह विषय इस स्थानमें पाठक देख सकते हैं।

पति सम्राट् बने और उसकी धर्मपत्नी सम्राज्ञी बने। इसका अर्थ पूर्ण अनुष्ठानसे यह है कि पति भी यजमान् बने और पत्नी भी यज्ञचारिणी बने और दोनों मिलकर इस गृहस्थाश्रमके साम्राज्य उसके योग्य रीतिसे चलावें। (मंत्र ४४ में) सम्राज्ञीसे कहा है कि वह श्वशुर देवर ननद तथा सास आदि पारिवारिक जनों के साथ योग्य बर्ताव समाज्ञी बनकर करे इसका अर्थ यह है कि पतिके घर इस स्त्रीका नहीं रहना है कि जो साम्राज्यमें अपराधी सा रहता है। जो लोग वैदिक धर्ममें स्त्रीके परतंत्रता लिखती होती है इसका विचार करते हो उनको उचित है कि वे इस साम्राज्ञी शब्द पर ही विचार करें। वैदिकधर्मानुसार धर्मपत्नी साम्राज्ञी है और पति सम्राट् है। सम्राट् का अधिकार असाधारण श्रेष्ठ है। पूर्व स्थानमें कहा है कि स्त्री स्वतंत्र नहीं है वा तो वह मातापिताके आधीन रहती अथवा पतिके आधीन रहती, इस कथन के साथ यह विधान विरोधक नहीं है। क्योंकि कोई सम्राट् या सम्राज्ञी पूर्णतः स्वतंत्र नहीं होती। साम्राज्यके नियमोंसे बंधी होती है। यह साधारण बातें समान इधर उधर जा नहीं सकती। उनके हाथ बंधे अधिकारके रहते हैं। इस प्रकार सम्राज्ञी परतंत्र होती हुई भी विशेष स्वातंत्र्ययुक्त होती है। यही बात गृहस्थिनी की है। धर्मनियमोंसे बंधी हुई धर्मपत्नी परतंत्र होती हुई भी पूर्ण रीतिसे स्वतंत्र भी है। धार्मिक उन्नति करने के लिये स्वतंत्र है पाठक इस तरह विचार करनेपर जान सकते हैं कि वैदिक धर्मकी परतंत्रता भी अन्य स्थानकी स्वतंत्रता की अपेक्षा अधिक प्रशंसनीय है। मनुष्यको अपना मुक्तिधामका मार्ग आक्रमण करना है, वही उसका ध्येय है। इस ध्येयकी सिद्धिके लिये जितनी स्वतंत्रता चाहिये उतनी यहां है। इसके जो अधिक स्वातंत्र्य है वह विनाशका हेतु है।

स्त्रियोंका सूत कातना।

वैदिक धर्मानुसार सब आश्रमवालोंका स्त्रीपुरुषोंका और विशेषकर स्त्रियोंका यह स्वकर्तव्य सूत कातना और उसका कपडा बुनना है। प्रत्येक गृहस्थीके घरकी सब स्त्रियां इस सूत निर्माणके कर्मको अवश्य करें। (देवा अग्रमतन्। मं ४५) घरकी देवियां सूत कातें, जो सूत कातती हैं वेही देवियां हैं इसलिये ही सब रीतिसे हम देवियां कह सकते हैं। येही देवियां (तन्विरे) ताना तानती हैं सूतको ठीक करके योग्य रीतिसे ताना तानती हैं तथा (अमितः अन्तान् ततन्थ) चारों भागोंके अन्तिम भागोंको ठीक करती हैं दोनों ओरकी किनारीका और सूतर ओरकी झालरें कपडा बुननेके पूर्व ठीक करनी चाहियें। इसमें यदि कुछ दोष हुआ तो कपडा खराब होगा। इस तरह सब उत्तम रीतिसे ठीक होनेपर (आवयन् सहस्रम्) यह देवियां कपडा बुनें ठीक तरह बुने कपडेको अवस्थामें कपडा विशेष प्रकारसे सब बुने ऐसे (वासः) वस्त्रस्थानमें पहन कि विशेष भव होता ऐश्वर्ययुक्त बनें और कपडेमें आवें। (आयुष्मती इदं वासः परि धत्स्व) इसे आयु प्राप्त करती हुई यह स्त्री अपने घरमें निर्माण किया हुआ वस्त्र परिधान करे। यही यज्ञ स्त्रियोंका और पुरुषोंका भूषणकर है। प्रत्येक परिवार इस तरह यज्ञस्थानकी बने। अपने घरके कपडे दूसरोंपर निर्भर रहना सर्वथा अयोग्य है। यह उपदेश यहां दर्शाया है। वेदके इस उपदेशानुसार यदि आर्य घरके लोग यदि वस्त्रनिर्माण करनेका आरंभ करेंगे, इसके साथ उसमें कितना लाभ होगा इसका विचार पाठक कर सकते हैं। जो लोग वैदिक धर्मी हैं, उनको उचित है कि वे

अपने घरमें चर्खा रखें सूत कातें और कपड़ा बुनें ।

मंत्र ४१ में कहा है कि स्त्री पुरुष अपने दीर्घ जीवनके मार्गमें (दीर्घां प्रसितिं अनुदीध्युः) ध्यानमें रखकर अपने (पितृभ्यः शर्म) मातापिताके लिये सुख देवें और स्त्री पुरुष परस्परको सुख देते हुए आनन्दसे अपना कर्तव्य करें । गृहस्थाश्रमका मार्ग अति-दीर्घ है, कमसे कम सौ वर्ष इस मार्गका आक्रमण करना पड़ता है । सौ वर्ष चलनेपर भी यह धर्ममार्ग समाप्त नहीं होता । इतना लंबा मार्ग यह गृहस्थियोंके सामने है। इससे इस मार्गपर सुखके साथ प्रवास करना चाहिये । इस समय अपने मातापिता को सुख देना चाहिये । मातापिताका सत्कार करना यह एक आवश्यक कर्तव्य है । यदि पुरुष व स्त्री अपने मातापिताका सन्मान न करेंगे तो उनके बालबच्चे भी उनका संमान नहीं करेंगे। स्वयं अपने मातापिताका संमान करनेसे अपनी संतानोंको सुयोग्य शिक्षा मिलती है जिससे वे भी अपने मातापिताका सत्कार करनेमें तत्पर होते हैं। जब गृहस्थाश्रम सुखमय करना हो तो बड़ों और बालबच्चोंकी पालना उत्तम रीतिसे होनी चाहिये । गृहस्थाश्रममें सुखप्राप्ति करनेका यह महातत्त्व है ।

गृहस्थियोंके ऊपर सुसंतान निर्माणका बड़ा भारी भार है । प्रत्येक गृहस्थीको उचित है कि वह (प्रजायै स्योनं भुवं) अपनी संतानके लिये सुख और स्नेह प्राप्त करनेका प्रयत्न करे । अपनी सब संतानें सुखी हों और स्थिर हों सुदृढ़ हों तथा दीर्घायु बनें । संतानकी दीर्घ आयु किस रीतिसे हो सकती है? इसके उत्तरमें कहा है कि (सविता आयुः दीर्घं कृणोति । मं ४) सूर्य ही मनुष्यकी आयु दीर्घ बनाता है । सूर्यप्रकाशसे मनुष्यकी दीर्घायु हो सकती है। मनुष्य सूर्यकिरणोंमें विचरें, सूर्योपस्थान करें सूर्यकी उपासना करें और अपनी आयु दीर्घ बनावें ।

पाणिग्रहण ।

पुरुष स्त्रीका पाणिग्रहण करता है। यह पाणिग्रहण होतेही स्त्री पुरुषकी पत्नी और पतिकी भार्या सिद्ध होती है । इस समय पति अपनी पत्नीसे प्रेमके साथ वार्तालाप करे और उससे कहे-

(१) ते हस्तं गृह्णामि, (मा व्यथिष्ठाः,

(२) मया पत्या [illegible] चर ॥ (मं० ४८)

“ हे पत्नी ! तेरा हाथ मैं पकड़ता हूं, तू व्यथा मत कर और मेरे साथ तथा संतानों और बच्चोंके साथ सुखसे निवास कर।” इस तरह प्रेमपूर्वक पति अपनी धर्मपत्नीके साथ भाषण करे। अवश्य दूसरेके कुलमें आती है उसका कोई परिचित वहां नहीं होता है इसलिये पतिके घरके लोग उस कन्यासे उत्तम प्रेमका वर्ताव करें । पति अवश्य कहे कि हे पत्नी ! मैंने तेरा हाथ पकड़ा है इससे तू समझ कि तुझे मैंने सब प्रकार अपनेमें स्वीकार किया है । हाथ पकड़नेका अर्थ स्वीकार ही है। अतः जबतक मैं हूं तबतक तुझे क्लेशका कोई कारण नहीं । तू यहां सब तरह सुरक्षित है । मेरा जो धन है वह भी तेरा ही धन है । जैसे मेरा सुख वैसा तुझे भी इस धनसे उपभोग है । हम दोनोंको जो संतान उत्पन्न होंगे उनका सब पोषण पालन करना हम दोनोंका धर्म है । यदि हम यह धर्म करें तो वे सब हमारी संतानें भी हमारे सुखके हेतु हो सकते हैं । इस तरह हे पत्नी ! मेरे साथ रहकर तू इस संसारमें सुखसे रह और हम दोनों गृहस्थधर्मका पालन करते हुए मोक्षके मार्गका आक्रमण करें । इस तरह पति और पतिके घरके लोग वधूके साथ मधुर, प्रिय और सुखदायक भाषण करें और उसके मनमें पतिके घरके विषयमें प्रेम उत्पन्न करें।

यहां बारबार घरमें पाणिग्रहणका विषय आया है यहां जो पति पत्नीका पाणिग्रहण करता है ऐसे ही शब्दप्रयोग हैं।

(१) ते हस्तं गृह्णामि । [अथर्व १४।१।५०, ५१]

(२) ते हस्तं गृह्णातु । [अथर्व १४।१।५१]

(३) ते हस्तं गृभ्णामि । [ऋग्वेद १० । ८५।३६]

(४) ते हस्तं अग्रहीत् । [अथर्व. १४।१।५७]

इन मंत्रोंमें हाथ पकड़नेवाला पुरुष है और जिसका हाथ पकड़ा जाता है वह स्त्री है । इससे भी गृहस्थाश्रममें पुरुषकी विशिष्टता है यह बात स्पष्ट होती है, वेदमें किसी भी स्थानपर स्त्री पुरुषका हाथ नहीं पकड़ती है परंतु सर्वत्र पुरुष ही स्त्रीका हाथ पकड़ता है । पाणिग्रहण करनेका अधिकार पुरुषका है यह इन मंत्रोंसे सिद्ध होता है । इसलिये मंत्र ४३ में [सिन्धुः नदीनां साम्राज्यं सुषुवे] कहा है । इस वाक्यसे अनेक नदियोंका सम्राट् होता है अर्थात् एक पति और स्त्रियोंका पाणिग्रहण करता हुआ गृहस्थाश्रमका भी सम्राट् होता है, इस उपमासे अनेक पत्नियोंका प्रेम वर्णित

न किया है। उपमामें यह भाव निःसन्देह है कि जिस प्रकार एक समुद्रको अनेक नदियां आ मिलती हैं, उसीप्रकार एक पुरुषको अनेक स्त्रियां प्राप्त होती हैं यदि पूर्वोक्त उपमामें यह भाव नहीं है तो उस उपमामें बहुवचन का और होनेका रहस्य है? इसे पाठक विचार करें। पति ही स्त्रीका पाणि-ग्रहण करनेवाला है इस उपमासे भी पतिका ही मुख्य स्थान सिद्ध है। स्त्रीका दान पतिको किया जाता है इस विषयके मंत्र भी हमने पूर्वस्थानपर देखे हैं। इन सब बातोंसे निःसन्देह वैदिक धर्मके द्वारा गृहस्थाश्रममें पुरुषका मुख्य स्थान है, यह दर्शाया है।

आगेके तीनों मंत्रोंमें पाणिग्रहण का ही विषय है और इन मंत्रोंमें स्त्रीका हाथ पुरुष पकडता है ऐसा ही भाव है। तथा आगे विषय स्पष्ट करके कहा है कि—

त्वं धर्मणा पत्नी असि अहं तव गृहपतिः ॥ (मं ५१)
इयं मम पोष्या मह्यं त्वा अदात् बृहस्पतिः ॥ मं ५२

"पुरुषकी स्त्री धर्मसे पत्नी है और पति स्त्रीका पुरुष पालक है। यह स्त्री पतिके द्वारा पालन होने योग्य है क्योंकि इस पतिके अधिकारमें प्रजापतिने इस स्त्रीको सौंप दिया है।

स्त्रीके पोषणका भार पतिके ऊपर है यह बात इस मंत्रसे स्पष्ट है। पति पत्नीका पालन पोषण करे। पालन-पोषणका विचार कभी न करे। [illegible] पत्नी उस सामर्थ्यका [illegible] करके उसको [illegible] भाव पहुंचावे।

गुण निर्माण करनेमें देवताओंकी सहायता प्राप्त होनी चाहिये। यह सहायता इस स्त्रीको प्राप्त हो इस प्रकारका आशीर्वाद मंत्र ५३ और ५४ में है। इन्द्र अग्नि आदि सब देवताएं इस स्त्रीको अच्छा तेज अर्पण करें और इस स्त्रीके अन्दर उत्तम भावना उत्पन्न करें और ऐसे गुणोंके साथ यह स्त्री उन्नत होती रहे।

वस्त्रोंकी सुंदरता।

विश्वरूपं [शोभं वस्त्रम् भगस्य...] परमेश्वरने बडे बडे देव निर्माण किये हैं। विविध रंगके चित्रोंसे शोभा वस्त्रोंकी सुन्दरताको बढाता है। (तेन इमां नारीं सविता भगश्च सृजताम्) उससे पवित्र किये सुन्दर दीखने योग्य स्त्रीके सिरकी सजावट की जाती है और उसके सिरकी शोभा बढाई जाती है। स्त्रीके सिर

पर के वस्त्रोंकी सुव्यवस्था रखना और शोभाके लिये यत्न करना आवश्यक है।

(मनसा चरन्तीं चारुं विजानीहि) मनसे आचरण स्त्रीका कैसा है यह समझना चाहिये। केवल बाह्य आचरण द्वारा किसीकी परीक्षा करना शक्य नहीं है। मन कैसा है विचार कैसे हैं मनसे किस बातका विचार करती है, मनमें किसका मनन करती है यह देखना चाहिये। जो मनसे शुद्ध है वही शुद्ध समझना चाहिये। अतः मन शुद्ध रहनेके लिये जो शिक्षा देनी योग्य है वही देनी चाहिये। स्त्री हो या पुरुष उनके मन शुद्ध रखनेयोग्य पाठ्यविधि बनानी चाहिये। प्रचलित पाठविधि इस उद्देश्यसे कैसी है इस बातका विचार पाठक करें और अपने संतानोंको सुसंस्कारसंपन्न बनानेके लिये क्या करना आवश्यक है, यह किया जावे।

(शोभा यत् अभवत्, तत् सूर्या) स्त्री जो वस्त्र परिधान करती है उससे उसका रूप शोभायमान होता है। अर्थात् स्त्रीको इस प्रकारके वस्त्र परिधान करनेके लिये देने चाहिये कि जिससे उसकी सुंदरता बढे। यहां सूर्याकी कन्याका उदाहरण पाठक देखें। उष:कालमें जिसके विविध रंगके वस्त्र यह सूर्यपुत्री कन्या पहनती है और उससे उसकी शोभा बढती है। प्रतिदिन सूर्य-पुत्री यह शोभायुक्त कैसी की जाती है यह पाठक देखें और अपनी शक्तिके अनुसार स्त्रियोंको उत्तम वस्त्र पहनावें यह कोई आवश्यक नहीं है कि जो प्रतिदिन नये नये वस्त्र पहने परंतु जो वस्त्र पहने हैं वे ऐसे सुव्यवस्थित हों कि उनसे उस स्त्री-की शोभा बढे। घरकी देवी स्त्री है और घरमें इस गृहस्वामिनीकी मंगल वस्त्र भूषणोंसे पूजा होती रहे और यह पूजा घरके स्वामीकी आर्थिक अनुकूलताके अनुसार होती रहे।

(अहमस्मि सचित्ता, त्वं असि...) जिसके जो दोनों स-चित्त हैं, ऐसे संबंध किया जाता है उस स्त्रीके साथ और जो हमारे मित्र सब जन यहां हैं जिनको मैं उनके साथ मैं स्त्रीका स्वीकार कर इस स्त्रीके साथ मैं सब व्यवहार करता हूं। अर्थात् मैं स्वयं और अपनी धर्मपत्नी मिलकर हमारा सब जीवन हम मिलकर बढाते हैं। जो जो कर्म हम करते हैं वह मिलकर करते हैं। इससे हम दोनों मिलकर बनेंगे और आगे हमारे बडोंके बडप्पनका परस्पर प्रेम होगा और हम सुखी बनेंगे।

[विद्वान् पालन् विश्वेत] जो पुरुष विद्वान् होकर अपने

बंधनोंको तोडें और बंधनसे मुक्त हों। सब प्रकार बंधनसे मुक्त होनेके लिये यत्न चाहिये। मनुष्य अनेक प्रकारके पाशोंमें फंसता है, और स्वयं अपने लिये बंधन निर्माण करता है और तब पराधीन बना जाता है। वे सब बंधन काटने चाहिये और मुक्त होना चाहिये। यह मुक्त होनेका यत्न जिससे होता है उसी को हम सब अपना मित्र कहते हैं। मनुष्य स्त्री या पुरुष-इस मुक्तिकी विद्याका ज्ञान प्राप्त करें और उससे बंधनोंसे मुक्त हो जांय।

प्रत्येक मनुष्य कहे कि (अहं विष्यामि) मैं वे सब बंधन खोलता हूं, मैं बंधनसे मुक्त होनेका यत्न करता हूं। क्योंकि मनुष्य-जन्मकी सार्थकता बंधमुक्त होने में है मनुष्यका जन्म ही इस कार्य के लिये है। ये सब बंधन मनके कारण होते हैं अतः कहा है कि (मनसः कृत्यं परम् देवता) मनका यह खोलना है यह बात मनुष्य देखे और मनद्वारा उत्पन्न हुए ये सब बंधन हैं ऐसा जाने यदि मनुष्यको इस बातका ज्ञान होगा कि (मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः) मनही मनुष्योंके बंधन और मोक्षके लिये कारण है तो उस मनुष्यका बेडा पार होगा। साधारण मनुष्योंको ऐसा प्रतीत होता है कि अपने बंधन बाहरसे बांधे हुए हैं परंतु वस्तुतः यह असत्य है। बाह्य कारण मनुष्यको बंधनमें फंसानेके लिये असमर्थ हैं। मनुष्यका मनही अपने बंधन तैयार करता है और उनमें स्वयं फंसता है और मनुष्यको फंसाता है। इस-लिये बंधसे मुक्त होनेवाले मनुष्यको उचित है कि वह अपने मनका शासन शुरू करे और उस शुद्ध मनसे वह अपने सब पाश दूर करे। नियम यह है कि [मनसा एव मनुष्ये] अपने मनसे ही मनुष्य बद्ध होता हुआ मुक्त होता है। मनुष्य अपने मनसे बंधनों में बांधा जाता है और अपने मनसे ही बंधनोंसे मुक्त होता है। पाठक यहां देखें कि कितनी शक्ति मनुष्यके मनमें रखी है। इसी शक्ति प्रत्येक मनुष्यके मनमें होती हुई भी मनुष्य अपनेको असमर्थ मानता है और पराधीनताकी याचना करता रहता है। परंतु यदि वह स्वयं अपनी शक्तिसे बंधनमें पडा है तो वह अपनीही शक्तिसे बंधनोंको तोडकर मुक्त हो सकता है। अर्थात् मुक्त होनेकी शक्ति इसीके अन्दर है। अतः कहा है कि [स्वयं अधामि] स्वयं मैं अपने पाशोंको शिथिल करता हूं। तुम्हारे बंधोंका दूसरा कोई शिथिलकर्ता नहीं हो सकता। यदि तुम अपने बंधनोंको तोडना चाहते हो तो तुमही तोड सकते हो। यदि बंधनोंमें पडना चाहते हो तो वैसाभी हो सकता है। जो तुम्हारे मनमें होगा वही वहां हो सकता है। तुम्हारे अपने उद्धारके लिये तुमही अपने चालक हो। दूसरा तुम्हें कम देता है यह भारी भ्रम है यह बात वैसी वैयक्तिक मुक्तिमें सत्य है वैसी ही सामाजिक और राष्ट्रीय मुक्तमें भी सत्य है। अतः सब पुरुषार्थी जन यह है कि वे अपने बंधन शिथिल करनेका स्वयं यत्न करें और प्रयत्न करके स्वयं मुक्त हों। यदि प्रयत्न किया जाय तो यह सिद्ध हो सकता है।

चोरीका अन्न न खाओ।

इस योग्यता को प्राप्त करनेकी इच्छा है तो यह निश्चय करना चाहिये कि (न स्तेयं अद्मि) मैं चोरीका अन्न नहीं खाता हूं। सब पाठकोंको विचार करना चाहिये कि हम जो अन्न खाते हैं वह अन्न चोरीका है या नहीं। यहां पाठक विचार करेंगे तो उनको पता चलेगा कि प्रायः हम जो अन्न खाते हैं, वह सत्य रीतिसे नहीं होता है। वह चोरीका कैसा है इसका दूसरे प्रकार भी विचार देखा है। यदि हम उसकी उत्पत्ति देखें तो यह चोरी है या चोरी करनेसे भी होती और समाजमें जो होता यदि कोई पदार्थ घरमें आता है और वह सब मनुष्योंमें बांटते हुए अकेला ही उसका खाता है तो वह चोरीका अन्न खाता है। अपने श्रमसे भी अन्न उत्पन्न होता है वह सब लोगोंके लिये होता है। यदि श्रमके अर्थ बंधनोंसे अपने पास अन्न-अन्य अधिक लिया और इस कारण दूसरे भूखे मरने लगे तो निःसन्देह अधिक लेनेवाले चोरीका अन्न खाते हैं इस तरह विचार करनेसे चोरीका अन्न कितना है इसका विचार पाठकोंको हो सकता है। सब विचार करके मनुष्योंको निश्चय करना चाहिये कि हम चोरीका अन्न खाते हैं या श्रमका अन्न खाते हैं। मनुष्यको उचित है कि वह श्रमका अन्न खावे और पवित्र बने। जो मनुष्य न करके स्वयं अन्न लेता है पकाता है वह चोर है। मनुष्य को जो शिक्षा मिलनी चाहिये वह यह है।

येन त्वा बबन्ध... पाशात् त्वा मुञ्चामि (मं० ५८)

"जिस बंधनसे तुझे बांध रखा था उस बंधनसे तुझे मैं मुक्त करता हूं। यह वचन पति अपनी धर्मपत्नीसे कहता है और उसको विश्वास देता है कि मेरी धर्मपत्नीके रूप में (अहं लोक) विस्तृत लोक को प्राप्त हुई है तेरे लिये विस्तृत कर्मभूमि यहां प्राप्त हुई है और (मम गृहमें तुझे देवी ...

चलो तेरे लिये सुगममार्ग में बना देता हूं। इस मार्गसे तू आपकी … होगा। यह दुरवगाहन एवं बलशाली शक्तिसम्पन्न परमेश्वर है पुरुषार्थी मनुष्य यहां पुरुषार्थ करके अपना भाग बढा सकता है। यहां पुरुषार्थ करके अपना मन बढा सकता है। यहां अनेक मार्ग हैं परन्तु यहां सरल मार्ग ही मनुष्यको अवलम्बन करना योग्य है। अस्तु। पतिको उचित है कि वह अपनी स्त्रीको सुविधा देकर उसको सीधे मार्गसे चलावे और उसके वैभव … के लिये जो जो पुरुषार्थ करने आवश्यक हैं वे सब स्त्रीसे करावे। पाठक यहां विचार करें कि पुरुषपर यह कितनी भारी जिम्मेवारी रखी है। पुरुषको अपनी सुविधा करनी चाहिये और अपनी स्त्रीको भी सुविधा पहुंचा देना चाहिये। स्त्रीके योग्य अथवा अयोग्य आचरण का उत्तरदायित्व पुरुषपर है। यदि विवाहका सब भार पुरुषपर है यदि स्त्री विपरीत है तो उसका दोष पुरुषपर है। पाठक विचार करें और अपना इस विषयका कर्तव्य जान करके उसको पूर्ण करें। यही आशय ५९ मंत्रमें कहा है—

(इमां नारीं सुकृते दधात। मं ५९) इस स्त्रीको पुण्यमार्गमें रखो, इससे पुण्यकर्म होने दो। … यदि स्त्री बुरा व्यवहार करती है तो पुरुषने उसको सुविधा नहीं दी है यह बात सिद्ध होगी। पुरुषका यह कर्तव्य है कि वह स्त्रीको अपने कर्तव्यका आचरण करना सिखा देवे। और स्त्रीको धर्मपत्नी बना देवे। (धाता अस्याः पतिं विवेद) परमात्माने इस स्त्रीके लिये पति प्राप्त करा दिया है इसके पश्चात् इस स्त्रीको सिखाना उसका मुख्य कर्तव्य है। यह पति (रक्षांसि अप हन्तन) राक्षसी भावोंका नाश करे। इस स्त्रीमें जो आसुरी वृत्तियां हैं उनका नाश करना पतिका कर्तव्य है। पति स्त्रीको ऐसी सुविधा देवे कि जिससे स्त्रीके अन्दर की सब आसुरी वृत्तियां दूर हों और उसमें दैवी वृत्तियां स्थिर हो-जांय और यह वास्तवमें देवी बने। इस स्त्रीको (उद् यच्छध्वं) उच्च बनाने के लिये अपने आपको … तैयार रखो अपने … उसका उत्तम … करो उसको उत्तम धर्मविषय में रखो। जिस अवस्थामें स्त्रीकी उन्नति … स्त्रीको उत्तम मार्ग … पितृकुलमें और विवाहके पश्चात् पतिकुलमें रहे। इसकी उन्नति अनेक … हो। (धाता पतिं विवेद) ईश्वरने इसको पति प्रदान किया है, अतः पतिका कर्तव्य है कि वह अपनी धर्मपत्नीकी सर्वांगीण उन्नतिके लिये यत्न करे।

(भग सुमतिनी अस्तु। मं० ६०) यह स्त्री उत्तम मंगल करनेवाली बने मंगल की मूर्ति बने इस स्त्रीके कारण घरका और कुलका मंगल हो। इस स्त्री को मंगलमूर्ति बनाकर सब काम आनंदित हों। इसकी उन्नति के लिये सब … (… , …) बढाना है।

बरातका रथ।

बरातके रथका वर्णन पुनः मंत्र ६१ में है। यह रथ उत्तम (सुकिंशुकं) फूलोंसे सुशोभित किया जावे, तथा उत्तम सुंदर अन्य पुष्पोंसे सजाया जावे। (विश्वरूपं)

अनेक प्रकार की सजावट उसपर की जावे (हिरण्यवर्णं) सुवर्णके रंगका यह रथ हो उत्तम चमकनेवाला उसपर हो (सुवृतं सुचक्रं) उत्तम … हो और उसके चक्र उत्तम हों। इस तरह का सजा सजाया रथ (वहतुं) बरातके कार्यमें लाया जावे। यह बरात पतिके घर पहुंचे और वहांके स्थानको (अमृतस्य लोकं कृणु) अमर लोक, सुखपूर्ण स्थान बनावे। धर्मपत्नी अपने पतिके घर पहुंचकर वहांका सुख बढावे। पतिके घर धर्मपत्नी (अ-भ्रातृ-घ्नी) भाईयोंका पालन करनेवाली भाईयोंका नाश न करनेवाली (अ-पशु-घ्नी) पशुओंका पालन करनेवाली घात न करनेवाली पशुओंका उत्तम प्रतिपालन करनेवाली (अ-पति-घ्नी) पतिका पालनपोषण करनेवाली पतिको कष्ट न देनेवाली पतिका सुख बढानेवाली पतिका … न करनेवाली (सुशेवा) सुखोंसे युक्त, … सुख, ऐसी स्त्री पतिके घर इस बरात से प्राप्त हुई। यह स्त्री (देवृकामा …) देवरोंके … आया … इसका विवाह हुआ है इस कारण इस (कुमार्या …) इस … कुमारी रही हुई यह … है इससे यहां पतिघरमें किसी प्रकारका कष्ट न हो। (वध्वै स्योनं कृण्मः) इस वधूका मार्ग हम सुखमय करते हैं। इसका जो स्वभाव है वह इस वधूके लिये सुखकारी हो ऐसा यत्न हम करते हैं। (… कृण्मः) इस स्त्रीके लिये … सब पतिके घरका … हम सुखमय बनाते हैं। इस स्त्रीको पतिगृहमें उत्तम सुख प्राप्त हो और यह अपनी उन्नति यथाक्रम … प्राप्त कर निर्विघ्नताके साथ … प्राप्त हो।

इस स्त्रीको (… पुरन्धी। मं ६४) … पीछे बीचमें और सब ओरसे … प्राप्त हो …

उसकी उन्नति होती है। यहां मन्त्र शब्दके अर्थ— "ईश्वर मंत्र, धनज्ञान धन जल तप परम पवित्रता ब्रह्मचर्य मन बड़ा" ऐसे होते हैं। स्त्री पतिघरमें जहांजावे वहां वे पदार्थ उपस्थित हों इससे विमुखता कभी न होने पावे। यह धर्मपत्नी (धर्मात्मनाकी देवपुरी प्राप्त) अधिकार हित दिव्य मर्यादाओं अर्थात् पतिके स्थानको प्राप्त होकर, पतिगृहमें सम्मानित रहकर, सौभाग्यके साथ अपना सब व्यवहार करके (विना स्त्रीका पतिसेके विराम) सुखमें मग्नमग्नी महारानी होकर पतिके स्थानमें विराजती रहे। यह स्त्री पतिके घरकी शोभा बढावे सुखकी वृद्धि करे और पतिके संबंधका हेतु बने ॥

यहांतक प्रथम सूक्तके मंत्रोंका विचार किया। अब हम द्वितीय सूक्तका विचार करते हैं—

द्वितीय सूक्तका विचार।

द्वितीय सूक्तमें भी विवाहकाही विचार है। पहिले चार मंत्रोंमें कुमारिकाके चार पति होनेका वर्णन है। इस विषयमें इस तरह स्पष्ट कहा है—

> सोमस्य जाया प्रथमं गंधर्वस्तेऽपरः पतिः।
> तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ मं० ३॥

कुमारिकाका पहला पति सोम दूसरा पति गंधर्व तीसरा अग्नि और चौथा मनुष्य के लिये उत्पन्न (अर्थात् मनुष्य) है" यहां चार पति क्रमानुसार होनेका वर्णन है। ऋग्वेदमें यह मंत्र इस प्रकार है—

> सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
> तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ ४० ॥
> (ऋग्वेद १० । ८५)

इस मंत्रका अर्थ वैसाही है जैसा ऊपर दिया है। इस कन्याके सोमके पहिले प्राप्त की, तीसरा पति अग्नि है और चतुर्थ मानव है इस मंत्रमें चतुर्थ पतिको मनुष्यज कहा है इस कारणही पूर्वके पति मनुष्य योनिके नहीं है यह भी सिद्ध होता है। अतः यद्यपि इस मंत्रमें चार पतियोंका वर्णन है तथापि यह मंत्र नियोग अथवा बहुपतित्वकी सिद्धता करता है ऐसा समझना असंभव है। क्योंकि इसकी सिद्धता होनेके लिये तीनों पति भी मनुष्य—ज होने चाहिए। यहां स्पष्ट मंत्रमें कहा है कि पहिले तीन पति मनुष्यज नहीं हैं, केवल चतुर्थ पतिही मनुष्यज है। इस कारण इससे नियोग अथवा पुनर्विवाह सिद्ध होना असंभव है।

चतुर्थ मंत्रमें स्पष्ट कहा है कि सोमने इस कन्याको गंधर्वके पास दी, गंधर्वने अग्निके सुपुर्द की और अग्निने मनुष्यके हाथमें दे दी। इसलिये पहिले तीनों पति दैवी शक्तिके रूप हैं यह स्पष्ट है। मातापिताके घर रहती हुई कन्या बाल्य अवस्थामें इन दैवतोंके आधीन रहती है जिस कारण उसका उत्थान हुआ है। जब विवाह होम होता है तब अग्निरूपी इन दैवताओंसे मानवी पतिके हाथमें देता है।

कई सज्जन केवल इस मंत्रपर ही विचित्र कल्पना कर बैठे हैं और लेख भी लिख चुके हैं कि पूर्वकालमें कन्याका विवाह होनेके पूर्व उसके सोम गंधर्व और अग्नि नामक व्यक्तियोंके पुरुषोंके पास रक्खा जाता था और तत्पश्चात् वह कन्या उनकी अनुमतिसे मानव को प्राप्त होती थी। एतत्पूर्व यह कल्पना विचित्र और हास्यास्पद है। इसी से व्यभिचार ही धर्म हुआ है। परंतु इसके अर्थ जब देखा है वहां तक हमें सोम और अग्नि आदि व्यक्ति की जाती थी इस विषयमें प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ। अर्थ भी। परंतु यहां इससे काम न चलेगा। अतः हमें यह कल्पना निराधारही प्रतीत होती है।

इसके अतिरिक्त संपूर्ण वैदिक वाङ्मयमें स्त्रीके इतना स्वतंत्र दिया जाता है जिससे वह पतिके आधीन रहे। इस प्रकार अन्य पुरुषोंके पास जाकर रहनेके लिये उसको अवकाश नहीं है। वेदमें किसी भी अन्य स्थानमें इस तरह विवाहके पूर्व तीन पति होनेका निर्देश भी नहीं है, अतः यह आधार कल्पना असत्य है। जो इसको कहते हैं उनके मस्तिष्कमें इस विचार हुआ है ऐसाही हमें प्रतीत होता है। क्यों कि मंत्र स्पष्ट है कि मनुष्य पतिके पूर्व के तीन पति अमानुष हैं अर्थात् देवता हैं। देवताओंका स्वामित्व किसी भी प्रकार दोषास्पद नहीं हो सकता। जैसा कोई भक्त अपने उपास्य देवको अन्न अर्पण करके पश्चात् वह अन्न स्वयं भक्षण करता है उसमें कोई दोष मानना उचित नहीं होता क्योंकि वह अन्न अर्पण एक भावनाकी बात है। इसी तरह मातापिता कन्याके बाल्यकालमें समझें कि अपनी कन्या इस समय सोमदेवताके अधीन है पश्चात् वह गंधर्व देवताके अधीनमें है तदनंतर वह अग्निदेवताके प्रभावमें है। तत्पश्चात् वह मानवी पतिके आधीन होगी कुमारीका जीवन इस प्रकार देवतामय होना चाहिये। राष्ट्र

क्योंकि सर्वत्र होनेसे ज्ञान परिज्ञानसे अनन्यमेव होनेका है। यदि कोई मनुष्य राजाके समान विवान् बन रहेगा तो वह इन सबमें श्रेष्ठ रहेगा इसी तरह जब वह कन्या इन सबोंके समान रहेगी तो उसकी पात्रता आदिक बातमें कोई संदेह ही नहीं है। देवतायें सर्वज्ञ होती हैं। अतः इनका यहां आनेके लिए समता अपेक्षित है इन सब कथन का तात्पर्य यह है कि ये सब देवी पति केवल मनोभावनाके स्वरूपदर्शक हैं। चतुर्थ मानवी पति ही सच्चा पति है। अर्थात् इस मंत्रपर जो अनेक कल्पित कल्पना की जाती है, वह निराधार है।

विवाहका समय।

अगले दो मंत्रोंसे विवाहके समय वधू और वर की आयु कितनी होनी चाहिये अर्थात् कितनी आयुमें विवाह हो, इसका निश्चय हो सकता है। (सुमति: आगमन्। मं. ५) उत्तम मति आगई है। इससे विवाहके समय सुविचार होनेकी बात सिद्ध होती है। उत्तम विचार प्राप्त होनेपर विवाहका विचार करना चाहिये। बुद्धि सुसंस्कृत होनेपर विवाह हो। (हासु समस्या आरभत। मं. ५) हृदयमें कामने अपना स्थान बनाया है। इसकी प्रौढ अवस्था प्राप्त हुई है तब विवाह करना चाहिये। हृदयमें काम का बीज उत्पन्न होना चाहिये। (वाजिनी वसू) अन्न और धनसे युक्त होना चाहिये। तत्पश्चात् विवाह हो। विद्या प्राप्त होनेके पश्चात् धन प्राप्त कर प्रौढ आयुमें विवाह का विचार करना चाहिये। (मिथुना सुमनस्यमाना अभूतं) साथ साथ रहनेकी इच्छा करनेवाले, उत्तम प्रसन्न अंतःकरण जब होवें तब वधूवरका विवाह करें। (अर्ति-अमा = वर-वधू।) आर्ते अर्थात् जब परस्पर अनुरूप हों, तब विवाहका समय होगा। पाठक इन शब्दोंका अच्छी प्रकार मनन करें और विवाहका समय जानें।

विवाहके समय स्त्री भी (मनस्वती। मं. ६) मनस्विनी उत्तम आत्मिक विचारकी (शिवं मनः) शुभ मनवाली प्रजावती विचारसे युक्त हो। (मनसीरं वचस्य रथि) मन प्रकारके धीरत्व के साथ जिसमें हैं उत्तम अनुरूप जिसमें हैं इस तरहकी होना चाहिये और (सुमति दधे) शुभ बुद्धि धारण करे। इस तरह वह ही गोवरके विवाहमें निर्देश हम निश्चय है।

अर्थात् विवाहके समय स्त्री और पुरुष विद्या धन धन सुविचार आदि गुणोंसे युक्त होने चाहिये। कन्याका इस भार सिरपर लेनेकी ताकत उसमें चाहिए। इस निर्देशका विचार करनेपर पता चलता है कि वधूवर प्रौढ आयुमें ही विवाह करें अर्थात् बाल्यावस्थामें विवाह न हो। वैवाहिक मंत्रोंका अर्थ और मंत्रोक्त प्रतिज्ञाका भाव समझने योग्य बुद्धिवाले वधूवर हों। वैदिक मंत्रोंमें माता पिताका अधिकार कुमार—कुमारि पर पूर्ण है तथा कन्यादान भी वेदमें कहा है। इससे कुमार-कुमारिकोंका स्वतंत्र विवाह अभीष्ट नहीं है यह बात सिद्ध होती है। स्वयंवरका उल्लेख वेदमें किसी प्रकार स्पष्टता नहीं है और कन्यादान-प्रणालीमें स्वयंवरको स्थान मिलना असंभव है। जहां स्वयंवर हो वहां कन्याका दान कैसे हो सकता है? कन्यादान की प्रथा वैदिक होनेके कारण मातापिताका अधिकार कुमार कुमारीपर है और इस कारण मातापिताकी अनुमतिसे ही वैदिक विवाह हो सकता है। अतः जो समझते हैं कि वेदमें युरोपियनोंके समान स्वयंवर की रीति है और जो स्वयंवरसे कौटुंबिक विवाह करते हैं और जो 'प्रथम दर्शनसे ही प्रेम होनेकी संभावना' वैदिक मान इसे मानते हैं वे सब वैदिक धर्मके न होंगे हैं। अस्तु। इस तरह वैदिक विवाहमें कुमार कुमारिकाका प्रौढ और सुमनस्क होना सिद्ध है तथा माता-पिताकी अनुमतिकी जरूरी ही प्रधान है यह बात विशेषतया ध्यानमें धारण करनी चाहिये।

आगे मंत्र ७ से ९ तक महाविवाहित वधूवरोंके अभीष्टके अनुसार आशीर्वाद है। रक्षण युक्त द्रव्यादिकोंसे वधूकी रक्षा होनेकी प्रार्थना इनके मंत्रमें है। सब मार्ग वधूके लिये सुखिन होनेका आशीर्वाद अष्टम मंत्रमें है। और नवम मंत्रमें वधूवरोंको संबंधि अन्यान्य देवी आदि सुखदायक हों और इन वधूवरोंको कोई हिंसा न करें यह इच्छा है।

यक्ष्म यक्ष्मनाश।

इसके अंतमें यक्ष्मरोगका नाश होनेका वर्णन बड़ी उत्तमताके साथ किया है। उसका विचार विशेष निश्चय करके यहां करना उचित है।

ये वध्वश्चन्द्रं वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनां अनु।
पुनस्तान् यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः॥ (मं. १)

"जो [यक्ष्माः] यक्ष्म रोग [जनान् अनु यन्ति] मनुष्यों के साथ साथ चलते हैं, वे (वध्वः वहतुं) वधूके देहकी

बरातके साथ आनेवाले लोगोंसे (तान्) उन यक्ष्म रोगोंको [यज्ञियाः देवाः नयन्तु] यज्ञके देव दूर ले जावें अर्थात् वधू या वरके साथ आने न दें।" यज्ञके देव अग्नि वनस्पति आदि हैं, जिनसे यज्ञ होता है और जिनसे वायुमण्डल शुद्ध हुआ करता है। वे सब देव मनुष्योंके साथ आनेवाले यक्ष्म रोगोंको दूर करें। इस मंत्रके मननसे यह बात सिद्ध होती है कि जहां मनुष्योंकी भीड होती है वहां नाना प्रकारके साथ यक्ष्मादि रोगोंके बीज आना संभव है। बरातमें जहां सैंकडों आदमी इकट्ठे होते हैं वहां किसका क्या रोग है इसका ज्ञान होना भी असंभव है। अतः ऐसे भीडके प्रसंगमें सार्वजनिक रोगोंको दूर करनेकी आवश्यकता होती है, इसलिये ऐसे प्रसंगमें पूर्वोक्त हवन करके ऐसे यक्ष्मोंका शमन करना योग्य है। जहां जहां बरात जैसे बहुत मनुष्योंका समाज जमा होता है वहां वहां यही नियम ध्यानमें रखना योग्य है।

शत्रु दूर हों।

ग्यारहवें मंत्रमें शत्रुको दूर करनेका उपदेश है। पूर्व मंत्रमें व्याधिरूप शत्रुको दूर करनेका उपाय कहा और इस मंत्रमें मानवी शत्रुओंको दूर करनेकी सूचना दी है। (परिपन्थिनः मा विदन्) दुष्ट मार्गमें आकर लूटनेवाले दुष्ट न प्राप्त हों। दुराचारी [illegible] बनकर मनुष्योंको कष्ट देते हैं, ठगते हैं, फंसाते हैं, लूटते हैं और अनेक प्रकारसे सताते हैं। अतः ऐसे दुष्टोंके संबंधसे नवविवाहित वधूवर दूर रहें इतना ही नहीं परंतु अन्य लोगभी दूर रहें। यह सब [illegible] उपदेश है। (अरातयः अप द्रान्तु) शत्रु दूर भाग जावें अनुदार मनुष्य जो इन नवविवाहित स्त्रीपुरुषों को कष्ट देनेके इच्छुक हों वे दूर हों। इनके मनमें शान्ति सुरक्षित रहे। तथा वे स्त्रीपुरुष (सुगेन दुर्गं अतीताम्। मं० ११) सुखपूर्वक सब कठिन प्रसंगोंसे मुक्त हो जांय।

बारहवें मंत्रका कथन है कि "[illegible] देव इन वधूवरको इन पतिपत्नीके लिये सुखदायक [illegible]। [illegible] सुख देवे इनको दुःख न होवे।" यहां स्पष्ट कहा है कि जगत् के [illegible] सुखदायक भी हो सकते हैं और दुःखदायक भी हो सकते हैं। [illegible] सुख या दुःखकी प्राप्ति अवलंबित है। अतः वधूवर ऐसे [illegible] व्यवहार करें कि जिससे उनको सदा सुख होता रहे और दुःख कदापि न हो।"

विवाहमें ईश्वर का हाथ।

तेरहवें मंत्रमें (धाता इमं लोकं अस्मै विदेह। मं० १३) विधाताने यह पवित्र [illegible] इस वधूके लिये निश्चित किया है ऐसा कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि जब कोई स्त्री या पुरुष उत्पन्न होता है तब उसके जीवनसाथीकी योजना विधाताद्वारा निश्चित होती है। विधाताके संकेतसे प्रेम से [illegible] उनके लिये यथायोग्य [illegible] मिलती है। जो [illegible] अपना दृढ [illegible] करते हैं वे [illegible] मानते हैं। जो [illegible] कर्म मानते हैं उनका यह हेतु भी ईश्वरके हाथसे ही सिद्ध होता है। जो विवाहसम्बन्ध होता है उसका उचित है कि वे [illegible] आचरण धर्मानुकूल रखें उत्तम सुशिक्षितोंका [illegible] और समयकी प्रतीक्षा करें। विधाताके नियमानुसार [illegible] साथ अन्याय न होगा। परंतु यहां उपदेश यह है कि [illegible] पूर्वक [illegible] मनुष्यका [illegible] ईश्वरीय नियमानुसार चलता है। जिसका परम [illegible] एकमात्र [illegible] उसको किसी बातकी न्यूनता नहीं होगी।

[इयं [illegible] नारी [illegible]] यह शुभ [illegible] पतिके घर आयी है। यह शुभ [illegible] पतिव्रता सुभगे प्राप्त होती है और उसका गृहस्थाश्रम [illegible] पूर्वक धर्मसंबंधमें सहायक होती है। धर्मपत्नी शुभ [illegible] मिलना एक भाग्यका लक्षण है और यह धर्माचरणसे ही सिद्ध होता है।

(देवाः प्रजया वर्धयन्तु। मं० १२) सब देव इन स्त्रीपुरुषों को उत्तम संतानके साथ बढावें, सुमति देवें, [illegible] रक्षा करें और इन [illegible] सुख [illegible]। यह सब इनके भाग्यसे ही प्राप्त होता है। विधाताकी इच्छासे ही यह होता है।

गर्भाधान।

विवाहके पश्चात् गर्भाधान प्रधान कर्म [illegible] है। इस संबंधका निर्देश १४ वें मंत्रमें है। [illegible] [illegible] [illegible] पुरुष या पुरुष [illegible] कर्म करनेके कठिन प्रसंगमें विघ्न [illegible] होवे ऐसी भी इच्छा है। [illegible] उत्तम [illegible] है। जैसी भूमि उत्तम फलदायक होती है,

वृक्षवनस्पतियाँ उत्तमगुणयुक्त उत्पन्न होती हैं वैसी ही स्त्री भी उत्तम हृष्ट पुष्ट शुभगुणयुक्त संतति उत्पन्न करनेवाली हो। रोगी संतति उत्पन्न न हो। यह सब स्त्री के उत्तम गुणयुक्त आचरण करनेपर निर्भर है। जैसा मनुस्मृतिमें कहा है वैसा आचरण स्त्रीपुरुष करें तो उत्तम संतति हो सकती है।

(अस्यां नरो वीर्यं वपत) ऐसी शुभगुणी गुणवती कामनायुक्त पत्नीको उत्तम संतान उत्पन्न करनेमें समर्थ स्त्रीमें ही पुरुष गर्भधारण करे। किसी अन्य स्थानमें वीर्यका विनाश न करे। परस्त्रीसे भोगकर या किसी अन्य स्थानमें वीर्यका नाश करना सर्वथा अनर्थ अधार्मिक और सब विनाशक है। पुरुष (एषा) उसके अनुरूप वीर्यवान् हो। क्योंकि पुरुष ही वीर्यवाला है। वीर्यवान् पुरुष ही गर्भाधान करे। रोगी, दुर्बुद्धि निर्वीर्य पुरुष गर्भाधान करेगा तो उसकी संतान वैसीही दुर्बल और रोगी होगी। अतः यह सावधानता आवश्यक है।

स्त्री अपने पतिके घर (वाक्) किस भावनासे उत्तम अपने साथ व्यवहार करे (सरस्वती) विद्यादेवी की मूर्ति बनकर रहे अर्थात् विदुषी बनकरके योग्य व्यवहार करे। (विष्णो पत्नी) विविध आचरण पत्नी रखनेवाला गृहस्थाश्रमी बने। अपना पति (विष्णु इव) साक्षात् विष्णुभगवान् ही है और मैं उसकी पत्नी हूं ऐसा भाव मनमें रखे। जैसा विष्णु सब जगत् का पालनहारा है वैसा मेरा पति अपने परिवारका पालन करता है यह विचार मनमें रखकर पतिके हितमें सदा आदरके साथ अपने आपको रखे। अतः (अवश्य सुवर्णं अमृत। मं १५) अपने पतीको उत्तम गतिमें अपने साथसे रख अर्थात् उसके चित्तमें उत्तम विचार उसमें धारण करे और उसके मनमें अपने विषयमें उत्तम विचार रहे ऐसा अच्छा आचरण करे। पति भी अपनी स्त्रीके विषयमें सदा आदर रखे। इस तरह पतिपत्नी परस्पर सत्कार करती हुई गृहस्थधर्मका पालन करें।

पतिपत्नीके व्यवहारकी ऐसी हो कि उनमें आपसमें कभी अनबन विवाद न हो अन्योन्य प्रेम न घटे। दोनों बडे प्रेमके साथ मिलजुलकर रहें। (अनुव्रतौ) आपसमें पति और पत्नी हुए अनबन, दुराचार कभी न करें सदा परस्पर शुभ कर्ममें दृष्टिवान् हुए (विश्वा) वे इकट्ठे सब दिन रहें कभी प्रवासमें भी एक दूसरेसे न दूर हों (अथर्व का० १४ सू० २ मं० ६४) अनबन व्यवहार कभी न करें। दोनों मिलजुलकर परस्परको धर्म कार्यमें सहायता देते हुए अपने उन्नतिके मार्गका आक्रमण करें।

पतिके घरमें पत्नीका व्यवहार।

जब पतिके घरमें स्त्रीका निवास स्थिर हुआ। गर्भधारणा होनेतक स्वपुत्रादिक पतिके घरमें रह सकती है। तबतक वह अपने पिताके घरका स्मरण करती है। जब गर्भधारण होता है तब पतिके घरका मन बढता है। ऐसी अवस्थामें वह नारी पतिके घरमें किस तरह व्यवहार करे इस विषयमें उत्तम उपदेश मंत्र १७ से शुरू होता है। हरएक स्त्रीको ये मंत्र पढकर मनन करना चाहिये।

(अघोर चक्षु) क्रूर दृष्टि करनेवाली स्त्री न बने सदा प्रेमभरी आंखोंसे अपने पतिके घरमें रहती रहे, किसीपर क्रोध न करे। (देवी) दिव्य विचारोंसे युक्त और न देखे, (अपति—घ्नी) पतिका घातक न आचरण तथा विरोध कभी न करे सदा पतिके हितमें रत रहे, (स्योना शिवा) स्त्री सदा सुख देनेवाली कल्याण करनेवाली भाव मनमें रखनेवाली रहे, [सुयमा] सदा शुभ कार्य करे और देनेवाली कार्यमें अपने मनको संयम रखे [सु-वर्चा] सदा अपने पतिके घरमें उत्तम तेजस्वी अनुकूल आचरण करे कभी अनियमका आचरण न करे [सु-शेवा] उत्तम स्त्री सदा उत्तम रीतिसे सेवा करे और न करे सब जीवोंके साथ बर्ते (वीरसूः प्रजावती) और संतान उत्पन्न करनेके लिये जो जो उत्तम व्यवहार करना आवश्यक हो वह करती रहे अपने मनको दीर्घकालतक अपनी संतान प्रभावयुक्त होनेवाली है ऐसा मानकर अपने मनमें उसके अनुसार आचरण करे और गर्भावस्थामें अपनी संतानको उत्तम रखे। इस तरह भावी संतान सुदृढ होनेके लिये जो जो उपाय करे। (देवृ-कामा) अपने पतिके हितके लिये कभी द्वेष न करे देवरसे कभी शत्रुता न करे, (सुमनस्यमाना) जिनकी उत्तम मन ऐसी हो, अर्थात् विद्या और बुद्धिमत्ताके द्वारा स्त्री अपना मन उत्तम और हितयुक्त करे और घरमें सबके मन आनन्दित और प्रसन्न करे। (सुवर्चाः) स्त्री उत्तम तेजस्विनी बने, घरमें

होता हुआ पतिके घरमें रहे (पशुभ्यः शिवा) पशु आदि प्राणियोंका हित करनेवाली बने। पशुओंको कष्ट देनेवाली स्त्री न हो, [illegible] है। इसलिये विचार कर इस उत्तम [illegible] आवश्यक कर्तव्य ही यह कर। (वीरसूः देवकामा) पंचमहायज्ञोंमें प्रतिदिन हवन करे ईश्वर उपासना करे।

मंत्र २६ और २७ में भी यही विषय पुनः आगया है। उसमें इस तरह [illegible] कर्तव्य बताये हैं, यह (सुमंगली) उत्तम मंगल करनेवाली [illegible] (प्र-तरणी) दुःखसे पार करनेवाली (सुभगा) उत्तम भाग्यवाली उत्तम [illegible] [पत्ये] पति और श्वशुरका हित करनेवाली [श्वश्र्वै स्योना] सासको सुख देनेवाली, (श्वशुरेभ्यः, [illegible]) [illegible] और सब पारिवारिक लोगोंके लिये सुख देनेवाली होवे।

इस उपदेशको ध्यानमें धारण करके जो स्त्री अपने पतिके घर में व्यवहार करेगी वह घरके आदर्श [illegible] होगा इसमें [illegible] है। [illegible] उत्तम आदर्श इस तरह यहां दिया है। [illegible] इसमें इसी प्रकार [illegible] ४२ व ४७ [illegible] [illegible] देखें। [illegible] उत्तर [illegible] इन मंत्रोंका अर्थ अवश्य समझना देवें।

दरिद्रताको दूर करो।

पतिके घर पदार्पण करनेके पश्चात् वधू और वर मिलकर प्रयत्न करें कि अपने घरमें [illegible] न रहे। इस विषयमें [illegible] मंत्र २९ में कहा है कि—

हे निर्ऋते! [illegible] ॥ (मं० २९)

वधू [illegible] कि हे दरिद्रते! तुझे दूर भगा [illegible] मैं तुम्हारा [illegible] और [illegible] करती हूं।" [illegible] इसका [illegible] यह है कि पति और पत्नी [illegible] दरिद्रता दूर

वयोवृद्ध विचार करें और तदनुसार प्रयत्न करें।

बड़ोंको नमस्कार।

तीसरे मंत्रमें कहा है कि, जब वधू अपनी पतिके घर आवे और अपनी [illegible] करे, तब (विश्व नमस्कुर्म मं० ३) अपने घरके बडे स्त्री पुरुषोंको नमस्कार करे और पश्चात् अपने आसनमें बैठे। यहां एक अच्छी वैदिक आदर्श दर्शाया है। [illegible] स्नानादि कर्म करे, ईश्वर उपासना हवन आदि नित्य होकर अपने घरके बडे लोग अर्थात् पति पतिके [illegible] उसके बडे भाई तथा [illegible] पुरुष जो भी बडे हों उनको यथायोग्य रीतिसे नमस्कार करे [illegible] करे और पश्चात् अपने आसनमें बैठे। यह नियम केवल नववधूके लिये ही उत्तम है परंतु यह घरके सब [illegible] कुमारिकाओंके लिये भी उत्तम है। [illegible] है कि प्रत्येक आर्यके घरमें यह प्रथा शुरू हो और [illegible] पुरुष [illegible] नमस्कार करना एक प्रतिदिनका आवश्यक कर्म बन जाय।

इस तरह पूज्योंको नमस्कार करना यह (सर्वं सर्वं एतत्। मं० २१) [illegible] है। यह रीति अनेक [illegible] गुणोंकी [illegible] रक्षा करती है। अतः इस [illegible] प्रकार [illegible] घरोंमें होना युक्त है।

[सूचना—मंत्र १५ में जो सूचना आयी थी वह २१ में पुनः आयगा है।]

तत्पश्चात् ईश्वर उपासना और अग्निमें हवन करके [illegible] चर्मपर—[illegible] पर—बैठे और [illegible] उपासना करें। (देखो मं० २२।२)

[illegible] ॥ (मं० २१)

[illegible] उत्तम [illegible] की [illegible] उपासना करे [illegible] इस तरह लिखा है—

[illegible] ॥ (मं० २३)

"यह अग्नि [illegible] और [illegible] नाश करता है। यह [illegible] मारता है। अतः [illegible] तरह [illegible] करती है [illegible] (मं० २३)

उत्पन्न श्रेष्ठ पुत्र होता है। सुपुत्र निर्माण करनेके लिये ईश्वर उपासना की अत्यंत आवश्यकता है इससे माता-पिता और कुटुंबियोंके मन सुमनस्क प्रसन्न होते हैं और उनका पवित्र सुसंस्कार शिशु होनेमें होता है। २५ वें मंत्रमें भी इसी कारण कहा-

प्रतिभूत्र देवान्। (म २५)

" देवोंके सुपूजन करो ऐसी आज्ञा दी है। ईश्वरोपासना करनेके लिये यह आज्ञा प्रेरित करती है। देवताओंको आभूषणोंसे सुभूषित करो यह आज्ञा नहीं है। मनुदेव पितृदेव अतिथिदेव आचार्यदेव आदि अनेक देव जो वे देव हैं उनके सुपूजन करनेके विषयमें यह आज्ञा ऐसा संभवनीय है। जो जो देवताएं होती उनकी आत्मा दिव्य पुरुषोंमें प्रकट होती है।

[कई लोग " देवताओंकी मूर्तियोंमें (आभरणादि) करो " ऐसा इस मंत्रका अर्थ मानते हैं और इस मतके लोग कहते हैं कि वेदमें हाथ (पैर) इत्यादि वालोंकी मूर्तियां वर्णन की हैं इस विषयमें उनके प्रमाण ये होते हैं—

क इमं दशभिर्मम इन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः। ऋ० ४। २४। १०
यदा वृत्राणि जङ्घनदथैनं मे पुनर्ददत्॥
न यद्यदाप आपुतार दहिदो न प्रदाव अनामय ॥
ऋ० ८।१।५

(इमं इन्द्रं) इस इन्द्रको (दशभिः धेनुभिः) दस गौवें देकर (क्रीणाति) खरीद लेता है। मैं इन्द्रको बार बारही बेचे जितना भी (बहुत अच्छा देता) कितना भी मूल्य मिलनेपर इस इन्द्रको न बेचूंगा। इन मंत्रोंसे वे लोग कहते हैं कि इन्द्रकी मूर्ति खरीदने और बिकनेका वर्णन है। श्री बाबू नारायणचन्द्र राव एम० ए० ने अपनी वैदिक इन्डिया नामक पुस्तकमें पृ. १३५–१३८ पर इन मंत्रोंका विचार किया है। उन्होंने इतना ही सिद्ध किया है कि वेदमें दिव्याकार मूर्तियां हैं ऐसा अनुमान नहीं किया। इसलिये इनके मतमें भी वेदमें मूर्तिपूजाका इससे सिद्ध नहीं हुआ। अतः जिन विषयोंमें इन मंत्रोंका अर्थ कहना ही अच्छा है उस विषयका अनुसंधान इसे यहां करने की कोई आवश्यकता नहीं। हमने यह बात यहां इसलिये लिखी है कि इस मंत्रपर पूर्वोक्त बाबू महाशय यह कल्पना करते हैं। जो पाठक अपनी दृष्टिसे अध्ययन करते हों वे इन मंत्रोंका अधिक विचार करें। उक्त बाबू महाशयजीने और भी कथन यह है कि (ऋ० ८। ६९। १५–१६ देखें) मंत्रोंमें जहां इन्द्रके रथमें बकरेका उल्लेख है वहां इन्द्रमूर्तिका रथपर सवार होना ऐसा अर्थ समझना चाहिये। और इस तरह कल्पना करना हो तो प्रायः सभी देवताओंकी मूर्तियां वेदमें वर्णित हैं ऐसा वे कह सकते हैं क्योंकि वेदमें अनेक देवताओंके रथोंमें उनमें बैठनेका वर्णन है। रथमें बैठनेका जो अलंकारिक अर्थ है उसका वर्णन हमने " वैदिक अग्निविद्या " नामक पुस्तकमें अग्निरथके विषयमें की है। इसी प्रकार इन्द्ररथका भी स्वतंत्र एक पुस्तक लिखकर उसमें इन्द्रदेवताके रथपर बैठनेका आशय क्या है इसका विचार करेंगे। यह विचार यहां करनेसे कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता इसलिये वह विषय हम यहां नहीं करते हैं। हमारे विचारसे यहां के ' देवान् प्रति भूष ' का अर्थ अपने परिवारमें जो पुरुष हैं उनको सुभूषित करो ऐसा है। अब कौन ठीक है जो बात सिद्ध होगी वह यथासमय करेंगे अस्तु।

इस प्रकारकी सुमंगल वधूको सज्जन सौभाग्य देवें और आशीर्वाद दें उसका भला चाहें और उसकी सहायता करें यह भाव २८ वें मंत्रका है। जो दुष्ट हृदयवाली (दुर्हार्दा युवतयः) स्त्रियां तरुण युवतियोंके बोला करती रहती हैं और उनको कुमार्गमें प्रवृत्त करती हैं ऐसी दुष्ट युवतियां इस नव विवाहित वधूपरके दर्शन न आवें। अर्थात् इनसे दूर रहकर और दुष्ट पुरुषोंके प्रभावसे वे नव विवाहित सौभाग्य बचे रहें

गुप्त भाग।

इसके पश्चात् मंत्र ३, ४ मंत्र व तक अप्रयुक्तमंत्रका अर्थात् नवोढाप्रसंग का वर्णन है। इनमें उत्तम प्रकार करके शास्त्र प्रमाण निर्दिष्ट हैं तथापि यह विषय केवल गृहस्थियोंके ही उपयोगी है और ब्रह्मचारी इसमें पढ़ नहीं सकते अतः यह गुप्त रखना है। इस कारण इसका विवरण हम यहां नहीं करते। जो पाठक इसको जानना चाहें वे मंत्रका अर्थ विचार करके जानें।

वधूका पक्ष।

वधूके पितृके समय कुछ न कुछ उसको दान करनेका आदेश मंत्र ३१ और ३२ में है। यह सब देना दहेज कह-

स्पष्ट है क्योंकि यह (ब्रह्मभाग:) ब्राह्मणका भाग है, यह दान (देवैः दत्त) देवोंद्वारा दिया था (मनुना साकं) मनुके साथ यह गया है या मनुके साथ यह चला आया है यह (ब्रह्मणे) ब्राह्मणको देने योग्य दान है। यह (विद्विद्युत ब्राह्मणे वा दत्तम्) जो ज्ञानी ब्राह्मणको इस प्रकार दान करता है उसका कल्याण होता है। इस तरह वस्त्रदान की महिमा इन मंत्रोंमें वर्णन की है। ब्राह्मणोंको इस तरह वस्त्र दान किये जाय यह इसका तात्पर्य है। विद्वान् ब्राह्मणोंको दान देकर उनका योगक्षेम चलाना चाहिये यह उपदेश यहां इन मंत्रोंसे मिलता है। यह गृहस्थियोंपर एक प्रकारका धार्मिक भार है। इस प्रकार के दान गृहस्थी देते रहने चाहिये, तब इनके घरमें यह सुख [illegible] प्राप्त होता है और [illegible] प्रकार भी बढ़ा सकता है।

गृहस्थियोंके घर।

४३ वें मंत्रसे गृहस्थियोंके घर [illegible] इस विषयके आदेश मिल सकते हैं। (सुगृहौ) स्त्री पुरुष उत्तम घरमें रहें या अपने [illegible] उत्तम गुणयुक्त हों। जैसा [illegible] [illegible] प्रकार [illegible] [illegible] स्वच्छ सुंदर और सुशील हो। ([illegible]) स्त्रीपुरुषोंका [illegible] [illegible] सुखदायक हो, [illegible] स्त्रियोंमें यह शान्त रहे और [illegible] स्त्रियोंमें वही सुख [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। ऐसे सुखदायी घरोंमें ये स्त्री और पुरुष वास करें। [illegible] स्वास्थ्य उत्तम रखनेसे जो स्त्री पुरुष इसमें रहेंगे उनको उत्तम [illegible] और वे [illegible] ([illegible]) [illegible] कर सकते हैं और अपने [illegible] प्राप्त कर सकते हैं। वे स्त्री पुरुष अपने सुंदर घरमें रहें [illegible] ([illegible]) [illegible] [illegible] [illegible] व्यवहार करें। [illegible] [illegible] [illegible] विचारयुक्त आचरण करें। [illegible] ([illegible]) [illegible] [illegible] रहें। [illegible] स्त्रीपुरुषोंके पारस्परिक व्यवहार [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] अच्छा व्यवहार कर रहे हैं। इनके [illegible] [illegible] हो।

(सु-गृ) उत्तम मंत्रोंका [illegible] करनेवाले ये गृहस्थी [illegible] अपने घर देवोंकी उत्तम उत्तम [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रतिदिन [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] होते रहें। सु-गृ' शब्दका दूसरा अर्थ उत्तम स्त्री पुरुष ऐसा भी है। ये स्त्री पुरुष अपने उत्तम घरोंमें [illegible] ब्राह्मणों व ऋषियोंका [illegible] करके अपने [illegible] [illegible] अवस्थामें रहें। (सु-गृहौ) [illegible] [illegible] [illegible] हैं और वे उत्तम सुविचार [illegible] हो रहे हैं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। सुशील [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] रीतिसे सुसंस्कारयुक्त करना प्रत्येक गृहस्थीका [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। इस तरह सब गृहस्थी अपने घरमें आनंद [illegible] और अपने [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। यही [illegible] [illegible] [illegible] है। पाठक इसका स्मरण रखें [illegible] [illegible] [illegible] प्रयत्न करें।

([illegible] [illegible]) जैसा आगेसे [illegible] [illegible] है और [illegible] आकाशमें [illegible] [illegible] [illegible] है उस प्रकार प्रत्येक गृहस्थी प्रयत्न करके ([illegible] [illegible] [illegible] । मं० ४६) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] होकर [illegible]। यही प्रत्येक गृहस्थका [illegible]। [illegible] [illegible] ऐसा [illegible] प्रत्येक गृहस्थी करे और [illegible] [illegible] [illegible] प्रयत्नोंकी [illegible] करे। [illegible] ([illegible]) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और (सुवासाः) उत्तम शोभायमान [illegible] [illegible] [illegible] सुशोभित करे। अपने [illegible] [illegible] करे। [illegible] [illegible] सुंदरता [illegible] [illegible] [illegible] रहे। [illegible] उदास न रहें। स्त्री पुरुष सुंदर बनें और सुंदर [illegible] अपने शरीर [illegible] [illegible] सुंदर और [illegible] तथा [illegible] बनावें। ([illegible]) [illegible] [illegible] [illegible] करके प्रसन्न रहें। [illegible] [illegible] [illegible] न हो। [illegible] [illegible] शरीर [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] सुंदर [illegible] [illegible] पुरुष [illegible] [illegible] ([illegible] [illegible]) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रसन्न करें। [illegible] [illegible] [illegible] पुरुष [illegible] [illegible] रहें। इस प्रकारका [illegible] गृहस्थी [illegible] [illegible] [illegible] और सुखका [illegible] देने गृहस्थी [illegible] [illegible] अपने [illegible] [illegible] [illegible] रहें।

प्रत्येक गृहस्थी की इच्छा हो कि ([illegible] । मं ५५) हम सब पापसे मुक्त हों। गृहस्थियोंको सदा अपने [illegible] ही विचार करना चाहिये क्योंकि गृहस्थाश्रममें सदा धनकी आवश्यकता होती है और उस कारण मनुष्य बुरे व्यवहारोंसे धन कमानेकी संभावना [illegible] है। अतः पापसे बचनेका विचार गृहस्थ आश्रमियोंके मनमें सदा रहना उचित है। यदि यह विचार उनके मनमें रहा तो अधिक प्रमाणमें पापसे अपना बचाव कर सकते हैं।

[illegible] ऐसे हैं जिनसे अपना [illegible] है वह सब गृहस्थी रखें। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, तारागण आदि सब अपनी कक्षामें भ्रमण कर रहे हैं कभी [illegible] नहीं करते कभी [illegible] नहीं करते और कभी [illegible]। [illegible] भी नहीं। सब प्रभु और सब [illegible] रहे हैं। [illegible] यह [illegible] गृहस्थी लोग अपने मनमें [illegible] कि हम [illegible] और इस सृष्टिमें रहने योग्य बनें। [illegible] [illegible] ही मनुष्य सुधार कर सकता है। मनुष्यको [illegible] उचित है कि वह [illegible] धर्मनियमोंका पालन करे और सृष्टिके नियमके अनुकूल रहकर [illegible] बने।

[illegible] ([illegible] । मं ५६] का [illegible] करना चाहिये। क्योंकि [illegible] [illegible] हो सकता है। इसलिये [illegible] है कि वे अपना गृहस्थोंको [illegible] न रहें।

[illegible] अद्भुत [illegible] में [illegible] किया है। [illegible] और [illegible] [illegible] रही है [illegible] कोई [illegible] नहीं है, न किसी [illegible] है। यह अद्भुत [illegible] है। पाठक [illegible] अनुभव करें। और [illegible] अद्भुत [illegible] नहीं [[illegible]] [illegible] है। अतः इसका [illegible] इसकी [illegible] अनुकूल [illegible] करना चाहिये। [illegible] ही यह सब [illegible] हो सकता है।

मंत्र ५८ में कहा है कि ([illegible] । मं ५८) [illegible] हम सबसे दूर रहें [illegible] अपार [illegible] और [illegible] अधिक [illegible] और [illegible] अपराध [illegible] यह सब [illegible] हम सबसे दूर हों। इनमेंसे किसीके [illegible] यह अपराध [illegible] न रहे। क्योंकि [illegible] और [illegible] प्रकारकी [illegible] होती हैं। और [illegible] है। अतः [illegible] प्रकारके [illegible] प्रत्येकका कर्तव्य है। [illegible] ([illegible]) [illegible] है, ([illegible]) [illegible] है ([illegible]) [illegible] हैं इन सबको दूर करना चाहिये। गृहस्थियोंके [illegible] ५९ में इस प्रकार कहे हैं। [illegible] विचार और [illegible] दूर करना चाहिये और [illegible] विचार और [illegible] आचार [illegible] करना चाहिये। मनुष्यके जैसे विचार होते हैं वैसे आचार वह करता है और वैसा बनता है। इसलिये इस दृष्टिसे यह मंत्र बड़ा बोधप्रद है।

स्त्रियोंका बनाया वस्त्र।

[illegible] [illegible]। [illegible] कोई न [illegible] मंत्र ५० और ५१ में स्त्रियों द्वारा बनाया वस्त्र परिधान कर [illegible] है।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।
(मं ५१)

" हमारी [illegible] वस्त्र है [illegible] " [illegible] ([illegible]) [illegible] [[illegible]] [illegible] [illegible] हो। अर्थात् [illegible] [illegible] और [illegible] और [illegible] वस्त्र [illegible] [illegible] [illegible] वस्त्र [illegible] कोई न करे। परंतु [illegible] वस्त्र [illegible] और आनंद प्राप्त होवे। अपने [illegible] वस्त्र [illegible] और [illegible] [[illegible] ५] [illegible] होवे। क्योंकि [illegible] [illegible] और [illegible] वस्त्र [illegible]

सिद्धान्तके मानने होता इस मार्गके पूर्ण स्थलोंका वर्णन करनेका एक मात्र उपाय यह है कि प्रत्येक घरमें सुख बसता जाय और उस घर को बनाकर वहीं उस घर के लोग रहें। आगे … वचने- का और … एक मात्र उपाय यह है। प्रत्येक घरमें इस वैदिक धर्मके … पालन होता रहे। अपने … कोई मनुष्य दुःखी न करे और पदार्थों द्वारा … कोई मनुष्य … न करे। यही एक मात्र साधन कहलाता है।

मंत्र ५१ में कहा है कि पतिकी इच्छा करके पतिके घरमें … इस … पालन करे। यह … और … के लिये बनाया है। जो … इस … पालन करेगी वही … करनेवाली होगी और … करेगी। परन्तु … सुख … नहीं और … द्वारा … आग्रह करेगी, वह अपने घरमें स्वयं … दुःख देगी। इस कारण घरके … स्त्रीपुरुषोंका उचित है कि वे सबके सब इस … धारण करें और इस … पालन करके … प्राप्त हों। … यह … सब गृहस्थाश्रम है। जो इसका पालन … अनुकूल प्राप्त करेंगे और जो इससे प्रतिकूल होंगे वे … जायेंगे।

गौओंका यश।

मंत्र ५२ से ६१ तक … वर्णन है। सब गृहस्थियोंको उचित है कि वे अपने घरमें गौओंका पालन करें और उनका … भगवान की … सेवन करें। गौओंसे (पयः) दूध, (घृतं) घी, [मधु] … [अन्न] … […] … है। गौओंके दूधसे … मनुष्योंको होती है। इसके अतिरिक्त … आदि भी … है। इन सब पदार्थोंद्वारा भी मनु- ष्योंको सुख देती है। … गौ का भी पालन … बिना नहीं हो सकता। अतः गृहस्थियोंको अपने घरमें … गौओंका पालन करके … होना चाहिये।

आगे मंत्र ५९ से ६१ तकके मंत्रमें … उपदेश किया है जो … (…) … है (…) … करते हैं (…) … हैं। स्त्रियां […] … धीरज धारण करें …

… करती हैं। … स्त्रियां … जिस … करती हैं … करती हैं। वे … हैं और वे समाजमें दुःख … हैं। जो … हैं वे … दूर हों और जो … हैं वे … दूर हों। इस तरह … स्त्रियोंका … हुए हों और … समाज शुद्ध हो। … सब … पालन … हो … और … रीतिसे … गृहस्थाश्रमका … है।

मंत्र ६३ और ६४ में कहा है कि […] … पति दीर्घायु हो … इच्छा हो, … कभी अपने पति का … न करें। … दीर्घायुका चिन्तन करती रहे। […] जैसे … रहते हैं … वैसे ही … रहें। पत्नीके लिये एक मात्र पति और पतिके लिये एक मात्र पत्नी … होनी है … स्त्रियोंके लिये एक मात्र पति और … के लिये एकमात्र … होकर रहें। … उत्पन्न न हो। … रहें। इस प्रकार […] … करके … रहें और […] … करें। इस तरह … और … सुखसे रहें और … गृहस्थ … करें।

आगे मं० ६५ व ६७ तक के तीन मंत्रोंमें … कहा है कि जो … (कृत्या) … किये हों जो (दुष्कृतं, दुरितं) जो दुराचार … हुए हों जो (मलं) अतीव … तथा (दुरितं) बुरे व्यवहार … हों वे सबके सब … हैं, … इस (…) … और … और (…) इसे … है। … यह नियम है कि … में … के … मनुष्योंका … है। … किसी न किसी … दुःख … करते हैं … रोग … होते हैं। … ऐसा … उनके …

बनानेका उपदेश करता चाहिये और शुद्ध पवित्र और मलके लिये योग्य बनानेका यत्न प्रत्येक गृहस्थीको करना चाहिये। पूर्व समयमें दोष होनेसे तो भी उसकी विशेष चिन्ता करनेमें समय व्यतीत न करते हुए आगेके समयमें आत्मशुद्धि करनेके प्रयत्नमें दत्तचित्त होना चाहिये। इस तरह शुद्ध और पवित्र बनकर गृहस्थियोंको अपना जीवन व्यतीत करना चाहिये।

बालोंकी पवित्रता।

स्त्रियोंके बालोंकी स्वच्छता और पवित्रता करनेका उपदेश मंत्र १८ और १९ में किया है। (अस्याः केश्यं मलमपसिंचत् । मं. १८) अर्थात् इस स्त्रीके बालोंका मलको दूर करे। यह प्रतिदिनका काम है। स्त्रीको उचित है कि वह अपने बाल धोकर उत्तम स्वच्छ तेल लगावे और कंगवेसे सब बाल स्वच्छ करे और फिर बालोंका प्रबन्ध यथा रीतिसे करे। चार या आठ दिनोंमें एक या दो बार अपने बाल किसी मलनिवारक साबुन पानी के साथ धोकर पवित्र करके पानी दूर करके बालोंको सुखावे और फिर कंघा करके यथाप्रमाणका अपनी प्रबंध करे। केशोंकी निर्मलता रखना स्त्रियोंके लिये एक आवश्यक कर्म है। जिस स्त्रीके बालोंसे दुर्गंधी आती है वह भी किसी धर्मकर्मके लिये अयोग्य समझी जाती है। इसलिये स्त्रीका केशप्रसाधन कर्म एक अत्यंत आवश्यक कर्म है।

स्त्रीके (अपाद् अपाद् यक्ष्म नाशयिष्यसि । मं. १९) मलका अंग और अवयवसे मल अथवा रोगबीजको दूर करना चाहिये। क्योंकि स्त्री राष्ट्रीय संतानोंकी जननी है। वह यदि मलिन अपवित्र अथवा रोगयुक्त रहेगी तो राष्ट्रकी भविष्य संतान भी वैसी ही होगी। इसलिये स्त्रियोंके शरीर पवित्र नीरोग और उत्तम होने चाहिये जिससे उत्तम उत्तमोत्तम निरोगी रहें। सब मल जलसे दूर होता है यह सत्य है इस-लिये जलस्थान पवित्र रखनेका यत्न होना चाहिये। नहीं तो जलस्थानोंमें लोग स्नान करेंगे और पीनेके जलमें ही वह मल जावेगा और जिस जलसे पवित्रता होनेवाली है वही जल अपवित्रता और रोगकी अवस्था बढेगी। इसलिये कहा है कि (आपः मलं वा प्रापन् । मं. २०) जलस्थानमें मल न प्राप्त हो अर्थात् सब जलस्थान स्वच्छ पवित्र और निर्मल रहें। आजकल तालाबोंमें कूपोंमें नदियोंमें तथा अन्यान्य जलाशयोंमें प्रायः स्नान करते हैं कपडे धोते हैं और अन्य प्रकारसे भी अपवित्र करते हैं और वही सब लोग पीनेका पानी भी लाते हैं। इससे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। अतः वेदका यह आदेश गृहस्थियोंको अवश्य स्मरण रखना चाहिये। किसी भी जलस्थानमें किसी प्रकारसे मनुष्य मलिनता न करें। जलस्थानको पवित्र स्वच्छ और नीरोगी अवस्थामें रखें। और ऐसे शुद्ध जलका उपयोग करके अपने शरीरका आरोग्य साधन करें। जलकी स्वच्छतापर मनुष्योंका और पशुपक्षियोंका आरोग्य निर्भर है यह जानकर सब लोग इस वैदिक आदेशको विशेष स्मरण रखें।

(अ. मं. भा. पृ. १४)

पुष्टिका साधन

इस द्वितीय सूक्तके ४ थे मंत्रमें गृहस्थियों को पुष्टिका साधन कहा गया है। इससे किस अन्नका सेवन करना चाहिये इसका उपदेश हमें मिलता है। (पृथिव्याः पयसा) पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले दूधका सेवन करना चाहिये। तथा (ओषधीनां पयसा) औषधियोंके दूधका सेवन करना चाहिये। यहां औषधियोंका रस और भूमिका रस ये दो ही रस गृहस्थियोंके भोजनके लिये कहे हैं। औषधियोंके रसका सब जानते ही हैं। औषधी फल फूल पत्ते आदिकोंका सेवन मनुष्य करते ही हैं। गृहस्थियोंको चाहिये कि वे पुष्टिकारक औषधियोंको बढावें और उनका सेवन करके पुष्ट और हृष्ट बनें। भूमिका रस ग्रहण करनेको भी इस मंत्रमें कहा है। भूमिका रस एक तो शुद्ध और पवित्र स्रोतका जल है दूसरा भूमिका रस धान्य आदि भी है। अस्तु इस तरह शुद्ध जल शुद्ध अन्न और शुद्ध फलादि का सेवन करना चाहिये। यहां पाठक स्मरण रखें कि किसी भी स्थानमें पशुके मांसका भोजन मनुष्योंके लिये नहीं कहा है। अर्थात् मांसका भोजन मानवोंके लिये वैदिक मर्यादाके अनुकूल नहीं है। हमने जहां जहां भोजनका विषय वेदमें देखा है वहां वहां किसी भी स्थानपर हमने मांसका नामतक देखा नहीं है। परंतु वहां धान्य आदि वनस्पति फलमूल आदिका ही संकेत देखा है अतः हम कह सकते हैं कि वैदिक भोजन शुद्ध निर्दोष भोजन अर्थात् शाक भोजन ही है। इस शाक भोजन से ही (वार्चं वर्धय) बलको प्राप्त करो यह वेदका आदेश है।

आगेके ७१ वे मंत्रमें भी यहां पुरुष किस प्रकार व्यवहार करें इस विषयका उत्तम उपदेश है यह कोष्टक इससे स्पष्ट होगा—

पुरुष	स्त्री
अमः	सा
साम	ऋक् (वाणी)
द्यौः	पृथिवी

यहां स्त्री और पुरुष आपसमें एकमतसे रहें यह उत्तम उप-देश है । ऋग्वेदके मंत्रको साम और आलापक साम गायन करनेसे साम मंत्र होता है । वस्तुतः ऋग्मंत्र और साममंत्र एक ही है । इसी तरह स्त्री और पुरुष एक ही हैं । केवल एक स्थानपर सौम्य गुणोंका विकास और दूसरे स्थानपर उग्र गुणोंका विकास है । यही भाव स्त्रीको पृथ्वी और पुरुषको द्युलोक बताकर वर्णन किया है । स्त्री पुरुष इस प्रकारके एकमतसे साथ रहें । आपसमें शत्रुता आदि कुछ भी न हो । आत्मन्त प्रसन्नताके साथ सब गृहस्थधर्मके आचारव्यवहार करें । वे दोनों [इह संभवाव प्रजां आजनयावह । मं ७१] यहां सन्तान उत्पन्न कर उनका निर्माण करें । उनके बालकोंके सुसंस्कारसे संपन्न करें और सब प्रकार की उन्नति युक्त हों । दोनोंको प्रयत्न इस प्रकार करना चाहिये कि सब प्रकारका अभ्युदय और निःश्रेयस उत्तम रीतिसे सिद्ध हो ।

(अप्रजाः अभिजान्तु) आगे सन्तानरहित स्त्री ही स्त्रीको प्राप्त करनेकी इच्छा करें । वीर्य रहनेवाला प्रयत्न न करने-वाला और विवाहित होनेकी इच्छा न करें । क्योंकि ऐसे आलसी आचारहीन ही अप्रयुक्त सन्तान होंगे और उनमें जातिकी उन्नति होनेका कारण असंभव समझना । (सुदानवः पाकयान्तु) उत्तम दान देनेवाले परोपकार करनेवाला मानव समाजका भला करनेके लिये आत्मसमर्पण करनेवाले ही पुत्र प्राप्तिके इच्छुक हों क्योंकि ऐसे लोगोंके शुभसंस्कार पुत्रोंमें आ सकते हैं और शुभसन्तान उत्पन्न होनेसे राष्ट्रका तथा मानव समाजका भला हो सकता है । इसलिये उत्तम दान देनेवाले विवाहित होकर संतान उत्पन्न करें और जो दान न करनेवाले स्वार्थी हों वे अविवाहित रहें । (आ-रिष्-असू वाससा समेमहि । मं ७२) अपने प्राणोंको सुरक्षित रखते हुए वस्त्र प्राप्त करनेके लिये वे स्त्री पुरुष यत्न करें । हरएक स्त्री पुरुषको उचित है कि वे वस्त्र वस्त्र प्राप्त करें कोई कमजोर निर्बल न रहे । बल प्राप्त करके जगतके व्यवहार युद्धमें आगे बढकर विजय प्राप्त करें । अपुरुषार्थवृत्ति कोई धारण न करें । सब लोग पुरुषार्थी बनें और अपने अपने कर्तव्य करते रहें ।

आशीर्वाद ।

अन्तिम तीन मन्त्रोंमें नवविवाहित वधूवरको शुभ आशी-र्वाद दिया है । मंत्र ७३ में कहा है कि संबंधी और प्रति-वासी बरातमें सम्मिलित हुए हों वे अपने अपने घर जाने के पूर्व (ते अस्यै प्रजावत् वर्चः दधतु । मं ७३) वे इस शुभसम्बन्धके लिये प्रजायुक्त तेज देवें अर्थात् इसको सुप्रजा निर्माण हो और इससे उत्तम कुलोन्नति हो ऐसा शुभाशीर्वाद देवें और पश्चात् व अपने घर वापस चले जावें ।

जो स्त्रियां इस बरातमें आयी हों वे अपने घर जानेसे पूर्व प्रसन्न और मन शान्त होनेका शुभाशीर्वाद देवें और (अमतरस्य यथा अनुयन्तु) सविताके मार्गसे जानेवाले दम्पती सुमंगल रीतिसे देखि येहभ आचरण करें इस भी तथा वह (विराट् सुप्रजा) विशेष प्रकाशसे युक्त उत्तम प्रजायुक्त होवे, ऐसा सुंदर आशीर्वाद देवें और पश्चात् अपने घरको वापस जावें । बरातमें आये लोग शुभाशी-र्वाद दिये बिना वापस न जावें ।

विवाहित स्त्री अर्थात् वधूपत्नी (दीर्घायुरस्या यः पतिः) दीर्घायु और शतायु बननेका प्रयत्न करे । ऐसा आचरण करे कि जिससे पतिका दीर्घजीवी बने । (शुभा कुलगा सुमुन्ना) उत्तम ज्ञान प्राप्त करनेका यत्न करे । हरएक स्त्री सुविद्या प्राप्त करके उत्तम सुस्वभावसे युक्त बने । अपने पतिके घरमें जाकर (गृहपत्नी) उस घरकी स्वामिनी बनकर वहां रहे । स्वामिनी-घरकी देखभाल करनेका उसका अधिकार है । इसमें (सविता दीर्घं आयुः कृणोतु । मं ७५) सविता दीर्घ आयु बनावे । इस प्रकार दीर्घायु बनकर अपने पतिके घरमें वह विराजे ।

अथर्ववेदका चौदहवें काण्डमें विवाहविषयक दो सूक्त हैं । इन सूक्तोंके सब मंत्रोंका आशय यह है, जो पाठक इन मंत्रों का मनन करेंगे वे इससे भी अधिक बोध प्राप्त कर सकते हैं । पाठकोंसे यहां हमारा निवेदन है कि वेदके जो उपदेश इन मंत्रोंमें दिये हैं उनका मननपूर्वक स्मरण करें और उनके प्रयत्नसे आचरणमें आनेका यत्न करें क्योंकि वेदका ज्ञान केवल अध्ययनसे ही सिद्ध नहीं होता प्रत्युत आचरण करने से ही सिद्ध हो सकता है ।

सब लोगोंका गृहस्थाश्रम धर्मानुकूल हो और वह उनको सुख देकर जगत् का उपकार करनेवाला बने ।

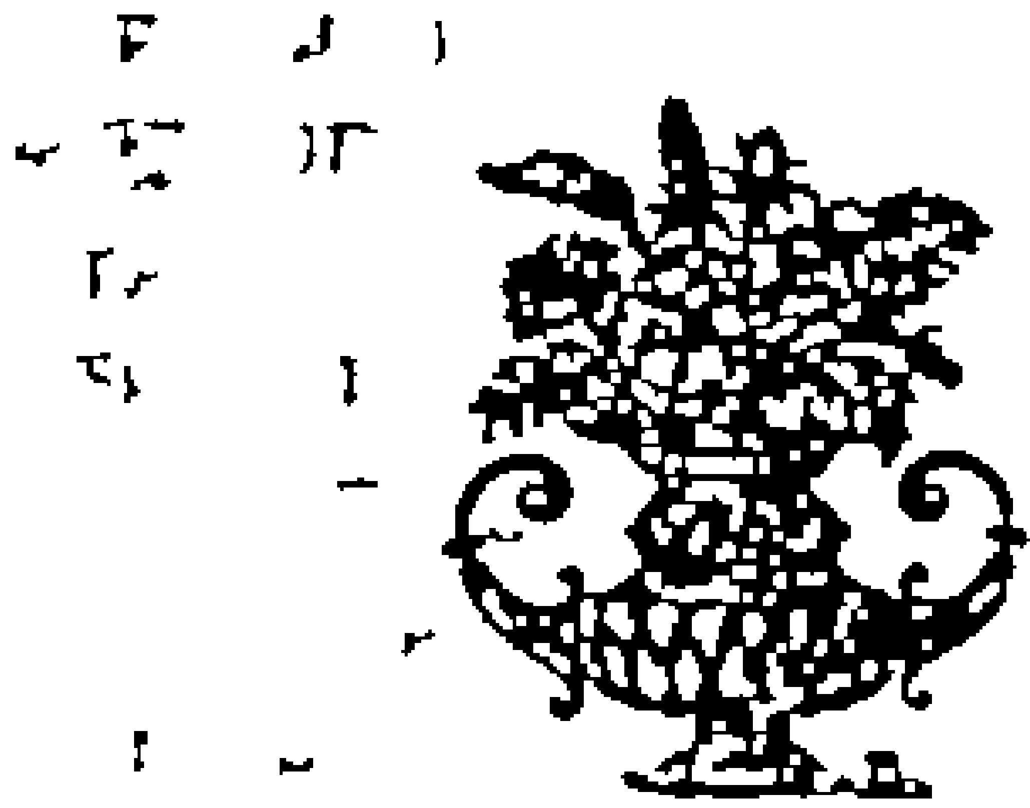
चतुर्दश काण्ड समाप्त ।

— —

चतुर्दश काण्डकी विषयसूची

चतुर्दश काण्ड समाप्त ॥ १४ ॥

—•—



ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

पञ्चदशं काण्डम् ।

लेखक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

साहित्यवाचस्पति वेदाचार्य गीतालंकार

अध्यक्ष-स्वाध्याय मण्डल आनन्दाश्रम किल्ला पारडी (जि सूरत)

तृतीय वार

संवत् २००७ शाक १८७२ सन १९५०



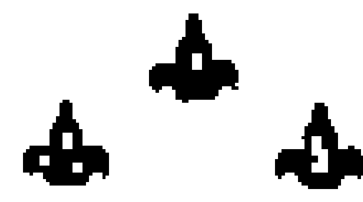
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

पञ्चदश काण्ड।

इस पञ्चदश काण्डका विषय 'व्रात्य' है। इस काण्डमें वस्तुतः व्रात्य विषयक एक ही सूक्त है परंतु इसके १८ पर्याय हैं। अथर्ववेदका तृतीय विभाग काण्ड १३ से काण्ड १८ तक है और इस विभागका यह तीसरा सूक्त है। इस विभागके काण्डोंका लक्षण यह है कि प्रत्येक काण्डमें एक ही विषयके सूक्त हुआ करते हैं। वैसा अन्य काण्डोंके सूक्तोंमें विविध देवताओंके अनेक विषय होते हैं, वैसा इस विभागके काण्डोंमें नहीं है। इस विभागके एक एक काण्डमें एक ही विषयके सब सूक्त रहते हैं।

इस काण्डका प्रारंभ 'व्रात्य' शब्दसे हुआ है। इस काण्डमें 'अध्यात्म'का विषय है; अतः इसकी देवता भी अध्यात्म ही है और यहां का 'व्रात्य' शब्द 'आत्मा परमात्मा, ब्रह्म परब्रह्म' का वाचक है इसलिये यही मंगलसूचक व्रात्य शब्द इस काण्डके प्रारंभमें आया है, मानो यही इस काण्डका मंगलाचरण है। अब हम इस सूक्तके पर्यायोंके देवता और छन्दोंका विचार करते हैं।

पर्याय	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१	८	अथर्वा	अध्यात्मं व्रात्यः	१ साम्नी पंक्तिः, २ द्विप साम्नी बृहती, ३ एकप यजुर्ब्राह्म्यनुष्टुप्, एकप विराड् गायत्री ५ साम्नी अनुष्टुप्, ६ त्रिप प्राजापत्या बृहती, ७ आसुरी पंक्तिः ८ द्विप अनुष्टुप्
२	२८ (४)	अथर्वा	अध्यात्मं व्रात्यः	प्र. १-४, ४ प, १ प साम्नी अनुष्टुप्; द्वि. १ ३ ४ साम्नी त्रिष्टुप् तृ. १ द्विपदार्षी पंक्तिः; च. १ ३, ४ द्वि. ब्रा. गायत्री, पं. १ ४ द्विप आर्षी जगती, प. २ साम्नी पंक्तिः ष. ६ आसुरी गायत्री; स. १—७ पदपंक्तिः म. १-८ त्रिप प्राजा. बृहती, द्वि. २ एकप उष्णिक् तृ. २ आर्षी भुरिक् त्रिष्टुप्, च. २ आर्षी पराऽनुष्टुप् तृ. ३ विराडार्षी पंक्तिः तृ. ४ निचृदार्षी पंक्तिः।
३	११			१ पिपीलिकमध्या गायत्री; २ साम्नी उष्णिक्, ३ याजुषी जगती; ४ द्विप आर्षी उष्णिक् ५ आर्षी बृहती, ६ आसुरी अनुष्टुप्; ७ साम्नी गायत्री, ८ आसुरी पंक्तिः ९ आसुरी जगती, १० प्राजापत्या त्रिष्टुप्, ११ विराड् गायत्री।
४	१८ (६)			प्र. १ ५ ६ दैवी जगती; प्र. २ ३ ४ प्राजापत्या गायत्री, द्वि. १ द्वि. ३ आर्षी अनुष्टुप्, तृ. १ ४ द्विप प्राजापत्या जगती, द्वि. २ प्राजापत्या पंक्तिः, तृ. २ आर्षी गायत्री, तृ. ३ साम्नार्षी त्रिष्टुप्, द्वि. ४ साम्नी त्रिष्टुप्, द्वि. ५ प्राजापत्या बृहती; तृ. ५ ६ द्विप आर्षी पंक्तिः, द्वि. ६ आर्षी उष्णिक्।



प्रजाका रञ्जन करनेवाला राजा।

सोऽरज्यत् ततो राजन्योऽजायत ॥ १ ॥
स विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत् ॥ २ ॥
विशां च वै स सबन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्य
च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥
स विशोऽनु व्यचलत् ॥ १ ॥
तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् ॥ २ ॥
सभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च प्रियं धाम
भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

अथर्व कां० १५ सू० ८-९

वह प्रजाका रंजन करने लगा। अतः वह राजन्य (क्षत्रिय—राजा) हुआ। वह प्रजा, बन्धुबान्धव और अन्नादि भोगोंको प्राप्त हुआ। जो इसका तत्व जानता है वह प्रजा बन्धुबान्धव अन्नादि भोग आदिका प्रियस्थान होता है॥ वह प्रजाओंके अनुसरने लगा। अतः सभा समिति, सेना और धनकोष उसके अनुकूल हुए। जो इसका तत्व जानता है वह सभा, समिति सेना और धनकोष का प्रिय स्थान बनता है॥"

मुद्रक तथा प्रकाशक— वसंत श्रीपाद सातवळेकर B. A.
भारतमुद्रणालय स्वाध्याय-मण्डल किल्ला पारडी (जि. सूरत)



अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

पञ्चदश काण्ड।

इस पञ्चदश काण्डका विषय 'व्रात्य' है। इस काण्डमें वस्तुतः व्रात्य विषयक एक ही सूक्त है परंतु इसके १८ पर्याय हैं। अथर्ववेदका तृतीय विभाग काण्ड १३ से काण्ड १८ तक है और इस विभागका यह तीसरा सूक्त है। इस विभागके काण्डोंका लक्षण यह है कि प्रत्येक काण्डमें एक ही विषयके सूक्त हुआ करते हैं। जैसा अन्य काण्डोंके सूक्तोंमें विविध देवताओंके अनेक विषय होते हैं वैसा इस विभागके काण्डोंमें नहीं है। इस विभागके एक एक काण्डमें एक ही विषयके सब सूक्त रहते हैं।

इस काण्डका प्रारंभ 'व्रात्य' शब्दसे हुआ है। इस काण्डमें 'अध्यात्म'का विषय है; अतः इसकी देवता भी अध्यात्म ही है और यहां का 'व्रात्य' शब्द 'आत्मा परमात्मा, ब्रह्म परब्रह्म' का वाचक है इसलिये यही मंगलसूचक व्रात्य शब्द इस काण्डके प्रारंभमें आया है, मानो यही इस काण्डका मंगलाचरण है। अब हम इस सूक्तके पर्यायोंके देवता और छंदोंका विचार करते हैं।

पर्याय	मंत्रसंख्या	ऋषिः	देवता	छन्द
१	८	अथर्वा	अध्यात्मं व्रात्यः	१ साम्नी पंक्तिः; २ द्विपदा साम्नी बृहती; ३ एकपदा यजुर्ब्राह्मी अनुष्टुप्; ४ एकपदा विराड् गायत्री; ५ साम्नी अनुष्टुप्; ६ त्रिपदा प्राजापत्या बृहती; ७ आसुरी पंक्तिः; ८ त्रिपदा अनुष्टुप्
२	२८ (४)	अथर्वा	अध्यात्मं व्रात्यः	प्र. १-४, ४ प., १ च. साम्नी अनुष्टुप्; द्वि. १, २, ४ साम्नी त्रिष्टुप्; तृ. १ द्विपदा आर्षी पंक्तिः; च. १ १, द्वि. मा. गायत्री; प्र. १ ४ द्विपदा आर्षी जगती; प्र. २ साम्न्युष्णिक्; च. ६ आसुरी गायत्री; प्र. १—४ पदपंक्तिः; प्र. १-४ त्रिपदा प्राजा. बृहती; द्वि. २ एकपदा उष्णिक्; तृ. २ आर्षी भुरिक् त्रिष्टुप्; च. २ आर्षी परानुष्टुप्; तृ. ३ विराड्गायत्री पंक्तिः; तृ. ४ निचृद्गायत्री पंक्तिः।
३	११		,,	१ पिपीलिकमध्या गायत्री; २ साम्नी उष्णिक्; ३ याजुषी जगती; ४ द्विपदा आर्ची उष्णिक्; ५ आर्ची बृहती; ६ आसुरी अनुष्टुप्; ७ साम्नी गायत्री; ८ आसुरी पंक्तिः; ९ आसुरी जगती; १० प्राजापत्या त्रिष्टुप्; ११ विराड् गायत्री।
४	१८ (६)			प्र. १, ५, ६ दैवी जगती; प्र. २, ३, ४ प्राजापत्या गायत्री; द्वि. १ द्वि. ३ आर्ची अनुष्टुप्; तृ. १, ४ द्विपदा प्राजापत्या जगती; द्वि. २ प्राजापत्या पंक्तिः; तृ. २ आर्ची गायत्री; तृ. ३ भौमार्ची त्रिष्टुप्; द्वि. ४ साम्नी त्रिष्टुप्; द्वि. ५ प्राजापत्या बृहती; तृ. ५, ६ द्विपदा आर्ची पंक्तिः; द्वि. ६ आर्ची उष्णिक्।

५	१९ (७)	अथर्वा	व्रात्यः	प्र. १ त्रिप. समविषमा गायत्री; द्वि. १ त्रिप. भुरिक् त्रिष्टुप्; तृ. १–७ द्विप. प्राजापत्यानुष्टुप्; प्र. २ त्रिप. स्वराट् प्राजापत्या पङ्क्तिः; द्वि. २–४,६ त्रिप. ब्राह्मी गायत्री; प्र. ३,४,६ त्रिपदा ककुप्; प्र. ५,७ त्रिपदा विषमा गायत्री; द्वि. ५ निचृद्विषमा गायत्री; द्वि. ७ विराट्।
६	२६ (९)		अध्यात्मं व्रात्यः	प्र. १ २ आसुरी पङ्क्तिः; प्र. ३–६ ९ आसुरी बृहती; प्र. ८ परोष्णिक्; द्वि. १,६ आर्ची पङ्क्तिः; प्र. ७ आर्ची उष्णिक्; द्वि. २ ८ साम्नी त्रिष्टुप्; द्वि. ३ साम्नी पङ्क्तिः; द्वि. ५, ८ आर्ची त्रिष्टुप्; द्वि. ७ साम्नी अनुष्टुप्; द्वि. ९ आर्ची अनुष्टुप्; तृ. १ आर्ची पङ्क्तिः; तृ. २ ४ निचृद् बृहती; तृ. ३ प्राजापत्यानुष्टुप्; तृ. ५ ६ विराट् बृहती; तृ. ७ आर्ची बृहती; तृ. ९ विराड् बृहती।
७	५	"		१ त्रिप. निचृद् गायत्री; २ एकप. विराड् बृहती; ३ विराडुष्णिक्; ४ एकप. गायत्री; ५ पङ्क्तिः।
८	३	अथर्वा	अध्यात्मं व्रात्यः	१ साम्नी उष्णिक्; २ प्राजापत्यानुष्टुप्; ३ आर्ची पङ्क्तिः।
९	३	"	"	१ आसुरी जगती; २ आर्ची गायत्री; ३ आर्ची पङ्क्तिः।
१०	११		"	१ द्विप. साम्नी बृहती; २ त्रिप. आर्ची पङ्क्तिः; ३ द्विप. प्राजापत्या पङ्क्तिः; ४ त्रिप. वर्धमाना गायत्री; ५ त्रिप. साम्नी बृहती; ६ ८ १० द्विप. आसुरी गायत्री; ७ ९ साम्नी उष्णिक्; ११ आसुरी बृहती।
११	११	"		१ दैवी पङ्क्तिः; २ द्विप. पूर्वत्रिष्टुबतिशक्वरी; ३–६, ८ १० त्रिप. आर्ची बृहती (१० भुरिक्); ७ ९ द्विप. प्राजापत्या बृहती; ११ द्विप. आर्ची अनुष्टुप्।
१२	११		"	१ त्रिप. गायत्री; २ प्राजा. बृहती; ३ ४ भुरिक् वा अनुष्टुप् (४ साम्नी); ५ ६ ९ १० आसुरी गायत्री; ८ विराड् गायत्री; ७ ११ त्रिप. आर्ची त्रिष्टुप्।
१३	१४ (९)			प्र. १ साम्नी उष्णिक्; द्वि. १ ३ प्राजा. अनुष्टुप्; प्र. २–४ आसुरी गायत्री; द्वि. २ ४ साम्नी बृहती; प्र. ५ त्रिपदा निचृद् गायत्री; द्वि. ५ द्विप. विराड् गायत्री; ६ प्राजा. पङ्क्तिः; ७ आसुरी जगती; ८ सतः पङ्क्तिः; ९ अक्षर पङ्क्तिः।

१४	१२(११)	अथर्वा	अध्यात्मम् व्रात्यः	प्र. १ त्रिपदा अनुष्टुप्; द्वि. १-११ द्विपदा आसुरी गायत्री (द्वि. ६-९ भुरिक्प्राजापत्या अनुष्टुप्); प्र. २, ५ पुरउष्णिक्; प्र. ३ अनुष्टुप्; प्र. ४ प्रस्तारपङ्क्तिः; प्र. ६ स्वराड् गायत्री; प्र. ७, ८ आर्ची पङ्क्तिः; प्र. १० भुरिङ्नागी गायत्री; प्र. ११ प्राजापत्या त्रिष्टुप्,
१५	९	,,	,,	१ दैवी पङ्क्तिः, २ आसुरीबृहती; ३, ४, ७, ८ प्राजापत्या अनुष्टुप् (४, ७, ८ भुरिक्); ५, ६ द्विपदा साम्नी बृहती; ९ विराड् गायत्री।
१६	७	,,	,,	१, ३ साम्नी उष्णिक्; २, ४, ५ प्राजापत्या उष्णिक्; ६ याजुषी त्रिष्टुप्; ७ आसुरी गायत्री।
१७	१०	,,		१—५ प्राजापत्या उष्णिक्; २, ७ आसुरी अनुष्टुप्; ३ याजुषी पङ्क्तिः; ४ साम्नी उष्णिक्; ६ याजुषी त्रिष्टुप्; ८ त्रिपदा प्रतिष्ठार्ची पङ्क्तिः; ९ द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप्; १० साम्नी अनुष्टुप्।
१८	५			१ दैवी पङ्क्तिः; २, ३ आर्ची बृहती; ४ आर्ची अनुष्टुप्; ५ साम्नी उष्णिक्।

२२

इस काण्डकी कुल मन्त्र संख्या २२ है। इस काण्डका ऋषि अथर्वा है क्योंकि यहां विशेष रीतिसे उल्लेख नहीं होता, वहां अथर्ववेदके सूक्तोंका अथर्वा ऋषि हुआ करता है।

यद्यपि इस सब काण्डकी देवता व्रात्य (अध्यात्म) है तथापि स्थानस्थानपर कई मन्त्रोंमें अन्यान्य देवतावाचक नाम आये हैं वहां वेही मन्त्रोक्त देवता मानना उचित है। परंतु इन देवताओंका आखिर अन्तमें आत्मामें किंवा अध्यात्ममें अर्थात् आत्मा देवता में ही पर्यवसान होता है यह बात भूलना नहीं चाहिये।

यह सब काण्ड एक ही देवताका होनेसे यद्यपि इस एक सूक्तमें १८ पर्याय हैं तथापि उनका मिलकर एक ही सूक्त होनेसे इन मंत्रोंका अर्थ देनेके पश्चात् ही अन्तमें उनका मिलकर एकत्र स्पष्टीकरण करेंगे। क्यों कि उनका संबंध अत्यंत घनिष्ठ है। आशा है कि यह विवरण पाठकोंके लिये बोधप्रद सिद्ध होगा।





अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

पञ्चदशं काण्डम्

अध्यात्म प्रकरण।

(१)

व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत् ॥ १ ॥
स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत्तत्प्राजनयत् ॥ २ ॥
तदेकमभवत्तल्ललाममभवत्तन्महदभवत्तज्ज्येष्ठमभवत्तद्ब्रह्माभवत्तत्तपोऽभवत्तत्सत्यमभवत्तेन प्राजायत ॥ ३ ॥
सोऽवर्धत स महानभवत्स महादेवोऽभवत् ॥ ४ ॥

---

१ [१] (व्रात्यः ईयमानः आसीत्) व्रात्य अर्थात् समुदायका हित करनेवाला समूहपति चलता फिरता था (सः प्रजापतिं समैरयत्) उसने प्रजापालकको उत्तम प्रेरणा दी ॥ १ ॥ (सः प्रजापतिः) उस प्रजापतिने (आत्मन् सुवर्णं अपश्यत्) आत्मामें उत्तम तेजस्वी वर्णयुक्त देखा । और (तत् प्र अजनयत्) उसने उसको प्रकट किया ॥ २ ॥

(तत् एकं अभवत्) वह एक होगया (तत् ललामं अभवत्) वह विलक्षण हुआ (तत् महत् अभवत्) वह बडा हुआ, (तत् ज्येष्ठं अभवत्) वह श्रेष्ठ हुआ (तत् ब्रह्म अभवत्) वह ब्रह्म हुआ (तत् तपः अभवत्) वह तपोमय हुआ (तत् सत्यं अभवत्) वह सत्य हुआ (तेन प्र अजायत) उसके द्वारा प्रकट हुआ ॥ ३ ॥

(सः अवर्धत) वह बढ गया (सः महान् अभवत्) वह बडा हुआ (स महादेवः अभवत्) वह महादेव अर्थात् बडा देव हुआ ॥ ४ ॥ (सः देवानां ईशां परि ऐत्) वह सब लोगों देवोंका अधिष्ठाता हुआ (स ईशानः अभवत्) वही

स देवानामीशां पर्यैत्स ईशानोऽभवत् ॥ ५ ॥ स एकव्रात्योऽभवत्स धनुरादत्त तदेवेन्द्रधनुः
॥ ६ ॥ नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम् ॥ ७ ॥ नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति लोहितेन
द्विषन्तं विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति ॥ ८ ॥

[२]

स उदतिष्ठत्स प्राचीं दिशमनु व्यचलत् ॥ १ ॥
तं बृहच्च रथन्तरं चादित्याश्च विश्वे च देवा अनुव्यचलन् ॥ २ ॥
बृहते च वै स रथन्तराय चादित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्य आ वृश्चते य एवं विद्वांसं
व्रात्यमुपवदति ॥ ३ ॥ बृहतश्च वै स रथन्तरस्य चादित्यानां च विश्वेषां च देवानां प्रियं
धाम भवति तस्य प्राच्यां दिशि ॥ ४ ॥ श्रद्धा पुंश्चली मित्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं
रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥ ५ ॥
भूतं च भविष्यच्च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ॥ ६ ॥
मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः ॥ ७ ॥
कीर्तिश्च यशश्च पुरःसरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद ॥ ८ ॥ (१)
स उदतिष्ठत्स दक्षिणां दिशमनु व्यचलत् ॥ ९ ॥

ईश्वर हुआ ॥ ५ ॥ (सः एक-व्रात्यः अभवत्) वह एकमात्र व्रत समूहोंका स्वामी हुआ (सः धनुः आदत्त) उसने धनुष्य ग्रहण किया (तत् एव इन्द्रधनुः) वही इन्द्रधनुष है ॥ ६ ॥ (अस्य उदरं नील) इसका पेट नीला है और (पृष्ठं लोहितं) पीठ लाल है ॥ ७ ॥

(नीलेन एव) नीले भागसे वह (अप्रियं भ्रातृव्यं प्र ऊर्णोति) अप्रिय शत्रुको घेरता है और (लोहितेन द्विषन्तं विध्यति) लाल भागसे द्वेष करनेवालेको वेधता है, (इति ब्रह्मवादिनः वदन्ति) ऐसा ब्रह्मवादी कहते हैं ॥ ८ ॥

[२] (सः उत् अतिष्ठत्) वह ऊपर उठा। (सः प्राचीं दिशं अनुव्यचलत्) वह पूर्व दिशा की ओर अनुकूल होके चला ॥ १ ॥ (तं बृहत् च रथंतरं च आदित्याः च विश्वे देवाः च अनुव्यचलन्) उसके बृहत्, रथंतर आदित्य विश्वे देव अनुकूल हुए ॥ २ ॥ (यः एवं विद्वांसं व्रात्यं उपवदति) जो ऐसे विद्वान् व्रतधारीको बुरे शब्द बोलता है वह बृहत्, रथन्तर आदित्यों और विश्वेदेवोंका (आ वृश्चते) अपराधी होता है ॥ ३ ॥ (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह बृहत् रथन्तर आदित्य और विश्वेदेवोंका प्रियधाम बनता है। (तस्य प्राच्यां दिशि) उसकी प्राची दिशामें (श्रद्धा पुंश्चली) श्रद्धा स्त्री (मित्रः मागधः) मित्र सूर्य स्तुति करनेवाला (विज्ञानं वासः) विज्ञान वस्त्र, (अहः उष्णीषं) दिन पगडी (रात्री केशाः) रात्री बाल (हरितौ प्रवर्तौ) हिरन कुंडल (कल्मलिः मणिः) तारे मणिके समान होते हैं ॥ ४-५ ॥ (भूतं च भविष्यत् च परिष्कन्दौ) भूत काल और भविष्यकाल ये दोनों उसके रक्षक होते हैं और (मनः विपथं) मन उसका युद्धरथ होता है ॥ ६ ॥ (मातरिश्वा च पवमानः च विपथवाहौ) वायु और पवमान उसके रथके घोडे हैं (वातः सारथी) प्राण उसका सारथी और (रेष्मा प्रतोदः) वायु उसका चाबुक है ॥ ७ ॥ (कीर्तिः च यशः च) कीर्ति और यश उसके (पुरःसरौ) अग्रगामी हैं। (एनं कीर्तिः आगच्छति) इसके पास कीर्ति आ जाती है। इसके पास (यशः आगच्छति) यश आता है ॥ ८ ॥ [1]

[सः] वह उठता है और दक्षिण दिशामें अनुकूल होकर संचार करता है ॥ ९ ॥

स यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च यज्ञश्च यजमानश्च पशवश्चानुव्यचलन् ॥ १० ॥
यज्ञायज्ञियाय च वै स वामदेव्याय च यज्ञाय च यजमानाय च पशुभ्यश्चा वृश्चते य एवं
विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥ ११ ॥ यज्ञायज्ञियस्य च वै स वामदेव्यस्य च यज्ञस्य च
यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति तस्य दक्षिणायां दिशि ॥ १२ ॥
उषाः पुंश्चली मन्त्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ
कल्मलिर्मणिः ॥ १३ ॥
अमावास्या च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ०।० ॥ १४ ॥ (२)
स उदतिष्ठत् स प्रतीचीं दिशमनु व्यचलत् ॥ १५ ॥
स वैरूपं च वैराजं चापश्च वरुणश्च राजानुव्यचलन् ॥ १६ ॥
वैरूपाय च वै स वैराजाय चाद्भ्यश्च वरुणाय च राज्ञ आ वृश्चते य एवं विद्वांसं
व्रात्यमुपवदति ॥ १७ ॥
वैरूपस्य च वै स वैराजस्य चापां च वरुणस्य च राज्ञः प्रियं धाम भवति तस्य प्रतीच्यां
दिशि ॥ १८ ॥ इरा पुंश्चली हसो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ
कल्मलिर्मणिः ॥ १९ ॥
अहश्च रात्री च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ०।० ॥ २० ॥ (३)
स उदतिष्ठत् स उदीचीं दिशमनु व्यचलत् ॥ २१ ॥
स श्यैतं च नौधसं च सप्तर्षयश्च सोमश्च राजानुव्यचलन् ॥ २२ ॥

[च] उसका यज्ञायज्ञिय वामदेव्य, यज्ञ यजमान और [पशवः च अनुव्यचलन्] पशु भी अनुकूल होते हैं ॥ १० ॥ [यः एवं विद्वांसं व्रात्यं उपवदति] जो ऐसे विद्वान् व्रतधारी का अपमान करता है वह यज्ञायज्ञिय वामदेव्य यज्ञ यजमान और पशुओंके विषयमें [आवृश्चते] अपराधी होता है ॥ ११ ॥ [यः एवं वेद] जो इस बातको जानता है वह यज्ञायज्ञिय वामदेव्य यज्ञ यजमान और पशुओंका प्रियधाम बनता है। उसके दक्षिण दिशामें [उषाः पुंश्चली] उषा भी [मन्त्रः मागधः] मन्त्र प्रशंसा करनेवाला विज्ञान वस्त्र दिन पगड़ी रात्री केश किरण कुण्डल तारे मणिके समान होते हैं ॥ १२—१३ ॥ [अमावास्या च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ] अमावास्या और पूर्णिमा उसके सेवक होते हैं, और मन उसका पुरस्थ है। मात और तत्पश्चात् उसके पीछे प्राण सारथी और वायु उसका चाबुक है [आगे पूर्ववत्] ॥ १४ ॥ [२]

(सः) वह उठा और (प्रतीचीं दिशं अनुव्यचलत्) वह पश्चिम दिशा की ओर अनुकूलताके साथ प्रचार करने लगा ॥ १५ ॥ तब उसके वैरूप वैराज, आप् और राजा वरुण अनुकूल हुए ॥ १६ ॥ जो ऐसे विद्वान् व्रतधारीका अपमान करता है, वह वैरूप वैराज आप् और राजा वरुण के प्रति अपराधी होते हैं ॥ १७ ॥ जो यह बात जानता है वह वैरूप वैराज आप्-जल, और राजा वरुण का प्रिय धाम बनता है। उसके लिये पश्चिम दिशामें (इरा पुंश्चली) भूमि भी (हसः मागधः) हास्य प्रशंसक विज्ञान वस्त्र ॥ १९ ॥ (अहः च रात्री च परिष्कन्दौ) दिन और रात्री उसके सेवक होते हैं [आगे पूर्ववत्]

(सः) वह उठा और वह (उदीचीं दिशं) उत्तर दिशामें अनुकूल होकर चला ॥ २१ ॥ (स श्यैतं च नौधसं च राजा सोमः च अनुव्यचलन्) उसके अनुकूल श्यैत नौधस सप्तर्षि और राजा सोम चलने लगे ॥ २२ ॥

१ (अ. ५ आ. प. १५)

श्यैताय च वै स नौधसाय च सप्तर्षिभ्यश्च सोमाय च राज्ञ आ वृश्चते य एवं विद्वांसं
व्रात्यमुपवदति ॥ २३ ॥ श्यैतस्य च वै स नौधसस्य च सप्तर्षीणां च सोमस्य च राज्ञः
प्रियं धाम भवति तस्योदीच्यां दिशि ॥ २४ ॥ विद्युत् पुंश्चली स्तनयित्नुर्मागधो विज्ञानं
वासोऽहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥ २५ ॥ श्रुतं च विश्रुतं च परि-
ष्कन्दौ मनो विपथम् ॥ २६ ॥
मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः ॥ २७ ॥
कीर्तिश्च यशश्च पुरःसरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद ॥ २८ ॥ (४)

(३)

स संवत्सरमूर्ध्वोऽतिष्ठत् तं देवा अब्रुवन् व्रात्य किं नु तिष्ठसीति ॥ १ ॥
सोऽब्रवीदासन्दीं मे सं भरन्त्विति ॥ २ ॥ तस्मै व्रात्यायासन्दीं समभरन् ॥ ३ ॥
तस्या ग्रीष्मश्च वसन्तश्च द्वौ पादावास्तां शरच्च वर्षाश्च द्वौ ॥ ४ ॥
बृहच्च रथन्तरं चानूच्ये३ आस्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्च्ये३ ॥ ५ ॥
ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः ॥ ६ ॥ वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम् ॥ ७ ॥
सामासाद उद्गीथोऽपश्रयः ॥ ८ ॥ तामासन्दीं व्रात्य आरोहत् ॥ ९ ॥ तस्य देवजनाः
परिष्कन्दा आसन्त्संकल्पाः प्रहाय्या३ विश्वानि भूतान्युपसदः ॥ १० ॥

जो इस प्रकारके विद्वान् व्रात्यका अपवाद करता है वह श्वेत नौधस सप्तर्षि और राजा सोमका अपराधी होता है ॥ २३ ॥ जो यह बात जान लेता है वह श्वेत नौधस सप्तर्षि और राजा सोमका प्रिय धाम बनता है ॥ २४ ॥ उसके लिये उत्तर दिशामें (विद्युत् पुंश्चली) बिजली स्त्री (स्तनयित्नुः मागधः) गर्जनेवाला मेघ मगधवासी, विज्ञान वस्त्र, दिन पगडी, रात्री केश, हरित कुण्डल, तारे मणि हैं ॥ २५ ॥ (श्रुत विश्रुत च परिष्कन्दौ) श्रुत विज्ञान ये उसके रक्षक और मन उसका [illegible] है ॥ २६ ॥ श्वास और उच्छ्वास उसके रथके घोडे (इत्यादि पूर्ववत्) ॥ २७ २८ ॥ (४)

[१] [सः संवत्सरं ऊर्ध्वः अतिष्ठत्] वह वर्ष भरतक खडा रहा [तं देवाः अब्रुवन्] उसे देवोंने कहा, [व्रात्य किं नु तिष्ठसि इति] हे व्रती, तू क्यों खडा है ? ॥ १ ॥ [सः अब्रवीत्] उसने कहा, [मे आसन्दीं सं भरन्तु इति] मेरे लिये बैठनेकी कुर्सी लाओ ॥ २ ॥ तब [तस्मै व्रात्याय आसन्दीं समभरन्] उस व्रतीके लिये बैठनेकी चौकी ले आये ॥ ३ ॥ [तस्याः ग्रीष्मः च वसन्तः च] उस चौकी के ग्रीष्म और वसन्त ये [द्वौ पादौ आस्तां] दो पांव थे और [शरत् च वर्षाः च द्वौ] शरद् और वर्षा ये दो पांव थे ॥ ४ ॥ [बृहत् च रथन्तरं च] बृहत् और रथन्तर ये दो [अनूच्ये आस्तां] लम्बाईके फलक थे और [यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्च्ये] यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य ये दो तिरछे फलक थे ॥ ५ ॥ [ऋचः प्राञ्चः तन्तवः] ऋग्वेदके मन्त्र लंबाईके तन्तु थे और [यजूंषि तिर्यञ्चः] यजुर्वेदके मंत्र तिरछे तन्तु थे ॥ ६ ॥ [वेदः आस्तरणं] वेद उसका बिछौना था और [ब्रह्म उपबर्हणं] ब्रह्म—ज्ञान उसका ओढनेका वस्त्र था ॥ ७ ॥ [साम आसादः] साम बैठक था और [उद्गीथः अपश्रयः] उद्गीथ तकिया था ॥ ८ ॥ [तां आसन्दीं व्रात्यः आरोहत्] इस प्रकारकी ज्ञानमयी चौकीपर व्रती चढा ॥ ९ ॥ [देवजनाः तस्य परिष्कन्दाः आसन्] देवजन उसके रक्षक हुए, [संकल्पाः प्रहाय्याः] उसके संकल्प उसके दूत और [विश्वानि भूतानि उपसदः अभवन् एव] सब भूत उसके पास बैठनेवाले थे ॥ १० ॥

मित्राण्येवास्य भूतान्युपसदो भवन्ति य एवं वेद ॥ ११ ॥

(४)

तस्मै प्राच्या दिशः ॥१॥ वासन्तौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् बृहच्च रथंतरं चानुष्ठातारौ ॥२॥ वासन्तावेनं मासौ प्राच्या दिशो गोपायतो बृहच्च रथंतरं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥३॥ (१) तस्मै दक्षिणाया दिशः ॥ ४ ॥ ग्रैष्मौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं चानुष्ठातारौ ॥ ५ ॥

ग्रैष्मावेनं मासौ दक्षिणाया दिशो गोपायतो यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ ६ (२) ॥

तस्मै प्रतीच्या दिशः ॥ ७ ॥ वार्षिकौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् वैरूपं च वैराजं चानुष्ठातारौ ॥ ८ ॥ वार्षिकावेनं मासौ प्रतीच्या दिशो गोपायतो वैरूपं च वैराजं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ ९ (३) ॥

तस्मा उदीच्या दिशः ॥ १० ॥ शारदौ मासौ गोप्तारावकुर्वञ्छ्यैतं च नौधसं चानुष्ठातारौ ११ शारदावेनं मासावुदीच्या दिशो गोपायतः श्यैतं च नौधसं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १२ (४) ॥

तस्मै ध्रुवायाः दिशः ॥ १३ ॥ हैमनौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् भूमिं चाग्निं चानुष्ठातारौ ॥१४॥ हैमनावेनं मासौ ध्रुवाया दिशो गोपायतो भूमिश्चाग्निश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥१५(५)

[यः एवं वेद] जो यह तत्त्व जानता है [मित्राणि भूतानि अस्य उपसदः भवन्ति एव] सब भूत इसके साथ बैठनेवाले साथी—मित्र—होते हैं इसमें संदेह नहीं ॥ ११ ॥

[४] (तस्मै प्राच्याः दिशः) उसके लिये पूर्व की दिशा ॥ १ ॥ [वासन्तौ मासौ गोप्तारौ अकुर्वन्] वसन्त ऋतुके दो मास रक्षक बनाये [बृहत् च रथन्तर च अनुष्ठातारौ] बृहत् और रथन्तर सेवक बनाये ॥ २ ॥ (यः एवं वेद) जो यह जानता है उसके प्राची दिशा वसन्त ऋतुके दो महिने रक्षक होते हैं और बृहत् तथा रथन्तर सेवक होते हैं ॥ ३ ॥[१]

उसके लिये दक्षिण की दिशा ॥ ४ ॥ ग्रीष्म ऋतुके दो मास रक्षक बनाये और यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य अनुचर हुए हैं ॥ ५ ॥ जो यह जानता है उसके दक्षिण दिशा, ग्रीष्म ऋतुके दो महिने रक्षक होते हैं और यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव्य अनुचर होते हैं ॥ ६ ॥ [२]

उसके लिये पश्चिम की दिशा ॥ ७ ॥ वर्षा ऋतुके दो मास रक्षक बनाये और वैरूप तथा वैराज अनुचर हुए ॥ ८ ॥ जो यह जानता है, उसके लिये पश्चिम दिशा वर्षाके दो महिने रक्षक होते हैं और वैरूप तथा वैराज अनुचर होते हैं ॥९॥ [३]

उसके लिये उत्तर की दिशा ॥ १० ॥ शरदृतुके दो मास रक्षक बनाये, और वैरूप तथा वैराज अनुचर ॥ ८ ॥ जो यह जानता है उसके लिये पश्चिम दिशा वर्षाके दो महिने रक्षक होते हैं और वैरूप तथा वैराज अनुचर होते हैं ॥ ९ ॥ [३]

उसके लिये उत्तर की दिशा ॥ १० ॥ शरदृतुके दो मास रक्षक बनाये और श्यैत तथा नौधस अनुचर हुए ॥ ११ ॥ जो यह जानता है उसके लिये उत्तर दिशा शरदृतुके दो महिने रक्षक होते हैं और श्यैत और नौधस अनुचर होते हैं ॥१२॥

उसके लिये ध्रुव दिशा ॥ १३ ॥ हेमन्त ऋतुके दो मास रक्षक बनाये और भूमि तथा अग्नि उसके अनुचर बने ॥१४॥ जो यह जानता है उसके ध्रुवदिशा हेमन्तके दो महिने रक्षक हैं और भूमि तथा अग्नि अनुचर होते हैं ॥ १५ ॥ [५]

तस्मा ऊर्ध्वाया दिशः ॥ १६ ॥
शैशिरौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् दिवं चादित्यं चानुष्ठातारौ ॥ १७ ॥ शैशिरावेनं मासावूर्ध्वाया
दिशो गोपायतो द्यौश्चादित्यश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १८ ॥ (६)

[५]

तस्मै प्राच्या दिशो अन्तर्देशाद् भवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १ ॥
भव एनमिष्वासः प्राच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः ॥ २ ॥
नास्य पशून् न समानान् हिनस्ति य एवं वेद ॥ ३ ॥ (१)
तस्मै दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशाच्छर्वमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ४ ॥
शर्व एनमिष्वासो दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो
नेशानः । ० ॥ ५ ॥ (२)
तस्मै प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशात् पशुपतिमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ६ ॥
पशुपतिरेनमिष्वासः प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारमकुर्वन् ०।० ॥ ७ ॥ (३)
तस्मा उदीच्या दिशो अन्तर्देशादुग्रं देवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ८ ॥
उग्र एनं देव इष्वास उदीच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारमकुर्वन् ०।० ॥ ९ ॥ (४)

उसके लिये ऊर्ध्व दिशा ॥ १६ ॥ शिशिर ऋतुके दो मास रक्षक बनाये और द्यु तथा आदित्य अनुचर बने ॥ १७ ॥ जो यह बात जानता है उसके लिये ऊर्ध्व दिशा शिशिर ऋतुके दो महिने रक्षक होते हैं और द्युलोक तथा आदित्य अनुचर होते हैं ॥ १८ ॥ [६]

[५] (तस्मै प्राच्याः दिशः अन्तर्देशात्) उसके लिये पूर्व दिशाके अन्तर्देशसे (इष्वासं भवं अनुष्ठातारं अकुर्वन्) धनुर्धारी भवको अनुष्ठाता बनाया ॥ १ ॥ (यः एवं वेद) जो इस बातको जानता है (एनं इष्वासः भवः) इसका धनुर्धारी भव (प्राच्याः दिशः अन्तर्देशात्) प्राची दिशा के अन्तर्देशसे (अनुष्ठाता अनुतिष्ठति) अनुष्ठाता होकर रहता है। और (न शर्वः न भवः ईशानः एनं) न शर्व भव अथवा ईशान इसका घात करता है ॥ २ ॥ (न अस्य पशून् समानान् हिनस्ति) न इसके पशुओं और इसके समान मनुष्योंकी हिंसा करता है ॥ ३ ॥ [१]

उसके लिये दक्षिण दिशाके अन्तर्देशसे धनुर्धारी शर्वको अनुष्ठाता बनाया ॥ ४ ॥ जो यह बात जानता है उसका धनुर्धारी शर्व दक्षिण दिशाके अन्तर्देशसे अनुष्ठाता होकर रहता है और न शर्व भव अथवा ईशान इसका घातपात करता है और न पशुओं और मनुष्योंकी हिंसा करता है ॥ ५ ॥ (२)

उसके लिये (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम दिशाके अन्तर्देशसे (पशुपतिं इष्वासं) पशुपतिको धनुर्धर अनुष्ठाता बनाया ॥ ६ ॥ जो यह जानता है उसका धनुर्धारी पशुपति पश्चिम दिशासे अनुष्ठाता होकर रहता है और इसका न शर्व भव अथवा ईशान घातपात करता है और न इसके पशुओं और मनुष्योंकी हिंसा करता है ॥ ७ ॥ [३]

उसके लिये (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशाके अन्तर्देशसे (उग्रं देवं इष्वासं) उग्र देवको धनुर्धारी अनुष्ठाता बनाया ॥ ८ ॥ जो इस बातको जानता है उसका धनुर्धारी उग्रदेव उत्तर दिशा के अन्तर्देशसे अनुष्ठाता होकर रहता है और इसका न शर्व भव और ईशान घातपात करता है और न इसके पशुओं और मनुष्योंकी हिंसा करता है ॥ ९ ॥ (४)

तस्मै ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशाद् रुद्रमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १० ॥
रुद्र एनमिष्वासो ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारमकुर्वन्०।० ॥ ११ ॥ (५)
तस्मा ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशान्महादेवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १२ ॥
महादेव एनमिष्वास ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारमकुर्वन् ०।० ॥ १३ ॥ [६]
तस्मै सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्य ईशानमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १४ ॥
ईशान एनमिष्वासः सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्योऽनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः ॥१५॥
नास्य पशून् न समानान् हिनस्ति य एवं वेद ॥ १६ ॥ (७)

[६]

स ध्रुवां दिशमनु व्यचलत् ॥ १ ॥
तं भूमिश्चाग्निश्चौषधयश्च वनस्पतयश्च वानस्पत्याश्च वीरुधश्चानुव्यचलन् ॥ २ ॥
भूमेश्च वै सो ऽग्नेश्चौषधीनां च वनस्पतीनां च वानस्पत्यानां च वीरुधां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ (१)
स ऊर्ध्वां दिशमनु व्यचलत् ॥ ४ ॥
तमृतं च सत्यं च सूर्यश्च चन्द्रश्च नक्षत्राणि चानुव्यचलन् ॥ ५ ॥

उसके लिये (ध्रुवाया दिशः) ध्रुव दिशाके अन्तर्देशसे (रुद्र इष्वासं) रुद्रको अनुष्ठाता बनाया ॥ १० ॥ जो इस बातको जानता है उसका अनुष्ठाता रुद्र ध्रुव दिशाके अन्तर्देशसे अनुष्ठाता होकर रहता है और न इसका शर्व भव और ईशान घातपात करता है और न इसके पशुओं और बान्धवों की हिंसा करता है ॥ ११ ॥ (५)

उसके लिये (ऊर्ध्वाया दिशः) ऊर्ध्वदिशाके अन्तर्देशसे (महादेव इष्वासं) महादेवको अनुष्ठाता बनाया ॥ १२ ॥ जो इस बात को जानता है उसका अनुष्ठाता महादेव ऊर्ध्वदिशाके अन्तर्देशसे अनुष्ठाता होकर रहता है और न इसका शर्व भव और ईशान घात करता है और न इसके पशुओं और बान्धवों की हिंसा करता है ॥ १३ ॥ (६)

उसके लिये (सर्वेभ्यः अन्तर्देशेभ्यः) सब अन्तर्देशोंसे (ईशानं इष्वासं०) ईशान को अनुष्ठाता बनाया ॥ १४ ॥ जो इस बातको जानता है उसका अनुष्ठाता ईशान सब दिशाओंके अन्तर्देशोंसे अनुष्ठाता होकर रहता है। न इसका शर्व भव अथवा ईशान घात करते हैं और न इसके पशुओं और बन्धुबान्धवों की हिंसा करते हैं ॥ १५—१६ ॥ (७)

[६] [सः ध्रुवां दिशमनु व्यचलत्] वह ध्रुव दिशाकी ओर अनुकूलतासे चला ॥ १ ॥ इसलिये [तं भूमिः च अग्निः च ओषधयः च वनस्पतयः च] उसके अनुकूल भूमि अग्नि ओषधि वनस्पति [वानस्पत्याः च वीरुधः च अनुव्यचलन्] चले और वह वृक्ष अनुकूल होकर रहे ॥ २ ॥ [यः एवं वेद] जो यह जानता है [सः भूमेः च वै अग्नेः च] वह भूमि और अग्निका [ओषधीनां च वनस्पतीनां] ओषधि और वनस्पतियों का [वानस्पत्यानां च वीरुधां] पौधे और बड़े वृक्षोंका [प्रियं धाम भवति] प्रिय स्थान होता है ॥ ३ ॥ [१]

[सः ऊर्ध्वां दिशं] वह ऊर्ध्व दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला ॥ ४ ॥ इसलिये (तं ऋतं च सत्यं च सूर्यः च चन्द्रः च नक्षत्राणि च) उसके अनुकूल ऋत सत्य सूर्य चन्द्र और नक्षत्र हुए ॥ ५ ॥ जो यह जानता है वह ऋत

ऋतस्य च वै स सत्यस्य च सूर्यस्य च चन्द्रस्य च नक्षत्राणां च प्रियं धाम भवति य
एवं वेद ॥ ६ (२)

स उत्तमां दिशमनु व्यचलत् ॥ ७ ॥ तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्य-
चलन् ॥ ८ ॥ ऋचां च वै स साम्नां च यजुषां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति य एवं
वेद ॥ ९ (३)

स बृहतीं दिशमनु व्यचलत् ॥ १० ॥ तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्य-
चलन् ॥ ११ ॥ इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम
भवति य एवं वेद ॥ १२ (४)

स परमां दिशमनु व्यचलत् ॥ १३ ॥ तमाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च दक्षिणाग्निश्च यज्ञश्च
यजमानश्च पशवश्चानुव्यचलन् ॥ १४ ॥

आहवनीयस्य च वै स गार्हपत्यस्य च दक्षिणाग्नेश्च यज्ञस्य च यजमानस्य च पशूनां च
प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १५ (५)

सोऽनादिष्टां दिशमनु व्यचलत् ॥ १६ ॥ तमृतवश्चार्तवाश्च लोकाश्च लौक्याश्च मासाश्चार्ध-
मासाश्चाहोरात्रे चानुव्यचलन् ॥ १७ ॥

ऋतूनां च वै स आर्तवानां च लोकानां च लौक्यानां च मासानां चार्धमासानां चाहोरात्रयोश्च
प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १८ ॥ (६)

सत्य सूर्य चन्द्र और नक्षत्रोंका प्रिय धाम बनता है ॥ ६ ॥ [२]

(सः उत्तमां दिशं) वह उत्तम दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला ॥ ७ ॥ इसलिये (तं ऋचः च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म च) उसके अनुकूल ऋचा साम यजु और ब्रह्म अर्थात् अथर्ववेद हुए ॥ ८ ॥ जो यह जानता है वह ऋचा साम, यजु और ब्रह्ममंत्रोंका प्रिय धाम होता है ॥ ९ ॥ [३]

(सः बृहतीं दिशं) वह बृहती दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला ॥ १० ॥ इसलिये (तं इतिहासः च पुराणं च गाथाः च नाराशंसीः च) इतिहास, पुराण गाथा और नाराशंसी हुए ॥ ११ ॥ जो यह जानता है वह इतिहास, पुराण गाथा और नाराशंसीका प्रिय धाम होता है ॥ १२ ॥ [४]

(सः परमां दिशं) वह परम दिशा की ओर अनुकूल होकर चला ॥ १३ ॥ इसलिये (तं आहवनीयः च गार्हपत्यः च दक्षिणाग्निः च यज्ञः च यजमानः च पशवः च) अनुकूल आहवनीय गार्हपत्य दक्षिणाग्नि यज्ञ यजमान और पशु हो गये ॥ १४ ॥ जो यह जानता है वह आहवनीय गार्हपत्य दक्षिणाग्नि, यज्ञ यजमान और पशुओंका प्रिय धाम बनता है ॥ १५ ॥ [५]

(सः अनादिष्टां दिशं०) वह अनादिष्ट दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला ॥ १६ ॥ इसलिये (तं ऋतवः च आर्तवाः च लोकाः च लौक्याः च मासाः च अर्धमासाः च अहोरात्रे च) उसके अनुकूल ऋतु और ऋतुसंबंधी पदार्थ, लोक और लोकोंके संबंधी पदार्थ महिने पक्ष और दिनरात अनुकूल हुए ॥ १७ ॥ जो यह जानता है वह ऋतु, आर्तव, लोक, लौक्य मास पक्ष और अहोरात्र का प्रिय धाम होता है ॥ १८ ॥ [६]

सोऽनावृत्तां दिशमनु व्यचलत् ततो नावर्त्स्यन्नमन्यत ॥१९॥
स दितिं चादितिं चेडां चेन्द्राणीं चानुव्यचलन् ॥२०॥
दितेश्च वै सोऽदितेश्चेडायाश्चेन्द्राण्याश्च प्रियं धामं भवति य एवं वेद ॥२१॥ (७)
स दिशोऽनु व्यचलत् ॥२२॥ तं विराडनु व्यचलत् सर्वे च देवाः सर्वाश्च देवताः ॥२३॥
विराजश्च वै स सर्वेषां च देवानां सर्वासां च देवतानां प्रियं धामं भवति य एवं वेद ॥२४॥
स सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत् ॥ २४ ॥
तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्यचलन् ॥ २५ ॥
प्रजापतेश्च वै स परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य च प्रियं धामं भवति य एवं वेद ।२६। (९)

[७]

स महिमा सद्रुर्भूत्वान्तं पृथिव्या अगच्छत् स समुद्रोऽभवत् ॥ १ ॥
तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च श्रद्धा च वर्षं भूत्वानुव्यवर्तयन्त ॥ २ ॥
ऐनमापो गच्छन्त्यैनं श्रद्धा गच्छत्यैनं वर्षं गच्छति य एवं वेद ॥ ३ ॥
तं श्रद्धा च यज्ञश्च लोकश्चान्नं चान्नाद्यं च भूत्वाभिपर्यावर्तन्त ॥ ४ ॥

(सः अनावृत्तां दिशम्) वह अनावृत दिशाके अनुकूल होकर चला और (ततः न आवर्त्स्यन् अमन्यत) वहांसे वापस न लौटनेका विचार उसने किया ॥ १९ ॥ अतः (तं दितिः च अदितिः इडा च इन्द्राणी च) उसके अनुकूल दिति अदिति इडा और इन्द्राणी हो गये ॥ २० ॥ जो यह जानता है वह दिति, अदिति, इडा और इन्द्राणी का प्रिय धाम बनता है ॥ २१ ॥ [७]

(सः दिशः अनुव्यचलत्) वह सब दिशाओंमें अनुकूल होकर चला इसलिये (तं विराट् सर्वे देवाः च सर्वाः च देवताः च) उसके विराट और सब देव और देवता अनुकूल होगये ॥ २२ ॥ जो यह जानता है वह विराट सब देव और देवताओं का प्रिय धाम बनता है ॥ २३ ॥ [८]

(सः सर्वान् अन्तर्देशान् अनु) वह सब अन्तर्देशोंमें अनुकूल होकर चला ॥ २४ ॥ अतः (तं प्रजापतिः च परमेष्ठी च पिता च पितामहः च अनु) उसके प्रजापति परमेष्ठी पिता और पितामह अनुकूल होकर चले ॥ २५ ॥ जो यह जानता है वह प्रजापति परमेष्ठी पिता और पितामहका प्रिय धाम बनता है ॥ २६ ॥ (९)

[७] (सः महिमा सद्रुः भूत्वा) वह बडा समर्थ गतिमान होकर (पृथिव्याः अन्तं अगच्छत्) पृथ्वीके अन्ततक गया। और (सः समुद्रः अभवत्) वह समुद्र हुआ ॥ १ ॥ (तं प्रजापतिः च परमेष्ठी च पिता च पितामहः च आपः च श्रद्धा च वर्षं च भूत्वा अनुव्यवर्तयन्त) उसके साथ प्रजापति परमेष्ठी पिता पितामह श्रद्धा और वृष्टि होकर रहने लगे ॥ २ ॥ (यः एवं वेद) जो यह जानता है (एनं आपः आगच्छन्ति) इसको जल प्राप्त होते हैं (एनं श्रद्धा आगच्छति) इसको श्रद्धा प्राप्त होती है (एनं वर्षं आगच्छति) इसको वृष्टि प्राप्त होती है ॥ ३ ॥ (तं श्रद्धा च यज्ञः च लोकः च अन्नं च अन्नाद्यं च भूत्वा अभिपर्यावर्तन्त) उसके चारों ओर श्रद्धा यज्ञ लोक अन्न और खानपान रहने लगे ॥ ४ ॥

ऐनं श्रद्धा गच्छत्यैनं यज्ञो गच्छत्यैनं लोको गच्छत्यैनमन्नं गच्छत्यैनमन्नाद्यं गच्छति य एवं वेद ॥ ५ ॥

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

जो यह जानता है (एवं श्रद्धा आगच्छति) इसको श्रद्धा प्राप्त होती है (एवं यज्ञः आगच्छति) इसको यज्ञ प्राप्त होता है (एवं लोकः आगच्छति) इसको लोक प्राप्त होता है, (एवं अन्नं आगच्छति) इसको अन्न प्राप्त होता है, और (एवं अन्नाद्यं आगच्छति) इसको खानपान प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः।

[८]

सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत ॥१॥ स विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत् ॥ २ ॥ विशां च वै स सबन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

[९]

स विशोऽनु व्यचलत् ॥ १ ॥ तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् ॥ २ ॥ सभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

[१०]

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥
श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय नावृश्चते तथा राष्ट्राय नावृश्चते ॥ २ ॥
अतो वै ब्रह्म च क्षत्रं चोदतिष्ठतां ते अब्रूतां कं प्र विशावेति ॥ ३ ॥

---

[१] [८] (सः अरज्यत) वह प्रजाका रंजन करने लगा, अतः वह (राजन्यः अजायत) राजा—क्षत्रिय—हो गया ॥ १ ॥ (सः सबन्धून् विशः अन्नं अन्नाद्यं अभ्युदतिष्ठत्) वह बन्धुओं समेत सब प्रजाओं और अन्न तथा खानपानको प्राप्त हुआ ॥ २ ॥ जो यह बात जानता है वह बन्धुबान्धवोंके समेत सब प्रजाजनोंका तथा अन्न और खानपानका प्रियधाम होता है ॥ ३ ॥

[९] (सः विशः अनुव्यचलत्) वह प्रजाओंके अनुकूल होकर चला ॥ १ ॥ अतः (तं सभा च समितिः च) उसके सभा और समिति (सेना च सुरा च अनुव्यचलन्) सेना और धनकोष अनुकूल हुए ॥ २ ॥ जो यह सब जानता है वह सभा समिति सेना और धनकोषका प्रियधाम बनता है ॥ ३ ॥

[१०] (तत् यस्य राज्ञः गृहान् एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः) जिस राजाके घर ऐसा विद्वान् व्रतधारी अतिथि (आगच्छेत्) आवे ॥ १ ॥ (एनं आत्मनः श्रेयांसं मानयेत्) इसको अपनेसे अधिक श्रेष्ठ मानकर इसका सम्मान करे। (तथा) ऐसा करनेसे (क्षत्राय न आवृश्चते) क्षात्र शक्तिके नहीं कटता और (तथा राष्ट्राय न आवृश्चते) ऐसा करनेसे राष्ट्रकी हानि भी नहीं होती ॥ २ ॥ (अतः वै ब्रह्म च क्षत्रं च उदतिष्ठतां) इससे ज्ञान और क्षात्र उत्पन्न होता है, (ते अब्रूताम्) वे दोनों कहते हैं कि (कं प्रविशाव इति) हम कहां प्रवेश करें ॥ ३ ॥

अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्रा विशत्विन्द्रं क्षत्रं तथा वा इति ॥ ४ ॥
अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्राविशदिन्द्रं क्षत्रम् ॥ ५ ॥ इयं वा उ पृथिवी बृहस्पतिर्द्यौरेवेन्द्रः
॥ ६ ॥ अयं वा उ अग्निर्ब्रह्मासावादित्यः क्षत्रम् ॥ ७ ॥
ऐनं ब्रह्म गच्छति ब्रह्मवर्चसी भवति ॥ ८ ॥ यः पृथिवीं बृहस्पतिमग्निं ब्रह्म वेद ॥ ९ ॥
ऐनमिन्द्रियं गच्छतीन्द्रियवान् भवति ॥ १० ॥ य आदित्यं क्षत्रं दिवमिन्द्रं वेद ॥ ११ ॥

[११]

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥ २ ॥ यदेनमाह व्रात्य क्वाऽवात्सीरिति पथ एव तेन देवयानानव रुन्द्धे ॥ ३ ॥ यदेनमाह व्रात्योदकमित्यप एव तेनाव रुन्द्धे ॥ ४ ॥
यदेनमाह व्रात्य तर्पयन्त्विति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते ॥ ५ ॥
यदेनमाह व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्त्विति प्रियमेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ६ ॥

(अतो वै बृहस्पतिं एव ब्रह्म प्रविशतु) इससे निःसन्देह बृहस्पतिके अन्दर ही ब्रह्मज्ञान प्रविष्ट होवे और (तथा वै इन्द्रं क्षत्रं इति) वैसा ही इन्द्रमें क्षात्र प्रविष्ट होवे ॥ ४ ॥ (अतो वै बृहस्पतिं एव ब्रह्म प्राविशत् इन्द्रं क्षत्रं) इसीलिये बृहस्पतिमें ज्ञान और इन्द्रमें क्षात्र प्रविष्ट हुआ ॥ ५ ॥ (इयं वै उ पृथिवी बृहस्पतिः) निश्चयसे यह पृथ्वी बृहस्पति है और (द्यौः एव इन्द्रः) द्युलोक इन्द्र है ॥ ६ ॥ (अयं वै उ अग्निः ब्रह्म) यह अग्नि निःसन्देह ब्रह्म है और (असौ आदित्यः क्षत्रं) यह आदित्य क्षात्र है ॥ ७ ॥ (यः पृथिवीं बृहस्पतिं) जो पृथ्वीको बृहस्पति और (अग्निं ब्रह्म वेद) अग्निको ब्रह्म जानता है (एनं ब्रह्म आगच्छति) इसके पास ब्रह्मज्ञान आजाता है और वह (ब्रह्मवर्चसी भवति) ब्रह्मज्ञानसे तेजस्वी होता है ॥ ८—९ ॥ (यः आदित्यं क्षत्रं) जो आदित्यको क्षात्र और (दिवं इन्द्रं वेद) द्युलोकको इन्द्र जानता है (एनं इन्द्रियं आगच्छति) इसके पास इंद्रकी शक्ति आजाती है और वह (इन्द्रियवान् भवति) इन्द्रकी शक्तिसे युक्त होता है ॥ १–११ ॥

[११] (तद् एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः) इस प्रकारका विद्वान् व्रतपालक अतिथि (यस्य गृहान् आगच्छेत्) जिसके घर आवे ॥ १ ॥ (स्वयं एनं अभ्युदेत्य ब्रूयात्) स्वयं उसके समीप जाकर बोले कि (व्रात्य क्व अवात्सीः) हे व्रतधारीजी! आप कहां रहते हैं? (व्रात्य, उदकं) हे व्रतधारीजी! यह जल आपके लिये है। (व्रात्य तर्पयन्तु) हे व्रती! ये मेरे लोग आपकी तृप्ति करें। (व्रात्य यथा ते प्रियं तथा अस्तु) हे व्रतधारीजी! जो आपको प्रिय हो वही होवे। (व्रात्य यथा ते वशः तथा अस्तु) हे व्रतधारी जी! जो आपकी इच्छा हो वैसा ही बने। (हे व्रात्य यथा ते निकामः तथा अस्तु इति) हे व्रती! जो आपकी अभिलाषा हो वैसा ही होवे ॥ २ ॥

(यद् एनं आह व्रात्य क्व अवात्सीः इति) जो इसको कहा जाता है कि हे व्रतस्थ आप कहां रहते हैं? तो (तेन देवयानान् पथः एव अवरुन्द्धे) उस प्रश्नसे वह देवयान मार्गोंको अपने आधीन करता है ॥ ३ ॥ (यद् एनं आह) जो इसको कहता है कि (व्रात्य उदक इति) हे व्रतधारी यह जल आपके लिये है (तेन अपः एव अवरुन्द्धे) उस वचनसे पर्याप्त जल उसको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥ (यद् एनं आह, व्रात्य तर्पयन्तु इति) जो इसको कहता है कि हे व्रती मेरे लोग आपकी तृप्ति करें तो (तेन प्राणं वर्षीयांसं कुरुते) उस वचनसे वह अपने प्राणको अतिदीर्घ करता है ॥ ५ ॥ (यद् एनं आह व्रात्य यथा ते प्रियं तथा अस्तु इति) जो इसको कहता है कि हे व्रती! जो तेरे लिये प्रिय हो वही होवे (तेन प्रियं एव अव रुन्द्धे) इससे वह प्रिय पदार्थोंको अपने वशमें करता है ॥ ६ ॥

१ (अ. सु. भा. कां १५)

ऐनं प्रियं गच्छति प्रियः प्रियस्य भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥
यदेनमाह व्रात्य यथा ते वशस्तथास्त्विति वशमेवैव तेनाव रुन्द्धे ॥ ८ ॥
ऐनं वशो गच्छति वशी वशिनां भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥
यदेनमाह व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति निकाममेव तेनाव रुन्द्धे ॥ १० ॥
ऐनं निकामो गच्छति निकामे निकामस्य भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

[१२]

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य उद्धृतेष्वग्निष्वधिश्रितेऽग्निहोत्रेऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्याति सृज होष्यामीति ॥ २ ॥ स चातिसृजेज्जुहुयान्न चाति
सृजेन्न जुहुयात् ॥ ३ ॥ स य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति ॥ ४ ॥ प्र पितृयाणं पन्थां
जानाति प्र देवयानम् ॥ ५ ॥ न देवेष्वा वृश्चते हुतमस्य भवति ॥ ६ ॥
पर्यस्यास्मिँल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति ॥ ७ ॥
अथ य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति ॥ ८ ॥
न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानम् ॥ ९ ॥

(यः एवं वेद) जो यह जानता है (एनं प्रियं आगच्छति) इसको प्रिय प्राप्त होता है और (प्रियस्य प्रियः भवति) वह प्रियका प्रिय होता है ॥ ७ ॥ (यत् एनं आह व्रात्य यथा ते वशः तथा अस्तु इति) जो इससे कहता है कि हे व्रती! जो तेरी इच्छा हो वैसा ही होवे (तेन वशं एव अवरुन्धे) उससे वह सबको अपने वशमें करता है ॥ ८ ॥ जो यह जानता है (वशः एनं आगच्छति) उसके वश सब होते हैं, और वह (वशीनां वशी भवति) वशी लोगोंमें वश करनेवाला होता है ॥ ९ ॥ (यत् एनं आह व्रात्य यथा ते निकामः तथा अस्तु इति) जो इससे कहता है कि हे व्रती! जो तेरी अभिलाषा है वह होवे तो उससे (तेन निकामं एव अवरुन्धे) वह अपनी अभिलाषा प्राप्त करता है ॥ १० ॥ (एनं निकामः आगच्छति) इसकी अभिलाषा पूर्ण होती है वह जो जानता है उसके (निकामस्य निकामे भवति) अभिलाषाकी पूर्णता होती है ॥ ११ ॥

[१२] (तत् यस्य गृहे) जिसके घरमें (एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः) ऐसा विद्वान् व्रतधारी अतिथि (उद्धृतेषु अग्निषु अग्निहोत्रे अधिश्रिते आगच्छेत्) अग्नि प्रदीप्त होकर अग्निहोत्र होनेके समय आवे ॥ १ ॥ (स्वयं एव अभ्युदेत्य ब्रूयात्) स्वयं इसके सन्मुख जाकर कहे कि (व्रात्य अतिसृज होष्यामि इति) हे व्रती! मुझे आज्ञा दो मैं हवन करूंगा ॥ २ ॥ (स च अतिसृजेत्, जुहुयात्) वह आज्ञा देवे तो हवन करे (न च अतिसृजेत् न जुहुयात्) यदि न आज्ञा देवे तो न हवन करे ॥ ३ ॥ (सः यः एवं विदुषा व्रात्येन अतिसृष्टो जुहोति) जो इस प्रकारके विद्वान् व्रतधारीकी आज्ञासे हवन करता है, (पितृयाणं देवयानं च पंथां प्रजानाति) वह पितृयान और देवयान मार्गको जानता है ॥ ४-५ ॥

(यः एवं विदुषा व्रात्येन अतिसृष्टः जुहोति) जो इस प्रकारके विद्वान् व्रतधारीकी आज्ञासे हवन करता है (अस्य हुतं भवति) उसका अग्निहोत्र सफल होता है और (देवेषु न आवृश्चते) देवोंमें उसका कोई दोष नहीं होता। (अस्मिन् लोके) इस लोकमें (अस्य आयतनं परिशिष्यते) इसका आश्रय सुरक्षित रहता है ॥ ६-७ ॥

(अथ यः एवं विदुषा व्रात्येन अनतिसृष्टो जुहोति) और जो इस प्रकार के विद्वान् व्रतधारीकी आज्ञाके बिना हवन करता है ॥ ८ ॥ वह (न पितृयाणं न देवयानं पंथां जानाति) न पितृयाण मार्गको और न देवयान मार्गको जानता है ॥ ९ ॥

आ देवेषु वृश्चते अहुतमस्य भवति ॥१०॥
नास्यास्मिँल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति ॥११॥

(१२)

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य एकां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ १ ॥
ये पृथिव्यां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ २ ॥
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो द्वितीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ ३ ॥
येऽन्तरिक्षे पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ४ ॥
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यस्तृतीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ ५ ॥
ये दिवि पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ६ ॥
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यश्चतुर्थीं रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ ७ ॥
ये पुण्यानां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ८ ॥
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽपरिमिता रात्रीरतिथिर्गृहे वसति ॥ ९ ॥
य एवापरिमिताः पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥१०॥
अथ यस्याव्रात्यो व्रात्यब्रुवो नामबिभ्रत्यतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥११॥

(अस्य अहुतं भवति) इसका हवन विफल होता है ॥ १ ॥ (देवेषु आवृश्चते) देवोंका अपराधी होता है (अस्मिन् लोके अस्य आयतनं शिष्यते) इस लोकमें इसका आधार नहीं रहता (यः) जो ऐसे विद्वानकी आज्ञाके बिना हवन करता है ॥११॥

[१२] (तद् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः एकां रात्रिं वसति) जिसके घरमें इस प्रकारका विद्वान् व्रतधारी अतिथि एक रात्री भर रहता है ॥ १ ॥ (ये पृथिव्यां पुण्या लोकाः) जो पृथ्वीपर पुण्य लोक हैं, (तान् तेन एव अवरुन्धे) उन सबको इससे प्राप्त करता है ॥ २ ॥ (तद् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः द्वितीयां रात्रिं वसति) जिसके घरमें इस प्रकारका व्रतधारी विद्वान् अतिथि दूसरी रात्री भर रहता है ॥ ३ ॥ (तेन) इससे (ये अन्तरिक्षे पुण्याः लोकाः) जो अन्तरिक्षमें पुण्य लोक हैं (तान् एव अवरुन्धे) उनको प्राप्त करता है ॥ ४ ॥ (तद् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः तृतीयां रात्रिं वसति) जिसके घरमें इस प्रकार विद्वान् व्रतधारी अतिथि तीसरी रात्रीभर रहता है ॥ ५ ॥ (ये दिवि पुण्याः लोकाः) जो द्युलोकमें पुण्य लोक हैं (तान् तेन एव अवरुन्धे) उनको उससे प्राप्त करता है ॥ ६ ॥ (तद् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः चतुर्थी रात्रीं वसति) जिसके घरमें ऐसा विद्वान व्रतधारी अतिथि चतुर्थ रात्रीभर रहता है ॥ ॥ (ये पुण्यानां पुण्य लोकाः) जो पुण्यकर्मोंके पुण्य लोक हैं (तान् तेन एव अवरुन्धे) उनको उससे प्राप्त करता है ॥८॥ (तद् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः अपरिमिताः रात्रीः वसति) जिसके घरमें ऐसा विद्वान् व्रतपालक अतिथि अपरिमित रात्रीतक रहता है ॥ ९ ॥ (ये एव अपरिमिताः पुण्याः लोकाः) जो अपरिमित पुण्य लोक हैं (तान् एव तेन अवरुन्धे) उनको उससे प्राप्त करता है ॥ १० ॥

(अथ यस्य गृहान् अव्रात्यः व्रात्यब्रुवः नामबिभ्रती अतिथिः आगच्छेत्) जिसके घर व्रताचरण न करनेवाला केवल नाम धारी अविद्वान् अतिथि आवे ॥ ११ ॥ (एवं कुर्यात ?) क्या गृहस्थ उसका तिरस्कार करे ? (एनं न च कुर्यात्) इसका

कुर्यादेनं न चैनं कुर्यात् ॥ ११ ॥
अस्यै देवताया उदकं याचामीमां देवतां वासय इमामिमां देवतां परि वेवेष्मीत्येनं परि वेविष्यात् ॥ १३ ॥
तस्यामेवास्य तद् देवतायां हुतं भवति य एवं वेद ॥ १४ ॥

[१४]

स यत् प्राचीं दिशमनु व्यचलन्मारुतं शर्धो भूत्वानुव्यचलन्मनोऽन्नादं कृत्वा ॥ १ ॥
मनसान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २ ॥ स यद् दक्षिणां दिशमनु व्यचलदिन्द्रो भूत्वानुव्य-
चलद् बलमन्नादं कृत्वा ॥ ३ ॥ बलेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ ४ ॥ स यत् प्रतीचीं
दिशमनु व्यचलद् वरुणो राजा भूत्वानुव्यचलदपोऽन्नादीः कृत्वा ॥ ५ ॥ अद्भिरन्नादीभि-
रन्नमत्ति य एवं वेद ॥ ६ ॥
स यदुदीचीं दिशमनु व्यचलत् सोमो राजा भूत्वानुव्यचलत् सप्तर्षिभिर्हुत आहुतिमन्नादीं कृत्वा
॥ ७ ॥ आहुत्यान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद ॥ ८ ॥ स यद् ध्रुवां दिशमनु व्यचलद् विष्णुर्भूत्वा-
नुव्यचलद् विराजमन्नादीं कृत्वा ॥ ९ ॥

तिरस्कार न करे ॥ १२ ॥ गृहस्थ कहे कि (अस्यै देवतायै उदकं याचामि) इस देवताके लिये जलकी याचना करता हूं, (इमां देवतां वासये) इस देवताको घरमें निवास कराता हूं, (इमां इमां देवतां परिवेविष्यात्) इस देवताको परोसता हूं ॥ १३ ॥ (तस्यां एव देवतायां अस्य तद् हुतं भवति) उसी देवतामें उस गृहस्थीका वह हवन होता है (यः एवं वेद) जो यह ज्ञान जानता है ॥ १४ ॥ [अर्थात् व्रातधारी अतिथि घरमें आनेपर वह अपनी उपास्य देवता है ऐसा मानकर सब भोग उसके लिये स्वको समर्पण करनेकी बुद्धिसे उसको देवे। इस प्रकार करनेसे सब हवन उसी देवताको पहुंचता है।]

[१४] (सः यत् प्राचीं दिशं अनुव्यचलत्) वह जब पूर्व दिशाकी ओर चलता है तब (मारुतं शर्धः भूत्वा) मरुतोंका बल होकर और (मनः अन्नादं कृत्वा) मनको अन्न खानेवाला करके (अनुव्यचलत्) चले ॥ १ ॥ (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (अन्नादेन मनसा अन्नं अत्ति) अन्न भक्षण करनेकी मनोभावनासे अन्न खाता है ॥ २ ॥ (सः दक्षिणां०) वह जब दक्षिण दिशाकी ओर चलता है तब वह (इन्द्रः भूत्वा) इन्द्र अर्थात् प्रभु होकर और (बलं अन्नादं कृत्वा) बलको अन्नभक्षक बनाकर (अनुव्यचलत्) चला ॥ ३ ॥ जो यह जानता है वह (अन्नादेन बलेन अन्नं अत्ति) अन्नभक्षक बलसे अन्न खाता है ॥ ४ ॥

(सः प्रतीचीं दिशं) जब वह पश्चिम दिशाकी ओर चलता है तब वह (वरुणः राजा भूत्वा) वरुण राजा बनकर और (अपः अन्नादीः कृत्वा) जल को अन्नभक्षक बनाकर चलता है ॥ ५ ॥ जो यह जानता है वह (अन्नादीभिः अद्भिः अन्नं अत्ति) अन्नभक्षक जलके साथ अन्नभाग करता है ॥ ६ ॥ (सः उदीचीं दिशं) वह जब उत्तर दिशाकी ओर चलता है तब वह (सोमः राजा भूत्वा) सोम राजा बनकर (अन्नादीं आहुतिं कृत्वा) अन्नभक्षक आहुति करके (सप्तर्षिभिः हुतः) सात ऋषियों-रूप इंद्रियों द्वारा-हुत होकर [अनुव्यचलत्] चलता है ॥ ७ ॥ जो यह जानता है वह [आहुत्या अन्नाद्या अन्नं अत्ति] आहुति अन्नभक्षक से भोग करता है ॥ ८ ॥

(सः ध्रुवां) वह जब ध्रुव दिशाकी ओर चलता है तब (विष्णुः भूत्वा) विष्णुरूप बनकर (विराजं अन्नादीं कृत्वा) विराट् पृथ्वीको अन्नभक्षी बनाकर (अनुव्यचलत्) चलता है ॥ ९ ॥ जो यह जानता है वह (विराजा अन्नाद्या अन्नं अत्ति)

विराजान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १० ॥ स यत् पशूननु व्यचलद् रुद्रो
भूत्वानुव्यचलदोषधीरन्नादीः कृत्वा ॥ ११ ॥
ओषधीभिरन्नादीभिरन्नमत्ति य एवं वेद ॥ १२ ॥
स यत् पितॄननु व्यचलद् यमो राजा भूत्वानुव्यचलत् स्वधाकारमन्नादं कृत्वा ॥ १३ ॥
स्वधाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १४ ॥
स यन्मनुष्या३ननु व्यचलदग्निर्भूत्वानुव्यचलत् स्वाहाकारमन्नादं कृत्वा ॥ १५ ॥
स्वाहाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १६ ॥ स यदूर्ध्वां दिशमनु व्यचलद्
बृहस्पतिर्भूत्वानुव्यचलद् वषट्कारमन्नादं कृत्वा ॥ १७ ॥
वषट्कारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १८ ॥
स यद् देवाननु व्यचलदीशानो भूत्वानुव्यचलन्मन्युमन्नादं कृत्वा ॥ १९ ॥
मन्युनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २० ॥
स यत् प्रजा अनु व्यचलत् प्रजापतिर्भूत्वानुव्यचलत् प्राणमन्नादं कृत्वा ॥ २१ ॥
प्राणेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २२ ॥
स यत् सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत् परमेष्ठी भूत्वानुव्यचलद् ब्रह्मान्नादं कृत्वा ॥ २३ ॥
ब्रह्मणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २४ ॥

विराट् रूपी अन्नादसे वह अन्न भक्षण करता है ॥ १० ॥ (सः यत् पशून् अनुव्यचलत्) वह जब पशुओंके अनुकूल होकर चलता है, तब वह (रुद्रः भूत्वा) रुद्र बनकर और (अन्नादीः ओषधीः कृत्वा) अन्न भक्षण करने वाली औषधियां बनाकर (अनुव्यचलत्) चलता है ॥ ११ ॥ जो यह जानता है वह (अन्नादीभिः ओषधीभिः अन्नं अत्ति) अन्न भक्षण करने योग्य औषधियोंके साथ अन्न खाता है ॥ १२ ॥ (सः यत् पितॄन् अनु) वह जब पितरोंके साथ चलता है तब वह (यमः राजा भूत्वा) यम राजा बनकर (स्वधाकारं अन्नादं कृत्वा) स्वधाकारको अन्नभक्षक बनाकर चलता है ॥ १३ ॥

जो यह जानता है वह (अन्नादेन स्वधाकारेण अन्नं अत्ति) अन्नभक्षक स्वधाकारके साथ खाता है ॥ १४ ॥ (सः यत् मनुष्यान् अनुव्यचलत्) वह जब मनुष्योंके प्रति चलता है तब वह (अग्निः भूत्वा) अग्नि होकर (स्वाहाकारं अन्नादं कृत्वा) स्वाहाकारको अन्नभक्षक करके चलता है ॥ १५ ॥ जो यह जानता है वह (स्वाहाकारेण०) स्वाहाकारके साथ अन्नभोग करता है ॥ १६ ॥ (सः यत् ऊर्ध्वां दिशं) वह जब ऊर्ध्व दिशाकी ओर चलता है, तब वह (बृहस्पतिः भूत्वा) बृहस्पति होकर (वषट्कारं अन्नादं कृत्वा) वषट्कारको अन्नभक्षक बनाकर चलता है ॥ १७ ॥ जो यह जानता है वह (वषट्कारेण अन्नादेन) वषट्कारसे अन्नका भोग करता है ॥ १८ ॥ (सः यत् देवान् अनुव्यचलत्) जब वह देवोंके पास जाता है तब वह (ईशानः भूत्वा) ईशान बनकर (मन्युं अन्नादं कृत्वा) उत्साहको अन्नाद बनाकर चलता है ॥ १९ ॥ जो यह जानता है वह (मन्युना) उत्साहके साथ अन्न भोग करता है ॥ २० ॥

(सः यत् प्रजाः अनु) वह जब प्रजाओंके प्रति जाता है तब वह (प्रजापतिः भूत्वा) प्रजापालक बनकर (प्राणं अन्नादं कृत्वा) प्राणको अन्नाद बनाकर चलता है ॥ २१ ॥ जो यह जानता है वह (प्राणेन अन्नादेन) प्राणकी शक्तिसे अन्न भोग करता है ॥ २२ ॥ (सः यत् सर्वान् अन्तर्देशान् अनु) जब वह सब अन्तर्देशोंके प्रति जाता है तब वह [परमेष्ठी भूत्वा] परमेष्ठी होकर [ब्रह्म अन्नादं कृत्वा] ब्रह्मज्ञानको अन्नाद बनाकर चलता है ॥ २३ ॥ जो यह जानता है वह [ब्रह्मणा अन्नादेन अन्नं अत्ति] वह ब्रह्मज्ञानके साथ अन्नादि भोग करता है ॥ २४ ॥

(१५)

तस्य व्रात्यस्य ॥ १ ॥
सप्त प्राणाः सप्तापानाः सप्त व्यानाः ॥ २ ॥
तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामायं सो अग्निः ॥ ३ ॥
तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासौ स आदित्यः ॥ ४ ॥
तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य तृतीयः प्राणो ऽभ्यूढो नामासौ स चन्द्रमाः ॥ ५ ॥
तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य चतुर्थः प्राणो विभूर्नामायं स पवमानः ॥ ६ ॥
तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य पञ्चमः प्राणो योनिर्नाम ता इमा आपः ॥ ७ ॥
तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम त इमे पशवः ॥ ८ ॥
तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य सप्तमः प्राणोऽपरिमितो नाम ता इमाः प्रजाः ॥ ९ ॥

(१६)

तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य प्रथमोऽपानः सा पौर्णमासी ॥ १ ॥
तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य द्वितीयोऽपानः साष्टका ॥ २ ॥ तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य तृतीयोऽपानः
सामावास्या ॥ ३ ॥ तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य चतुर्थोऽपानः सा श्रद्धा ॥ ४ ॥ तस्य व्रात्यस्य।
योऽस्य पञ्चमोऽपानः सा दीक्षा ॥ ५ ॥ तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य षष्ठोऽपानः स यज्ञः ॥ ६ ॥
तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य सप्तमोऽपानस्ता इमा दक्षिणाः ॥ ७ ॥

---

[१५] [तस्य व्रात्यस्य] उस व्रात्यके [सप्त प्राणाः सप्त अपानाः सप्त व्यानाः] सात प्राण सात अपान और सात व्यान हैं ॥ १-२ ॥

[तस्य व्रात्यस्य] उस व्रात्यका [यः अस्य प्रथमः प्राणः] जो [illegible] प्राण है वह [ऊर्ध्वः नाम अग्निः] वह ऊर्ध्व नामक अग्नि है ॥ ३ ॥ उस व्रात्यका [illegible] द्वितीय प्राण है [illegible] असौ स आदित्यः [illegible] प्रौढ नामक वह आदित्य है ॥ ४ ॥ उस व्रात्यका जो तृतीय [illegible] [अभ्यूढः [illegible]] नामक [illegible] है ॥ ५ ॥ उस व्रात्यका जो यह चतुर्थ प्राण है वह [illegible] ॥ ६ ॥ उस व्रात्यका जो पञ्चम [प्रा]ण है वह [योनिः नाम ता] [illegible] ॥ ७ ॥ उस [illegible] है वे [प्रियः [illegible]] नाम त इमे पशवः] प्रिय नामक पशु [illegible] अपरिमितनामक प्रजा हैं ॥ ९ ॥

[१६] [तस्य व्रात्यस्य [illegible] पौर्णमासी है ॥ १ ॥ उस व्रात्यका जो [illegible] है ॥ ३ ॥ उस व्रात्यका जो चतुर्थ [illegible] व्रात्यका जो षष्ठ अपान है वह यज्ञ है [illegible]

(१७)

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य प्रथमो व्यानः सेयं भूमिः ॥ १ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य द्वितीयो व्यानस्तदन्तरिक्षम् ॥२॥ तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य तृतीयो
व्यानः सा द्यौः ॥३॥ तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य चतुर्थो व्यानस्तानि नक्षत्राणि ॥४॥ तस्य
व्रात्यस्य । योऽस्य पञ्चमो व्यानस्त ऋतवः ॥५॥ तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य षष्ठो व्यानस्त
आर्तवाः ॥६॥ तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य सप्तमो व्यानः स संवत्सरः ॥७॥ तस्य व्रात्यस्य ।
समानमर्थं परि यन्ति देवाः संवत्सरं वा एतदृतवोऽनुपरियन्ति व्रात्यं च ॥८॥ तस्य व्रात्यस्य ।
यदादित्यमभिसंविशन्त्यमावास्यां चैव तत्पौर्णमासीं च ॥९॥ तस्य व्रात्यस्य । एकं
तदेषाममृतत्वमित्याहुतिरेव ॥ १० ॥

(१८)

तस्य व्रात्यस्य ॥१॥ यदस्य दक्षिणमक्ष्यसौ स आदित्यो यदस्य सव्यमक्ष्यसौ स चन्द्रमाः ॥२॥
योऽस्य दक्षिणः कर्णोऽयं सो अग्निर्योऽस्य सव्यः कर्णोऽयं स पवमानः ॥३॥ अहोरात्रे नासिके
दितिश्चादितिश्च शीर्षकपाले संवत्सरः शिरः ॥४॥ अह्ना प्रत्यङ् व्रात्यो रात्र्या प्राङ् नमो
व्रात्याय ॥ ५ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः । इति पंचदशं काण्डं समाप्तम्

---

[१७] [तस्य व्रात्यस्य] उस व्रात्यका [यः अस्य] जो इसका [प्रथमः व्यानः] पहिला व्यान है वह [सा इयं भूमिः] यह पृथ्वी है ॥ १ ॥ उस व्रात्यका जो द्वितीय व्यान है वह अन्तरिक्ष है ॥ २ ॥ उस व्रात्यका जो तृतीय व्यान है वह द्यौः है ॥ ३ ॥ उस व्रात्यका जो चतुर्थ व्यान है [तानि नक्षत्राणि] वह नक्षत्र हैं ॥ ४ ॥ उस व्रात्यका जो पांचवां व्यान है [ते ऋतवः] वे ऋतुएं हैं ॥ ५ ॥ उस व्रात्यका जो छठा व्यान है वे [ते आर्तवाः] ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थ हैं ॥ ६ ॥ उस व्रात्यका जो सातवां व्यान है वह संवत्सर है ॥ ७ ॥ उस व्रात्यके [समानं अर्थं] समान अर्थको [देवाः परियन्ति] सब देव घेरते हैं अनुकूल होते हैं [संवत्सरं वै एते ऋतवः अनुपरियन्ति] संवत्सरको निश्चयसे ये ऋतु अनुकूलतासे व्यापते हैं [व्रात्यं च] व्रात्यको भी घेरते हैं ॥ ८ ॥ उस व्रात्यके जो प्राण [यत् आदित्यं अभिसंविशन्ति] प्रविष्ट होते हैं [अमावास्यां च एव तत् पौर्णमासीं च] अमावास्या और पौर्णमासीमें भी वे होते हैं ॥ ९ ॥ [तस्य व्रात्यस्य] उस व्रात्यका [तत् एषां एकं अमृतत्वं] वह इन सबका एक अमरपन है [इति एव आहुः] ऐसा कहते हैं ॥ १० ॥

[१८] [तस्य व्रात्यस्य] उस व्रात्यका [यत् अस्य दक्षिणं अक्षि असौ सः आदित्यः] जो दक्षिण नेत्र है वह सूर्य है [यत् अस्य सव्यं अक्षि असौ सः चन्द्रमाः] जो इसका सव्य नेत्र है वह चन्द्र है ॥ १—२ ॥ जो इसका [दक्षिणः कर्णः] दाहिना कान है [सः अयं अग्निः] वह अग्नि है [यः अस्य सव्यः कर्णः] जो इसका बायां कान है [सः अयं पवमानः] वह यह पवमान है ॥ ३ ॥ [अहोरात्रे नासिके] इसके अहोरात्र ये नाक हैं (दितिः अदितिः च) दिति और अदिति (शीर्षकपाले) सिरके दोनों कपाल हैं । और (संवत्सरः शिरः) वर्ष इसका सिर है ॥ ४ ॥ (व्रात्यः अह्ना) वह व्रात्य दिनमें (प्रत्यङ्) पूर्व दिशाकी ओर मुख करके और (रात्र्या प्राङ्) रात्रीके समय प्रतीचीदिशाके अनुकूल मुख करके रहता है । ऐसे [व्रात्याय नमः] व्रात्यके लिये मेरा नमस्कार हो ॥ ५ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः । इति पञ्चदश काण्ड समाप्तम्

पञ्चदश काण्डका विचार।

व्रात्यका अर्थ।

इस पंधरहवें काण्डमें 'व्रात्य' का विचार किया है। अतः इस काण्डमें व्रात्यका अर्थ क्या है इसका निश्चय प्रथम करना चाहिये। इस व्रात्य शब्दके कई अर्थ हैं—

(१) 'व्रात' का अर्थ है समूह, समाज, संघ, समुदाय, अथवा उसके लिये जो हितकारी (तेभ्यः हितः) है उसको 'व्रात्य' कहते हैं;

(२) (व्राते भवः व्रात्यः) समूहमें उत्पन्न, समाजमें जिसका जन्म हुआ है, संघमें रहनेवाला;

(३) समूहका पालक, पति, नेता, स्वामी;

(४) व्रतोंके लिये समर्पित, व्रताचरणमें तत्पर, तपस्वी, ब्रह्मचर्याश्रममें तत्पर, व्रती, ब्रह्मचर्यादि व्रतोंका पालन करनेवाला;

(५) (व्रजति इति व्रात्यः व्रात्य ...) भ्रमण करनेवाला परिव्राजक, संन्यासी, उपदेशक देशदेशान्तरमें जाकर धर्मोपदेश करनेवाला।

इस तरह इस व्रात्य शब्दके अनेक अर्थ वेदमें हैं। स्मृतियोंमें इस व्रात्य शब्दका अर्थ इससे भिन्न है। वेदमर्यादा और आश्रमधर्ममर्यादाका उल्लंघन करनेवाला व्रात्य है ऐसा स्मृतियोंका कथन है। स्मृतिके अनुसार व्रात्य वह होता है कि जो ब्रह्मचर्यादि व्रतोंका पालन न करनेसे पतित हुआ है। व्रात्यस्तोमसे इसकी शुद्धि करनेसे फिर वह शुद्ध होता है और द्विजत्व प्राप्त करता है।

वेदका व्रात्य शब्द और स्मृतिका व्रात्य शब्द इनमें अर्थोंका इतना महत् अन्तर है। वेदमें व्रात्य शब्दका अर्थ उत्तम है और स्मृतिमें उसीका अर्थ अधम है। वेदका व्रात्य आदरणीय प्रशंसनीय है परंतु स्मृतिका व्रात्य तिरस्कार करने योग्य है। इसी शब्दकी भिन्नता श्रुति और स्मृतिके अर्थका महत् अन्तर व्यक्त हुआ है इस बातकी साक्षी देती है।

जिस तरह 'व्रात्यस्तुत' 'अभिशस्त' ये शब्द अधम ब्राह्मण और अधम क्षत्रियोंके वाचक हैं उसी प्रकार (अथर्व १५।११।११ में आये। 'ब्राह्मण ब्रह्मबन्धु, नामधारी' ये तीनों शब्द हीन अर्थके हैं। ब्राह्मण शब्द कहलानेवाले परंतु जो ब्राह्मण नहीं हैं। अर्थात् ब्राह्मणका केवल नाम धारण करनेवाले नामधारी होते हैं। उसी प्रकार ब्रह्मबन्धु कहलानेवाले परंतु ब्राह्मणोंके धर्म जिनमें नहीं ऐसे हीन मनुष्य तिरस्कृत होते हैं। यह वेदका मत (अ० का० १५।१३।११) स्पष्ट बता रहा है कि यहां व्रात्यका अर्थ बहुत ही पूज्य है।

व्रात्य ईश्वर।

व्रात्य शब्दके जो उत्तम अर्थ ऊपरके लेखमें दिये हैं, वे पूर्णतासे परमेश्वरमें सार्थ होते हैं। परमेश्वर सबको अर्थात् सबों और सब लोकोंका पति होनेसे व्रात्य है, संपूर्ण नियमों और व्रतोंका यथायोग्य पालन करनेवाला होनेसे भी वह व्रात्य है, सबका हितकारी होनेसे भी वह व्रात्य है। इस तरह व्रात्य शब्दके सब अर्थ ईश्वरमें पूर्णतया सार्थ होते हैं। इसलिये इस काण्डके प्रथम पर्याय सूक्तमें इसी परमेश्वरका वर्णन व्रात्य शब्दसे किया है।

ईयमानः व्रात्यः प्रजापतिं समैरयत्। १।१

"प्रेरक व्रात्यने प्रजापालक देवको प्रेरित किया," अर्थात् जगत् निर्माण करनेके लिये प्रेरणा की।

स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत् प्राजनयत्॥ १।२

"इस प्रजापति देवने उत्तम वर्णवाली अपनेमें एक दैवी प्रकृतिका प्रकाशमयी देखा और उससे सब जगत् निर्माण किया।" यहां 'सुवर्ण आत्मन्' शब्दसे उत्तम रंगवाली मूल प्रकृति अथवा दैवी प्रकृतिका वर्णन है। ... है। ... है, और वह त्रिगुणमयी प्रकृति ही सब जगत्को निर्माण करनेवाली है। इस प्रकार दिखाते 'एक ... ज्येष्ठ ब्रह्म तप, और सत्य' ये सात पदार्थ उत्पन्न हुए। इन सात नामोंके साथ 'भूः भुवः स्वः, महः, जनः, तपः सत्यं' ये सात नाम भी तुलनात्मक दृष्टिसे देखने योग्य हैं। दोनों स्थानोंमें "महत्, तप सत्य" ये तीन शब्द समान ही हैं। अतः है कि ये दोनों स्थल एक दूसरेके पर्याय हों। प्रकृतिसे सृष्टिकी उत्पत्ति होनेसे सात लोक सात भुवन सप्तधाम आदि जो उत्पन्न हुए हैं उनके सूचक ये शब्द हैं, ऐसा यहां प्रतीत होता है। पाठक इसका अधिक विचार करें। इस प्रकार सब भुवन उत्पन्न होनेके पश्चात् उस प्रेरक देवका महत्त्व सबसे अधिक हुआ और इसी कारण (स महादेवोऽभवत्) उसको महादेव कहने लगे। अर्थात् वह महादेव शब्द जगत् होने देवोंका भी अधिदेव है यह बात यहां व्यक्त होती है। यही बात निम्नलिखित मंत्रमें कही है।

स देवानां ईशां पर्यैत् स ईशानः अभवत् ।(१।५)

यह जैसे अनेक देवोंका अधिपति सिद्ध हुआ अतः उसको ईशान कहने लगे। यहां देव—महादेव, ईश—ईशान, ईश ईश्वर आदि शब्दोंके अर्थोंका भाव स्पष्ट हुआ। देव और ईश ये छोटे अधिपति हैं और महादेव तथा ईशान और ईश्वर ये शब्द सर्वोपरि अधिकार चलानेवाले सार्वभौम परमेश्वरके वाचक हैं। इसी प्रकार ब्रह्म, आत्मा आदि शब्द एकरस परमात्माके वाचक हैं। इसमें भी ब्रह्म-परब्रह्म आत्मा—परमात्मा ये शब्द भी पूर्वोक्त रीतिसे छोटे बडेके वाचक निःसन्देह हैं परंतु ब्रह्म और आत्मा ये शब्द समयसमयपर दोनों अर्थोंमें प्रयुक्त होते हैं।

हमारे शरीरमें यह बात देखिये यहां कान आंख, नाक आदि अवयवोंमेंसे प्रत्येकमें इन्द्रियाणु अपनेमें ईश हैं। अपनी शक्तिका स्वामी है परंतु इन अनेक इन्द्रियाणुओंपर आंख नाक कान आदिमें रहनेवाला एक इन्द्रियका अधिष्ठाता देव है, वह इन सूक्ष्म इन्द्रियाणुओंकी अपेक्षा बडा ईश्वर है। इसके पश्चात् प्रत्येक इन्द्रियमें एक एक देवताका अंश है और इन अवयवोंमें रहनेवाले देवतांशोंपर जीवात्माका प्रभुत्व है। इसलिये यहां इन्द्रियोंके अधिपति देव हैं और जीवात्मा महादेव है। इसी तरह छोटा और बडा होनेके भेदसे एक देव होता है और दूसरा महादेव होता है परंतु जो छोटोंकी अपेक्षा महादेव होता है वही उससे ऊपरके देवकी अपेक्षा छोटा देव होता है। इस तरह ऊपर जाते जाते अन्तिम स्थितिमें परमात्मा सबका महादेव है। इस प्रकार देव और महादेवोंका विचार तुलनात्मक दृष्टिसे समझना योग्य है। इस बातको अधिक स्पष्ट करते हैं-

देव	महादेव	
ईश	ईशान	
आत्मा	परमात्मा	
ब्रह्म	परब्रह्म	
इन्द्र	महेन्द्र	
ईश	ईश्वर	
इन्द्रियाणु [देव]	इन्द्रियाधिपति (महादेव)	
इन्द्रियाधिपति	जीवात्मा	
जीवात्मा	राजा	,,
राजा ,,	सम्राट्	,,
ग्रामपति ,,	प्रान्तपति	,,
प्रान्तपति ,	राष्ट्रपति	
राष्ट्रपति ,	जगत्पति	,,
चन्द्रादि ग्रह ,	सूर्य	,
तारागण ,	विराट्	,,

इस रीतिसे पूर्वापर अपेक्षासे सबका एक देव और दूसरा महादेव बनता है। अन्तमें सब चराचरका परमात्मा ही महादेव सिद्ध होता है और यही इस प्रथम पर्याय सूक्तमें व्रात्यका प्रेरक करके प्रथम मंत्रमें वर्णित हुआ है। वह एक है अतः इसके 'एक व्रात्य' अर्थात् एकमात्र परमेश्वर किंवा सबका एक नियन्ता कहा है। वह सबका शासक है और इसका धनुष्य अप्रतिहत है यही (इन्द्रधनुष्य) प्रमुख धनुष्य ऐसा है कि (दिव्य विभूति) इस धनुष्यसे विद्रोही लोगोंका पूर्ण नाश होता है। परमेश्वरका सर्वोपरि शासन है और इस शासनसे द्रोहियोंका नाश होता है और सज्जनोंकी रक्षा होती है, इसलिये इस एक देवकी उपासना सबको करनी चाहिये। यह उपदेश प्रथम पर्याय सूक्तमें कहा है।

इसके आगे ब्रह्मचारीका वर्णन है, उसका विचार अब हम करते हैं-

ब्राह्मणविभाग।

व्रात्य ब्रह्मचारी।

'ब्रह्मचारी' वह है कि जो "ब्रह्मके उत्तम आचरण करता है अथवा ब्रह्म बननेके लिये उसका आचरण करता है। उसका आचरण कैसा होता है इस विषयमें आरंभके पर्याय सूक्तमें उत्तम वर्णन आगया है। ब्रह्मचारी वैसा बनना चाहिए है। और जो ब्रह्मचारी वैसा सद्गुणैश्वर्यसंपन्न होता है, उसकी योग्यता विशेष ही उच्च होती है।

जब ऐसा सुयोग्य ब्रह्मचारी पूर्व पश्चिम दक्षिण और उत्तर दिशाओंके देशदेशान्तरोंमें भ्रमण करता है, जनताका धर्म और सदाचारका सन्देश सुनाता है लोगोंका भला करनेके लिये आत्मसमर्पण करता है, तब जगत्के संपूर्ण देव सूर्य चन्द्र, विद्युत् वरुण पर्जन्य आदि सब उसकी सहायता करते हैं वेदके रथन्तरादि सब सामगानकी मंत्र उसके अन्दर उसके ज्ञानविज्ञानके साथ उपस्थित होते हैं। श्रद्धा उसकी धर्मपत्नी नित्य उसकी आज्ञामें उपस्थित होती है, उसके समान वह धर्मपत्नी श्रद्धाके साथ उपासनाके कार्य वह करता है इस अर्थात् वाणी उसकी श्रद्धा की अनुवादिनी होती है जैसी जिसकी मनमें योग्य देती है इसी प्रकार उसकी

सुवर्णरूप वाणी उषाके समान उसको भलाईसे युक्त होकर उसकी शोभा बढाती है।

उसका मित्र वेदमंत्ररूपी (मागध) स्तुतिपाठक है अर्थात् वह यदि किसी की स्तुति करता है, तो केवल उसके मित्र रूप परमेश्वरकी स्तुति वेदमंत्रोंसे करता है। किसी भी कारणमें पडकर वह किसी मर्त्यकी प्रशंसा करनेका कार्य नहीं करता। वेदमंत्रके उपदेशोंकी सफलता देखकर ही उसको आनन्दवर्धक (हसः) हास्य आता है उसी स्मित हास्यमें वह मस्त रहता है और जब वह उपदेश देता है वेदमंत्रोंकी व्याख्या करता है तब ऐसा प्रतीत होता है कि मेघगर्जना (स्तनयित्नुः) होकर अमृत जैसे वेदोपदेशकी वर्षा ही होरही है॥

बल (वासः) शरीरकी लज्जानिवारणके लिये होता है उसके शरीर इंद्रियों मन और बुद्धिकी लज्जा निवारण करनेके लिये उसका वस्त्र (विज्ञान) ज्ञान, और विज्ञान बोध और प्रतिबोध ही होता है। इसी विज्ञानका वस्त्र पहिना हुआ वह ब्रह्मचारी वस्त्राभूषण की अपेक्षासे अधिक ही सुशोभित होता है। क्योंकि ज्ञान विज्ञान ही मनुष्य का उत्तम भूषण है।

दिन उसका शिरोवेष्टन पगडी अथवा साफा है रात्रीका कृष्ण वर्ण उसके केश हैं, सूर्यकिरण उसके कुण्डल हैं, आकाशके तारागण उसके मणि हैं। अर्थात् ये ही उसकी शोभा बढानेवाले उसके जेवर हैं। इस तरह वह ब्रह्मचारी विश्वको ही अपना भूषण बनाता है सोने चांदीके जेवर मनुष्यका भूषण नहीं बन सकते जो विज्ञानात्मा पुरुष है उसके ये ही भूषण हैं। विश्वनियमोंसे युक्त जीवन व्यतीत करनेवाला ब्रह्मचारी होता है, अतः विश्वके पदार्थ ही उसका भूषण बनाते हैं।

भूतकालका इतिहास और भविष्यकालकी उन्नतिकी योजना (भूतं भविष्यत् च) ये दो उसके रक्षक हैं। इनके द्वारा वह सुरक्षित होता हुआ अपना व्यवहार कार्य करता है। इसी तरह अमावास्या और पौर्णमासी अर्थात् महिनेके शुक्ल और कृष्ण पक्ष दिन और रात्री ये अहोरात्रके दो विभाग तथा [श्रुतं विश्रुतं] ज्ञान और विज्ञान सुना हुआ उपदेश और उसके मननसे प्राप्त हुआ विज्ञान ये भी उसके रक्षक अर्थात् उसकी रक्षा करनेवाले हैं। वह ब्रह्मचारी जो उपदेश करता है उसका आधार 'भूत' कालके इतिहासमें होता है और इसका वह उपदेश श्रवण करनेसे श्रोताओंके मनमें भविष्यत्कालकी बडी भारी आशाएं, अपनी उन्नतिकी आकांक्षाएं, उत्पन्न होती हैं, और इससे श्रोताओंके मनमें उत्साह होता है और दिन रात्रि का कार्यक्रम पूर्व और उत्तर पक्षके कार्यक्रम उसके उपदेशसे निश्चित होते हैं। इस तरह [श्रुत] ज्ञान और [विश्रुत] विज्ञानसे यह ब्रह्मचारी उनकी उन्नति करता है।

मनुष्य मनोरथ करता रहता है वे केवल उसके 'मन' के ही 'रथ' होते हैं। जो लोग इनमें किये जाते हैं। वे भी मनोरथ ही होते हैं। इसी प्रकार यह ब्रह्मचारी भी (मनः— विपथं) मनके रथ बनाता है, मनके ही रथोंको बनाकर मनसे ही उसमें बैठता है और मनसे ही वह चलाता है। इसके मनोरथके (मातरिश्वा पवमानः च) प्राण और उच्छ्वास ये दो घोडे हैं। जो पाठक प्राणायाम करते हैं वे जानते हैं कि, प्राणकी स्थिरतापर मनकी स्थिरता अवलंबित है। क्योंकि मनके घोडे प्राण हैं, अर्थात् मनोरथ के घोडे प्राण हैं। ये घोडे स्थिर रहे तो ही रथ स्थिर रहता है और घोडे चलने लगे तो रथ चलता है। प्राण और मनका संबंध जिस है यह गुप्त भाव यहां इस अलंकारसे बताया है। प्राणसे संयम रखते हुए कोई भी मनुष्य अपने मनको वशमें कर सकता।

इस प्रकारके सुयोग्य ब्रह्मचारीको कीर्ति और यश प्राप्त होता है। कीर्ति और यश भी इसकी इस व्यवहार के हैं इस की योग्यतामें इतना बल है। जो अपनी योग्यता इस ब्रह्मचारी जैसी बनाता है वह भी कीर्तिमान और यशस्वी हो जाता है। यह सब उपदेश पाठक द्वितीय पर्याय सूक्तमें देख सकते हैं।

ब्रह्मचारीका आसन।

ब्रह्मचारी संवत्सरभर तपस्या करता है वह खडा रहकर तपस्या करता है। उसकी वह तपस्या देखकर अन्योंके भी होते हैं। वे उसको बैठनेके लिये चौकी देते हैं। परंतु जिस चौकीपर वह ब्रह्मचारी बैठता है वह ज्ञानकी चौकी होती है। लकडीकी चौकी उसको पसंद नहीं है।

इस ब्रह्मचारीके चौकीके चार पावे ग्रीष्म, वर्षा और शरद ये चार ऋतु हैं, अर्थात् इन ऋतुओं पर वह रहता है। शरद हेमन्त आदि चार इस चौकीके पावे होते हैं। इस चौकी पर जो बिछावन होती है, उसके अगलेके अंचल बोलोंसे

उससे ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके मंत्र होते हैं। अर्थात् वेदके ज्ञानसे यहांपर वह सम्पन्न होता है। इस ज्ञानमय सिंहासनपर वह विराजमान होता है, इस समय सब देव उसके रक्षक बनते हैं और वे अपनी विविध शक्तियोंसे उसके चारों ओर खडे होते हैं।

जो ज्ञानके उच्च आधारपर खडा होता है, उसकी ऐसी ही विशेष योग्यता होती है। यह उपदेश तृतीय पर्यायसूक्तमें दिया है।

रक्षक ऋतु और देव।

आगे चतुर्थ पर्याय सूक्तमें कहा है कि छहों ऋतु और उनके बारहों महिने उसके (गोप्तारः) रक्षक होते हैं। अर्थात् इन सब महिनोंमें उसकी रक्षा होती है।

इसके अनंतर पञ्चम पर्याय सूक्तमें कहा है कि सब दिशा और उपदिशाओंमें भव, शर्व पशुपति उग्रदेव रुद्र, महादेव और ईशान ये सात देव अपने धनुष्यबाण हाथमें धारण करके इसके रक्षक होते हैं और इसकी रक्षा करते हैं। पाठक यहां यह न समझें कि ये सात देव भिन्न हैं। ये 'ईशान' के ही नाम हैं। ईशान ही एक देव है जिसके गुणधर्म बोधक ये सात नाम हैं। यह एक देव सबका ईश अथवा स्वामी है इसलिये उसको 'ईशान' कहते हैं, इसके आधीन अनंत देव हैं उन सब देवोंपर यह मुख्य अधिष्ठाता होनेसे इसको महादेव कहते हैं। यही ईश्वर सब दुष्ट और पापकर्मियोंको घोर दण्ड देकर रुलाता है, इसलिये इसको 'रुद्र' कहते हैं। पापियोंको यही भयंकर उग्र 'वीरभद्र' प्रतीत होता है। इसके पास अतुल पाशवी शक्ति रहती है अथवा यह सब जीवोंका पालक है इसलिये इसको पशुपति कहते हैं। यह अनंत शक्तिमान् प्रचण्ड वेगवान् होनेसे इसको शर्व (शर्वति गच्छति) कहते हैं और सब जगत्को भूति और ऐश्वर्य प्रदान करता है इसलिये इसको भव कहते हैं। इस तरह ये सातों शब्द एक ही देवके वाचक हैं। यह एक देव ये सात कर्म करता है इसलिये ये सात नाम इसको प्राप्त होते हैं। यह सबका देवाधिदेव इस ब्रह्मचारीका स्वामी, मित्र रक्षक और अनुगामी होता है।

देवोंकी सहायता।

आगे षष्ठ पर्याय सूक्तमें इस ब्रह्मचारीको सब देवताओंकी सहायता होती है, ऐसा वर्णन है। भूमिके ऊपर उसको भूमि, अग्नि औषधियां वनस्पतियां वृक्ष आदि सहायक होते हैं। ऊर्ध्व मार्गमें सूर्य चन्द्र नक्षत्र मेघोदक और वायुकी सहायता होती है। उत्तम ज्ञानक्षेत्रमें ऋचा यजु साम और ब्रह्म अर्थात् अथर्ववेदके मन्त्र सहायक होते हैं। इतिहासकी बडी दिशामें इतिहास पुराण गाथा नाराशंसी उसके अनुकूल होते हैं। यज्ञक्षेत्रमें आहवनीय, गार्हपत्य आदि अग्नि उसकी सहायता करते हैं। कालक्षेत्रमें ऋतु महिने पक्ष अहोरात्र ये उसके सहायक होते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्रमें यह जाग जाता है वहां (अदिति) मूल प्रकृति (दिति) प्रकृतिकी विकृति (इन्द्राणी) इन्द्र अर्थात् आत्माकी शक्ति (इडा) वाणी आदिकी सहायता होती है। और इस क्षेत्रमें उसको ऐसा आनन्द प्राप्त होता है कि उसमें तृप्त होता हुआ यह (न अपसर्पम् इति अमन्यत) यहांसे वापस न होऊंगा ऐसा मानता है। इतनी योग्यता उसमें इसको प्राप्त होती है। आगे इसको सभी देव सहायता करते हैं और यह उन सब का प्रिय धाम बनता है।

सप्तम पर्याय सूक्तमें कहा है कि ऐसी पूर्ण अवस्था प्राप्त होने पर उसको उत्तम श्रद्धा स्वानुभवसे प्राप्त होती है। इसके पश्चात् वह इस अनुभवको कभी भूलता नहीं। यहां पूर्ण ब्रह्मावस्था इसको प्राप्त हुई होती है। यही सच्चा ब्राह्मण है।

क्षत्रियविभाग।

वैदिक स्वराज्य।

क्षत्रिय भी ब्रह्मचर्य पालन करता है और उत्तम क्षत्रिय होता है। इसको राजन्य इसलिये कहते हैं कि (सः अरज्यत) यह लोगोंका रंजन करता है। जनोंको प्रसन्न रखता है। यह जनताको सुरक्षित रखता है। सब प्रजाजनोंकी रक्षा करनेसे उसको सब प्रकार आश्रयस्थान आदि भोग प्राप्त होते हैं और सब लोग उसके अनुगामी होते हैं। राज्य विषय अष्टम पर्याय सूक्तमें कहा है और नवम पर्याय सूक्तमें आगे राजप्रकरणका ही उपदेश करते हैं--

(सः विशः अनुव्यचलत्) यह क्षत्रिय राजा ब्रह्मचर्य पालन के पश्चात् राजगद्दीपर आरूढ होकर प्रजाके मतानुसार राज्यशासन चलाने लगा। राजा प्रजामतानुसार होनेसे उस राजाके (सभा) ग्रामसभा (समिति) राष्ट्रीय महापरिषद (सेना) चतुरंग सैन्य और (सुरा) ऐश्वर्य उसके अनुकूल रहते हैं। अर्थात् जो राजा प्रजामतानुसारी नहीं होता उसको इनकी अनुकूलता नहीं होती। इसका सीधा भाव य

है कि प्रजाकी सभा सेना और धनकोश इनपर राजाका अधिकार नहीं है। इसलिये प्रजाकी प्रसन्नतासे ही इनकी अनुकूलता राजाको होती है अन्यथा नहीं।

वैदिक स्वराज्यका यह आदर्श है। पूर्ण स्वराज्य इसीका नाम है। जिस राज्यव्यवस्थामें प्रजाका रंजन करनेवाला राजा ही राजगद्दीपर रह सकता है और प्रजाका भंजन करनेवाला राजा उतारा जाता है और जिस शासनव्यवस्थामें धनकोश सेना और राष्ट्रसभा प्रजामतके आधीन होते हैं उसीको "वैदिक स्वराज्यशासन" कह सकते हैं। इससे भिन्न अन्य शासन आसुरी शासन समझना उचित है।

इस स्थानपर सुरा शब्द धनकोश वाचक है। सुर ऐश्वर्य धातुसे यह शब्द ऐश्वर्य और धन आदिका वाचक बनता है। 'सुरा' शब्दका आजकल प्रसिद्ध अर्थ 'मद्य' है वह अर्थ यहां नहीं है।

इस तरह यात्रासंबंधि वर्णन इस सूक्तमें है और यह आजकलके स्वराज्यवादियोंके लिये भी एक उत्साह बढानेवाला वैदिक संदेश है।

अतिथिसत्कार।

आगे दसवें ग्यारहवें बारहवें और तेरहवें इन चार पर्याय सूक्तोंमें अतिथिसत्कारका महत्त्वपूर्ण विषय कहा है। यहां कहा है कि जिसके घर अतिथि आवे वह गृहस्थी समझे कि (एवं आत्मना श्रेयांसं मानयेत्) वह अपनेसे बहुत श्रेष्ठ है और इसका सत्कार करनेसे अपना परम कल्याण निःसन्देह होगा। अर्थात् इस भावनासे अतिथिका बहुत सत्कार गृहस्थी करे। ब्राह्मण प्रजापति बृहस्पति है और क्षत्रिय (आदित्यः) सूर्य अथवा इन्द्रकी मूर्ति है। यदि इनमेंसे कोई किसी गृहस्थीके घर अतिथि रूपसे आवे तो उस गृहस्थीका बडा भाग्य है ऐसा समझना चाहिये। अतिथि घरपर आनेपर उसका आदर सत्कार इस प्रकार किया जावे-

१ (व्रात्य क्व अवात्सीः) ब्रह्मचारीजी आप कहांके रहनेवाले हैं?

२ (व्रात्य उदकं) ब्रह्मचारीजी आपके लिये यह जल लाता हूं।

३ (तर्पयन्तु) हे अतिथिजी मेरे लोग आपको तृप्त करें।

४ (व्रात्य यथा ते प्रियं तथा अस्तु) हे विद्वान्, जो आपके लिये प्रिय हो वही बात यहां किया जायगा।

५ (यथा ते वशः तथा अस्तु) जो आपकी इच्छा हो वही होगी।

६ (यथा ते निकामः तथा अस्तु) जो आपकी कामना हो वही हो। उसीके अनुसार हम करेंगे।

इस प्रकार प्रश्न करके और भाषण करके गृहस्थ और उसके घरके मनुष्य अतिथिसेवा करें। और उसकी सेवामें कोई न्यूनता न रखें।

यदि गृहस्थीके अग्निहोत्र करनेके समय अतिथि आजाय अथवा अतिथि आनेपर अग्निहोत्र करनेका समय होजाने तो गृहस्थ अतिथिकी आज्ञासे अग्निहोत्र करे। यदि अतिथि आज्ञा देवे तो अग्निहोत्र करे उसकी आज्ञा न हुई तो न करे। यदि किसी गृहस्थीने अतिथिकी आज्ञाके विरुद्ध हवन किया तो उसका वह हवन व्यर्थ होता है॥ (देखो पर्याय सूक्त १२)

अतिथि अनेक दिन घरमें रहा, और उसकी सेवा अच्छी तरहसे की गयी तो बहुत पुण्यका लाभ होता है।

यदि अतिथिके रूपमें कोई ज्ञानी मनुष्य आजावे तो भी उसमें अपने उपास्य देवताकी कल्पना करके उस भाव का देवताको समर्पण करनेकी भावनासे उस अतिथिको दिये जावें। इससे उपास्य देवकी पूजा होती है।

यहां १३ वां पर्यायसूक्त समाप्त होता है।

अतिथिका रूप।

(अर्कः) एक स्वरूप (इन्द्रः) शत्रुविदारण करनेवाला (वरुणः) वरिष्ठ देव (सोमः) शान्त रूप (विष्णुः) सर्वत्र भ्रमण करनेवाला, (यमः) शत्रुओंको नियमन करनेवाला (यमः) नियामक, प्रजाको नियममें रखनेवाला, (अग्निः) तेजस्वी (बृहस्पतिः) ज्ञानवान् (ईशानः) स्वामी, (प्रजापतिः) प्रजाका पालक, (परमे ष्ठी) श्रेष्ठ उच्च पदपर विराजमान होने योग्य अतिथि होता है। इन्होंके अतिथियोंमें ये सब गुण होनेके कारण उन्हीं अतिथियोंको ये सब नाम प्राप्त होते हैं। मानो इन सब देवोंके अंश इन अतिथियोंमें एकत्रित होते हैं।

यह वर्णन चतुर्दशवें पर्यायसूक्तमें है, इसके अनंतर पंद्रहवें पर्याय सूक्तमें उसके प्राणोंका वर्णन है। इस अतिथिमें सात प्राण हैं, अग्नि आदित्य चन्द्र वायु जल, पशु और प्रजा ये सात देवता उसके सात प्राणोंमें निवास करते हैं। सात प्राण ये सात इन्द्रियों में रहनेवाली सात महाशक्तियां हैं।

आगे सोलहवें पर्यायसूक्तमें अतिथिके सात अपानोंका वर्णन है। पौर्णमासी अष्टका अमावास्या, श्रद्धा दीक्षा, य

और दक्षिणा ये सातों उसके अपानोंमें रहते हैं । मनुष्योंका सब दुःख दूर करनेवाली शक्तिका नाम (सर्वं दुःखं अपान यति इति अपानः) अपान है । ये सातों श्रद्धा दीक्षा आदि मनुष्यके दुःखोंको दूर करती हैं इसलिये इनका नाम यहां अपान रखा है ।

आगे सत्तरहवें पर्यायसूक्तमें अतिथिका व्यान भूमि अन्तरिक्ष द्यौ नक्षत्र, ऋतु ऋतुसमूहपदार्थ संवत्सर रूप हैं ऐसा वर्णन है और अठारहवें पर्यायसूक्तमें अतिथिकी आंखें सूर्य और चन्द्र कान अग्नि और वायु नाक अहोरात्र, शीर्षकपाल दिति और अदिति और संवत्सर उसका सिर है ।

इस प्रकारका पूज्य अतिथि सबको नमस्कार करनेयोग्य है ।

इस प्रकरणमें जो अतिथिका स्वरूप वर्णन किया है वह ठीक प्रकार ध्यानमें नहीं आता । तथापि इससे इतना ही प्रतीत होता है कि अतिथि सर्व देवतारूप होनेके समान परम पूज्य है ।

इस पंद्रहवें काण्डमें अतिथि सत्कारका विषय है । और प्रत्येक गृहस्थीका यह धर्म होनेसे इस काण्डका विचार प्रत्येक गृहस्थीको करना अत्यंत आवश्यक है ।

पन्द्रहवां काण्ड समाप्त



ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

षोडशं काण्डम् ।

लेखक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

साहित्यवाचस्पति वेदाचार्य गीतालङ्कार

अध्यक्ष-स्वाध्याय मण्डल आनन्दाश्रम किल्ला पारडी (जि सूरत)

द्वितीय वार

संवत् २००७ शाके १८७२ सन १९५०

हमारा विजय !

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं
यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥ १ ॥

(अथर्ववेद १६।८।१)

हमारे लिये विजय, उदय, सत्य, तेज, ज्ञान, प्रकाश, यज्ञ, पशु, प्रजाजन और वीर प्राप्त हों। " हमारा सर्वत्र दिग्विजय होवे। "

प्रकाशक— पंडित श्रीपाद सातवलेकर B. A
स्वाध्यायमंडल भारतमुद्रणालय किल्ला पारडी जि० सूरत

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

षोडश काण्ड ।

इस सोलहवें काण्डमें भी विभिन्न विषयोंके मंत्र नहीं हैं प्रायः इस काण्डका मुख्य विषय 'पापमोचनपूर्वक विजयप्राप्ति' है। सब मंत्रोंका आशय यही एक है और इसलिये अथर्ववेदके तृतीय महाविभागमें इन मंत्रोंका परिगणन किया है।

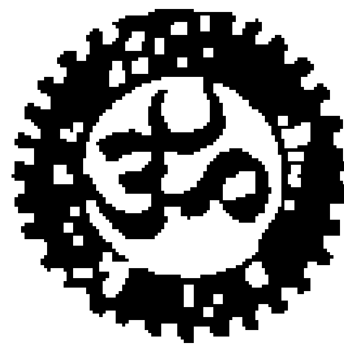
इस काण्डके प्रारंभमें 'अतिसृष्टः' शब्द है। इसका अर्थ है "मुक्त हुआ"। काण्डके प्रारंभमें मुक्त होनेका उल्लेख मंगलवाचक है अर्थात् इस शब्दसे इस काण्डका मंगलाचरण हुआ है।

इस काण्डमें ९ पर्यायसूक्त हैं, पहिले चार पर्यायसूक्तोंका एक अनुवाक है और शेष पांच सूक्तोंका दूसरा अनुवाक है। इस काण्डमें कुल मंत्र १०३ हैं परंतु दूसरी प्रकारकी गिनतीसे ९० हैं। अब इसके ऋषि देवता छंद देखिये-

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
प्रथमोऽनुवाकः।				
१	१३	अथर्वा	प्रजापतिः	१, ३ द्विप. साम्नी बृहती; २, १० याजुषी त्रिष्टुप्; ४ आसुरी गायत्री; ५, ८ साम्नी पंक्तिः (५ द्विप.); ६ साम्नी अनुष्टुप्; ७ निचृत् विराड् गायत्री; ९ आसुरी पंक्तिः; ११ साम्नी उष्णिक्; १२, १३ आर्षी अनुष्टुप्।
२	६		वाक्	१ आसुरी अनुष्टुप्; २ आसुरी उष्णिक्; ३ साम्नी उष्णिक्; ४ त्रिप. साम्नी बृहती; ५ आर्षी अनुष्टुप्; ६ निचृद् विराड् गायत्री।
३	६	ब्रह्मा	आदित्यः	१ आसुरी गायत्री; २, ३ आर्षी अनुष्टुप्; ४ प्राजा. त्रिष्टुप्; ५ साम्नी उष्णिक्; ६ द्विप. साम्नी त्रिष्टुप्।
	७			१, ३ साम्नी अनुष्टुप्; २ साम्नी उष्णिक्; ४ त्रिप. अनुष्टुप्; ५ आसुरी गायत्री; ६ आर्षी उष्णिक्; ७ त्रिप. विराड् गर्भानुष्टुप्।
द्वितीयोऽनुवाकः।				
५	१	यमः	दुःष्वप्ननाशनः	१-६ विराड् गायत्री (५ प्र. भुरिक्; ६ प्र. स्वराट्); १ द्वि.-६ द्वि. प्राजा. गायत्री; १ तृ.-६ तृ. द्विप. साम्नी बृहती।

११	, रुपा	१–४ प्राजा पत्या नुष्टुप्; ५ साम्नी पंक्तिः; ६ त्रिष्टुप् आर्ची बृहती; ७ द्विप साम्नी बृहती; ८ आसुरी जगती; ९ आसुरी बृहती; १० आर्ची उष्णिक्; ११ त्रिप सम गायत्री; आर्ची अनुष्टुप
१२	,	१ पंक्तिः; २ साम्नी अनुष्टुप्; ३ आसुरी उष्णिक्; ४ प्राजा प.त्या ; ५ आर्ची उष्णिक्; ६ ५ ११ साम्नी बृहती; ७ आसुरी गायत्री; ८ प्राजा बृहती ९ साम्नी गायत्री; १२ भुरिक् प्राजा अनुष्टुप् १३ आसुरी त्रिष्टुप्।
२७ (३१)		अ १–२७ एकप दासुर्यासुरी अनुष्टुप्; द्वि. १–१० त्रिप. विराड्गायत्री; तृ १ प्राजा गायत्री; च १ १० त्रिप. प्राजा त्रिष्टुप; तृ २–४, ६ १० १५, २४ आसुरी जगती; तृ ५, ७ ८ ९ ११ १३ १४ आसुरी त्रिष्टुप्; तृ ६ १२ १७—१९ २०—२२ २७ आसुरी पंक्तिः; तृ २५, २६ आसुरी बृहती।
४ १० (१ ३)	१ प्रजापति २ मंत्रोक्त० ३ ४ सूर्यः	१ साम्नी अनुष्टुप, २ आर्ची उष्णिक्; ३ साम्नी पंक्ति ४ परोष्णिक्।

इस काण्डमें एक सूक्तके ही ९ पर्यायसूक्त होनेके कारण काण्डके अन्तमें ही सब मंत्रोंका इकट्ठा विचार करेंगे।



अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

षोडश काण्डम्

दुःखमोचन और विजयप्राप्ति।

(१)

अतिसृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः ॥ १ ॥
रुजन् परिरुजन् मृणन् प्रमृणन् ॥ २ ॥
म्रोको मनोहा खनो निर्दाह आत्मदूषिस्तनूदूषिः ॥ ३ ॥
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि ॥ ४ ॥
तेन तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

---

१ [१] [अपां वृषभः अतिसृष्टः] जलोंकी वर्षा करनेवाला मुक्त हुआ [दिव्याः अग्नयः अतिसृष्टाः] दिव्य अग्नि मुक्त किये गये ॥ १ ॥ [रुजन् परिरुजन्] तोडता हुआ सब रीतिसे तोडता हुआ [मृणन् प्रमृणन्] मारता हुआ और नाश करता हुआ ॥ २ ॥ [म्रोकः खनः] चोरक और खोदनेवाले [निर्दाहः] दाह करनेवाले [मनो-हा] मनका नाश करनेवाले [आत्मदूषिः] आत्माको दूषण देनेवाले और [तनू-दूषिः] शरीरको दूषित करनेवाले ॥ ३ ॥ [इदं तं अतिसृजामि] इस और उस सबको मैं दूर करता हूं [तं मा अभ्यवनिक्षि] उसको मैं कदापि पुनः प्राप्त न होऊं ॥ ४ ॥ [यः अस्मान् द्वेष्टि] जो हमारा द्वेष करता है और [यं वयं द्विष्मः] जिसका हम द्वेष करते हैं [तं तेन अभि अति सृजामः] उसको उसके द्वारा हम दूर करते हैं ॥ ५ ॥ [अपां अग्रं असि] तू जलोंका अग्रभाग है। [वः समुद्रं अभिअवसृजामि]

अपामग्रमसि समुद्रं वोऽभ्यवसृजामि ॥ ६ ॥
योऽप्स्व१ग्निरति तं सृजामि म्रोकं खनिं तनूदूषिम् ॥ ७ ॥
यो व आपोऽग्निराविवेश स एष यद् वो घोरं तदेतत् ॥ ८ ॥
इन्द्रस्य व इन्द्रियेणाभि षिञ्चेत् ॥ ९ ॥ अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् ॥ १० ॥
प्रास्मदेनो वहन्तु प्र दुष्वप्न्यं वहन्तु ॥ ११ ॥
शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे ॥ १२ ॥
शिवानग्नीनप्सुषदो हवामहे मयि क्षत्रं वर्च आ धत्त देवीः ॥ १३ ॥

(२)

निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक् ॥ १ ॥ मधुमती स्थ मधुमतीं वाचमुदेयम् ॥ २ ॥
उपहूतो मे गोपा उपहूतो गोपीथः ॥ ३ ॥
सुश्रुतौ कर्णौ भद्रश्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम् ॥ ४ ॥
सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हासिष्टां सौपर्णं चक्षुरजस्रं ज्योतिः ॥ ५ ॥
ऋषीणां प्रस्तरोऽसि नमोऽस्तु दैवाय प्रस्तराय ॥ ६ ॥

तुम्हें समुद्रके प्रति मैं छोड देता हूं ॥ ६ ॥ [यः अप्सु अग्निः] जो जलोंमें अग्नि है [तं अति सृजामि] उसको मैं दूर करता हूं [म्रोकं खनिं तनूदूषिं] घातक नाशक और शरीरको दूषित करनेवालेको दूर करता हूं ॥ ७ ॥ [वः आपः अग्निः आविवेश] हे जलो ! तुम्हारे अन्दर जो अग्नि प्रविष्ट हुआ है [सः एषः] वह यह है [यत् वः घोरं तत् एतत्] जो तुम्हारे अन्दर भयंकर है वह यह है ॥ ८ ॥ [इन्द्रस्य इन्द्रियेण वः अभिषिञ्चेत्] इन्द्रके इन्द्रियसे आपका अभिषेक किया जाय ॥ ९ ॥ [अरिप्राः आपः] निर्दोष जल है वह [अस्मत् रिप्रं अप] हमसे मल दूर करे ॥ १० ॥ [अस्मत् एनः प्रवहन्तु] हमसे पाप दूर करें तथा [दुष्वप्न्यं प्र वहन्तु] दुष्ट स्वप्नके दुःखको भी दूर करें ॥ ११ ॥ हे [आपः] जलो ! [मा शिवेन चक्षुषा पश्यत] मुझे कल्याणकारी दृष्टिसे देखो [मे त्वचं शिवया तन्वा उपस्पृशत] मेरी त्वचाको अपनी शुभ तनूसे स्पर्श करो ॥ १२ ॥ [अप्सुषदः शिवान् अग्नीन् हवामहे] जलोंमें रहनेवाले शुभकारी अग्नियोंको हम बुलाते हैं [देवीः] हे दिव्य जलो ! [मयि क्षत्रं वर्चः आ धत्त] मुझमें क्षात्र बल और तेज धारण करो ॥ १३ ॥

[२] [दुः अर्मण्यः निः] दुर्गति दूर हो [ऊर्जा मधुमती वाक्] बलवाली मीठी वाणी हो ॥ १ ॥ तुम [मधुमती स्थ] मीठी हो [मधुमतीं वाचं उदेयम्] मधुर भाषण बोलूं ॥ २ ॥ [मे गोपा उपहूतः] मेरा रक्षक -रक्षणकर्ता- बुलाया गया [गोपीथः उपहूतः] रक्षा करनेवाला गोरक्षक अथवा इन्द्रियरक्षक बुलाया है ॥ ३ ॥ [सुश्रुतौ कर्णौ] मेरे दो कान उत्तम ज्ञान सुननेवाले हों [भद्रश्रुतौ कर्णौ] कल्याण वचन सुननेवाले मेरे कान हों [भद्रं श्लोकं श्रूयासम्] मैं कल्याणकारी प्रशंसा मैं सुना करूं ॥ ४ ॥ [सुश्रुतिः च उपश्रुतिः च] उत्तम श्रवणशक्ति और दूरसे सुननेकी शक्ति [मा मा हासिष्टां] मुझे कदापि न छोडें । [सौपर्णं ज्योतिः चक्षुः] गरुडके समान तेजस्वी दृष्टि मेरे पास [अजस्रं] रहे ॥ ५ ॥ [ऋषीणां प्रस्तरः असि] तू ऋषियोंका प्रस्तर है [दैवाय प्रस्तराय नमः अस्तु] दिव्य प्रस्तरको नमस्कार हो ॥ ६ ॥

(३)

मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम् ॥ १ ॥
रुजश्च मा वेनश्च मा हासिष्टां मूर्धा च मा विधर्मा च मा हासिष्टाम् ॥ २ ॥
उर्वश्च मा चमसश्च मा हासिष्टां धर्ता च मा धरुणश्च मा हासिष्टाम् ॥ ३ ॥
विमोकश्च मार्द्रपविश्च मा हासिष्टामार्द्रदानुश्च मा मातरिश्वा च मा हासिष्टाम् ॥ ४ ॥
बृहस्पतिर्म आत्मा नृमणा नाम हृद्यः ॥ ५ ॥
असंतापं मे हृदयमुर्वी गव्यूतिः समुद्रो अस्मि विधर्मणा ॥ ६ ॥

(४)

नाभिरहं रयीणां नाभिः समानानां भूयासम् ॥ १ ॥
स्वासदसि सूषा अमृतो मर्त्येष्वा ॥ २ ॥
मा मां प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् ॥ ३ ॥
सूर्यो माह्नः पात्वग्निः पृथिव्या वायुरन्तरिक्षाद् यमो मनुष्येभ्यः सरस्वती पार्थिवेभ्यः ॥ ४ ॥
प्राणापानौ मा मा हासिष्टं मा जने प्र मेषि ॥ ५ ॥

---

[३] [रयीणां अहं मूर्धा भूयासं] धनोंका मैं मस्तक समान बना स्वामी बनूं। तथा [समानानां मूर्धा भूयासं] समानोंमें मैं मुखिया बनूं ॥ १ ॥ [रुजः च वेनः च मा मा हासिष्टां] बल और कान्ति मुझे न छोडें [मूर्धा च विधर्मा च मा मा हासिष्टां] सिर और विशेष धर्म मुझे न छोडें ॥ २ ॥ [उर्वः च चमसः च मा मा हासिष्टां] पकानेका पात्र और चमस मुझे न छोडें। [धर्ता च धरुणः च मा मा हासिष्टां] धारक और आधार इनका मुझे न छोडें ॥ ३ ॥ [विमोकः च आर्द्रपविः च मा मा हासिष्टां] मुक्त करनेवाला और गीला शस्त्र मुझे न छोडें। [आर्द्रदानुः च मातरिश्वा च मा मा हासिष्टां] जल देनेवाला और वायु मुझे न छोडें ॥ ४ ॥ [बृहस्पतिः मे आत्मा] मेरा आत्मा ज्ञानवाला और [नृमणाः नाम हृद्यः] मनुष्योंमें मनन करनेवाला हृदयमें रहनेवाला है ॥ ५ ॥ [मे हृदयं असंतापं] मेरा हृदय संतापरहित हो। [गव्यूतिः उर्वी] मेरे गौओंकी भूमि बडी हो। [विधर्मणा समुद्रः अस्मि] विशेष धर्मोंसे मैं समुद्र समान हूं ॥ ६ ॥

[४] [अहं रयीणां नाभिः] मैं धनोंका केन्द्र और [समानानां नाभिः भूयासं] समानोंका भी केन्द्र बनूं ॥ १ ॥ [मर्त्येषु अमृतः] मर्त्योंमें अमर [सु-आसत्] उत्तम रीतिसे बैठनेवाला और [सु-उषा] उत्तम तेजवाला तू आत्मा [असि] है ॥ २ ॥ [प्राणः मां मा हासीत्] मुझे न छोडे। [अपानः अवहाय मा परा गात्] अपान भी छोडकर दूर न चला जावे ॥ ३ ॥ [सूर्यः अह्नः मा पातु] सूर्य दिनमें मेरी रक्षा करे [अग्निः पृथिव्याः] अग्नि पृथ्वीसे [वायुः अन्तरिक्षात्] वायु अन्तरिक्षसे [यमः मनुष्येभ्यः] यम मनुष्योंसे और [सरस्वती पार्थिवेभ्यः] सरस्वती पृथ्वीके पदार्थोंसे मेरी रक्षा करे ॥ ४ ॥ [प्राणापानौ मा मा हासिष्टं] प्राण और अपान मुझे न छोडें [जने मा प्रमेषि] मनुष्योंमें घातक न हो ॥ ५ ॥ हे [आपः] जलो! [अद्य स्वरित] आज [illegible] [उपकाः होतमः च] [illegible] और

स्वस्त्यं1 द्योपसो दोपसंश्च सर्व आपः सर्वगणो अशीय ॥ ६ ॥
शक्वरी स्थ पुशवो मोपं स्थेषुर्मित्रावरुणौ मे प्राणापानावग्निर्मे दक्षं दधातु ॥ ७ ॥

(५)

विद्म ते स्वप्न जुनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि युमस्य करणः ॥ १ ॥
अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥ २ ॥
तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥ ३ ॥
विद्म ते स्वप्न जुनित्रं निर्ऋत्याः पुत्रोऽसि युमस्य करणः ।०।० ॥ ४ ॥
विद्म ते स्वप्न जुनित्रमभूत्याः पुत्रोऽसि युमस्य करणः ।०।० ॥ ५ ॥
विद्म ते स्वप्न जुनित्रं निर्भूत्याः पुत्रोऽसि युमस्य करणः ॥ ६ ॥
विद्म ते स्वप्न जुनित्रं पराभूत्याः पुत्रोऽसि युमस्य करणः ।०।० ॥ ७ ॥
विद्म ते स्वप्न जुनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि युमस्य करणः ॥ ८ ॥ अन्तकोऽसि
मृत्युरसि ॥ ९ ॥ तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥१०॥

(६)

अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसो वयम् ॥१॥ उषो यस्माद् दुष्वप्न्यादभैष्माप तदुच्छतु ॥ २ ॥

रात्रि व [सर्वः सगणः] सब और सब गणोंसे युक्त होकर [अशीय] सुख प्राप्त करूं ॥ ६ ॥ [शक्वरीः स्थ] तुम शक्तिमान हो। [पशवः मा उपस्थेषुः] पशु मेरे पास रहें (मित्रावरुणौ मे प्राणापानौ) मित्र और वरुण मुझे प्राण और अपान तथा (अग्निः मे दक्षं दधातु) अग्नि मुझे बल धारण करे ॥ ७ ॥

[५] (स्वप्न ! ते जनित्रं विद्म) हे स्वप्न ! तेरी उत्पत्ति हमें पता है। तू (ग्राह्याः पुत्रः असि) ग्राहीका पुत्र है और (यमस्य करणः) यमका साधन है ॥ १ ॥ तू (अन्तकः असि) अन्त करनेवाला है और तू (मृत्युः असि) मृत्यु है ॥ २ ॥ हे स्वप्न ! (तं त्वा तथा सं विद्म) उस तुझको वैसा हम जानते हैं। हे स्वप्न ! (सः नः दुःष्वप्न्यात् पाहि) वह तू हमें बुरे स्वप्नसे बचा ॥ ३ ॥ (स्वप्न ते जनित्रं विद्म) हे स्वप्न तेरी उत्पत्ति हमें पता है तू (निर्ऋत्याः पुत्र असि) दुर्गतिका पुत्र है और (यमस्य) यमका साधन है ॥ ४ ॥

स्वप्न ... हम जानते हैं तू (अभूत्याः पुत्रः) अभूतिका पुत्र है ॥ ५ ॥ तू (निर्भूत्याः पुत्रः) विनाशका पुत्र है ॥ ६ ॥ तू (पराभूत्याः पुत्रः) पराभवका पुत्र है ॥ ७ ॥ तू (देवजामीनां पुत्रः) इन्द्रियोंकी बहिनोंका पुत्र है ॥ ८ ॥ (अन्तकः असि मृत्युः असि) तू अन्तक और मृत्यु है ॥ ९ ॥ (स्वप्न तं त्वा तथा सं विद्म) हे स्वप्न, उस तुझको हम वैसा जानते हैं (सः नः दुःष्वप्न्यात् पाहि) वह तू हमको बुरे स्वप्नसे बचा ॥ १० ॥

[६] (अद्य अजैष्म) आज हमने विजय प्राप्त किया है (अद्य असनाम) हमने प्राप्तव्य प्राप्त किया है (वयं अनागसः अभूम) हम निष्पाप हुए हैं ॥ १ ॥ (उषः) हे उषा ! हम (यस्मात् दुःष्वप्न्यात् अभैष्म) जिस दुःस्वप्नसे डरे थे

क्षिपते तत् परा वह शपते तत् परा वह ॥ ३ ॥
यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तस्मा एनद् गमयामः ॥ ४ ॥
उषा देवी वाचा संविदाना वाग् देव्युषसा संविदाना ॥ ५ ॥
उषस्पतिर्वाचस्पतिना संविदानो वाचस्पतिरुषस्पतिना संविदानः ॥ ६ ॥
तेऽमुष्मै परा वहन्त्वरायान् दुर्णाम्नः सदान्वाः ॥ ७ ॥
कुम्भीकाः दूषीकाः पीयकान् ॥ ८ ॥ जाग्रद्दुष्वप्न्यं स्वप्नेदुष्वप्न्यम् ॥ ९ ॥
अनागमिष्यतो वरानवित्तेः संकल्पानमुच्या द्रुहः पाशान् ॥ १० ॥
तदमुष्मा अग्ने देवाः परा वहन्तु वध्रिर्यथासद् विथुरो न साधुः ॥ ११ ॥

(७)

तेनैनं विध्याम्यभूत्यैनं विध्यामि निर्भूत्यैनं विध्यामि पराभूत्यैनं विध्यामि ग्राह्यैनं विध्यामि तमसैनं विध्यामि ॥ १ ॥ देवानामेनं घोरैः क्रूरैः प्रैषैरभिप्रेष्यामि ॥ २ ॥ वैश्वानरस्यैनं दंष्ट्रयोरपि दधामि ॥ ३ ॥ एवानेवाव सा गरत् ॥ ४ ॥ यो३ऽस्मान् द्वेष्टि तमात्मा द्वेष्टु

भय होता है (तत् अप उच्छतु) वह हमसे दूर हटे ॥ २ ॥ (तत् क्षिपते परा वह) वह फेंकनेके लिये दूर ले जा (तत् शपते परा वह) वह शाप देनेवालेके लिये दूर ले जा ॥ ३ ॥ (यं द्विष्मः) जिसका हम सब द्वेष करते हैं और (यः च नः द्वेष्टि) जो हम सबका द्वेष करता है (तस्मै एनत् गमयामः) उसके पास हम इसको ले जाते हैं ॥ ४ ॥ (उषा देवी वाचा संविदाना) उषा देवी वाणीसे संमिलित हो और (वाक् देवी उषसा संविदाना) वाक् देवी उषा देवीसे संमिलित हो ॥ ५ ॥

(उषस्पतिः वाचस्पतिना संविदानः) उषाका पति वाणीके पतिके साथ संमिलित हो और (वाचस्पतिः उषस्पतिना संविदानः) वाणीका पति उषाके साथ मिले ॥ ६ ॥ (ते अरायान् दुर्णाम्नः सदान्वाः) वे निर्धनता दुष्टनामवाले कष्ट और कष्ट बढानेवाले (अमुष्मै परा वहन्तु) उस शत्रुके पास ले जावें ॥ ७ ॥ (कुम्भीकाः दूषीकाः पीयकान्) घडेके समान फूलनेवाले उदररोगोंको शरीरमें दोष उत्पन्न करनेवाले रोगों और प्राणघातक रोगोंको ॥ ८ ॥ तथा (जाग्रत् दुष्वप्न्यं) जागृतिके समय आनेवाला दुष्ट स्वप्न और (स्वप्ने दुष्वप्न्यं) स्वप्न के समय आनेवाला दुष्ट स्वप्न ॥ ९ ॥

(अनागमिष्यतः वरान्) न प्राप्त होनेवाले श्रेष्ठ पदार्थ (अवित्तेः संकल्पान्) दरिद्रताके संकल्प (अमुच्याः द्रुहः पाशान्) न छूटनेवाले द्रोहके पाशोंको ॥ १० ॥ हे अग्ने ! सब देव विपत्तियोंको (तत् अमुष्मै) शत्रुके पास (देवाः परा वहन्तु) सब देव ले जावें। (यथा) जिससे वह शत्रु (वध्रिः) निर्बल (विथुरः) व्याकुल और (साधुः न असत्) दुष्ट होवे ॥ ११ ॥

(७) (तेन एनं विध्यामि) उससे इसका वेध करता हूं, (अभूत्या निर्भूत्या ग्राह्या एनं विध्यामि) दुर्गति हानि और रोगसे इसको विद्ध करता हूं। (पराभूत्या) पराभवसे इसको पीडित करता हूं (तमसा एनं विध्यामि) अज्ञानसे इसको विद्ध करता हूं ॥ १ ॥ (देवानां घोरैः क्रूरैः प्रैषैः) देवोंके घोर क्रूर दुःखोंसे (एनं अभि प्रेष्यामि) इसको दुःखी करता हूं ॥ २ ॥ (वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोः एनं अपि दधामि) वैश्वानरकी दाढोंमें इसको धर देता हूं ॥ ३ ॥ (सा एव अनेव) वह आपत्ति इस रीतिसे या अन्य रीतिसे इसको (अव गरत्) निगल जावे ॥ ४ ॥ (यः अस्मान्

य एवं द्विष्मः स आत्मानं द्वेष्टु ॥ ५ ॥

निर्द्विषन्तं दिवो निः पृथिव्या निरन्तरिक्षाद् भजाम ॥ ६ ॥ सुयामंश्चाक्षुष ॥ ७ ॥

इदमहमामुष्यायणेऽमुष्याः पुत्रे दुःष्वप्न्यं मृजे ॥ ८ ॥

यददोअदो अभ्यगच्छन् यद् दोषा यत् पूर्वां रात्रिम् ॥ ९ ॥

यज्जाग्रद् यत् सुप्तो यद् दिवा यन्नक्तम् ॥ १० ॥

यदहरहरभिगच्छामि तस्मादेनमव दये ॥ ११ ॥

तं जहि तेन मन्दस्व तस्य पृष्टीरपि शृणीहि ॥ १२ ॥

स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥ १३ ॥

(८)

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥ १ ॥

तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ॥ २ ॥

स ग्राह्याः पाशान्मा मोचि ॥ ३ ॥

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥ ४ ॥

द्वेष्टि) जो हमारा द्वेष करता है (स आत्मा द्वेष्टु) उसका आत्मा द्वेष करे। (यं वयं द्विष्मः) जिसका हम द्वेष करते हैं (सः आत्मानं द्वेष्टु) वह अपने आत्माका द्वेष करे ॥ ५ ॥

(द्विषन्तं) द्वेष करनेवालेका (दिवः अन्तरिक्षात् पृथिव्याः) द्युलोक अन्तरिक्ष और पृथिवीके ऊपरसे (निः भजाम) भागना करते हैं ॥ ६ ॥ हे (सुयामन् चाक्षुष) उत्तम नियामक निरीक्षक ! ॥ ७ ॥ (इदं अहं) यह मैं (आमुष्यायणे अमुष्याः पुत्रे) इस गोत्रके इसके पुत्रमें (दुःष्वप्न्यं मृजे) दुष्ट स्वप्न भेजता हूं ॥ ८ ॥ (यत् अदः अदः) जो यह वैसा (अभिगच्छन्) मैं उसमें प्राप्त करता हूं (यत् दोषा यत् पूर्वां रात्रिं) जो रात्रीमें अथवा पूर्व रात्रीमें ॥ ९ ॥ (यत् जाग्रत्) जो जागते हुए, (यत् सुप्तः) जो सोते हुए (यत् दिवा यत् नक्तं) जो दिनमें और जो रात्रीमें ॥ १० ॥ (यत् अहः अहः अभिगच्छामि) जो प्रतिदिन मैं देखता हूं (तस्मात् एनं अव दये) उस दोषके कारण मैं उसके भागको ॥ ११ ॥ (तं जहि) उसको मार दे (तेन मन्दस्व) उसके साथ रह (तस्य पृष्टीः अपि शृणीहि) उसकी पसलियां तोड दे ॥ १२ ॥ (स मा जीवीत्) वह न जीवे (तं प्राणः जहातु) उसको प्राण छोड देवे ॥ १३ ॥

[८] (अस्माकं जितं) हमारा विजय हो (अस्माकं उद्भिन्नं) हमारा उदय हो (अस्माकं ऋतं) हमारा सत्य हो (अस्माकं तेजः) हमारा तेज बढे (अस्माकं ब्रह्म) हमारा ज्ञान बढे (अस्माकं स्वः) हमारा आत्मप्रकाश बढे (अस्माकं यज्ञः) हमारा यज्ञ सफल हो। (अस्माकं पशवः) हमारे पास पशु हों। (अस्माकं प्रजाः) हमारी प्रजा-संतान-बढे, (अस्माकं वीराः) हमारे अन्दर वीर हों ॥ १ ॥

(तस्मात् अमुं निर्भजामः) इस कारणके कारण हम इस शत्रुपर हमला चढाते हैं (अमुं आमुष्यायणं अमुष्याः पुत्रं असौ यः) जो इस गोत्रका इसका पुत्र हमारा शत्रु है ॥ २ ॥ (सः ग्राह्याः पाशात् मा मोचि) वह रोगके पाशोंसे न छूटे ॥ ३ ॥ (तस्य इदं वर्चः तेजः प्राणं आयुः निवेष्टयामि) उसका यह तेज बल प्राण और आयुको मैं घेरता हूं और (इदं एनं अधरांचं पादयामि) यह मैं इसको नीचे गिराता हूं ॥ ४ ॥ (सः निर्ऋत्याः पाशात् मा मोचि) वह दुर्गतिके पाशोंसे न छूटे

त्रिसप्त०।०। स निर्ऋत्याः पाशान्मा मोचि।० ॥ ॥
त्रिसप्त०।०। साऽभूत्याः पाशान्मा मोचि।० ॥ ६ ॥
त्रिसप्त०।०। स निर्भूत्याः पाशान्मा मोचि।० ॥ ७ ॥
त्रिसप्त०।०। स पराभूत्याः पाशान्मा मोचि।० ॥ ८ ॥
त्रिसप्त०।०। स देवजामीनां पाशान्मा मोचि।० ॥ ९ ॥
त्रिसप्त०।०। स वृहस्पतेः पाशान्मा मोचि।० ॥ १० ॥
त्रिसप्त०।०। स प्रजापतेः पाशान्मा मोचि।० ॥ ११ ॥
त्रिसप्त०।०। स ऋषीणां पाशान्मा मोचि।० ॥ १२ ॥
त्रिसप्त०।०। स आर्षेयाणां पाशान्मा मोचि।० ॥ १३ ॥
त्रिसप्त०।०। सोऽङ्गिरसां पाशान्मा मोचि।० ॥ १४ ॥
त्रिसप्त०।०। स आङ्गिरसानां पाशान्मा मोचि।० ॥ १५ ॥
त्रिसप्त०।०। सोऽथर्वणां पाशान्मा मोचि।० ॥ १६ ॥
त्रिसप्त०।०। स आथर्वणानां पाशान्मा मोचि।० ॥ १७ ॥
त्रिसप्त०।०। स वनस्पतीनां पाशान्मा मोचि।० ॥ १८ ॥
त्रिसप्त०।०। स वानस्पत्यानां पाशान्मा मोचि।० ॥ १९ ॥
त्रिसप्त०।०। स ऋतूनां पाशान्मा मोचि।० ॥ २० ॥
त्रिसप्त०।०। स आर्तवानां पाशान्मा मोचि।० ॥ २१ ॥
त्रिसप्त०।०। स मासानां पाशान्मा मोचि।० ॥ २२ ॥
त्रिसप्त०।०। सोऽर्धमासानां पाशान्मा मोचि।० ॥ २३ ॥
त्रिसप्त०।०। सोऽहोरात्राः पाशान्मा मोचि।० ॥ २४ ॥
त्रिसप्त०।०। सोऽह्नः संयतः पाशान्मा मोचि।० ॥ ॥
त्रिसप्त०।०। स द्यावापृथिव्योः पाशान्मा मोचि।० ॥ २६ ॥
त्रिसप्त०।०। स इन्द्राग्न्योः पाशान्मा मोचि।० ॥ ॥
त्रिसप्त०।०। स मित्रावरुणयोः पाशान्मा मोचि।० ॥ ८ ॥
त्रिसप्त०।०। स राज्ञो वरुणस्य पाशान्मा मोचि।० ॥ ॥

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं
पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥१०॥
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ॥११॥
स मृत्योः पड्वीशात् पाशान्मा मोचि ॥१२॥
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥१३॥

(९)

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः ॥ १ ॥
तदग्निराह तदु सोम आह पूषा मा धात् सुकृतस्य लोके ॥ २ ॥
अगन्म स्वः स्वरगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म ॥ ३ ॥
वस्योभूयाय वसुमान् यज्ञो वसु वंशिषीय वसुमान् भूयासं वसु मयि धेहि ॥ ४ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः।

इति षोडशं काण्डं समाप्तम् ॥

अयनयोः आर्तवेभ्यः ऋतुभ्यः मासेभ्यः ऋतुभ्यः आर्तवेभ्यः —मासेभ्यः अर्धमासेभ्यः — अहोरात्राभ्याम् अह्नः संयतः द्यावापृथिवीभ्याम् इन्द्राग्निभ्याम् मित्रावरुणाभ्याम् —वरुणस्य राज्ञः मृत्योः पड्वीशात् मा मोचि)। १—१२ ॥ यह बृहस्पति प्रजापति, ऋषि ऋषियोंसे उत्पन्न आंगिरस आंगिरसोंसे उत्पन्न, अथर्व, अथर्वोंसे उत्पन्न वनस्पति वनस्पतियोंसे उत्पन्न ऋतु ऋतुओंसे उत्पन्न महीने अर्धमास अहोरात्र दिन, द्यु, पृथिवी इन्द्र, अग्नि मित्र वरुण राजा वरुण और मृत्युके पाशसे न बचे ॥ १—१२ ॥ [तस्य इदं वर्चः] उसका यह तेज, प्राण, आयु आदिको मैं घेरता हूं और उसको नीचे गिराता हूं ॥ १३ ॥

[९] (अस्माकं जितं) हमारा विजय हो (अस्माकं उद्भिन्नं) हमारा उदय हो (विश्वाः पृतनाः अरातीः) सब शत्रुसेनाओंका विनाश किया है ॥ १ ॥ (अग्निः तत् आह) अग्निने यह कहा है (सोमः उ तत् आह) सोमने यह कहा है। (पूषा सुकृतस्य लोके मा धात्) पूषा मुझे पुण्य लोकमें धारण करे ॥ २ ॥ हम (स्वः अगन्म) आत्माकी ज्योतिको प्राप्त होते हैं (स्वः अगन्म) हम अपने तेजको प्राप्त होते हैं। (सूर्यस्य ज्योतिषा सं अगन्म) सूर्यकी ज्योतिसे हम संयुक्त होते हैं ॥ ३ ॥ (वस्यः भूयाय) ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये (वसुमान् भूयासं) धनयुक्त होऊं (वसुमान् यज्ञः) ऐश्वर्य यज्ञ ही है (वसु वंशिषीय) धन प्राप्त करूं। (मयि वसु धेहि) मुझमें धन भी धारण कर ॥ ४ ॥

षोडश काण्ड समाप्त।

विजय की प्राप्ति।

प्रत्येक मनुष्यको अपने विजयके लिये यत्न करना चाहिये। छोटेसे छोटा बालक भी अपना पराभव सह नहीं सकता। यदि उसका पराभव होगया तो बालक भी रोता है, चीखता है और पराभवसे दूर भागनेकी चेष्टा करता है। इसी तरह मनुष्यके अन्दर भी पराभवका दुःख सह सकनेकी इच्छा नहीं होती। सदा अपना विजय हो, अपना यश बढे, अपनी कीर्ति दिगन्तमें फैले यही इच्छा मनुष्य करता रहता है। अतः मनुष्यको यह विजय कैसे प्राप्त हो इसका विचार करना चाहिये। इस विजय सूक्तके ९ पर्यायसूक्तोंमें विजयप्राप्तिके लिये आवश्यक तत्त्वोंका विचार किया है। अतः अपना विजय चाहनेवाले पाठक इसका मनन करें और लाभ उठावें।

विजयके प्रकार

विजयके बहुत प्रकार हैं। एक आध्यात्मिक क्षेत्रमें विजय है, दूसरा आधिभौतिक क्षेत्रका विजय है और तीसरा आधिदैविक क्षेत्रके संबंधका विजय है। ये मुख्यतः तीन प्रकारके विजय हैं। तथापि इस प्रत्येक क्षेत्रके विजयके भी अनेक प्रकार हैं उन सबका विचार यहां नहीं किया जा सकता तथापि सुबोधताके लिये उनका थोडासा स्वरूप बताया जाता है।

आध्यात्मिक विजय।

आध्यात्मिक क्षेत्रमें शरीर इंद्रियां मन प्राण बुद्धि अहंकार चित्त आत्मा अन्तरात्मा प्रकृति और सब प्रकारकी संस्कृति आदिका संबंध है। इनको निर्दोष रखना इनको अपनी निज शक्तिसे परिपूर्ण करना और इन सबको आत्मोन्नतिमें नियोजित करनेसे आध्यात्मिक क्षेत्रका विजय होता है। यहां प्रत्येक इंद्रियकी प्रवृत्ति उसकी निवृत्ति उसमें होनेवाला पाप और पुण्य उसके गुण आदि सबका विचार आता है। योग धर्म वैराग्य आदि शास्त्र मानवशास्त्र आदि शास्त्र आध्यात्मिक विजयकी सिद्धता करनेके लिये हैं। मनुष्योंके पास अपने हैं। इसकी सूचना देनेके लिये प्रथम पर्याय सूक्तमें कहा है कि

> निर्दाहः तनूशुचिः मनः-शुचिः आत्म-शुचिः एवं च अभिमन्यानि।

शरीरको बाधक शरीरके सब दोष, मनके बाधक भाव और आत्माका घात करनेवाले सब विचार इन सबको मैं दूर करता हूं।' इन चारोंमें प्रायः आत्माका पराजय होनेके कारण आगये हैं; विविध रोगोंके कारण अपने शरीरमें दाह पीडा, कष्ट अथवा दुःख होते हैं, शरीरमें जब दोषका संचय होता है तब ही कष्ट उत्पन्न होता है तभी विविध रोग होते हैं। मनके बुरे भावोंसे मनकी निर्बलता होती है और इन सबसे आत्माका अधःपतन होता है। पाठक इन चार शब्दोंका विचार करें और जानें कि इन चारोंसे आध्यात्मिक क्षेत्र कैसे व्यापे हैं। यदि ठीक प्रकार मनन किया जाय और इन चारोंके शब्दोंका व्यापक विचार किया जाय तो यह बात पाठकोंके मनमें ठीक प्रकार जम जायगी कि मनुष्यके सब वैयक्तिक दुःखोंके ये चार ही कारण हैं। यदि इनके विषयमें योग्य प्रतिबन्ध किया जाय तो आध्यात्मिक क्षेत्रमें निश्चयपूर्वक विजय प्राप्त होगा। पूर्वोक्त चार शब्दोंके प्रति शब्द जाननेसे ही विजयके साधन ज्ञात हो सकते हैं—

> शमः तनूशुद्धिः मनःशुद्धिः आत्मशुद्धिः।

ये चार शब्द हैं जिनसे पूर्वोक्त चार दोष दूर हो सकते हैं। इंद्रियशमन इंद्रियदमन आदिसे शरीरका दाह दूर होता है और शरीरमें सर्वत्र शान्ति होती है, तनूशुद्धिसे शरीरके सब दोष दूर होते हैं मनकी पवित्रतासे मनका बल बढ जाता है और आत्मशुद्धिसे आत्मोन्नति होती है। इस तरह विचार करनेपर ज्ञात होगा कि आत्मोन्नतिके ये चार साधन हैं और इसी लिये पूर्वोक्त चार दोषोंको दूर करनेकी सूचना प्रथम पर्याय सूक्तमें की है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसी तरहसे कहा है—

> ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
> संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ ६२॥
> क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
> स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ ६३॥
> रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
> आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ ६४॥
> प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
> प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ ६५॥

"विषयोंके चिन्तनसे आसक्ति, आसक्तिसे कामना, कामनासे क्रोध, क्रोधसे मूढता, मूढतासे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे मनुष्यका सर्वनाश होता है। परंतु जिसका मन वशमें है और जिसकी इंद्रियां रागद्वेषरहित हैं वह इंद्रियोंसे कार्य करते हुए भी प्रसन्न रहता है, चित्त प्रसन्न रहनेसे सब दुःख दूर होते हैं और उसकी बुद्धि भी स्थिर होती है। इन श्लोकोंमें आध्यात्मिक दुःखोंके कारण कहे हैं और उनको दूर करनेके उपाय भी कहे हैं। अतः ये श्लोक आत्मविद्याके विषयका विचार करनेके समय बडे बोधप्रद हो सकते हैं। अस्तु इस प्रकारके जो जो दोष शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धि और आत्मामें होते हैं वे क्या करते हैं देखिये—

रुजन् परिरुजन् मृणन् प्रमृणन् । (पर्यायसू. ११९–१ ।)

जहां दोष होते हैं वहां वे तोडते हैं, मरोडते हैं, कुचलते हैं, फोडते हैं, काटते हैं, चीरते हैं, नाश करते हैं, इस तरह अनेक रीतिसे नाश करते हैं। पाठक काम और क्रोधके समय अपने अन्दर देखेंगे तो उनको स्पष्टतया पता लग जायगा कि ये काम और क्रोध मनुष्यके शरीरमें किस प्रकार तोडने, मरोडने, चीरने और नाश करनेके कार्य करते हैं। काम तो शरीरका आधारभूत जो वीर्य वही नष्ट करता है, क्रोधसे तो इसके जीवनबिंदु ही नष्ट होते हैं, इसी प्रकार सब विकार तोडने मरोडने और नाश करनेवाले होते हैं। इसलिये आध्यात्मिक भूमिकाके इन सब शत्रुओंको दूर करना चाहिये। अतः कहा है—

म्रोकः द्विष्मः तं अभि अतिसृजाम । (मं. ११५)

म्रोकं यदि ते तन्दूषि अतिसृजामि (मं. ११७)

जिन तापादिकों और विविध दोषोंका हम द्वेष करते हैं अर्थात् उनको अपने पास रखना नहीं चाहते उनको हम दूर करते हैं। पातक दोषक और शरीरमें दोष बढानेवाले सब दोषोंको हम दूर करते हैं। यह दोषोंको दूर करना इसीलिये है कि अन्तःकरणके सब दोष दूर हों और प्रसन्नता मिले। इसी विषयमें और देखिये—

यत् ते घोरं तत् (अतिसृजामि)। (मं. ११८)

शरीरं आप अस्मद् एव प्रयन्तु। (मं. ११९–१)

आपः शिवतमा मा उपस्पृशत। (मं. ११२)

इन्द्रस्य इन्द्रियेण अभिषिञ्चतु (मं. ११९)

"जो तेरा घोर भयंकर हानिकारक दोष है उसको मैं तुझसे दूर करता हूं। दोष दूर करनेके लिये जलचिकित्सा करना योग्य है। शुद्ध जल हमारे शरीरसे सब रोग और सब पापोंको दूर करे। जल अपने शुभगुणसे मेरे शरीरको स्पर्श करे। इन्द्र अर्थात् आत्माकी शक्तिसे अभिषेक किया जावे।" यहां जलचिकित्सासे शरीरके सब दोष दूर करनेका उपदेश है, यह अत्यंत महत्त्वका है। शरीरमें जो कोई दोष होंगे उनको विविध प्रयोगोंसे दूर करनेका नाम जलचिकित्सा है। शरीरको शीतजलका स्पर्श सुख देनेवाला जब लगता है तब समझना चाहिये कि शरीर स्वस्थ है। जब शुद्ध शीतजलका स्पर्श कष्ट देने लगता है तब जानना चाहिये कि कुछ दोष शरीरमें हुए हैं। वे सब दोष जलचिकित्सासे दूर करने चाहिये और इन्द्रकी शक्तिके साथ स्नान करना चाहिये। जिस प्रकार जलके स्नानसे सब शरीर भीगता है उसी प्रकार आत्माकी शक्तिसे सब शरीर संचारित होना चाहिये। सब शरीरमें आत्मशक्तिका सुखसे संचार होना चाहिये। इससे—

मयि सर्वं वर्चः आयत। (मं. १११)

मनुष्यमें आरोग्य और तेजस्विता बढेगी।' जल ही यह सब कार्य करेगा। जलचिकित्सासे ही वीर्य, ओज, तेज दूर होंगे और शरीरकी कान्ति भी बढेगी। इस प्रकार शरीरका उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त होगा। यह स्वास्थ्य मनुष्योंको प्राप्त हो इसलिये—

अपां वृषभः अतिसृष्टः।

दिव्याः आपः अतिसृष्टाः। (मं. १२१)

जलोंकी वृष्टि करनेवाला मेघ अपने स्थानसे छूटा हुआ है अर्थात् उससे वृष्टि होगयी, दिव्य जल जो निकलते हैं वे भी सुखसे रीतिसे प्रवाहित हो रहे हैं।" अर्थात् उत्तम वृष्टि होगयी है। परमेश्वरीय नियमसे जो वृष्टि हो रही है इसका हेतु यह है कि मनुष्य उससे स्वास्थ्य प्राप्त करें और अपनी आध्यात्मिक उन्नति सिद्ध करें। यहां वृष्टिका उदाहरण देते हुए मेघके दृष्टान्तसे सब लोगोंको कहा है कि जैसे मेघ जगत्की भलाईके लिये पूर्णतासे आत्मसमर्पण करता है उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यको जगत्की भलाईके लिये आत्मसमर्पण करना चाहिये। इतने विचार इस मन्त्रके प्रथम भागमें सूक्ष्मसे सुचकता कहे हैं। अपनी उन्नति चाहनेवाले पाठक इसके मननसे पर्याप्त बोध प्राप्त कर सकते हैं।

इंद्रियशुद्धि।

आत्मशक्तिके लिये इंद्रियकी पवित्रताकी अत्यंत आवश्यकता

होती है। पवित्रताके बिना किसीकी उन्नति होना सर्वथा असम्भव है। अतः द्वितीय पर्यायसूक्तमें अपनी पवित्रताका विषय संक्षेपसे कहा है। सबसे पहिले सब मनुष्योंको एक अत्यंत उत्तम उपदेश दिया है वह पाठक देखें और स्मरण रखें—

दुःशंसेभ्यः निः। (मं २।१)

"दुष्ट स्तुतिकी गति अर्थात् बुरा चालचलन बुरा व्यवहार दूर हो हमसे निःशेषतया बुरा व्यवहार दूर हो।" हमारे अन्दर दुष्ट गति करनेवाले भाव न रहें और हमारे समाजमें दुराचारी मनुष्य न रहें। इस प्रकार एक व्यक्तिका सुधार हो और उसी नियमसे समाजका भी सुधार हो। व्यक्तिके सुधार का और समाजके सुधारका नियम एक ही है। व्यक्तिके सुधारके लिये दुष्ट गुणोंको दूर करना होता है। और समाजके सुधारके लिये दुष्ट गुणोंसे युक्त मनुष्यों को दूर करना होता है। दुष्ट मनुष्योंको दूर करनेका अर्थ ही समाजसे दुष्ट गुणोंको आमूलस्थान दूर हो, एवं सर्वत्र व्यक्तिका नियम दुष्टताका हटाना ही है। इस तरह सर्वसाधारण व्यक्तिका उपदेश करके पश्चात् विशेष स्पष्टीकरण करनेके उद्देश्यसे कुछ इंद्रियोंका नामनिर्देश करके आत्मसुधारका मार्ग दर्शाया है—

कर्णा मधुमती वाक्। मधुमतीं वाचं वदेयम्। (मं २।१-२)

"वाणी मीठी हो और वक्तृत्वशक्ति हो मनुष्य मीठी और स्वमधुर वाणीसे आपसमें बातचीत करें।" मनुष्योंके अन्दर जो सबसे विकार होते हैं उनका कारण कटु शब्दों का प्रयोग है। मनुष्यके मनमें विष भरा रहता है वह कटु शब्दों द्वारा बाहर आता है और सब स्थानमें विषैला वायुमंडल उत्पन्न करता है। इसलिये मनुष्य अपनी अन्तःशुद्धि करेगा तो उससे कदापि कटु शब्दोंके प्रयोग नहीं किये जायेंगे।

मनुष्य ऐसे शब्दोंका प्रयोग करे कि वे मीठे हों मनुष्योंमें मित्रता हो और उत्पन्न हुई मित्रता सुदृढ हो जाय। केवल शब्दोंकी मधुरता ही पर्याप्त नहीं है प्रत्युत शब्दोंमें (कर्णाः) बल चाहिये। उत्साहकी वृद्धि करनेवाले शब्द उच्चारने चाहियें। कई तो कई मनुष्य अपने ही पुत्रको गुलाम करके पुकारते हैं दूसरेको तू मरेगा करके कहते हैं तू पक्का हराम है ऐसा कहते हैं। ऐसे शब्दोंसे अपनी वाणी तो गर्हित होती ही है परंतु ये शब्द जो जो सुनते हैं उनके मनमें भी निर्बलता का वायुमंडल उत्पन्न होता है। इसलिये मनुष्य को उचित है कि वह उत्साहपूर्ण बलदायी प्रभावपूर्ण शब्दोंका प्रयोग करे। अपने पुत्रको तू शूर है ऐसा कहे तू अमर होगा ऐसा बोलें तू ब्रह्मस्वरूप है तू स्वयं आनन्दरूप है ऐसा कहें। ऐसा बोलनेसे सब सुननेवालोंके मनोंमें उत्साहका वायुमंडल उत्पन्न होता है। मनुष्योंके नाम भी कुत्सित रखनेके स्थानमें निर्भयराम एवं रखें। जिससे प्रत्येक समय वह शब्द उच्चारनेसे शुभविचार उत्पन्न हों। प्रत्येक पाठक निश्चयपूर्वक ऐसा यत्न करे कि अपनी वाणीसे कदापि अशुभ विचार न प्रकट हों और सदा उत्साहमय विचार ही प्रकट हों। इसलिये मनुष्यको क्या करना चाहिये? इस प्रश्नका उत्तर यहां केवल दो ही शब्दों द्वारा दिया है। गोपा और गोपीथः ये दो शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। मनुष्योंका संपूर्ण सत्यधर्म इन शब्दोंमें आगया है। 'गोप' का अर्थ है इंद्रियोंकी रक्षा और 'गोपीथ' का अर्थ है इंद्रियोंकी पालना। एकसे धारणधर्म करनेका उपदेश मिलता है और दूसरेसे इंद्रियोंके संयमका बोध मिलता है। जैसे गोरक्षा करनेवाले गौको उत्तम घास आदि खानेके लिये देते हैं और पुष्ट करते हैं और उनको स्वच्छन्द घूमने नहीं देते हैं, इसी तरह मनुष्य अपनी इंद्रियों की शक्ति बढावें और उनको वश भी रखें। मनुष्यकी उन्नति के लिये इस प्रकार इंद्रियसंयम और मनोनिग्रहकी अत्यंत आवश्यकता है। पाठक यह बोध इन दो शब्दोंसे लें। जो ऐसा संयम करनेवाले होंगे वे ही (उपहूताः) पास बुलाने योग्य हैं। और जो लोग अपने इंद्रियोंको स्वेच्छाचारी करते हैं वे समाजमें आदरसे बुलाने योग्य नहीं हैं। पाठक इसका विचार करें और इस वेदोपदेशसे अपना वैयक्तिक और सामाजिक आचरण सुधारें। आगे कानों के विषयमें बडा उत्तम उपदेश दिया है—

भद्रश्रुतौ कर्णौ। सुश्रुतौ कर्णौ। भद्रं श्लोकं श्रूयासम्।
सुश्रुतिः उपश्रुतिः च मा मा हासिष्टाम्। (मं २।४-५)

"मेरे कान अच्छे उपदेश सुनें कल्याण उपदेशोंसे मेरे कान युक्त हुए हों। कल्याण करनेवाली वार्ता मैं सुना करूंगा। उत्तम उपदेश सुनने और दूरसे अच्छे शब्द सुननेकी शक्ति मेरी कभी क्षीण न हो। यहां कानों की कर्तव्यता का पालन दर्शाया है। ईश्वरने मनुष्यको कान इसीलिये दिये हैं कि उनसे मनुष्य सदा उत्तम उपदेश सुने कभी बुरे शब्द न सुने। ऋग्वेद में भी कहा है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
(ऋ १।८९।८)

इन कानोंसे कल्याणकारक उपदेश सुनें और आंखोंसे कल्याणकारक वस्तु देखें। ये सब उपदेश इसीलिये हैं कि इनसे मनुष्य का सुधार हो मनुष्य पवित्र बने और उन्नत हो। इस प्रकार कानोंके विषयमें कहनेके पश्चात् नेत्रके विषयमें भी कहा है-

सौपर्णं चक्षुः अजस्रम् (मं २।५)

गरुडके समान मेरी तीक्ष्ण दृष्टि हो और वह सर्वत्र कल्याण का वस्तुएं देखें। इस प्रकार इंद्रियशुद्धिके विषयमें इस पर्यायसूक्तमें कहा है। यहां-

ऋषीणां प्रस्तरः असि। दैव्याय प्रस्तराय नमः।

(मं २।६)

तू ऋषियोंका प्रस्तर है। इस दिव्य प्रस्तरके लिये नमस्कार है। ऋषियोंकी यह आत्मा है। यही दिव्य आसन है। इसके विषयमें प्रत्येकको अपने अन्तः करणमें पूज्य भाव धारण करना चाहिये। इसी आत्माकी उपासनासे सब का हित होने वाला है। यहां तक उपदेश इस द्वितीय पर्यायसूक्तमें कहा है।

अधिभौतिक विषय।

पूर्वोक्त प्रकार मनुष्यकी आध्यात्मिक और वैयक्तिक उन्नति होनेके पश्चात् उसको अपना आधिभौतिक विषय संपादन कर लेना यत्न करना चाहिये। इसका विचार इस १९ वें काण्डके तृतीय पर्यायसूक्तमें किया है वह बोधप्रद उपदेश पाठक अब देखें।

अहं रयीणां मूर्धा भूयासं। समानानां मूर्धा भूयासम्

(मं ३।१२)

अहं रयीणां नाभिः भूयासम्। समानानां नाभिः भूयासम्

(मं ४।१ २)

मैं धनोंका स्वामी और केन्द्र बनूं। मैं समान दर्जेके लोगोंमें मुखिया और उनका मध्य केन्द्र बनूं। अपनी योग्यता नेता बनाने योग्य होनी चाहिये। प्रत्येक मनुष्य नेता नहीं होसकता तथापि यदि वह उसप्रकार प्रयत्न यत्न प्रत्येक मनुष्य करेगा तो उसका अवश्य सुधार होगा। इस लिये इस प्रकारकी इच्छा मनुष्य अपने मनमें धारण करे और धर्मानुकूल उचित यत्न करे। ऐसा नेता बननेके लिये जो गुण मनुष्यको अपने अन्दर बढाने चाहियें उनकी सूचना इसी सूक्तमें अगले मंत्रोंमें दी है देखिये-

तेजः देव मूर्धा विमर्शो उग्र चमसा भर्ता धरुणः

विमोक। आर्द्रपवा, आर्द्रदानु मातरिश्वा च मा मा

हासिषम्॥ (मं १२-४)

तेजस्विता महत्त्वाकांक्षा, मस्तिष्क की शक्ति, विशेष गुण धर्म ग्रहणशक्ति, धारकशक्ति अन्यशक्तिकी इच्छा विघ्न दूर करनेकी इच्छा और प्राण ये मेरा त्याग न करें। ये गुण मनुष्यमें रहेंगे और बढेंगे तो ही वह मनुष्योंमें नेता और मुखिया बन सकता है। ये गुण विशेष महत्वके हैं, इनका इसका विचार अधिक करना चाहिये। (तेजः) तेजस्विता इसमें शरीर इंद्रिय मन बुद्धि और आत्माकी तेजस्विताओंका अन्तर्भाव होता है मनुष्य सब प्रकारसे तेजस्वी बने। (देव) इच्छा अर्थात् अपने वैयक्तिक सामाजिक और राष्ट्रीय महत्वकी इच्छा। इसी इच्छासे मनुष्य पुरुषार्थी होता है और विशेष श्रेष्ठ कर्म करता हुआ अपना और समाजका उद्धार करता है। (मूर्धा) सिर अर्थात् मस्तिष्क। मनुष्यकी योग्यता उच्च या नीच इतना उसके मस्तिष्ककी शक्तिपर निर्भर है। प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि वह अपनी मस्तिष्ककी शक्ति बढावे। (विमर्शो) विशेष धर्मोंसे युक्त बनना। साधारण गुणकर्मों और धर्मोंसे युक्त होनेसे मनुष्य साधारण ही हो सकता है, पर उसकी विशेष योग्यता होगी तो यदि वह असाधारण और विशेष धर्मोंसे युक्त हो तो उसको उचित है कि वह अपने अन्दर विशेष धर्मोंकी वृद्धि करे। सामान्य मनुष्यमें जो धर्म नहीं होते ऐसे गुण धर्म उत्साहसे अपने अन्दर बढाने चाहिये। (उग्रः चमसः) ये ग्रहणात्मक हैं ये ग्रहणके सब साधनोंके ग्रहण हैं। सब प्रकारके ग्रहण करनेसे और धारण करनेकी शक्ति होनेसे ही मनुष्यकी योग्यता बढ सकती है। मनुष्य धारक होना चाहिये। धारकशक्ति बनना मनुष्यका ध्येय है। (भर्ता) धारण करनेवाला समाजकी धारणा राष्ट्रकी धारणा सबकी धारणा करना मनुष्यका कर्तव्य है। दूसरे प्राणियोंके सबके धारण आधार देना बडा होता है। (धरुणः) इसका भी धारक ही अर्थ है इसमें कुछ अधिक है। स्वयं स्थिर रहकर दूसरोंके दुःख समुद्रसे पार करनेके लिये अपना आधार देनेका कार्य करना मनुष्यको योग्य है। मनुष्यको अपने अन्दर इसी शक्ति प्राप्त करना चाहिये।

(वि-मोकः) विमोचन करनेवाला मनुष्योंको दुःख आदिसे छुडानेवाला, मनुष्योंको बन्धनसे पार करनेवाला मनुष्योंको स्वतंत्रता देनेवाला जो नेता होगा वही सबके लिये कल्याणकारक योग्य है। यही लोगोंका परित्राण सज्जनोंकी रक्षा दुष्टोंका विनाश और धर्म की स्थापना करनेका अर्थ है। (आर्द्र-पवि)

पवित्र अर्थ है उच्चार करना किंवा स्तवन। शत्रुके ऊपरसे जिसका शस्त्र तीक्ष्ण होता है अथवा शत्रुका नाश करनेके लिये जिसका शस्त्र अर्ध्य अर्थात् तीक्ष्ण करनेके लिये सिद्ध है उसका यह नाम है। धर्मयुद्ध करनेके लिये जो तैयार होता है उसका यह नाम है। (अर्क-सानुः) अर्चना स्तोत्रसे अर्कमासनका जो गान करता है, जिसका मन स्तोत्र सदा अर्ध्य रहता है, या स्तुति करता है उसका यह नाम है। (मातरि—श्वा) अपनी माताके अन्दर जिसका आयत होता है जो मातृभक्त है मातृभूमिके अन्दर इसलिये रहता है कि अपने जीवन समर्पणसे मातृभूमिकी सेवा होय इसलिये जो मातृभूमिमें संचार करता है॥

ये सात शब्द मनुष्यके विशेष कर्तव्य बता रहे हैं। मनुष्य ये कर्तव्य करें। ये कर्तव्य मनुष्यसे कदापि दूर न हों। इन कर्तव्योंके विषयमें मनुष्य कदापि विमुख न हों। इन नामोंसे और इनसे बोधित होनेवाले कर्तव्योंसे जो पुरुष युक्त होते हैं वेही श्रेष्ठ और उच्च होते हैं। यहां कई निर्बल मनुष्य कहेंगे कि हम निर्बल हैं हम इन गुणधर्मोंको धारण नहीं कर सकते इसके लिये आत्माका स्वभाव कैसा है यह बात इसी सूक्तके मंत्र स्पष्ट करते हैं-

आत्मा बृहस्पतिः सुमनाः इन्द्रः। (मं ३।५)
विश्वमेव सम्भृतः अग्निः। (मं ३।६)
मर्त्येषु अमृतः सुधा। (मं ७।१)

“आत्मा ज्ञानयुक्त है मनुष्योंके हृदयोंमें निवास करता है मनुष्योंके अन्दर मनन करनेवाला है अपने विशेष धर्मसे वह इन्द्र जैसा तेजस्वी हुआ गंभीर है। मरण धर्मवाले शरीरमें यह अमर है और उत्तम तेजसे युक्त है।” ये अपने आत्माके गुणधर्म हैं यह जानकर विचारसे और मननसे इन गुणोंका साक्षात्कार करें। इस ज्ञानसे मनुष्यकी निर्बलता दूर होगी और वह पूर्वोक्त गुणोंको अपने अंदर बढानेमें समर्थ होगा। इस तरह आत्मिक बल प्राप्त होनेसे-

असन्तापं हृदयम्। उर्वी गव्यूतिः। (मं० ३।६)

“हृदय संताप रहित अर्थात् शान्त होता है और योगक्षेमकी सिद्धिकी मर्यादा बडी विस्तृत होती है। अपनी सब शक्ति बढती है। प्रभावशाली जीवन होजाता है। आत्माकी शांति उसके सब व्यवहारमें दीखती है और वह कैसे भी भयंकर प्रसंगमें शान्त और गंभीर हो कार्य करता है कभी व्याकुल नहीं होता। शरीरके नाश होनेपर भी मैं अमर हूं यह उसका विश्वास उसको निडर करता है और महान् सत्कर्म उससे कराता है। ऐसी अवस्थामें सब देव उसके रक्षक होते हैं-

सूर्य वायुः अग्निः यमः सरस्वती पान्तु।
(मं ४।४)

‘सूर्य, वायु अग्नि यम और सरस्वती उसकी रक्षा करते हैं। सूर्य नेत्रस्थानमें वायु प्राणके स्थानमें अग्नि वाणीके स्थानमें यम शिश्नस्थानमें सरस्वती बुद्धिस्थानमें रहकर उसको हरएक प्रकारकी सहायता देते हैं और उसको अपनी दिव्य शक्तिसे पवित्र करते हैं। आत्मशक्तिसे युक्त पुरुषको इस तरह सब देव सहायक होते हैं। यह विषय इससे पूर्व भी आचुका है और वेदमें यह वारंवार कहा गया है। इसलिये जो मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त करता है और अपना जीवन पवित्र बनाता है उसको सब देवताओंकी सहायता होती है यह सिद्धान्त पाठक मनमें धारण करें। ऐसा मनुष्य निर्भय होकर व्यवहार करता है और इसलिये वह मनुष्य उसका जैसा बनने योग्य होता है। वह कहता है कि-

प्राणो मां मा हासीत्। अपानः अवहाय मा परागात्।
(मं ७।१)

मेरा प्राण और अपान मुझे छोडकर न दूर जावे। यह ऐसा इसलिये कहता है कि उसने अपना सब जीवन ईश्वरकी भक्ति और सेवाके लिये समर्पित किया होता है वह अपने जीवनसे जनताकी सेवा करना चाहता है। अपना प्राण वह ईश्वरके लिये ही समर्पित करना चाहता है। उसे कार्यका स्मरण भी नहीं है। वह जानता है कि-

मित्रावरुणौ मे प्राणापानौ। अग्निः आयुः स्वस्ति।
(मं ७।३)

‘अपने प्राण और अपान ये अब प्रसन्न मित्र और वरुण देवता हैं और उनके अन्दरका सब सामर्थ्य मेरा कल्याण करता है।” इस तरह वह देखता है और अनुभव करता है कि अपना सब देह और जीवन देवतामय हुआ है। इस समय वह दुष्ट कल्पनाके पूर्णतया दूर होता है सब उसका देवताकार स्वरूप बनता है वह सच्ची भावसे प्रशस्त कार्य करता है उसको दैव कार्य करनेमें कोई भय नहीं होते क्योंकि वह निर्भय बना होता है, इस समय वह अनुभव करता है कि-

अग्निः न स्पृशे। (मं ७।७)

' अग्नि अपने में बल धारण करता है । " अन्य देव अन्यान्य सामर्थ्य धारण करते हैं। इसका आत्मा अनेक ईश्वरीय गुणोंसे प्रभावशाली हुआ होता है। ऐसे महाप्रभावी धन्य है, वही प्रभावशाली नेता होसकता है और वही लोकसंग्रह कर नेमें समर्थ होता है और वही मनुष्य जगत्‌को सच्चा मार्ग बता सकता है। युगयुगमें ऐसे सत्पुरुष आते हैं और जनतामें प्रभाव कार्य करते हैं और समयमें पड़कर सज्जनोंको कल्याणविधायक मार्ग बताते हैं।

स्वप्न।

आगे पंचम और षष्ठ इन दो पर्यायसूक्तोंमें स्वप्नका विषय कहा है। इस सूक्तमें दुष्ट स्वप्नके जो कारण दिये हैं वे ये हैं-

माह्राः निर्ऋत्याः अभूत्याः निर्भूत्याः पराभूत्याः देवजामीनां पुत्रः स्वप्नः। (मं ५।१ ८)

रोग दुरवस्था हानि दुर्गति पराभव और इंद्रियदोष इनके कारण दुष्ट स्वप्न आते हैं। ये दुष्ट स्वप्न मानो मृत्युका संदेश होते हैं। इसलिये दुष्ट स्वप्न होते ही मनुष्यको उचित है कि अपने अन्दर जो रोगबीज दुसे हों उनको दूर करनेका यत्न करें। दुष्ट स्वप्नके जो कारण यहां दिये हैं उनका भी थोडासा अधिक विचार यहां करना चाहिये। (ग्राही) भयानक रोग जो शरीरमें आनेपर उसका शरीरको छोडते नहीं और दुःख देते देते अन्तमें प्राण हरण कर लेते हैं। ऐसे रोग शरीरमें होनेपर बारबार दुष्ट स्वप्न होते हैं अतः यदि इस रोगाध दुष्ट स्वप्न होते हों तो उनको दूर करनेके लिये चिकित्साद्वारा रोगबीजोंको दूर करना चाहिये। शरीर निर्दोष और नीरोग करना चाहिये। इस कार्यके लिये इसी काण्डमें पूर्वस्थानमें पथ्यचिकित्साका उपाय बताया है। (निर्ऋति) ऋतका अर्थ है उन्नति अनुकूल समर्थता और सामर्थ्य। इसके विरुद्ध अर्थ निर्ऋतिका है। असमर्थता, प्रमाद, क्षीणता और निर्बलता भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इनको दूर करनेके लिये जो आवश्यक उपाय हों उनको व्यवहारमें लाना चाहिये। (अभूति) ऐश्वर्यसे हीन होना और (निर्भूति) महाविपत्तिमें पडना तथा (पराभूति) पराभव होना, पराधीन पराधीन और परवश होना इन कारणोंसे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इन कारणोंको दूर करनेके लिये बहुतसे उपाय हैं प्रसंगवश जिसे निश्चित उपाय होते हैं। अतः उनका अवलंबन योग्य रीतिसे करना चाहिये। मुख्य उपाय स्वावलंबनसे स्वाधीनता प्राप्त करना है। (देवजामी)

अपने शरीरमें देव नाम इंद्रियोंका है उनकी बहिनें जामियां हैं। उनकी न्यूनाधिकतासे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इस कारण संयमादिद्वारा अपने इंद्रियोंको निर्दोष निरोग और स्वस्थ रखना अत्यंत आवश्यक है। अर्थात् इस तरह अपने अन्दर और अपने राष्ट्रमें भी जो दुष्ट स्वप्नके कारण उत्पन्न हों, उनको दूर करना मनुष्योंका कर्तव्य है।

मनुष्यकी परीक्षा स्वप्नसे होती है मनुष्यको कैसे स्वप्न होते हैं, इसपर वह स्वस्थ है या रोगी है व्यापारी है या दुराचारी है शुभ विचारवाला है या अशुभ विचारवाला है इसका निश्चय होता है। मनुष्यको ऐसे स्वप्न आयेंगे जो अच्छा है - कि मैं ईश्वर उपासना कर रहा हूं, आचिन्त्यमें आनंदित शार्थकाल सुन रहा हूं, सत्पुरुषोंका सत्संग होता है। ' ऐसे शुभ स्वप्न आने लगे अथवा बिल्कुल स्वप्न ही न हुए तो समझना चाहिये कि उसका शरीर स्वस्थ है। अथवा बुरे स्वप्न आने लगे तो स्वास्थ्यमें कुछ न कुछ बिगाड है, ऐसा मानकर उसके सुधारका यत्न करना चाहिये। कहा गया है

यस्मात् दुःष्वप्न्यात् अभैष्म तद् अपगच्छतु।

(मं ७।२)

"जिस दुःस्वप्नसे हमें भय होता है वह दुःस्वप्नका कारण हमसे दूर होवे। वह कारण किसी दूसरे स्थानपर जाने उसे पास न रहे। इस प्रकार अपने आपकी निर्दोषता सिद्ध करनेपर ही वह निर्दोष मनुष्य कह सकते हैं कि-

अद्य अजैष्म, अद्य असनाम, वयं अनागसः अभूम

(मं ७।१)

"आज हमने विजय प्राप्त किया है आज जो हमारा स्थान था वह प्राप्त किया है क्योंकि हम निष्पाप हो चुके हैं। निष्पाप होनेसे ही पूर्ण आनन्द प्राप्त हो सकता और विजय प्राप्त होता है। विजय प्राप्त करनेकी यह कुंजी है। पापसे जो उन्नति प्राप्त होनेका भाव होता है वह केवल भ्रममात्र है। उसमें पहरी अवनतिके बीज रहते हैं, अतः पाठकोंको यह स्मरण रखना चाहिये कि वेदकी आज्ञाके अनुसार निष्पाप बर्तावसे जो उन्नति प्राप्त होती है वही प्राप्त करनी चाहिये और वही चिरस्थायी होगी।

आगे सप्तम सूक्तमें हिंसा दूर करना अथवा नाश करनेका विषय कहा है। यह सूक्त स्पष्ट होनेके कारण उसके अधिक स्पष्टीकरणकी कोई आवश्यकता नहीं है। यह अनु न शत्रुभूमिको

कुविचार, रोग आदि हैं आधिभौतिक भूमिकामें दुर्जन शत्रु हैं। दोनों स्थानोंमें जो जो शत्रु विनाश करता हो उसको हटाना चाहिये। तभी विजय प्राप्त हो सकता है।

विजय।

आठम सूक्तमें अपने विजयप्राप्तिका एक मंत्र है यह प्रत्येक वैदिकधर्मीको कण्ठ करने योग्य है, वह मंत्र अब देखिये—

अस्माकं जितं उद्भिन्नं, ऋतं तेजः ब्रह्म, स्वः यज्ञः पशवः, प्रजाः वीराः ॥ (मं० ८।१)

इस मंत्रका प्रत्येक शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण भावसे युक्त होनेके कारण यहां प्रत्येक शब्दका विशेष विचार करते हैं—

(जितं) यह सब प्रकारके शत्रुओंपर विजय है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक आधिदैविक शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना यह अपनी शक्ति बढानेसे ही हो सकता है (उद्भिन्नं) यह अपने सब प्रकारके अभ्युदयसे प्राप्त होनेवाली बात है अपनी संपूर्णता अथवा सुस्थिरता अपने अन्दर की शक्ति, अपनी तेजोवृद्धि आदिसे यह सिद्ध हो सकता है। पहिला विजय शत्रुपर प्राप्त किया जाता है, यह अपनी आंतरिक सुस्थितिपर निर्भर होता है। (ऋतं) सत्य अर्थ है ठीक मार्ग सत्यता, योग्य व्यवहार जिसमें टेढापन नहीं है। प्रत्येक व्यवहारमें इस प्रकारकी सरलता रहेगी, तो ही पूर्वोक्त विजय प्राप्त होगा। (तेजः) तेजस्विता प्रभाव, सामर्थ्य आदि गुण भी विजयके सहचारी हैं। (ब्रह्म) ब्रह्म ज्ञान आत्मसामर्थ्य विज्ञान, वेदज्ञान यह तो निःसन्देह सबके पास ही रहेगा। ज्ञानके पास इसका होना सर्वथा असंभव है। (स्वः स्वर्) आत्माका प्रकाश अथवा यज्ञ अपने पुण्यकर्मोंसे प्राप्त होनेवाला पुण्य लोक। (यज्ञः) देवपूजा, संगतिकरण और दान इन श्रेष्ठतम कर्म करनेसे ही सबकी स्थिति और उन्नति होती है। (पशवः) जो गौ घोडे आदि पशु मनुष्यका वैभव बढाते हैं। (प्रजाः) संतति, पुत्रपुत्री आदि अथवा प्रजाजन। (वीराः) वीर पुत्र तथा वीर्यवान् लोग सबका आधार। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग सकता है कि ये सब विजयके सहचारी गुण हैं। पाठकोंसे अनुरोधपूर्वक है कि वे इस मंत्रको कण्ठ करें और सर्वदा ये इस मंत्रसे ईश्वरकी प्रार्थना करें और अपना वैयक्तिक और सामुदायिक विजय इस प्रकार होने योग्य परिस्थिति शीघ्र प्राप्त हो, ऐसी सब प्रभुके पास प्रार्थना मनोभावसे करें।

इस अष्टम सर्वोत्कृष्ट सूक्तमें जो आये वचन हैं वे तो मनुष्यका दुःखमोचन प्रोत्साहन देनेवाले अर्थवादके मंत्र हैं अतः उनके विषयमें विशेष लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। पाठक स्वयं पढकर उनका आशय समझ सकते हैं। इसके पश्चात् अन्तिम नवम पर्यायसूक्तमें चार ही वचन हैं, परंतु वे विशेष स्मरण रखने योग्य महत्त्वपूर्ण हैं—

जितं अस्माकं, उद्भिन्नं अस्माकं विश्वा अरातीः पृतनाः।
(मं० ९।१)

"हमारा विजय हमारा उदय और हम शत्रुकी सब सेना ओंका पूर्ण पराभव करनेका सामर्थ्य अपने अन्दर बढाते हैं। तथा—

एता सुकृतस्य लोके मा धात्। (मं० ९।२)

"ईश्वर मुझे पुण्यलोकमें धारण करे" ऐसा मैं सदाचारी शुद्ध पूत और पवित्र बनूंगा। तथा—

स्वः अगमम सूर्यस्य ज्योतिषा अगमम ॥ (मं० ९।३)

"आत्मप्रकाश तेज प्राप्त करें, सूर्यकी ज्योतिसे मिलें।" तथा—

वर्चोभूयाय वसुमान् भूयासम्। वसुमान् पशुः।
वसु दंसिषीय (मं० ९।४)

"बहुत धन प्राप्त करना चाहिये मैं धनयुक्त हो जाऊं। क्योंकि धनसे बल होता है इसलिये बलमें व्यय करनेके लिये शुद्ध धन चाहिये।"

ये सब पर्यायोंके चारों मंत्र इतने उत्तम भावसे परिपूर्ण हैं इतने सरल हैं और इतने सुबोध हैं कि मानो यही इस सब काण्डका सार है। पाठक इसका मनन करेंगे तो उनको भी अत्यंत आनन्द होगा और इनके मननसे उनका भी आत्मा उत्साहित ही होगा।

आशा है कि पाठक इस रीतिसे इस काण्डका मनन करके इस काण्डका जो उच्च भाव है वह अपने मनमें स्थिर करेंगे और इस विजयपथसे चलकर अपना अपने समाजका, अपनी जातिका और अपने राष्ट्रका विजय संपादन करनेमें कृतकृत्य होंगे।



ओ३म्

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

सप्तदशं काण्डम् ।

लेखक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

साहित्यवाचस्पति, वेदाचार्य, गीतालंकार

अध्यक्ष स्वाध्यायमण्डल आनन्दाश्रम किल्ला पारडी (जि॰ सूरत)

तृतीय वार

संवत् २००७ शक १८७२ सन १९५०

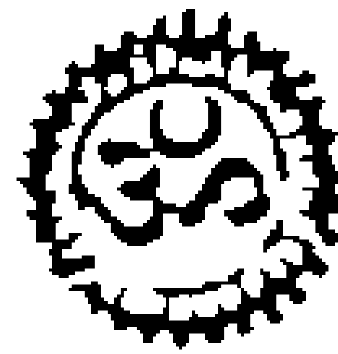
लोकप्रिय !

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् ।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ॥
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः प्रजानां भूयासम् ॥

(अथर्ववेद १७ । १ । १)

" शत्रुका दमन करनेवाले शत्रुके लिये असह्य, शत्रुका बारंबार नाश करनेवाले, बलिष्ठ पराजय करनेवाले बल बढानेवाले तेजस्वी, इंद्रियविजयी धनोंके जीतनेवाले, प्रशंसनीय प्रभुकी मैं प्रशंसा करता हूं। उससे मैं प्रजाजनोंके लिये प्रिय होऊं।

मुद्रक तथा प्रकाशक— पंडित श्रीपाद सातवळेकर, B. A.
स्वाध्यायमंडल भारतमुद्रणालय किल्ला पारडी जि० सूरत



अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

सप्तदश काण्ड।

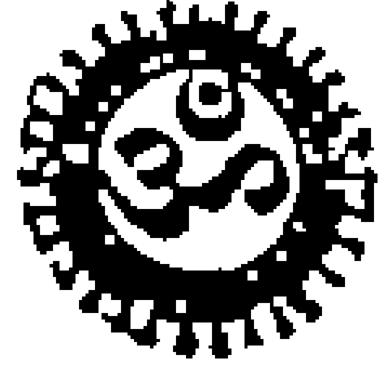
इस सत्रहवें काण्डकी आदित्य देवता है और इस एक ही सूक्तके सब मंत्र इसमें हैं। इस काण्डमें कुल ३० मंत्र हैं। अर्थात् ३० मंत्रोंके एक सूक्तका ही यह काण्ड है। इस काण्डके तीन विभाग हैं। १ + १ + १० मिलकर तीन विभागोंमें ३० मंत्र बांटे गये हैं। परंतु ये विभाग दशतिविभाग हैं व कोई अर्थदृष्टिसे अथवा किसी अन्य कारणसे नहीं किये हैं। जो दशति विभाग होते हैं वे दस मंत्रोंके होते हैं और उनके साथ अर्थका कोई संबंध नहीं होता है।

इसके अतिरिक्त इस काण्डके ५ विभाग भी किये जाते हैं। १—५; ६-१९; २० — २१; २२—२६; २७—३० इस प्रकार मंत्र इन पांच विभागोंमें बांटे जाते हैं। अन्तिम दो विभाग क्रमशः विशेषतः अनुष्टुप् और त्रिष्टुप् छन्द प्रधान हैं। अन्य विभाग विषयकी और मंत्रोंकी समानताके अनुसार माने गये हैं यह बात पाठक मंत्रोंको देखकर समझ सकते हैं। इसलिये इस विषयमें अधिक लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अब इस काण्डके ऋषिदेवता आदि देखते हैं—

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१	३०	ब्रह्मा	आदित्यः	१ जगती; [illegible] अतिजगती; [illegible] अनुष्टुप्; [illegible] त्रिष्टुप्।

यह काण्ड केवल तीस मंत्रोंका एक ही सूक्त होनेसे और इसमें सारा एक ही विषय होनेसे [illegible] इसका [illegible] होवे—





अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

सप्तदश काण्डम्

अपने अभ्युदयके लिये प्रार्थना।

(१)

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रमायुष्मान् भूयासम् ॥१॥
विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियो देवानां भूयासम् ॥२॥
विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः प्रजानां भूयासम् ॥३॥

अर्थ—(विषासहिं) अत्यंत समर्थ (सहमानं) अत्यंत बलवान (सासहानं) नित्य विजयी (सहीयांसं) शत्रुका दबानेवाले (सहमानं) महाबलिष्ठ (सहोजितं) बलसे विजय करनेवाले (स्वर्जितं) अपने स्थान तेज जीतनेवाले (गोजितं) भूमि इंद्रियों और गौओंको जीतनेवाले (संधनाजितं) धनको जीतकर प्राप्त करनेवाले (ईड्यं नाम इन्द्रं) प्रशंसनीय यशवाले प्रभुको मैं (ह्वे) बुलाता हूं, जिससे मैं (आयुष्मान् भूयासं) दीर्घायु होऊं ॥ १ ॥ (देवानां प्रियः भूयासं) मैं देवोंका प्रिय बनूं ॥ २ ॥ (प्रजानां प्रियः) प्रजाओंका प्रिय होऊं ॥ ३ ॥

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्। सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम्।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः पशूनां भूयासम् ॥४॥
विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्। सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम्।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः समानानां भूयासम् ॥५॥
उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि। द्विषंश्च मह्यं रध्यतु मा चाहं द्विषते रधं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥६॥
उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि। यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥७॥
मा त्वा दभन्त्सलिले अप्स्वन्तर्ये पाशिन उपतिष्ठन्त्यत्र। हित्वाशस्तिं दिवमारुक्ष एतां स नो मृड सुमतौ ते स्याम तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥८॥
त्वं न इन्द्र महते सौभगायादब्धेभिः परि पाह्यक्तुभिस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥९॥
त्वं न इन्द्रोतिभिः शिवाभिः शंतमो भव। आरोहंस्त्रिदिवं दिवो गृणानः सोमपीतये प्रियधामा स्वस्तये तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १० ॥

(पशूनां प्रियः) पशुओंका प्रिय होऊं ॥ ४ ॥ । । (समानानां प्रियः भूयासं) समान योग्यतावाले पुरुषोंका भी प्रिय बनूं ॥ ५ ॥

हे (सूर्य) सूर्य ! (उदिहि उदिहि) उदय हो उदयको प्राप्त हो। (वर्चसा मा अभ्युदिहि) अपने तेजसे उदित होकर मुझपर चारों ओरसे प्रकाशित हो। (द्विषन् च मह्यं रध्यतु) मेरा द्वेष करनेवाला मेरे वशमें हो जावे परंतु (अहं च द्विषते मा रधम्) मैं द्वेष करनेवालेके अधीन कभी न होऊं। हे (विष्णो) व्यापक ईश्वर ! (तव इत् बहुधा वीर्याणि) तेरे ही वीर्य अनेक प्रकारके हैं। (त्वं नः विश्वरूपैः पशुभिः पृणीहि) तू हमें अनेक रूपवाले पशुओंसे पूर्ण कर। और (परमे व्योमन्) परम आकाशमें (मा सुधायां धेहि) मुझे अमृतमें धारण कर ॥ ६ ॥ (उदिहि) हे सूर्य ! उदयको प्राप्त हो उदयको प्राप्त हो और (वर्चसा) अपने तेजसे मुझे प्रकाशित करो (यान् च पश्यामि यान् च न) जिन प्राणियोंको मैं देखता हूं और जिनको नहीं भी देखता (तेषु मा सुमतिं कृधि) उनके विषयमें मुझे सुमतिवाला कर। (तव इत्० इत्यादि पूर्ववत्) ॥ ७ ॥ (सलिले अप्सु अन्तः ये पाशिनः) जलोंके अन्दर जो पाशवाले (अत्र उपतिष्ठन्ति) यहां आकर उपस्थित होते हैं वे (त्वा मा दभन्) तुझे न दबा देवें। (अशस्तिं हित्वा एतां दिवं आरुक्षः) निन्दाको त्यागकर द्युलोक पर आरूढ हो और (सः नः मृड) वह तू हमें सुखी कर (ते सुमतौ स्याम) हम तेरी सुमतिमें रहेंगे। (तव इत्० ।) ॥ ८ ॥ हे इन्द्र ! (त्वं नः महते सौभगाय) तू हम सबको बडे सौभाग्यके लिये (अदब्धेभिः अक्तुभिः परिपाहि) न दबनेवाले प्रकाशोंसे सब ओरसे सुरक्षित रख। (तव इत्० ।) ॥ ९ ॥ हे इन्द्र ! (त्वं नः शिवाभिः ऊतिभिः शंतमः भव) तू कल्याणपूर्ण रक्षणोंके साथ हमें उत्तम कल्याण देनेवाले हो। (त्रिदिवं आरोहन्) द्युलोकपर आरूढ होकर (दिवः गृणानः) प्रकाशको देता हुआ (सोमपीतये स्वस्तये प्रियधामा) सोमपान और कल्याणके लिये प्रिय स्थान हो। (तव इत्० ।) ॥ १० ॥

त्वमिन्द्रासि विश्वजित् सर्ववित् पुरुहूतस्त्वमिन्द्र । त्वमिन्द्रेमं सुहवं स्तोममेरयस्व स नो मृड
सुमतौ ते स्याम तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां
मा धेहि परमे व्योमन् ॥११॥
अदब्धो दिवि पृथिव्यामुतासि न त आपुर्महिमानमन्तरिक्षे । अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः स
त्वं न इन्द्र दिवि षञ्छर्म यच्छ तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्वि
श्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥१२॥
या त इन्द्र तनूरप्सु या पृथिव्यां यान्तरग्नौ या त इन्द्र पवमाने स्वर्विदि । ययेन्द्र तन्वाऽ
न्तरिक्षं व्यापिथ तया न इन्द्र तन्वाऽ शर्म यच्छ तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः
पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥१३॥
त्वामिन्द्र ब्रह्मणा वर्धयन्तः सत्रं नि षेदुर्ऋषयो नाधमानास्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि
। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥१४॥
त्वं तृतं त्वं पर्येष्युत्सं सहस्रधारं विदथं स्वर्विदं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः
पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥१५॥
त्वं रक्षसे प्रदिशश्चतस्रस्त्वं शोचिषा नभसी वि भासि । त्वमिमा विश्वा भुवनानु तिष्ठस
ऋतस्य पन्थामन्वेषि विद्वांस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः
सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥१६॥

---

[११] हे इन्द्र ! तू (विश्वजित्, सर्ववित्) सबका जेता और सर्वज्ञ है और हे इन्द्र ! तू (पुरुहूतः) बहुत प्रशंसित है। हे इन्द्र ! (त्वं इमं सुहवं स्तोमं एरयस्व) तू इस उत्तम प्रार्थनावाले स्तोत्रको प्रेरित कर। (स नः तव इत् ।) ॥ ११ ॥ हे इन्द्र ! तू (दिवि उत पृथिव्यां अदब्धः असि) द्युलोकमें और इस पृथ्वीपर न दबा हुआ है। (अन्तरिक्षे ते महिमानं न आपुः) अन्तरिक्षमें तेरी महिमाको कोई नहीं प्राप्त हो सकते। (अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः सन्) न दबनेवाले ज्ञानसे बढता हुआ (दिवि नः त्वं शर्म यच्छ) द्युलोकमें तू हमें सुख प्रदान कर। (तव इत् ।) ॥ १२ ॥ हे इन्द्र ! (या ते अप्सु तनूः) जो तेरा अंश जलोंमें है (या पृथिव्यां या अन्तः अग्नौ) जो पृथ्वीपर और जो अग्निके अन्दर है (हे इन्द्र ! या ते पवमाने स्वः-विदि) और जो तेरा अंश पवित्र करनेवाले प्रकाशपूर्ण द्युलोकमें है हे इन्द्र ! (यया तन्वा अन्तरिक्षं व्यापिथ) जिस तनूसे अन्तरिक्ष व्यापते हो (तया तन्वा नः शर्म यच्छ) उस तनूसे हम सबको सुख प्रदान कर। (तव इत् ।) ॥ १३ ॥ हे इन्द्र ! (त्वां ब्रह्मणा वर्धयन्तः) तेरी मंत्रोंसे स्तुति करते हुए (नाधमानाः ऋषयः सत्रं निषेदुः) प्रार्थना करनेवाले ऋषिगण यज्ञ सामूहिक रूपमें बैठे हैं (तव इत् ।) ॥ १४ ॥ हे व्यापक देव ! (त्वं तृतं = त्रितं) तू तीनों स्थानोंमें प्राप्त (सहस्रधारं विदथं स्वर्विदं उत्सं) सहस्रधाराओंसे युक्त ज्ञानमय प्रकाशपूर्ण स्रोतको (पर्येषि) व्यापता है। (तव इत् ।) ॥ १५ ॥

हे देव ! [त्वं चतस्रः प्रदिशः रक्षसे] तू चारों दिशाओंकी रक्षा करता है। अपने [शोचिषा नभसी विभासि] तेजसे आकाशको प्रकाशित करता है। [त्वं इमा भुवना अनुतिष्ठसे] तू इन सब भुवनोंके अनुकूल होकर ठहरता है और [विद्वान् ऋतस्य पन्थां अन्वेषि] जानता हुआ ऋतके मार्गका अनुसरण करता है। [तव इत् ।] ॥ १६ ॥

पशुभिः पराङ् तपस्येकयार्वाङ्शस्तिमेषि सुदिने बाधमानस्त्वमेव विष्णो बहुधा वीर्या३णि ।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्यो३मन् ॥१७॥
त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः । तुभ्यं यज्ञो वि तायते तुभ्यं जुह्वति जुह्वतस्तव
इद् विष्णो बहुधा वीर्या३णि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे
व्यो३मन् ॥१८॥
असति सत् प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितम् । भूतं ह भव्य आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितं
तवेद् विष्णो बहुधा वीर्या३णि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे
व्यो३मन् ॥१९॥
शुक्रो३ऽसि भ्राजो३ऽसि । स यथा त्वं भ्राजता भ्राजोऽस्येवाहं भ्राजता भ्राज्यासम् ॥ २० ॥

(२)

रुचिरसि रोचो३ऽसि । स यथा त्वं रुच्या रोचोऽस्येवाहं पशुभिश्च ब्राह्मणवर्चसेन च
रुचिषीय ॥२१॥
उद्यते नम उदायते नम उदिताय नमः । विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः ॥२२॥
अस्तंयते नमोऽस्तमेष्यते नमोऽस्तमिताय नमः । विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः ॥२३॥

(पशुभिः पराङ् तपसि) तू अपनी पशुओं समेत परे तपता है और (एकया अर्वाङ्) एकसे उरे तपता है। और (सुदिने अशस्तिं बाधमानः एषि) उत्तम दिनमें अप्रशस्तताको दूर हटाता हुआ चलता है। (तव इत् ।) ॥ १७ ॥ हे देव (त्वं इन्द्रः) तू इन्द्र है (त्वं महेन्द्रः) तू बडा इन्द्र है (त्वं लोकः) तू लोक—जनसमूह है (त्वं प्रजापतिः) तू प्रजापालक है (यज्ञः तुभ्यं वितायते) यज्ञ तेरे लिये फैलाया जाता है और (जुह्वतः तुभ्यं जुह्वति) हवन करनेवाले तेरे लिये आहुतियां देते हैं। (तव इत् ।) ॥ १८ ॥ (असति सत् प्रतिष्ठितं) असत् में अर्थात् प्राकृतिक विश्वमें सत् अर्थात् आत्मा रहा है (सति भूतं प्रतिष्ठितं) सत् में अर्थात् आत्मामें उत्पन्न हुआ जगत् रहा है, (भूतं ह भव्ये आहितं) भूत होनेवालेमें आधारित है (भव्यं भूते प्रतिष्ठितं) होनेवाला भूतमें प्रतिष्ठित हुआ है (तव इत् ।) ॥ १९ ॥ (शुक्रः असि) तू तेजस्वी है (भ्राजः असि) तू प्रकाशमय है (स त्वं) वह तू (यथा भ्राजता भ्राजः असि) जैसा तेजस्वी है (एव अहं भ्राजता भ्राज्यासं) वैसा ही मैं तेजसे प्रकाशित होऊं ॥२०॥

(रुचिः असि) तू प्रकाशमान है (रोचः असि) तू देदिप्यमान है (सः त्वं यथा रुच्या रोचः असि) वह तू जैसा तेजसे तेजस्वी है (एव अहं पशुभिः च ब्राह्मणवर्चसेन च रुचिषीय) वैसेही मैं पशुओं और ज्ञानके तेजसे प्रकाशित होऊं ॥ २१ ॥ (उद्यते नमः) उदित होनेवालेको नमस्कार [उदायते नमः] ऊपर आनेवालेके लिये नमस्कार [उदिताय नमः] उदयको प्राप्त हुएको नमस्कार [विराजे नमः] विशेष प्रकाशमानको नमस्कार [स्वराजे नमः] अपने तेजसे प्रकाशनेवालेको नमस्कार, [सम्राजे नमः] उत्तम प्रकाशयुक्तको नमस्कार ॥ २२ ॥ [अस्तंयते नमः] अस्त होनेवालेको नमस्कार [अस्तं एष्यते नमः] अस्तको जानेवालेको नमस्कार [अस्तमिताय नमः] अस्त हुएको नमस्कार [विराजे सम्राजे स्वराजे नमः] विशेष तेजस्वी उत्तम तेजस्वी और अपने तेजसे प्रकाशनेवालेको नमस्कार हो ॥ २३ ॥

उदंगादुयमांदित्यो विश्वेन तर्पसा सह । सपत्नान् मह्यं रन्धयन् मा चाहं द्विषते रंधं तवेद् विष्णो।
बहुधा वीर्याणि । त्वं नंः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ २४ ॥
आदित्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये । अहर्मात्यपीपरो रात्रिं सत्राति पारय ॥२५॥
सूर्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये । रात्रिं मात्यपीपरोऽहः सत्राति पारय ॥२६॥
प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च । जरदष्टिः कृतवीर्यो विहाया
सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ॥२७॥
परीवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च । मा मा प्रापन्निषवो दैव्या या मा
मानुषीरवसृष्टा वधाय ॥२८॥
ऋतेन गुप्त ऋतुभिश्च सर्वैर्भूतेन गुप्तो भव्येन चाहम् । मा मा प्रापत् पाप्मा मोत मृत्युरन्त
र्दधेऽहं सलिलेन वाचः ॥२९॥
अग्निर्मा गोप्ता परि पातु विश्वत उद्यन्त्सूर्यो नुदतां मृत्युपाशान् । व्युच्छन्तीरुषसः पर्वता ध्रुवाः
सहस्रं प्राणा मय्या यतन्ताम् ॥३०॥

इति सप्तदशं काण्डं समाप्तम्

(अयं आदित्यः विश्वेन तपसा सह उदगात्) यह सूर्य संपूर्ण तेजके साथ उदित है। (मह्यं सपत्नान् रन्धयन्) मेरे लिये मेरे शत्रुओंको वश करता है (अहं च द्विषते मा रधम्) परंतु मैं कभी वशमें न होऊं। (तव इत् विष्णो बहुधा वीर्याणि) हे व्यापक देव ! तेरे ही ये सब पराक्रम हैं। (त्वं नः विश्वरूपैः पशुभिः पृणीहि) तू हम सबको अनन्त रूपोंवाले पशुओंसे परिपूर्ण कर। और (परमे व्योमन् सुधायां मा धेहि) परम आकाशमें विद्यमान अमृत में मुझे धारण कर ॥ २४ ॥ हे आदित्य ! (स्वस्तये शतारित्रां नावं आरुक्षः) हमारे कल्याण के लिये सैकडों वल्लियोंवाली नौकापर आरूढ हो। (मा अहः अति अपीपरः) मुझे दिनके समय पार कर और (रात्रिं सत्रा अतिपारय) रात्रीके समय भी साथ रहकर पार पहुंचा। ॥ २५ ॥ हे सूर्य ! तू हमारे (स्वस्तये) कल्याणके लिये नौकापर चढ और हमें दिन और रात्रीके समय पार कर ॥ २६ ॥ (अहं प्रजापतेः ब्रह्मणा वर्मणा आवृतः) मैं प्रजापतिके ज्ञानरूप कवचसे आवृत होकर (कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च) और सर्वदर्शक देवके तेज और बलसे युक्त होकर (जरदष्टिः कृतवीर्यः) वृद्धावस्था तक वीर्यवान् हुआ (विहायाः सहस्रायुः) विविध कर्मोंसे युक्त सहस्रायु– पूर्णायु– होकर (कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च) सर्वदर्शक देवके तेजसे और बलसे युक्त होकर (याः दैवीः मानुषीः इषवः वधाय अवसृष्टाः) जो दिव्य और मानवी बाण वधकेलिये भेजे गये हों वे (मा मा प्रापन्) मुझे न प्राप्त हों उनसे मेरा वध न होवे ॥ २८ ॥ (ऋतेन गुप्तः) सत्यके द्वारा रक्षित (सर्वैः ऋतुभिः च) सब ऋतुओं द्वारा रक्षित (भूतेन च भव्येन गुप्तः अहं) भूत और भविष्यद्वारा सुरक्षित हुआ मैं यहां विचरूं। (पाप्मा मा उत मृत्युः मा मा प्रापत्) पाप अथवा मृत्यु मुझे न प्राप्त हो। (अहं वाचः सलिलेन अन्तर्दधे) मैं अपनी वाणीको— अपने शब्दको पवित्र जीवनके अंदर धारण करता हूं। वाणीकी पवित्रता पवित्र जीवनसे करता हूं ॥ २९ ॥ [गोप्ता अग्निः विश्वतः मा परिपातु] रक्षक अग्नि सब ओरसे मेरी रक्षा करे। [उद्यन् सूर्यः मृत्युपाशान् नुदताम्] उदय होनेवाला सूर्य मृत्युपाशोंसे दूर करे। [व्युच्छन्तीः उषसः] प्रकाशयुक्त उषाएं और [ध्रुवाः पर्वताः] स्थिरपर्वत [सहस्रं प्राणाः मयि आ यतन्ताम्] सहस्रों प्रकारके प्राण मेरे अन्दर रहनेके यत्न करें ॥ ३० ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ इति सप्तदशं काण्डं समाप्तम् ॥

* (अ. सु. भा. खं १७)

सप्तदश काण्डका मनन ।

अपने अभ्युदयका विचार करनेवाले पाठक इस काण्डका मनन अधिक करें। विशेषतः पहिले पांच मन्त्रोंका जो एक मंत्रगण है उसका अवश्य मनन करें। ये पांच मन्त्र बताते हैं कि विजयेच्छु पुरुषको अपने अन्दर कौनसे गुण प्राप्त करने चाहिये और बढाने चाहिये। उन्नति चाहनेवाले मनुष्य अपनी इच्छा इस प्रकार रखें—

लोकप्रिय बनना।

[अहं] देवानां प्रजानां समानानां पशूनां प्रियः भूयासं; आयुष्मान् भूयासम् ॥ [मं० १–५]

मैं देवोंका प्रजाजनोंका समान योग्यतावाले लोगोंका और पशुओंका प्रिय होऊं, और दीर्घायु बनूं। सबसे मुख्य बात दीर्घायु बननेकी है क्योंकि आयु आरोग्य और बल रहा तोही सब कुछ धर्म कर्म होना संभव है। अतः उन्नतिशील मनुष्योंको उचित है कि, वे धर्मानुसार आचरण करके अपनी आयु दीर्घ कर नीरोग रहनेका यत्न करें और अपने अन्दर बल स्थिर रखें।

इतना होनेके पश्चात् देव प्रजा समानलोग और पशु इनको प्रिय होनेकी महत्वाकांक्षा धारण करना चाहिये और इसकी सिद्धिके लिये मनुष्योंको प्रयत्न करना चाहिये। देव का अर्थ जैसा देवता है वैसा ही भूदेव ब्रह्मदेव धनदेव और कर्मदेव ये चार प्रकारके चातुर्वर्ण्यके श्रेष्ठ पुरुष भी देव कहलाते हैं। इनके मनमें इस मनुष्यके विषयमें प्रेम रहे ये श्रेष्ठ लोग इस पुरुषके विषयमें कहें कि यह अच्छा मनुष्य उत्तम है उसका प्रिय होना चाहिये। प्रजाजन इस मनुष्यपर प्रेम करें प्रजाजनोंका यह प्रेमपात्र बने अथवा इसके ऊपर प्रीति करें अर्थात् यह लोकप्रिय बने लोकमान्य बने। समान लोगोंमें यह प्रिय हो अर्थात् ज्ञानियोंका प्रेम विशेष ज्ञानीपर होता है वीरोंका प्रेम समर्थ वीरपर होता है समानोंका प्रेमभाजन होनेके लिये उनसे विशेष उत्कृष्ट गुण इसमें चाहिये। इन गुणोंका संपादन यह मनुष्य करे और समानोंका प्रेमभाजन बने। पशुओंका भी प्रेम संपादन करे। जब यह मनुष्य पशुओंकी पालना करेगा और उनपर प्रेम करेगा तब पशु स्वयं इसपर प्रेम करने लगेंगे। यहां इसकी भूतदयामें विशेषता होना चाहिये। इस विवेचनसे पाठक जान सकते हैं कि, देव प्रजा समानलोग और पशुओंका प्रिय बननेका आशय क्या है इस विषयमें नियम यह है कि मनुष्य जिसका प्रेम संपादन करना चाहता है उसपर स्वयं प्रेम करे। इसका प्रेम उनपर होने लगा, तो निःसन्देह वे भी इसपर प्रेम करने लग जायेंगे।

वीरके गुण

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें कुछ शब्दोंद्वारा वीरोंके गुण दिये हैं। उन्नतिशील मनुष्योंको ये गुण अपने अन्दर लाने चाहिये और बढाने चाहिये। यदि पाठक इन इन शब्दोंका मनन करेंगे तो उनको वीरताके इन शुभ गुणोंका पता लग सकता है—

(१) गो— जित् = 'गौ' शब्दका अर्थ इंद्रिय और भूमि है। ये अर्थ लेकर यहां विचार करना चाहिये पहिला अर्थ है (गो— जित्) इंद्रियोंको जीतनेवाला है अपनी इंद्रियोंका संयम करनेवाला, मनोनिग्रह करनेवाला, अपना आत्मसंयम करनेवाला। सब उन्नतिका प्रारंभ आत्म—विजय से होता है। आत्मविजय सब अन्य विजयोंके अधीन है तथापि जो मनुष्य आत्मविजयका आचरण करता है और सिद्ध बनता है वह अन्य विजय सहज ही से प्राप्त कर सकता है। भूमिका विजय इस शब्दका दूसरा अर्थ है। वीरताके अपनी मातृभूमिको विजयी करना यह इसका भाव है। मुख्यतया यहां आत्मविजय मुख्य है क्योंकि सभी विजय आत्मविजय से प्रारंभ होते हैं।

(२) स्वः— जित् = (स्व—र्— जित्) आत्मप्रकाशको प्राप्त करना अपने तेजका विजय करना, संग्राममें विजय करना अपने आध्यात्मिक तेजका विजय होने योग्य कार्य करना। यहभी एक बडी भारी वीरता है।

(३) धनंजय— जित् = शत्रुके धनोंको जीतकर प्राप्त करना यह भी एक बडी भारी वीरता है। जिसके साथ होनेसे मनुष्य अपने आपको धन्य कर सकता है उसको धन कहा जाता है। अतः धन शब्दसे केवल रुपये आने पाई इतनाही धन नहीं है। घोडे भी धन है, राज्य किंवा स्वराज्य भी धन है बल भी धन है विद्या भी धन है प्रतिष्ठा धन है सदाचार धन है। इस रीतिसे अनेक धन हैं। इनकी प्राप्ति करना मनुष्यका आवश्यक कर्तव्य है।

(४) सहमान = आत्मिक बल तेज और जीवनसे युक्त और

(५) सासहान = शारीरिक बल और क्षात्रिय गुण होना।

ये दोनों शब्द एक ही मन्त्रमें प्रयुक्त हैं इसलिये ये भिन्नार्थक शब्द हैं। 'सह्' धातुका अर्थ बल है और इसके अर्थ 'शक्ति विजय तेज और जीवन' हैं। इनमें से कुछ अर्थ एकके और अन्य दूसरेके मानना यहां योग्य है। इस प्रकार अर्थ करनेसे दोनों शब्द पुनरुक्ति दोषसे रहित और समर्थक प्रतीत होते हैं। अर्थात् ये दोनों बल मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये। इस बलमें सैन्यका बल भी अन्तर्भूत होता है।

[६] सत्रा—जित् = अपने बलसे शत्रुको जीतनेवाला। मनुष्य अपने अन्दर तथा राष्ट्र अपने अन्दर ऐसा बल प्राप्त करे कि जिससे शत्रुका विजय सहजहीमें हो सके।

[७] सहीयान् = शत्रुका हमला कितने भी वेगसे आजावे उसको सहन करता हुआ, उसका दमन करनेवाला। शत्रुका आक्रमण हुआ तो भी अपने स्थानसे पीछे न हटता हुआ विजयके साथ अपने स्थानमें स्थिर रहनेवाला। शत्रुके आक्रमणका प्रतिकार करके शत्रुको परास्त करनेवाला।

[८] साहवान् = शत्रुके आक्रमण एकके पीछे दूसरे अथवा वारंवार होनेपर भी जो अपना स्थान छोडता नहीं और विजयके साथ अपने स्थानमें स्थिर रहता है और अपने स्थानसे ही शत्रुको परास्त करता है और उसको भगा भी देता है।

[९] विषासहि = जिसका आक्रमण प्रखर हुआ तो शत्रुको परास्त होकर भागना पडता है जिसका आक्रमण शत्रु-को असह्य होता है।

[१०] ईड्यं नाम ह्व = प्रशंसनीय यशस्वी (ह्व+ईः) शत्रुओंका पूर्ण नाश करनेवाला वीर।

उपास्यके गुण उपासकमें।

ये इस शब्द यहां इन्द्र देवताके वाचक हैं। यह देवता मनुष्योंकी उपास्य है। उपास्य देवताके गुण उपासकोंको अपने अन्दर धारण करने चाहिये यह उपासनाका नियम है। इस नियमके अनुसार उपासना करनेवाले पाठक अपने अन्दर वे वीरताके गुण बढावें और अपनी उन्नतिके मार्गका आक्रमण करें और सब प्रकारका अभ्युदय प्राप्त करें। पूर्वोक्त गुण अपने अन्दर बढने लगे तो मनुष्यकी अथवा राष्ट्रकी उन्नति निःसंदेह होगी। उपासनाके मन्त्र केवल रटनेमात्रसेही मनुष्यकी उन्नति नहीं होगी परंतु उनमें वर्णित उपास्यके गुणोंको धारण करनेसे ही मनुष्यका उन्नति होना संभव है। जो मनुष्य अथवा मनुष्योंका संघ इस प्रकारकी वैयक्तिक और सामुदायिक उपासना करते हैं वेही अथवा सब प्रकारका अभ्युदय सिद्ध करते हैं। इसीके विषयमें कहा है कि—

अभ्युदय।

उदिहि, उदिहि, वर्चसा अभ्युदिहि। (मं २)

"उदयको प्राप्त हो। अभ्युदय प्राप्त करो तेजके साथ सब प्रकार अभ्युदय प्राप्त करो" ये मंत्र यद्यपि उपास्य देव सूर्यके संबंधमें कहे हैं तथापि उपासकके गुण उपासकको धारण करने होते हैं इस नियमके अनुसार प्रायः बहुतसे मंत्र उपासकको आदेश देनेवाले होते हैं। इसी तरह ये मंत्र भी उपासकको अभ्युदयका संदेश दे रहे हैं यह बात यहां पाठक न भूलें। अभ्युदय किस मार्गसे करना चाहिये इसके संबंधमें यह सूत्र है—

द्विषन् मह्यं रध्यतु। अहं द्विषते मा रधम्। (मं ६)

"मेरा शत्रु मेरे वशमें आजावे और मैं कभी शत्रुके वशमें न होऊं। शत्रु अनेक प्रकारके हैं, और उनकी रचना भी विविध है। उन सब रचनाओंमें यही एक नियम है कि सदा शत्रुका पराभव करना और शत्रुसे कभी पराभूत न होना। विजय उदय और अभ्युदयकी यह कुंजी है। जो लोग और जो राष्ट्र इस प्रकार अपनी तैयारी करेगा वही विजयको प्राप्त होगा।

पराक्रम।

तव बहुधा वीर्याणि। (मं ६)

तेरे बहुत पराक्रम होने चाहिये। 'तव विजयकी संभावना है। विष्णु देव—व्यापक ईश्वर—का वर्णन विजय इसलिये है कि

उसके अनन्त पराक्रम होते हैं। अनेक पराक्रम न हुए तो विजय प्राप्त होना असंभव है। विजयके लिये अनेक रण क्षेत्रोंमें उतरना चाहिये और वहां बडे पराक्रम करने चाहियें। इसलिये—

सुमतिं कृधि । सुपात्रां येहि । (मं. ९-१)

अपने अन्दर सुमति धारण कर, उत्तम पात्रोंमें अपने आपको और सबको धारण कर। सुमतिके बिना अभ्यास धनका विजय नहीं होगा और (सु-पा) उत्तम धारणके बिना समाजका या राष्ट्रका विजय नहीं होता। यह नियम सदा ध्यानमें धारण करना चाहिये। इस दिशासे अनेक दिन प्रसन्न हो। यह इसे सूचित करनेके लिये कहा है कि—

बडा सौभाग्य।

रथं महते सौभगाय अदृप्येभिः अक्रतुभिः परियाहि ।

(मं. ९)

तू अपना सौभाग्य बहुत बढानेके लिये न दबता हुआ और किसीके दबाव न दबता हुआ दिनप्रतिदिन सुरक्षितता पूर्वक प्रयत्न करो। यह अत्यन्त बडा उत्साहवर्धक है। कितना ही प्रचण्ड शत्रु आक्रमण करनेका यत्न करे परंतु स्वयं उसके दबावसे न दबनेका यत्न करना चाहिये। पाठकोंको अधिक अन्दर न दब जानेका निश्चय करना ही अत्यन्त महत्त्व की बात है। भाग्यशाली पाठक इतना प्रचण्ड है कि सब जगत् को चाहे भी दबाया किया। दबने लगे तो भी वह दबेगा नहीं परंतु मनका निश्चय होना चाहिये। महासौभाग्य जो ऊपरके मंत्रमें कहा है वह तभी उसको प्राप्त होता है। अधिक उत्साह बढानेके लिये और कहा है कि—

न दब जाना।

तृदिलो अदृप्तः असि । न अतिदार्थं न आपुः (मं. १२)

हे वीर! तू अपना न दब जानेवाला महापराक्रमी है [illegible] न आत्मिक जड पदार्थोंसे प्राप्त नहीं हो सकती। इस भावसे कितनी ही आक्रमणकारी हों परंतु उनकी शक्ति आत्माके सामर्थ्यको दबा नहीं सकती। अपने आत्माका यह प्रभाव प्रायः अनेक दिन ही सब धर्मानुष्ठान है। अतः परम निश्चय प्रचण्ड पवित्र बलसे इसी कारण उपासनाके लिये दबानेवालेके सन्मुख देवताओं द्वारा रखा जाता है कि वे किसी न किसी दिन अपने अन्दर परमात्मा को है इस बातका अनुभव करें और उसके पुरुषार्थ करते करते अन्दर करनेका यत्न करें। यह ईश्वरकी धारणा किस प्रकार हो सकती है यह भी आगे कहा है—

अदृप्तेन ब्रह्मणा वावृधानः । (मं. ११)

न दब जानेवाले ज्ञानसे बढता हुआ अपने (वृधा वीर्याणि) बहुत पराक्रम कर। यहां भी कहा है कि अनेक वैदिक धर्मोंको ध्यानमें धारण करना चाहिये। मनुष्यकी उन्नति ज्ञानसे होती है यह बात यहां स्पष्ट कही है, इसलिये उन्नतिशील पाठक ज्ञानप्राप्तिके यत्नमें तत्पर हों। यहां ज्ञान का महत्त्व वर्णन किया है। ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात्—

सत्य का मार्ग

विद्वान् ऋतस्य पन्थां अनु एहि । (मं. १६)

विद्वान् होकर सत्यके मार्गके अनुकूल होकर चला है। सत्यका आग्रहके साथ पालन करना चाहिये। सत्य ही मनुष्यका मार्गदर्शक और सब कष्टोंको दूर करनेवाला है। सत्यके पालनसे ही सब प्रकारकी उन्नति होती है। इसी तरह—

अशस्तिं पाप्मानः सुदिने दधि । (मं. १७)

अप्रशस्त निंदनीय बातको दूर करनेसे तू उत्तम दिन के प्रकाशपूर्ण जीवनमें वर्ताव करनेवाला होगा। जिस प्रकार मनुष्यका सत्यका पालन करना अभीष्ट है उसी प्रकार आत्मरूप निंदनीय दुष्ट व्यवहारको सर्वथा दूर करना भी आवश्यक है। अन्यथा उस अवस्था मनुष्यके उन्नति प्राप्त नहीं हो सकती। उत्तम गुणोंको अपने अन्दर बढाना और दुर्गुणोंको अपनेमेंसे दूर करना यही अभ्युदयका अनुष्ठान है। मनुष्य अपने अभ्युदयका मार्ग आक्रमण कर रहा है और इसी पथका भी उसके भूत भविष्यका व्यवहार देखकर ही चलती है इसलिये कहा है कि—

आत्मा और संसार।

असति सत् प्रतिष्ठितम् । सति भूतं प्रतिष्ठितम् ।

भूतं भव्ये भव्यं भूते च प्रतिष्ठितम् । (मं. १९)

'असत् में सत् और सत् में भूत रहता है' यह परम सत्य है। यह संसार मायावान् इससे असत् है और उसमें

विरूद्धकालाश्रित होनेसे सत् है। ये दोनों परस्पर व्याप्त होनेसे कहा जाता है कि एक दूसरेमें ठहरा है। यही विषय दूसरे शब्दोंमें ऐसा कहा जा सकता है– 'शरीरमें आत्मा और आत्मामें शरीर रहता है।' ईशोपनिषद् में भी इसी भावसे निम्नलिखित मंत्र आया है–

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ वा. यजु. ४०।६

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ ईश० उ. ६;
काण्व यजु. ४०।६

तथा भागवत में–
आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम् ।
अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि ॥
श्री भाग. ३।२४।४६

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ।
श्री भाग. ११।२।४५

इन सब स्थानोंमें यही कहा है कि "आत्मा–(सत्) सब भूतोंमें [असत्में] है और सब भूत [असत्] आत्मामें हैं। यह जो जानता है और इसका जो अनुभव करता है वह यहां सच जानता है वह आप्त पुरुष होता है, वही लोकमोहसे परे होकर शान्तिस्थितिको प्राप्त होता है। इसमें पहिली परीक्षा यह है कि परमेश्वरकी सर्वव्यापकताका अनुभव आना है ऐसा अनुभव आ गया तो समझना चाहिये कि उन्नति होगयी है और यदि केवल शब्दोंसे ही परमेश्वर सर्वव्यापक होनेका शाब्दिक ज्ञान हुआ है तो समझना चाहिये कि अभी श्रवण मनन निदिध्यासन का अनुष्ठान होना चाहिये।

इसके बादमें दूसरी परीक्षा यह कही है कि (भूतं भव्ये भव्यं भूते प्रतिष्ठितं) भूत भविष्यमें और भविष्य भूतमें है। इसका अनुभव देखनेके लिये मनुष्य अपना विचार प्रथम करे। मनुष्यका वर्तमान और भविष्य उसके भूतकालके कर्मोंसे होता है और उसके भूतकालके कर्मोंके साथ उसका भविष्यकाल निश्चित हुआ होता है। उदाहरणके लिये देखिये—यदि एक मनुष्य प्रथम आयुमें उत्तम ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक यथानुक्रमसे अपना आयुष्य व्यतीत करता है, तो समझना चाहिये कि उसका यौवन और वार्धक्य सुखसे व्यतीत होगा क्योंकि उसका भूत काल भविष्यमें संचित है। इसी प्रकार राष्ट्रमें भी यही बात देखिये– जिस राष्ट्रके भूत कालके लोगोंने उत्तम पुरुषार्थ किया हो उस राष्ट्रका वर्तमान और भविष्यकाल भी आनन्दमें व्यतीत होगा और जिस राष्ट्रके लोगोंने भूतकालमें पराक्रम प्राप्त किया हो, उसका भविष्य काल कष्टोंमें जायगा, क्योंकि (भूतं भव्ये भव्यं भूते प्रतिष्ठितं) भूत भविष्यमें फलता है और भविष्यका उगम भूतमें होता है। देखिये यह वेदका उपदेश जैसा व्यक्तिमें वैसा ही राष्ट्रमें प्रत्यक्ष देखा जाता है। इस प्रकार अनुभव करता हुआ तथा अपने भूत भविष्य वर्तमानका विचार करता हुआ मनुष्य अपने भविष्य कालमें दुःख प्राप्त होनेके बीज वर्तमानके कालमें अपने ही प्रमादसे न बो देवे। परंतु उसको उचित है कि वह इस समय ऐसे शुभ कर्म करे कि जिससे शुभ फल उसको भविष्य कालमें प्राप्त हों। आजकी हमारी स्थिति हमें अपने ही भूतकालके कर्मोंसे प्राप्त हुई है और इस समय हम ही अपना भविष्यकाल बना रहे हैं। इसी उद्देश्यसे वेदमें कहा है–

भूत भविष्य वर्तमान ।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानः । ऋ. १०।९०।२,
वा. यजु० ३१।२।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येश्वरः ॥ अथर्व. १९।६।४

वर्तमान कालमें जो पुरुष है वही उसके भूत और भविष्य का रूप है और वह अमृतत्व का स्वामी है अर्थात् किसी पुरुष का वर्तमान काल उसके भविष्यका बीज और भूत का परिणाम दिखाता है। मनुष्यकी तारुण्य अवस्थासे पता लग सकता है कि उसने अपना बालपन कैसा व्यतीत किया था और उसीसे पता चलता है कि उसका भविष्य कैसा होगा। राष्ट्रपुरुषके विषयमें भी यही व्यवस्था है राष्ट्रके वर्तमानकालकी परिस्थितिमें उसके भूतकालीन पुरुषार्थ या पुरुषार्थहीनताके परिणाम दीखते हैं और उसी वर्तमानकालमें वह जो करता है उस अपने पुरुषार्थसे ही वह अपने भविष्यकी भवितव्यताके बीज बो रहा है। क्योंकि प्रत्येक पुरुष भूतकालका परिणाम और भविष्य कालका बीज धारण करता है। इस विचारसे भी मनुष्य अपनी परीक्षा कर सकता है। आशा है कि पाठक इस रीतिसे अपनी परीक्षा करें और अपना उन्नतिका मार्ग है या अधोगतिका है इसका

निश्चय करें और यदि अवनतिका मार्ग होगा, तो उसे तत्काल छोड देवें और उन्नतिके मार्गपर ही सदा रहें। तथा मनमें यह महत्वाकांक्षा धारण करें कि-

आत्मतेज।

अहं भ्राजसा भ्राज्यासम्। (मं १)

मैं अपने तेजसे तेजस्वी बनूंगा।" दूसरेके तेजसे तेजस्वी बननेमें पराधीनता है। प्रत्येकको अपने तेजसे तेजस्वी बनना चाहिये। प्रत्येककी अपने सामर्थ्यसे रक्षा होनी चाहिये अपने ज्ञानसे प्रत्येकको विवेक करना चाहिये प्रत्येकको अपने धनका भोग लेना योग्य है, इसी प्रकार अन्यान्य विषयोंके संबंधमें जानना चाहिये। जिसकी रक्षा दूसरेके बलसे होती है, जो स्वयं अपने ज्ञानसे विचार नहीं कर सकता, जिसके पास अपने पोषण करनेके आवश्यक पदार्थ नहीं हैं; उसकी शोचनीय अवस्था होती है, इसके विषयमें पाठक स्वयं विचार करके जान सकते हैं। अतः अपने प्रकाशसे प्रकाशनेका उपदेश यहां इस मंत्रद्वारा दिया है पाठक इसका विचार करें और अपने सामर्थ्यसे समर्थ बनकर यहां यशस्वी कीर्तिमान और स्वतंत्र अर्थात् स्वावलंबी और मुक्त बननेका यत्न करें। इसी प्रकार और भी कहा है-

अहं ब्रह्मवर्चसेन त्वया ओजसा (भूयासं) तेजस्विना (मं ११)

"मैं अपने ज्ञानके प्रभावसे प्रभावित और अपने तेजसे तेजस्वी होकर प्रकाशित होऊंगा"। इस मंत्रमें भी वही भाव दुहराया है और ज्ञानकी आवश्यकता उन्नतिके लिये अत्यंत है यह बात यहां पुनः स्पष्ट की है।

आगे उदयको प्राप्त होनेवाले प्रकाशित सूर्यको नमस्कार करनेको कहा है और जो इस प्रकार प्रकाशित होकर अपना जीवनक्रम समाप्त करके अस्तको जाते हैं उनको भी नमस्कार करनेको कहा है। यहां सूर्यका उन्मुख रहनेका भाव है। मनुष्य का आदर्श सूर्य है सूर्यके समान मनुष्य अपना अभ्युदय प्राप्त करे सूर्यके समान इस जगत्‌में प्रकाशित रहे और प्रदीप्त रहता हुआ तथा सबको प्रकाश देता हुआ अन्तमें कृतकृत्य होकर अस्तको प्राप्त होवे। इस प्रकार अस्त होना भी भाग्यरूप होता है। इस तरह यह मनुष्य सूर्यको अपना आदर्श माने। और उससे यह बोध प्राप्त करे। पाठक इस दृष्टिसे विचार कर और सूर्यका अपना आदर्श मानकर यह वे मननपूर्वक मननके द्वारा मनमें स्थिर करें। इसके बाद एक महत्त्वपूर्ण मंत्रभाग है यह प्रत्येक मनुष्यको नित्य स्मरणमें धारण करने योग्य है, वह अब देखिये-

अपना यश।

अहं मनसा वर्चसा ज्योतिषा वर्चसा च बाहुभ्यां कृणवानो विहायाः वाचस्पतिः परमायुः सुकृता चरेयम्।

(मं १०)

अहं मनसा वर्चसा ज्योतिषा वर्चसा च परिवृतः

कृतेन गुप्तः भूतेन भव्येन च गुप्तः (स्तेयम्)।

(मं १८-१९)

पाप्मा मा मा प्रापत्, मृत्युः मा मा प्रापत्।

अहं वाचः सलिलेन अन्तर्दधे। (मं २१)

मैं ज्ञान आत्मरक्षाका सामर्थ्य तेज और बलसे युक्त होकर पराक्रम करता हुआ विविध पुरुषार्थका साधन करता हुआ दीर्घ आयु प्राप्त करके, सदाचारसे व्यवहार करूंगा। मैं ज्ञान आत्मरक्षाका सामर्थ्य तेज और बलसे युक्त होकर उससे सदा सुरक्षित होता हुआ, भूतकालीन वर्तमान काल में होनेवाले कर्मोंसे सुरक्षित होता हुआ, सदाचारसे व्यवहार करूंगा। पाप मेरे पास न आवे और मेरे समीप न आवे मृत्यु। अब मुझे न प्राप्त हो मैं अपनी वाणीके शुद्ध जीवनसे युक्त करता हूं।"

इनमेंसे प्रत्येक वाक्य इतना स्पष्ट इतना तेजस्वी, इतना बोधप्रद और इतना मार्गदर्शक है कि उसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी यहां आवश्यकता प्रतीत ही नहीं होती। पाठक इसीका पाठ वारंवार करें वारंवार मनन करें और अपने आत्माके अन्दर देखके वे ओजस्वी विचार स्थिर करें। इन विचारोंको स्थिरतासे मनुष्य विजयी होगा और अभ्युदय प्राप्त करेगा और अन्तमें धन्य भी होगा। जो पाठक इस तरह इस वाक्यका मनन करेंगे वे अपनी उन्नतिका संकल्प प्राप्त कर सकते हैं। इस वाक्यके प्रत्येक मंत्रमें गुप्त ज्ञान भरपूर भरा है। केवल शब्द अर्थके प्राप्त करनेसे ही उसमेंसे वह नहीं मिलता चाहिये कि हमने सब आशय जान लिया है सत्य आशय तो आगे गुप्त है परंतु उस भाव विचारों के साथ संगति देखकर मनन करनेसे ही ध्यानमें आ सकता है। आशा है कि इस महत्त्वपूर्ण उपदेशके आशयसे पाठक अधिकसे अधिक बोध प्राप्त करके कृतकृत्य और धन्य बनेंगे।



ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

अष्टादशं काण्डम् ।

लेखक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

साहित्यवाचस्पति वेदाचार्य गीतालंकार

अध्यक्ष-स्वाध्याय मण्डल आनन्दाश्रम किल्ला पारडी (जि. सूरत)

तृतीय वार

संवत् २००७, शाक १८७१ सन १९५०

तपस्वियोंका लोक ।

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः ॥
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १६ ॥
ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १७ ॥

(अथर्ववेद १८ । २ ।)

" जो लोग तप करनेके कारण किसी प्रकारसे पापोंसे नहीं पहुंचाए जा सकते अर्थात् जिनको पाप नहीं छू सकते, जो लोग तपके कारण स्वर्गको प्राप्त हुए हैं तथा जिन्होंने बड़ा तप किया है उन तपस्वियोंको भी तू जाकर प्राप्त हो, अर्थात् इनमें तेरी स्थिति होवे ॥ जो वीर पुरुष संग्रामोंमें युद्ध करते हैं, और जो रण संग्रामोंमें शरीरका त्याग करते हैं, अर्थात् अपने प्राण दे देते हैं अथवा जो लोग हजारों प्रकारके धर्मोंका दान करते हैं उनको भी तू प्राप्त हो ।

मुद्रक तथा प्रकाशक— पंडित श्रीपाद सातवळेकर B. A.
स्वाध्यायमंडल भारतमुद्रणालय किल्ला पारडी जि० सूरत



अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

अष्टादशं काण्डम्

इस अठारहवें काण्डके प्रथम सूक्तमें प्रारंभमें (सखायं सख्या ववृत्यां) “ मित्रको मित्रताके साथ प्राप्त करनेका विषय ” है। यह शुभ और मित्रता बढानेका विषय होनेसे यही इसका मंगलाचरण है।

अथर्ववेदके तृतीय महाविभागका यह अन्तिम काण्ड है। क्योंकि काण्ड १३ से काण्ड १८ तक यह महाविभाग है। इस काण्डमें यमराजका विषय है। अर्थात् “यम पितर, मृतकी मरणोत्तर स्थिति पितृमेध” यही इस काण्डका प्रारंभसे अन्ततक विषय है। इस काण्डके मंत्रोंकी संगति आगे यथास्थान बताई जायगी और यहां मरणोत्तरकी स्थितिका सब विषय स्पष्ट किया जायगा। इस काण्डके बहुतसे मंत्र ऋग्वेदमें हैं और तैत्तिरीय संहिता (अ. ५) में भी हैं। इन मंत्रोंमें स्थानस्थानपर बहुतसे पाठभेद भी हैं। अथर्ववेदकी पिप्पलाद संहितामें ये मंत्र संपूर्णरूपसे नहीं हैं अर्थात् कई हैं और बहुतसे नहीं हैं।

अब इस काण्डके मंत्रोंके “ऋषि-देवता-छन्द” देखिये-

ऋषि, देवता और छन्द ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषिः	देवता	छन्द
प्रथमोऽनुवाकः ।				
१	६१	अथर्वा	यमः। मन्त्रोक्ताः ४१ ४२सरस्वती, ४० रुद्रः ४४ ४६ ५१, ५२ पितरः।	त्रिष्टुप्; ८ १५ आर्षीपंक्तिः; १४ ४९ ५० भुरिजः १८–२० २१–२३ जगत्यः; ३७ ३८ परोष्णिक्; ५६ ५७ ६१ अनुष्टुभः ५९ पुरोबृहती।
द्वितीयोऽनुवाकः ।				
२	६०		यमः मन्त्रोक्ताः । ४ ३४ अग्निः ५ जातवेदाः २९ पितरः।	त्रिष्टुप्; १–३ ६ १४—१८ २० २२, २३ २५, २६ ३१ ४६ ४८, ५० ५२ ५६ अनुष्टुभः; ४ ७ ९ १३ जगत्यः; ५, २६ ३९ ५७ भुरिजः; १९ त्रिपदा परोष्णिक्; २४ त्रिपदा समविषमार्षी गायत्री; ३७ विराड् जगती; ३८–४४ आर्षीत्रिष्टुभः (४ ४२–४४ भुरिजः) ४५ ककुम्मती अनुष्टुप्।

*

तृतीयोऽनुवाकः ।

३	७३	अथर्वा	यमः; मंत्रोक्ताः ५, ६ अग्निः; ५ भूमिः ५७ इन्दुः; ५९ आपः	त्रिष्टुप्; ४, ८, ११, २३ सतः पंक्तिः; २ त्रिपदा निचृद्गायत्री; ६, ५६, ६८, ७०, ७२ अनुष्टुभः; १८, २५, २९, ४४, ४६ जगत्यः; (१८ भुरिक् २९ विराट्) ३० पञ्चपदा अतिजगती; ३१ विराड् जगती; ३२-३५, ४७, ४९, ५२ भुरिजः; ३६ एकावसाना आसुरी अनुष्टुप्; ३७ एकावसाना आसुरी गायत्री; ३९ परात्रिष्टुप् पंक्तिः; ५० प्रस्तारपंक्तिः; ५४ पुरोऽनुष्टुप्; ५८ विराट्; ६० त्र्यवसाना षट्पदा जगती; ६४ भुरिक् पथ्या पंक्तिरार्षी; ६७ पथ्या बृहती; ६९, ७१ ककुम्मती बृहती ।

चतुर्थोऽनुवाकः ।

४	८९		यमः, मन्त्रोक्ताः, ८१ पितरः; ८८ अग्निः; ८९ चन्द्रमाः	त्रिष्टुप्; १, ४, ७, १४, ३६, ६० भुरिजः; २, ५, ११, २९, ५०, ५१, ५८ जगत्यः; ३ पञ्चपदा भुरिगतिजगती; ६, ९, १३ पञ्चपदा शक्वरी; (९ भुरिक् १३ त्र्यवसाना) ८ पञ्चपदा बृहती; (२६ विराट्) २७ याजुषी गायत्री (२५) ३१, ३२, ३८, ४१, ४२, ५५-५७, ५९, ६१ अनुष्टुप् (५६ ककुम्मती); ३५, ६२, ६३ आस्तारपंक्तिः; (३९ पुरोविराट् ६३ भुरिक् ६१ स्वराट्) ६७ द्विपदार्ची अनुष्टुप्; ६८, ७१ आसुरी अनुष्टुप्; ७२-७४, ७९ आसुरीपंक्तिः ७५ आसुरी गायत्री; ७६ आसुरी उष्णिक् ७७ दैवी जगती; ७८ आसुरी त्रिष्टुप् ८० आसुरी जगती; ८१ प्राजापत्यानुष्टुप् ८२ साम्नी बृहती; ८३, ८४ साम्नी त्रिष्टुभौ; ८५ आसुरी बृहती (६७-८६ ०१ एकावसाना) ८६, ८७ चतुष्पदा उष्णिक् (८६ ककुम्मती ८७ शंकुमती) ८८ त्र्यवसाना पथ्यापंक्तिः; ८९ पञ्चपदा पथ्यापंक्तिः ।

इस सूक्तका विषय एक ही होनेसे चारों सूक्तोंका अर्थ क्रमसे पश्चात् ही सबका मिलकर विचार करेंगे, जिससे पाठकोंको और विषयकी सब बातोंका पता लग जायगा।

―――



अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

अष्टादशं काण्डम्।

यम, पितर और अन्त्येष्टि।

[१]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता यमः, मन्त्रोक्ताः)

ओ चित् सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥ १ ॥
न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत् सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन् ॥ २ ॥

अर्थ— [पुरू अर्णवं तिरः जगन्वान्] विस्तृत संसाररूपी समुद्रके पार जाना चाहता हुआ जो तू यम है उस तुझ पतिरूपसे [सखायं] मित्रको मैं यमी [सख्या] पत्नीरूपसे प्राप्त मित्रता द्वारा [ववृत्याम्] वरण करूं अर्थात् तुझ यमको मैं यमी अपना पति बनाऊं। और इस प्रकार पति बनकर यम [अधि क्षमि] पृथिवीपर [प्रतरं दीध्यानः] विशेष रूपसे प्रकाशमान होता हुआ अथवा मुझ यमीमें गर्भधारण करनेके उपायका विशेष चिंतन करता हुआ [वेधा] संतानका उत्पादक यम [पितुः नपातं] पिताके कुलको न गिरानेवाले अर्थात् कुलप्रवर्तक संतानको [आदधीत] धारण करे। [ऋ० १० । १० । १] ॥ १ ॥

[ते] तुझ यमीका [सखा] मित्र यह यम [एतत् सख्यं] इस प्रकारकी पतिपत्नी भाववाली मैत्री [न वष्टि] नहीं चाहता। [यत्] क्योंकि इस प्रकार करनेसे [सलक्ष्मा] एक ही उदरसे उत्पन्न होनेके कारण समान लक्षणोंवाली [विषुरूपा] भिन्न रूपवाली अर्थात् बहिनसे पत्नीके स्वरूपमें परिवर्त [भवाति] हो जाती है। अथवा इस मन्त्रका अर्थ यूं करना चाहिये [यत्] क्योंकि [सलक्ष्मा] तू यमी सहजा होनेसे समान लक्षणोंवाली है अतः [ते सखा] तेरे मित्र यम [एतत् सख्यं] इस पत्नी रूपसे मित्रताको [न वष्टि] नहीं चाहता। पत्नी तो वह बन सकती है। जो कि [विषुरूपा] भिन्न रूपवाली भिन्न लक्षणोंवाली [भवाति] होती है। इसके अतिरिक्त [महः असुरस्य] महान् प्राणदाता परमात्माके [दिवः धर्तारः] व्यवहारको धारण करनेवाले अर्थात् सांसारिक व्यवहार कुशल [वीराः पुत्रासः] पराक्रमी मनुष्य पुत्र भी [उर्विया] पृथिवीपर ऐसे संबन्धका [परिख्यन्] परिवाद निराकरण विवेक करते हैं। [ऋ० १० । १० । २] ॥ २ ॥

भावार्थ— यमी यम से कहती है कि संसाररूपी सागरसे तरनेके लिये हम दोनों पतिपत्नीके रूपमें मित्रता करें ताकि यम मेरेमें अपने पितृकुलको प्रवर्तक सन्तान उत्पन्न करें जिससे कि अपना वंश नष्ट न होने पावे ॥ १ ॥

यम यमीको उत्तर देता हुआ कहता है कि, हे यमी! तूने जिस प्रकारकी मैत्रीकी कामना मुझसे की है उस प्रकारकी मुझे स्वीकृत नहीं है क्योंकि तू तो समान लक्षणोंवाली है और पत्नी तो भिन्न लक्षणोंवाली होनी चाहिये। इसके सिवाय सिर्फ मैं ही इस बातका प्रतिवाद नहीं कर रहा। अपितु अन्य व्यवहारकुशल लोग भी पृथ्वीपर इस प्रकारके सम्बन्धका विरोध करते हैं ॥ २ ॥

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य ।
नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्वमा विविश्याः ॥ ३ ॥
न यत् पुरा चकृमा कद्ध नूनमृतं वदन्तो अनृतं रपेम ।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नो नाभिः परमं जामि तन्नौ ॥ ४ ॥
गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः ।
नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः ॥ ५ ॥

अर्थ—[ते अमृतास] वे अमृत स्वरूप व्यवहार कुशल मनुष्य भी [एकस्य मर्त्यस्य] एक अर्थात् अद्वितीय मनुष्यकी [त्यजसं] सन्तान [उशन्ति] चाहते हैं [एतत् घा] यह बात प्रसिद्ध ही है इसलिए सन्तानोत्पत्तिके लिए [ते मनः] तेरा मन [अस्मे मनसि] हमारे मनमें स्थित होवे और इस प्रकार [जन्युः पतिः] सन्तानका उत्पन्न करनेवाला पति हुआ [तन्वं आ विविश्याः] मुझ यमीके शरीरमें प्रवेश कर [ऋ० १० । १० । ३] ॥ ३ ॥

[यत्] जो कार्य [पुरा] पहिले [न चकृम] हमने नहीं किया है वह कार्य [कत् ह नूनम्] निश्चयसे अब क्यों करें ? [ऋतं वदन्तः] सत्य बोलते हुए [अनृतं रपेम] असत्य क्यों बोलें ? अथवा [यत्] क्योंकि [पुरा न चकृम] पहिले हमने ऐसा काम नहीं किया है इस प्रकारसे [नूनं] निश्चयसे [ऋतं वदन्तः] सत्य बोलते हुए [कत्] किस लिए [अनृतं रपेम] झूठ बोलें कि हमने ऐसा काम पहिले किया है । (उत्तरार्धमें यम अपनी तथा यमी की माता पिता दोनोंके पारस्परिक सम्बन्धको दर्शाता हुआ कहता है कि) [अप्सु गन्धर्वः] अन्तरिक्षमें विद्यमान आदित्य [च] और [योषा सा अप्या] आदित्यकी स्त्री वह अप्या [नौ] हम दोनोंके [नाभिः] उत्पत्तिस्थान हैं । [तत्] इस कारणसे [नौ] हम दोनोंका [जामि] जो सम्बन्ध है वह [परमं] बड़ा उत्कृष्ट व पवित्र है । [ऋ० १० । १० । ४] ॥ ४ ॥

[सविता] प्रेरक [विश्वरूपः] विश्वरूप [त्वष्टा] बनानेवाले [देवः] प्रकाशमान [जनिता] उत्पादक परमात्माने [नु] निश्चयसे [नौ] हम दोनोंको [गर्भे] माताके गर्भमें [दम्पती] पति पत्नी [कः] बनाया है । [अस्य] उस उत्पादक परमात्माके [व्रतानि] बनाए हुए नियमोंको [न किः प्र मिनन्ति] कोई भी नहीं तोड़ते । [नौ] हम दोनोंको दम्पती बनानेवाले [अस्य] इस त्वष्टाका जो कर्म है उसे [पृथिवी उत द्यौः] पृथ्वी व द्यु दोनों ही [वेद] जानते हैं । [ऋ० १० । १० । ५] ॥ ५ ॥

भावार्थ- यमी यमसे कहती है कि क्योंकि संसारमें रहते हुए पुरुषको एक न एक सन्तान अवश्यमेव उत्पन्न करनी चाहिये अतः तू और मैं एक मनवाले होवें व तू मेरेमें सन्तान उत्पन्न कर ॥ ३ ॥

यम यमीसे कहता है कि जो काम हमने पहिले कभी नहीं किया वह अब हम झूठ बोलकर क्यों करें ? और इसके सिवाय हम दोनोंके एक ही माबाप होनेसे हमारा पारस्परिक संबन्ध बड़ा उत्कृष्ट है अतः ऐसा संबन्ध हम दोनोंमें नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

यमी यमसे कहती है कि हे यम ! परमात्माने स्वयं ही हम दोनोंको गर्भमें से ही पतिपत्नी बनाया है । क्योंकि उसने हम दोनोंको एक साथ ही गर्भमें रखा था । गर्भसे ही हम दोनोंकी जोड़ी बनाई है । उस परमात्माके नियमोंका तो कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता तो फिर हम कैसे करें अतः तू मेरे साथ यह संबन्ध जोड़ । यह द्यु और पृथिवी भी जानते हैं कि त्वष्टाने हमारा इस प्रकारका संबन्ध बनाया है । तू यह न समझ कि मैं अपनी ओर से बनाकर कह रही हूं ॥ ५ ॥

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून् ।
आसन्निषून् हृत्स्वसो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात् ॥ ६ ॥
को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत् ।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन् ॥ ७ ॥
यमस्य मा यम्यं१ काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय ।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद्वृहेव रथ्येव चक्रा ॥ ८ ॥

अर्थ— हे यमी ! [अद्य] आजकलके जमाने में [ऋतस्य गाः] सत्य की स्तुति करनेवाले, [शिमीवतः] श्रेष्ठ कर्मोंके करनेवाले [भामिनः] तेजस्वी [दुर्हृणायून्] दुष्टों पर क्रोध करनेवाले [आसन् इषून्] मुखपर बाण मारनेवाले [हृत्स्वसः] हृदयोंमें बाण मारनेवाले तथा [मयोभून्] सुख पहुंचानेवालों को भला [कः] कौन [धुरि युङ्क्ते] काम धुरा में जोड़ता है ? कोई भी नहीं । [यः] जो [एषां भृत्यां] इनके भरण पोषण को [ऋणधत्] बढ़ाता है [सः] वह [जीवात्] वस्तुतः जीता है । ॥ ६ ॥

हे यमी ! [अस्य प्रथमस्य अह्नः] इस प्रथम दिन के संबन्धमें [कः वेद] कौन जानता है ? [क ईं ददर्श] और किसने इसको देखा है ? [क इह प्रवोचत्] और उसके विषयमें भला कौन कह सकता है ? [मित्रस्य वरुणस्य धाम] मित्ररूप श्रेष्ठ परमात्माका धाम [बृहत्] महान् है । अतः [आहनः] हे कष्ट देनेवाली ! [वीच्या] कुछ स्वर द्वारा [कत् उ] कैसे [नॄन् ब्रवः] हम मनुष्योंके प्रति बोलती है ? ॥ ७ ॥

(समाने योनौ) एक घरमें [सहशेय्याय] एक शय्यापर साथ सोनेके लिए [यमस्य कामः] यम की कामना (मा यम्यं) मुझ यमी को [आ अगन्] आकर प्राप्त हुई है। मैं यमी [पत्ये जाया इव] पतिके लिए जिस प्रकार पत्नी उस प्रकार यमके लिए [तन्वं] अपना शरीर [रिरिच्यां] फैलाऊं और [रथ्या चक्रा इव] रथके दो पहियों के समान हम दोनों यम यमी [वि वृहेव] परस्पर मिथुन-व्यवहार करें ॥ ८ ॥

भावार्थ— यम यमी से कहता है कि हे यमी! आजकलके जमानेमें सत्यवादी वीर पुरुषोंको कौन पूछता है। उनके मार्गका कौन अनुसरण करता है ? कोई भी नहीं । वस्तुतः भाई बहिनका विवाहसंबन्ध नहीं होना चाहिये तो भी तू उन्मत्त पुरुषों जैसे कि गर्भमें ही हम दोनोंको परमात्माने दंपती बनाया है ऐसा बोल रही है ॥ ६ ॥

यम यमी से कहता है कि तू जो यह युक्ति दे रही है कि गर्भमें ही परमात्माने हमको दंपती पत्नी बनाया है इत्यादि सो ठीक नहीं है। क्योंकि प्रथम दिन जब धारण हुआ था उस दिन क्या हुआ था क्या विचार था इस बातको कौन जानता है ? किसने देखा ? और किसने आकर कहा ? न कोई जान ही सकता है न देख ही सकता है और नहीं कह ही सकता है । क्योंकि परमात्माकी बात अगाध है उसका कोई ज्ञान नहीं करता । ऐसी हालतमें तू हम मनुष्योंसे ऐसी ऐसी बात क्या बनाती है कि परमात्माने ही हमें गर्भ से दंपती बनाया है तथा भाई बहिनका विवाह होना चाहिये । (ऋ १ ।। १८) ॥ ७ ॥

यमी यमसे कहती है कि मेरे अन्दर तुम भाई यमके विषयमें कामवासनायें उत्पन्न हुई है । वही मुझे बलपूर्वक एकत्र विहार करनेको प्रेरणा देता है । अतः हे भाई ! आओ हम दोनों मिलकर पति पत्नीकी तरह रहें व रथके दोनों पहियों की तरह मिलकर संसार की यात्रा करें (ऋ १ ।। १७) ॥ ८ ॥

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति ।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन वि वृह रथ्येव चक्रा ॥ ९ ॥
रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात् ।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य विवृहादजामि ॥ १० ॥
आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि ।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥ ११ ॥

अर्थ [एते देवानां स्पशः] ये देवोंके दूत अर्थात् परमात्माके नियामक [ये] जो कि [इह] इस जगत्में संचार करते हैं वे [न तिष्ठन्ति] न तो एक स्थानपर ठहरते हैं और [न] नहीं [निमिषन्ति] आंख बंद करते हैं अर्थात् सोते हैं। इसलिए तू [मत् अन्येन] मेरेसे भिन्न दूसरेके पास [तूयं] शीघ्र [याहि] जा और हे [आहनः] दुःख देनेवाली ! [रथ्या चक्रा इव] रथके चक्रोंके समान उसके साथ [विवृह] आलिङ्गन कर ॥ ९ ॥

[रात्रीभिः अहभिः] रात और दिन [अस्मै] इस यमको सुमति [दशस्येत्] देवें। और [सूर्यस्य चक्षुः] सूर्यका प्रकाश [मुहुः] बारबार [उत् मिमीयात्] इसके लिए चमके। [दिवा पृथिव्या] द्युके साथ पृथिवी व पृथिवीके साथ द्यु इस प्रकार [सबन्धू] भाई बहिन के रूपमें स्थित होते हुए भी द्यु व पृथिवी [मिथुना] परस्पर मिलकर रहते हैं अतः [यमीः] यमी भी (यमस्य अजामि विवृहात्) यमका बन्धुत्वरहित सम्बन्ध करके [विवृहात्] व्यवहार करें ॥ १० ॥

हे यमी ! [ता उत्तरा युगानि] वे भविष्यमें ऐसे युग [घा] निश्चयसे [आ गच्छान्] आवेंगे [यत्र] जिन युगोंमें कि [जामयः] बहिनें [अजामि] बन्धुत्वरहित कर्म [कृणवन्] करेंगी अर्थात् बहिनें भाइयोंसे शादी करेंगी। परन्तु तू तो [वृषभाय] किसी वीर्यवान् पुरुष के लिए [बाहुं] अपना हाथ [उप बर्बृहि] फैला, आगे बढ़ा। अर्थात् उसके साथ पाणिग्रहण कर। इस प्रकार [सुभगे] हे भाग्यशालिनी ! [मत् अन्यं पतिं] मेरेसे भिन्न पति की [इच्छस्व] इच्छा कर ॥ ११ ॥

भावार्थ— यमी की कामवासनाकी इच्छा सुनकर यम उसे कहता है कि परमात्माके दूत प्रतिक्षण हमारे आचरणोंको देख रहे हैं। अतः तू मुझे छोड़कर अन्य किसीके साथ जाकर विवाहित हुई हुई अपनी अभिलाषा पूर्ण कर। (ऋ. १०।१०।८) ॥ ९ ॥

यमी यमसे कहती है कि देख दिन व रात्री द्यु और पृथिवी ये परस्पर भाई बहिन होते हुए भी परस्पर मिलकर संयुक्त हुए हुए हैं। जरा आंख खोलकर देख। फिर ऐसी अवस्थामें हम दोनों भाई बहिन होते हुए भी क्या न मैं बहिनका संबन्ध छोड़कर तेरे साथ पत्नीका व्यवहार करूं। (ऋ. १०।१०।९) ॥ १० ॥

यम यमी की युक्तियुक्त उत्तम मंत्रोक्त उक्ति सुनकर निरुत्तर हुआ हुआ कहता है कि हे यमी ! इस प्रकारका समय आगे आवेगा जब कि भाई बहिनें भी परिस्थितिके अनुसार अयोग्य करेंगी परन्तु मैं ऐसा नहीं करना चाहता चाहे ऐसी युक्तिका प्रत्युत्तर मेरे पास न भी हो। अतः तू मेरेसे भिन्न अन्य किसी वीर्यवान् पुरुषका पाणिग्रहण करके उसे अपना पति बना। (ऋ. १०।१०।१०) ॥ ११ ॥

किं भ्रातासद्यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात् ।
काममूता बह्वेतद्रपामि तन्वा मे तन्वं सं पिपृग्धि ॥ १२ ॥
न ते नाथं यम्यत्राहमस्मि न ते तनूं तन्वा सं पपृच्याम् ।
अन्येन मत् प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत् ॥ १३ ॥
न वा उ ते तनूं तन्वा सं पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् ।
असंयदेतन्मनसो हृदो मे भ्राता स्वसुः शयने यच्छयीय ॥ १४ ॥
बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम ।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परि ष्वजातै लिबुजेव वृक्षम् ॥ १५ ॥

अर्थ-[किं भ्राता असत्] वह क्या भाई है [यत्] क्योंकि जिसके रहते हुए भी बहिन [अनाथं भवाति] अनाथ बनी रहती है। [उ] और [किं स्वसा] वह क्या बहिन है कि जिसके रहते हुए भी [यत्] यदि भाई [निर्ऋतिः निगच्छात्] कष्टको प्राप्त होता है। अतः हे भाई! [काममूता] कामसे युक्त हुई हुई मैं [एतत् बहु रपामि] यह बहुत कुछ कहती हूं। इसलिए तू [तन्वा] अपने शरीरसे [मे] मेरे [तन्वं] शरीरको [सं पिपृग्धि] संयुक्त कर ॥ १२ ॥

हे यमी! [अत्र] यहांपर [अहं] मैं [ते नाथं] तेरा स्वामी [न अस्मि] नहीं हूं। और इसलिए [ते तनूं] तेरे शरीरको [तन्वा] अपने शरीरके साथ [न सं पपृच्याम्] संयुक्त नहीं करूंगा। अतः हे यमी! [मत् अन्येन प्रमुदः कल्पयस्व] मेरेसे भिन्न दूसरेके साथ आमोद कर। [सुभगे] हे सौभाग्यवती! [एतत्] इस प्रकारका सम्बन्ध [ते भ्राता] तेरा भाई यम [न वष्टि] नहीं चाहता ॥ १३ ॥

हे यमी! [ते तनूं] तेरे शरीर को [तन्वा] अपने शरीरके साथ [वै उ] कदापि [न सं पपृच्याम्] जो बहिन के साथ संभोग करता है उसे [पापं आहुः] पापी कहते हैं। [एतत्] यह बात [मे मनसः हृदः] मेरे मन व हृदय के [असंयत्] विरुद्ध है-असंगत है कि [भ्राता] भाई मैं [स्वसुः शयने] बहिन की शय्यापर [शयीय] सोऊं ॥ १४ ॥

हे यम! [बत] बड़े दुःखकी बात है कि तू [बतः असि] बड़ा निर्बल है। [ते] तेरे [मनः हृदयं च] मन तथा हृदयको [न अविदाम] हम नहीं जान पाये। पर [किल] निश्चयसे [अन्या] दूसरी कोई [त्वां] तुझे [परिष्वजातै] आलिंगन देगी [कक्ष्या युक्तं इव] जिस प्रकारसे कि घोड़ेकी कमर पेटी गाड़ीमें जोते हुए घोड़ेको लिपटती है और जिस प्रकारसे कि [लिबुजा वृक्षं इव] बेल वृक्षको लिपटती है ॥ १५ ॥

भावार्थ- यमी यमसे कहती है कि हे यम! वैसे भाईके रहते हुए भी यदि बहिन अनाथ बनी रहे तो वह भाई किस कामका? और इसीप्रकार बहिनके रहते हुए यदि भाईको कष्ट उठाना पड़े तो वह बहिन किस कामकी? इसलिये हे भाई तू मेरे साथ अपने शरीरका संयोग कर। (ऋ. १०।१०।११) ॥ १२ ॥

यम यमीसे कहता है कि हे बहिन! मैं तेरा स्वामी नहीं हूं। अतः अपने शरीरसे तेरे शरीरको संयुक्त नहीं करूंगा। तू अन्य किसीके साथ आनन्दका उपभोग कर। तेरा भाई इस प्रकारका कार्य तेरे साथ करना नहीं चाहता। (उत्तरार्ध ऋ. १०।१०।१२) ॥ १३ ॥

यमी यमसे अपने पूर्वोक्त कथनको दृढ करता हुआ कहता है कि मैं अपने शरीरके साथ तेरा शरीर कदापि संयुक्त नहीं करूंगा क्योंकि बहिनके साथ संयोग करनेवालेको पापी कहा गया है इसके सिवाय भाई बहिनकी शय्यापर सोवे यह बात मेरे मन व हृदयके भी प्रतिकूल है अतः मैं तेरी बात नहीं मान सकता। (पूर्वार्ध ऋ. १०।१०।१२) ॥ १४ ॥

यमी यमसे कहती है कि हे यम! तू बड़ा ही निर्बल है। वास्तवमें मैं तेरे मन व हृदयको जान नहीं पाई हूं। अस्तु अन्य कोई तो अवश्यमेव तुझे आलिंगन देगी जैसे कि कमरको पेटी घोड़ेको देती है व बेल वृक्षको। (ऋ. १०।१०।१३) ॥ १५ ॥

१ [अ. सु. भा. कां. १८]

अन्यमू षु यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजातै लिबुजेव वृक्षम् ।
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥ १६ ॥
त्रीणि च्छन्दांसि कवयो वि येतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम् ।
आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन् भुवन आर्पितानि ॥ १७ ॥
वृषा वृष्णे दुदुहे दोहसा दिवः पयांसि यह्वो अदितेरदाभ्यः ।
विश्वं स वेद वरुणो यथा धिया स यज्ञियो यजति यज्ञियाँ ऋतून् ॥ १८ ॥

अर्थ— [यमि] हे यमी ! तू [अन्य उ षु] अन्य पुरुषको ही आलिंगन कर और [अन्यः] दूसरा पुरुष ही (त्वां) तुझे [परिष्वजातै] आलिंगन देवे । [लिबुजा इव वृक्षम्] जिस प्रकारसे कि बेल वृक्षको आलिंगन करती है । [तस्य] उस पुरुषके [मनः त्वं इच्छ] मनकी तू इच्छा कर [स वा तव] और वह तेरे मनको चाहनेकी इच्छा करे । [अध] और तब उसके साथ तू [सुभद्रां संविदं कृणुष्व] कल्याणकारिणी संगति कर ॥ १६ ॥

[कवयः] क्रान्तदर्शी ज्ञानी जनोंने [त्रीणि छन्दांसि] तीन छन्द अर्थात्–जो संसारको आच्छादन करें अपने से जो संसारको व्याप्त करें यानि जो संसारमें सर्वत्र उपलब्ध हो सकें ऐसे–तीन सर्वत्र उपलब्ध होनेवाले पदार्थों को संसारके निर्वाहके लिए [वि येतिरे] विविध प्रकारके कार्योंमें लगा रखा है । इन तीनों छंदोंमेंसे प्रत्येक [पुरुरूपं] बहुत रूपोंवाला है [दर्शतम्] अद्भुत है तथा [विश्वचक्षणम्] सब के देखने योग्य है । ये तीनों छन्द कौनसे हैं ? [आपः वाताः ओषधयः] जल वायु तथा ओषधियां हैं । [तानि] ये तीनों छन्द [एकस्मिन् भुवने] इस एक ही संसारमें अर्पित हैं स्थापित हैं ॥ १७ ॥

[अदाभ्यः] किसीसे भी न दबने वाला [यह्वः] महान् [वृषा] कामनाओं की वर्षा करनेवाला अग्नि (वृष्णे) पराक्रमी यजमानके लिए [अदितेः दिवः] अखण्डनीय द्युलोकसे [दोहसा] दोहने के साधन वृष्टिद्वारा [पयांसि] जलों –रसों– को [दुदुहे] दोहता है । [सः] वह पराक्रमी अग्नि [यथा वरुणः] वरुण की तरह [धिया] अपनी बुद्धि द्वारा [विश्वं वेद] सब कुछ जान लेता है । अथवा इस तृतीय पादका अर्थ यूं भी किया जा सकता है [स वरुणः] वह श्रेष्ठ जन [यथा धिया] अपनी बुद्धिके अनुसार [विश्वं वेद] सब कुछ जान लेता है और फिर तदनुसार [सः यज्ञियः] वह पूजनीय बनकर [यज्ञियान् ऋतून्] पूजनीय ऋतुओंकी [यजति] पूजा करता है ॥ १८ ॥

भावार्थ— यम यमीसे कहता है कि हे यमी ! तू भी दूसरे पुरुषको प्राप्त हो । वह तुझे आलिंगन देवे । उसके मनके अनुकूल चलनेकी तू इच्छा कर तथा वह भी तेरी इच्छानुसार चले और इस प्रकारसे तुम दोनोंका जीवन कल्याण करनेवाला होवे (ऋ० १ । १ । १४) ॥ १६ ॥

ज्ञानी लोगोंने जल वायु तथा औषधियोंको संसार निर्वाहके लिये नाना कार्योंमें लगा रखा है । ये इस संसार में सर्वत्र उपलब्ध हो सकते हैं । वर्तमान समयके ज्ञानी लोगोंने जल वायु तथा ओषधियोंको नाना कार्योंमें लगा रखा है तथा उनसे संसारका किस प्रकारसे निर्वाह हो रहा है यह प्रत्यक्ष ही है । ये तीनों पदार्थ संसारमें सर्वत्र पाये जाते हैं अतएव ये छन्दके नामसे पुकारा गया है (छादनात् छन्दांसि) इन्होंने संसारको ढक रखा है । जल, वायु तथा औषधियोंसे संसार आच्छादित है । अतएव ये छन्द हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ— अग्निरूप परमात्मा द्युलोकसे जलोंकी वृष्टि करता है । और मनुष्य अपनी बुद्धिके अनुसार उन जलोंका यथायोग्य उचित उपयोग लेता है । अनुष्ठान करता है । और इस प्रकार जन्मोंको पूजनीय बनाता है ॥ १८ ॥

रपद् गन्धर्वीरप्या च योषणा नदस्य नादे परि पातु नो मनः।
इष्टस्य मध्ये अदितिर्नि धातु नो भ्राता नो ज्येष्ठः प्रथमो वि वोचति ॥ १९ ॥
सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा उवास मनवे स्वर्वती।
यदीमुशन्तमुशतामनु क्रतुमग्निं होतारं विदथाय जीजनन् ॥ २० ॥
अध त्यं द्रप्सं विभ्वं विचक्षणं विराभरदिषिरः श्येनो अध्वरे।
यदी विशो वृणते दस्ममार्या अग्निं होतारमध धीरजायत ॥ २१ ॥
सदासि रण्वो यवसेव पुष्यते होत्राभिरग्ने मनुषः स्वध्वरः।
विप्रस्य वा यच्छशमान उक्थ्यो३ वाजं ससवाँ उपयासि भूरिभिः ॥ २२ ॥

अर्थ- (गन्धर्वीः) स्तुति करनेवालों का धारण करनेवाली (अप्या) सत्कर्मोंमें रहनेवाली, (योषणा) भजनीय वेदवाणी (रपत्) अग्निके गुणगान करती है। वह अग्नि (नः मनः) हमारे मनकी (नदस्य नादे) स्तुति करनेवाले की अर्चना करने में (परिपातु] चारों ओर से रक्षा करे। (इष्टस्य मध्ये) इष्ट अर्थात् अभिलषित पदार्थोंके बीचमें वह (अदितिः) अखण्डनीय अग्नि हमें (निधातु) स्थापित करे। वह अग्नि (नः ज्येष्ठः भ्राता) हमारा बडा भाई होकर (प्रथमः) प्रसिद्ध हुआ (नः विवोचति) हमें उपदेश देता है ॥ १९ ॥

(सो) वही (चित्) निश्चयसे (नु) अब (भद्रा) कल्याण करनेवाली (क्षुमती) अन्नवाली (यशस्वती) कीर्तिवाली (स्वर्वती) आदित्यवाली अर्थात् जिसमें आदित्य विद्यमान है ऐसी (उषाः) उषा (मनवे) मनुष्यके लिए (उवास) प्रकाशित हुई है। कब उत्पन्न हुई है? (यद्) जब कि (ईम्) इस (उशन्तं) कामना करते हुए (होतारं) दाता (अग्निं) अग्निको (विदथाय) यज्ञके लिए (उशतां क्रतुं अनु) कामना करते हुओंके यज्ञके साथ साथ (जीजनन्) उत्पन्न किया ॥ २० ॥

(अध) तब (त्यं) उस (द्रप्सं) हर्षप्रद (विभ्वं) महान् (विचक्षणं) विशेषतया देखनेवालेके सोमको (अध्वरे) यज्ञमें (श्येनः विः) श्येन नामक पक्षी (आभरत्) लाया। (यदि) जब (आर्याः विशः) श्रेष्ठ जन (दस्मं) दर्शनीय (होतारं) दाता (अग्निं) अग्निको (वृणते) वरण करते हैं (अध) तब (धीः अजायत) यज्ञादि कर्म होता है ॥ २१ ॥

(मनुषः होत्राभिः) मनुष्यके यज्ञोंसे (स्वध्वरः) शोभन यज्ञवाला (अग्ने) हे अग्नि! (पुष्यते) पोषण करनेवालेके लिये (यवसा इव) जिस प्रकार पशुओंके लिए घास होती है उसी प्रकार तू (सदा रण्वः असि) सर्वदा रमणीय आनन्दप्रद है। (यत्) क्योंकि (विप्रस्य वाजं ससवान्) मेधावी जनके अन्नका सेवन करता हुआ (उक्थ्यः) प्रशंसनीय व (शशमानः) पुरस्कृत तू (भूरिभिः) बहुतसी कामनाओंके साथ (उपयासि) आता है। अर्थात् बहुतसी कामनाओं को पूर्ण करता है ॥ २२ ॥

भावार्थ- वेदवाणी उस अग्निरूप परमात्माकी स्तुति करती है। वह परमात्मा भक्त जन के कल्याणमें हमारी रक्षा करता है। इच्छित पदार्थोंका प्रदान करता है वह बडे भाईके समान होकर हमें समय समय पर उपदेश देता है ॥ १९ ॥

जब कि यज्ञकी कामना करते हुए ऋषीने यज्ञमें अग्निको प्रज्वलित किया तब कल्याणप्रद उषा उत्पन्न हुई ॥ २० ॥

जब श्रेष्ठजन अग्नि प्रदीप्त कर यज्ञ करते हैं-तब सोमरस विशेषकर हर्षपूर्वक उसका सेवन करते हैं ॥ २१ ॥

अग्नि यज्ञादि कर्म करनेवालोंके लिये ऐसा आनन्दप्रद है जैसा कि घास पशुओंके लिए। क्योंकि अग्नि यजमानकी अनेक कामनाओंको पूर्ण करता है ॥ २२ ॥

उदीरय पितरा जार आ भगमियक्षति हर्यतो हृत्त इष्यति ।
विवक्ति वह्निः स्वपस्यते मखस्तविष्यते असुरो वेपते मती ॥ २३ ॥
यस्ते अग्ने सुमतिं मर्तो अख्यत् सहसः सूनो अति स प्र शृण्वे ।
इषं दधानो वहमानो अश्वैरा स द्युमाँ अमवान् भूषति द्यून् ॥ २४ ॥
श्रुधी नो अग्ने सदने सधस्थे युक्ष्वा रथममृतस्य द्रवित्नुम् ।
आ नो वह रोदसी देवपुत्रे माकिर्देवानामप भूरिह स्याः ॥ २५ ॥

अर्थ– हे अग्ने ! (पितरा) माता पिताके प्रति (भगं) अपना तेज– ऐश्वर्य (जारः आ) सूर्यकी तरह अर्थात् जिस प्रकार सूर्य अपना तेज सर्वत्र प्रसारित करता है उस प्रकार (उदीरय) प्रेरित कर—उनके पास पहुंचा । (हर्यतः) कमनीय स्पृहणीय अग्नि (हृत्तः) हृदयसे (इयक्षति) यजन करना चाहता है इसलिये (इष्यति) जाता है । (वह्निः) हवि आदिका वहन करनेवाला अग्नि (विवक्ति) कहता है और (मखः स्वपस्यते) कर्मशील अग्नि सुन्दर कर्म करना चाहता है । (तविष्यते) महान् होनेकी इच्छा करनेवालेके लिये (असुरः) प्राणदाता अग्नि (मती वेपते) कर्मोंमें जाता है ॥ २३ ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (यः मर्तः) जो मनुष्य (ते सुमतिं) तेरी सुमतिके विषयमें (अख्यत्) स्मरण स्मरण करता फिरता है अर्थात् तेरी प्रशंसा करता रहता है हे (सहसः सूनो) बलके पुत्र ! (सः) वह मनुष्य (अति प्रशृण्वे) बहुत अधिकतासे सुना जाता है अर्थात् वह सर्वत्र प्रसिद्ध हो जाता है । सर्वत्र उसीका नाम सुनाई देता है । इसके अतिरिक्त (सः) वह मनुष्य (इषं दधानः) अन्नका धारण करता हुआ अर्थात् अन्नसे परिपूर्ण हुआ हुआ, (अश्वैः वहमानः) घोडोंसे वहन किया जाता हुआ अर्थात् अश्वादि वाहनसे संपन्न हुआ हुआ (द्युमान्) तेजस्वी होता हुआ (अमवान्) बलवान् हुआ हुआ (द्यून्) दिनोंको (भूषति) शोभित करता है । अर्थात् ऐसे मनुष्यके जीनेसे वस्तुतः दिनोंकी शोभा बढती है ॥ २४ ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (सधस्थे सदने) जहांपर सब एकत्रित होकर बैठते हैं ऐसे घरमें (नः श्रुधि) हमारी प्रार्थना को सुन । वह प्रार्थना क्या है वह अगले तीन वाक्योंसे बतलाते हैं— (अमृतस्य द्रवित्नुं रथं युक्ष्व) अमृतके बहानेवाले रथको जोड और फिर उस रथद्वारा (देवपुत्रे रोदसी) देव हैं पुत्र जिनके ऐसे द्यावा पृथिवीको (नः आवह) हमारी तरफ ले आ । और हे अग्नि तू (देवानां माकिः अपभूः) देवोंके बीचमेंसे कभी भी दूर मत हो। उन्हींमें बना रह । (इह स्याः) यहां पर हमारे बीचमें भी स्थित हो ॥ २५ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार सूर्य सबको प्रकाशित करता है उस प्रकार अग्नि सब पितर आदिकोंसे यज्ञ करे । और उन्नतिके लिये सबसे उत्तम कर्म करावे ॥ २३ ॥

जो मनुष्य अग्निकी सुमतिका सदा स्मरण करता है वह सर्वत्र प्रसिद्ध होकर धनधान्य तथा वाहनादिसे युक्त हुआ हुआ बल व पराक्रमसे युक्त होकर बहुत समयतक जीवित रहता है ॥ २४ ॥

हे अग्नि ! हम सब द्वारा मिलकर की गई प्रार्थनाको सुन । वह प्रार्थना यह है कि तू अमृतके बहानेवाले रथसे द्यावा पृथिवीको लिवाकर हमारे पास ले आ । अर्थात् द्यावापृथिवी देव द्वारा तू हमें हमारे अनुकूल कर । तू हमारे बीचमें तथा देवोंके बीचमें बना रह ॥ २५ ॥

यदग्न एषा समितिर्भवाति देवी देवेषु यजता यजत्र।
रत्ना च यद् विभजासि स्वधावो भागं नो अत्र वसुमन्तं वीतात् ॥ २६ ॥
अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः।
अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ २७ ॥
प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः।
प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन् प्रति द्यावापृथिवी आ ततान ॥ २८ ॥
द्यावा ह क्षामा प्रथमे ऋतेनाभिश्रावे भवतः सत्यवाचा।
देवो यन्मर्तान् यजथाय कृण्वन्त्सीदद्धोता प्रत्यङ् स्वमसुं यन्। ॥ २९ ॥

अर्थ-(यजत्र) हे यजन करने योग्य (अग्ने) अग्नि! (यत्) जब (एषा समितिः) यह जन समाज (देवेषु) देवजनोंमें (देवी) दिव्य गुणोंवाला व (यजता) यजनीय (भवाति) होवे (च) और (यत्) जब हे (स्वधावः) अन्न धनेवाले अग्ने! तू (रत्नानि विभजासि) रत्नोंको बांटे तब (अत्र) यहांपर (नः) हमारे लिए (वसुमन्तं भागं) प्रभूतधनयुक्त भाग (वीतात्) दे ॥ २६ ॥

(प्रथमः) मुख्य-प्रसिद्ध (जातवेदाः) उत्पन्न पदार्थोंके ज्ञान करानेवाले (अग्निः) अग्निने (उषसां अग्रं) उषाकी उत्पत्ति व (अहानि) दिनोंको (अनु, अख्यत्) प्रसिद्ध किया है। वह अग्नि (सूर्यः) सूर्यरूप हुआ (उषसः अनु रश्मीन् अनु द्यावापृथिवी अनु) उषाओंमें रश्मियोंमें तथा द्यावापृथिवीमें अनुकूल रूपसे (आविवेश) प्रविष्ट हुआ है। अर्थात् उषामें भी सूर्य रहता है किरणोंमें भी रहता है और द्यावापृथिवीमें भी रहता है ॥ २७ ॥

[मंत्रका पूर्वार्ध पूर्व मंत्रके पूर्वार्धके समान है। अतः उसका अर्थ वही समझना चाहिए। पूर्व मंत्रके 'अनु' पदके स्थानपर यहां पर 'प्रति' यह पद आया है। अतः यहांपर (प्रति अख्यत्) का अर्थ करना चाहिए प्रत्यक्ष रूपसे प्रसिद्ध किया है। शेष अर्थ समान है। उत्तरार्धका अर्थ इस प्रकार है] उस अग्निने (सूर्यस्य रश्मीन्) सूर्यकी किरणोंको (पुरुधा) बहुत रूपोंसे (द्यावापृथिवी प्रति प्रति आततान) द्युलोक व पृथिवी लोकके प्रति अर्थात् द्यु व पृथिवीमें प्रत्यक्षतया फैला रखा है ॥ २८ ॥

(प्रथमे) मुख्य या प्रसिद्ध, (सत्यवाचा) सत्यवाणी वाले (द्यावा क्षामा) द्यु और पृथिवी (ऋतेन) सत्यद्वारा अथवा यज्ञद्वारा(ह) निश्चयसे (अभिश्रावे भवतः) सुनने लायक अर्थात् प्रसिद्धिवाले (भवतः) बनते हैं (यत्) जब कि (होता) दानी (देवः) प्रकाशमान अग्नि (मर्तान्) मनुष्योंको (यजथाय) यज्ञके लिये (कृण्वन्) प्रवृत्त करता हुआ (स्वं असुं) अपनी प्रज्ञा (बुद्धि) को (यन्) प्राप्त होता हुआ (प्रत्यङ्) सामने (सीदत्) बैठता है ॥ २९ ॥

भावार्थ हे अग्नि! जब हमारा जनसमुदाय दिव्य गुणोंवाला व पूजनीय बने तब उसे तू नाना रत्नोंका बांट और उस समय हमें प्रभूत धनधान्यसे युक्त कर। (ऋ० १०।११।८ पूर्ण समाप्त) ॥ २६ ॥

अग्नि पहिले उषा व तदनन्तर दिनको प्रकट करता है। वही सूर्य रूपसे उषा किरण तथा द्युलोक व पृथिवी लोकमें प्रविष्ट हुआ हुआ है। अग्नि ही इन सबमें भिन्न भिन्न रूपसे प्रविष्ट हुआ हुआ है। वस्तुतः सूर्यादि अग्निके ही स्वरूप हैं। वे अग्निसे भिन्न नहीं ॥ २७ ॥

अग्निने उषा व दिन बनाकर सूर्यकी किरणोंको द्यु व पृथिवी लोकमें फैला रखा है। सर्वत्र प्रकाश कर रखा है ॥ २८ ॥

जब अग्नि मनुष्योंको यज्ञके लिये तैयार करके स्वयं उनके सम्मुख बैठता है तब यज्ञ द्वारा द्यु व पृथिवी प्रसिद्ध पाते हैं। (ऋ० १०।१२।१) ॥ २९ ॥

देवो देवान् परिभूर्ऋतेन वहा नो हव्यं प्रथमश्चिकित्वान् ।
धूमकेतुः समिधा भाऋजीको मन्द्रो होता नित्यो वाचा यजीयान् ॥ १० ॥
अर्चामि वां वर्धायापो घृतस्नू द्यावाभूमी शृणुतं रोदसी मे ।
अहा यद् देवा असुनीतिमायन् मध्वा नो अत्र पितरा शिशीताम् ॥ ११ ॥
स्वावृग् देवस्यामृतं यदी गोरतो जातासो धारयन्त उर्वी ।
विश्वे देवा अनु तत् ते यजुर्गुर्दुहे यदेनी दिव्यं घृतं वाः ॥ १२ ॥
किं स्विन्नो राजा जगृहे कदस्याति व्रतं चकृमा को वि वेद ।
मित्रश्चिद्धि ष्मा जुहुराणो देवाञ्छ्लोको न यातामपि वाजो अस्ति ॥ १३ ॥

अर्थ -(प्रथमः) प्रसिद्ध वा मुख्य (चिकित्वान्) ज्ञानवान (देवः) प्रकाशमान हे अग्नि ! (देवान् परिभूः) देवोंके चारों ओरसे व्याप्त करता हुआ (ऋतेन) यज्ञ द्वारा (नः हव्यं वह) हमारे हव्यको वहन कर । [illegible] (धूमकेतुः) धुआं है ध्वजा-पताका-जिसकी ऐसा अथवा जो धुएसे जाना जाता-है [यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः] जहां जहां धूआं है वहां वहां वह्नि है यह व्याप्ति लोकप्रसिद्ध ही है] और जो (समिधा) [illegible] (भा ऋजीकः) [illegible] प्रकाशवाला (मन्द्रः) आनन्द देनेवाला (होता) [illegible] करनेवाला (नित्यः) नित्य तथा जो (वाचा) वाणीद्वारा (यजीयान्) पूजनीय अर्थात् स्तुति करने लायक है ऐसा अग्नि हव्यका वहन करे ॥ १० ॥

(घृतस्नू) जल बरसानेवाले (द्यावाभूमी) द्यावापृथिवी ! (अपः वर्धाय) जल की वृद्धिके लिये [वां] तुम दोनो की (अर्चामि) पूजा करता हूं । (रोदसी) हे द्यावा पृथिवी ! (मे शृणुतं) मेरी इस प्रार्थनाको सुनो । (यद्) जब कि (अहा) दिन तथा (देवाः) देव (असुनीतिं आयन्) प्राणोंके [illegible] प्राप्त करते हैं तब (अत्र) यहां (मध्वा) मधुरस्व वा जलसे (पितरा) हे माता पिता द्यु व पृथिवी ! (नः) हमें (शिशीताम्) पुष्ट करो—[illegible] ॥ ११ ॥

(देवस्य) प्रकाशमान अग्निका (स्वावृक्) सुखपूर्वक पाने योग्य (अमृतं) अमृत (यदि) जब कि (गोः) पृथिवीसे उत्पन्न होता है तब (अतः) इस अमृतसे (उर्वी) पृथिवीपर (जातासः) उत्पन्न प्राणी (धारयन्त) अपनेको धारण करते हैं अर्थात् इस अमृतसे जीते हैं । हे अग्नि ! (विश्वे देवाः) सब देव (ते) तेरे (तत्) उस (यजुः) अमृत दान रूपी पूजनीय कर्मका अनुसरण करते हैं अथवा तेरे उस [illegible] प्राप्त करते हैं । (यत्) जब कि [एनी] नदी [दिव्यं] दिव्य वा द्यु लोकमें होनेवाले [घृतं] [illegible] (वाः) जलको (दुहे) दोहती अर्थात् जब कि [illegible] पानीसे भर भरकर बहती है ॥ १२ ॥

[राजा] दीप्यमान अग्निने (नः) हमें (किं स्वित्) किस कारणसे (जगृहे) पकडा है ? हमने (कत्) कब (अस्य) इस अग्निके (व्रत अति चकृम) नियमका अतिक्रमण किया है ? इन बातोंको (कः विवेद) कौन जानता है ? कोई भी नहीं । अथवा [illegible] इस प्रश्नका उत्तर भी यही है कि (कः विवेद) यही सुखस्वरूप अग्नि जानता है । (मित्रः चित्) मित्रवत् यह अग्नि (देवान् जुहुराणः) देव अर्थात् [illegible] प्रति [illegible] हुआ हमारा (मित्र चित्) मित्र भी है और (यातां श्लोकः न वाजः अपि अस्ति) [illegible] स्तुति की तरह बल है । [illegible] है उसी प्रकार यह ज्ञानी [illegible] है ॥ १३ ॥

भावार्थ— हे [illegible] अग्नि ! तू [illegible] ॥ १० ॥
[illegible] पृथिवी [illegible] ॥ ११ ॥
[illegible] हैं तब पृथिवीपर उत्पन्न पदार्थ [illegible] धारण करते हैं । [illegible] और [illegible] करते हैं ॥ १२ ॥
[illegible] नहीं [illegible] हमारा मित्र है यह ज्ञानी [illegible] है ॥ १३ ॥

दुर्मन्त्वत्रामृतस्य नाम सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति ।
यमस्य यो मनवते सुमन्त्वग्ने तमृष्व पाह्यप्रयुच्छन् ॥ ३५ ॥ ॥ ३४ ॥
यस्मिन् देवा विदथे मादयन्ते विवस्वतः सदने धारयन्ते ।
सूर्ये ज्योतिरदधुर्मास्य १ क्तून् परि द्योतनिं चरतो अजस्रा ॥ ३५ ॥
यस्मिन् देवा मन्मनि संचरन्त्यपीच्ये३ न वयमस्य विद्म ।
मित्रो नो अत्रादितिरनागान्त्सविता देवो वरुणाय वोचत् ॥ ३६ ॥
सखाय आ शिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे । स्तुष ऊ षु नृतमाय धृष्णवे ॥ ३७ ॥

अर्थ– इस मंत्रसे पूर्वके मंत्रमें जो आक्षेप किए गए हैं कि कोई सुखी है वा कोई दुःखी है तो संभव है कि सुख दुःख की व्यवस्थामें किसी प्रकारका दोष हो उससे किसीके साथ न्याय होता हो व किसीके साथ अन्याय । इस मंत्रमें इन आक्षेपोंको दृष्टिमें रखते हुए उनका परिहार किया गया है कि— (यत्) यदि (सलक्ष्मा) सबके लिए जो व्यवस्था एकसी है वह (विषुरूपा) भिन्न भिन्न रूपवाली (भवाति) हो जावे । यानि किसी पर वह लगे और किसीपर न लगे तो (अत्र) इस संसार में [अमृतस्य] इस अमृत अग्निका (नाम) नाम (दुर्मन्तु) अपूजनीय हो जावे । (ऋष्व) हे दर्शनीय (अग्ने) अग्नि (यः) जो कोई (यमस्य) न्यायकारी तेरा नाम (सुमन्तु मनवते) बड़ा पूजनीय मानता है (तं) उसका तू (अप्रयुच्छन्) प्रमादरहित होकर (पाहि) रक्षण कर ॥ १७ ॥

(यस्मिन्) जिस अग्निमें स्थित हुए हुए [देवाः] देवगण [विदथे मादयन्ते] यज्ञमें आनन्दित होते हैं । और [विवस्वतः सदने धारयन्ते] प्रकाशमान् अग्निके घरमें अपने आपको धारण करते हैं उन देवोंने [सूर्ये ज्योतिः अदधुः] सूर्यमें ज्योति [प्रकाश] स्थापित किया है और [मासि] चन्द्रमामें अक्तून अन्धकार निवारक रश्मियोंको स्थापित किया है अथवा चन्द्रमामें रात्रियां स्थापित की हैं अर्थात् चन्द्र रात्रिके लिए निर्माण किया है । जो कि दोनों सूर्य व चन्द्र [अजस्रा] निरन्तर [द्योतनिम्] प्रकाशमान अग्निकी [परिचरतः] परिचर्या करते रहते हैं ॥ १५ ॥

[यस्मिन् अपीच्ये मन्मनि] जिस छिपे हुए ज्ञानमें [देवाः संचरन्ति] देव सचरण कर रहे हैं, [अस्य] इस अग्निके उस अन्तर्हित ज्ञानको [वयं न विद्म] हम नहीं जानते । अतः [अत्र] यहां पर [मित्रः] मित्र [अदितिः] अखण्ड शक्तिवाला, [सविता] प्रेरक [देवः] प्रकाशमान अग्नि [नः अनागान्] हम निरपराधियोंको तथा [वरुणाय] पाप निवारकको [वोचत्] कहे ॥ १६ ॥

[सखायः] परस्पर प्रेम भावसे मित्र बने हुए हम [नृतमाय] उत्तम नेता [धृष्णवे] शत्रुओंके धर्षक— नाशक [वज्रिणे] वज्रधारक [इन्द्राय] इन्द्रके लिए अर्थात् इन्द्रकी [स्तुषे] स्तुति करनेके लिए [ब्रह्म आ शिषामहे] ब्रह्मज्ञानकी इच्छा करें ॥ १७ ॥

भावार्थ– यदि अग्निकी व्यवस्था एक सी न हो तो संसारसे उसका नाम ही मिट जावे । जो इस अग्निके नामको पूजनीय समझता है उसीकी अग्नि बिना प्रमाद किए हुए रक्षा करता है । अग्निकी व्यवस्थापर किसीको शंका न करनी चाहिये ॥ १४ ॥

अग्निमें स्थित देवताओंने सूर्य चन्द्रका निर्माण किया है । अतः सूर्य चन्द्र निरंतर रात्रिंदिन अग्निकी परिचर्या करते रहते हैं ॥ १५ ॥

अग्निका छिपा हुआ ज्ञान हम नहीं जानते अतः उस ज्ञान का बोध अग्नि स्वयमेव हमें करावे । उसके बिना वह हमारा जानना दुष्कर है । (ऋ० १ । ११) ॥ १६ ॥

हम परस्पर मित्र बने हुए ज्ञानयुक्त विविध इन्द्रकी स्तुति के लिए ब्रह्मज्ञानको प्राप्त करनेकी इच्छा करें । अथवा इस प्रकारसे इन्द्रकी स्तुति कैसे करनी चाहिए इस विषयका ज्ञान उपलब्ध करें (ऋ० ८ । २४ । १) ॥ १७ ॥

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः ।
यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवांस्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ ४७ ॥
स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम् ।
उतो न्व १ स्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु ॥ ४८ ॥
परेयिवांसं प्रवतो महीरिति बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥ ४९ ॥
यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेता एना जज्ञानाः पथ्या ३ अनु स्वाः ॥ ५० ॥ (५)

अर्थ—[मातली] इन्द्र [कव्यैः] कव्योंसे [यमः अङ्गिरोभिः] यम अङ्गिरसोंसे और [बृहस्पतिः ऋक्वभिः] बृहस्पति ऋचाओंसे अर्थात् ऋचा संबन्धी ज्ञान रखनेवालोंसे (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्त होता है । [यान् देवाः वावृधुः] जिनको देवोंने बढाया है तथा [ये देवान्] जो देवोंको बढाते हैं [ते] वे अर्थात् मन्त्रोक्त कव्य अङ्गिरस् आदि जो पितर हैं वे हमारी यज्ञ कर्मोंपर रक्षा करें ॥ ४७ ॥

[अयं] यह सोम रस [किल] निश्चयसे [स्वादुः] स्वादिष्ट है । यह सोमरस [मधुमान्] माधुर्य गुणोंसे युक्त है । [उत] और (अयं) यह सोम (किल) निश्चयसे (तीव्र) पीनेसे स्वादमें तेज करनेवाला है। (उत) और (अयं) यह सोम (रसवान्) रस वाला है। (उतो) और (नु) निश्चयसे (अस्य पपिवांसम्) इसके पान करनेकी इच्छा रखनेवाले (इन्द्रं) इन्द्रको (आहवेषु) संग्रामोंमें (कः चन) कोई भी (न सहते) नहीं सहता अर्थात् उसके सामने संग्राममें कोई भी टिक नहीं सकता ॥ ४८ ॥

(प्रवतः) उत्कृष्ट कर्म करनेवालोंको उत्तम कर्म करनेवालोंको तथा निकृष्ट कर्म करनेवालोंको (महीः इति) भूमि लोकोंको (परेयिवांसं) प्राप्त कराते हुए तथा (बहुभ्यः पन्थाम् अनुपस्पशानं) बहुतों के लिये मार्गको दिखलाते हुए और (जनानां संगमनं) जिसमें मनुष्य जाते हैं ऐसे (वैवस्वतं) विवस्वान्के पुत्र (यमं राजानं) यम राजाकी [हविषा सपर्यत] हविरन्न द्वारा पूजा करो ॥ ४९ ॥

(यमः नः गातुं प्रथमः विवेद) यमने हमारा मार्ग सबसे पहिले जाना। (एषा गव्यूतिः न अपभर्तवै) यह मार्ग बदलनेके लिये नहीं है अर्थात् इस मार्गसे छुटकारा पाया नहीं जा सकता। वह मार्ग कौनसा है यह मन्त्रके उत्तरार्धमें कहते हैं —(यत्र नः पूर्वे पितरः परेताः) जहांपर हमारे पूर्वज पितर गए हुए हैं । (और एना) इस मार्गसे (जज्ञानाः) उत्पन्न प्राणी (स्वाः पथ्याः अनु) अपने अपने कर्मोंके अनुसार जाते हैं ॥ ५० ॥

भावार्थ- पुरातन कालके, अर्वाचीन कालके जो पितर हैं और जो इस समय पृथ्वीके ऊपर विद्यमान हैं अथवा उस अन्तरिक्ष लोकके प्रजाओंमें विद्यमान हैं उन सब पितरोंके लिए नमस्कार है । ऋ० १०।१५।२, यजु० १९।६८ । ४६ ॥

देव अपनी अपनी शक्तियोंसे बढते हैं उसी प्रकार सब लोग अपनी शक्तिसे बढें ॥ ४७ ॥

मन्त्रोक्त स्वाद माधुर्य आदि गुणोंवाले सोमको पीनेवालेका कोई भी पराभव नहीं कर सकता ॥ ४८ ॥

अन्तमें सब जीव जीवोंको यमके यमलोकमें ले जाता है अतः वह भूमिपर आया हुआ है और उसका यह कर्म चल रहा है । इसलिये उसकी हम पूजा करें ॥ ४९ ॥

[यमलोकमें सब प्राणियोंके जानेके लिए जो मार्ग है उसका यहां निर्देश है ।] यम हमारा यमलोकमें जानेका मार्ग सब पहिले जानता है क्योंकि वह उस मार्गका अधिष्ठाता है । इस मार्गसे छुटकारा पाना कठिन है क्योंकि जो उत्पन्न हुआ वह अवश्य मरेगा ही ॥ ५० ॥

बर्हिषदः पितर ऊत्य१र्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।
त आ गतावसा शंतमेनाथा नः शं योररपो दधात ॥ ५१ ॥
आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येदं नो हविरभि गृणन्तु विश्वे।
मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥ ५२ ॥
त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति तेनेदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश ॥ ५३ ॥
प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्याणैर्येना ते पूर्वे पितरः परेताः[1]।
उभा राजानौ स्वधया मदन्तौ यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥ ५४ ॥
अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्य१क्तं यमो ददात्यवसानमस्मै ॥ ५५ ॥

अर्थ-(बर्हिषदः पितरः) हे बर्हिषद् पितरो! (अर्वाक्) हमारे प्रति (ऊती) रक्षार्थ आओ। (वः) तुम्हारे लिए (इमा हव्या) हव्योंको [चकृम] करते हैं उनका [जुषध्वम्] प्रीतिपूर्वक सेवन करो। [ते] वे तुम (शंतमेन अवसा) कल्याणकारी रक्षणके साथ [आ गत] आओ। [अथ] और तब [नः] हमें [अरपः] पापरहित आचरण, (शं) कल्याण और [योः] दुःखवियोग [दधात] दो ॥५१॥

[विश्वे] तुम सब पितरो! [जानु आच्य] बांया घुटना टेककर [दक्षिणतः निषद्य] दाईं ओर बैठकर [इदं नः] हमारे इस पदार्थको [अभि गृणीत] स्वीकार करो। [पितरः] हे पितरो! [यद् वः आगः] जो तुम्हारा अपराध (पुरुषता कराम) पुरुषत्वके कारण अर्थात् मनुष्यत्वके कारण हम करते हैं ऐसे (केन चित्) किसी भी अपराधके कारण (मा हिंसिष्ट) हमारी हिंसा मत करो ॥ ५२ ॥

(त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति) त्वष्टा अपनी पुत्रीका विवाह रचता है [इति] इस कारण (इदं विश्वं भुवनं) यह सारा भुवन [समेति] इकट्ठा होता है। (परि उह्यमाना) ब्याही जाती हुई (यमस्य माता) यमकी जननी व (महः विवस्वतः जाया) महान् विवस्वान् की पत्नी (ननाश) नष्ट हो जाती है ॥ ५३ ॥

हे मृत पुरुष! (यत्र) जिस लोकमें (नः पूर्वे पितरः) हमारे पूर्वज पितर (परेयुः) गए हुए हैं उस लोकमें (पूर्व्येभिः पथिभिः) पहिलेके मार्गों द्वारा (प्रेहि प्रेहि) अवश्य जा। उस लोकमें जाकर [स्वधया मदन्तौ] स्वधासे आनन्दित होते हुए अथवा तृप्त होते हुए [उभा राजानौ] दोनों राजा [यमं वरुणं देवं च] यम तथा वरुण देवको [पश्यासि] देख ॥ ५४ ॥

हे विघ्नकारी आदि! [अप इत] यहांसे चले जाओ। [वीत] भाग जाओ। [वि सर्पतात] सर्वथा यह स्थान छोड़कर दूर जाओ। [अस्मै] इस प्रेतके लिये [पितरः] पितरोंने [एतं लोकं अक्रन्] यह स्थान किया है। [अस्मै] इस मृतक लिये [यमः] यमने [अहोभिः] दिनोंसे व [अद्भिः] जलसे तथा [अक्तुभिः] रात्रियोंसे [व्यक्तं अवसानं] स्पष्ट समाप्ति [ददातु] दी है ॥ ५५ ॥

---

[1] भावार्थ-बर्हिषद् पितर हमारा रक्षण करें और उनके बदले में हम उनका हव्यादि पदार्थ द्वारा सत्कार करें। वे हमारे रोग तथा अघोंको दूर करते हुए हमारा पालन करें ॥ ५१ ॥

हे पितरः दाईं ओर बांया घुटना टेककर इस यज्ञमें बैठो। यदि हम मनुष्यों से किसी प्रकारका अपराध अनजाने हो जाय तो उसके कारण हमारा विनाश मत करो। ([illegible] १५।११) ॥ ५२ ॥

यमकी माताका नाम सरण्यू है व पिता का नाम विवस्वान् अर्थात् सूर्य है अर्थात् यम विवस्वान् [सूर्य]का पुत्र है अतएव वेदमंत्रोंमें वैवस्वत के नाम से पुकारा गया है ॥ ५३ ।

जहां हमारे पूर्व पितर गए हैं वहां यह मृत मनुष्य जावे व वहां स्वधासे आनंद प्राप्त करे ॥ ५४ ॥

सत्रा सा हासि श्रुतो वृत्रहत्येन वृत्रहा । मघैर्मघोनो अति शूर दाशसि ॥ ३८ ॥
स्तेगो न क्षामत्येषि पृथिवीं मही नो वाता इह वान्तु भूमौ ।
मित्रो नो अत्र वरुणो युज्यमानो अग्निर्वने न व्यसृष्ट शोकम् ॥ ३९ ॥
स्तुहि श्रुतं गर्तसदं जनानां राजानं भीममुपहत्नुमुग्रम् ।
मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यमस्मत् ते नि वपन्तु सेन्यम् ॥ ४० ॥
सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥ ४१ ॥

अर्थ—हे इन्द्र ! जिस प्रकार तू (वृत्रहत्येन) वृत्रको मारनेसे वृत्रहा (वृत्रहन्) नामसे (श्रुतः) विख्यात है उसी प्रकार (हि) निश्चयसे (सत्रा) बलसे भी प्रसिद्ध है। अर्थात् तू अत्यन्त बलवान् होने से भी प्रसिद्ध है। हे शक्तिशाली ! तू (मघैः मघोनः) धनोंसे धनवान् हुए हुए सबसे भी (अति) बढकर (दाशसि) स्तुति करनेवालोंको देता है। अर्थात् धनवान् भी दानमें तेरा मुकाबला नहीं कर सकता ॥ ३८ ॥

(स्तेगः क्षाम् न) जिस प्रकार स्तेग अर्थात् [illegible] क्या पुरुष पृथिवीपर भ्रमण करता है उसी प्रकार तू (मही पृथिवीं) इस बडी भारी पृथ्वी पर (अति एषि) बहुतायतसे विचरण करता है। [illegible] (नः) हमारे लिये (इह भूमौ) इस भूमिपर (वाताः वान्तु) सुखदाई हवायें बहें। और (वरुणः) दु:खनिवारक (मित्रः) मित्र भूत (युज्यमानः) हमारे कष्ट निवारण करनेमें लगा हुआ (नः शोकं) हमारे शोक को (व्यसृष्ट) दूर करे (वने अग्निः न) जिस प्रकार से कि वनमें दावानल अग्नि घास फूस आदि को जलाकर दूर करती है ॥ ३९ ॥

[रुद्रता कह है।] हे स्तुति करनेवाले (श्रुतं) विख्यात (गर्तसदं) रथपर सवार होनेवाले (जनानां राजानं) लोगोंके राजा (भीमं) भयंकर (उपहत्नुम्) समीप जा जाकर मारनेवाले (उग्रम्) कठोर स्वभाववाले रुद्रकी (स्तुहि) स्तुति कर। और (रुद्र) हे रुद्र ! तू (स्तवानः) स्तुति किया गया (जरित्रे) तेरी स्तुति करनेवाले लिये (मृड) सुख देनेवाला हो। (ते सेन्यं) तेरी सेनायें (अस्मत् अन्यं) हम स्तुति करने वालोंसे भिन्न दूसरेको (निवपन्तु) काट डालें, मार डालें ॥ ४० ॥

(देवयन्तः) देव बननेकी कामना करते हुए लोग (सरस्वतीं हवन्ते) सरस्वतीको बुलाते हैं। और (तायमाने अध्वरे) विस्तृत हिंसारहित यज्ञमें (सरस्वतीं) सरस्वतीको बुलाते हैं और (सुकृतः) अच्छे कर्म करनेवाले सज्जन (सरस्वतीं हवन्ते) सरस्वतीको बुलाते हैं। (सरस्वती दाशुषे) सरस्वती दानी मनुष्यके लिए (वार्यं) वरणीय अभिलषित वस्तुको (दात्) देती है ॥ ४१ ॥

भावार्थ— [illegible] जिस प्रकार वृत्रहन नामसे प्रसिद्ध है उसी प्रकार बलवान् होनेसे भी प्रसिद्ध है। [illegible] भी [illegible] नहीं है। वह [illegible] दान करता है। ([illegible]) ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार [illegible] करनेवाला पुरुष पृथिवीपर भ्रमण करता है उसी प्रकार [illegible] भ्रमण कर [illegible]। [illegible] सुखदाई वायु [illegible] दूर कर [illegible] दावानल [illegible] दूर करती है ॥ ३९ ॥

[illegible] स्तुति करो। [illegible] सुखदायी होवे। [illegible] ॥ ४० ॥

[illegible] सरस्वतीका [illegible] है। [illegible] ([illegible]) ॥ ४१ ॥

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे ॥ ४२ ॥
सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥ ४३ ॥
उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ ४४ ॥
आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः ।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥ ४५ ॥
इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो ये अपरास ईयुः ।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु ॥ ४६ ॥

अर्थ-[दक्षिणा] दक्षिण दिशासे आकर [यज्ञ अभिनक्षमाणाः पितरः] यज्ञको सब ओरसे प्राप्त करते हुए पितर [या सरस्वतीं हवन्ते] जिस सरस्वतीको बुलाते हैं ऐसी हे सरस्वती! तू तथा पितर [अस्मिन्] इस [बर्हिषि] यज्ञमें [आसद्य] बैठकर [मादयध्वं] प्रसन्न होओ। [अस्मे] हमें [अनमीवा इषः] रोगरहित अन्नोंको अर्थात् जिनके खानेसे किसी भी प्रकारका रोग न होवे ऐसे अन्नोंको [आधेहि] दे ॥ ४२ ॥

[सरस्वति देवि] हे सरस्वती देवी [या] जो तू [पितृभिः स्वधाभिः मदन्ती] पितरोंके साथ मिलकर स्वधाओंसे आनन्दित होती हुई [सरथं] पितरोंके साथ समान रथपर आरोहण करती हुई [ययाथ] आई है हे सरस्वती! तू [अत्र] इस यज्ञमें [यजमानाय] यजमानके लिए [सहस्रार्घं इडः भागं] हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको और [रायस्पोषं] धनकी पुष्टिको [धेहि] दे ॥ ४३ ॥

हे [सोम्यासः] सोम संपादन करनेवाले [अवरे] निकृष्ट [उत् परासः] और उत्कृष्ट [उत्] तथा [मध्यमाः] मध्यम [पितरः] पितरो! [उदीरतां] उन्नतिको प्राप्त होओ। [ये अवृकाः] जिन हिंसा न करनेवाले पितरोंने [असुं ईयुः] प्राणको प्राप्त किया है अर्थात् जो प्राणधारी पितर हैं (ते) वे [ऋतज्ञाः] सत्य व यज्ञको जाननेवाले [पितरः] पितर [हवेषु] बुलाए जानेपर [नः] हमारी [अवन्तु] रक्षा करें ॥ ४४ ॥

[सुविदत्रान् पितॄन्] उत्तम धनसंपन्न पितरोंको [आ अवित्सि] अच्छी प्रकार प्राप्त करता हूं। [विष्णोः नपातं विक्रमणं च] और सर्वव्यापक परमात्माके न गिरानेवाले अर्थात् उन्नति करनेवाले पौरुषको प्राप्त करता हूं। [बर्हिषदः पितरः] कुशासनपर बैठनेवाले पितर जो कि (स्वधया) स्वधाके साथ (सुतस्य पित्वः) उत्पादित अर्थात् तैयार किए हुए अन्नका (भजन्त) सेवन करते हैं प्राप्त करते हैं [ते] वे पितर [इह] इस यज्ञमें [आगमिष्ठाः] आवें ॥ ४५ ॥

[अद्य] आज [पितृभ्यः] पितरोंके लिये (इदं नमः अस्तु) यह नमस्कार हो। किन पितरोंके लिए? [ये] जो कि [पूर्वासः] पूर्वकालीन पितर [ईयुः] स्वर्गको गए हुए हैं और [ये] जो कि [अपरासः] अर्वाचीन कालके पितर स्वर्गको गए हुए हैं। और (ये) जो कि पितर [पार्थिवे रजसि] पार्थिव रजस् पर अर्थात् पृथिवीपर [आ निषत्ताः] स्थित हैं [वा] अथवा [ये] जो कि [नूनं] निश्चयसे [सुवृजनासु विक्षु] उत्तम बलवाली धन युक्त प्रजाओंमें स्थित हैं ॥ ४६ ॥

भावार्थ- पितर सरस्वतीको यज्ञमें बुलाते हैं। (ऋ. १०।१७।८) ॥ ४२ ॥
सरस्वतीका पितरोंके साथ समान रथपर चढकर स्वधा खाना व यज्ञमें आना होता है। ऋ. १०।१७।९ ॥ ४३ ॥
सब प्रकारके उत्तम मध्यम तथा निकृष्ट पितर अपनी उन्नति करें। हमारे सहायतार्थ बुलानेपर आकर हमारा रक्षण करें। ऋ. १०।१५।१; यजु. १९।४९ ॥ ४४ ॥ धनसंपन्न उत्तम पितरोंको व व्यापक परमात्माके पौरुषको मैं प्राप्त करता हूं। स्वधाके साथ सब अन्नको खानेवाले पितरो! इस यज्ञमें आओ। ऋ. १०।१५।३; यजु. १९।५६ ॥ ४५ ॥

१ (अ. सु. भा. कां. १८)

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः ।
यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवांस्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ ४७ ॥
स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम् ।
उतो न्व १ स्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु ॥ ४८ ॥
परेयिवांसं प्रवतो महीरिति बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् ।
वैवस्वतं सुगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥ ४९ ॥
यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेता एना जज्ञानाः पथ्या ३ अनु स्वाः ॥ ५० ॥ (५)

अर्थ—[मातली] इन्द्र [कव्यैः] कव्योंसे, [यमः अङ्गिरोभिः] यम अङ्गिरसोंसे और [बृहस्पतिः ऋक्वभिः] बृहस्पति ऋचा[ओं]से अर्थात् ऋचा सम्बन्धी ज्ञान रखनेवालोंसे (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्त होता है। [यान् देवाः वावृधुः] जिनको देव बढाते हैं तथा [ये देवान्] जो देवोंको बढाते हैं, [ते] वे अर्थात् [illegible] आदि जो पितर हैं वे हमारी [illegible] [illegible] रक्षा करें ॥ ४७ ॥

[अयं] यह सोम रस [किल] निश्चयसे [स्वादुः] स्वादिष्ट है। यह सोमरस [मधुमान्] माधुर्य गुणोंसे युक्त है। [उत] और (अयं) यह सोम (किल) निश्चयसे (तीव्रः) पीनेसे स्वादमें [illegible] करनेवाला है। (उत) और (अयं) यह सोम [रसवान्] रसवाला है। (उतो) और (नु) निश्चयसे (अस्य पपिवांसम्) इसके पान करनेकी इच्छा रखनेवाले (इन्द्रं) इन्द्रको (आहवेषु) [illegible] [illegible] (कः चन) कोई भी (न सहते) नहीं सहता अर्थात् उसके सामने संग्राममें कोई भी टिक नहीं सकता ॥ ४८ ॥

(प्रवतः) प्रकृष्ट कर्म करनेवालोंको उत्तम कर्म करनेवालों तथा निकृष्ट कर्म करनेवालोंको (महीः इति) भूमि प्रदेशोंको (परेयिवांसं) प्राप्त हुए तथा (बहुभ्यः पन्थां अनुपस्पशानं) बहुतोंके लिये मार्गको दिखलाते हुए और (जनानां संगमनं) [illegible] मनुष्य जाते हैं ऐसे (वैवस्वतं) विवस्वान्‌के पुत्र (यम राजानं) यम राजाकी [हविषा सपर्यत] हविसे पूजा [illegible] ॥ ४९ ॥

(यमः नः गातुं प्रथमः विवेद) यमने हमारा मार्ग सबसे पहिला जाना। (एषा गव्यूतिः न अपभर्तवै) यह [illegible] [illegible] लिये नहीं है अर्थात् इस मार्गको दूरकर हटाया नहीं जा सकता। यह मार्ग [illegible] है यह [illegible] [illegible] —(यत्र नः पूर्वे पितरः परेताः) जहांपर हमारे पूर्वज पितर गए हुए हैं। (एना) इस मार्गसे (जज्ञानाः) [illegible] [illegible] (स्वाः पथ्याः अनु) अपने अपने कर्मोंके अनुसार जाते हैं ॥ ५० ॥

भावार्थ— पुरातन [illegible] अर्वाचीन [illegible] जो पितर हैं और जो इस समय [illegible] [illegible] विद्यमान हैं [illegible] [illegible] संतान प्रजाओंमें विद्यमान हैं उन सब पितरोंके लिए नमस्कार है। [illegible] ॥ ४६ ॥

[illegible] अपनी शक्तियोंसे बढते हैं उसी प्रकार सब [illegible] अपनी शक्तिसे बढें ॥ ४७ ॥

[illegible] माधुर्य आदि गुणोंवाले सोमको पीनेवालेका कोई भी पराजय नहीं कर सकता ॥ ४८ ॥

[illegible] जीवोंको उत्तम स्थानोंमें ले जाता है अतः वह पृथिवीपर आया हुआ है और [illegible] [illegible] रहा है। इसलिए उसकी हम पूजा करें ॥ ४९ ॥

[यमलोकमें सब प्राणियोंके जानेके लिए जो मार्ग है उसका यहां निर्देश है।] यम हमारा [illegible] [illegible] [illegible] जानता है क्योंकि वह उस मार्गका अधिष्ठाता है। इस मार्गको दूरकर [illegible] कठिन है क्योंकि जो [illegible] [illegible] वह अवश्य मरेगा ॥ ५० ॥

बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् ।
त आ गतावसा शंतमेनाथा नः शं योररपो दधात　　॥ ५१ ॥
आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येदं नो हविरभि गृणन्तु विश्वे ।
मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम　　॥ ५२ ॥
त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति तेनेदं विश्वं भुवनं समेति ।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश　　॥ ५३ ॥
प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेताः[1] ।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्　　॥ ५४ ॥
अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् ।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै　　॥ ५५ ॥

अर्थ-(बर्हिषदः पितरः) हे बर्हिषद् पितरो ! (अर्वाक्) हमारे प्रति (ऊति) रक्षणार्थ आओ। (वः) तुम्हारे लिए (हव्या) हव्योंको [चकृम] करते हैं उनको [जुषध्वम्] प्रीतिपूर्वक सेवन करो। [ते] वे तुम (शंतमेन अवसा) कल्याणकारी रक्षणके साथ [आ गात] आओ। [अथ] और तब [नः] हमें [अरपः] पापरहित आचरण (शं) कल्याण और [योः] दुःखवियोग [दधात] दो ॥५१॥

[विश्वे] तुम सब पितरो ! [जानु आच्य] बाँया घुटना टेककर [दक्षिणतः निषद्य] दाईं ओर बैठकर [इमं यज्ञं] इस यज्ञका [अभि गृणीत] स्वीकार करो। [पितरः] हे पितरो ! [यद् वः आगः] जो तुम्हारा अपराध (पुरुषता कराम) पुरुषत्वके कारण अर्थात् मनुष्यत्वके कारण हम करते हैं ऐसे (केन चित्) किसी भी अपराधके कारण (मा हिंसिष्ट) हमारी हिंसा मत करो ॥ ५२ ॥

(त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति) त्वष्टा अपनी पुत्रीका विवाह रचता है [इति] इस कारण (इदं विश्वं भुवनं) यह सारा भुवन [समेति] इकट्ठा होता है। (परि उह्यमाना) ब्याही जाती हुई यमस्य माता) यमकी जननी व (महः विवस्वतः जाया) महान् विवस्वान् की पत्नी (ननाश) नष्ट हो जाती है ॥ ५३ ॥

हे मृत पुरुष ! (यत्र) जिस लोकमें (नः पूर्वे पितरः) हमारे पूर्वज पितर (परेयुः) गए हुए हैं उस लोकमें (पूर्व्येभिः पथिभिः) पहिलेके मार्गों द्वारा (प्रेहि प्रेहि) अवश्य जा। उस लोकमें जाकर [स्वधया मदन्तौ] स्वधासे आनन्दित होते हुए अथवा तृप्त होते हुए [उभा राजाना] दोनों राजा [यमं वरुणं देवं च] यम तथा वरुण देवको [पश्यासि] देख ॥ ५४ ॥

हे विघ्नकारी जनो ! [अप इत] यहाँसे चले जाओ। [वीत] भाग जाओ। [वि सर्पतात] सर्वथा यह स्थान छोड़कर हट जाओ। [अस्मा] इस मेरेके लिए [पितरः] पितरोंने [एतं लोकं अक्रन्] यह स्थान किया है। [अस्मै] इस मृतके लिये [यमः] यम [अहोभिः] दिनोंसे व [अद्भिः] जल वा जलोंसे तथा [अक्तुभिः] रात्रियोंसे [व्यक्तं अवसानं] स्पष्ट समाप्ति [ददाति] देता है ॥ ५५ ॥

---

[1] तात्पर्य-बर्हिषद् पितर हमारा रक्षण करें और उनके रक्षण में हम उनका हव्यादि अन्न द्वारा सत्कार करें। वे हमारे रोग तथा भयोंको दूर करते हुए हमारा रक्षण करें ॥ ५१ ॥

हे पितरो दाईं ओर बाँया घुटना टेककर इस यज्ञमें बैठो। यदि हम मनुष्यों से किसी प्रकारका अपराध अनजाने हुआ हो तो उसके कारण हमारा विनाश मत करो। (ऋ० १०।१५।६) ॥ ५२ ॥

यमकी माताका नाम सरण्यू है व पिता का नाम विवस्वान् अर्थात् सूर्य है अर्थात् यम विवस्वान् [सूर्य] का पुत्र है अतएव इसे वेदमंत्रोंमें वैवस्वत के नाम से पुकारा गया है ॥ ५३ ॥

जहाँ हमारे पूर्व पितर गए हैं वहाँ यह मृत मनुष्य जावे व वहाँ स्वधासे आनंद प्राप्त करे ॥ ५४ ॥

उशन्तस्त्वेधीमह्युशन्तः समिधीमहि ।
उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ ५६ ॥
द्युमन्तस्त्वेधीमहि द्युमन्तः समिधीमहि ।
द्युमान् द्युमत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ ५७ ॥
अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ५८ ॥
अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरा गहीह यम वैरूपैरिह मादयस्व ।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् बर्हिष्या निषद्य ॥ ५९ ॥

अर्थ- हे अग्ने ! [उशन्तः] तेरी कामना करते हुए हम [त्वा] तेरी [धीमहि] स्थापना करते हैं। और [उशन्तः] तेरी कामना करते हुए हम [समिधीमहि] तुझे प्रदीप्त करते हैं। [उशन्] हमारी कामना करता हुआ हे अग्ने ! तू (हविषे अत्तवे) हवि खानेके लिये [उशतः पितॄन्] कामना करते हुए पितरोंको [आवह] प्राप्त करा-ले आ ॥ ५६ ॥

हे अग्ने ! (द्युमन्तः) दीप्तिमान होते हुए हम (त्वा इधीमहि) तुझे प्रकाशित करें। (द्युमन्तः) और दीप्तिमान हम [समिधीमहि] तुझे भली प्रकार प्रदीप्त करें। द्युमान्) दीप्त हुआ हुआ तू (द्युमतः पितॄन्) प्रकाशमान पितरोंको (हविषे अत्तवे) हवि भक्षणार्थ (आवह) ले आ ॥ ५७ ॥

(नः नवग्वाः अथर्वाणः भृगवः सोम्यासः अङ्गिरसः पितरः) हमारे नवग्व अथर्वा भृगु, सोमसंपादन करनेवाले अङ्गिरस् पितर हैं। (तेषां यज्ञियानां) उन यज्ञार्ह अङ्गिरस् पितरोंकी (सुमतौ) उत्तम मतिमें हम (भद्रे सौमनसे) शुभ संकल्पोंमें (स्याम) होवें ॥ ५८ ॥

हे यम ! [वैरूपैः] विविध स्वरूपवाले [यज्ञियैभिः] यज्ञके योग्य पूजनीय [अङ्गिरोभिः] अङ्गिरस् पितरोंके साथ [इह आ गहि] इस हमारे यज्ञमें आ। यज्ञमें आकर दी गई हविको खाकर [मादयस्व] आनन्दित हो। [विवस्वन्तं हुवे] विवस्वान् [सूर्य] को मैं बुलाता हूं [यः] जो कि विवस्वान् [ते पिता] तेरा पिता है। वह विवस्वान् [अस्मिन् यज्ञे बर्हिषि आ निषद्य] इस यज्ञमें आकर आसनपर बैठकर दी हुई हविको खाकर आनन्दित होवे। (ऋ० १०।१४।५) ॥ ५९ ॥

भाव- इस मंत्रमें पितरोंके लिये स्थान या पितर निर्धारित करते हैं। यहां शरीरके भागोंका विचार करनेके अनुसार अर्थ है दिन रात आदि की समाप्ति हो चुकी है अर्थात् वह मर गया है। अब पूर्वोक्तानुसार मरनेपर पितर इसके लिए स्थान बनाते हैं इसके दो ही अभिप्राय हो सकते हैं (१) या तो जो पितर स्थान बनाते हैं वह स्थानरूप भूमिका हो सकता है अथवा (२) वह यम लोक हो सकता है। ॥ ५५ ॥

हे अग्ने ! हम यज्ञादिमें तेरी कामना करते हुए तेरी स्थापना करें व तुझे प्रज्वलित करें। तू हमारे यज्ञमें पितरोंको हवि खानेके लिए ले आया कर। (यजु० १९।७०) ॥ ५६ ॥

अब सेवनके लिए पितरोंको बुलाना चाहिए ॥ ५७ ॥

हमारे विषयमें पितरोंकी बुद्धि उत्तम हो ऐसा आचरण करना हमें उचित है ॥ ५८ ॥

यज्ञमें यम व अङ्गिरस् पितरोंको बुलाकर उन्हें हवि दी जाती है उनका पिता विवस्वान् (सूर्य) है उसे भी साथमें यज्ञमें बुलाया जाता है व हवि खानेके लिए दी जाती है। अंगिरस पितर नाना रूपवाले हैं अर्थात् अनेक स्वरूप लिए हैं ॥ ५९ ॥

इमं यम प्रस्तरमा हि रोहाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः ।
आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन् हविषो मादयस्व ॥ ६० ॥
इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन् ।
प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः ॥ ६१ ॥ (६)

[२]

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः ।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः ॥ १ ॥
यमाय मधुमत्तमं जुहोता प्र च तिष्ठत ।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥ २ ॥
यमाय घृतवत् पयो राज्ञे हविर्जुहोतन ।
स नो जीवेष्वा यमेद् दीर्घमायुः प्र जीवसे ॥ ३ ॥

अर्थ– [अाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः] अंगिरस् पितरोंके साथ एकमत हुआ हुआ हे यम ! तू [इमं प्रस्तर] इस विस्तृत फैले हुए आसनपर [आरोह] बैठ । [त्वा] तुझे [कविशस्ताः मंत्राः] क्रान्तदर्शियों द्वारा स्तुति किए गए मंत्र [आ वहन्तु] बुलावें । [एना] इस [हविषा] हविद्वारा [मादयस्व] प्रसन्न हो । (ऋ १ ।१४।४) ॥ ६० ॥

[एते] ये पितर [इतः] यहांसे [उत् आ अरुहन्] ऊपरको चढते हैं । [दिवः पृष्ठानि आरुहन्] और द्यु लोकोंपर महत्त्व स्थानोंपर–चढते हैं । [यथा पथा] जिस प्रकारके मार्गोंसे कि [भूर्जयः] भूमि जीतनेवाले [अङ्गिरसः] अंगिरस पितर [द्यां] द्युलोकको [प्रययुः] गए हुए हैं ॥ ६१ ॥ [२]

(यमाय सोमः पवते ।) यमके लिए यज्ञमें सोमको पवित्र किया जाता है । (यमाय हविः क्रियते) यमके लिए हवि प्रदान की जाती है (अरंकृतः) नाना प्रकारके द्रव्योंसे यज्ञमें जो अलंकृत किया हुआ (अग्निदूतः) अग्निको दूत बना करके (ह) निश्चयसे (यज्ञः) यज्ञ (यम गच्छति) यमको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

(यमाय) यमके लिए (मधुमत्तमं) अत्यन्त मधुर द्रव्यका (जुहोत) यज्ञ करो । और हवि देकर (प्रतिष्ठत) प्रतिष्ठाको प्राप्त करो अथवा दीर्घ जीवनकी कामना करो । (पथिकृद्भ्यः) रस्ता बनानेवाले मार्गप्रदर्शक (पूर्वजेभ्यः) पहिले उत्पन्न हुए हैं [पूर्वेभ्यः] हमसे पूर्वके हैं ऐसे (ऋषिभ्यः) ऋषियोंके लिए (इदं नमः) यह नमस्कार है ॥ २ ॥

(यमाय राज्ञे) यम राजाके लिए (घृतवत् पयः) घीसे मिश्रित दूध तथा (हविः) हविको (जुहोतन) प्रदान करो । (सः) वह यम (प्रजीवसे) उत्कृष्टतया जीनेके लिए (जीवेषु) जीवोंमें अर्थात् प्राणियोंमें (नः) हमें (दीर्घ आयुः) दीर्घ जीवन (आ यमेत्) देवें ॥ ३ ॥

भावार्थ–यम अंगिरस् पितरोंके साथ यज्ञमें विस्तृत आसनपर बैठता है । उसका मन्त्रों द्वारा स्तुति करके उसे यज्ञमें हवि दी जाती है ॥ ६० ॥

अंगिरस् पितर यहांसे ऊपर जाकर द्युलोकमें स्थित होते हैं । उनके जानेका मार्ग वही है जो कि और सबोंका द्युलोकमें जानेका है ॥ ६१ ॥

यमके लिए सोम हवि आदि यज्ञमें देना चाहिए । यज्ञ यमको निश्चयसे प्राप्त होता है ॥ १ ॥

यम राजाके लिए मधुरतम हवि दो और प्राचीन ऋषियोंके लिए नमस्कार करो ॥ २ ॥

यम राजाको हवि आदि देनेसे वह हमें संसारमें दीर्घ जीवन प्रदान करता है ॥ ३ ॥

मैनमग्ने वि दहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम् ।
शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृँरुप ॥ ४ ॥
यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेममेनं परि दत्तात् पितृभ्यः ।
यदो गच्छात्यसुनीतिमेतामथ देवानां वशनीर्भवाति ॥ ५ ॥
त्रिकद्रुकेभिः पवते षडुर्वीरेकमिद् बृहत् ।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आर्पिता ॥ ६ ॥
सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः ।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः ॥ ७ ॥

अर्थ– [अग्ने] हे अग्नि! [एनं मा विदहः] इस प्रेतको इस प्रकारसे मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट प्रतीत हो। [मा अभि शूशुचः] इसे शोकयुक्त मत कर। [अस्य त्वचं मा चिक्षिपः] इसकी त्वचा अर्थात् चमडीको मत फैंक। इसके शरीरमें विद्यमान त्वचा मांस आदिको इस प्रकारसे जला दे कि कोई भी भाग अवशिष्ट न रहने पावे। [जातवेदः] हे जातवेदस् अग्नि! [यदा शृतं करसि] जब तू इस प्रेतको परिपक्व बना दे अर्थात् पूर्णतया जला दे [अथ] तब [एनं] इस प्रेतकी आत्माको [पितॄन् उप प्रहिणुतात्] पितरोंके पास भेज दे अर्थात् पितृलोकमें इस प्रेतकी आत्मा चली जावे। [ऋ० १०।१६।१] ॥ ४ ॥

(जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (यदा शृतं कृणवः) जब तू इस प्रेतको पूर्णतया पक्व अर्थात् दग्ध कर दे, (अथ) तब (एनं पितृभ्यः परि दत्तात्) इसको पितरोंके लिये सौंप दे। (यदा) जब यह प्रेत (एतां असुनीतिं गच्छाति) इस प्राणोंके नयन को प्राप्त होता है अर्थात् जब इसके प्राण निकल जाते हैं। (अथ) तब प्राणोंके निकल जानेपर प्रेत [मृत शरीर] [देवानां वशनीः भवाति] देवोंके वश हो जाता है। [ऋ० १०।१६।२] ॥ ५ ॥

[एकं इत् बृहत्] अकेला ही यह सर्वव्यापक महान् यम [त्रिकद्रुकेभिः] तीन कद्रुओंसे [षट् उर्वीः] छहों उर्वियोंको [पवते] प्राप्त होता है अर्थात् व्याप्त करके स्थित है। [त्रिष्टुप् गायत्री] त्रिष्टुप् गायत्री आदि [ता सर्वा छंदांसि] ये सब छन्द [यमे] उस नियन्ता परमात्मामें [आर्पिताः] स्थित हैं। [ऋ० १०।१४।१६] ॥ ६ ॥

हे प्रेत! तू [चक्षुषा सूर्यं गच्छ] आंख से सूर्य को जा। (आत्मना वातं) आत्मासे [प्राणसे] वायुको जा। और हे प्रेत! (धर्मभिः) धर्मसे अर्थात् कर्मफलजन्य धर्म से अथवा पार्थिवादि तत्वों के धर्मसे अर्थात् जो पार्थिव तत्व हैं वे पृथिवीमें जा मिलें जो जलीय हैं वे जल में जा मिलें इत्यादि प्रकार से [द्यां च पृथिवीं च] द्युलोक पृथिवी लोक को जा अर्थात् पार्थिव तत्व पृथिवीमें जा मिलें और जो द्युलोकका अंश हो वह द्युलोक में जा मिले। जहां जहां से जो जो अंश तेरे शरीर में आया हो वहां वहां वह वह अंश चला जावे। [वा] अथवा [अपः गच्छ] जलोंमें जलीय अंश जावें (यदि तत्र ते हितं) यदि वहां का कोई अंश तेरे में विद्यमान हो और इसी प्रकार औषधियोंमें शरीरांगोंसे स्थित हो अर्थात् ओषधिका अंश ओषधि में चला जावे। [ऋ० १०।१६।३] ॥ ७ ॥

भावार्थ– जब तक देह पूर्णतया जल नहीं जाती तबतक आत्मा उस देहको छोडकर स्थानान्तरमें नहीं जाती। उस देहसे आकर्षण ही समझती रहती है। उस देहका मोह उसे खींचे रखता है। जब आत्मा शरीरसे पृथक् होकर पितृलोकमें जाती है। अग्नि आत्माको पितृलोकमें भेजती है ॥ ४ ॥

अग्नि शरीरको पूर्णतया दग्ध करके आत्माको पितृलोकमें भेज देता है। अग्निद्वारा पृथक् पृथक् हुए हुए शरीरके तत्व अपने अपने स्थानमें चले जाते हैं। जब प्राण निकल जाते हैं तब यह मृत देह देवोंके वश हो जाती है ॥ ५ ॥

छहों उर्वियोंमें यह यम व्याप्त है इतना अवश्य पता चलता है। त्रिष्टुप् गायत्री आदि सर्व उस यम (नियामक परमात्मा) में स्थित हैं ॥ ६ ॥

अजो भागस्तपसस्तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः ।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम् ॥ ८ ॥
यास्ते शोचयो रंहयो जातवेदो याभिरापृणासि दिवमन्तरिक्षम् ।
अजं यन्तमनु ताः समृण्वतामथेतराभिः शिवतमाभिः शृतं कृधि ॥ ९ ॥
अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधावान् ।
आयुर्वसान उप यातु शेषः सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः ॥ १० ॥ (७)
अति द्रव श्वानौ सारमेयौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा ।
अधा पितॄन्त्सुविदत्राँ अपीहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥ ११ ॥

अर्थ- हे अग्नि ! इस देहका जो [अजः भागः] अज अर्थात् न जन्म लेनेवाला भाग [आत्मा] है [तं] उसको तू [तपसा तपस्व] अपने तप से तपा। [तं] उस अज भाग को [ते शोचिः] तेरी दीप्यमान ज्वाला (तपतु) तपावे। [तं] उस अज भागको [ते अर्चिः] भासमान तेरी ज्वाला [तपतु] तपावे। और फिर [जातवेदः] हे जातवेदस् अग्नि [याः ते शिवाः तन्वः] जो तेरे कल्याणकारी ज्वालाओं रूपी तनू अर्थात् शरीर हैं [ताभिः] उन शरीरों द्वारा इस अज भाग को [सुकृतां लोकं] सुकर्म करनेवालोंके लोक में [वह] प्राप्त करो। [ऋ. १०।१६।४] ॥ ८ ॥

[जातवेदः] हे जातवेदस् अग्नि ! [याः ते] जो तेरे [शोचयः] पवित्र करनेवाले [रंहयः] वेगवाले ज्वालारूपी शरीर हैं, [याभिः] जिनसे कि तू [दिवं] द्युलोकको व [अन्तरिक्षं] अन्तरिक्ष लोकको [आपृणासि] परिपूर्ण करता है [ताः] वे तेरे ज्वालारूपी तनू अर्थात् शरीर [यन्तं] द्युलोक को जाते हुए [अजं अनु] शरीरके अज भाग [आत्मा] के पीछे [समृण्वताम्] जावें। [अथ] और [इतराभिः शिवतमाभिः] दूसरे कल्याणकारी शरीरोंसे इस पीछे रह गए मृत देह को [शृतं कृधि] परिपक्व कर अर्थात् पूर्णतया जला दे ॥ ९ ॥

[अग्ने] हे अग्नि ! [यः] जो [ते आहुतः] तेरे में अन्त्येष्टिके समय आहुत किया हुआ [स्वधावान् चरति] स्वधाओंसे युक्त विचरण करता है उसको [पुनः] फिर [पितृभ्यः] पितरोंके लिये जाकर [अवसृज] छोड अर्थात् वह पुनर्जन्म ले। अथवा 'पितृभ्यः' को पञ्चमी मानकर भी अर्थ कर सकते हैं, और वह इस प्रकार कि फिर पितृलोकमें विद्यमान पितरोंसे जाकर इस संसारमें छोड। दोनो प्रकारके अर्थोंका भाव एक ही है। दोनों प्रकारके अर्थोंमें विरोध नहीं है। इस प्रकार यह पुनर्जन्म किया हुआ। [शेषः] अपत्य सन्तान [उपयातु] आयुर्दिनों को प्राप्त करे तथा [सुवर्चाः] तेजस्वी होकर हे अग्नि ! [तन्वा संगच्छतां] वह अपत्य शरीरसे भलीभांति संगत होवे अर्थात् उत्तम शरीरसंपत्तिसे संपन्न बने [ऋ. १०।१६।५] ॥ १० ॥

हे पितृलोकमें जाते हुए जीव ! [सारमेयौ चतुरक्षौ] सारमेय चार आंखोंवाले [शबलौ] चितकबरे [श्वानौ] दो कुत्तोंसे [अति] बचकरके [साधुना पथा] कल्याणकारी उत्तम मार्गसे [द्रव] जा। [अध] तब [सुविदत्रान् पितॄन्] उत्तम धन या ज्ञानसे युक्त पितरोंको [अपि इहि] भी प्राप्त हो। [ये] जो कि पितर [यमेन सधमादं मदन्ति] यमके साथ आनन्दित होते हुए तृप्त होते हैं। [ऋ. १०।१४।१०] ॥ ११ ॥

भावार्थ- मरनेपर शरीरमें विद्यमान तत्व अपने अपने स्थानपर जहांसे आए हुए होते हैं वहां चले जाते हैं। सूर्यादि देवोंके अंश उन उनमें वापिस चले जाते हैं हरेक देव अपना अंश शरीरसे खींच लेता है ॥ ७ ॥

हे अग्नि ! तू इस शरीरके अज भाग आत्माको अपनी नाना गुण विशिष्ट ज्वालाओंसे युक्त करके पुण्यलोकमें ले जा ॥ ८ ॥

शरीरके अज भाग आत्माका अनुसरण करती हुई अग्निकी कुछ ज्वालाएं उसे उचित स्थानपर ले जाती हैं व पीछे रहे मृत देहको अन्य ज्वालाएं भस्म कर डालती हैं ॥ ९ ॥

हे अग्नि ! जो मृत पुरुष तेरेमें अन्त्येष्टिके समय आहुत किया हुआ स्वधाओंवाला होकर विचरण कर रहा है। उसे पितरोंके लिए दे अर्थात् उसे पितृलोकमें विद्यमान पितरोंके पास लेजाकर छोड ॥ १० ॥

यौ ते॒ श्वानौ॑ यम रक्षि॒तारौ॑ चतुर॒क्षौ प॑थि॒षदी॑ नृ॒चक्ष॑सा ।
ताभ्यां॑ राजन् परि॑ धेह्येन स्वस्त्यस्मा अनमी॒वं च॑ धेहि ॥ १२ ॥
उ॒रू॒ण॒साव॑सु॒तृपा॑वुदु॒म्ब॒लौ य॒मस्य॑ दू॒तौ च॑रतो॒ जनाँ॒ अनु॑ ।
ताव॒स्मभ्यं॑ दृ॒शये॒ सूर्या॑य॒ पुन॑र्दाता॒मसु॑म॒द्येह भ॒द्रम् ॥ १३ ॥
सोम॒ एके॑भ्यः पवते घृ॒तमेक॒ उपा॑सते। येभ्यो॒ मधु॑ प्र॒धाव॑ति॒ ताँश्चि॑दे॒वापि॑ गच्छतात् ॥ १४ ॥
ये चित्पूर्व॑ ऋ॒तसा॑ता ऋ॒तजा॑ता ऋता॒वृधः॑। ऋषी॒न्तप॑स्वतो यम तपो॒जाँ अपि॑ गच्छतात् ॥ १५ ॥
तप॑सा॒ ये अ॑नाधृ॒ष्यास्तप॑सा॒ ये स्व॑र्य॒युः। तपो॒ ये च॑क्रि॒रे मह॒स्ताँश्चि॑दे॒वापि॑ गच्छतात् ॥ १६ ॥

अर्थ हे यम ! [ते] तेरे [यौ] जो (रक्षितारौ) रक्षा करनेवाले (चतुरक्षौ) चार आंखोंवाले (पथिषदी) मार्गोंके मार्गमें बैठनेवाले तथा [नृचक्षसौ] मनुष्योंको देखनेवाले [श्वानौ] दो कुत्ते हैं हे राजन् ! (ताभ्यां) उन दोनों कुत्तों द्वारा (एनं) इस जीवको (स्वस्ति) कल्याण (धेहि) प्रदान कर । (च) और (अस्मै) इस जीवके लिये [अनमीवं] रोगरहितता अर्थात् आरोग्य (धेहि) धारण कर । इसे निरोगी बना । (ऋ० १ । १४ । ११) ॥ १२ ॥

[उरू—णसौ] लम्बी नाकवाले [असुतृपौ] प्राणोंके खानेसे तृप्त होनेवाले (उदुम्बलौ) विस्तृत बलवाले अर्थात् अत्यन्त बलवान् (यमस्य दूतौ) यमके दूत उपरोक्त दोनों कुत्ते (जनाँ अनुचरतः) मनुष्योंके पीछे पीछे विचरण करते हैं । (तौ) इस प्रकारके वे यमदूत कुत्ते (अस्मभ्यं) हमारे लिये (सूर्याय दृशये) सूर्यके दर्शनार्थ अर्थात् इस लोकमें जीवन धारण करनेके लिये (अद्य) आज [इह] इस संसारमें [भद्रं असुं] कल्याणके देनेवाले प्राणको [पुनः] फिर [दाता] देवें । [ऋ० १ । १४ । १२] ॥ १३ ॥

[एकेभ्यः]कईयों के—लिये (सोमः पवते) सोमरस बहता है । और [एके] कई (घृत उपासते) आज्य का उपभोग करते हैं । इनमेंसे च [येभ्य मधु प्रधावति] जिनके लिये मधु धारा रूपसे बहता है [तान् चित् अपि] हे प्रेत ! उनको भी तू [गच्छतात्] प्राप्त हो ॥ १४ ॥

(ये चित्) और जो (पूर्वे) पूर्व पुरुष (ऋतसाता) सत्यका पालन करनेवाले अथवा यज्ञोंके विधि नियमपूर्वक करनेवाले (ऋतजाता) सत्य वा यज्ञसे युक्त और इसीलिए (ऋतावृधः) सत्य व यज्ञके वर्धक थे तथा (तपस्वतः) तपसे युक्त (पितृन्) पूर्व पितरोंको (तान् चित् अपि) इन सबको भी हे (यम) नियमवान् प्रेतात्मा तू प्राप्त हो ॥ १५ ॥

(ये) जो लोक (तपसा) कृच्छ्रचान्द्रायणादि नानाविध तप करनेके कारणसे (अनाधृष्याः) किसी भी प्रकारसे पापों से नहीं पहुंच पा सकते जिनको पाप नहीं सता सकते व (ये) जो लोक (तपसा) तपके कारणसे (स्वः ययुः) स्वर्गको गए हुए हैं और (ये) जिन्होंने (महः तपः चक्रिरे) महान् तप किया है हे प्रेत ! इन (तान् चित् अपि गच्छतात्) उन तपस्वियोंको भी तू जाकर प्राप्त हो अर्थात् इनमें तेरी स्थिति होवे ॥ १६ ॥

भावार्थ—यमके कुत्तोंका वर्णन यहां किया गया है । उनकी चार आंखें हैं तथा वे पिरकरते रहते हैं ॥ ११ ॥

जीवित पुरुषके लिए यमके कुत्तोंसे कल्याण व आरोग्य मांगा गया है ॥ १२ ॥

यमके कुत्ते लम्बी नाकवाले प्राणोंको खाकर तृप्त होनेवाले, अत्यन्त बलशाली हैं । वे सर्वदा मनुष्योंके पीछे लगे रहते हैं ॥ १३ ॥

जिनके लिए सोमरस बहता रहता है व जो आज्य का उपभोग करते रहते हैं तथा जिनके लिए मधु की कुल्यायें बहती रहती हैं ऐसे महात्माओंको हे प्रेत तू प्राप्त हो ॥ १४ ॥

जो नियम पालन करते रहते हैं यज्ञादि का अनुष्ठान नियमपूर्वक करनेवाले हैं तथा तपस्वी हैं ऐसे पितरों को हे मृतात्मन् तू परलोक में जाकर प्राप्त हो ॥ १५ ॥

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १७ ॥
सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् । ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् १८
स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी । यच्छास्मै शर्म सप्रथाः ॥ १९ ॥
असंबाधे पृथिव्या उरौ लोके नि धीयस्व ।
स्वधा याश्चकृषे जीवन् तास्ते सन्तु मधुश्चुतः ॥ २० ॥
ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान् गृहाँ उप जुजुषाण एहि ।
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योनास्त्वा वाता उप वान्तु शग्माः ॥ २१ ॥

अर्थ– हे प्रेत ! [ये शूरासः] जो शूरवीर जन [प्रधनेषु] संग्रामों में [युध्यन्ते] युद्ध करते हैं और [ये] जो उन संग्रामों में [तनूत्यजः] शरीरोंका त्याग करते हैं अर्थात् अपने प्राण दे देते हैं [वा] अथवा [ये] जो लोग [सहस्रदक्षिणाः] हजारों दान करते हैं [तान् चित् अपि] उनको भी तू [गच्छतात्] प्राप्त हो ॥ १७ ॥

[ये] जो [कवयः] क्रान्तदर्शी ज्ञानी लोग [सहस्रणीथाः] हजारों प्रकारों की नीतियोंवाले हैं और जो [सूर्य गोपायन्ति] इस सूर्यका रक्षण करते हैं ऐसे [तपस्वतः ऋषीन्] तपसे युक्त ऋषियोंको जो कि [तपोजान्] तपसे ही उत्पन्न हुए हुए हैं—ऐसोंको भी हे नियममें स्थित प्रेतात्मा ! तू यहांसे जाकर प्राप्त हो ॥ १८ ॥

हे पृथिवी ! [अस्मै] इसके लिए [स्योना] सुखकारिणी [अनृक्षरा] कांटोंसे रहित अर्थात् न पीडा देनेवाली, [निवेशनी] प्रवेश करने योग्य [भव] हो । [सप्रथाः] विस्तृत हुई हुई [अस्मै] इसके लिए [शर्म] सुखको [यच्छ] दे ॥ १९ ॥

[असंबाधे] जहां पीडा जो नहीं है अर्थात् जो एक खरीता है ऐसे [पृथिव्याः उरौ लोके] पृथिवीके विस्तृत स्थानमें [निधीयस्व] स्थित हो । [जीवन्] जीते हुए अर्थात् जीवित अवस्था में तूने [याः स्वधाः] जो स्वधायें [चकृषे] की थीं [ताः] वे स्वधायें [ते] तेरे लिए अब [मधुश्चुतः] मधुके बरसाने वाली [सन्तु] होवें ॥ २० ॥

[ते मनः] तेरे मनको [मनसा] मन द्वारा बुलाता हूं । [इह] यहां [इमान् गृहान्] इन घरोंके [जुजुषाणः उप एहि] प्रीति करता हुआ समीप आ । तू [पितृभिः] पितरों के [सम् गच्छस्व] साथ विचरण कर । [यमेन सं] यमके साथ विचरण कर । (स्योनाः) सुखदायक (शग्माः) शक्तिशाली (वाताः) वायुयें [त्वा उपवान्तु] तेरे लिए बहें ॥ २१ ॥

भावार्थ— हे प्रेत जो तप के कारण किसी भी प्रकार पराभूत नहीं हो सकते व जो तप ही के कारण स्वर्ग को प्राप्त हुए हुए हैं तथा जिन्होंने महान तप किया है उनको तू यहांसे जाकर प्राप्त हो ॥ १६ ॥

जो शूरवीर जन युद्धोंमें अपने प्राण देकर वीर गति को प्राप्त हुए हुए हैं या जो धन धान्यादिक के दानों को देकर अपने को सदाके अमर कर गए हैं ऐसे मार्गोंका हे मृतात्मा तू प्राप्त हो तेरी उन्नति होवे ॥ १७ ॥

जो क्रान्तदर्शी ऋषिगण नाना प्रकारके विज्ञानोंसे परिपूर्ण हैं व जो तपस्वी तथा तपसे उत्पन्न हुए हुए हैं ऐसों को हे प्रेतात्मा तू इस लोक से जाकर प्राप्त हो। उनमें जाकर तू स्थित हो । निकृष्ट लोकोंमें मत जा ॥ १८ ॥

पृथिवी इसके लिए सुखदायी व कंटकरहित होवे ! इसका किसी प्रकारका कष्ट न हो ! पृथिवी इसका सदा सुख प्रदान करती रहे ॥ १९ ॥

तूने जो जीते हुए स्वधाओंका ग्रहण किया था व उसके लिए मधुर हो ॥ २ ॥

॥ (अ. सू. भा. खं १८)

उत् त्वा वहन्तु मरुत उदवाहा उदप्रुतः । अजेन कृण्वन्तः शीतं वर्षेणोक्षन्तु बालिति ॥ २२ ॥
उदह्वमायुरायुषे क्रत्वे दक्षाय जीवसे । स्वान् गच्छतु ते मनो अधा पितॄँरुप द्रव ॥ २३ ॥
मा ते मनो मासोर्माङ्गानां मा रसस्य ते । मा ते हास्त तन्वः किं चनेह ॥ २४ ॥
मा त्वा वृक्षः सं बाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही । लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु ॥ २५ ॥
यत् ते अङ्गमतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः ।
तत् ते संगत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरा वेशयन्तु ॥ २६ ॥

अर्थ- [उदवाहाः] जलका वहन करनेवाले [उदप्रुतः] जलसे सेचन करनेवाले (मरुतः) वायु [त्वा] तुझे (उत् वहन्तु) ऊपर पहुंचावें और वे वायु [अजेन शीतं कृण्वन्तः] जलसे शीतलता देते हुए [वर्षेण उक्षन्तु] वृष्टि द्वारा सींचें । (बाल् इति) यह तेरा जीवन है अर्थात् इसीसे तू जीवित रह सकता है ॥ २२ ॥

[आयुषे] दीर्घायु धारण करने के लिए [क्रत्वे] कर्म करने के लिए [दक्षाय] बलके लिए तथा (जीवसे) उत्तम जीवन धारण करने के लिए हे मृतात्मा ! मैं तुझे [उदह्वम्] बुलाता हूं । [ते मनः] तेरा मन [स्वान्] अपने सम्बन्धियों में [गच्छतु] जावे [अध] और तू [पितॄन् उपद्रव] पितरोंको प्राप्त हो ॥ २३ ॥

[इह] इस संसारमें रहते हुए [ते] तेरा [मनः] मन [मा हास्त] तुझे छोड़कर मत चला जावे । [असोः] प्राणोंका [किंचन] कुछभी अंश [मा] मत चला जावे अर्थात् तेरे प्राण ठीक ठीक बने रहें । [ते रसस्य मा] तेरे शरीरस्थ रुधिर आदि रसका कुछ भी अंश मत चला जावे । और [ते तन्वः किंचन मा हास्त] तेरे शरीर का कुछभी अंश मत चला जावे । २४ ॥

(त्वा वृक्षः मा संबाधिष्ट) तुझे वृक्ष बाधा मत पहुंचावे । वृक्ष यहां वनस्पतिका उपलक्षण है । (देवी मही पृथिवी) दिव्य गुणोंवाली विस्तृत पृथिवी भी तुझे (मा) मत बाधा पहुंचाए । (यमराजसु पितृषु लोकं वित्त्वा) यम जिनका राजा है ऐसे पितरोंमें स्थान प्राप्त करके (एधस्व) वृद्धिको प्राप्त कर ॥ २५ ॥

(ते यत् अङ्गं पराचैः अतिहितम्) तेरा जो अङ्ग उलटा होकर हट गया है और (यः ते प्राणः अपानः वा परेतः) जो तेरा प्राण या अपान दूर चला गया है शरीरसे निकल गया है (तत् ते) उस उपरोक्त तेरे अङ्ग या प्राण या अपानको (सनीडाः पितरः) साथ रहनेवाले पितर (संगत्य) मिलकर (घासात् घासं इव) जहां [illegible] प्रतीत होती है जैसे घाससे घास बांधी जाती है उसी प्रकार (पुनः आवेशयन्तु) फिर प्रविष्ट करावें अर्थात् जिससे प्राण अपान आदि तुझे [illegible] पुनरुज्जीवित करें ॥ २६ ॥

भावार्थ- पितरोंके साथ विचरण कर और यमसे विचरण कर । तेरे लिये वायु सुखदायी हों ॥ २१ ॥

वायु और जल तेरे लिये सुखदायी हों ॥ २२ ॥

हे मृतात्मा ! तू दीर्घायु एवं जीवन आदि धारण करने के लिए पुनः इस संसारमें आ तथा अपने संबंधियों में ही आकर जन्म ले ॥ २३ ॥

हे पुरुष ! तू संसारमें सर्वांगपूर्ण बना रह । तेरे शरीर आदि का कोई भी अंश नष्ट न होवे ॥ २४ ॥

पृथ्वीमें जाते हुए तुझे भी वृक्षादि वनस्पतियां तथा अन्य पार्थिव पदार्थ बाधा न पहुंचावें । तू यमराजके पितरोंमें जाकर वृद्धि प्राप्त कर ॥ २५ ॥

प्राणों के निकल जानेपर शरीर मृतावस्थित हो जाता है । वह उस [illegible] मृत देह कहलाता है । इस मंत्रमें निकले हुए प्राणोंका पुनः समावेश करनेका वर्णन है । इससे मृतको पुनरुज्जीवित करनेका विशेष इस मंत्रमें मिलता है । इसके सिवाय कोई शरीरका अवयव उखड़ा हो गया हो या दूर गया हो तो उसे भी फिर ठीक ठीक [illegible] ऐसा ज्ञात होता है ॥ २६ ॥

अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परि ग्रामादितः ।
मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयां चकार ॥ २७ ॥
ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति ।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टानस्मात् प्र धमाति यज्ञात् ॥ २८ ॥
सं विशन्त्विह पितरः स्वा नः स्योनं कृण्वन्तः प्रतिरन्त आयुः ।
तेभ्यः शकेम हविषा नक्षमाणा ज्योग् जीवन्तः शरदः पुरूचीः ॥ २९ ॥
यां ते धेनुं निपृणामि यमु ते क्षीर ओदनम् ।
तेना जनस्यासो भर्ता योऽत्रासदजीवनः ॥ ३० ॥

अर्थ— (जीवाः) प्राणधारी लोगोंने (इमम्) इस मृतकको (गृहेभ्यः) घरोंसे (अप अरुधन्) बाहिर कर दिया है [तं] उसको तुम लोग (इतः ग्रामात्) इस ग्रामसे (परि निर्वहत) बाहिरकी ओर श्मशानभूमिमें ले जाओ । क्योंकि (यमस्य मृत्युः दूतः आसीत्) यमका जो मृत्यु दूत है उस (प्रचेताः) प्रकृष्ट ज्ञानी मृत्युने इसके (असून्) प्राणोंको (पितृभ्यः गमयां चकार) पितरोंके लिये अर्थात् पितरोंके पास पितृलोकमें (गमयां चकार) भेज दिए हैं । अतः क्योंकि यह पितृलोकमें जा चुका है इसलिये इसके शवको ग्रामसे बाहिर दहनादि क्रियाके लिये ले जाओ ॥ २७ ॥

(ज्ञातिमुखाः) ज्ञातियोंके सदृश मुखवाले अर्थात् जो सजातीय हैं और जो कि (अहुतादः) अहुत अर्थात् न दिये हुए को खानेवाले हैं यानि जबरदस्ती भी छीनकर खा जानेवाले हैं ऐसे (ये दस्यवः) जो उपक्षय करनेवाले (पितृषु प्रविष्टाः) पितरोंमें प्रविष्ट हुए हुए (चरन्ति) विचरण करते हैं और (ये) जो (परापुरः) पुत्रों को तथा (निपुरः) पौत्रों को (भरन्ति) हरण करते हैं (तान्) उन दस्युओं को (अग्निः) अग्नि (अस्मात् यज्ञात्) इस यज्ञसे (प्र धमाति) दूर भगा देता है यज्ञमें आने नहीं देता ॥ २८ ॥

(इह) इस यज्ञमें (नः) हमारे (स्वाः पितरः) ज्ञातिके पितृगण (स्योनं कृण्वन्तः) सुख उत्पन्न करते हुए (सं विशन्तु) प्रविष्ट होवें । और (आयुः प्रतिरन्तु) आयुष्यकी वृद्धि करें । और उसके बदलेमें (नक्षमाणाः) गतिशील अर्थात् सचेष्ट रहकर हम (ज्योग् पुरूचीः शरदः) चिरकाल बहुतसे वर्षोंतक (जीवन्तः) जीवन धारण करते हुए (तेभ्यः) उन दीर्घ आयु देनेवाले पितरोंकी हविषा हविद्वारा (शकेम) परिचर्या करनेमें समर्थ बने रहें ॥ २९ ॥

(ते) तेरे लिये (यां धेनुं) जिस गायको (निपृणामि) देता हूं और (क्षीरे) दूधमें (यं ओदनम्) जिस भातको देता हूं अर्थात् दूध मिश्रित जो भात देता हूं (तेन) उस द्वारा तू (जनस्य भर्ता असः) मनुष्यका पोषक हो । (यः) जो कि मनुष्य (अत्र) इस संसारमें (अ—जीवनः) निर्जीव—मृत (असत्) है ॥ ३० ॥

भावार्थ— इस मंत्रमें यह दर्शाया है कि शरीरसे प्राण छूटने पर उसे घरसे बाहर कर देना चाहिये व तदनन्तर ग्रामसे बाहर ले जाना चाहिये । श्मशान भूमि ग्रामसे बाहर होनी चाहिए ॥ २७ ॥

जो हमारा व हमारी वैयक्तिक सुखसे सुखके नाश करते रहते हैं और जो हमारे न चाहते हुए हवियोंको जो कि पितरोंके उद्देशसे दी गई हैं खाते रहते हैं । पर जब यज्ञमें न आकर ऐसा करते हैं तो अग्नि उन्हें यज्ञसे दूर भगा देती है उन्हें पितरोंमें बैठकर हवि खाने नहीं देती ॥ २८ ॥

पितर आ जावें और दीर्घ कालतक जीते हुए हमको हविदान द्वारा सेवा की जाय ॥ २९ ॥

दूध मिश्रित भात जीवनहीन मनुष्यके मरण के लिए दिया जावे ॥ ३० ॥

*

अश्वावतीं प्र तर या सुशेवार्क्षाकं वा प्रतरं नवीयः ।
यस्त्वा जघान वध्यः सो अस्तु मा सो अन्यद् विदत भागधेयम् ॥ ११ ॥
यमः परोऽवरो विवस्वान् ततः परं नाति पश्यामि किं चन ।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान ॥ १२ ॥
अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद् यत् तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ॥ १३ ॥
ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः ।
सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ १४ ॥

अर्थ- (अश्वावती) जिसमें घोडे हैं ऐसी सेनाको (प्रतर) भली भांति बढा अर्थात् युद्ध प्रकार सेना बना, (या) जो कि (सुशेवा) उत्तम सुख देनेवाली है और फिर इस सेना द्वारा (प्रतर नवीय ऋक्षाकं प्रतर) बढे हुए मजबूत रीछ आदि पशुओंकी वार्ता जानवरोंवाले स्थानको पार कर । (यः त्वा जघान) जो तुझे मारे (सः) वह (वध्यः अस्तु) मारडालने लायक होवे अर्थात् उसे मारडाला जावे । (सः) वह तेरा हिंसक (अन्यत् भागधेयं मा विदत) उसे अन्य भाग मत मिले अर्थात् उसे मार ही डाला जावे । अन्य भोजन वस्तुएं उसे न मिलें ॥ ११ ॥

(यमः परः) यम परे है अर्थात् दूर है और (विवस्वान्) सूर्य उससे (अवरः) समीप है । (ततः परं) उस उससे परे मैं [किंचन न अति पश्यामि] कुछ भी दूर स्थित हुआ हुआ नहीं देखता हूं । अथवा नहीं समझता हूं (यमे मे अध्वरः अधिनिविष्टः) यमके अन्दर मेरा अध्वर अर्थात् हिंसारहित यज्ञ स्थित है (विवस्वान् भुवः अनु आततान) सूर्यने पृथ्वीको अपने प्रकाशसे फैला रखा है ॥ १२ ॥

(मर्त्येभ्यः) मरणधर्मा मनुष्योंसे (अमृतां अपागूहन्) अमरताको छिपाया । और (विवस्वते) विवस्वान्के लिये (सवर्णां) सवर्णा (कृत्वा) बना करके (अदधुः) धारण किया—दिया । (उत) और (यत् तत्) उस समय जो वह स्वरूप था उसने (अश्विनौ अभरत्) अश्विनौ को उत्पन्न किया । और (सरण्यूः) सरण्यूने (द्वौ मिथुनौ) दो जोडी यम व यमी (अजहात्) उत्पन्न किए ॥ १३ ॥

[अग्ने] हे अग्नि ! [ये निखाताः] जो पितर जमीनमें गाडे गए हैं और [ये परोप्ताः] जो पितर दूर बहा दिए गए हैं तथा (ये दग्धाः) जो जला दिए गए हैं (च) और (ये उद्धिताः) जो बिना जमीनके ऊपर रखे गए हैं (तान् सर्वान्) उन सब पितरोंको तू (हविषे अत्तवे) हवि भक्षणार्थ (आ वह) ले आ ॥ १४ ॥

भावार्थ- युद्धवार सेना बढाकर हिंसक प्राणियोंवाले स्थानोंको दूर करना चाहिये । और ऐसे कार्य करते हुए जो कोई वध करे तो उसे मार डालना चाहिये ॥ ११ ॥

यमका स्थान सूर्यसे परे है और उससे परे कोई नहीं है ॥ १२ ॥

सरण्यूसे यम व यमीकी उत्पत्ति हुई है [बृहद्देवताकार द्वारा दी गई गाथासे यह भी पता चलता है कि] सरण्यूने जब घोडीका रूप धारण किया तब उससे जो संतान हुई उसका नाम अश्विनौ पडा ॥ १३ ॥

यहांपर चार प्रकारके स्मशानकर्म दर्शाए गए हैं । [१] गाडना [२] बहाना [३] जलाना और [४] ऊंचे स्थान पर खुला छोडना ॥ १४ ॥

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
त्वं तान् वेत्थ यदि ते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम् ॥ ३५ ॥
शं तप माति तपो अग्ने मा तन्वं१ तपः ।
वनेषु शुष्मो अस्तु ते पृथिव्यामस्तु यद्धरः ॥ ३६ ॥
ददाम्यस्मा अवसानमेतद्य एष आगन् मम चेदभूदिह ।
यमश्चिकित्वान् प्रत्येतदाह ममैष राय उप तिष्ठतामिह ॥ ३७ ॥
इमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो पुरा ॥ ३८ ॥
प्रेमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो पुरा ॥ ३९ ॥
अपेमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४० ॥ (१०)

अर्थ- (ये) जो (अग्निदग्धाः) अग्निद्वारा जलाए गए और जो (अनग्निदग्धाः) अग्नि द्वारा न जलाए गए पितर (दिवः मध्ये) द्युलोकके बीचमें (स्वधया) स्वधा द्वारा (मादयन्ते) तृप्त हो रहे हैं (तान्) उन्हें (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि (त्वं यदि वेत्थ) तू निश्चयसे जानता है। वे (स्वधया) स्वधाके साथ (स्वधितिं यज्ञं) स्वधाकाले यज्ञका (जुषन्ताम्) सेवन करें ॥ ३५ ॥

हे अग्नि! (तन्वं) इस मृत शरीरको (शं तप) सुखसे तपा अर्थात् इसे कष्ट हो इस प्रकारसे मत तपा। (मा अति तपः) बुरी तरहसे इसे मत तपा। तेरा जो तपानेवाला—जलानेवाला—(शुष्मः) बल है वह (वनेषु अस्तु) वनोंमें होवे। और (यत्) जो (ते हरः) तेरा हरण करनेवाला तेज है वह (पृथिव्यां अस्तु) पृथिवी पर होवे ॥ ३६ ॥

(अस्मै) इस मृत पुरुषके लिये (एतत् अवसानं) इस स्थानको (ददामि) मैं देता हूं। क्योंकि (एषः यः) यह जो है वह (आगन्) यम लोकमें आया है और (इह) यहांपर आकर (मम चेत्) मेरा ही (अभूत्) हो गया है अर्थात् क्योंकि यह यहां आकर मेरी ही प्रजा बन गया है अतः मैं इसे स्थान देता हूं। अपने राज्यके बाहर नहीं निकालता। इस उपरोक्त प्रकारसे (चिकित्वान् यमः) ज्ञानवान् यम (एतत्) यह उपरोक्त ददाम्यस्मै इत्यादि वाक्य (प्रति आह) यमलोकमें आए हुएके प्रति कहता है। और यह भी कहता है कि (एषः) यह आगन्तुक (मम राये) मेरे धनके लिये (इह) यहां यमराज्यमें (उपतिष्ठताम्) उपस्थित होवे अर्थात् इसे भी इस मेरे धनका भाग मिले अथवा यह भी अन्य प्रजा जनकी तरह मेरे लिये दिया जानेवाला उचित कर प्रदान करे ॥ ३७ ॥

(इमां मात्रां) इस मर्यादा-परिमाण-को इस प्रकारसे (मिमीमहे) हम मापते हैं। (यथा) जिस प्रकारसे कि (अपरं) अन्य कोई (पुरा) आगामी (शत शरत्सु) सौ वर्षोंमें भी (न मासातै) नहीं माप सकता ॥ ३८ ॥

(प्र मिमीमहे) अच्छी प्रकारसे मापते हैं। शेष पूर्ववत् ॥ ३९ ॥

(अप) जिसमें से दोष निकल गए हैं इस प्रकारसे अर्थात् पूर्ण शुद्ध रूपसे (मिमीमहे) मापते हैं। शेष पूर्ववत् ॥ ४० ॥

भावार्थ— पितरोंके लिए यज्ञभाग प्राप्त हो ॥ ३५ ॥
प्रेत दाहके समय मृतात्माको कष्ट न हो ॥ ३६ ॥
यमराज्यमें पितर गये तो यम उनकी योग्य व्यवस्था करता है ॥ ३७ ॥
यम सबको कर्ममर्यादासे मापता है ॥ ३८ ॥
मृतात्माके कर्मकी मात्रा अर्थात् प्रमाण यम मापता है और तदनुसार उनको फल देता है ॥ ३९-४० ॥

वी३मां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४१ ॥
निरिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४२ ॥
उदिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४३ ॥
समिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४४ ॥
अमासि मात्रां स्व॑रगामायुष्मान् भूयासम् ।
यथापरं न मासातै शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४५ ॥
प्राणो अपानो व्यान आयुश्चक्षुर्दृशये सूर्याय ।
अपरिपरेण पथा यमराज्ञः पितॄन् गच्छ ॥ ४६ ॥
ये अग्रवः शशमानाः परेयुर्हित्वा द्वेषांस्यनपत्यवन्तः ।
ते द्यामुदित्याविदन्त लोकं नाकस्य पृष्ठे अधि दीध्यानाः ॥ ४७ ॥
उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा । तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥ ४८ ॥

(वि मिमीमहे) विशेष ढंगसे मापते हैं । शेष पूर्ववत् ॥ ४१ ॥

(निः मिमीमहे) निश्चित रूपसे या निःशेष रूपसे मापते हैं । शेष पूर्ववत् ॥ ४२ ॥

(उत् मिमीमहे) उत्तम रूपसे मापते हैं । शेष पूर्ववत् ॥ ४३ ॥

(सं मिमीमहे) अच्छी तरह से—भली भांति मापते हैं । शेष पूर्ववत् ॥ ४४ ॥

(मात्रां अमासि) मैं मात्राको मापूं और इससे (स्वः अगाम्) सुखको प्राप्त होऊं । (आयुष्मान्) दीर्घायु वाला (भूयासम्) होऊं । शेष पूर्ववत् ॥ ४५ ॥

(प्राणः) प्राण (अपानः) अपान (व्यानः) व्यान [आयुः] आयु और (चक्षुः) आंख (सूर्याय दृशये) सूर्य के दर्शनके लिये अर्थात् इस संसारमें जीवन धारण करनेके लिए होवें । और आयुके पूर्ण होनेपर देहका त्याग करने पर हे मनुष्य ! तू (अपरिपरेण पथा) अकुटिल मार्ग द्वारा (यमराज्ञः पितॄन्) यम जिनका राजा है ऐसे पितरोंको [गच्छ] जा– प्राप्त हो । (अपरिपर –परि परितः सर्वतः पर पराभवः कुटिलभावः अथवा शत्रुः न विद्यते यस्मिन् सः अपरिपरः अर्थात् जिसमें सर्वथा कुटिलता या शत्रु नहीं है वह अपरिपर है) ॥ ४६ ॥

(ये) जो (अग्रवः) अग्रगामी (शशमानाः) प्रशंसा प्राप्त किए हुए अथवा उद्यमशील (अनपत्यवन्तः) अपत्य संतान रहित अथवा ऐश्वर्यवाले पुरुष (द्वेषांसि हित्वा) द्वेष भावका त्याग करके (परेयुः) मरे हैं (ते) वह [illegible] (द्यां उदित्य) द्युलोकको प्राप्त करके (अधिदीध्यानाः) अत्यन्त दीप्यमान होकर (नाकस्य पृष्ठे लोकं अविदन्त) स्वर्गमें स्थान पाता है ॥ ४७ ॥

[अवमा द्यौः उदन्वती] सबसे नीचे का द्यौ 'द्युलोक' वह है जिसमें कि जल रहता है । जिस द्युलोकमें जल रहते हैं वह सबसे नीचेका द्युलोक है । [पीलुमती इति मध्यमा] और जिसमें ग्रह नक्षत्रादि स्थित हैं वह बीचका द्युलोक है । (ह) निश्चय से (तृतीया) तीसरा [प्रद्यौः इति] प्रद्यु नामक द्युलोक है [यस्यां] जिसमें कि [पितरः आसते] पितर स्थित होते हैं ॥ ४८ ॥

भावार्थ– हे मनुष्य तेरे प्राण अपानादि आजीवन उत्तम बने रहें तथा मरने पर तू उत्तम मार्गसे यमलोकस्थ पितरोंको प्राप्त हो । यम पितरोंका राजा है यह इससे पता चलता है ॥ ४६ ॥

जो लोग अग्रगामी शक्तिक तथा द्वेषोंका त्याग करते हैं वे मरने पर द्युलोकस्थ स्वर्गमें जाते हैं ॥ ४७ ॥

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्व१न्तरिक्षम् ।
य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ॥ ४९ ॥
इदमिद् वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम् ।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्ये१नं भूम ऊर्णुहि ॥ ५० ॥
इदमिद् वा उ नापरं जरस्यन्यदितोऽपरम् ।
जाया पतिमिव वाससाभ्ये१नं भूम ऊर्णुहि ॥ ५१ ॥
अभि त्वोर्णोमि पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण भद्रया ।
जीवेषु भद्रं तन्मयि स्वधा पितृषु सा त्वयि ॥ ५२ ॥

अर्थ— (ये) जो (नः पितुः पितरः) हमारे पिताके पितर हैं, (ये) और जो (पितामहाः) उनके भी पितामह हैं, (ये) जो कि (उरु अंतरिक्षं आविविशुः) विस्तृत अंतरिक्ष में प्रविष्ट हुए हैं, और (ये) जो (पृथिवीं उत द्यां) पृथिवी तथा द्युलोकमें (आक्षियन्ति) निवास करते हैं (तेभ्यः पितृभ्यः) उन पितरोंके लिए (नमसा विधेम) नमस्कारपूर्वक पूजा करते हैं ॥ ४९ ॥

हे मृत पुरुष (इदं इद् वा उ) यही है (न अपरं) दूसरा नहीं है। (दिवि सूर्यं पश्यसि) जो द्युलोकमें तू सूर्य देखता है। (यथा पुत्रं माता सिचा) जिस प्रकार पुत्रको माता अपने आंचलसे ढांपती है उस प्रकार हे (भूमे) पृथिवी तू (एनं) इस मृत पुरुषको (अभि ऊर्णुहि) चारों ओरसे ढांप ॥ ५ ॥

(जरसि) वृद्धावस्थाके बादमें (इदं इद् वा उ अपरं) यही दूसरा स्वधायोचित कार्य है (अन्यत् इतः अपरं न) उस इससे भिन्न कोई कार्य नहीं। अतः हे (भूम) भूमि! (जाया पतिं वाससा इव) जिस प्रकार पत्नी पतिको वस्त्रसे ढांपती है उस प्रकार तू (एनं) इस प्रेतको (अभि ऊर्णुहि) वस्त्रसे ढांप ॥ ५१ ॥

हे प्रेत! (त्वा) तुझे (मातुः पृथिव्याः) माता पृथिवीके (भद्रया वस्त्रेण) कल्याणकारी वस्त्रसे (अभि ऊर्णोमि) आच्छादित करता हूं अर्थात् जमीनमें तुझे गाडता हूं। (जीवेषु भद्रं तत् मयि) जीवितोंमें जो कल्याण है वह मेरेमें हो अर्थात् मुझे प्राप्त हो और (पितृषु स्वधा) जो पितरोंमें स्वधा है (सा त्वयि) वह तेरेमें हो अर्थात् तुझे प्राप्त हो। यहां पर स्पष्ट शब्दोंमें प्रेतके गाडनेका निर्देश है ॥ ५२ ॥

भावार्थ—द्युलोक तीन प्रकारका है। एक तो वह जो कि तीनों प्रकारके द्युलोकोंमें से सबसे नीचा है और उसमें मेघमण्डल स्थित है। दूसरा इससे ऊपर है और उसमें पीलु अर्थात् ग्रहनक्षत्रादि स्थित हैं। यह बीचका द्युलोक है। तीसरा इससे ऊपर है जो कि प्रद्यौके नामसे प्रख्यात है और यही द्युलोक है जिसमें कि पितर निवास करते हैं ॥ ४८ ॥

जो हमारे पितरादि पूर्वज अंतरिक्ष द्यु तथा पृथिवीमें रहते हैं उनकी हम नमः द्वारा पूजा करते हैं ॥ ४९ ॥

हे प्रेत! यही सब कुछ है जो कि द्युलोकमें सूर्य दिख रहा है। हे भूमि! तू इस प्रेतको इस प्रकारसे ढक ले जिस प्रकारसे कि माता पुत्रको अपने आंचलसे ढांपती है। (इस मंत्रके पूर्वार्धका भाव कुछ विशद रूपसे स्पष्ट नहीं होता। और अतएव उत्तरार्धसे उसकी संगति लगानी जरा विचारणीय है। उत्तरार्ध स्पष्ट ही है) ॥ ५ ॥

वृद्धावस्थाके अनन्तर देहके लिए सिर्फ स्वधाकर्म ही बाकी रह जाता है दूसरा कोई नहीं। अतः हे भूमि! इस यथार्थ रूप पर इस प्रेतको ऐसे ढांपले जैसे कि पत्नी अपने वस्त्रसे पतिको ढांप लेती है ॥ ५१ ॥

हे प्रेत! तुझे पृथिवी माताके कल्याणकारी वस्त्रसे ढकता हूं। संसारमें जो कल्याण है उसको मैं प्राप्त करूं और जो पितरोंमें स्वधा है वह तुझे प्राप्त हो अर्थात् पितृलोकमें जाकर तुझे स्वधा मिले। इस प्रकार हम दोनों सुखी हों। तू परलोकमें सुखी हो, मैं इस लोकमें सुखी होऊं ॥ ५२ ॥

वीरिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो पुरा
निरिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो [illegible]
उदिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो [illegible]
समिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शर[illegible]
अमासि मात्रां स्व॑रगामायुष्मान् भूयासम् ।
यथापरं न मासातै शते शरत्सु नो पुरा
प्राणो अपानो व्यान आयुश्चक्षुर्दृशये सू[illegible]
अपरिपरेण पथा यमराज्ञः पितॄन् ग[illegible]
ये अग्रवः शशमानाः परेयुर्हित्वा [illegible]
ते द्यामुदित्याविदन्त लोकं ना[illegible]
उदन्वती द्यौरवमा पीलुम[illegible]

(वि मिमीमहे) विशेष ढंग[illegible]) देवोंके लिए (स्थोनं) सुखकारक (स[illegible])
(निः मिमीमहे) नि[illegible] [illegible] स्थान (उरु मेन्नच [illegible]) [illegible]
(उत् मिमीमहे) [illegible] स्थानमें (अजोषाते) प्रीति [illegible]
(सं मिमीमहे) [illegible] [illegible]) विचरण करते थे ॥ ११ ॥

[illegible] यमराज माधिपत्यका रक्षक पथ, [illegible]
द्वारा वही [illegible] इस पृथ्वीपर [illegible] मार्गकी ओर है
[illegible] [प्रवेभ्यः पितृभ्यः] इन पितरोंके लिए या [सु पितृभ्येभ्यः [illegible]]

(मात्रां अम[illegible] [illegible]] देवे । [ऋ १ ।१०।१८।] ॥ ५४ ॥
वाला (भूयासम् [illegible] और विभागु (त्वा परिपातु) वही रक्षा करें । और (पूषा) पोषक आदित्य [त्वा] तेरी
([illegible] [illegible]) सामनेसे (पातु) रक्षा करे [यत्र] जहांपर — जिस स्थानमें [सुकृतः [illegible]]
सूर्य [illegible] [illegible] हैं [यत्र] जिस स्थानमें [ते] वे सुकृत् लोग [ईयुः] गए हुए हैं [तत्र] उस स्थान
[illegible] [illegible] सविता] प्रकाशमान आदित्य [दधातु] स्थापित करे ॥ ५५ ॥
[illegible] [वही] वहन करनेवाले इन दो बैलोंको [ते योजये] तेरे वहन करनेके लिए [[illegible]]
[illegible] जोडता हूं । किस लिए ? [असुनीताय] जिसमेंसे प्राण निकाल दिए गए हैं उस असु-नीत [illegible]
[illegible] वहन करनेके लिए । अथवा अ-सु भी का अर्थ है जो कि सुखपूर्वक [illegible] जाता जाय । जिसके द्वारे [illegible]
[illegible] होती हो [[illegible]] उन बैलोंसे [यमस्य सदनं इति] यह यमका घर है इस प्रकार [[illegible]] [illegible]
[illegible] ॥ ५६ ॥

भावार्थ [illegible] [illegible] ! तुम देवोंके लिए उत्तम स्थान दो । जिस स्थानमें कि पूर्व [illegible]
[illegible] है उसे स्थानमें तुम दोनों [illegible] मार्गोंसे आए हुए थे [illegible] । ([illegible] मंत्र ५० से ऐसा पता [illegible] कि [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] है) ॥ ५१ ॥

[illegible] [illegible] अदिति तुम [illegible] [illegible] [illegible] पुत्रवत् [illegible] मार्गकी [illegible] [illegible] तुझे [illegible]
[illegible] [illegible] ॥ ५४ ॥

हे [illegible] ! [illegible] [illegible] [illegible] रक्षा करो । [illegible] रक्षा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥ ५५ ॥

एतत् त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूह यदिहाबिभः पुरा ।
इष्टापूर्तमनुसंक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु ॥ ५७ ॥
अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व मेदसा पीवसा च ।
नेत् त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग् विधक्षन् परीङ्खयातै ॥ ५८ ॥
दण्डं हस्तादाददानो गतासोः सह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन ।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वा मृधो अभिमातीर्जयेम ॥ ५९ ॥
धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।
समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ् त्वमेह्युप जीवलोकम् ॥ ६० ॥ (१२)

अर्थ– हे मृत पुरुष! [एतत् प्रथमं वासः] यह स्वकर्मोचित मुख्य वस्त्र [त्वा नु आ अगन्] तुझे प्राप्त हुआ है। [यत् इह पुरा अबिभः] जिस वस्त्रको पहिले यहांपर तू पहिना करता था [तत्] उस वस्त्रको [अप ऊह] छोड दे। [यत्र] जहां [ते बहुधा विबन्धुषु दत्तं] तेरा नाना विबन्धुओंमें जो दान है उसको [विद्वान्] जानता हुआ [इष्टापूर्तं] इष्टापूर्तको अर्थात् यज्ञ [illegible] उसको [अनुसंक्राम] प्राप्त हो। विबन्धु = जिसका बन्धु नहीं रहा है अर्थात् अनाथ गरीब आदि ॥ ५७ ॥

हे मृत! [गोभिः] इनसे उत्पन्न हुई हुई [अग्नेः वर्म] अग्निकी ज्वालारूपी कवचसे [परि व्ययस्व] अपनेको चारों ओरसे ढक ले अर्थात् अग्निकी ज्वालाओंके बीचमें तू हो जा जिससे कि तेरा [illegible] सके। [सं] और तू [पीवसा मेदसा] अपने अन्दर [illegible] चर्बीसे [प्रोर्णुष्व] अपने आपको आच्छादित कर। इस प्रकार करनेसे [हरसा धृष्णुः] अपने तेजसे धर्षण करनेवाला [illegible] [जर्हृषाणः] आनन्द [illegible] हुआ हुआ [illegible] (विधक्षन्) तुझे [illegible] जलाता हुआ [illegible] तुझे [illegible] [परीङ्खयातै] इधर उधर [illegible] अर्थात् [illegible] डालेगा ॥ ५८ ॥

[illegible] ऐसे [illegible] [illegible] लेता हुआ [illegible] तेज तथा [illegible] तू [illegible] इसी संसारमें स्थित हो। [इह] इस संसारमें [वयं] हम [सुवीराः] [illegible] [illegible] सब [illegible] को तथा (अभिमातीः) अभिमानी शत्रुओंको (जयेम) जीतें ॥ ५९ ॥

(मृतस्य) मृत राजाके (हस्तात्) हाथसे [illegible] (धनुः आददानः) धनुष लेता हुआ (क्षत्रेण वर्चसा बलेन सह) क्षात्र तेज व बलके साथ (पुष्टं) पुष्टिकारक (भूरि वसु) बहुत धन (सं आ गृभाय) ग्रहण कर। और फिर [त्वं] तू [जीवलोकं उप] जीवलोक अर्थात् इस [illegible] [अर्वाङ् एहि] हमारे सामने आ ॥ ६० ॥

भावार्थ— मरनेपर पुराने वस्त्रोंको त्यागकर शवको नवीन स्वकर्मोचित वस्त्र पहिनाना चाहिये ॥ ५७ ॥

मुर्देको जलाते हुए घी [illegible] मात्रामें [illegible] चाहिए ताकि अग्नि खूब जोरसे प्रज्वलित होकर [illegible] जावे। [illegible] कोई भी भाग [illegible] रहने न पावे ॥ ५८ ॥

मृतके हाथसे [illegible] लेकर तू [illegible] सामर्थ्यों व [illegible] तेज बल आदिसे युक्त हो। हम सुवीर होकर शत्रु और [illegible] करें ॥ ५९ ॥

मृत राजाके हाथसे [illegible] लेकर [illegible] धन [illegible] कर व [illegible] हुआ [illegible] के लिए [illegible] कर ॥ ६० ॥

[३]

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम् ।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥ १ ॥
उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥ २ ॥
अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम् ।
अन्धेन यत् तमसा प्रावृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम् ॥ ३ ॥
प्रजानत्यघ्न्ये जीवलोकं देवानां पन्थामनुसंचरन्ती ।
अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व स्वर्गं लोकमधि रोहयैनम् ॥ ४ ॥

अर्थ– [इयं नारी] यह स्त्री [पतिलोकं वृणाना] पति कुलकी कामना करती हुई [मर्त्य] हे मनुष्य ! [प्रेतं] मृत पतिको (छोडकर) [पुराणं धर्मं अनुपालयन्ती] पुरातन धर्मका अनुपालन करती हुई अर्थात् धर्ममें स्थित हुई हुई (त्वा उप निपद्यते) तेरे पास आई है । तस्यै उस धर्ममें स्थित नारीके लिए (इह) इस संसारमें (प्रजां) संतानको (द्रविणं च) और धनको [धेहि] दे ॥ १ ॥

(नारि) हे स्त्री ! (गतासुं एतं उपशेषे) जो तू गतप्राण अर्थात् इस मृत पतिके पास सो रही है वह तू (आ इहि) उस मृत पतिके पाससे चली आ और [जीवलोकं अभि] इस जीवलोक अर्थात् संसारके प्रति (उत् ईर्ष्व) उठकर आ अर्थात् संसारमें चली आ । संसारमें आकर (हस्तग्राभस्य) विवाहमें तेरा पाणिग्रहण करनेवाले (दधिषोः) व तेरा पालनादि रूपसे धारण करनेवाले (तव पत्युः) तेरे पतिकी (जनित्वं) संतानको (संबभूथ) प्राप्त हो ॥ २ ॥

(जीवां) जीवित (नीयमानां) स्मशानकी ओर ले जाई गई व (मृतेभ्यः) मरेहुए मनुष्योंसे (परिणीयमानाम्) वापिस घरको लेजाई गई (युवतिं) जवान स्त्रीको (अपश्यं) मैंने देखा है । (यत्) क्योंकि वह स्त्री (अन्धेन तमसा) शोकजन्य गहरे अंधकार से (प्रावृता आसीत्) ढकी हुई थी अर्थात् अत्यन्त शोकपूर्ण थी । (तत्) इसलिये (एनां) इस (अपाचीं) पीछे की तरफ अर्थात् घरकी ओर आनेवाली को (प्राक्तः) यहां सामने (अनयम्) लाया हूं ॥ ३ ॥

(अघ्न्ये) हे मारनेके अयोग्य स्त्री ! (जीवलोकं प्रजानती) संसारको भली भांति जानती हुई और (देवानां पन्थां अनुसंचरन्ती) देवोंके मार्गका अनुसरण करती हुई अर्थात् देवोंके मार्गपर चलती हुई (अयं) यह जो (ते) तेरा (गोपतिः) गोपति है (तं जुषस्व) उससे प्रीति कर । और इस प्रकार (एनं) इस गोपतिको (स्वर्गं लोकं अधि रोहय) स्वर्गलोकमें पहुंचा ॥ ४ ॥

भावार्थ— पतिके मर जानेपर सन्तानकी कामना करनेवाली स्त्री धर्मानुकूल दूसरे पुरुषको पति बनाकर धन व सन्तानकी प्राप्ति करे । वह पुरुष भी उसे पत्नी बनाकर सन्तान व धनसे उसका पालन पोषण करे ॥ १ ॥

हे नारि ! तू इस मृत पतिके लिये शोक करना छोड दे और संसारमें आकर पाणिग्रहण करनेवाले तेरे पतिकी संतानको प्राप्त कर ॥ २ ॥

मृत पुरुषके पीछे पीछे स्मशान भूमिमें जाती हुई स्त्रीको वापिस लौटा लाया हूं । वह शोकसे व्याकुल थी, इसे यहां पर (घर पर) ले आया हूं ॥ ३ ॥

हे स्त्री ! तू संसारको भली प्रकारसे जानती हुई तथा देवताओंके मार्गोंका अनुसरण करती हुई इस तेरे पतिसे प्रीति कर । उसकी उत्तम कामनाओंमें सहायक होकर उसे स्वर्गलोक प्राप्त करा ॥ ४ ॥

उप द्यामुप वेतसमवत्तरो नदीनाम्। अग्ने पित्तमपामसि ॥ ५ ॥
यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः।
क्याम्बूरत्र रोहतु शाण्डदूर्वा व्यल्कशा ॥ ६ ॥
इदं त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व।
संवेशने तन्वा चारुरेधि प्रियो देवानां परमे सधस्थे ॥ ७ ॥
उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रवौकः कृणुष्व सलिले सधस्थे।
तत्र त्वं पितृभिः संविदानः सं सोमेन मदस्व सं स्वधाभिः ॥ ८ ॥

अर्थ— (नदीनां) शब्द करते हुए-गर्जना करते हुए (अपां) जलोंकी सम्बन्धिनी (द्यां उप) द्यु के समीप यहां द्यु शब्द अवका का वाची है। जलके ऊपर रुकी हुई जमीनके रूपमें जो काई (काई) का नाम अवका है। तथा (वेतसं उप) वृक्षों के समीप (नदीके किनारे लगनेवाले वृक्षोंका नाम वेतस है) समीप अथवा उप शब्द सप्तम्यर्थ प्रतिपादक है। अवकामें तथा वेतस में [अवत्तरः] अत्यन्त रक्षक सारभूतांश है। वेतस व अवका का अग्नीय सार होना यजुर्वेद में कहा गया है "अपां वा एतत् पुष्पं यद् वेतसः। अपां शरोऽवका। वेतसशाखया चावकाभिश्च विकर्षति" इति (तै० सं० ५।४।४।२) (अग्ने) हे अग्नि! तू भी (अपां पित्तम्) जल सम्बन्धी पित्त धातु है ॥ ५ ॥

[अग्ने] हे अग्नि! [यं] जिस प्रेत को तूने [समदहः] जलाया है। [तं उ] उसे [पुनः] फिर सम्पूर्णतया दग्ध हो चुकने पर [निर्वापय] बुझा डाल। [अत्र] इस मुर्दे के जलनेके स्थान पर [क्याम्बूः] जितना जल छिड़कना चाहिए कि जिससे [व्यल्कशा] विविध शाखाओंवाली [शाण्डदूर्वा] दुःखनाशक दूर्वा घास [रोहतु] उगे ॥ ६ ॥

[ते] तेरे लिए [इदं एकं] यह एक ज्योति है (उ) और [परः] आगे [ते एकं] तेरे लिए एक ज्योति है पर [तृतीयेन ज्योतिषा] तीसरी ज्योति से [सं विशस्व] अच्छी प्रकार प्रविष्ट हो। अर्थात् उस तीसरी ज्योतिमें प्रविष्ट हो। और उस तीसरी ज्योतिमें [संवेशने] अच्छी प्रकार प्रविष्ट होनेपर [परमे सधस्थे] उस उत्तम सबके रहनेके स्थान में [देवानां प्रियः] देवोंका प्यारा हुआ हुआ [तन्वा चारुः] शरीरसे उत्तम हुआ हुआ [एधि] बढ़ ॥ ७ ॥

[उत्तिष्ठ] उठ, [प्रेहि] जा (प्रद्रव) दौड़ (सधस्थे) जहां सब इकट्ठे रहते हैं ऐसे (सलिले) अन्तरिक्षमें (ओकः) घर [कृणुष्व] बना। (तत्र) वहां अन्तरिक्षमें [त्वं] तू [पितृभिः संविदानः] अन्य पितरोंके साथ मिला हुआ ऐकमत्यको प्राप्त हुआ हुआ [सोमेन] सोमसे (संमदस्व) अच्छी तरह आनन्दित हो और [स्वधाभिः] स्वधाओंसे [सं] अच्छी प्रकार तृप्त हुआ हुआ आनन्दित हो ॥ ८ ॥

भावार्थ— हे अग्नि! क्योंकि तू जलोंका सम्बन्धी है अतः तुझे जलसे सम्बन्ध रखनेवाली अवका वनस्पति आदि ओषधियोंसे शांत करता हूं ॥ ५ ॥

प्रेतके सम्पूर्णतया दग्ध हो चुकने पर आगको बुझा डालना चाहिए व वहां पर इतना पानी छिड़कना चाहिए कि जिससे वहां पर दूर्वा घास निकल आवे ॥ ६ ॥

मनुष्य अपने अन्दर देवत्वशक्ति बढ़ावे और आत्मज्योति को प्राप्त करनेका यत्न करे ॥ ७ ॥

पितर अन्तरिक्षमें भी रहते हैं अर्थात् अन्तरिक्ष भी पितरोंके रहनेके लिए एक लोक है वहां जाकर निवास करते हैं ॥ ८ ॥

०

प्र च्यवस्व तन्वं सं भरस्व मा ते गात्रा वि हायि मो शरीरम् ।
मनो निविष्टमनुसंविशस्व यत्र भूमेर्जुषसे तत्र गच्छ ॥ ९ ॥
वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मधुना घृतेन ।
चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु ॥ १० ॥ (११)
वर्चसा मां समनक्त्वग्निर्मेधां मे विष्णुर्न्यनक्त्वासन् ।
रयिं मे विश्वे नि यच्छन्तु देवाः स्योना मापः पवनैः पुनन्तु ॥ ११ ॥
मित्रावरुणा परि मामधातामादित्या मा स्वरवो वर्धयन्तु ।
वर्चो म इन्द्रो न्यनक्तु हस्तयोर्जरदष्टिं मा सविता कृणोतु ॥ १२ ॥

अर्थ- (प्रच्यवस्व) आगे बढ उन्नति कर। (तन्वं) शरीरका (सं भरस्व) उत्तमतया पालन पोषण कर। (ते गात्रा) तेरे हाथ पैर आदि गात्र (मा वि हायि) मत छूटें शुष्क होकर मत गले जावें। [मो शरीरं] और तेरा शरीर भी मत छूटे। [मनः निविष्टं] जहां तेरा मन निविष्ट हो अर्थात् जहां तेरा मन जावे वहां (अनु सं विशस्व) मन की इच्छानुसार प्रवेश कर। (यत्र) जहां (भूमेः जुषसे) भूमि से प्रीति करता है अर्थात् जिस देशसे तेरा मन प्यार करता है (तत्र) उस देशमें (गच्छ) जा ॥ ९ ॥

(सोम्यासः पितरः मा वर्चसा अञ्जन्तु) सोम संपादन करनेवाले पितर मुझे तेजसे व्यक्त करें। (देवाः मधुना घृतेन) देव मुझे माधुर्ययुक्त घृतसे व्यक्त करें। (चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तः) देखनेके लिए मुझे अच्छी तरह तारते हुए अर्थात् समर्थ बनाते हुए (जरदष्टिं मा) जिसका खानपान शिथिल हो गया है ऐसे मुझको (जरसे) वृद्धावस्था तक (वर्धन्तु) बढावें अर्थात् जिस वृद्धावस्थामें खाने पीने की शक्ति क्षीण हो जाती है उस वृद्धावस्था तक मुझे पहुंचाएं। ... दीर्घायुवाला मुझे बनाएं, उससे पूर्व मैं क्षीण न होऊं ॥ १० ॥

(अग्निः) अग्नि (मा) मुझे (वर्चसा) तेजसे (समनक्तु) अच्छी प्रकार से युक्त करे। (विष्णुः) व्यापक परमात्मा (मे आसन्) मेरे मुखमें (मेधां नि अनक्तु) बुद्धिको उत्तमतया स्थापित करे। (विश्वे देवाः) सब देव (मे रयिं) मेरे लिये धन (नियच्छन्तु) प्रदान करें। (स्योनाः आपः) सुखकारी जल (मा) मुझे (पवनैः) पवित्र साधनोंके साथ (पुनन्तु) पवित्र करें ॥ ११ ॥

[मित्रावरुणौ] रात व दिन (मा) मुझे (परि अधाताम्) चारों ओरसे धारण करें अर्थात् मेरी सब ओरसे रक्षा करें। (स्वरवः) शत्रुओंको उपताप पहुंचानेवाले अथवा शब्द करते हुए (आदित्याः) अदिति के पुत्र देवगण (मा वर्धयन्तु) मुझे बढावें। (इन्द्रः) ऐश्वर्यवाली (मे हस्तयोः) मेरे दोनों हाथोंमें [वर्चः न्यनक्तु] तेज स्थापित करे। और [सविता] सर्व प्रेरक या सबका उत्पादक देव (जरदष्टिं कृणोतु) मुझे दीर्घायु बनावे ॥ १२ ॥

भावार्थ- हे मनुष्य तू उन्नति कर। अपने शरीरका ठीक ठीक पालन कर जिससे तेरी आकस्मिक मृत्यु न होकर ... न हो। संसारके जिस भूमिभागमें तेरा मन जानेको करे वहां तू आनन्दसे जा। जो देश तुझे अच्छा मालूम दे वहां तू जा ॥ ९ ॥

दीर्घायु देना व प्रत्येक को उसकी पूर्णावस्थातक पहुंचाना पितरों का कार्य है ॥ १० ॥

अग्नि से मुझे तेज प्राप्त हो। विष्णु परमात्मा मुझे अत्यन्त बुद्धिमान् बनावे। देवगण मुझे धनधान्य सम्पन्न करें तथा जलाभिषेक पर्यंत मुझे सदा पवित्र करता रहे जिससे कि मैं सुखपूर्वक जीवन बिताऊं ॥ ११ ॥

रात व दिन मेरी सब ओरसे रक्षा करें। अन्य अनन्त शक्तिमान् देवगण मेरी वृद्धि करें। इन्द्र मेरे हाथोंमें बल देवे व सविता देव मुझे दीर्घायु प्रदान करे। इस प्रकार सर्व देव मोपर अनुग्रह करें जिससे कि मैं सुखसे जीवन व्यतीत कर सकूं ॥ १२ ॥

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥ १३ ॥
परा यात पितर आ च यातायं वो यज्ञो मधुना समक्तः ।
दत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं दधात ॥ १४ ॥
कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोभर्यर्चनानाः ।
विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरत्रिरवन्तु नः कश्यपो वामदेवः ॥ १५ ॥
विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव ।
शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः ॥ १६ ॥

अर्थ– (यः) जो (मर्त्यानां प्रथमः ममार) मनुष्योंमें सबसे प्रथम मरा और (यः) जो (एतं लोकं प्रथमः प्रेयाय) इस लोक यमलोक को सबसे पहिले गया उस [जनानां संगमनं] जनों के संगमन [वैवस्वतं यमं राजानं] विवस्वान् के पुत्र यम राजाकी [हविषा सपर्यत] हवि द्वारा पूजा करो ॥ १३ ॥

(पितरः) हे पितरो ! [परायात] यज्ञ समाप्ति पर वापस लौट जाओ । (च) और फिर [आयात] आओ क्योंकि [अयं यज्ञः वः] यह यज्ञ तुम्हारे लिए [मधुना समक्तः] मधुर भाजनसे तैयार किया हुआ है । [इह] इस यज्ञमें [द्रविणं] धनों को [दत्तो] दो । [भद्रं सर्ववीरं रयिं च] और कल्याणकारी तथा सर्व वीरोंवाले पुष्ट रयि अर्थात् सम्पत्ति- समृद्धि को [नः] हमें [दधात] पुष्ट करो । [मधु का अर्थ है मधुररसपूर्ण भाजन । इसको ऐ. ब्रा. १। – एतद् वै मधु दैव्यं यद् आज्यम्] ॥ १४ ॥

[कण्वः] बुद्धिमान्, [कक्षीवान्] शासन करनेवाला (पुरुमीढ) बहुधनवाला (अगस्त्य) पापका नाश कर देनेवाला (श्यावाश्वः) काले घोडोंवाला या ज्ञानी (सोभरी) ऐश्वर्यवाला (अर्चनानाः) पूजनीय स्वभावका या उत्तम जीवनवाला (विश्वामित्रः) सबका मित्र तथा (अयं जमदग्निः)यह वह है जिसकी सदा अग्नि प्रज्वलित रहती है, (कश्यपः) सूक्ष्मदर्शी तथा (वामदेवः) उत्तम व्यवहारवाला ये सब [नः] हमारी [अवन्तु] रक्षा करें ॥ १५ ॥

हे [विश्वामित्र] सबके मित्र (जमदग्ने) हे अग्निके प्रकाशक (वसिष्ठ) हे अतिशय श्रेष्ठ [भरद्वाज] हे अन्नदाता- पालक [गोतम] हे उत्तम स्तोता [वामदेव] हे प्रशंसनीय व्यवहारवाले [सुसंशासः] उत्तम तथा स्तुति करने योग्य (पितरः) पितरो ! तुम [नः मृडत] हमें सुखी करो क्योंकि [शर्दिः अत्रिः] वस्तिविशिष्ट अत्रिने [नमोभिः] नमोंसे हमें [अग्रभीत्] ग्रहण किया है अर्थात् वह हमें अन्न देता है ॥ १६ ॥

भावार्थ मनुष्योंमेंसे जो सबसे प्रथम मनुष्य विवस्वान् का पुत्र यम था उसके इस लोकमें आकर मरा और फिर सबसे पहिले यमलोकमें गया अतः उस लोकका नाम उसके नामसे यमलोक हो गया ॥ १३ ॥

पितरों का यज्ञमें मधुर भोजन देना चाहिए जिससे वे भोजनदाताओंको धनधान्य देवें व उत्तम वीर सन्तान से युक्त करें ॥ १४ ॥

कैलाश आदि गुण विशिष्ट पितर हमारी सदा रक्षा करें ॥ १५ ॥

हे उपरोक्त विशेषण विशिष्ट पितरो हमें सुखी करो ॥ १६ ॥

क्रत्वे मृजाना अति यन्ति रिप्रमायुर्दधानाः प्रतरं नवीयः ।
आप्यायमानाः प्रजया धनेनाध स्याम सुरभयो गृहेषु ॥ १७ ॥
अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मधुनाभ्यञ्जते ।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमासु गृह्णते ॥ १८ ॥
यद् वो मुद्रं पितरः सोम्यं च तेनो सचध्वं स्वयशसो हि भूत ।
ते अर्वाणः कवय आ शृणोत सुविदत्रा विदथे हूयमानाः ॥ १९ ॥
ये अत्रयो अङ्गिरसो नवग्वा इष्टावन्तो रातिषाचो दधानाः ।
दक्षिणावन्तः सुकृतो य उ स्थासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम् ॥ २० ॥ (१४)

अर्थ—[क्रत्वे] ज्ञानमें [मृजानाः] पवित्र होते हुए [प्रतरं] दीर्घ [नवीयः] नवीन [आयुः] आयुको (दधानाः) धारण करते हुए (रिप्रं) पापका (अतियन्ति) अतिक्रमण करते हैं पापसे बचते हैं । और इस प्रकार पापसे बचकर (प्रजया) प्रजा द्वारा व (धनेन) धनद्वारा (आप्यायमानाः) बढते हुए (गृहेषु) घरोंमें (सुरभयः) सुगंधवाले अर्थात् प्रशंसनीय गुणोंवाले (स्याम) होवें ॥ १७ ॥

(क्रतुं) यज्ञको (मधुना) मधुर आज्यसे [अञ्जते] संयुक्त किया जाता है । [वि अञ्जते] विशेष किया जाता है [सं अञ्जते] मिलकर प्राप्त किया जाता है [अभि अञ्जते] चारों ओर विस्तार किया जाता है तथा सब मिलकर उसकी [रिहन्ति] अर्चना करते हैं । अथवा यज्ञशेष [रिहन्ति = लिहन्ति] चाटते हैं । [हिरण्यपावाः] सुवर्णादि धनके दानसे वा हिरण्यसे पवित्र करनेवाले [सिन्धोः उच्छ्वासे] समुद्रकी वृद्धिके समय (पतयन्तं) जाते हुए [उक्षणं] वृष्टि करनेवाले वा सिंचन करनेवाले [पशुं] पशुको देखनेवाले को [आसु] इनमें [गृह्णते] लेते हैं ॥ १८ ॥

[पितरः] हे पितरो ! [वः यत् मुद्रं सोम्यं च] तुम्हारा जो हर्षप्रद व सौम्य कार्य है [तेनो] उस द्वारा (सचध्वं) हमें सेवित करो अर्थात् युक्त करो । (हि) निश्चयसे तुम (स्वयशसः) अपने यशसे ही यशस्वी [भूत] होओ । [अर्वाणः] गतिवाले अर्थात् निरालसी [कवयः] क्रान्तदर्शी तथा [सुविदत्राः] उत्तम धनवाले (हूयमानाः) बुलाये गए [ते] वे तुम (विदथे) यज्ञमें हमारे स्तोत्रप्रार्थनाको [आशृणोत] आकर सुनो ॥ १९ ॥

[ये] जो तुम [अत्रयः] सदा भ्रमणशील अथवा [अङ्गिरसः] ज्ञानी [नवग्वाः] नवीन [इष्टावन्तः] इष्टसिद्धि प्राप्ति करनेवाले [रातिषाचः] दान देनेवाले [दधानाः] पालन पोषण करनेवाले [दक्षिणावन्तः] दान युक्त, [सुकृतः] उत्तम कर्म करनेवाले [स्थ] हो वे तुम (अस्मिन् बर्हिषि) इस यज्ञमें [आसद्य] बैठकर [मादयध्वम्] आनन्दित होओ । हवि खाकर तृप्त होओ । अत्रयः—सब बातका सत्कार करनेवाले ॥ २० ॥

भावार्थ— हम ज्ञान द्वारा अपनेको शुद्ध करते हुए पापसे बचें व दीर्घ जीवन प्राप्त करें । तथा प्रजा संतति आदि से बढते हुए हुए सुन्दर गुणों व पूर्ण होवें ॥ १७ ॥

किया हुआ यज्ञ मीठा फल देनेवाला बने ॥ १८ ॥

पितरोंके समृद्धि करनेके लिए यह साधन भूत है ॥ १९ ॥

जिनके सभी कर्म यज्ञ हो चुके हैं ऐसे ज्ञानी भ्रमण करनेवाले इष्टपूर्त करनेवाले दानी उत्तम कर्म करनेवाले पितर हमारे यज्ञमें आवें व हवि खाकर तृप्त होवें— आनन्द मनावें ॥ २० ॥

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः ।
शुचीदयन् दीध्यत उक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन् ॥ २१ ॥
सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तो अयो न देवा जनिमा धमन्तः ।
शुचन्तो अग्निं वावृधन्त इन्द्रमुर्वीं गव्यां परिषदं नो अक्रन् ॥ २२ ॥
आ यूथेव क्षुमति पश्वो अख्यद् देवानां जनिमान्त्युग्रः ।
मर्तासश्चिदुर्वशीरकृप्रन् वृधे चिदर्य उपरस्यायोः ॥ २३ ॥
अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवस्रन्नुषसो विभातीः ।
विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवा बृहद् वदेम विदथे सुवीराः ॥ २४ ॥

अर्थ—[यथा नः परासः प्रत्नासः पितरः] जैसे हमारे श्रेष्ठ पुराने पितरोंने (ऋतं आशुषाणाः) सत्य वा यज्ञको व्याप्त करते हुए [शुचि इत् अयन्] प्रकाशमान-दीप्तस्थान को ही प्राप्त किया व [दीध्यतः] दीप्यमान होते हुए, [उक्थशासः] उक्थोंसे प्रशंसा-स्तुति करते हुए [क्षामा = क्षाम] क्षयकारी अन्धकारको [भिन्दन्तः] नष्ट करते हुए (अरुणीः) उषाओं-की किरणोंको [अपव्रन्] प्रकाशित किया था उसी प्रकार हे अग्नि ! तू भी उषाओं को प्रकाशित कर ॥ २१ ॥

[सुकर्माणः] उत्तम कर्म करनेवाले [सुरुचः] उत्तम कान्तिवाले [देवयन्तः] देवत्वकी कामना करते हुए [अयः न] जिस प्रकार कि सुवर्णकार तपाकर लोहेको शुद्ध करते हैं उसी प्रकार [जनिमा धमन्तः] अपने जन्मोंको तपस्वी तप से तपाकर शुद्ध करते हुए [देवाः] देवगण [अग्निं] अग्निको [शुचन्तः] दीप्त करते हुए, [इन्द्रं वावृधन्तः] इन्द्रको अर्थात् आत्मा ऐश्वर्यों की वृद्धि करते हुए [नः] हमारे लिये [उर्वीं] बड़ी भारी विस्तृत [गव्यां] गौओंके समूह-वाली [परिषदम्] परिषद् [अक्रन्] बनाते हैं ॥ २२ ॥

[उग्रः] तेजस्वी [अग्नि] [देवानां जनिमा] देवोंके जन्मोंको उत्पत्तिको [अन्ति] समीपसे [आ अख्यत्] देखता है। अर्थात् देवोंकी उत्पत्तिके विषयमें अग्निको अच्छी तरहसे मालूम है। इसमें दृष्टान्त देते हैं कि [क्षुमति पश्वः यूथा इव] अर्थात् जिस प्रकार घासादि अन्नयुक्त स्थानमें चरते हुए पशुओंके समूहों को उनका चरानेवाला ग्वाला जानते हैं। [मर्तासः चित्] मनुष्य भी [उर्वशीः अकृप्रन्] विस्तृत क्रियाओंको करते हैं और [अर्यः] स्वामी [उपरस्य आयोः] समीपस्थ मनुष्यकी वृद्धिके लिए किया करता है ॥ २३ ॥

[ते] तेरे लिए [अग्निके लिए] हमने [अकर्म] पूजा स्तुति आदि उत्तम कर्म किए हैं इसलिए (स्वपसः) श्रेष्ठ कर्मोंवाले [अभूम] हुए हैं। इस वास्ते हमारे लिए [विभातीः] विविध प्रकारसे प्रकाशित होती हुई [उषसः] उषायें (ऋतं अवस्रन्) सत्यमें निवास करती हैं अर्थात् सत्य नियमोंसे आश्रित हुई हुई नियमसे आकाशमें उदित होती रहती हैं। [यत् देवाः अवन्ति] जिस जिसकी देवगण रक्षा करते हैं (तत् विश्वं) वह सब हमारे लिए [भद्रं] कल्याणकारी हो। हम [सुवीराः] उत्तम बलवाले हुए हुए (विदथे) यज्ञमें [बृहत् वदेम] सुनने लायक बहुत बोलें ॥ २४ ॥

भावार्थ- जिस प्रकार यज्ञादिसे तेज प्राप्त करके प्रकाशित होते हुए हमारे पुरातन पितरोंने अन्धकारका विनाश करके उषाको प्रकट किया था उसी प्रकार अग्नि तूभी हमारे लिये उषा प्रकट कर ॥ २१ ॥

उत्तम कर्म करनेवाले देवगण प्रथम अपने जन्मको तपस्यासे शुद्ध करके अनन्तर अग्निको प्रदीप्त करते हैं। आत्मिक आधिभौतिक तीनों प्रकार की अग्नियें हैं। इन तीनों प्रकार की अग्नियें प्रदीप्त करके ऐश्वर्यको बढ़ाते हैं व हम सांसारिक जीवोंके लिए गौओंके समूहवाली परिषद् बनाते हैं। गौओंके समूहवाली परिषद् का मतलब यह है कि हमारे लिए अनेक प्रकार की गौवें प्रदान करते हैं तथा सांसारिक सुख यह बड़े अथवा गौका अर्थ है वाणी तदनुसार इसका अभिप्राय यह है कि

इन्द्रो मा मरुत्वान् प्राच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २५ ॥
धाता मा निर्ऋत्या दक्षिणाया दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २६ ॥
अदितिर्मादित्यैः प्रतीच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २७ ॥
सोमो मा विश्वैर्देवैरुदीच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २८ ॥
धर्ता ह त्वा धरुणो धारयाता ऊर्ध्वं भानुं सविता द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २९ ॥
प्राच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३० ॥ (१५)

अर्थ— [मरुत्वान् इन्द्रः] मरुतोंवाला इन्द्र [मा] मेरी (प्राच्याः दिशः) पूर्व दिशासे अर्थात् पूर्व दिशासे आनेवाली आपत्तियोंसे (पातु) रक्षा करे । (बाहुच्युता पृथिवी) बाहुओंसे दी गई अथवा बाहुओंसे प्राप्त हुई अर्थात् हाथोंसे दी गई या हाथोंसे की गई पृथिवी (इव) जिस प्रकार से कि (उपरि) ऊपर (द्यां) द्युकी रक्षा करती है । (लोककृतः) लोकोंके बनानेवालों तथा (पथिकृतः) मार्गोंको बनानेवालों की हम (यजामहे) पूजा करते हैं (ये) जो कि तुम [इह] यहांपर [देवानां] देवों के बीचमें (हुतभागाः) जिनके लिए कि भाग दिया गया है ऐसे (स्थ) हो ॥ २५ ॥

(धाता) धारण करनेवाला (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशाकी (निर्ऋत्याः) निर्ऋति के द्वारा आपत्तियोंसे (मा पातु) मेरी रक्षा करे । शेष पूर्ववत् ॥ २६ ॥

(अदितिः) अखण्डनीय शक्ति अदीन शक्ति (आदित्यैः) आदित्यों द्वारा (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम दिशासे आनेवाली विपत्तियोंसे (मा पातु) मेरी रक्षा करें । शेष पूर्ववत् ॥ २७ ॥

(सोमः) सोम (विश्वैः देवैः) सब देवोंके साथ (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशासे आनेवाली आपत्तियोंसे (मा पातु) मेरी रक्षा करें । शेष पूर्ववत् ॥ २८ ॥

भावार्थ— उन्नति कर करके हमें नाना प्रकार के उपदेश देते हैं। देवगण हमारे लिए क्या करते हैं उसका यहां पर दिग्दर्शन कराया गया है ॥ १२ ॥

देवोंके उत्पन्न होनेका कर्म रहस्य जानकर उसके अनुसार शुभ कर्म करना चाहिये ॥ १३ ॥

शांति के लिए कर्म करने से ही हम श्रेष्ठ कर्मवाले हो सकते हैं व तभी हमारे लिए उषा आदि प्रकाशमान पदार्थ सत्य नियम में स्थित होकर प्रकाशित होते रहते हैं। देवोंसे रक्षित पदार्थ भी सभी हालतमें हमारे लिए कल्याणकारी होते हैं। हमें चाहिये कि हम नित्यप्रति स्तुति उपासना आदि प्रभूत मात्रामें करते रहें ॥ १४ ॥

मरुतों से युक्त इन्द्र मेरी पूर्व दिशासे आनेवाली आपत्तियोंका निवारण करके रक्षा करें जिस प्रकारसे कि पृथिवी द्यु की। हमारे लिये लोकों व मार्गोंके बनानेवाले देवगणों की हम पूजा करते हैं व हविदान करते हैं जो कि देवगण इस संसारमें विद्यमान हैं ॥ १५ ॥

सब दिशाओंसे हमारी रक्षा होवे और हमें श्रेष्ठ मार्ग प्राप्त होवे ॥ २६–२९ ॥

दक्षिणायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३१ ॥
प्रतीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३२ ॥
उदीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३३ ॥
ध्रुवायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३४ ॥
ऊर्ध्वायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३५ ॥
धर्तासि धरुणोऽसि वंसगोऽसि ॥ ३६ ॥
उदपूरसि मधुपूरसि वातपूरसि ॥ ३७ ॥

अर्थ- (हे) त्रिशत्ति (धरुणः धर्ता) सबसे धारण किया जानेवाला धारक (त्वा) तुझ (ऊर्ध्व धारवाले) ऊंचा धारण करे । [सविता] सूर्य (भानुं यो द्युम् उपरि) प्रकाशमान द्युको जिस प्रकारसे कि ऊपर धारण किए हुए है। शेष पूर्ववत् ॥ २९ ॥

[पुरा संवृतः] शरीरसे ढका हुआ अर्थात् सशरीर मैं अथवा सब प्रकारकी पूर्तिसे परिपूर्ण मैं [प्राच्यां दिशि] पूर्व दिशामें [स्वधायां] स्वधामें [त्वा] तुझे (आदधामि) रखता हूं—स्थापित करता हूं। किस प्रकारसे ! जिस प्रकार से कि बाहुच्युत पृथिवी ऊपर द्यु लोकको स्थापित करती है। शेष पूर्ववत् ॥ ३० ॥

[दक्षिणायां दिशि] दक्षिण दिशामें ... इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३१ ॥

[प्रतीच्यां दिशि] पश्चिम दिशामें इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३२ ॥

[उदीच्यां दिशि] उत्तर दिशामें इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३३ ॥

[ध्रुवायां दिशि] स्थिरनीचेकी दिशामें इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३४ ॥

[ऊर्ध्वायां दिशि] ऊपरकी दिशामें इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३५ ॥

हे परमात्मन् ! तू [धर्ता असि] सबका धारण करनेवाला है । तू [धरुणः] सबसे धारण किया जानेवाला है । तू [वंसगः] संभजनीय पदार्थोंका प्राप्त करानेवाला है ॥ ३६ ॥

तू [उदपूः असि] सब संसारको जल पहुंचानेवाला है । तू [मधुपूः असि] माधुर्यगुणोंसे रसोंका पहुंचाने वाला है व तू [वातपूः असि] सबको प्राणवायु पहुंचाने वाला है ॥ ३७ ॥

भावार्थ-परमेश्वर सबका आधार है ॥ ३६ ॥
हे परमात्मा तू ही सबको जल मधुर रस तथा प्राणवायु जिसके बिना संसार की स्थिति कठिन है देता है ॥ ३७ ॥

इतश्च मामुतश्चावतां यमे इव यतमाने यदैतम् ।
प्र वां भरन् मानुषा देवयन्तो आ सीदतां स्वमु लोकं विदाने ॥ १८ ॥
स्वासस्थे भवतमिन्दवे नो युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः ।
वि श्लोक एति पथ्येव सूरिः शृण्वन्तु विश्वे अमृतास एतत् ॥ १९ ॥
त्रीणि पदानि रुपो अन्वरोहच्चतुष्पदीमन्वैतद् व्रतेन ।
अक्षरेण प्रति मिमीते अर्कमृतस्य नाभावभि सं पुनाति ॥ २० ॥(११)

अर्थ— [यत्] क्योंकि हे हविर्धाने ! तुम दोनों [यमे इव] युगलोत्पन्न सन्तान की तरह [यतमाने] संसार पोषण करनेके लिए साथ साथ प्रयत्न करनेवाले होकर [ऐतम्] विचरण करते हो, इसलिए (मां) मेरी [इतश्च अमुतश्च] इस लोकसे व परलोकसे अर्थात् इन दोनों लोकोंमें आनेवाली विपत्तियोंसे [अवतां] रक्षा करो । [मानुषाः] मनुष्यगण (देवयन्तः) देव बनने की कामना करते हुए (वां) तुम दोनोंका भरण, अच्छी प्रकारसे भरण पोषण करें । तुम दोनों [स्वं लोकं विदाने] अपने स्थान को जानते हुए [आसीदतां] इस स्थानपर बैठो ॥ १८ ॥

हे हविर्धाने ! (नः इन्दवे) हमारी ऐश्वर्यवृद्धि के लिए तुम दोनों (स्वासस्थे) सुखासन—उत्तमासन पर बैठनेवाले [भवतम्] होओ । मैं [नमोभिः] नमस्कारोंके साथ (वां) तुम दोनोंके [पूर्व्यं ब्रह्म युजे] पुरातन स्तोत्रको करता हूं । अर्थात् नमस्कारपूर्वक मैं वेदमंत्रोंसे तुम्हारी स्तुति करता हूं । [श्लोकः] यह किया हुआ स्तुतिसमूह (वि एति) तुम दोनोंको विशेष रूपसे प्राप्त होता है । इसको दृष्टान्तद्वारा समझाते हैं कि [पथ्या सूरिः इव] जिस प्रकारसे कि उत्तम मार्गोंसे विद्वान् इच्छित पदार्थको प्राप्त होता है उसी प्रकारसे यह हमसे की गई स्तुति तुमको प्राप्त होती है । [एतत्] इस हमारे द्वारा किए गए उपरोक्त स्तोत्रको (विश्वे अमृतासः) सर्व अमृत लोग (शृण्वन्तु) सुनें ॥ १९ ॥

[रूपः] रूप [त्रीणि पदानि अन्वरोहत्] तीन स्थानोंपर चढता है क्योंकि [व्रतेन] अपने उत्तम कर्मद्वारा [चतुष्पदीं अनु ऐतत्] चतुष्पदीका अनुसरण करता है । और [अक्षरेण] अपने अक्षय कर्मद्वारा (अर्कं प्रति मिमीते] सूर्यके सदृश प्रकाशमान अपने को बनाता है । अथवा अपने अविनश्वर कर्मद्वारा पूजनीय बनता है । उसकी कीर्ति प्रलय तक बनी रहती है । वह अपने आत्मको [ऋतस्य नाभौ] यज्ञके मध्यमें अथवा सत्य नियमों के बीचमें [अभि संपुनाति] चारों ओरसे अच्छीप्रकार शुद्ध करता है ॥ २० ॥

भावार्थ—मेरी दोनों लोकोंमें आनेवाली विपत्तियोंसे रक्षा हो । क्योंकि दोनों हविर्धान कर्मके लिए इधर उधर विचरण करते रहते हैं । तुम्हारा भरणपोषण हम करते रहें व तुम दोनों अपने कर्तव्यको ध्यानमें रखते हुए कर्म करते रहो ॥ ऋ० (१०।१३।२) ॥ १८ ॥

हे हविर्धाने ! तुम दोनों हमें ऐश्वर्य दिलानेवाले होओ । मैं स्वयं यज्ञमें तुम्हारी वेदमंत्रोंसे स्तुति करूं । मेरी स्तुति तुमको ऐसे पहुंचे जैसे कि विद्वान् सन्मार्गसे अपने अभिलषित स्थानको पहुंचता है । अर्थात् जिस प्रकार विद्वान् सन्मार्गका अवलम्बन कर ही वांछित फल प्राप्त करता है उसी प्रकार यह स्तुति भी तुम्हें अवश्यमेव प्राप्त होती है । मेरी इस स्तुतिको सर्व अमृत गण सुनें अर्थात् वे मेरी स्तुति के लिए साक्षीभूत होवें ॥ १९ ॥

यज्ञ करके या सत्य नियमोंके अनुसार आचरण करके यह मनुष्य अपने आत्माको शुद्ध करता है । ऋ० १०।१३।३) ॥ २० ॥

देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृणीत ।
बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्वमा रिरेच ॥ ४१ ॥
त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वा ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ ४२ ॥
आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय ।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात ॥ ४३ ॥
अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्तो हवींषि प्रयतानि बर्हिषि रयिं च नः सर्ववीरं दधात ॥ ४४ ॥

अर्थ- (देवेभ्यः क मृत्युं न अवृणीत) देवोंमेंसे कौन मरता न था ! अर्थात् देव भी सब मरते थे। तब (बृहस्पति ऋषिः यज्ञ अतनुत) ऋषियोंमेंसे बृहस्पति ऋषिने अमरताकी प्राप्तिके लिए यज्ञ किया और देवोंके लिए [अमृत अवृणीत] अमरता को प्राप्त किया पर [प्रजायै] प्रजाके लिए [किं अपि अमृतं] कोई भी अमरता न प्राप्त की अतएव [यमः] प्राणोंके अपहरण करनेवाला यम प्रजाओंमेंसे [प्रियां तन्वं] उनकी प्यारी देह [आरिरेच] छीन लेता है अर्थात् प्रजा की मृत्यु होती है ॥ ४१ ॥

हे (जातवेदः अग्ने) ज्ञानवान् अग्नि ! (ईळितः त्वं) स्तुति किया गया तू [हव्यानि] हव्योंको (सुरभीणि कृत्वा) सुगन्धित बनाकर (अवाड्) वहन कर [पितृभ्यः] उन हव्योंको पितरोंके लिये (प्रादाः) दे। (ते) वे पितर [स्वधया अक्षन्] उन हव्योंको स्वधाके साथ खावें। (देव) हे प्रकाशमान अग्नि! [त्वं] तू भी [प्रयता हवींषि] दी गई हवियोंको [अद्धि] खा ॥ ४२ ॥

[अरुणीनां उपस्थे आसीनासः] यज्ञमें प्रदीप्त की गई अग्निकी लाल ज्वालाओंके समीपमें बैठे हुए अर्थात् यज्ञमें उपस्थित हुए हुए पितरों ! (दाशुषे मर्त्याय) दानी मनुष्यके लिए (रयिं धत्त) धनको दो। [तस्य] उस दानीके [पुत्रेभ्यः वस्वः प्रयच्छत] पुत्रोंके लिए धनका दान करो। (ते) वे तुम (इह) यहांपर उस दानी व दानीके पुत्रोंके लिए (ऊर्जं) बलको (दधात) पुष्ट करो ॥ ४३ ॥

हे [सुप्रणीतयः] उत्तम प्रकारसे ले जानेवाले (अग्निष्वात्ताः पितरः) अग्निष्वात्त पितरो! [इह] यज्ञमें [आगच्छत] आओ [सदः सदः सदत] घरघरमें स्थित होओ। [अथ] और [बर्हिषि प्रयतानि हवींषि अत्त] यज्ञमें दी गई हवियोंको खाओ। और हमें (सर्ववीरं रयिं दधातन) सर्व प्रकार की वीरतासे परिपूर्ण पुत्ररूपी धन देकर पुष्ट करो ॥ ४४ ॥

भावार्थ- देव अमर हैं और मनुष्य मरते हैं ॥ ४१ ॥

अग्निकी स्तुति करनेपर वह पितरोंके लिये हविको सुगन्धित बनाकर ले जाती है। और पितरोंको व आप स्वयं भी खाती है ॥ ४२ ॥

हे पितरो ! यज्ञमें बैठकर जो दान करनेवाला है उसके लिए तथा उसके पुत्रोंके लिए धन व अन्नका दान करके उन्हें पुष्ट करो। यजुर्वेद (१९। ६३) ॥ ४३ ॥

हे अग्निष्वात्त पितरो ! घर घरमें आओ। यज्ञोंमें तुम्हारे उद्देश्यसे दी गई हवियोंको खाओ तथा उसके बदलेमें धन संपत्ति व प्रजा दो ॥ ४४ ॥

उपहूता नः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ ४५ ॥
ये नः पितुः पितरो ये पितामहा अनूजहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ४६ ॥
ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः ।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः सत्यैः कविभिर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः ॥ ४७ ॥
ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं तुरेण ।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् परैः पूर्वैर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः ॥ ४८ ॥

अर्थ- [ते] वे [सोम्यासः] सोम संपादन करनेवाले [पितरः] पितर (प्रियेषु बर्हिष्येषु) प्रीतिकारक यज्ञसम्बन्धी निधियों में [उपहूताः] बुलाए गए हैं। [ते] वे पितर [इह] इस यज्ञमें [आगमन्तु] आवें। (ते श्रुवन्तु) वे पितर हमारी प्रार्थनायें ध्यान देकर सुनें [अधिब्रुवन्तु] हमें उपदेश करें तथा (अस्मान् ते अवन्तु) हमारी वे रक्षा करें ॥ ४५ ॥

(ये) जिन (नः) हमारे [पूर्वे सोम्यासः वसिष्ठाः पितरः] पुरातन सोमसंपादन करनेवाले वसिष्ठ अर्थात् उत्तम धनवाले पितरोंने (सोमपीथ) सोमपानको यज्ञमें [अनु जहिरे] प्राप्त किया था [तेभिः] उन [उशद्भिः] उनके साथ सोमपान करने वा हवि खानेकी कामना करते हुए वसिष्ठ पितरोंके साथ [उशन्] पितरोंके साथ सोमपान करने वा हवि खानेकी कामना करता हुआ [संरराणः] पितरोंके साथ रमण करता हुआ अर्थात् आनन्दित होता हुआ [यमः] यम (हवींषि) हवियोंको [प्रतिकामं] इच्छानुसार [अत्तु] खावे ॥ ४६ ॥

[देवत्रा जेहमानाः] देवोंको प्राप्त होते हुए अर्थात् देव बनते हुए [होत्राविदः] यज्ञोंके जाननेवाले [स्तोमतष्टासः] स्तोमोंके बनानेवाले [ये] जो पितर [अर्कैः] अर्चनीय स्तोत्रोंसे (तातृषुः) इस संसारसागरसे पार हो गए हैं उन [सहस्रं देववन्दैः] हजारों बार देवोंसे स्तुति किए गए [सत्यैः कविभिः ऋषिभिः] सत्यवचनी क्रान्तदर्शी तथा ज्ञानी [घर्मसद्भिः] यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ [अग्ने] हे अग्नि ! तू [आयाहि] यज्ञमें आ ॥ ४७ ॥

[ये] जो पितर [सत्यासः] सत्यवचनी [हविरदः] हविके खानेवाले [हविष्पाः] हविकी रक्षा करनेवाले तथा [तुरेण इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः] बलवान् इन्द्र व देवोंके साथ समान रथपर आरूढ होते हैं ऐसे [सुविदत्रेभिः] उत्तम धनवाले अथवा उत्तम ज्ञानी विद्यावाले [पूर्वैः परैः] पुरातन व अर्वाचीन [ऋषिभिः] ज्ञानी [घर्मसद्भिः] यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ [अर्वाङ्] हमारे प्रति [अग्ने] अग्नि ! तू [आयाहि] आ ॥ ४८ ॥

भावार्थ- याज्ञिक कर्मोंमें पितर हमारे बुलाए जानेपर आवें। आकर हमें उपदेश दें हमारी प्रार्थनायें सुनें तथा हमारी रक्षा करें ॥ ४५ ॥

हमारे जिन पुरातन पितरोंने यज्ञमें उत्तम सोमपान किया था उन पितरोंके साथ मिलकर यम हमारे द्वारा दी गई हविको खावे। हमें यम व पितरोंके लिए यज्ञमें पर्याप्त मात्रामें हवि देनी चाहिए ॥ ४६ ॥

देवत्वको प्राप्त हुए हुए पितरोंने अग्निके साथ यज्ञमें बुलाया जाता है व अग्नि उन पितरोंके साथ यज्ञमें आती है अर्थात् पितर अग्निके साथ हमारे यज्ञमें आते हैं ॥ ४७ ॥

इन्द्रके साथ समान रथारूढ अर्थात् देवोंके साथ एक ही रथपर विचरण करनेवाले पितरोंके यज्ञमें हे अग्ने ! तू आ। अग्नि उन पितरोंके यज्ञमें ले आती है ऐसा हम मनन करते हैं ॥ ४८ ॥

उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम् ।
ऊर्णम्रदाः पृथिवी दक्षिणावत एषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात् ॥ ४९ ॥
उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूपसर्पणा ।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ५० ॥ (१७)
उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम् ।
ते गृहासो घृतश्चुतः स्योना विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र ॥ ५१ ॥

अर्थ— हे मनुष्य ! [एतां] इस [उरुव्यचसं] बड़े विस्तारवाली अतएव (पृथिवीं) फैली हुई, (सुशेवां) अति सुख देने वाली (मातरं भूमिं) माताभूत भूमिके [उप सर्प] समीप जा। (समीप जा का अर्थ यहां पर यह है कि भूमिका वाटिकोंसे अवलोकन कर क्योंकि भूमिपर रहनेवाला मनुष्य भूमिके तो समीप है ही फिर भी समीप जा कहने का यही अभिप्राय हो सकता है। भूमिके जो सुशेवा आदि विशेषण हैं वे भी इसी अभिप्रायको पुष्ट करते हैं। भूमिकी वाटिकी का अवलोकन करके उससे लाभ उठाने से बड़ा सुख होता है।) [दक्षिणावते] दान देनेवालेके लिए [ऊर्णम्रदाः] ऊनके समान परम—कोमल [एषा पृथिवी] यह पृथिवी (त्वा) तेरी [प्रपथे] इस संसाररूपात्मक विस्तृत मार्गमें [पुरस्तात्] आगेसे रक्षा करे। [ऋ १ ।१८।१] ॥ ४९ ॥

[पृथिवी] हे पृथ्वी ! तू [उच्छ्वञ्चस्व] पुलकित हो। इस तेरे समीप आए हुए मनुष्यको [मा निबाधथाः] किसी भी प्रकार की पीड़ा या कष्ट मत पहुंचा। (अस्मै) इसके लिए [सूपायना] अच्छी तरह प्राप्त करने योग्य अर्थात् बिना किसी भय या कष्टके समीप आने योग्य तथा [सूपसर्पणा] सुखपूर्वक विचरण करने योग्य (भव) हो। [एनं] इस पुरुषको [भूमे] हे भूमि [अभि ऊर्णुहि] चारों तरफसे इस प्रकारसे ढांप ले [यथा] जिस प्रकारसे कि [माता] माता [सिचा पुत्रं] अपने आंचलसे पुत्रको ढांप लेती है। (ऋ १ ।१८।११) ॥ ५० ॥

(उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी) पुलकित होती हुई पृथिवी [सु तिष्ठतु] अच्छी प्रकार स्थित होवे। और (सहस्रं) हजारों (मितः) मित उस पृथिवी को प्राप्त होकर (उपश्रयन्ताम्) आश्रित होवें। (ते घृतश्चुतः) वे घीसे परिपूर्ण अतएव (स्योनाः) सुखकारी [गृहासः] घर सदा [विश्वाहा] सब दिन (अस्मै) इस मनुष्यके लिए (अत्र) यहां पर (शरणाः सन्तु) शरण देनेवाले आश्रय देनेवाले होवें। (ऋ १०।१८।१२) ॥ ५१ ॥

भावार्थ— इस अत्यन्त विस्तृत भूमिकी वाटिकोंमें अवलोकन करो क्योंकि यह बड़ा सुख देनेवाली है। जो पृथिवीपर रहकर यज्ञादिक दान करता रहता है उसके लिए यह पृथ्वी ऊनके सदृश कोमल होती हुई सुख देती है व प्रत्येक कार्यमें उसकी रक्षा करती रहती है ॥ ४९ ॥

हे पृथ्वी ! तू सदा प्रसन्न बनी रह। तेरे पर वास करनेवालेको किसी प्रकारका भी कष्ट न पहुंचे। वह आनन्दपूर्वक विचरण कर सके। तू मनुष्यको नानाविध पदार्थोंसे ऐसे ढंक दे जैसे माता अपने आंचलसे पुत्रको ढांप रखती है। अथवा जैसे माता अपने बच्चे बड़े स्नेहके साथ पुत्रको ढांप कर उसकी सर्दी गर्मी आदिसे रक्षा करती है इसी प्रकार हे पृथिवी तू भी इसको प्रेमसे अपने ऊपर विचरण करनेवाले मनुष्यको नानाविध द्रव्य रत्नोंसे ढांपकर सुखसम्पन्न बना ॥ ५० ॥

पृथ्वी स्थिर बनी रहे। भूचाल आदिके विघ्न उस न हों। नानाविध घरोंसे इसका आश्रय होकर स्थित होवें। उन घरोंमें रहते हुए मनुष्यके लिए घृतादिसे पूर्ण सुखकारी घर सदा सब दिन आश्रयदाता होवें। किसी भी दिन किसी भी प्रकारका दुःख न रहे ॥ ५१ ॥

उत् ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत् परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्ति ते तत्र यमः सादना ते कृणोतु ॥ ५२ ॥
इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम्।
अयं यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा अमृता मादयन्ताम् ॥ ५३ ॥
अथर्वा पूर्णं चमसं यमिन्द्रायाबिभर्वाजिनीवते।
तस्मिन् कृणोति सुकृतस्य भक्षं तस्मिन्निन्दुः पवते विश्वदानीम् ॥ ५४ ॥
यत् ते कृष्णः शकुन आतुतोद पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः।
अग्निष्टद् विश्वादगदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आविवेश ॥ ५५ ॥

अर्थ- [ते] तेरे लिए [पृथिवीं] पृथ्वीको [उत् स्तभ्नामि] थामता हूं। [त्वत् परि] तेरे चारों ओर [इमं लोगं] इस निवासस्थानको [निदधत्] रखता हुआ अर्थात् तेरे लिए निवासस्थान बनाता हुआ [अहं] मैं [मो रिषम्] मत नष्ट होऊं। [तत्र] वहां अर्थात् इस निवास स्थान में [ते] तेरे लिये [एतां स्थूणां] इस नींव को [पितरः] पितृगण [धारयन्ति] धारण करें अर्थात् तेरे आवासस्थानकी नींव स्थिर रखें और [तत्र] उस नींवपर [ते] तेरे लिये [यमः] यम [सादना] घरोंको [कृणोतु] बनावे [ऋ. १०।१८।१३] ॥ ५२ ॥

(अग्ने) हे अग्नि! (इमं चमसं) इस शरीररूपी चमसको (मा वि जिह्वरः) मत विचलित कर। क्योंकि यह चमस (देवानां उत सोम्यानां) देवों और सोम संपादन करनेवालोंका (प्रियः) प्यारा है। (अयं) यह (यः) जो (चमसः) चमस है वह (देवपानः) देवपान है अर्थात् इसमें देवपान करके सोम ग्रहण करते हैं। (तस्मिन्) उस चमसमें (अमृताः देवाः) अमरत्वशील देव (मादयन्तां) पान करके प्रसन्न होवें ॥ ५३ ॥

(अथर्वा) निश्चल मतिवालेने (यं पूर्णं चमसं) जिस भरे हुए पूर्ण चमसको (वाजिनीवते) बलशाली पूर्ण (इन्द्राय) ऐश्वर्यशालीके लिए (अबिभः) धारण किया था (तस्मिन्) उस चमसमें (सुकृतस्य भक्षं) अच्छे कर्मों का भोग (कृणोति) करता है। और (तस्मिन्) उस चमसमें (विश्वदानीं) सर्वदा (इन्दुः) ऐश्वर्य (पवते) बहता रहता है ॥ ५४ ॥

हे प्रेत! (ते) तेरे (यत्) जिस अंगको (कृष्णः शकुनः) काले मांसाहारी पक्षीने (आतुतोद) चोंच चुभाई है, (उत वा) अथवा (पिपीलः सर्पः श्वापदः) चींटी की जातिके जन्तुओंने या सर्पने या जंगली हिंसक पशुने तुझे पीड़ा पहुंचाई है उसे [अग्निः] अग्नि (विश्वात्) इन सबके घावसे (तत्) उस तेरे अंगको (अगदं कृणोतु) रोग रहित करें। (सोमः च) और सोम भी तेरे उस अंगको नीरोग करे। (यः) जो कि सोम (ब्राह्मणान् आविवेश) ब्राह्मणोंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है ॥ ५५ ॥

भावार्थ- यम सबको निवासस्थान देवे ॥ ५२ ॥

यह शरीर देवोंके पान करनेका चमस है। यह देवोंका प्रिय है। इसमें देव पान करते हैं अतः हे अग्नि! इस शरीर की दुर्दशा मत कर ॥ ५३ ॥

निश्चल परमात्मा यह अन्नसे पूर्ण शरीररूपी चमसको जीवात्माके लिए प्रदान करता है। यह आत्मा अपने शुभ कर्मोंका फल इस शरीररूपी चमसमें चाखता है। कर्म फल शरीरके बिना नहीं भोगे जा सकते। इसी चमस रूपी शरीरमें आनन्द एकरसे बहता रहता है ॥ ५४ ॥

काले मांसाहारी पक्षी या चींटी मकोड़े आदि जन्तु सर्पादि विषयुक्त प्राणियों व जंगली जानवरोंके पहुंचाए घावको अग्नि व सोम दूर करें ॥ ५५ ॥

शं ते नीहारो भवतु शं ते प्रुष्वाव शीयताम् । शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति ।
मण्डूक्यप्सु शं भुव इमं स्वग्निं शमय ॥ ६० ॥ (१८)
विवस्वान् नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः ।
इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् ॥ ६१ ॥
विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु ।
इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मो ष्वेषामसवो यमं गुः ॥ ६२ ॥
यो दध्रे अन्तरिक्षे न मह्ना पितॄणां कविः प्रमतिर्मतीनाम् ।
तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥ ६३ ॥

अर्थ—(ते) तेरे लिए [नीहारः] कुहरा [शं भवतु] सुखकारी होवे । [ते] तेरे लिए [प्रुष्वा] वृष्टि [शं] सुखरूप हुई हुई [अवशीयताम्] नीचे गिरे । [शीतिके] हे शैत्ययुक्त ! [शीतिकावति] हे शैत्ययुक्त औषधे ! [ह्लादिके] हे हर्षित करनेवाली तथा [ह्लादिकावति] आनन्दित करनेवाले गुणोंवाली औषधि ! अप्सु जलमें जिस प्रकार [मण्डूकी] मेंढकी शान्त होती है अर्थात् जैसे जल मेंढकीको शान्ति पहुंचानेवाला होता है उसी प्रकार (शं भुव) सुखकारी हो और (इमं अग्निं) इस अग्निको (अर्थात् जलनेसे जो शरीरमें दाह (जलन) पैदा होता है उसको) (सुशमय) अच्छी प्रकारसे शान्त कर दे । (ऋ० १० ।१६।१४) ॥ ६० ॥

(विवस्वान्) सूर्य (नः अभयं कृणोतु) हमें अभय बनावे । (यः) जो कि विवस्वान् (सुत्रामा) अच्छी प्रकार सबसे रक्षा करनेवाला (जीरदानुः) जीवनदाता व [सुदानुः] उत्तम दाता है । (इह) इस संसारमें (इमे) ये (वीराः) पुत्रपौत्रादि [बहवः भवन्तु] बहुत हो जावें । अर्थात् हमारे पुत्रपौत्रादि खूब होवें । और (गोमत्) गौओंका तथा (अश्ववत्) घोडोंवाला (पुष्टं) पोषण (मयि अस्तु) मेरेमें होवे । अर्थात् मैं गौओं घोडोंसे संपन्न होऊं ॥ ६१ ॥

(विवस्वान्) सूर्य (नः) हमें (अमृतत्वे) अमरतामें (दधातु) स्थापित करे अर्थात् सूर्य हमें अमर बनावे । (मृत्युः परा एतु) मृत्यु परे भाग जावे । (नः अमृतं एतु) और हमें अमरता प्राप्त होवे । वह विवस्वान् (इमान् पुरुषान्) इन पुरुषोंकी (आ जरिम्णः) वृद्धावस्थापर्यन्त (रक्षतु) रक्षा करे । (एषां असवः) इन पुरुषोंके प्राण (मा यमं गुः) यमको मत जावें अर्थात् ये मत मरें ॥ ६२ ॥

(यः) जो (प्रमतिः) प्रकृष्ट बुद्धिवाला (कविः) क्रान्तदर्शी (मतीनां पितॄणां) उत्तम मतिमान पितरोंको (मह्ना न) मानो अपनी महिमासे ही (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें (दध्रे) धारण करता है (विश्वमित्राः) हे सबके मित्र मनुष्यो ! (तं) उस यमकी (हविर्भिः अर्चत) हवियोंसे पूजा करो । (सः यमः) वह यम (नः) हमें जीनेके लिए दीर्घायुके लिए (प्रतरं धात्) अच्छी तरहसे धारण करे ॥ ६३ ॥

भावार्थ– तेरे लिये सब जगत् के पदार्थ सुखदायी हों ॥ ६० ॥

सब प्रकारसे रक्षा करनेवाला व जीवनदाता सूर्य हमें अभय बनावे । हमारी संतति खूब बढे व हम गौ घोडों आदिसे परिपूर्ण होवें ॥ ६१ ॥

सूर्य हमें अमर बनावे । मृत्यु दूर भाग जावे व हमें अमरता प्राप्त होवे; हमारे सब पुरुषोंकी सूर्य वृद्धावस्थातक रक्षा करता रहे; हमारे में से कोई भी वृद्धावस्थासे पूर्व न मरे ॥ ६२ ॥

वह क्रान्तदर्शी यम विचारशील पितरोंको अपनी महिमासे अंतरिक्षमें धारण किए हुए है । हे मनुष्यो ! तुम सबके मित्र हुए हुए उसकी हवियोंसे पूजा करो जिससे कि वह तुम्हारे लिए दीर्घायु प्रदान करे ॥ ६३ ॥

आ रोहत दिवमुत्तमामृषयो मा बिभीतन।
सोमपाः सोमपायिन इदं वः क्रियते हविरगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ ६४॥
प्र केतुना बृहता भात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति।
दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्ध॥ ६५॥
नाके सुपर्णमुप यत्पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा।
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम्॥ ६६॥
इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥ ६७॥

अर्थ- (ऋषयः) हे मंत्रद्रष्टा ऋषियो! (उत्तमां दिवं आरोहत) उत्तम द्यु अर्थात् स्वर्गको चढो। अर्थात् स्वर्गमें जाओ। [मा बिभीतन] मत डरो। हे [सोमपाः] सोमपान करनेवाले तथा [सोमपायिनः] दूसरों को सोमपान करानेवाले ऋषियो! [वः] तुम्हारे लिए (इदं हविः क्रियते) यह हवि हम करते हैं। [उत्तमं ज्योतिः] जिससे कि हम उत्तम ज्योतिको [अगन्म] प्राप्त होवें॥ ६४॥

(अग्निः) अग्नि [बृहता केतुना] अपने बडे भारी केतुसे अर्थात् ज्वालारूपी झंडोंसे (प्रभाति) अच्छी तरह चमकता है। और वही अग्नि [रोदसी] द्यावा पृथिवीमें [वृषभः] वर्षादि द्वारा कामनाओंकी पूर्ति करता हुआ (रोरवीति) मेघ बिजली आदिके रूपमें गरजता है। वह (दिवः अन्तात्) द्युके अन्तसे [आम् उत] नीचे तक अर्थात् द्यु तथा पृथिवीमें सर्वत्र (उप आनट्) अच्छी तरहसे व्याप्त हुआ हुआ है। [महिषः] महान् अग्नि (अपां उपस्थे) जलोंकी गोदमें [ववर्ध] बढता है। अर्थात् बादलके रूपमें विद्यमान जलोंमें बिजली रूपमें यह अग्नि बढता रहता है॥ ६५॥

(नाके उप पतन्तं सुपर्णं इव) आकाशमें उडते हुए उत्तम पंखवाले पक्षीको जैसे मनुष्य देखते हैं उसी प्रकार हे सूर्य! आकाशमें गति करते हुए [त्वा] तुझे [हिरण्यपक्षं] सोने जैसे चमकीले पंखोंवालेको [सूर्यका प्रकाश सुवर्णके जैसा पीला होता है] और (वरुणस्य दूतं) वरुण जल को देता है उसको प्राप्त करानेवाले अर्थात् वृष्टि देनेवाले तुमको (सूर्यका वृष्टि देना वेदमें कई स्थानोंपर आया है) और (यमस्य योनौ) यमके घरमें अर्थात् अन्तरिक्षमें (यमका अन्तरिक्षमें स्थान है यह पहिले आ चुका है) (शकुनं) शक्तिशाली होकर विद्यमान व (भुरण्युम्) सब प्रकाश आदिके देनेवाला तथा पालक तुमको विद्वान् गण (हृदा वेनन्तः) हृदयसे ध्यान करते हुए (अभ्यचक्षत) भली प्रकार देखते हैं॥ ६६॥

(इन्द्र) हे ऐश्वर्यशाली! (नः क्रतुं आभर) तू हमें कर्म व प्रज्ञान इस प्रकार से दे [यथा] जिस प्रकार से कि (पिता पुत्रेभ्यः) पिता अपनी सन्तानों को देता है। [पुरुहूत] हे बहुत प्रकारसे बुलाए गए इन्द्र! (अस्मिन् यामनि) इस संसारसागर पार करनेके मार्गमें (नः शिक्ष) हमें शिक्षा दे। अर्थात् संसारसागर तरनेका उपाय दिखा। जिससे कि [जीवाः] हम जीवलोग [ज्योतिः अशीमहि] ज्ञानप्रकाश को प्राप्त करें॥ ६७॥

भावार्थ- ऋषिगण निर्भय होकर स्वर्गमें जाते हैं। सोमपान करनेवालों व दूसरोंको करानेवालोंके लिए दी गई हवि से उत्तम ज्योति प्राप्त होती है॥ ६४॥

यह अग्नि बृहत्तर ज्वालाओंसे चमकता रहता है। द्यावापृथिवीमें वर्षा करनेवाला हुआ हुआ मेघ विद्युत् आदिके रूपमें गर्जता रहता है। द्यु तथा पृथिवी दोनोंमें यह व्याप्त है। अन्तरिक्षमें विद्यमान जलमें विद्युत् रूपमें यह बढता रहता है। इसमें अभिप्राय यह है कि यह अग्नि भिन्न भिन्न स्वरूपमें पदार्थमात्रको व्याप्त किए हुए है॥ ६५॥

अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ ६८ ॥
यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तु विभ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥ ६९ ॥
पुनर्देहि वनस्पते य एष निहितस्त्वयि । यथा यमस्य सादन आसातै विदथा वदन् ॥ ७० ॥
आ रभस्व जातवेदस्तेजस्वद्धरो अस्तु ते ।
शरीरमस्य सं दहाथैनं धेहि सुकृतामु लोके ॥ ७१ ॥
ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये । तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युन्दती ॥ ७२ ॥

अर्थ- [यान्] जिन [अपूपापिहितान्] मालपूओंसे ढके हुए [कुम्भान्] घडोंको [देवाः] देवोंने [ते] तेरे लिए [अधारयन्] धारण किया है अर्थात् तुझे दिया है [ते] वे घडे [ते] तेरे लिये [स्वधावन्तः] स्वधावाले, [मधुमन्तः] मधुररसयुक्त तथा [घृतश्चुतः] घीसे परिपूर्ण (सन्तु) होवें ॥ ६८ ॥

[ते] तेरे लिए [याः तिलमिश्राः स्वधावतीः धानाः] जिन तिलोंसे मिश्रित अर्थात् तिल मिले हुए स्वधावाले धानोंको (अनुकिरामि) अनुकूलता से फेंकता हूं, [ताः] वे धान [ते] तेरे लिए [विभ्वीः] व्यापकतावाले व [प्रभ्वीः] प्रभूत मात्रामें यानि बहुत मात्रामें [सन्तु] होवें । [ताः] उन्हें [ते] तुझे देनेके लिए [यमः राजा] यम राजा [अनुमन्यताम्] अनुमति देवे । [यमके राज्यमें बिना यमकी अनुमतिके किसीको कुछ नहीं दिया जा सकता अतः उसकी अनुमति मांगी है] ॥ ६९ ॥

(वनस्पते) हे वनस्पते ! [यः एषः] जो यह [त्वयि निहितः] तेरेमें रखा है उसे [पुनः] फिर वापिस [देहि] दे [यथा] जिससे [यमस्य सादने] यमके घरमें यह [विदथा वदन्] विज्ञानोंको बोलता हुआ [आसातै] स्थित होवे ॥ ७० ॥

अर्थ- [जातवेदः] हे जातवेदस् अग्नि ! [आरभस्व] जलाना प्रारंभ कर । [ते] तेरा [हरः] हरनेका सामर्थ्य [तेजस्वत् अस्तु] तेजवाला होवे अर्थात् जिसको जलाना शुरू करो उसे शीघ्र जलाकर भस्मीभूत करनेवाला तेरा सामर्थ्य होवे जलानेमें देर न करे । [अस्य] इस मृतका [शरीरं संदह] शरीर अच्छी तरह जला डाल । (अथ) उसके बाद [एनं] इसकी आत्माको [सुकृतां लोके] पुण्यवानोंके लोकमें (धेहि) धारण कर अर्थात् वहांपर पहुंचा ॥ ७१ ॥

[ते] व [ये पूर्वे परागताः] जो पूर्वकालीन पितर परे चले गए हैं अर्थात् परलोकवासी हुए हैं और [ये अपरे] जो अर्वाचीन पितर परलोकवासी हुए हैं (तेभ्यः) उन प्राचीन व अर्वाचीन पितरोंके लिए [शतधारा व्युन्दती] सैकडों धाराओं वाली चमकती हुई [घृतस्य कुल्या] घृतकी कुल्या- छोटी नदी [एतु] प्राप्त होवे ॥ ७२ ॥

भावार्थ— यमलोक में मृतात्माको सुख हो ऐसा कर्म यह यहां करें ॥ ६६ ॥

हे इन्द्र ! जिस प्रकार पिता पुत्रोंको उपदेश करता है उस प्रकार तू हमें कर्ममार्ग व तत्संबन्धी ज्ञानका उपदेश कर कि हम सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें ॥ ६७ ॥

परलोकवासी जीवके लिए सुख प्राप्त होवे ॥ ६८ ॥

यमलोक में गए हुए के लिए अन्न के भक्षण लिए तिलमिश्रित धान आ जावे ॥ ६९ ॥

जीव यमधाममें सुखसे पहुंचे ॥ ७० ॥

मृतका शरीर अच्छी प्रकार जलाया जावे ॥ ७१ ॥

पितरोंको अन्नसे तृप्त करनेके लिए नहर का पानी प्रयुक्त किया जावे ॥ ७२ ॥

एतदा रोह वर्य उन्मृजानः स्वा इह बृहदु दीदयन्ते ।
अभि प्रेहि मध्यतो माप हास्थाः पितॄणां लोकं प्रथमो यो अत्र　　॥ ७३ ॥

[४]

आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रोहयामि ।
अवाड्ढव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके　　॥ १ ॥
देवा यज्ञमृतवः कल्पयन्ति हविः पुरोडाशं स्रुचो यज्ञायुधानि ।
तेभिर्याहि पथिभिर्देवयानैर्यैरीजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम्　　॥ २ ॥

अर्थ-[उन्मृजानः] अपने को शुद्ध करता हुआ (एतद् वयः आरोह) इस अवस्थामें चढ़ । [इह] यहां (स्वाः) तेरे बन्धुबान्धव [बृहद् उदीदयन्ते] बहुत प्रकाशमान हो रहे हैं- अर्थात् वे बहुत उन्नत हुए हुए हैं उनको तू निन्दित मत कर । [मध्यतः अभिप्रेहि] उन बन्धुबान्धवों के मध्यसे आ । [पितॄणां लोकं] पितरोंके लोकको [मा अपहास्थाः] त्याग मत कर अर्थात् तेरेसे पितृलोक छूटने न पावे । [यः] जोकि पितृलोक (अत्र) यहां [प्रथमः] मुख्य प्रसिद्ध है ॥ ७३ ॥

[४]

(जातवेदसः) हे अग्नियो ! तुम [जनित्रीं आरोहत] अपनी उत्पन्न करनेवाली के पास पहुंचो । मैं (वः) तुम्हें (पितृयाणैः) पितृयाणमार्गोंसे [सं आरोहयामि] अच्छी प्रकार पहुंचाता हूं । (इषितः हव्यवाहः) प्रिय हव्यों का वाहक अग्नि (हव्या = हव्यानि) हव्योंको [अवाट्] वहन करता है । हे अग्नियो ! (युक्ताः) तुम मिलकर (ईजानं) यज्ञ करनेवाले को (सुकृतां लोके) श्रेष्ठ कर्म करनेवालों के लोकमें [धत्त] धारण करो अर्थात् वहां रखे के जाओ ॥ १ ॥

(देवाः) देवगण तथा (ऋतवः) वसन्त आदि षड् ऋतुएं [यज्ञं] यज्ञ अर्थात् दैनिक पाक्षिक मासिक आदि नाना प्रकारके होम (कल्पयन्ति) रचते हैं-करते हैं । और इस यज्ञके करनेके लिये (हविः) अग्नमें डालनेलायक पदार्थ घृत आदि (पुरोडाशं) घृत आदिसे बनाए हुए पदार्थ (स्रुचः) इन घृत आदि पदार्थोंको डालनेके लिए पात्रभूत यज्ञके लिए उपयुक्त चमचेकी आकृति जैसे स्रुवे तथा अन्य (यज्ञायुधानि) यज्ञसम्बन्धी हथियार बनाते हैं (तेभिः देवयानैः पथिभिः) उन ऊपर दर्शाए गए यज्ञ करनेके देवयानमार्गोंसे हे मनुष्य ! तू (याहि) विचरण कर अर्थात् तू भी उनकी तरह नित्यप्रति यज्ञको यथाविधि कर । (यैः) जिन देवयानमार्गोंसे कि (ईजानाः) यज्ञ करनेवाले लोग (स्वर्गं लोकं यन्ति) स्वर्गलोक को जाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— मृतात्मा यमलोकको पहुंचे और वहां वह आनन्दित रहे ॥ ७३ ॥

[४]

यज्ञ करनेवालोंको अग्नि उत्तम कर्म करनेवालोंके लोकमें पहुंचाती है । अतः पुण्योंके लोककी प्राप्तिके लिए यज्ञ करना चाहिये ॥ १ ॥

देवगण ऋतुके अनुसार नानाविध यज्ञसामग्री तैयार करके यज्ञ करते हैं । उनका अनुकरण करनेवाले लोग स्वर्गको प्राप्त होते हैं अतः यथाविधि हररोज यज्ञ करना चाहिये जिससे कि स्वर्गलोक उपलब्ध हो सके ॥ २ ॥

*

ऋतस्य पन्थामनु पश्य साध्वङ्गिरसः सुकृतो येन यन्ति ।
तेभिर्याहि पथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व ॥ ३ ॥
श्येनः सुपर्णा उपरस्य मायू नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिताः ।
स्वर्गा लोका अमृतेन विष्ठा इषमूर्जं यजमानाय दुह्राम् ॥ ४ ॥
जुहूर्दाधार द्यामुपभृदन्तरिक्षं ध्रुवा दाधार पृथिवीं प्रतिष्ठाम् ।
प्रतीमां लोका घृतपृष्ठाः स्वर्गाः कामंकामं यजमानाय दुह्राम् ॥ ५ ॥
ध्रुव आ रोह पृथिवीं विश्वभोजसमन्तरिक्षमुपभृदा क्रमस्व ।
जुहु द्यां गच्छ यजमानेन साकं स्रुवेण वत्सेन दिशः
प्रपीनाः सर्वा धुक्ष्वाहृणीयमानः ॥ ६ ॥

अर्थ- (ऋतस्य पन्थां) यज्ञके मार्गको (साधु अनुपश्य) अच्छी तरहसे देख। और (येन) जिस यज्ञसम्बन्धी मार्गसे (सुकृतः अङ्गिरसः) उत्तम कर्म करनेवाले अङ्गिरस् लोग (यन्ति) जाते हैं (तेभिः पथिभिः) उन मार्गों से (स्वर्गं याहि) स्वर्ग को जा (यत्र) जहां कि अर्थात् जिस स्वर्गमें कि (आदित्याः) अखण्डनीय व्रतवाले श्रेष्ठ कर्म करनेवाले जन (मधु भक्षयन्ति) अमृत को पाते हैं अर्थात् आनन्द भोगते हैं। (तृतीये नाके) तीसरा जो स्वर्गलोक है उसमें जाकर (विश्रयस्व) विश्रान्ति ले-आराम कर ॥ ३ ॥

(सुपर्णाः श्येनाः) तीव्र उत्तम गति करनेवाले अथवा उत्तमतया पालन करनेवाले तथा (उपरस्य मायूः) मेघके सब ओर शब्द करनेवाले जो ये सब (विष्टपि) अन्तरिक्षमें (नाकस्य पृष्ठे) स्वर्गके ऊपर (अधि श्रिताः) स्थित हैं। (स्वर्गाः लोकाः) स्वर्ग लोक (अमृतेन विष्ठाः) अमरतासे व्याप्त हैं अर्थात् वे आच्छादित हैं। वे सब (यजमानाय) यज्ञ करनेवालेके लिए (इषं) अन्न तथा (ऊर्जं) बलको (दुह्राम्) देवें ॥ ४ ॥

(जुहूः) जुहूने (द्यां दाधार) द्युलोकको धारण किया हुआ है। और (उपभृत्) उपभृतने (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्षको धारण कर रखा है। (ध्रुवा प्रतिष्ठां पृथिवीं) ध्रुवाने आश्रयस्थान पृथिवीको (दाधार) धारण कर रखा है। (इमां प्रति) इस पृथिवीकी ओर लक्ष्य करते हुए (घृतपृष्ठाः) घृतकीसी पीठोंवाले अर्थात् प्रकाशमान (स्वर्गाः लोकाः) स्वर्गलोक [यजमानाय] यजमानोंके लिए [कामं कामं] प्रत्येक कामनाको [दुह्राम्] पूर्ण करें ॥ ५ ॥

[ध्रुवे] हे ध्रुवा! [विश्वभोजसं पृथिवीं] सबको खिलानेवाली अर्थात् पालक पृथिवी पर [यजमानेन साकं] यजमानके साथ [आरोह] चढ़ स्थित हो। (उपभृत्) हे उपभृत्! तू यजमानके साथ (अन्तरिक्षं आक्रमस्व) अन्तरिक्षमें प्रयाण कर। (जुहु) हे जुहु! तू (यजमानेन साकं) यजमानके साथ [द्यां गच्छ] द्युलोकको जा। हे यजमान! इस प्रकार तू (अहृणीयमानः) निःसंकोच हुआ हुआ (स्रुवेण वत्सेन) स्रुवरूपी बछड़ेसे (सर्वाः) सब [प्रपीनाः] अच्छी तरह वृद्धिको प्राप्त हुई हुई [दिशः] दिशाओंको [धुक्ष्व] दोह। अर्थात् यज्ञद्वारा अभिलषित पदार्थोंको प्राप्त कर ॥ ६ ॥

भावार्थ - ऋतपथ से स्वर्गति और आनन्द प्राप्त होता है ॥ ३ ॥
स्वर्ग लोक यजमानोंको अन्न बल और आनन्द देता है ॥ ४ ॥
स्वर्ग लोक यजमानोंकी सब कामनाएँ पूर्ण करते हैं ॥ ५ ॥
यज्ञद्वारा यजमान सब तरह उन्नतिको प्राप्त करता है। यज्ञद्वारा सब दिशाओंसे वांछित फल प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति ।
अत्रादधुर्यजमानाय लोकं दिशो भूतानि यदकल्पयन्त ॥ ७ ॥
अङ्गिरसामयनं पूर्वो अग्निरादित्यानामयनं गार्हपत्यो दक्षिणानामयनं दक्षिणाग्निः ।
महिमानमग्नेर्विहितस्य ब्रह्मणा समङ्गः सर्व उप याहि शग्मः ॥ ८ ॥
पूर्वो अग्निष्ट्वा तपतु शं पुरस्ताच्छं पश्चात् तपतु गार्हपत्यः ।
दक्षिणाग्निष्टे तपतु शर्म वर्मोत्तरतो मध्यतो अन्तरिक्षाद् दिशोदिशो अग्ने
परि पाहि घोरात् ॥ ९ ॥
यूयमग्ने शंतमाभिस्तनूभिरीजानमभि लोकं स्वर्गम् ।
अश्वा भूत्वा पृष्टिवाहो वहाथ यत्र देवैः सधमादं मदन्ति ॥ १० ॥ (२०)

अर्थ- [यज्ञकृतः] यज्ञों के करनेवाले [सुकृतः] श्रेष्ठ कर्म करनेवाले जन [येन यन्ति] जिस मार्गसे विचरण करते हैं उस मार्गपर चलनेसे [तीर्थैः] तरनेके साधन यज्ञादिद्वारा [प्रवतः महीः] बड़ी बड़ी आपत्तियों को भी [तरन्ति] तर जाते हैं। [यत्], यदा (दिशः) दिशायें तथा [भूतानि भूतोंको अर्थात् प्राणियों को [अकल्पयन्त] निर्माण करते हैं उस समय [यजमानाय] यजमान के लिए [लोकं अदधुः] स्थान देते हैं ॥ ७ ॥

[अङ्गिरसां] अङ्गिरसोंका [अयनं] मार्ग [पूर्वः अग्निः] पूर्वका अग्नि है। [आदित्यानां] आदित्योंका [अयनं] मार्ग [गार्हपत्यः] गार्हपत्य अग्नि है। [दक्षिणानां] कार्यमें दक्षोंका [अयनं] मार्ग [दक्षिणाग्निः] दक्षिणाग्नि है। [ब्रह्मणा] वेदमन्त्रों द्वारा [विहितस्य] यज्ञमें स्थापित की गई अग्निकी [महिमानं] महिमाको [समङ्गः] एक अङ्गोंवाला होकर [सर्वः] सर्व अवयवों से युक्त हुआ हुआ अर्थात् पूर्ण शरीरवाला होकर और इसीलिए [शग्मः] सुखी हुआ हुआ तू [उपयाहि] प्राप्त कर ॥ ८ ॥

[पूर्वः अग्निः] पूर्व की अग्नि (त्वा) तुझ [पुरस्तात्] सामने [शं तपतु] सुखपूर्वक तपावे। [गार्हपत्यः] गार्हपत्य अग्नि [पश्चात्] पीछेसे [शं तपतु] तुझे सुखपूर्वक तपावे। [दक्षिणाग्निः] दक्षिणाग्नि [ते] तेरे लिए [शर्म] सुखकर हुई हुई व [वर्म] कवचरूप हुई हुई तुम [तपतु] तपावे। [अग्ने] हे अग्नि! तू हमें [उत्तरतः] उत्तर दिशासे [मध्यतः] दिशाओंके बीचसे [अन्तरिक्षात्] अन्तरिक्षसे [दिशः दिशः] प्रत्येक दिशासे आनेवाले [घोरात्] भय— दुःखकसे [परिपाहि] चारों ओरसे संरक्षण कर ॥ ९ ॥

(अग्ने यूयम्) हे गार्हपत्यादि अग्नियो! (यूयं) तुम (पृष्टिवाहः अश्वाः भूत्वा) पीठसे ले जानेवाले घोड़ों की तरह बनकर (शंतमाभिः तनूभिः) अपने सुखकारी शरीरोंसे (ईजानं) जिसने यज्ञ किया है उस को (स्वर्गं लोकं अभि) स्वर्गलोक की ओर (वहाथ) ले जाओ। (यत्र) जहां स्वर्गमें यज्ञकर्ता जन (देवैः सधमादं) देवोंके साथ आनन्द को (मदन्ति) भोगते हुए रहते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ— यज्ञ करनेवाले पुरुष लोकमें जिस उत्तम मार्गपर चलते हुए यज्ञ द्वारा बड़ी बड़ी विपत्तियों को भी तर जाते हैं। यज्ञ करनेवाला [illegible] के समय भी उत्तम लोक को प्राप्त होता है। [illegible] है कि यज्ञ करनेवाले का कभी भी [illegible] नहीं होता ॥ ७ ॥

देवोंके [illegible] अर्थात् मार्ग के अनुसार [illegible] ॥ ८ ॥

[illegible] भावना की जाये कि तू हमारी सब ओरसे रक्षा कर। सब प्रकार [illegible] हमारा पालन कर ॥ ९ ॥

[illegible] घोड़ों की तरह [illegible] ले जाता है जहां कि [illegible] देवोंके [illegible] आनन्द भोगता है। अतः [illegible] है ॥ १० ॥

शर्मास्मै पश्चात् तप च पुरस्ताच्छर्मोत्तराच्छर्माधरात् तपैनम् ।
एकस्त्रेधा विहितो जातवेदः सम्यगेनं धेहि सुकृतामु लोके ॥ ११ ॥
शमग्नयः समिद्धा आ रभन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः ।
शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन् ॥ १२ ॥
यज्ञ एति विततः कल्पमान ईजानमभि लोकं स्वर्गम् ।
तमग्नयः सर्वहुतं जुषन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः ।
शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन् ॥ १३ ॥
ईजानश्चितमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत्पतिष्यन् ।
तस्मै प्र भाति नभसो ज्योतिषीमान्त्स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः ॥ १४ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्नि! तू (एनं) इस यज्ञकर्ताको (शं) सुखपूर्वक (पश्चात्) पीछेसे, (शं) सुखपूर्वक (पुरस्तात्) आगेसे (तप) तपा। (उत्तरात्) उत्तरसे (शं) सुखपूर्वक तपा और (अधरात्) नीचे की दिशासे (शं) सुखपूर्वक तपा। (जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों में रहनेवाले अग्नि! तू (एकः) एक होता हुआ भी (त्रेधा) तीन प्रकारसे अर्थात् पूर्वाग्नि गार्हपत्याग्नि और दक्षिणाग्नि के रूपसे (विहितः) स्थापित किया जाता है। तू (एनं) इस यजमान को (सुकृतां लोके) श्रेष्ठ कर्मों के लोकमें (सम्यक्) अच्छी तरहसे (धेहि) स्थापित कर अर्थात् बढाकर इसे सुख दे ॥ ११ ॥

(समिद्धाः) यथाविधि प्रज्वलित की हुई (जातवेदसः) उत्पन्न पदार्थोंमें वर्तमान (अग्नयः) अग्नियां (प्राजापत्यं) प्रजापति देवताके [मेध्य] पवित्र इस यजमानको [शं] सुखपूर्वक यज्ञके कार्यमें [आरभन्तां] शुरू करावें। (इह) यहां पर यज्ञ कार्यमें वे अग्नियाँ यजमान को [शृतं कृण्वन्तः] पक्व अर्थात् पूर्ण बनावें। उसे इस यज्ञसे [मा] मत [अव चिक्षिपन्] गिरने देवें ॥ १२ ॥

(विततः यज्ञः) विस्तृत यज्ञ [कल्पमानः] समर्थ हुआ हुआ [ईजानं] यज्ञ किए हुए को [स्वर्गं लोकं] स्वर्ग लोक को [अभि एति] पहुंचाता है। [तं] उस [सर्वहुतं] जिसने अपना सर्वस्व होम कर दिया है ऐसे यजमानको [अग्नयः] अग्नियां [जुषन्तां] संतुष्ट करें। शेष अर्थ ऊपरके मंत्र के समान है ॥ १३ ॥

[नाकस्य पृष्ठात्] स्वर्ग के ऊपरसे [दिवं उत्पतिष्यन्] द्युको जानेकी इच्छा करता हुआ [ईजानः] यज्ञ किया हुआ पुरुष [चितं अग्निं] चयन की हुई अग्नि को [आरुक्षत्] प्रकट करता है प्रज्वलित करता है। [तस्मै सुकृते] उस उत्तम कर्म करनेवाले के लिए [नभसः] आकाशका [ज्योतिषीमान्] प्रकाशवाला [देवयानः] देव जिससे जाते हैं ऐसा [स्वर्गः] सुखदायी [पन्थाः] मार्ग [प्रभाति] प्रकाशित होता है ॥ १४ ॥

भावार्थ- अग्नि सब ओरसे सुखपूर्वक हमारा रक्षण करती है। वस्तुतः वह एक ही है पर व्यवहार में उसकी तीन रूपों से स्थापना की जाती है। यज्ञकर्ताको वह स्वर्गमें पहुंचाती है ॥ ११ ॥

यज्ञादि कर्मों में प्रज्वलित अग्नियां यजमानको उत्साहित करके पूर्ण मनोरथवाला बनाती हैं। वह अपने कर्म में सफल बनाता है क्योंकि अग्नियां उसे कर्तव्यपथसे गिरने नहीं देती है ॥ १२ ॥

विस्तृत रूपसे किया गया यज्ञ यजमानको स्वर्गलोकमें पहुंचाता है। अग्नियां उसे अभिमत फलप्रदानद्वारा संतुष्ट करती हैं व कर्तव्यपथसे गिरने नहीं देती ॥ १३ ॥

स्वर्गसे द्युको जानेके लिए चयन की हुई अग्निको प्रदीप्त करना चाहिए। और जो यज्ञ करके ही ऐसे प्रदीप्त करता है उसके लिए आकाशका सुखदायी देवयान मार्ग खुल जाता है ॥ १४ ॥

अग्निर्होताध्वर्युष्टे बृहस्पतिरिन्द्रो ब्रह्मा दक्षिणतस्ते अस्तु ।
हुतोऽयं संस्थितो यज्ञ एति यत्र पूर्वमयनं हुतानाम् ॥ १५ ॥
अपूपवान् क्षीरवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १६ ॥
अपूपवान् दधिवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १७ ॥
अपूपवान् द्रप्सवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १८ ॥
अपूपवान् घृतवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १९ ॥

अर्थ— [ते] तेरा [अग्निः होता] अग्नि होता अर्थात् स्वाहापूर्वक आहुति देनेवाला [अस्तु] होवे। [बृहस्पतिः] बड़ों बड़ों का पालक तेरा [अध्वर्युः] यज्ञ करानेवाला होवे। और [इन्द्रः] इन्द्र [ब्रह्मा] ब्रह्मा बनकर [ते दक्षिणतः अस्तु] तेरी दाहिनी ओरमें होवे। [अयं] यह [हुतः] आहुति दिया गया और [संस्थितः] अच्छी तरह किया गया [यज्ञः] यज्ञ [एति] वहां जाता है [यत्र] जहां कि [पूर्वं] पहिले [हुतानां] आहुति दिए गए पदार्थोंका [अयनं] जाना होता है ॥ १५ ॥

[अपूपवान्] मालपूए आदि गेहूंके आटेसे व घीकी सहायतासे बनाए हुए पदार्थोंवाला तथा [क्षीरवान्] दूधवाला [चरुः] चरु जिस प्रकार किया गया था [इह] यहां यज्ञमें [आसीदतु] स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवालों तथा (पथिकृतः) मार्गोंके बनानेवालोंकी हम (यजामहे) उस परोक्ष परमात्मा पूजा करते हैं– सत्कार करते हैं। (ये) जो कि लोककृत व पथिकृत तुम (इह) यहां पर यज्ञमें (देवानां) देवोंके बीचमें (हुतभागाः) जिनके लिए कि भाग दिया गया है ऐसे (स्थ) स्थित हो ॥ १६ ॥

(अपूपवान्) मालपूए आदिसे युक्त तथा (दधिवान्) दहीमिश्रित (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोकोंको बनानेवाले इत्यादि पूर्ववत् ॥ १७ ॥

(अपूपवान्) मालपूए आदिसे युक्त तथा (द्रप्सवान्) [illegible] युक्त (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोकोंको बनानेवाले इत्यादि पूर्ववत् ॥ १८ ॥

(अपूपवान्) मालपूए आदिसे युक्त तथा (घृतवान्) घीमिश्रित (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोकोंको बनानेवाले इत्यादि पूर्ववत् ॥ १९ ॥

भावार्थ— जिस यज्ञका अग्नि होता है बृहस्पति अध्वर्यु है और इन्द्र ब्रह्मा है वह [illegible] होकर [illegible] पहुंचता है [illegible] ॥ १५ ॥

[illegible] ॥ १६ ॥

[illegible] ॥ १७-१९ ॥

अपूपवान् मांसवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २० ॥ (२१)
अपूपवानन्नवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २१ ॥
अपूपवान् मधुमांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २२ ॥
अपूपवान् रसवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २३ ॥
अपूपवानपवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २४ ॥
अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ २५ ॥
यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥ २६ ॥
अक्षितिं भूयसीम् ॥ २७ ॥

अर्थ—(अपूपवान्) मालपूवे आदिसे युक्त तथा (मांसवान्) मांसवाला (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोकोंको बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २० ॥

(अपूपवान्) मालपूवे आदिसे युक्त तथा (अन्नवान्) अन्न अर्थात् नाना तरहके धान्योंवाला (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २१ ॥

(अपूपवान्) मालपूवे आदिसे युक्त (मधुमान्) मधु अर्थात् शहद अथवा मीठे पदार्थोंसे युक्त (चरुः) चरु (इह) यहां (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २२ ॥

(अपूपवान्) मालपूवे आदिसे युक्त (रसवान्) अनेक मीठे मीठे विविध रसों से मिश्रित (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २३ ॥

(अपूपवान्) मालपूवे आदि से युक्त (अप-वान्) जलवाला अर्थात् शुद्ध जलसे बनाया हुआ (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २४ ॥

(देखो अथर्व १८।३।६८–६९ ये दो मंत्र यहीं आगये हैं) ॥ २५—२६ ॥

(भूयसीम्) बहुत आयु (अक्षितिं) अखंडित अर्थात् बहुत कालपर्यन्त यम राजा अनुमति देवे ॥ २७ ॥

भावार्थ— ऐसे अपूप अमरत्व साधन प्राप्त हों ॥ २० ॥

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः।
समानं योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥ २८ ॥
शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभि चक्षते रयिम्।
ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सर्वदा ते दुह्रते दक्षिणां सप्तमातरम् ॥ २९ ॥
कोशं दुहन्ति कलशं चतुर्बिलमिडां धेनुं मधुमतीं स्वस्तये।
ऊर्जं मदन्तीमदितिं जनेष्वग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥ ३० ॥ (२२)
एतत् ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे।
तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर ॥ ३१ ॥

अर्थ—(द्रप्सः) सबको हर्षित करनेवाला आदित्य (यः पूर्वः) जो कि सबसे पूर्व है वह (द्याम् पृथिवीम् अनु) चराचर जगत की कारणभूत पृथिवीमें (च) और (इमं योनिम् अनु) द्युलोकमें (चस्कन्द) विचरण करता रहता है अथवा उसने इनको व्याप्त कर रखा है (समानं योनिम् अनु संचरन्तं) सबकी समान कारणभूत इन पृथिवीमें संचार करते हुए (द्रप्सं) ईश्वर आदित्यको (सप्त होत्राः अनु) सात होताओं द्वारा सब दिशाओंमें (जुहोमि) हवि प्रदान करता हूं ॥ २८ ॥

(ते) वे (नृचक्षसः) मनुष्यों के देखनेवाले अर्थात् मनुष्यों को जाननेवाले— मनुष्योंके स्वभाव आदिको जाननेवाले बुद्धिमान मनुष्य (शतधारं) सैकड़ों धारावाले अर्थात् जो अनेक प्रकारके दानोंमें पानी की तरह बहाया जाता है ऐसे अतएव (वायुं) गतिमान् [illegible] इस प्रकारसे विचरण करते हुए (अर्कं) पूजनीय (स्वर्विदं) सुखको प्राप्त करानेवाले (रयिं) धनको (अभिचक्षते) देखते हैं अर्थात् [illegible] प्राप्त करते हैं। (ये) जो मनुष्य (सर्वदा) सदा उस धनसे (पृणन्ति) अपनेको पूर्ण करते रहते हैं (च) और (प्रयच्छन्ति) दूसरों सुपात्रोंके लिए उस धनका दान करते रहते हैं (ते) वे मनुष्य [सप्तमातरं दक्षिणां] सप्तमातावाली दक्षिणा [दान] को [दुह्रते] दोहते हैं— प्राप्त करते हैं ॥ २९ ॥

[स्वस्तये] कल्याणके लिये [चतुर्बिलं] चार दरवाजोंवाली [illegible] [कोशं] [illegible] है ऐसे [कलशं] [illegible] (मधुमतीं) और [illegible] [इडां धेनुं] [illegible] गायको [दुहन्ति] दोहते हैं। [अग्ने] हे अग्नि [जनेषु ऊर्जं मदन्तीं] जन समाज में अपने [illegible] [अदितिं] [illegible] गायको (परमे व्योमन्) [illegible] (मा हिंसीः) मत मार। अथवा [illegible] ॥ ३० ॥

[illegible] (सविता देवः) [illegible] (ते) तेरे लिए (भर्तवे) [illegible] (वासः) [illegible] (ददाति) देता है। (तत् त्वं) उस [illegible] (वसानः) [illegible] (यमस्य राज्ये) [illegible]

भावार्थ— [illegible] ॥ २८ ॥

[illegible] ॥ २९ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत् ।
तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुप जीवति ॥ ३२ ॥
एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु ।
एनीः श्येनीः सरूपा विरूपास्तिलवत्सा उप तिष्ठन्तु त्वात्र ॥ ३३ ॥
एनीर्धाना हरिणीः श्येनीरस्य कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते ।
तिलवत्सा ऊर्जमस्मै दुहाना विश्वाहा सन्त्वनपस्फुरन्तीः ॥ ३४ ॥
वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतधारमुत्सम् ।
स बिभर्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति पिन्वमानः ॥ ३५ ॥

अर्थ– यमलोकमें जाकर उपरोक्त मंत्रानुसार दिए गए (धाना) धान [धेनुः] दूध देनेवाली गौ (अभवत्) बनते हैं। (अस्याः) और इस धानरूपी गौका (वत्सः) बछडा [तिलः] तिल [अभवत्] बनता है। (तां) जिसको (यमस्य राज्ये) यमके राज्यमें वह [तां] उस धानोंकी बनी हुई गाय पर ही (उप जीवति) आश्रित हुआ हुआ जीता है ॥ ३२ ॥

[असौ] हे अमुक नामवाले पुरुष! [एताः] ये गायें [ते] तेरे लिए [कामदुघाः] कामनाओंको पूर्ण करनेवाली [भवन्तु] होवें। (एनीः) चितकबरे रंगवाली अर्थात् लाल रंगवाली [श्येनीः] श्वेत, [सरूपाः] एकसे रूपवाली व [विरूपाः] विविध रूपवाली तथा [तिलवत्साः] तिल है बछडा जिनका ऐसी गायें [अत्र] यहां जहां तेरा वास है वहां [त्वा उप तिष्ठन्तु] तेरे समीप स्थित रहें व तेरी सेवा करती रहें ॥ ३३ ॥

[अस्य ते] इस तेरे [हरिणीः धानाः] हरे रंगवाले धान [एनीः श्येनीः धेनवः] अरुण व सफेद गायें होवें। [कृष्णाः धानाः] काले धान [रोहिणीः धेनवः] लाल रंगकी गायें होवें। (तिलवत्साः) तिल जिनका बछडा है ऐसी ये गायें (अनपस्फुरन्तीः) कभी भी नष्ट न होती हुई (अस्मै) इसके लिए (विश्वाहा) सर्वदा [ऊर्जं दुहानाः सन्तु] रसदायक रस दूधको दोहती रहें ॥ ३४ ॥

[वैश्वानरे इदं हविः जुहोमि] वैश्वानर अग्निमें यह हवि डालता हूं जो कि हवि [शतधारं साहस्रं उत्सं इव] सैकडों व हजारों धाराओंवाले स्रोतके समान सैकडों व हजारों धाराओंवाली है। [सः] वह वैश्वानर अग्नि [पिन्वमानः] उस हविसे तृप्त हुई हुई [पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति] पिताका, दादाओंका तथा परदादाओंका धारण पोषण करती है ॥ ३५ ॥

भावार्थ– धान तथा तिल यम राज्यमें जाकर धेनु स्वरूपमें परिवर्तित हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

हे अमुक नामवाले पुरुष! ये नाना रंगों व रूपोंवाली गायें सर्वदा तेरे समीप बनी रहें व तेरी कामनाओंको पूर्ण करती रहें ॥ ३३ ॥

हरे रंगके कच्चे धान अरुण व श्वेत रंगकी गायें बनती हैं। और पके धान तिल आदि अथवा भूननेसे जो कुछ काले रंगके हो गए हैं उन धान काली गायें बनते हैं। ये सब गायें सदा अविनश्वर हुई हुई अपने धारणभूत रस दूधको देती रहेंगी ॥ ३४ ॥

अन्त्येष्टिमें सब मनुष्योंको अग्निमें डाला जाता है और फिर अग्नि उनको पितृलोकमें ले जाती है। इस प्रकार अग्नि वैश्वानर है। पितरोंके लिए जो कुछ देना हो वह अग्निको देना चाहिये वह उन्हें पहुंचाती है और इस प्रकार उनका धारण पोषण करता है ॥ ३५ ॥

सहस्रधारं शतधारमुत्समक्षितं व्यच्यमानं सलिलस्य पृष्ठे।
ऊर्जं दुहानमनपस्फुरन्तमुपासते पितरः स्वधाभिः ॥ ३६ ॥
इदं कसाम्बु चयनेन चितं तत् सजाता अव पश्यतेत।
मर्त्योऽयममृतत्वमेति तस्मै गृहान् कृणुत यावत्सबन्धु ॥ ३७ ॥
इहैवैधि धनसनिरिहचित्त इहक्रतुः। इहैधि वीर्यवत्तरो वयोधा अपराहतः ॥ ३८ ॥
पुत्रं पौत्रमभितर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः।
स्वधां पितृभ्यो अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु ॥ ३९ ॥
आपो अग्निं प्र हिणुत पितॄँरुपेमं यज्ञं पितरो मे जुषन्ताम्।
आसीनामूर्जमुप ये सचन्ते ते नो रयिं सर्ववीरं नि यच्छान् ॥ ४० ॥(२२)

अर्थ— [शतधारं सहस्रधारं उत्सं] सैकडों व हजारों धाराओंवाले स्रोतकी तरह जो हजारों व सैकडों धाराओंसे युक्त है ऐसे और जो [सलिलस्य पृष्ठे व्यच्यमानं] जलराशिके ऊपर व्याप्त है ऐसे [ऊर्जं दुहानं] बल व अन्नको देनेवाले [अनपस्फुरन्तं कभी भी चलायमान न होनेवाले अर्थात् स्थिर हविको [पितरः] पितर [स्वधाभिः] स्वधाओंके साथ [उपासते] सेवन करते हैं ॥ ३६ ॥

[इदं कसाम्बु] इस कसाम्बु को (चयनेन) चुनकरके [चितं] ढेर लगाया है- इकट्ठा किया है। [तत्] उसको [सजाताः] हे सजातीय बन्धुगण! [एत] आओ और [अवपश्यत] ध्यानसे देखो। [अयं मर्त्यः] यह मनुष्य जिसका कि कसाम्बु चयन किया गया है वह [अमृतत्वं] अमरताको [एति] प्राप्त होता है। [तस्मै] उसके लिए [यावत् सबन्धु] जितने भी तुम सजातीय बन्धु हो वे सब [गृहान् कृणुत] घरों को बनाओ अर्थात् उसे घर आदि द्वारा आश्रयप्रदान करो ॥ ३७ ॥

हे मनुष्य! तू [इह एव एधि] यहीं पर ही वृद्धि प्राप्त कर। [इह] यहांपर [चित्तः] ज्ञानवान हुआ हुआ व [इह] यहांपर [क्रतुः] कर्मशील हुआ हुआ व [धनसनिः] हमें धन देनेवाला हो। [इह] यहां पर ही [वीर्यवत्तरः] अति बलवान् हुआ हुआ और अतएव [अपराहतः] शत्रुओंसे अपराजित हुआ हुआ [वयोधाः] अन्नका धारण करनेवाला व अन्नसे दूसरोंका पोषण करता हुआ अथवा दीर्घायुवाला होकर [एधि] बढ ॥ ३८ ॥

[पुत्रं पौत्रं अभि तर्पयन्तीः] पुत्रपौत्रादिकोंको पूर्णतया तृप्त करते हुए [इमाः मधुमतीः आपः] ये मधुर जल हैं। [पितृभ्यः स्वधां अमृतं दुहानाः] पितरोंके लिए स्वधा व अमृतका दोहन करते हुए [देवीः आपः] ये दिव्य जल [उभयान्] दोनों पुत्रपौत्रोंको [तर्पयन्तु] तृप्त करें ॥ ३९ ॥

(आपः) हे जल! तुम (अग्निं पितॄन् उपप्रहिणुत) अग्निको पितरोंके पास भेजो। (मे पितरः) मेरे पितृगण (इमं यज्ञं जुषन्ताम्) इस यज्ञका सेवन करें। (ये) जो पितर (आसीनां ऊर्जं उपसचन्ते) उपस्थित अर्थात् हमारे से दिए गए अन्नका सेवन करते हैं (ते) वे पितर (नः) हमें (सर्ववीरं रयिं) सब प्रकारकी वीरतासे युक्त धन-संपत्ति को (नियच्छान्) निरन्तर देते रहें ॥ ४० ॥

भावार्थ- पितृगण स्वधाके साथ हवि खाते हैं ॥ ३६ ॥

यह कसाम्बु का चयन किया गया है उसे हे बन्धुजनो! आकर देखो। यह मनुष्य जिसका कि कसाम्बु- चयन किया गया है वह अमृत को प्राप्त हुवे। उसे तुम सब आश्रय देकर सुखी करो ॥ ३७ ॥

हे मनुष्य! तू ज्ञानी व कर्मकुशल होकर हमें धन- प्रदान करता हुआ सदा- वृद्धिको प्राप्त कर। बलवान् हुआ हुआ शत्रुओंसे पराजित न होकर अन्नपानादि की अधिकतासे पुष्टि करके दीर्घायु होकर उन्नति प्राप्त कर ॥ ३८ ॥

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम् ।
स वेद निहितान् निधीन् पितॄन् परावतो गतान् ॥ ४१ ॥
यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ ४२ ॥
यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥ ४३ ॥
इदं पूर्वमपरं नियानं येना ते पूर्वे पितरः परेताः ।
पुरोगवा ये अभिशाचो अस्य ते त्वा वहन्ति सुकृतामु लोकम् ॥ ४४ ॥
सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥ ४५ ॥

अर्थ– (अमर्त्यं) मरणधर्मसे रहित (घृतप्रियं) जिसको घी बहुत प्रिय है ऐसी (हव्यवाहं) हव्योंका वहन करनेवाली अग्निको पितृगण (समिन्धते) अच्छी प्रकार प्रदीप्त करते हैं। और (सः) वह अग्नि (निहितान् निधीन्) रखे हुए खजानों की तरह [यहां लुप्तोपमा है] (परावतो गतान् पितॄन्) दूरगत पितरों को (वेद) जानती है ॥ ४१ ॥

(ते) तेरे लिए (यं मन्थं) जिस मंथ अर्थात् मथनेसे– बिलोनेसे प्राप्त पदार्थ मक्खन आदि को और (य ओदनं) जिस भातको (यत् मांसं) जिस मांसको (ते) तेरे लिए (निपृणामि) देता हूं। (ते) वे सब (स्वधावन्तः मधुमन्तः घृतश्चुतः) स्वधापाकसे मधुरतासे युक्त तथा घीसे परिपूर्ण (ते सन्तु) तेरे लिए होवें ॥ ४२ ॥

(देखो मंत्र १८ । ३ । ६९ और १८ । ४ । २६) ॥ ४३ ॥

(इदं) यह सामने स्थित (पूर्व) पुरातन तथा (अपरं) आज की (नियानं) बैलगाडी है। (येन) जिस पुरानी बैलगाडी से (ते पूर्वे पितरः परेताः) तेरे पुरातन पितर यहां से गए हैं। (अस्य) इस आज की बैलगाडी के (अभिशाचः) दोनों ओर जुतकर जाते हुए [जैसा कि बैलगाडीमें बैल दोनों ओर पार्श्वोंमें जुते हुए होते हैं] (पुरोगवाः) आगेके भागमें अर्थात् धुरा में जुते हुए जो बैल हैं (ते) वे बैल (त्वा) तुझ (सुकृतां लोकं) सुकर्मों के लोकों [वहन्ति] प्राप्त करावें ॥ ४४ ॥

[देवयन्तः] देव होने की कामना करते हुए मनुष्य [सरस्वतीं] सरस्वतीको [हवन्ते] बुलाते हैं। [तायमाने] विस्तृत [अध्वरे] हिंसारहित यज्ञादि काम में बुलाते हैं। [सुकृतः] श्रेष्ठ कर्म करनेवाले जन [सरस्वतीं हवन्ते] सरस्वतीको बुलाते हैं। [सरस्वती] सरस्वती [दाशुषे] दानी पुरुषके लिए [वार्यं] वरणीय अभिलषित पदार्थ [दात्] देती है ॥४५॥

भावार्थ– ये मनुष्य पितृयाग करते हुए पितरोंके लिए स्वधा व अमृतको देते हुए दोनों पुरस्तात् व [illegible] ॥ ४१ ॥ यह अग्निको पितरोंके पास न जाए जिससे कि अग्निमें हवन हुआ हवि पितरोंको पहुंच सके ॥४१॥

[illegible] हुए पदार्थों का [illegible] आंखोंसे ओझल हैं अथवा [illegible] [illegible] हों] वह सब अग्नि जानता है। अतः वह पितरों को हवि पहुंचाए और [illegible]
[illegible] ॥ ४१ ॥

[illegible] और मीठा दान करना चाहिए ॥ ४२ ॥ ४३ ॥
[illegible] में बैलगाडीका आना जाना चाहिए ॥ ४४ ॥

देव [illegible] कामना करनेवाले सरस्वती को बुलाते हैं। यज्ञादि हिंसारहित कार्योंमें सरस्वतीको बुलाया जाता है [illegible] है क्योंकि सरस्वती [illegible] फल प्रदान करती है ॥ ४५ ॥

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे ॥ ४६ ॥
सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥ ४७ ॥
पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि देवो नो धाता प्र तिरात्यायुः।
परापरैता वसुविद् वो अस्त्वधा मृताः पितृषु सं भवन्तु ॥ ४८ ॥
आ प्र च्यवेथामप तन्मृजेथां यद् वामभिभा अत्रोचुः।
अस्मादेतमघ्न्यौ तद् वशीयो दातुः पितृष्विहभोजनौ मम ॥ ४९ ॥

अर्थ- [दक्षिणा] दक्षिणा दिशासे आकर [यज्ञं अभि नक्षमाणाः पितरः] यज्ञको सब ओर से प्राप्त करते हुए जो पितर [सरस्वतीं हवन्ते] सरस्वतीको बुलाते हैं। वे तुम [अस्मिन् बर्हिषि] इस यज्ञमें [आसद्य] बैठकर [मादयध्वं] आनन्दित होओ [अस्मे] हमें [अनमीवाः इषः] रोगरहित अन्नोंको अर्थात् जिनके खानेसे किसी भी प्रकारका रोग न होवे ऐसे अन्नोंको हे सरस्वती! तू [आ धेहि] दे ॥ ४६ ॥

[सरस्वति देवि] हे सरस्वती देवी! [या] जो तू [पितृभिः स्वधाभिः] मदन्ती पितरोंके साथ मिलकर स्वधाओंसे आनन्दित होती हुई [सरथं] पितरोंके साथ समान रथपर आरोहण करती हुई [ययाथ] आई है। वह हे सरस्वती! तू [अत्र] इस यज्ञमें [यजमानाय] यजमानके लिए [सहस्रार्घं इडः भागं] हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको और [रायस्पोषं] धनकी पुष्टि को [धेहि] दे ॥ ४७ ॥

[पृथिवीं त्वा पृथिव्यां आवेशयामि] मिट्टी से बने हुए हे मृत पुरुष! तुझको मिट्टीमें मिला देता हूं अर्थात् तुझे पृथिवीमें गाड़ता हूं। (धाता देवः नः आयुः प्रतिराति) धारक देव हमारी आयुको बढ़ावे। हे (परापरैताः) [illegible] हमसे दूर चले गए पितरो! (वः) तुम्हारे लिए धाता देव (वसुवित् अस्तु) धन प्राप्त करनेवाला हो तुम्हारा आश्रयदाता हो। (अध) और (मृताः) मृत (पितृषु सम्भवन्तु) पितरोंमें सम्मिलित होवें अर्थात् पितरोंमें जा मिलें ॥ ४८ ॥

हे भेदवाहक बैलो! (युवां) तुम दोनों (आ प्रच्यवेथाम्) बैलगाडीसे वियुक्त होओ। (तद्) उस [illegible] (जो आगे कहा जायगा) निन्दारूप वाक्य से (अप मृजेथां) शुद्ध होओ। उस निन्दारूप वाक्यको जिससे कि ऊपर शुद्ध होने को कहा गया है कहते हैं- [अभिभाः] दोष देनेवाले पुरुषोंने [वां] तुम दोनोंको [illegible] इत्यादि निन्दारूप [यत् ऊचुः] जो वाक्य कहा है उससे शुद्ध होओ। [अघ्न्यौ] हे हिंसा करनेके अयोग्य बैलो! [अस्मात्] इस निन्दा की कारणभूत गाडीसे [एतं] जो दूर जाता है [तद्] वह [वशीयः] श्रेष्ठ होवे। और तब [इह] इस पितृमेध में [पितृषु दातुः मम] पितरोंका उद्देश करके अग्निको देते हुए या [illegible] मेरे [भोजनौ] पालना करनेवाले होओ ॥ ४९ ॥

भावार्थ- पितर सरस्वती को यज्ञमें बुलाते हैं ॥ ४६ ॥

सरस्वती पितरोंके साथ समान रथपर चढ़ती स्वधा खाती व यज्ञमें आती है ॥ ४७ ॥

[पृथ्वी में मृत देहके गाड़ने का निर्देश है।] यह [illegible] अतएव यहांपर मृतदेहको पृथिवी [मिट्टी] के नामसे पुकारा गया है ॥ ४८ ॥

स्मशानमें जाकर बैलगाडीसे उतरकर बैलोंका स्वास्थ्यविचार करना चाहिए ॥ ४९ ॥

इयमगन् दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दत्ता सुदुघा वयोधाः ।
यौवने जीवानुपपृञ्चती जरा पितृभ्य उप संपराणयादिमान् ॥ ५० ॥ (२४)
इदं पितृभ्यः प्र भरामि बर्हिर्जीवं देवेभ्य उत्तरं स्तृणामि ।
तदा रोह पुरुष मेध्यो भवन् प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् । ॥ ५१ ॥
एदं बर्हिरसदो मेध्योऽभूः प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् ।
यथापरु तन्वं१ सं भरस्व गात्राणि ते ब्रह्मणा कल्पयामि ॥ ५२ ॥
पर्णो राजापिधानं चरूणामूर्जो बलं सह ओजो न आगन् ।
आयुर्जीवेभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ५३ ॥

अर्थ- [सुदुघा] उत्तम तथा कामनाओं को पूर्ण करनेवाली [वयोधाः] अन्नको देनेवाली [अनेन दत्ता] इसने दी हुई [इयं दक्षिणा] यह दक्षिणा [भद्रतः नः आ अगमत्] कल्याणकारी स्थानसे हमको कल्याणकारी रूपसे प्राप्त हुई है । इससे हमारा अकल्याण नहीं होगा । [यौवने जीवान् उपपृञ्चती जरा इव] जिस प्रकार युवावस्थाके बाद जाने पर जीवों को वृद्धावस्था अवश्य आती है उस प्रकार यह दक्षिणा [इमान्] इन जीवों को [पितृभ्यः] पितरोंके लिए उसी प्रकार [उप संपराणयात्] प्राप्त कराये अर्थात् पितरोंके पास उत्तम रीति से पहोंचाये ॥ ५० ॥

[इदं बर्हिः पितृभ्यः प्रभरामि] यह कुशासन पितरों के लिए रखता हूं बिछाता हूं [देवेभ्यः जीवं उत्तरं स्तृणामि] देवोंके लिए जीवको उससे ऊंचा बिछाता हूं । [पुरुष] हे पुरुष ! [मेध्यः भवन्] पवित्र होता हुआ ([तत् आरोह] उस पर बैठ । [परेतं त्वा पितरः प्रति जानन्तु] परेत अर्थात् परे गए हुए या उत्क्रमण को प्राप्त हुए तुझे पितर जानें ॥ ५१ ॥

हे पुरुष ! [इदं बर्हिः असदः] इस कुशासन पर तू बैठा है । [मेध्य भूः] पवित्र हुआ है । [पितरः परेतं त्वा जानन्तु] पितर परेत हुए हुए तुमको जानें । [यथा परु तन्वं संभरस्व] जोडोंके अनुसार शरीरको भर अर्थात् जहां जोड चाहिए वहां जोड बनाता हुआ शरीरको पूर्ण कर । मैं [ते गात्राणि] तेरे अंगोंको [ब्रह्मणा] ब्रह्मद्वारा [कल्पयामि] समर्थ बनाता हूं यानि तेरे शरीरमें ब्रह्मद्वारा शक्ति देता हूं ॥ ५२ ॥

[पर्णः राजा] पालक राजा [चरूणां] चरुओंका ढक्कन है । [ऊर्जः] अन्न [बलं] बल [सहः] शत्रुका नाश करनेका सामर्थ्य [ओजः] तेज ये सब [नः] हमें उस पर्ण राजासे [आ अगन्] प्राप्त होवें । [शतशारदाय दीर्घायुत्वाय] सौ वर्ष जितनी दीर्घायु के [जीवेभ्यः] लिए जीवितों के लिए [आयुः विदधत्] आयु दे अर्थात् १ वर्ष की दीर्घायु देवे ॥ ५३ ॥

भावार्थ- दक्षिणा देनेसे पितरोंकी प्राप्ति होती है। जिसप्रकार युवावस्थाके बाद आनेपर वृद्धावस्था अवश्यंभाविनी है उसी प्रकार दक्षिणा देनेवालेको पितरोंकी प्राप्ति भी अवश्यंभाविनी है ॥ ५० ॥

मनुष्य पवित्र बने और उन्नति प्राप्त करे ॥ ५१ ॥

शरीरके प्रत्येक अवयवकी वृद्धि करके उसको सुदृढ बनाना चाहिये ॥ ५२ ॥

पर्णराजा चरुओं का ढक्कन है। वह हमें अन्न बल तेज आदि देता है। वह हम जीवोंको दीर्घायु देवे ॥ ५३ ॥

ऊर्जो भागो य इमं जजानाश्माऽन्नानामाधिपत्यं जगाम ।
तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥ ५४ ॥
यथा यमाय हर्म्यमवपन् पञ्च मानवाः । एवा वपामि हर्म्यं यथा मे भूरयोऽसत ॥ ५५ ॥
इदं हिरण्यं बिभृहि यत्ते पिताबिभः पुरा । स्वर्गं यतः पितुर्हस्तं निर्मृड्ढि दक्षिणम् ॥५६॥
ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः ।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दती ॥ ५७ ॥
वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सूरो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः ।
प्राणः सिन्धूनां कलशाँ अचिक्रदद् इन्द्रस्य हार्दिमाविशन्मनीषया ॥ ५८ ॥

अर्थ- [यः] जिस [ऊर्जः भागः] बलके विभाग करनेवालेने [इमं] इस बलको [जजान] पैदा किया है और जो [अश्मा] अश्मा होनेसे [अन्नानां आधिपत्यं] अन्नोंके स्वामित्वको [जगाम] प्राप्त हुआ है ऐसे [तं] उसकी हे सबके मित्रो ! [हविर्भिः] हविर्योंद्वारा [अर्चत] पूजा करो। (सः) वह (यमः) यम (नः) हमें (प्रतरं जीवसे धात्) बहुत जीनेके लिए धारण करे अर्थात् दीर्घायु देवे ॥ ५४ ॥

(यथा) जिस प्रकार (पञ्चमानवाः) पांच मानवोंने (यमाय) यमके लिए (हर्म्यं) घरको (अवपन्) बनाया है (एव) उसी प्रकार मैं भी (हर्म्यं वपामि) घर बनाता हूं (यथा) जिससे कि (मे) मेरे (भूरयः) बहुतसे घर (असत) हो जावें ॥ ५५ ॥

हे मरणासन्न पुरुष ! [इदं हिरण्यं बिभृहि] इस सोनेको धारण कर [यत्] जिस सोनेको कि [पुरा] पहिले [ते पिता अबिभः] तेरे पिताने धारण किया था। इस प्रकार हे मनुष्य ! [स्वर्गं यतः पितुः दक्षिणं हस्तं निर्मृड्ढि] स्वर्गको जाते हुए पिताके दक्षिण हाथको सुशोभित कर ॥ ५६ ॥

(ये च जीवाः) जो जीवित हैं और (ये च मृताः) जो मर गए हैं जो (जाताः) और जो उत्पन्न हुए हैं, (ये च यज्ञियाः) और जोकि पूजनीय सङ्गति करने योग्य हैं (तेभ्यः) उन उपर्युक्तों के लिए (मधुधारा) मधुरधारावाली (व्युन्दती) उमड़ती हुई (घृतस्य) घी या जलकी (कुल्या) छोटी नदी (एतु) प्राप्त होवे ॥ ५७ ॥

(विचक्षणः) विशेषतया देखनेवाला (वृषा) अभिमत कामनाओंका वर्षक (मतीनां पवते) मतियोंका पवित्र करनेवाला है। (सूरः) सूर्य (अह्नां) दिनोंवाला (उषसां) उषाओंका तथा (दिवः) द्युलोकका (प्रतरीता) बढानेवाला है। (सिन्धूनां प्राणः) नदियोंका प्राण (कलशान्) घड़ोंको जलधाराओंसे (अचिक्रदत्) गुंजाता है। (मनीषया) मनकी इच्छानुसार (इन्द्रस्य) इन्द्रके (हार्दिं) हृदयमें (आविशन्) प्रवेश करता है ॥ ५८ ॥

भावार्थ- यम दीर्घायु देवे ॥ ५४ ॥

जिसकी अपने घरोंके बढानेकी इच्छा हो वह यमके लिए घर बनवावे। पंच मानव यमके लिए घर बनाते हैं ॥ ५५ ॥

मरनेसे पूर्व मरणासन्न के दक्षिण हाथमें सोनेकी अंगूठी पहनना चाहिये ॥ ५६ ॥

जीवित मृत उत्पन्न तथा अन्य पूजनीयों को मधुरधारावाली बहती हुई घीकी जलकी नदी प्राप्त होवे ॥ ५७ ॥

इन्द्रमें अर्थात् आत्मामें ज्ञान बल तेज मनन शक्ति प्राण ये सब प्रविष्ट रहें ॥ ५८ ॥

त्वेषस्ते धूम ऊर्णोतु दिवि षञ्छुक्र आततः
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥ ५९ ॥
प्र वा एतीन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतिं सखा सख्युर्न प्र मिनाति संगिरः ।
मर्य इव योषाः समर्षसे सोमः कलशे शतयामना पथा ॥ ६० ॥ (२५)
अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाँ अधूषत । अस्तोषत स्वभानवो विप्रा यविष्ठा ईमहे ॥ ६१ ॥
आ यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पितृयाणैः ।
आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥ ६२ ॥
परा यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पूर्याणैः ।
अधा मासि पुनरा यात नो गृहान् हविरत्तुं सुप्रजसः सुवीराः ॥ ६३ ॥

अर्थ- [पावक] हे पवित्र करनेवाली अग्नि ! [ते]तेरा [शुक्रः] शुद्ध [आततः] सब तरफ फैला हुआ [त्वेषः] चमकता [दिवि] द्युलोकमें [धूमः] धुंएकी तरह [ऊर्णोतु] सबको ढँकले । [द्युता] अपने प्रकाशसे [सूरः न] सूर्यकी तरह [त्वं] तू [कृपा] कृपा करके [रोचसे] दीप्त होता है ॥ ५९ ॥

[इन्दुः] ऐश्वर्य देनेवाला सोम [इन्द्रस्य निष्कृतिं] इन्द्र अर्थात् यज्ञ करनेवाला ऐश्वर्यशाली पुरुष निष्कृतिको [प्र एति] अच्छी तरहसे प्राप्त होता है अर्थात् इन्द्र सोमको अच्छी तरहसे निचोडता है । जैसे कि [सखा] मित्र [सख्युः] मित्रकी [संगिरः] उत्तम वाणियोंको [न प्रमिनाति] नहीं तोडता अर्थात् अवश्य ही उसके वचनानुसार काम करता है उसी प्रकार इन्द्र भी अवश्य ही सोमका रस निचोडता है और इस प्रकार सोम रस निचोडने पर [मर्यः योषाः इव] जिस प्रकार पुरुष स्त्रीसे संगत होता है उसी प्रकार [सोमः] सोम तू [कलशे] सोम निचोडनेके पात्रमें [शत-यामना पथा]सैकडों प्रकारकी गतिवाले मार्गसे अर्थात् निचोडने पर कई धाराओंसे[स अर्षसे]अच्छी प्रकारसे जाता है॥६०॥

[स्वभानवः] स्वयं प्रकाशमान [विप्राः] मेधावी पितर [अक्षन्] यज्ञमें दी गई हवियोंको खाते हैं। [अमीमदन्त] खाकर अत्यन्त आनन्दित होते हैं और [हि] निश्चयसे प्रियान् अपने प्रियजनोंको (अव अधूषत) कांतिमान् बनाते हैं । उनकी [अस्तोषत] प्रशंसा करते हैं । [यविष्ठाः] अत्यन्त युवा अर्थात् साम गानेवाले हम [ईमहे] उन पितरोंसे यज्ञादिमें आनेके लिए प्रार्थना करते हैं ॥ ६१ ॥

[सोम्यासः पितरः] हे सोमपान करनेवाले पितरो ! [गंभीरैः] गभीर [पितृयाणैः पथिभिः] पितृयाण मार्गोंसे [आ यात] आओ । [अस्मभ्यं आयुः प्रजां च रायः च दधतः) हमारे लिए आयुष्य प्रजा तथा धनदेनेवाले हो । [पोषैः] अन्य पुष्टियोंसे [नः] हमें [अभिसचध्वं] चारों ओर से युक्त करो ॥ ६२ ॥

[सोम्यासः पितरः] हे सोम संपादक पितरो ! [गभीरैः पूर्याणैः पथिभिः [गंभीर पूर्वोक्त मार्गोंद्वारा [परायात] वापस चले जाओ । वहांसे आप फिर यहां पर लौट आओ । [अध पुनः] और फिर [सुप्रजसः सुवीराः] हे उत्तम प्रजावाले तथा सुवीर पितरो ! [मासि] मासके अन्तमें यानि महीनेके बाद [नः गृहान्] हमारे घरोंमें [हविः अत्तुं] हविके खानेके लिए [आयात] आओ ॥ ६३ ॥

भावार्थ— हे अग्नि ! तेरा तेज सर्वत्र इस प्रकारसे फैलकर सबको ढँक ले जिस प्रकार कि धुआं सबको ढक लेता है। जिस प्रकार सूर्य स्वप्रकाशसे चमकता है उसी प्रकारसे तू भी हमारे पर कृपा करती हुई चमकती रह। (ऋ० १।१।६) ॥ ५९ ॥

इन्द्र सोमके निचोडनेके कर्मको नहीं छोडता जैसे कि मित्र मित्रकी मर्यादा नहीं तोडता । सोम निचोडा जानेपर कई धाराओंमें पात्रमें इस प्रकारसे जाकर प्राप्त होता है । जस प्रकार कि पुरुष स्त्री को प्राप्त करता है ॥ ६० ॥

पितरोंको यज्ञमें बुलाना चाहिए व हवि देकर तृप्त करना चाहिए। ऐसा करनेसे यजमान की कीर्ति बढ़ती है ॥ ६१ ॥

पितरो ! गभीर जो पितृयाण मार्ग हैं उनसे तुम्हारा हमारे यज्ञमें आओ व हमें संतति सम्पत्ति आदि प्रदान करो ॥६२॥

यद् वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयञ्जातवेदाः।
तद् व एतत् पुनरा प्यायामि साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम् ॥ ६४ ॥
अभूद् दूतः प्रहितो जातवेदाः सायं न्यह्न उपवन्द्यो नृभिः।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ ६५ ॥
असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः। अभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ६६ ॥
शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि ॥ ६७ ॥
येऽस्माकं पितरस्तेषां बर्हिरसि ॥ ६८ ॥

अर्थ- हे पितरो! [वः यत् एकं अङ्गं] तुम्हारे जिस एक अङ्गको (पितृलोकं गमयन् जातवेदाः अग्निः) पितृलोकमें ले जाती हुई जातवेदस् अग्निने (अजहात्) छोड दिया है (वः तत् एतत्) तुम्हारे उस इस अङ्गको मैं (पुनः) फिर (आप्याययामि) पूर्ण करता हूं। (साङ्गाः पितरः) अपने सब अङ्गोंसे युक्त हुए हुए पितरो! (स्वर्गे मादयध्वम्) स्वर्गमें आनन्दित होओ ॥ ६४ ॥

(सायं न्यह्ने) सायंकाल और प्रातःकाल (नृभिः उपवन्द्यः) नरोंसे वन्दना की जाती हुई (जातवेदाः) जातवेदस् अग्नि (प्रहितः दूतः अभूत्) भेजा हुआ दूत है। क्योंकि तू भेजा हुआ दूत है अतः हे (देव) प्रकाशमान अग्नि! (प्रयता हवींषि) हमारे से दी गई हवियों को (पितृभ्यः प्रादाः) पितरों के लिए दे जिससे कि (ते) वे पितर जिन्होंने कि तुझे दूत बनाकर भेजा है (स्वधया अक्षन्) स्वधा के साथ हमारे द्वारा दी गई हवियों को खावें। (त्वं अद्धि) तू भी इन हवियोंको खा ॥ ६५ ॥

(असौ) हे अमुक नामवाले प्रेत! (इह ते मनः) यहां तेरा मन है। हे (भूमे) पृथिवी! (जामयः ककुत्सलं इव) जिस प्रकार स्त्रियां अपने बच्चेको कपडेसे ढांपती हैं या कुलस्त्रियां अपने सिरको ढांपती हैं उस प्रकार (एनं) इस प्रेत को (अभि ऊर्णुहि) भली प्रकार ढांप ॥ ६६ ॥

(पितृषदनाः लोकाः शुम्भन्ताम्) जिनमें पितर बैठते हैं ऐसे लोक (शुम्भन्तां) शोभायमान हों। (त्वा) तुझे (पितृषदने लोके) जिसमें पितर बैठते हैं उस लोकमें (आसादयामि) बिठलाता हूं ॥ ६७ ॥

(ये) जो (अस्माकं पितरः) हमारे पितर हैं (तेषां) उनका (बर्हिः) आसन (असि) है ॥ ६८ ॥

भावार्थ- प्रत्येक मासमें पितृयज्ञ करना चाहिए तथा उसमें पितरोंको आमन्त्रित करना चाहिए ॥ ६३ ॥

अग्नि मरने के अनन्तर पितरोंको पितृलोकमें ले जाती हुई उनके शरीरके किसी अवयवको यहांपर छोड जाती है ॥ ६४ ॥

जिस अग्निकी सायं व प्रातः वंदना की जाती है उस अग्निको पितर अपना दूत बनाकर हमारे पास भेजते हैं और वह अग्नि हमारे पाससे हवियों को ले जाकर पितरों को पहुंचाती है। हमारे से दी गई हवियों को पितरों तक पहुंचाने के लिये अग्नि माध्यम है ॥ ६५ ॥

प्रेतके अन्त्येष्टिमें गाडने का भी एक विधि है। भूमि प्रेतको ढांपे ॥ ६६ ॥

कोई ऐसे लोक हैं जिनमें कि पितर बैठते हैं तथा उनमें एक वर्तमान व्यक्तिको भी किसी अवस्थाविशेषमें बिठलाया जाता है ॥ ६७ ॥

यज्ञमें पितरोंके बैठनेके लिए कुशाकाशनिर्मित आसन होना चाहिए ॥ ६८ ॥

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥ ६९ ॥
प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् यैः समामे बध्यते यैर्व्यामे ।
अधा जीवेम शरदं शतानि त्वया राजन् गुपिता रक्षमाणाः ॥ ७० ॥ (२९)
अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नमः ॥ ७१ ॥
सोमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ ७२ ॥
पितृभ्यः सोमवद्भ्यः स्वधा नमः ॥ ७३ ॥
यमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ ७४ ॥
एतत् ते प्रततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥ ७५ ॥

अर्थ- (वरुण) हे वरणीय श्रेष्ठ ! तेरे (उत्तमं) उत्तम (पाशं) पाशको (अस्मत्) हमसे (उत् श्रथाय) ऊपर से खोल दे। (अधमं) और जो तेरा अधम पाश है उसको (अव श्रथाय) नीचेकी ओरसे खोल दे। (मध्यमं) और जो तेरा मध्यम पाश है उसको (विश्रथाय) विविध रीतिसे खोल दे। (अध) इस प्रकार तेरे तीनों प्रकारके पाशोंसे विमुक्त होनेके बाद (अनागसः) पापरहित हुए हुए (वयं) हम (आदित्य) हे अखण्डनीय शक्तिवाले ! (ते) तेरे (व्रते) व्रत अर्थात् नियममें (अदितये) अदीनताके लिए अर्थात् समृद्ध हुए हुए (स्याम) होवें ॥ ६९ ॥

(वरुण) वरुण राजन् ! (अस्मत्) हमसे (सर्वान् पाशान्) तेरे सर्व पाशों-बन्धनों-को (प्रमुञ्च) अच्छी तरह से खोल दे। (यैः) जिन बन्धनोंसे कि (सम-आमे) समयाम में और (यैः) जिनसे कि (वि-आमे) व्यायाममें (बध्यते) प्राणी बांधा जाता है। (अध) तेरे उपरोक्त पाशोंसे छूटकर हम (राजन्) हे वरुण राजन् ! (त्वया गुपिताः) तेरेसे रक्षा किए गए अतएव (रक्षमाणाः) दूसरों की रक्षा करते हुए हम (शतानि शरदः) सैकडों वरस (जीवेम) जीवें ॥ ७० ॥

(कव्यवाहनाय अग्नये) अन्नका वहन करनेवाली अग्निके लिए (स्वधा नमः) स्वधा और नमस्कार होवे ॥ ७१ ॥
श्रेष्ठ पितावाले सोमके लिए स्वधा और नमस्कार हो ॥ ७२ ॥
सोमवान् पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो ॥ ७३ ॥
(पितृमते) उत्तमपितावाले (यमाय) यमके लिए (स्वधा नमः) स्वधा और नमस्कार होवे ॥ ७४ ॥
हे (प्रततामह !) प्रपितामह ! (ते एतत्) तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ (स्वधा) स्वधा होवे। (ये च त्वां अनु) और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा हो ॥ ७५ ॥

भावार्थ— हे वरुण ! तू तेरे दुष्टोंको बांधनेवाले तीनों प्रकारके उत्तम मध्यम व अधम पाशोंसे हमें मुक्त कर। हम पापरहित हुए तेरे नियमोंमें चलते हुए शक्तिशाली होकर नाना प्रकारकी समृद्धि का लाभ करें ॥ ६९ ॥
हे वरुण राजन् ! तू अपने उन बन्धनोंसे हमें मुक्त कर जिनसे कि विविध रोग मनुष्य पर आक्रमण करते हैं। तेरी रक्षासे रक्षित हुए हुए सैकडों वरस जीवें ॥ ७० ॥
यम और पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो ॥ ७१-७४ ॥
पितरोंके लिए अन्न देना योग्य है ॥ ७५-८ ॥

|| ७६ ||
एतत् ते ततामह स्वधा ये च त्वामनु || ७७ ||
एतत् ते तत स्वधा || ७८ ||
स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः || ७९ ||
स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः || ८० ||
स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः || ८१ ||
नमो व पितर ऊर्जे नमो व पितरो रसाय || ८२ ||
नमो वः पितरो भामाय नमो वः पितरो मन्यवे || ८३ ||
नमो व पितरो यद् घोरं तस्मै नमो वः पितरो यत् क्रूरं तस्मै || ८४ ||
नमो वः पितरो यत्किंच तस्मै नमो वः पितरो यत् स्योनं तस्मै || ८५ ||
नमो वः पितरः स्वधा वः पितरः || ८६ ||
येऽत्र पितरः पितरो येऽत्र यूयं स्थ युष्मांस्तेऽनु यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ

तेरे लिए यह दिया हुआ यथार्थ [हवि] स्वधा होवे । [ये
अर्थ—[ततामह] हे पितामह ! [ते एतत् स्वधा] तेरे लिए भी यह स्वधा होवे ॥ ७६ ॥
च त्वामनु] और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा होवे ॥ ७७ ॥
हे [तत] पिता ! [ते एतत् स्वधा] तेरे लिए यह हवि स्वधा होवे ॥ ७८ ॥
[पृथिविषद्भ्यः] पृथिवीपर बैठनेवाले [पितृभ्यः] पितरोंके लिए [स्वधा] स्वधा हो ॥ ७९ ॥
[अन्तरिक्षसद्भ्यः पितृभ्यः] अन्तरिक्षमें बैठनेवाले पितरोंके लिए [स्वधा] स्वधा हो ॥ ८० ॥
[दिविषद्भ्यः पितृभ्यः] द्युलोकमें बैठनेवाले पितरोंके लिए [स्वधा] स्वधा हो ॥ ८१ ॥
[पितरः] हे पितरो ! [वः ऊर्जे नमः] तुम्हारे अन्न वा बलके लिए नमस्कार है । [पितरः] हे पितरो ! [वः
रसाय नमः] तुम्हारे रस स्वरूप [दुग्ध आदि] के लिए नमस्कार है ॥ ८२ ॥
[पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारे [भामाय] क्रोधके लिए [नमः] नमस्कार हो । (पितरः) हे पितरो !
(वः) तुम्हारे (मन्यवे) मन्युके लिए (नमः) नमस्कार होवे ॥ ८३ ॥
(पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत् घोरं) जो घोर कर्म है (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है ।
(पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत् क्रूरं) जो क्रूर कर्म है (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है ॥ ८४ ॥
(पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत्) जो [किंच] कल्याणमय कर्म है (तस्मै) उसके लिए (नमः)
नमस्कार है । (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत् स्योनं) जो सुखमय कर्म है (तस्मै) उसके लिए (नमः)
नमस्कार है ॥ ८५ ॥
हे (पितरः) पितरो ! (वः) तुम्हारे लिए (नमः) नमस्कार होवे । (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे लिए
(स्वधा) स्वधा होवे ॥ ८६ ॥
(ये पितरः अत्र) ये अन्य पितर यहां हैं और (ये) जो (यूयं पितरः) तुम पितृगण (अत्र स्थ) यहां पर हो
(ते) वे अन्य पितर (युष्मान् अनु) तुम्हारे अनुकूल होवें और (यूयं) तुम (तेषां श्रेष्ठाः भूयास्थ) उनमें श्रेष्ठ
होवो ॥ ८७ ॥

भावार्थ— पितरोंसे स्वधा प्राप्त करके मनुष्य श्रेष्ठ बने ॥ ७६–८७ ॥

य इह पितरो जीवा इह वयं स्मः। अस्माँस्तेऽनु वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म ॥ ८७ ॥
आ त्वाग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम्।
यद् घ सा ते पनीयसी समिद् दीदयति द्यवि। इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ८८ ॥
चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥ ८९ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः।

इत्यष्टादशं काण्डं समाप्तम् ॥ १८ ॥

अर्थ- (ये) जो [पितरः] पितृगण (इह) यहां हैं उनके अनुग्रहसे (वयं) हम (इह) यहां (जीवाः स्मः) जीवित हैं। (ते पितरः अस्मान् अनु) वे पितर हमारे अनुकूल बने रहें। (वयं) हम (तेषां श्रेष्ठाः भूयास्म) उनमें श्रेष्ठ होवें। अथवा वे हमारे अनुकूल हों और हम उनके। दोनों मिलकर परस्पर श्रेष्ठ होवें ॥ ८७ ॥

(देव) हे प्रकाशमान (अग्ने) अग्नि ! हम (द्युमन्तं) चमकती हुई (अजरं) जरारहित (त्वा) तुझे (इधीमहि) प्रकाशित करते हैं। (यत् ते) जिस तेरी (सा) वह (पनीयसी) अत्यन्त प्रशंसनीय (समिद्) दीप्ति-प्रकाश (द्यवी) अंतरिक्षमें अथवा सूर्यमें (दीदयति) प्रकाशित हो रही है। अर्थात् तू ही सूर्य रूपसे प्रकाशित हो रही है। ऐसी हे अग्नि ! तू (स्तोतृभ्यः) तेरी स्तुति करनेवालोंके लिए (इषं) अन्न आदि पदार्थोंको (आ भर) दे। (ऋ ५।६।४) ॥ ८८ ॥

[सुपर्णः] सुन्दर चालवाला अथवा सुन्दर रश्मियोंवाला [चन्द्रमाः] चन्द्र [अप्सु अन्तः] जलोंके अन्दर रहता हुआ [दिवि] अंतरिक्षमें [धावते] दौड़ता रहता है। [रोदसी] हे द्यावापृथिवी ! [वः] तुम्हारी [पदं] स्थितिको [हिरण्यनेमयः] सोने जैसी चमकीले प्रान्तभाग-सीमावाली [विद्युतः] बिजलियां अथवा प्रकाशमान पदार्थ [न विन्दन्ति] नहीं प्राप्त करते। अर्थात् तुम इतनी लम्बी चौड़ी हो कि कोई भी प्रकाशमान पदार्थ घूम घूम करके भी तुम्हारे अंतका पता नहीं कर सकता। [मे] मेरी [अस्य] इस उपरोक्त स्तुतिको [वित्तं] तुम दोनों जानो ॥ ८९ ॥

भावार्थ- हम सदा प्रकाशमान व अजर अग्निको प्रकाशित करते रहें। जिसकी ज्योति द्युलोकमें व सूर्यादिमें प्रकाशित कर रही है। वह स्तुति करनेवालोंको अन्नादि इष्ट पदार्थोंका प्रदान करती है ॥ ८८ ॥

सुन्दर गतिवाला चन्द्रमा जो कि जलोंके आवरणके बीचमें रहता हुआ द्युलोकमें बराबर दौड़ रहा है वह तथा अन्य अत्यन्त चमकनेवाले पदार्थ जो इस द्यावापृथिवी के बीचमें रात्रिदिन बराबर समान गतिसे दौड़ रहे हैं व इस द्यावापृथिवीकी स्थितिको अर्थात् आदि व अन्तको नहीं पाते। (ऋ १।१०५।१) ॥ ८९ ॥

चतुर्थ अनुवाक समाप्त।

इति अठारहवां काण्ड समाप्त।

अष्टादश काण्डका मनन।

(१) पितर।

वर्तमान समयमें यम और पितर यह एक बडा भारी विवादास्पद विषय है और इसीलिये बडे महत्त्वका होता हुआ भी बिलकुल विचारणीय है। वेद ही के हमारे पास अन्तिम साधन होनेसे तथा उन्हींकी प्रामाणिकतामें सबको विश्वास होनेसे इस संबन्धमें वेदके क्या विचार हैं यह जानना नितान्त जरूरी है। हमें पुनर्जन्ममें पूर्ण विश्वास है पर हम यह निश्चित रूपसे अभी नहीं कह सकते कि मरनेके बाद जीव पहिले कहां जाता है और कब फिर जन्म लेता है। वर्तमान समयके लोग जो यम व पितर संबन्धी व्यवस्था मानते हैं व तदनुसार आचरण करते हैं उसका मूल क्या है? क्या पुराणोंकी ही यह कपोलकल्पना है या वेदोंमें भी इसका कुछ मूल पाया जाता है? मरनेके बाद जीव कहां जाता है किस रूपमें रहता है कबतक बिना पुनर्जन्म लिए रहता है मरनेके बाद मृतककी जीवात्मा का उसके सांसारिक संबन्धियोंसे कोई संबन्ध रहता है या नहीं यदि रहता है तो किस रूपमें उस मृतके लिए जीवितोंको कुछ करना चाहिए या नहीं यदि करना चाहिए तो किस रूपमें। यम क्या है कहां रहता है प्रेत पितरोंसे उसका क्या संबन्ध है उसके दूत क्या हैं यम कहांका राजा है इत्यादि इत्यादि अनेक मार्मिक प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं। क्योंकि मरनेके बादका वृत्तान्त जानना मनुष्यकी शक्तिसे बाहिर है और वेदके सिवाय और कोई उपाय हमारे पास नहीं है अतः हम इन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंके संबन्धमें वैदिक विचार जाननेका यत्न करेंगे।

पितृलोक।

इस लेखमें हम पितृलोक पर विचार करेंगे। जिन जिन मन्त्रोंमें पितृलोकके संबन्धमें निर्देश या वर्णन होगा उन सब मन्त्रोंका उल्लेख किया जायगा जिससे कि पितृलोक संबन्धी कोई भी वैदिक विचार छूटने न पावे। निम्न मंत्रमें सिर्फ पितृलोकका निर्देश मिलता है।

> सुम्नवन्तो लोकाः पितृषदनाः।
> पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि ॥
>
> अथर्व १८।४।६७ ॥
>
> सुम्नवन्तो लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि ॥
>
> यजु ५।२६ ॥ तथा ६।१ ॥

अर्थ– (पितृषदनाः लोकाः) जिनमें पितर बैठते हैं ऐसे लोक (सुम्नवन्तः) शोभायमान हों। (त्वा) तुझ (पितृषदने लोके) जिसमें पितर बैठते हैं उस लोकमें (आसादयामि) बिठलाता हूं।

इस मंत्रसे पता चलता है कि कई ऐसे लोक हैं जिनमें कि पितर बैठते हैं तथा उनमें एक मृत व्यक्तिको भी किसी अवस्थाविशेषमें बिठलाया जाता है।

> एतदा रोह वय उन्मृजानः स्वा इह बृहदु दीदयन्ते।
> अभि प्रेहि मध्यतो माप हास्थाः पितॄणां लोकं प्रथमो यो अत्र ॥
>
> अथर्व. १८।३।७३ ॥

अर्थ (उन्मृजानः) अपनेको शुद्ध करता हुआ (एतद् वयः आरोह) इस अन्तरिक्षमें चढ। (इह) यहां (स्वाः) तेरे बन्धुबान्धव (बृहत् दीदयन्ते) बहुत प्रकाशमान हो रहे हैं–अर्थात् वे बहुत उन्नत हुए हुए हैं उनकी तू चिन्ता मत कर। (मध्यतः अभिप्रेहि) उन बन्धुबान्धवों के मध्यमें जा। (पितॄणां लोकं) पितरोंके लोकको (मा अपहास्थाः) त्याग मत कर अर्थात् तेरेसे पितृलोक छूटने न पावे। (यः) जोकि पितृलोक (अत्र) यहां (प्रथमः) मुख्य–प्रसिद्ध है।

इस प्रकार हमने देखा कि पितृलोकका निर्देश हमें वेदमें मिलता है। अब हमें देखना है कि वे पितृलोक कौनसे हैं–

१ पितृलोक–'पृथिवी'।

> स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः ॥
>
> अथर्व १८।४।७८ ॥

अर्थ- (पृथिवीषद्भ्यः) पृथिवीपर बैठनेवाले (पितृभ्यः) पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो।

पृथिवीस्थ पितरोंके लिए स्वधाका वर्णन यहांपर है। पूर्वोक्त बहुतसे पितृलोकोंमेंसे एक पृथिवी लोक है जहां कि पितर बैठते हैं ऐसा इस मंत्रसे प्रतीत होता है।

२ पितृलोक—'अंतरिक्ष'।

स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः ॥

अथर्व १८।४।७९ ॥

अर्थ (अन्तरिक्षसद्भ्यः पितृभ्यः) अन्तरिक्षमें बैठनेवाले पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो।

इस मंत्रमें अंतरिक्षमें बैठनेवाले पितरोंका वर्णन है।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम्। तेभ्यः स्वराळसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ अथर्व १८।३।५९ ॥

अर्थ (ये) जो (नः) हमारे (पितुः पितरः) पिताके पितर और (ये) जो (पितामहाः) पितामह-दादा (ये) जो कि (उरु अंतरिक्षं) विस्तृत अंतरिक्षमें (आविविशुः) प्रविष्ट हुए हुए हैं (तेभ्यः) उनके लिए (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान (असुनीतिः) प्राणदाता परमात्मा (नः) हमारे (तन्वः) शरीरोंको [यथावशं] कामनाके अनुकूल [कल्पयाति] समर्थ करता है।

इस मंत्रमें पिता पितामह तथा प्रपितामहोंका अन्तरिक्षमें प्रवेश स्पष्ट रूपसे दर्शाया गया है। यद्यपि इस मंत्रके उत्तरार्धमें भी एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात कही गई है पर उसका यहां पर विवेचन मतलब नहीं है। उसपर अन्यत्र विचार करेंगे।

उदिहि प्रेहि प्र द्रवौकः कृणुष्व सलिले सधस्थे।
तत्र त्वं पितृभिः संविदानः सं सोमेन मदस्व सं स्वधाभिः ॥ अथर्व. १८।३।८

अर्थ-[उद् इहि] उठ [प्रेहि] जा [प्रद्रव] दौड। [सधस्थ] जहां सब इकट्ठे रहते हैं ऐसे [सलिले] अंतरिक्ष में (ओकः) घर (कृणुष्व) बना। (तत्र) वहां अंतरिक्षमें (त्वं) तू (पितृभिः संविदानः) अपने पितरोंके साथ मिला हुआ एकमत्य या ज्ञान प्राप्त हुआ हुआ (सोमेन) सोमरस (संमदस्व) अच्छी तरह आनन्दित हो। और (स्वधाभिः) स्वधाओंसे (सं) अच्छे प्रकार तृप्त हुआ हुआ आनन्दित हो।

इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे अंतरिक्ष लोकमें पितरोंके बैठे जाने का और वहां स्थित पितरोंके साथ स्वधा आदिसे आनन्दित होनेका निर्देश है। अतः यह मंत्र भी पितरोंका स्थान अंतरिक्ष बता रहा है।

उपरोक्त सब मंत्रोंसे हम यह स्पष्ट रूपसे पाते हैं कि पितर अन्तरिक्ष में भी रहते हैं अर्थात् अन्तरिक्ष भी पितरों के लोकों में से एक लोक है जहां पितर निवास करते हैं।

३ पितृलोक—'द्यु'।

स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः ॥ अथर्व १८।४।८० ॥

अर्थ-(दिविषद्भ्यः पितृभ्यः) द्युलोकमें बैठनेवाले पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो।

इस मंत्रमें ऐसे पितरोंका वर्णन है जो कि द्युलोकमें बैठते हैं, और वहां बैठकर स्वधा लेते हैं।

आ नः पवस्व वसुमद्धिरण्यवदश्ववद्गोमद्यवमत् सुवीर्यम्। यूयं हि सोम पितरो मम स्थन दिवो मूर्धानः प्रस्थिता वयस्कृतः ॥

ऋ. ९।६९।८

अर्थ- हे सोम! तू (नः) हमें (वसुमत्) वसुयुक्त (हिरण्यवत्) सोनाचांदीवाले (अश्ववत्) घोडोंवाले (गोमत्) गौओंवाले (यवमत्) यवादि धान्यवाले, (सुवीर्यम्) उत्तम पराक्रम को (आपवस्व) प्राप्त कर। अर्थात् हममें ऐसा सामर्थ्य दे कि हम ये सब उपरोक्त वस्तुओंको अपने पराक्रम से प्राप्त करें। हमको ऐसा पराक्रम दे। हे सोम! (यूयं वयस्कृतः मम पितरः) तुम जीवन देनेवाले मेरे पितर (दिवः मूर्धानः प्रस्थिताः) द्युलोक के मस्तक ऊंचे चढे हुए (स्थन) हो॥

इस प्रकार उपरोक्त मंत्रोंसे हमें दर्शाया कि द्युलोक में भी पितर रहते हैं। द्युलोक में पितर कहां रहते हैं यह निम्न मंत्र दर्शा रहा है—

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥

अथर्व १८।२।४८ ॥

अर्थ- (अवमा द्यौः उदन्वती) सबसे नीचे की जो 'द्यु' लोक वह है जिसमें कि जल रहता है। जिस द्युलोकमें जल रहते हैं वह सबसे नीचेका द्युलोक है। (पीलुमती इति मध्यमा) और जिसमें ग्रह नक्षत्रादि स्थित हैं वह बीच का द्युलोक है।

(१) निश्चयसे (तृतीया) तीसरा (प्रद्यौः इति) प्रद्यु नाम का द्युलोक है [यस्यां] जिसमें कि [पितरः आसते] पितर स्थित होते हैं ।

इस मंत्रमें यह बतलाया गया है कि द्युलोक तीन प्रकारका है। एक तो वह जो कि तीनों प्रकार के द्युलोकोंमें से सबसे नीचे है और उसमें मेघमण्डल स्थित है। दूसरा इससे ऊपर है और उसमें सिद्ध अर्थात् ग्रह नक्षत्रादि स्थित हैं। यह बीचका द्युलोक है। तीसरा इससे ऊपर है जो कि प्रद्यौ के नामसे प्रख्यात है और यही द्युलोक है जिसमें कि पितर निवास करते हैं। अथर्व के इन मंत्रोंके देखने से ऐसा पता चलता है कि पितर पृथिवी लोक से चलकर अन्तरिक्ष लोकमें जाते हैं और फिर चलकर सबसे अन्तमें इस द्युलोक में निवास करते हैं। यह द्युलोक ग्रह नक्षत्रादि के निवासक द्युसे भी परे है ऐसा इस मंत्रसे पता चलता है; अतः इसके आधारपर यह स्पष्ट रूप निश्चय हो सकता है कि यह पितरों का निवासक द्युलोक सूर्यलोकसे परे है। इसी मंत्रके भावको निम्न ऋग्वेदकी ऋचा पुष्ट करती है।

> तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट्।
> आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु
> य उ तच्चिकेतत् ॥ ऋ. १।३५।६॥

अर्थ- (तिस्रो द्यावः) तीन द्युलोक हैं। (द्वौ) उनमें से दो (सवितुः) सूर्य के (उपस्थाः) समीप हैं (एका) और एक (यमस्य भुवने) यमके लोकमें स्थित है जो कि (विराषाट्) वीरसाह है, अर्थात् जिसमें वीर लोक जाकर स्थित होते हैं। (रथ्यं आणिं न) जैसे रथ धुरीपर आश्रित होकर स्थित होता है उसी प्रकार (अमृता = अमृतानि) वे सब अमृत ग्रह नक्षत्रादि (अधि तस्थुः) जिसके आश्रयमें स्थित हुए हुए हैं। (यः) जो कोई (तत्) इन उपरोक्त तत्त्वोंको (चिकेतत्) ठीक प्रकार जानता है वह (इह) यहांपर हमें (ब्रवीतु) इस रहस्यका निरूपण करे। आणि नाम उस कीलका है, जो कि धुरेके किनारेपर छेद करके पहिएको बाहिर निकल जानेसे रोकनेके लिए लगाई जाती है।

इस मंत्रसे हमें इतना और पता चलता है कि पूर्व मंत्रमें निर्दिष्ट तीसरा द्युलोक कि जिसमें पितरों की स्थिति है वह सूर्य लोकसे परे होता हुआ यम लोकमें स्थित है अर्थात् यमका राज्य उस द्युलोक में है। पितर यमकी प्रजा हैं तथा यम उन का राजा है यह बात आगे चलकर हमें पता चलेगी। यहांपर उस बातका निर्देश मात्र है।

इस मन्त्रमें यम लोकको स्थित द्युका विशेषण 'विराषाट्' दिया है। अर्थात् उस द्युमें वीरगण जाकर निवास करते हैं। इसी बातको निम्न लिखित अथर्ववेदका मंत्र पुष्ट करता हुआ साथमें पितरोंका द्युलोकमें जाना कह रहा है।

> इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन्।
> प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः ॥
> अथर्व १८।१।६१ ॥

अर्थ- (एते) ये पितर (इतः) यहांसे (उद् आ अरुहन्) ऊपर को चढते हैं। (दिवः पृष्ठानि आरुहन्) और द्युके पृष्ठोंपर प्रकाश स्थानोंपर-चढते हैं। (यथा पथा) जिस प्रकारके मार्गसे कि (भूर्जयः) भूमि जीतनेवाले वीर (अङ्गिरसः) अंगिरस पितर (द्यां) द्युलोकको (प्रययुः) गए हुए हैं।

अथर्व के निरूपणसे हमें इतना पता चलता है कि पितर पृथिवी अन्तरिक्ष तथा द्यु इन तीनों लोकोंमें निवास करते हैं। इसी परिणाम को निम्न मंत्र प्रमाणित कर रहा है। इस मंत्रमें तीनों लोकोंका वर्णन है।

> ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशु-
> रुर्वन्तरिक्षम्। य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां
> तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ॥ अथर्व. १८।२।४९॥

(ये) जो (नः पितुः पितरः) हमारे पिताके पितर हैं (ये) और जो (पितामहाः) उनके भी पितामह हैं (ये) जो कि (उरु अंतरिक्षं आविविशुः) विशाल अन्तरिक्ष में प्रविष्ट हुए हैं और (ये) जो (पृथिवीं उत द्यां) पृथिवी तथा द्युलोकमें (आक्षियन्ति) निवास करते हैं (तेभ्यः पितृभ्यः) उन पितरोंके लिए हम (नमसा विधेम) नमस्कार पूर्वक पूजा करते हैं। यह मंत्र सर्वथैव स्पष्ट है। यह पितरों का तीनों लोकोंमें निवास होना स्पष्टतया प्रतिपादन कर रहा है।

४ 'पितृलोक—पिताका कुल या घर।'

इन उपरोक्त पितृलोकों के विवरण हमें वेदमें एक ऐसा भी मंत्र मिलता है जिसमें कि पितृलोकका अर्थ पिताका घर या पिताका कुल प्रतीत होता है। मंत्र इस प्रकार है-

> उदुत्तीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः अव
> दीक्षामसृक्षत स्वाहा। अथर्व १४।२।५२ ॥

(इमाः) ये (उशती कन्यलाः) पति प्राप्त की कामना करती हुई शोभायमान कन्याएं (पितृलोकात्) पितृकुलसे [पतिं यतीः] पतिके पास जाती हुई (अव—अयक्षत) उत्तम भावों द्वारा [दीक्षाम्] दीक्षाको (अवसृक्षत) हैं।

नियम व्रत आदिकी शिक्षा का नाम दीक्षा है। यहांपर पितृकुल को पितृलोक के नामसे कहा गया है।

८ पितृलोक– पितरोंका देश ।

निम्न मंत्रमें पितृलोकका अर्थ पैतृक भूमि है। जिस भूमि में वंशपरंपरासे रहते चले आए हैं उस भूमिका नाम पितृलोक से यहां कहा गया है।

> पंचापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
> प्रदातोप जीवति पितॄणां लोकेऽक्षितम् ॥
>
> अथर्व ३।२९।४ ॥

[पंच अ–पूप] पांचों वर्णों (ब्राह्मणादि चार वर्ण तथा पांचवां निषाद) को न सतानेवाले अतएव (लोकेन संमित) जनता द्वारा संमत [शितिपादं अविं] शितिपादों को [रक्षके–] रक्षक पर आश्रित [प्रदाता] देनेवाला [पितॄणां लोके अक्षितं उपजीवति] पितरोंके देशमें अक्षय होकर जीता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस मंत्रमें पितृलोक का अभिप्राय पितरोंका देश है।

पितृलोकके सम्बन्धमें यहांपर इतना ही विवेचन पर्याप्त है। अब हम पितृयाण पर इसी प्रकार वेदमंत्रसे प्रकाश डालनेका प्रयत्न करेंगे।

पितृयाण ।

पितृलोकको समझ लेनेके अनन्तर हमारे सामने यह सवाल उपस्थित होता है कि इन लोकोंमें कब और कैसे अर्थात् किस मार्ग द्वारा पितर जाते हैं? इस पृथिवी लोकसे अन्य लोकोंमें जानेके दो मार्ग हैं। जिस मार्गसे पितर जाते हैं वह पितृयाण मार्ग कहलाता है। तथा जिससे देवलोक जाते हैं वह देवयान कहलाता है। इसी भावको निम्न मंत्र दर्शा रहा है। मंत्र इस प्रकार है।–

> द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।
> ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥
>
> ऋ० १० । ८८।१५ ॥
>
> यजु० अ० १९।४७॥

(मर्त्यानां पितॄणां उत देवानां) मनुष्यों पितरों व देवोंके (द्वे सृती) दो मार्ग (देवयान और पितृयाणमार्ग) (अशृणवं) मैंने सुने हुए हैं। (ताभ्यां) उन दोनों मार्गों द्वारा (इदं एजत् विश्वं) यह गतिमान् विश्व (यत्) जो कि (पितरं मातरं च अन्तरा) इस द्यु पिता और पृथिवी माताके बीचमें स्थित है (सं एति) अच्छी प्रकार गति करता रहता है। अर्थात् इन मार्गोंसे आवागमन होता रहता है।

एवं इस मंत्रसे इतना पता चलता है कि देवयान और पितृयाणमार्ग दो मार्ग हैं जिनसे आवागमन होता है। इसके अतिरिक्त हमें कुछ मंत्र ऐसे मिलते हैं जिनमें कि पितृयाण मार्ग से जानेका निर्देश पाया जाता है। वे सब मंत्र नीचे दिए जाते हैं।

> आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रोहयामि । अवाड् हव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके ॥
>
> अथर्व १८।४।१॥

(जातवेदसः) हे अग्नियो ! तुम (जनित्रीं आरोहत) अपनी उत्पत्ति करनेवालीके पास पहुंचो। मैं [वः] तुम्हें (पितृयाणैः) पितृयाणमार्गोंसे (सं आरोहयामि) अच्छी प्रकार पहुंचाता हूं। (इषितः हव्यवाहः) प्रिय हव्योंका वाहक अग्नि (हव्या = हव्यानि) हव्योंको [अवाट्] वहन करता है। हे अग्नियो ! (युक्ताः) तुम मिलकर [ईजानं] यज्ञ करनेवाले को (सुकृतां लोके) श्रेष्ठ कर्म करनेवालोंके लोकमें (धत्त) धारण करो अर्थात् वहां उसे लेजाओ।

अग्नि और पितरोंका एक विशेष सम्बन्ध प्रतीत होता है। यह संबन्ध कैसा व क्या है इसपर विस्तारसे विचार आगे अग्नि व पितर इस शीर्षक के नीचे करेंगे। यहां पर तो सिर्फ पितृयाण मार्गसे ही मतलब है इसी शीर्षक में आगे हम दिखाएंगे कि अग्नि पितृयाण मार्ग से भी जाता है।

> प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः । उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्
>
> ॥ ऋ० १०।१४।७॥

यही मंत्र थोडेसे पाठभेद से अथर्ववेदमें निम्न प्रकारसे आया है—

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा ते पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्तौ यमं पश्यासि वरुणं च
देवम् ॥ अथर्व १८।१।५४

(यत्र) जहां (नः पूर्वे पितरः) हमारे पूर्व पितर (परेयुः) गए हुए हैं वहां (पूर्व्येभिः पथिभिः) पहिलेके मार्गों द्वारा (प्रेहि प्रेहि) तू जा। वहां (स्वधया) स्वधासे (मदन्तौ) तृप्त होते हुए (उभौ राजानौ) दोनों राजा (यमं वरुणं देवं च) यम और वरुण देव को (पश्यासि) देख।

इन उपरोक्त मंत्रोंसे पता चलता है कि पितरोंके जाने के मार्ग पितृयाण के नाम से प्रख्यात हैं। इसके सिवाय एक मंत्र ऐसा भी है जिसमें कि पितृयाण मार्गसे आनेका भी उल्लेख पाया जाता है।

आ यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पितृयाणैः।
आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सच
ध्वम् ॥ अथर्व १८।४।६२

(सोम्यासः पितरः) हे सोमपान करनेवाले पितरो! (गम्भीरैः) गंभीर (पितृयाणैः पथिभिः) पितृयाण मार्गोंसे (आयात) आओ। (अस्मभ्यं आयुः प्रजां च रायः च दधतः) हमारे लिए आयुष्य प्रजा तथा धनऐश्वर्य दो। (पोषैः) अन्य पुष्टियों से (नः) हमें (अभिसचध्वं) चारों ओर से युक्त करो।

इस मंत्र में पितरों के पितृयाण से आकर आयु प्रजा आदि देनेका उल्लेख है। इसके अतिरिक्त निम्न मंत्र में भी पितृयाण का उल्लेख मिलता है।

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम। ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम ॥ अथर्व ६।११७।३ ॥

(अस्मिन्) इस लोक में हम (अनृणाः) ऋण रहित होवें (परस्मिन्) पर लोक में (अनृणाः) हम अनृण होवें। तथा (तृतीये लोके) तीसरे लोकमें (अनृणाः) ऋणरहित (स्याम) होवें। (ये देवयानाः पितृयाणाः च लोकाः) जो देवयान व पितृयाण मार्ग हैं (सर्वान् पथः) उन सब मार्गों में (अनृणाः) ऋण रहित हुए हुए (आ क्षियेम) विचरण करें।

इस मंत्रमें दो प्रकारका ऋण है। (१) भौतिक धन लेकर उसे न लौटाने का ऋण। (२) वैदिक ऋण जिसका निर्देश निम्नलिखित ब्राह्मण वचनमें है। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः इति' (तै. स. ६।३।१०।५) अर्थात् तीन प्रकारका वैदिक ऋण पैदा होते ही मनुष्य पर चढता है वह तीन प्रकारका ऋण ऋषिऋण देवऋण तथा पितृऋण है। ब्रह्मचर्यके पालनसे ऋषिऋण उतरता है यज्ञ करनेसे देवऋण उतरता है तथा सन्तानोत्पत्तिसे पितृऋण से मनुष्य मुक्त होता है। निम्न मंत्र पितृयाण मार्गका उल्लेख करते हुए यह भी दर्शाते हैं कि कौन पितृयाण मार्गको जानता है और कौन नहीं।

यं त्वा द्यावापृथिवी यं त्वापस्त्वष्टा यं त्वा सुजनिमा जजान। पन्थामनु प्र विद्वान् पितृयाणं द्युमदग्ने समिधानो विभाहि ॥ ऋ. १०।२।७ ॥

हे अग्ने! (यं त्वा) जिस तुझको (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक क्रमशः अग्नि और आदित्य रूपसे पैदा करते हैं और (यं त्वा) जिस तुझे (आपः) जल विद्युत् रूपसे पैदा करते हैं, और (यं त्वा) जिस तुझको (सुजनिमा) उत्तम उत्पादक (त्वष्टा) प्रजापति (जजान) उत्पन्न करता है वह तू (पितृयाणं पन्थां) पितृयाण मार्गको (अनु प्र विद्वान्) अच्छी प्रकारसे जानता हुआ (समिधानः) प्रज्वलित किया हुआ (द्युमत्) दीप्तिवाला होता हुआ (विभाहि) प्रकाशमान हो।

इस मंत्रमें अग्निको पितृयाण मार्गका जाननेवाला बताया गया है। हम पूर्वही निर्देश कर आए हैं कि अग्नि व पितरोंका विशेष संबन्ध है। उस संबंध पर विशद विचार आगे किया जायगा। अग्निको छोडकर और कौन पितृयाण मार्ग जानता है यह निम्न मंत्र दिखाता है :—

स च पूर्वे विदुषा मातलेनाविशस्तो जुहोति।
स पितृयाणं पन्थां जानाति स देवयानम् ॥
अथर्व १५।१२।४-५

(सः यः) वह जो (एवं) उपरोक्त प्रकारके (विदुषा मातलेन) विद्वान् समझदी अतिथिसे (अतिसृष्टः) आज्ञा दिया हुआ (जुहोति) हवन करता है वह (पितृयाणं पन्थां) पितृयाण मार्ग को (देवयानं) देवयान मार्ग को भी अच्छे प्रकार जानता है। इसके प्रतिकूल—

अथ य एवं विदुषा मातलेनानतिसृष्टो जुहोति ॥
न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानं ॥
अथर्व १५।१२।८-९ ॥

जो उपरोक्त प्रकारके (विदुषा व्रात्येन) विद्वान् व्रात्यसे (अनतिसृष्टः) न आज्ञा दिया हुआ (जुहोति) हवन करता है।

है। वह (न पितृयाणं पन्थां प्रजानाति) न तो पितृयाण मार्ग को ही अच्छी भांति जानता है और नहीं (देवयानं) देवयान मार्गको जानता है अब पितृयाण मार्ग किसे प्राप्त नहीं होता यह नीचे दिया हुआ मंत्र बताता है। मंत्र इसप्रकार है-

> देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान्।
> यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम्॥ अथर्व ५।१८।१३

(देवपीयुः गरगीर्णः मर्त्येषु चरति) देवोंकी हिंसा करनेवाला जहर खाया हुआसा मनुष्योंमें विचरण करता है। वह (अस्थिभूयान् भवति) हड्डियोंसे बहुतायतवाला होता है अर्थात् शरीर में मांसादिके न रहनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो इसके शरीरमें हड्डियां ही हड्डियां हैं और अतएव देखनेमें सिवाय हड्डियोंके और कुछ नहीं दीखता। (यः) जो (देवबन्धुं ब्राह्मणं हिनस्ति) देवोंके बन्धु ब्राह्मणकी हिंसा करता है (सः) वह (पितृयाणं लोकं) पितृयाण मार्गको (अपि) भी (न एति) नहीं प्राप्त होता।

इस प्रकार हमें इनके मंत्रोंसे पता चलता है कि पितृयाण एक खास मार्ग है जिससे कि पितृगण एक लोकसे दूसरे लोकमें आते जाते हैं। अब यह मार्ग कौनसा है यह प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है। इस प्रश्नपर थोडासा प्रकाश निम्न मंत्र डाल रहा है। इस पर थोडासा प्रकाश अग्नि व पितरके प्रकरण में भी डालेंगे। मंत्र इस प्रकार है-

> आ भरतं शिक्षतं वज्रबाहू अस्माँ इन्द्राग्नी अवतं शचीभिः। इमे नु ते रश्मयः सूर्यस्य येभिः सपित्वं पितरो न आसन्॥ ऋ. १।१०९।७

(वज्रबाहू इन्द्राग्नी) वज्रवाले भुजाओंवाले इन्द्र और अग्नि (अस्मान् आभरतं) हमारा अच्छी प्रकार भरण करें, (शिक्षतं) शिक्षा दें और (शचीभिः अवतं) अपनी शक्तियोंसे हमारी रक्षा करें। (नु) निश्चयसे (सूर्यस्य इमे ते रश्मयः) सूर्य की ये वे किरणें हैं (येभिः) जिनसे कि (नः) हमारे (पितरः) पितर (सपित्वं आसन्) सपित्व हैं।

यहांपर आया हुआ सपित्व शब्द बडे महत्व का है। इसी पर थोडासा विशेष विचार करेंगे क्योंकि जो कुछ परिणाम निकाला जा सकता है वह इसीपर आश्रित है। सपित्वं शब्द धातुसे औणादिक त्वन् प्रत्यय करनेसे सिद्ध होता है समानं च तत् पित्वं च इति सपित्वं अथवा सह पित्वं सपित्वं। पतिके तीन अर्थ हो सकते हैं ज्ञान गमन और प्राप्ति। इस प्रकार इस शब्दके तीन अर्थ हो सकते हैं। (१) सह गमन (२) सहप्राप्ति (३) सहज्ञान। सहगमन और सहप्राप्तिमें विशेष भेद नहीं है क्योंकि सहगमन से सहप्राप्ति होती है। अब हमारे सामने दो पक्ष शेष रहते हैं (१) सह गमन या सहप्राप्ति और (२) सहज्ञान। इन दो पक्षोंमें से कौनसा अर्थ लेना चाहिए यह विचारना है।

जिसप्रकार यास्काचार्यने निरुक्त अ० ३ पाद ३ खण्ड १४ में 'कुहस्विद्दोषा कुह वस्तो रश्विना' इत्यादि ऋ० १०।४०।२ की व्याख्या करते हुए 'कुहाभि पित्वं करतः' इस पद समुदाय में आए हुए अभिपूर्वक पित्व शब्दका अर्थ प्राप्ति ऐसा किया है। वे 'कुहाभि पित्वं करतः' का अर्थ करते हैं क्वाभि प्राप्तिं कुरुतः।

सायणाचार्य ने सपित्वं का अर्थ सह प्राप्तव्यं स्थानं ऐसा किया है। इस शब्द उपसर्ग रखके 'आप्लृ व्याप्तौ' धातुसे 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः', इस सूत्रसे 'त्वन्' प्रत्यय करके 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टं' से निपातन करके सपित्व ऐसा शब्द व्याकरणानुसार सिद्ध किया है। सायणाचार्य सपित्व की सिद्धि अन्य रीतिसे भी करते हैं। षप समवाये इस धातुसे 'इन् सर्वधातुभ्यः' से इन् करके सपि शब्द बनाकर, 'सप्तमीभोः सपित्वं।' अर्थ यही उपरोक्त।

इन दो उपरोक्त आचार्यों के मतानुसार सपित्व का अर्थ सह-गमन या सह-प्राप्ति है। हम ऊपर पितृलोक के मंत्रों में देख आए हैं कि पितर द्युलोकमें पितृयाण मार्ग से जाते हैं। और यहां इस मंत्र में हम पाते हैं कि पितर सूर्यकिरणों के साथ जाते हैं और उनके साथ वहां पहुंचते हैं। अतः इससे हम इस परिणाम पर पहुंच सकते हैं कि पितर पितृयाण द्वारा पितृलोक में जाते हैं और यह पितृयाण मार्ग संभव है सूर्य-किरणें हों। इस पितृयाण मार्ग पर विशेष प्रकाश अग्नि व पितर इस प्रकरण में डाल सकेंगे ऐसी हमें आशा है। यहां पर यह संकेत मात्र किया है। पितृयाण मार्ग विशेष विचारणीय है अतः इसके विषयमें एकदम निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। पाठक गण इसपर विचार कर कुछ परामर्श करेंगे तो अच्छा होगा।

२ पितरोंके कार्य ।

इस लेखमें पितरोंके जो कार्य दर्शाए जायेंगे उससे यह परिणाम कदापि नहीं निकालना चाहिए कि पितरोंके कार्यप्रदर्शक मंत्र इतने ही हैं और येही पितरोंके कार्य हैं । पितरोंके अन्य विशेष कार्य दर्शानेवाले और भी बहुतसे मंत्र हैं परंतु वे अन्य प्रकरणोंके लिए अधिक उपयुक्त होनेसे उनको यहाँ दिया जायगा।

१ रक्षा करना ।

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥
ऋ. १०।१५।१॥ यजु. अ. १९।४९ ॥
अथर्व. १८।१।४४

(सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (अवरे उत् मध्यमाः उत् परासः पितरः) कनिष्ठ, मध्यम तथा उत्तम पितर (उत् ईरताम्) उन्नति करें। (ये ऋतज्ञाः अवृकाः) जिन हिंसारहित यज्ञ या सत्यके जाननेवाले पितरोंने (असुं ईयुः) प्राण बल या जीवनको प्राप्त कर लिया है (ते पितरः) वे पितर (हवेषु) संग्रामोंमें—युद्धोंमें या बुलाए जानेपर (नः अवन्तु) हमारी रक्षा करें ।

गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् ।
दृष्टानदृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥
अथर्व. ८।८।१५॥

(गंधर्वाप्सरसः) गन्धर्व तथा अप्सराओंको (सर्पान्) सर्पोंको (देवान्) देवोंको (पुण्यजनान्) पुण्यजनोंको (पितॄन्) पितरोंको (दृष्टान् अदृष्टान्) चाहे वे देखे हुए हों या न हों इन सबको (इष्णामि) प्राप्त करता हूं। (यथा) जिससे कि वे सब (अमूं सेनां) उस शत्रु सेनाको (हनन्) मार डालें—नष्ट कर दें।

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः ।
गंधर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् ।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च
प्रदर्शय ॥ अथर्व. ११।९।२४

[वनस्पतीन्] वनस्पतियोंको [वानस्पत्यान्] वनस्पतियों से उत्पन्न पदार्थोंको [ओषधीः] औषधियोंको [उत] और [वीरुधः] लताओंको [गंधर्वाप्सरसः] गन्धर्व तथा अप्सराओंको [सर्पान्] सर्पोंको [देवान्] देवोंको [पुण्यजनान्] पुण्यजनोंको (पितॄन्) पितरोंको (तान् सर्वान्) इन सबको तथा [उदारान्] उदारोंको [अर्बुदे] हे अर्बुदि ! [त्वम्] तू [अमित्रेभ्यः दृशे कुरु] शत्रुओंको देखने लिए कर। अर्थात् इन्हें शत्रुओंको दिखा ताकि वे शत्रुओंका विनाश करें। इनकी भातक शक्तिका उपयोग शत्रुओंके लिये हो।

अर्बुदिका अर्थ ऐतरेय ब्राह्मणने इस प्रकार किया है– अर्बुदः काद्रवेयः सर्पऋषिः मंत्रकृत् [ऐ. ब्रा, ६।१] अर्बुद नामका कोई सर्पऋषि था उसका पुत्र अर्बुदि। 'अत इञ्' इस सूत्रसे इञ्। 'यस्यपूर्वको विविधलिङ्गः' इस नियमानुसार आदि वृद्धि न होकर अर्बुदि बनता है।

सायणाचार्यने इसका अर्थ अंतरिक्षचर राक्षस व पिशाच अथवा सूर्यरश्मिसे होनेवाले जलधारि पात यानि अंतरिक्ष उत्पात ऐसा किया है। इस अर्थ की पुष्टि में उन्होंने तै. ब्रा. का प्रमाण दिया है कि 'तस्मात् ते पाप्मानं उदाराः अभा-वन्त ते ' ब्रा. २।१।९।२ तद् आरयन्ति मर्दित उदाराः इति उदाराः। अस्तु उदार शब्द का कुछ भी अर्थ माना जाए तो भी हमारे उद्देश में उससे किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुंचती।

इन उपरोक्त मंत्रों से स्पष्ट पता चलता है कि पितर युद्धमें हमारी रक्षा करते हैं। हमारे शत्रुओंसे लडकर उनका विनाश कर हमें बचाते हैं। इन उपरोक्त मंत्रोंमें पितरोंकी युद्धविषयक रक्षाका विधान है। अब हम ऐसे मंत्र उद्धृत करते हैं कि जिनमें सामान्य रक्षा का विधान है।

अवन्तु नः पितरः सुप्रवाचना उत देवी देवपुत्रे ऋतावृधा। रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन ॥ ऋ. १।१०६।३॥

[सुप्रवाचनाः पितरः नः अवन्तु] उत्तम प्रवचन करनेवाले पितर हमारी रक्षा करें। (उत) और [देवपुत्रे ऋतावृधा देवी] देव अर्थात् सूर्य व चन्द्रमा जिनके पुत्र—रक्षक हैं तथा जो सत्य से बढनेवाली हैं ऐसी द्यावापृथिवी भी हमारी रक्षा करें। हे [सुदानवः] उत्तम दानवाले [वसवः] वसु देवों (दुर्गात् रथं न) दुर्गमयोग्य स्थानसे रथकी तरह (विश्वस्मात् अंहसः) सब पापों से [नः निष्पिपर्तन] हमें निकाल कर पालो।

अवन्तु मामुषसो जायमाना अवन्तु मा
सिन्धवः पिन्वमानाः । अवन्तु मा पर्वतासो
ध्रुवासोऽवन्तु मा पितरो देवहूतौ ।
॥ ऋ. ६।५२।४ ॥

[आयमानाः उषसः मा अवन्तु] उत्पन्न होती हुई उषायें मेरी रक्षा करें । [पिन्वमानाः सिन्धवः मा अवन्तु] जलका सिंचन करती हुई नदियां मेरी रक्षा करें । [ध्रुवासः पर्वतासः मा अवन्तु] स्थिरता पर्वत मेरी रक्षा करें और [देवहूतौ] देवोंके आह्वान करनेमें (पितरः) पितृगण (मा अवन्तु) मेरी रक्षा करें इस प्रकार इस मन्त्रमें पितरोंको देवोंके आह्वान के कार्यमें रक्षा करनेके लिए कहा गया है ।

> इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा
> रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः
> पातु विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विदमहन्तप्तं
> वार्बहिर्धा यज्ञान्निःसृजामि ॥
>
> यजु० अ० ५।११ ॥

(इन्द्रघोषः त्वा वसुभिः पुरस्तात् पातु) इन्द्रकी वाणी तेरी आगेसे वसुओं द्वारा रक्षा करे । (प्रचेताः रुद्रैः त्वा पश्चात् पातु) प्रचेता रुद्रद्वारा तेरी पीछेसे रक्षा करे । (मनोजवाः पितृभिः त्वा दक्षिणतः पातु) मनोजव पितरों द्वारा तेरी दक्षिणसे रक्षा करें । [विश्वकर्मा आदित्यैः त्वा उत्तरतः पातु] विश्वकर्मा आदित्यों द्वारा तेरी उत्तरसे रक्षा करे । [अहं] मैं [इदं तप्तं वाः] यह गरम जल [यज्ञात्] यज्ञसे [बहिर्धा] बाहिरकी ओर [निःसृजामि] फेंकता हूं । पितर हमारी दक्षिण दिशासे रक्षा करते हैं अर्थात दक्षिण दिशासे आनेवाले विघ्नों को पितर दूर करते हैं, ऐसा इस मन्त्रसे सूचित होता है ।

निम्न मन्त्रमें यह दर्शाया गया है कि पितर भिन्न भिन्न कार्योंमें हमारी रक्षा करते हैं । मंत्र इस प्रकार है—

> पितरः परे ते मावन्तु । अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन्
> कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
> चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां
> स्वाहा ॥
>
> अथर्व ५।२४।१५ ॥

[ते] वे [परे पितरः मा अवन्तु] पूर्वकालीन या उत्कृष्ट पितर मेरी भिन्न कर्मोंमें रक्षा करें । [अस्मिन् ब्रह्मणि] इस ब्रह्मयज्ञमें [अस्मिन् कर्मणि] इस कर्मयज्ञमें । [अस्यां पुरोधायां] इस पुरोहितके कार्य में [अस्यां प्रतिष्ठायाम्] इस प्रतिष्ठामें । [अस्यां चित्त्याम्] इस चेतनायुक्त कार्योंमें । [अस्यां आकूत्याम्] इस संकल्प में । [अस्यां आशिषि] इस आशीर्वाद कर्ममें । [अस्यां देवहूत्यां] इस देवोंके आह्वानमें [स्वाहा] ।

इस प्रकार हमने इन मंत्रोंसे देखा कि कहां कैसे पितर हमारी रक्षा का कार्य करते हैं । अब हम पितरों के अन्य कार्योंपर दृष्टि डालते हैं ।

२ सूर्य प्रकाश देना ।

> अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अभिप्रसेदुर्ऋत-
> माशुषाणाः । अश्मव्रजाः सुदुघा वव्रे अन्तरु-
> दुस्रा आजन्नुषसो हुवानाः ॥
>
> ऋ० ४।१।१३ ॥

[अत्र] यहां [ऋतं आशुषाणाः] यज्ञ या सत्यको प्राप्त करतेहुए [मनुष्याः पितरः] मननशील पितर [अभिप्रसेदुः] प्रसन्न होते हैं और अश्मव्रजाः (सुदुघाः) पेयोंमें प्रसन्न करनेवाली दुग्धसे कामनाओं को पूर्ण करनेवाली (उषसः) उषाओं को (हुवानाः) बुलाते हुए (वव्रे अन्तः) अन्धकारमें (उस्राः) सूर्यकिरणोंको (उद् आजन्) प्राप्त करते हैं । अथवा अन्धकारमें सूर्य की किरणें फेंकते हैं यानि सूर्यकिरणों द्वारा सर्वत्र प्रकाश करते हैं । एवं इस मंत्रमें पितरोंका सूर्य प्रकाश देना बताया गया है ।

> अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमा-
> शुषाणाः । शुचीदयन् दीधितिमुक्थशासः क्षामा
> भिन्दन्तो अरुणीरपव्रन् ।
>
> ऋ० ४।२।१६ ॥ तथा यजु० अ० १९।६९।

यह मंत्र अथर्व में थोडेसे पाठभेदके साथ निम्न प्रकारसे आता है ।

> अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुशानाः ।
> शुचीदयन् दीध्यत उक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो
> अरुणीरपव्रन् ॥
>
> अथर्व १८।३।२१

(अधा नः परासः प्रत्नासः पितरः) जैसे हमारे श्रेष्ठ पुराने पितरों ने (ऋतमाशुषाणाः) सत्य या यज्ञ को प्राप्त करते हुए (दीधितिमिति) शुद्ध सूर्य किरणको (इत्) ही (अयन्) प्राप्त किया था और (उक्थशासः) उक्थों से ईश्वर स्तुति करते हुए (क्षामा = क्षाम) अन्धकारी आवरणको (भिन्दन्तः) नष्ट करते हुए (अरुणीः) उषाओंकी किरणों को (अपव्रन्) प्रकाशित किया था वैसे प्रकार हे अग्ने ! तुम्ही कर ।

स्वः वेदों के साथ सूर्य का नाम है। ब्राह्मणों व उपनिषदोंमें स्वः शब्द मार्गके लिए भी आता है। कहीं कहीं प्रजापतिके लिए भी प्रयुक्त हुआ हुआ है। धामा = धाम। ... के दीर्घ हुआ हुआ है यद्यपि धाम शब्दको निघण्टुमें पृथिवी वाचक नामों में लिया है तथापि यहां धाम शब्द का अर्थ प्रसंगसे 'प्रकाश' ही करना उचित है और यही ठीक जचता है। इसके अतिरिक्त इस विभागमें दिए गए सब मंत्रभी इसी भावको पुष्ट कर रहे हैं। पृथिवी को मेदन करने का यहां कोई संबंध प्रतीत नहीं होता। अभीष्ट अर्थ उपा-कालकी किरणें लेना है। अरुण्याः धाम उस्राम् अर्थात् उषाओंकी किरणोंका नाम अरुणी है। निघण्टु १।१५॥

इसी प्रकार निम्न मंत्र भी उपरोक्त मंत्र के कथन को ही पुष्ट कर रहा है-

> त इद्देवानां सधमाद आसन्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः।
> गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमन्त्रा अजन-यन्नुषासम्॥ ऋ. ७।७६।४॥

(ते इत् ऋतावानः कवयः पूर्व्यासः सत्यमन्त्राः पितरः) वे ही सत्ययुक्त, क्रान्तदर्शी पूर्वकालीन सत्य मंत्रवाले पितर (देवानां सधमादः आसन्) देवोंके साथ मिलकर आनन्दित होनेवाले थे कि जिन पितरोंने (गूळ्हं ज्योतिः) छिपे हुए प्रकाशको (अनु अविन्दन्) प्राप्त किया और (उषासं) उषाको (अजनयन्) उत्पन्न किया।

इस प्रकार इस मंत्रमें भी पितरों के उषा पैदा करके सूर्य प्रकाश देनेका कथन कहा गया है।

> वीळु चिद्दृळ्हा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण। चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वर्विविदुः केतुमुस्राः॥ ऋ. १।७१।२॥

(नः अङ्गिरसः पितरः) हमारे अङ्गिरस पितरोंने (उक्थैः) स्तोत्रोंसे (रवेण) और उनके उच्चारण करके स्तोत्रोंके उच्च घोषसे (वीळु चित्) बलवान् तथा (दृळ्हा) दृढ (अद्रिं) मेघको (रुजन्) छेद दिया। अर्थात् वेद मंत्रोंके पढनेसे इतना बडा शब्द हुआ कि उससे बादल टूट कर नीचे बरसने लगे। तब (बृहतः दिवः गातुं चक्रुः) बडे भारी द्युलोकसे मार्ग बनाया। और इस प्रकार (अस्मे) हमारे लिए (स्वः अहः केतुं) सुख के साधन व सूर्यको तथा (उस्राः) किरणोंको भी (विविदुः) प्राप्त किया।

इस मंत्रमें उक्थों की महिमा का वर्णन किया गया है और साथ ही में उन उक्थों की सहायतासे पितरोंने हमारे लिए दिन व सूर्य को प्राप्त किया जिससे कि हमें प्रकाश प्राप्त हो सके यह दर्शाया गया है। पितर बादलोंको हटाकर उन्हें छिन्न भिन्न कर हमारे लिए सूर्यप्रकाश पहुंचाते हैं यह इससे स्पष्ट होता है। उपरोक्त मन्त्रके इसी भावको निम्न मंत्र भी प्रकट कर रहा है।

> स वर्धिता वर्धनः पूयमानः सोमो मीढ्वाँ अभि नो ज्योतिषावीत्। येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञाः स्वर्विदो अभि गा अद्रिमुष्णन्॥ ऋ. ९।९७।३९॥

(सः) वह (वर्धनः) बढता हुआ (वर्धिता) बढानेवाला (पूयमानः) पवित्र करता हुआ (मीढ्वान्) सुख का कामनाओंका वर्षक (सोमः) सोम (नः ज्योतिषा अभि आवीत) हमारी प्रकाशसे चारों ओर से रक्षा करे। (येन) जिस सोमसे कि (नः पदज्ञाः स्वर्विदः पूर्वे पितरः) हमारे परम पदको जाननेवाले पूर्व पितरोंने (गाः) किरणोंको (आ अभि-उष्णन्) उद्देश करके अर्थात् किरणों की प्राप्तिका उद्देश करके अर्थात् किरणोंकी प्राप्तिका उद्देश करके (अद्रिं उष्णन्) मेघका अपहरण किया अर्थात् उसे दूर हटाया जिससे कि सूर्य किरणोंके आनेमें रुकावट न हो।

पूर्व मंत्रोक्त भावको इस मंत्रमें भिन्न रूपसे दर्शाया गया है। उसी भावकी यह मंत्र पुष्टि करता है। स्वर्विदः का अर्थ है सूर्य को जाननेवाले। द्युलोक कोभी स्वः कहते हैं अतः द्युलोक को जाननेवाले भी अर्थ है। यास्काचार्य भी यह अर्थ स्वीकार करते हैं। उन्होंने स्वः शब्दका निर्वचन निरु० अ० २। पा० ४। खण्ड १४ में निम्न प्रकारसे किया है-

> स्वः आदित्यो भवति। सु अरणः सु ईरणः स्वृतो रसान्, स्वृतो भासं ज्योतिषां स्वृतो भासेति वा। एतेन द्यौर्व्याख्याता।" अर्थात् स्वः आदित्यका नाम है क्योंकि यह सूर्य (सु-अरणः सु ईरणः) पूर्णतया अन्धकार को दूर भगानेवाला है।

सु अरणः। अथवा स्वृतो रसान् यह रसोंका प्रति महणके लिए आता है। सूर्यका रस लेना प्रसिद्ध ही है। सूर्यके रस लेनेकी बातको कालिदासने रघुवंश में इस प्रकार कहा है-

> सहस्रगुणमुत्स्रष्टुं आदत्ते हि रसं रविः

अर्थात् सूर्य हजार गुणा वापिस करनेके लिए रसोंको ग्रहण करता

पढ़ने देता है। सु पूर्वक सृ गतौ। सु×सृ = स्वः। अथवा सरतो मार्ग यस्मिन् अर्थात् नक्षत्रादि प्रकाशमानोंको प्रकाशित करनेवाला। अथवा 'सुष्ठु भासते दीप्यते' सुष्ठु होनेसे सूर्यका नाम स्वः है। इसीसे सुवर्लोक की भी व्याख्या होगई ऐसा हम मानना चाहिए।

इस मंत्रमें पितरोंको सूर्यका ज्ञानदेनेवाला कहा गया है, अत इससे यह अनुमान निकाला जा सकता है कि संभव है पितर सूर्यलोकमें भी विचरण करते हों। पितरोंकी सूर्यसे घनिष्ठता प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त हमें पितृयाण के प्रकरण में एक ऐसा मन्त्र भी मिला है जिसमें कि पितरों को सूर्यकिरणोंके साथ सहगामित्व व सहगमन बताया गया है। यहांपर पितरोंको सूर्यको जाननेवाले बतलाया गया है। अतः इन दोनों बातों को ध्यानमें रखकर विचारने से ऐसा प्रतीत होता है कि पितर पृथिवी लोक से सूर्य किरणों के साथ सूर्य लोकमें जाते हैं और वहांसे फिर द्युलोकमें स्थित पितर लोकमें जाते हैं। अतः संभव है यही पितृयाण मार्ग हो। उपरोक्त दोनों मन्त्रोंके भावको निम्न मंत्र और भी स्पष्ट रूपमें पुष्ट कर रहा है–

> अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्याम पिंशन्। रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन् बृहस्पति र्भिनदद्रिं विदद्गाः॥ ऋ० १०।६८।११ तथा
>
> अथर्व २०।१६।११

(बृहस्पतिः अद्रिं भिनत्) जब बृहस्पतिने मेघको तोड़ गिराया और (गाः विदत्) सूर्य किरणोंको प्राप्त किया तब (कृशनेभिः श्यावं अश्वं न) जैसे सुवर्णके अलंकारोंसे काले घोड़ेको शोभायमान किया जाता है वैसे (पितरः) पितरोंने (नक्षत्रेभिः द्याम् अपिंशन्) पितरोंने नक्षत्रों द्वारा द्युलोकको दीप्त किया व शोभायमान किया। और फिर (रात्र्यां तमः अदधुः) रात्रिमें अन्धकारको रखा तथा (अहन् ज्योतिः अदधुः) दिनमें प्रकाशको स्थापित किया। अतएव दिनमें प्रकाश होता है और रातमें अंधेरा। इस प्रकार इस मन्त्रमें प्रकाश व अंधेरा पितर करते हैं यह दर्शाया गया है।

> आविरभून्महि माघोनमेषां विश्वं जीवं तमसो निरमोचि। महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागादुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि॥ ऋ० १०।१०७।१

[एषां माघोनं महि आविरभूत्] इन पितरोंका मघवा संबन्धी महान् प्रकाश प्रकट हुआ और प्रकट होकर उसने [विश्वं जीवं] सारे संसारको तमसः निरमोचि] अंधकारसे छुड़ाया। [पितृभिः दत्तं महि ज्योतिः आगात्] यह पितरोंसे दिया हुआ प्रकाश आया और आकर उसने [दक्षिणायाः उरुः पन्थाः अदर्शि] दक्षिणा का विस्तृत मार्ग दर्शाया।

माघोनं का अर्थ है मघवा अर्थात् इन्द्र संबंधी प्रकाश सूर्यको वेद मायमें इन्द्र कहा होता है अर्थात् सूर्य वेदभाषामें इन्द्र कहलाता है। अतएव माघोन का यहां अर्थ सूर्यका प्रकाश ऐसा किया है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत प्रकरण भी इसी अर्थकी पुष्टि करता है।

इस मंत्रमें पितरोंके प्रकाश देनेके महत्त्वको दर्शाया गया है। इन उपरोक्त मन्त्रोंके देखनेसे हमें स्पष्ट पता चलता है कि पितरोंका काम नक्षत्रोंको उत्पन्न करना अन्धकारको दूर करके सूर्यप्रकाश प्राप्त करना, तथा पर्वतोंको तोड़ फोड़कर उनसे छिपे हुए प्रकाश को प्राप्त करना है। द्युलोकको नक्षत्रोंसे सुशोभित करके दिनरात बनानेवाले पितरोंका कार्य है। इस प्रकार पितर सूर्यप्रकाश प्रदाता हैं यह हमने देखा।

३ पापसे छुड़ाना

> अरायान् ब्रूमो रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् पितॄन्। मृत्यूनेकशतं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥
>
> अथर्व ११।६।१६

[अरायान्] न दान देनेवालोंको [रक्षांसि] राक्षसोंको, [सर्पान्] सर्पोंको [पुण्यजनान्] पुण्यजनोंको और [पितॄन्] पितरोंको [ब्रूमः] कहते हैं तथा [एकशतं] सम्पूर्ण एक सौ मृत्युओं को [ब्रूमः] कहते हैं कि [ते] वे सब [नः अंहसः] हमें पापसे [मुञ्चन्तु] छुड़ावें। यहांपर अन्योंके साथ पितर भी पापसे छुड़ाते हैं यह दर्शाया गया है।

४ सुख व कल्याण करना।

> विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव। शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः॥
>
> अथर्व १८।३।१६

हे (विश्वामित्र) सबके मित्र, (जमदग्ने) हे अग्निके प्रकाशक (वसिष्ठ) हे अतिशय श्रेष्ठ (भरद्वाज) हे अन्न धारक (गोतम) हे उत्तम स्तोता (वामदेव) हे प्रशंसनीय व्यवहारवाले (सुसंशासः) उत्तम तथा स्तुति करने योग्य (पितरः) पितरो! तुम (नः मृडत) हमें सुखी करो क्योंकि (शर्दिः अत्रिः) बलशाली अत्रिने (नमोभिः)

भक्षोंसे हमें (अभक्षीत्) ग्रहण किया है अर्थात् वह हमें खा लेता है।

अथवा हविः = हर्विः = घर। हर्विका अर्थ घर करने पर कर्मके विभक्ति व्यत्यय करना पड़ेगा। हर्विः = हर्विम्। इस अवस्था में सूक्तके वाक्यका अर्थ होगा कि ' क्यों कि अग्निने हमारे घरोंको अन्नोंसे भर दिया है अतः हे उपरोक्त विशेषण विशिष्ट पितरो हमें सुखी करो। ' अग्निष्वात्त अर्थ है जिसके शरीरमें ताप बनी रहे। (निरु ३। १७) इस मंत्रमें विद्वान् सोम बर्हिषद् आदि शब्द पितरों की विशेषता दर्शाते हैं।

> शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः। शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु॥ ऋ० ७।३५।१२
>
> तथा अथर्व० १९।११।११

(सत्यस्य पतयः) सत्य की रक्षा करनेवाले (नः शं भवन्तु) हमारा कल्याण करें। और (अर्वन्तः नः शं) घोड़े हमारे लिए कल्याणकारी हों। (उ) और (गावः शं सन्तु) गौएं हमारे लिए कल्याणकारी हों। (सुकृतः सुहस्ताः ऋभवः नः शं) नेक कर्मवाले कर्मकुशल कारीगर लोग हमारे लिए कल्याणकारी हों। (हवेषु) बुलाए जानेपर (पितरः नः शं भवन्तु) पितर हमारा कल्याण करें।

ऋभु का अर्थ निघण्टुमें मेधावी जन व कारीगर ऐसा है। (निघण्टु ३। १५।)

९ गर्भ धारण करना

> अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः। मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमा दधुः॥ ऋ० ९।८३।३

(अग्रियः) अगली — मुख्य — प्रसिद्ध [उषसः पृश्निः] उषाके वर्णन रचनेवाला सूर्य [अरूरुचत्] उषाको प्रकाशित करता है। [वाजयुः] भूतमात्रके लिए अन्नकी कामना करता हुआ बलवान् [उक्षा] जलोंका सिंचन करनेवाला सूर्य [भुवनानि बिभर्ति] भुवनों का पोषण पालन करता है। [अस्य मायया] इसकी मायासे [मायाविनः) मायावीगण [ममिरे] पदार्थोंका निर्माण करते हैं और [नृचक्षसः पितरः गर्भं आदधुः] मनुष्योंके देखनेवाले पितर गर्भ का धारण करते हैं।

यहां सूर्यकिरणों को पितर कहा गया है ऐसा प्रतीत होता है। पृथ्वी जलको अपने गर्भ में धारण करती है। सूर्यकी किरणोंद्वारा जल ऊपर ले जाकर पुनः वृष्टिके समय बरसना प्रसिद्ध ही है।

> आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्॥ यजुः अ० २।३३॥

[पितरः] हे पितरो ! [पुष्करस्रजं कुमारं गर्भं आधत्त] पुष्करस्रज् कुमारको गर्भमें धारण करो। [यथा] जिससे कि [इह पुरुषः असत्] यहां वह पुरुष बन जावे।

इस मंत्रपर भाष्य करते हुए उवटाचार्य तथा महीधराचार्यने पुष्करस्रज् कुमारका अर्थ अश्विनी कुमार जोकि देवोंके वैद्य हैं उनजैसा सुन्दर कुमार ऐसा किया है। पितरोंसे प्रार्थना की गई है कि देवोंके वैद्यजैसा सुन्दर पुत्र उत्पन्न करो। स्वामी दया-नन्दजी ने इस मंत्रपर भाष्य करते हुए पुष्करस्रज् कुमार का अर्थ ' विद्याग्रहणार्थ फूलोंकी माला धारण किये हुआ कुमार ' ऐसा किया है। इस अर्थानुसार यह मंत्र विद्याभ्यासके प्रारंभके समयका वर्णन करता है ऐसा प्रतीत होता है तथा इससे निम्न परिणाम निकाले जा सकते हैं—

१ यहां आचार्यों के लिए पितृ शब्द का प्रयोग किया गया है।

(२) विद्याभ्यासके प्रारंभ करनेके लिए गुरुके पास जाते हुए विद्यार्थी को फूलोंकी माला अपने गलेमें डालकर जाना चाहिए।

(३) बहुवचनान्त पितृशब्द एकही समयमें एक शिष्य के अनेक आचार्यों का होना दर्शाता है।

पाठकों के सामने हमने दोनों भाष्योंका दिग्दर्शन करा दिया है। इस पर विशेष विचार पाठक स्वयं करें।

१ पितरोंका संतति बढाना आदि

> त्रिधा सूनवोऽसुरं स्वर्विदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्मणा। स्वां प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरेष्वदधुस्तन्तुमाततम्॥ ऋ० १०।५६।६

[सूनवः] आदित्यके पुत्र देवोंने [असुरं स्वर्विदं] प्राणदायक द्युलोकको जाननेवाले आदित्यको (तृतीयेन कर्मणा) प्रजो-त्पत्ति नामक तीसरे कर्मसे (त्रिधा) तीन प्रकारका अन्त व उत्पत्तिका (आस्थापयन्त) स्थापित किया। (पितरः) पितरोंने (स्वां प्रजां) अपनी प्रजाको उत्पन्न करके (अवरेषु पित्र्यं सहः आदधुः) भविष्यकी संततिमें पैतृक तेजबल स्था-पित किया और इस प्रकार (तन्तुं आततं) संततिका विस्तृत बनाया।

पितर सद्गति बताकर उसमें वैदिक धर्म स्थापन करते हैं, ऐसा इस मंत्रमें बतलाया गया है।

७ मनके प्रत्यावर्तन अर्थात् पुनर्जन्ममें पितरोंकी सहायता !

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः ।
जीवं व्रातं सचेमहि ॥

ऋ १०।५७।५ तथा यजु ३।५५

[नः पितरः] हमारे पितर तथा [दैव्यः जनः] देवोंका संघ [पुनः नः मनः ददातु] फिरसे हमें मनका देवे । हम (जीवं व्रातं सचेमहि) प्राणादि इन्द्रियसमूहको प्राप्त करें।

मन शब्द यह सबके लिए प्रयुक्त हुआ हुआ है। यह मंत्र पुनर्जन्मपर प्रकाश डालता हुआ पितरोंका मनादि इन्द्रियोंके देनेमें सहायक होना दर्शा रहा है।

मनो न्वा हुवामहे नाराशंसेन सोमेन
पितॄणां च मन्मभिः ॥ ऋ १०।५७।३

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदसे यजुर्वेदमें निम्नप्रकार से आया हुआ है—

मनो न्वा ह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन
पितॄणां च मन्मभिः ॥

यजु अ ३।५३

हम [नाराशंसेन सोमेन] नर जिसकी प्रशंसा करते हैं ऐसे सोम [चन्द्रमा] से [च] और [पितॄणां मन्मभिः] पितरोंके मनन करने योग्य स्तोत्रोंसे [नु] निश्चयसे [मनः] मनको [आ हुवामहे] बुलाते हैं।

यजुर्वेदमें सोमेन के स्थानमें। स्तोमेन ऐसा पाठ है। यहांपर स्तुतियोंसे ऐसा अर्थ होगा। मनकी उत्पत्ति सोम अर्थात् चन्द्रमासे है यह हमें पुरुषसूक्त [यजु अ ३१] से पता चलता है। यहांपर मनके प्रत्यावर्तनमें सोम व पितरोंकी स्तुतियोंको साधन बताया गया है। उपरोक्त दोनों मंत्रोंमें मनकी पुनः प्राप्ति पितरों द्वारा होती है यह सहायता दिखाया गया है।

८ पितरोंके स्तोत्र ।

तमू षु समना गिरा पितॄणां च मन्मभि
र्नाभाकस्य प्रशस्तिभिर्यः सिन्धूनामुपो
दये सप्तस्वसा स मध्यमो नभन्तामन्यके समे ॥

ऋ ८।४१।२

[तं उ समानया गिरा] उस वरुणकी समान स्तुतिसे [च] और [पितॄणां मन्मभिः] पितरोंके मननीय स्तोत्र अर्थात् स्तुतियोंसे तथा [नाभाकस्य प्रशस्तिभिः] नाभाकके प्रशंसात्मक स्तोत्रोंसे [सु अभिष्टौमि] अच्छी प्रकार स्तुति करता हूं। [यः] जो [मध्यमः] मध्यम वरुण [सिन्धूनां उप उदये सप्त स्वसा] नदियोंके उद्गम स्थानमें सात नदियोंवाला है। [समे] सब [अन्यके] जो हमसे द्वेष करते हैं ऐसा दुष्टबुद्धिवाले—कुबुद्धिवाले पापसंकल्प [नभन्तां] न रहें।

इस मंत्रसे हमें पता चलता है कि पितरोंके कोई खास स्तोत्र हैं। वे स्तोत्र अपना विशेष परिणाम रखते हैं ऐसा नीचे दिए जानेवाले मंत्रसे प्रतीत होता है—

यह मंत्र विशेष विचारणीय है। उपरोक्त मंत्रकी व्याख्या निरुक्तकार यास्काचार्यने अपने निरुक्तमें इस प्रकारकी है

तं स्वभिष्टौमि समानया गिरा गीत्या स्तुत्या पितॄणां च मननीयैः स्तोमैः नाभाकस्य प्रशस्तिभिः। ऋषिर्नाभाको बभूव। यः स्यन्दमानानामासामपामुपोदये सप्त स्वसारमेनमाह वाग्भिः। स मध्यम इति निरुच्यते। अथैष एव भवति। नभन्तामन्यके समे मा भूवन्नन्यके सर्वे ये नो द्विषन्ति दुर्धियः पापधियः पापसंकल्पाः ॥

निरुक्त १०।५

हमने जो ऊपर अर्थ किया है वह निरुक्तानुसार ही किया है।

नाभाक ऋषिके प्रशंसापरक स्तोत्रोंसे तथा पितरोंके मननीय स्तोत्रोंसे वरुणकी स्तुति करनेसे पाप संकल्प नष्ट होते हैं अर्थात् पितरोंके स्तोत्र पाप संकल्पोंको दूर करनेमें सहायक हैं, यह इस मंत्रके कथनका अभिप्राय प्रतीत होता है। इनके सिवाय पितरोंकी स्तुतियोंसे और क्या विशेष काम हैं यह निम्न मंत्र दर्शाता है

त्वे ह यत् पितरश्चिन्न इन्द्र विश्वा वामा जरितारो असन्वन् । त्वे गावः सुदुघास्त्वे ह्यश्वास्त्वं वसु देवयते वनिष्ठः ॥ ऋ ७।१८।१

हे इन्द्र ! (त्वे) तेरेमें (जरितारः नः पितरः विश्वानि वामानि असन्वन्) स्तुति करते हुए हमारे पितरों ने सारे प्रशंसनीय पदार्थों या धनों को (असन्वन) प्राप्त किया। (यत्) क्यों कि (त्वे सुदुघाः गावः) तेरे पास सुखसे दोही जानेवाली गौएं हैं। (त्वे अश्वाः) तेरे पास घोडे हैं और साथ ही तू (हि) निश्चयसे (देवयते वसु वनिष्ठः) धनका

करनेवाले के लिए या स्तुति करनेवालेके लिए धनका संभाजन अर्थात् विभाग कर के देनेवाला है।

इस मंत्रमें यह बताया गया है कि पितरोंने स्तुति करके धन प्राप्त किया और जो कोई अन्य चाहे तो वह भी स्तुति करके प्राप्त कर सकता है। पितरोंकी स्तुतिका फल यहांपर दिखाया गया है। अब कुछ ऐसे मंत्र नीचे दिए जाते हैं जिन में से कि प्रत्येक में पितरों के भिन्न भिन्न कार्योंका उल्लेख है।

पितरोंसे दीर्घायु।

> वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मधुना घृतेन। चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु॥ अथर्व १८।४।१

[सोम्यासः पितरः मां वर्चसा अञ्जन्तु] सोम सम्पादन करनेवाले पितर मुझे तेजसे व्यक्त करें। [देवाः मधुना घृतेन] देव मुझे माधुर्योपेत घृत से व्यक्त करें। [चक्षुषे मां प्रतरं तारयन्तः] देखने के लिए मुझे अच्छी तरह तराते हुए अर्थात् समर्थ बनाते हुए, [जरदष्टिं मां] जिसका काम पाप शिथिल हो गया है ऐसे मुझको [जरसे] वृद्धावस्था तक [वर्धन्तु] बढावें अर्थात् जिस युक्तिमें आने पीनेकी शक्ति क्षीण हो जाती है उस वृद्धपेतक मुझे पहुंचाएं। यथार्थमय दीर्घायुवाला हो जाऊं उससे पूर्व मैं क्षीण न होऊं।

इस मंत्रमें पितरों से दीर्घायुष्यके लिए कहा गया है। दीर्घायु देना व प्रत्येक को उसकी पूर्णावस्थातक पहुंचाना पितरों का कर्म है।

> पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः। पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा। पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै॥ यजु० १९।३७

[सोम्यासः पितरः मा पुनन्तु] सोम संपादन करनेवाले पितर मुझे पवित्र करें। [पितामहाः मा पुनन्तु] पितामह मुझे पवित्र करें। [प्रपितामहाः] प्रपितामह मुझे पवित्र करें। [पवित्रेण शतायुषा] पवित्र सौ वर्ष की आयुसे। अर्थात् ये उपरोक्त त्रिपुरुष मुझे पवित्र सौ वर्ष की आयु दें। मेरा सौ वर्षका जीवन पवित्रतापूर्वक व्यतीत हो और इस प्रकार पवित्रतासे आयु व्यतीत करता हुआ [विश्वं आयुः व्यश्नवै] सम्पूर्ण आयु को जितनी कि मनुष्य की हो सकती है प्राप्त करूं। पवित्रतापूर्वक जीवन व्यतीत करनेसे ही पूर्णायु भोगी जा सकती है, अन्यथा नहीं।

निम्न मंत्रसे ऐसा प्रतीत होता है कि पितर मृतको पुनरुज्जीवित करते हैं। मन्त्र इस प्रकार है।

> यत्ते अङ्गं अतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः। तत्ते संगत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरावेशयन्तु॥ अथर्व १८।२।२६

[ते यत् अङ्गं पराचैः अतिहितम्] तेरा जो अंग टुकडा होकर दूर गया है और [यः ते प्राणः अपानः परेतः] जो तेरा प्राण या अपान दूर चला गया है शरीर से निकल गया है [तत् ते] उस उपरोक्त तेरे अङ्ग या प्राण या अपान को [सनीडाः पितरः] साथ रहनेवाले पितर [संगत्य] मिलकर [घासात् घासं इव] [यहां लुप्तोपमा प्रतीत होती है] जैसे घाससे घास बांधी जाती है उसी प्रकार [पुनः आवेशयन्तु] फिर प्रविष्ट करावें अर्थात् फिरसे प्राण अपान आदि तुझे दें यानि पुनरुज्जीवित करें।

प्राणों के निकल जानेपर शरीर चेष्टारहित हो जाता है। वह उस हालतमें शव या मृत देह कहलाता है। इस मन्त्रमें निकले हुए प्राणों का पुनः समावेश करनेका वर्णन है। इससे मृत को पुनरुज्जीवित करनेका निर्देश इस मन्त्रमें मिलता है। इस के सिवाय कोई शरीर का अवयव अलग हो गया हो या टूट गया हो तो उसे भी पितर ठीक ठीक यथास्थान बैठाते हैं ऐसा ज्ञात होता है।

सायणाचार्य न घासात् घासं का अर्थ इस प्रकार किया है– अद्यते भुज्यते कर्मफलमिति घासः। भोगायतनं शरीरम्। घासात् भोगसाधिकरणशरीरात् घासं अन्यत् शरीरं पुनः आवेशयन्तु। अर्थात् जिसमें खाया जाये उसका नाम है घास। भोगायतन शरीरका नाम घास है क्यों कि इसमें भोग भोगे जाते हैं। अतः घासात् अर्थात् भोगसाधिकरण शरीरसे घास यानि दूसरे शरीरको फिर देते हैं। मरने के बाद एक शरीर छुडाकर दूसरा शरीर देते हैं यह अभिप्राय है।

इस प्रकरण में संक्षेपसे इतना ही पितरों के कार्यों के विषय में लिखना पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त अन्य पितरों के कार्य दर्शानेवाले मन्त्र अन्य प्रकरणों में यथास्थान दिये जायेंगे। उनकी यहां उपयुक्तता अधिक होनेसे यहां पर न नहीं दिये हैं।

पितरोंके प्रति हमारा कर्तव्य।

इस प्रकरण के हम दो विभाग करेंगे। प्रथम विभागमें उन मन्त्रोंका उल्लेख होगा जिनमें कि पितरों के लिए दान नमस्कार स्वधा आदि देनेका वर्णन है। द्वितीय विभाग में पितरों के

लिए यज्ञ अथवा पितरोंके यज्ञ का वर्णन करनेवाले मंत्रोंका उल्लेख करेंगे। इस दूसरे विभाग का शीर्षक पितर और यज्ञ होगा। प्रथम विभागमें छोटे छोटे कई शीर्षक होंगे। इस विभाग का सामूहिकरूपसे शीर्षक देना कठिन है।

१ पितरों के लिए नमस्कार।

'नमः' का अर्थ अन्न भी होता है परन्तु पितरोंके लिए आये हुए नमः का अर्थ नमस्कार ही है क्यों कि पितरोंके अन्नका खास नाम स्वधा है और अतएव जहां पितरोंके लिए अन्न अभिप्रेत होता है वहां स्वधा का प्रयोग होता है।

> इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः। ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु॥ ऋ० १ ।१५।२ तथा
> यजु० १९।६८

यही मंत्र अथर्व में थोडेसे पाठभेदसे निम्न प्रकारसे है—

> इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो ये अपरास ईयुः।
> ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु॥
> अथर्व १८।१।४६

(ये) जो कि (पूर्वासः) पूर्वकालीन पितर [ईयुः] स्वर्गको गए हुए हैं और [ये] जो कि [अपरासः] अर्वाचीन कालके पितर [ईयुः] स्वर्गको गए हैं, [पितृभ्यः अद्य इदं नमः अस्तु] उन पितरोंके लिए आज यह नमस्कार हो। [ये पार्थिवे रजसि आनिषत्ताः] और जो कि पितर पृथिवी लोकपर स्थित हैं (वा) अथवा (ये) जो कि [नूनं] निश्चयसे [सुवृजनासु विक्षु] उत्तम बल या धन युक्त प्रजाओंमें स्थित हैं उन पितरोंके लिए भी नमस्कार हो। अथर्ववेदमें विक्षु के स्थान पर दिक्षु पाठभेद है। यहांपर 'ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु' का अर्थ ऐसा होगा — अथवा जो कि पितर निश्चय से उत्तम बलवाली दिशाओंमें स्थित हैं।

> नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्यः
> उत ये नयन्ति। उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं
> पुरो दधेऽस्मा अरिष्टतातये॥
> अथर्व ५।३०।१२

[यमाय नमः अस्तु] यमके लिये नमस्कार हो। [मृत्यवे नमः] मृत्युके लिए नमस्कार हो। [पितृभ्यः नमः] पितरों के लिए नमस्कार हो। [उत ये नयन्ति] और जो कि ले चलते हैं अर्थात् जो नायक (Leaders) हैं उनके लिये भी नमस्कार हो। [यः उत्पारणस्य वेद] जो उत्पारण अर्थात् पार करानेके उपाय या मार्ग को जानता है (तं अग्निं) उस अग्नि को (अस्मै अरिष्टतातये) इस जीवके कल्याण व विस्तार के लिए (पुरो दधे) आगे रखता हूं अर्थात् उस एसी अग्निको सदा मैं अपने सामने धारण करता हूं।

> यथा गार्हपत्यमसपर्यत् पूर्वमग्निं वधूरियम्।
> अथा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु॥
> अथर्व १४।२।२

(यथा पूर्वं इयं वधूः गार्हपत्यं अग्निं असपर्यत्) जब पतिके घर वधू गार्हपत्य अग्नि की पूजा करे [अथ] तब उसके बाद (नारि) हे नारी! तू [सरस्वत्यै पितृभ्यः च] सरस्वती व पितरोंके लिए [नमः कुरु] नमस्कार कर।

इस प्रकार हमने देखा कि इन उपरोक्त मन्त्रोंमें पितरोंके लिए नमस्कारका विधान है।

२ पितरोंके लिए स्वधा।

> अग्ने वाजजिद् वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजितं
> सम्मार्ज्मि नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः
> सुयमे मे भूयास्तम्॥ यजु० २।७॥

[वाजजित् अग्ने] हे अन्नको जीतनेवाली अग्नि! [वाजं सरिष्यन्तं त्वा] अन्नके प्रति जाती हुई तुझको (सं मार्ज्मि) शुद्ध करता हूं। [देवेभ्यः नमः] देवोंके लिये नमस्कार हो। तथा (पितृभ्यः स्वधा) पितरोंके लिये स्वधा हो। [मे] मेरे लिए [सुयमे भूयास्तम्] नमः और स्वधा बल व पराक्रम देनेवाले हों। अथवा नमः और स्वधा सुख नियमन रखनेवाले हों।

यहांपर देवोंके लिए नमः और पितरोंके लिए स्वधा निर्देश है। 'वाजं सरिष्यन्तं त्वा संमार्ज्मि' से पता चलता है कि अन्न पकानेके लिए शुद्ध व निर्मल ही अग्नि प्रयोग करना चाहिये। शुद्ध अग्नि अन्न पकानेके लिए उपयुक्त है।

> पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। पिता-
> महेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। प्रपिता-
> महेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। अक्षन्
> पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः
> पितरः शुन्धध्वम् यजु० १९।३६

[स्वधायिभ्यः पितृभ्यः] स्वधा प्राप्त करना जिनका शील [स्वभाव] है ऐसे पितरोंके लिए [स्वधा] स्वधा और नमस्कार हो। [स्वधायिभ्यः पितामहेभ्यः स्वधा नमः] स्वधा लेनेवाले पितामहोंके लिये स्वधा और नमस्कार हो।

[स्वधायिभ्यः प्रपितामहेभ्यः स्वधा नमः] स्वधा लेनेवाले प्रपितामहोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो। [पितरः] हे पितृजनो! [अश्नत] इस स्वधाको खाओ [पितरः] हे पितरो [यथाभागम्] उस स्वधाको खाकर आनन्दित होओ। [पितरः] हे पितरो इस स्वधाको खाकर [अतितृप्यत] आनन्द तृप्त होओ। [पितरः शुन्धध्वम्] हे पितरों शुद्ध होओ। इससे स्पष्ट है कि पितरोंका स्वभाव ही स्वधा खानेका है।

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये।
तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम्॥

यजु० अ० १९।४५

[यमराज्ये] यमके राज्यमें [ये पितरः समानाः समनसः] जो पितर समान तथा समनस अर्थात् एक विचार वा संकल्पके हैं [तेषां लोकः स्वधा नम यज्ञः] उन पितरोंका लोक स्वधा नमस्कार व यज्ञ [देवेषु कल्पताम्] देवोंमें समर्थ होवे।

व्याकरोमि हविषाहमेतौ तौ ब्रह्मणा व्यहं कल्पयामि।
स्वधां पितृभ्यो अजरां कृणोमि दीर्घेणायुषा
समिमान्त्सृजामि॥ अथर्व० १२।२।३२

मैं [एतौ] इन दोनोंको [हविषा] हविद्वारा [व्याकरोमि] पवित्र करता हूं। [तौ अहं] उन दोनोंको मैं [ब्रह्मणा विकल्पयामि] ब्रह्मद्वारा विशेष सामर्थ्यवान् बनाता हूं। [पितृभ्यः स्वधां अजरां कृणोमि] पितरोंके लिये स्वधाको अक्षय करता हूं। [इमान् दीर्घेण आयुषा] इन्हें दीर्घायु द्वारा [संसृजामि] संयुक्त करता हूं अर्थात् इन्हें दीर्घायु देता हूं। इस मन्त्रमें पितरोंके लिये अक्षय स्वधा का वर्णन है।

स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यः।
दानेन राजन्यो वशाया मातुर्हेडं न गच्छति॥

अथर्व० १२।४।३२

[पितृभ्यः स्वधाकारेण] पितरोंके लिए स्वधाकारसे अर्थात् स्वधा देकर और [देवताभ्यः यज्ञेन] देवताओंके लिये यज्ञ करके तथा [दानेन] दान करकेसे [राजन्यः वशायाः मातुः हेडं न गच्छति] क्षत्रिय वशामाताके तिरस्कारको प्राप्त नहीं होता। यहांपर स्वधाका महत्त्व दर्शाया गया है। पितरोंके लिये स्वधा न देनेसे वशामाता गुस्से होती है। स्वधा न देने वालेका वह तिरस्कार करती है।

एतत् ते प्रततामह स्वधा ये च त्वामनु॥

अथर्व० १८।४।७५॥

हे [प्रततामह] प्रपितामह! [ते एतत्] तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ [स्वधा] स्वधा होवे। [ये च त्वां अनु] और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा हो।

तत शब्द पितृवाचक है। इसमें निम्न ऐतरेय ब्रा० का प्रमाण है— एतौ वाव प्रजापतिः प्रथमा वाचं व्याहरत् एकाक्षर द्व्यक्षरां ततेति तातेति। तथैवैतत् ततवत्या वाचा प्रतिपद्यते। इति ऐ० ब्रा० १।३।१३॥ आश्वलायनने भी अपने पितरोंका नाम न जानता हुआ पुत्र तत शब्दका प्रयोग करे इस आशयका सूत्र बनाया है— नामान्यविज्ञातस्तत पितामहप्रपितामहेति आश्व० २।६॥ इस मंत्रमें प्रपितामह के लिए स्वधाका विधान है।

एतत् ते ततामह स्वधा ये च त्वामनु॥

अथर्व० १८।४।७६

[ततामह] हे पितामह! [ते एतत् स्वधा] तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ [हवि] स्वधा होवे। [ये च त्वां अनु] और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा होवे।

एतत् ते तत स्वधा॥ अथर्व० १८।४।७७॥

हे [तत] पिता! [ते एतत् स्वधा] तेरे लिए यह हवि स्वधा होवे। इन उपरोक्त अथर्ववेदके ३ मंत्रोंसे पता चलता है कि प्रपितामह पितामह तथा पिता इन तीनोंमेंसे प्रत्येकके नामपर अलग अलग स्वधा दी जाती है।

नमो वः पितरः स्वधा वः पितरः॥

अथर्व० १८।४।८॥

हे [पितरः] पितरो [वः] तुम्हारे लिए [नमः] नमस्कार होवे। [पितरः] हे पितरो! [वः] तुम्हारे लिए [स्वधा] स्वधा होवे।

इस मंत्रमें पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार दोनोंके देनेका उल्लेख है।

श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः।
स नो नि यच्छाद् वसु यत् पराभृतमस्माकमस्तु
पितृषु स्वधावत्॥ अथर्व० ७।४१।२

(नृचक्षाः) मनुष्योंका देखनेवाला (दिव्यः) दिव्य अर्थात् दिव्यगुणोंसे युक्त,(सुपर्णः) उत्तम पक्षीवाला (सहस्रपात्) हजारों पैरोंवाला अर्थात् शीघ्रगामी (शतयोनिः) सैकड़ों स्थान वाले अन्नादिका उत्पादन करनेवाला (वयोधाः) अन्न तथा आयु

लिए यज्ञ अथवा पितरोंसे यज्ञ का सम्बन्ध दर्शानेवाले मंत्रोंका उल्लेख करेंगे। इस प्रकार विभाग का शीर्षक पितर और यज्ञ होगा। प्रथम विभागमें छोटे छोटे कई शीर्षक होंगे। इस विभाग का सामूहिकरूपसे शीर्षक देना कठिन है।

१ पितरों के लिए नमस्कार।

नमः का अर्थ अन्न भी होता है परन्तु पितरोंके लिए आये हुए नमः का अर्थ नमस्कार ही है, क्यों कि पितरोंके अन्नका खास नाम स्वधा है और अतएव जहां पितरोंके लिए अन्न अभिप्रेत होता है वहां स्वधा का प्रयोग होता है।

> इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः। ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु ॥ ऋ० १०।१५।२ ॥ तथा यजु अ० १९।६८

यही मन्त्र अथर्व में थोडेसे पाठभेदसे निम्न प्रकारसे है—

> इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य अपरास ईयुः। ये पार्थिवे रजस्यानिषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु ॥ अथर्व १८।१।४६

(ये) जो कि (पूर्वासः) पूर्वकालीन पितर [ईयुः] स्वर्गको गए हुए हैं और [ये] जो कि [अपरासः] अर्वाचीन कालके पितर [ईयुः] स्वर्गको गए हैं, [पितृभ्यः अद्य इदं नमः अस्तु] उन पितरोंके लिए आज यह नमस्कार हो। [ये पार्थिवे रजसि आनिषत्ताः] और जो कि पितर पृथिवी लोकपर स्थित हैं (वा) अथवा (ये) जो कि [नूनं] निश्चयसे [सुवृजनासु विक्षु] उत्तम बल वा बलयुक्त प्रजाओंमें स्थित हैं उन पितरोंके लिए भी नमस्कार हो। अथर्ववेदमें विक्षु के स्थान पर विक्षु पाठभेद है। यहांपर ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु का अर्थ ऐसा होगा — अथवा जो कि पितर निश्चय से उत्तम बलवाली प्रजाओंमें स्थित हैं।

> नमो वः पितर ... नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्यः उत ये नयन्ति। उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं पुरो दधे स्मा अरिष्टतातये ॥ अथर्व ५।३०।१२

[यमाय नमः अस्तु] यमके लिये नमस्कार हो।[मृत्यवे नमः] मृत्युके लिए नमस्कार हो। [पितृभ्यः नमः] पितरों के लिए नमस्कार हो। [उत ये नयन्ति] और जो कि ले जाते हैं उन ले जाने वालों (leaders) के लिये भी नमस्कार हो। [यः उत्पारणस्य वेद] जो उत्पारण अर्थात् पार करनेके उपाय या मार्ग को जानता है (तं अग्निं) उस अग्नि को (अस्मै अरिष्टतातये) इस जीवके कल्याण के विस्तार के लिए (पुरो दधे) आगे रखता हूं अर्थात् उस ऐसी अग्निको सदा मैं अपने सामने धारण करता हूं।

> यथा गार्हपत्यमसपर्यैत् पूर्वमग्निं वधूरियम्। अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु ॥ अथर्व १४।१।२०

(यथा पूर्वं इयं वधूः गार्हपत्यं अग्निं असपर्यैत्) जब पहिले यह वधू गार्हपत्य अग्नि की पूजा करे [अध] तब उसके बाद (नारि) हे नारी ! तू [सरस्वत्यै पितृभ्यः च] सरस्वती व पितरोंके लिए [नमः कुरु] नमस्कार कर।

इस प्रकार हमने देखा कि इन उपरोक्त मन्त्रोंमें पितरोंके लिए नमस्कारका विधान है।

२ पितरोंके लिए स्वधा।

> अग्ने वाजजिद् वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजितं सम्मार्ज्मि नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः सुयमे मे भूयास्तम् ॥ यजु अ २।७॥

[वाजजित् अग्ने] हे अन्नको जीतनेवाली अग्नि ! [वाजं सरिष्यन्तं त्वा] अन्नके प्रति जाते हुए तुझको (सं मार्ज्मि) शुद्ध करता हूं। [देवेभ्यः नमः] देवोंके लिये नमस्कार हो। तथा (पितृभ्यः स्वधा) पितरोंके लिये स्वधा हो। [मे]मेरे लिए [सुयमे भूयास्तम्] नमः और स्वधा अच्छे नियमन देनेवाले हों। अथवा नमः और स्वधा शुभ नियमन रखनेवाले हों।

यहांपर देवोंके लिए नमः और पितरोंके लिए स्वधा का निर्देश है। वाजं सरिष्यन्तं त्वा सम्मार्ज्मि से पता चलता है कि अन्न पकानेके लिए शुद्ध अग्निका ही प्रयोग करना चाहिये। अशुद्ध अग्नि अन्न पकानेके लिए अनुपयुक्त है।

> पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः पितरः शुन्धध्वम् यजु अ १९।३६

[स्वधायिभ्यः पितृभ्यः] स्वधा प्राप्त करनेवाले अन्न [स्वधा] है ऐसे पितरोंके लिए [स्वधा] स्वधा और नमस्कार हो। [स्वधायिभ्यः पितामहेभ्यः स्वधा नमः] स्वधा अन्नवाले पितामहोंके लिए स्वधा और नमस्कार हो।

[स्वधापितृभ्यः प्रपितामहेभ्यः स्वधा नमः] स्वधा प्रेमवाले प्रपितामहोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो। [पितरः] हे पितृ गणो! [अत्र] उस स्वधाको खाओ [पितरः] हे पितरो! [मादयध्वम्] उस स्वधाको खाकर आनन्दित होओ। [पितरः] हे पितरो उस स्वधाको खाकर [अतितृपन्त] अत्यन्त तृप्त होओ। [पितरः शुन्धध्वम्] हे पितरों शुद्ध होओ। इससे स्पष्ट है कि पितरोंका स्वभाव ही स्वधा खानेका है।

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये।
तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम्॥

यजु अ १९।४५

[यमराज्ये] यमके राज्यमें [ये पितरः समानाः समनसः] जो पितर समान तथा समनस अर्थात् एक विचार व संकल्पवाले हैं [तेषां लोकः स्वधा नमः यज्ञः] उन पितरोंका लोक स्वधा नमस्कार व यज्ञ [देवेषु कल्पताम्] देवोंमें समर्थ होवे।

व्याकरोमि हविषाहमेतौ तौ ब्रह्मणा व्यहं कल्पयामि।
स्वधां पितृभ्यो अजरां कृणोमि दीर्घेणायुषा
समिमान्त्सृजामि॥ अथर्व १२।२।३२

मैं [एतौ] इन दोनोंको [हविषा] हविद्वारा [व्याकरोमि] अलग करता हूं। [तौ अहं] उन दोनोंको मैं [ब्रह्मणा विकल्पयामि] ब्रह्मद्वारा विशेष सामर्थ्यवान् बनाता हूं। [पितृभ्यः स्वधां अजरां कृणोमि] पितरोंके लिये स्वधाको अक्षय करता हूं। [इमान् दीर्घेण आयुषा] इन्हें दीर्घायु द्वारा [संसृजामि] संयुक्त करता हूं अर्थात् इन्हें दीर्घायु बनाता हूं। इस मन्त्रमें पितरों के लिये अक्षय स्वधा का वर्णन है।

स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यः।
दानेन राजन्यो वशाया मातुर्हेडं न गच्छति॥

अथर्व १२।४।३२

[पितृभ्यः स्वधाकारेण] पितरोंके लिए स्वधाकारसे अर्थात् स्वधा देकर [देवताभ्यः यज्ञेन] देवताओंके लिये यज्ञ करके तथा [दानेन] दान करनेसे [राजन्यः वशायाः मातुः हेडं न गच्छति] क्षत्रिय वशारूप माताके तिरस्कारको प्राप्त नहीं होता। यहां स्वधाका महत्व दर्शाया गया है। पितरोंके लिये स्वधाकार देवयज्ञ व दानके समान मुख्य हो गई है। स्वधा न देने वालेका वह तिरस्कार करता है।

एतत् ते प्रततामह स्वधा ये च त्वामनु॥

अथर्व १८।४।७५॥

हे [प्रततामह] प्रपितामह! [ते एतत्] तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ [स्वधा] स्वधा होवे। [ये च त्वां अनु] और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा हो।

तत शब्द पितृवाचक है। इसमें निम्न ऐतरेय ब्रा० का प्रमाण है– एतां वाव प्रजापतिः प्रथमां वाचं व्याहरत् एकाक्षरां द्व्यक्षरां ततेति तातेति। तथैवैतत् कुमारः प्रथमां वाचं प्रतिपद्यते। इति ऐ० ब्रा० १।३।६॥ आश्वलायनने भी अपने पितरोंका नाम न जानता हुआ पुत्र तत शब्दका प्रयोग करे इस आशयका सूत्र बनाया है— नामान्यविद्वाँस्तत पितामह प्रपितामहेति' आश्व० २।६॥ इस मंत्रमें प्रपितामह के लिए स्वधाका विधान है।

एतत् ते ततामह स्वधा ये च त्वामनु॥

अथर्व १८।४।७६

[ततामह] हे पितामह! [ते एतत् स्वधा] तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ [हवि] स्वधा होवे। [ये च त्वां अनु] और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा होवे।

एतत् ते तत स्वधा॥ अथर्व १८।४।७७॥

हे [तत] पिता! [ते एतत् स्वधा] तेरे लिए यह हवि स्वधा होवे। इन उपरोक्त अथर्ववेदके ३ मंत्रोंसे पता चलता है कि प्रपितामह पितामह तथा पिता इन तीनोंमेंसे प्रत्येकके नामपर अलग अलग स्वधा दी जाती है।

नमो वः पितरः स्वधा वः पितरः॥

अथर्व १८।४।८०॥

हे [पितरः] पितरो [वः] तुम्हारे लिए [नमः] नमस्कार होवे। [पितरः] हे पितरो! [वः] तुम्हारे लिए [स्वधा] स्वधा होवे।

इस मन्त्रमें पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार दोनोंके देनेका उल्लेख है।

श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः।
स नो नि यच्छाद् वसु यत् पराभृतमस्माकमस्तु
पितृषु स्वधावत्॥ अथर्व ७।४१।२

(नृचक्षा) मनुष्योंका देखनेवाला (दिव्यः) दिव्य अर्थात् स्वर्गीय गुण (सुपर्णः) उत्तम पंखवाला (सहस्रपात्) हजारों पैरोंवाला अर्थात् सैकड़ों (शतयोनिः) सैकड़ों स्थान वाला उत्पत्ति स्थान करनेवाला (वयोधाः) अन्न तथा आयु

देनेवाला जो [स्वधा] अन्न है [यः] वह [नः] हमें [अद् परागतं मधु] जो शत्रुओंसे हरण किया हुआ धन है उसे [निरष्ठात्] वापस दे और यह अन्न [अस्माकं पितृषु स्वधावत्] हमारे पितरोंमें स्वधाकी तरह होवे अर्थात् पितरोंमें जो स्थान स्वधाको प्राप्त है वही स्थान उसे प्राप्त होवे या यह अन्न पितरोंमें स्वधावत् अर्थात् आत्मधारण शक्ति करनेवाला होवे। उस अन्नसे पितर स्वावलंबी बनें स्वाश्रयी होवें। यहांपर स्वधाका अर्थ आत्मधारण ऐसा प्रतीत होता है। स्वधा क्या चीज है यह एक विचारणीय विषय है तथापि आगे चलकर हम थोडासा स्वधापर प्रकाश डालने की कोशीश करेंगे।

३ पितरोंको स्वधा देनेसे लाभ।

> सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितर उपाह्वयन्त
> स्वध एहीति ॥ अथर्व ८।१३।५॥
> तां स्वधां पितर उपजीवन्ति उपजीवनीयो भवति
> य एवं वेद ॥ अथर्व ८।१३।८

[सा] वह विराट् [उद् अक्रामत] ऊपरको चली। [सा] वह [पितॄन् आगच्छत्] पितरोंके पास गई। [तां पितरः उप आह्वयन्त] पितरोंने अपने पास बुलाया कि [स्वधे] हे स्वधा ! [एहि इति] तू हमारे पास आ। [पितरः तां स्वधां उपजीवन्ति] पितर उस स्वधाका उपभोग करते हैं यानि उस स्वधाको खाकर जीते हैं। [यः एवं वेद] जो इस प्रकार जानता है कि पितर उस स्वधाको खाकर जीते हैं वह भी [उपजीवनीयः भवति] उस स्वधाका उपभोग करने योग्य बनता है अर्थात् उस स्वधाके आश्रयसे जीता रहता है।

इन मन्त्रोंसे यह बात स्पष्ट है कि पितर स्वधाके आश्रयसे जीते हैं अतः पितरोंको स्वधा देनी चाहिए और जो पुरुष इस रहस्यको जानता है उसे भी स्वधा मिलती रहेगी और इस प्रकार वह भी स्वधा खाकर सुखपूर्वक जीवन निर्वाह कर सकेगा।

४ जलद्वारा पितृतर्पण।

हिंदू लोग मृत पितरोंका जो जलद्वारा तर्पण करते हैं उसका आधार क्रमशः निम्न तीन मंत्र हैं। इन मंत्रोंमें जलद्वारा पितृतर्पणका विधान पाया जाता है। मंत्र इस प्रकार है—

> ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
> स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ यजु अ २।३४

इस मंत्रका देवता 'आपः' अर्थात् जल है। [ऊर्जं] बलको [अमृतं] अमृतको [घृतं] घीको [पयः] दूधको [कीलालं] अन्नको तथा [परिस्रुतं] फूलों फलोंसे निकले हुए सारभागको [वहन्तीः] वहन करते हुए [आपः] हे जल ! तुम [स्वधा स्थ] स्वधा होओ। अर्थात् पितरोंका अन्न बनो और [मे पितॄन् तर्पयत] मेरे पितरोंको अपने उपरोक्त रसभागोंसे तृप्त करो।

मंत्र स्पष्ट है इसपर विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। स्पष्ट शब्दोंमें जलद्वारा पितृतर्पणका निर्देश है। दूसरा मंत्र इस प्रकार है—

> ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये।
> तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युन्दती ॥
> अथर्व १८।३।७२

[ते] वे [ये पूर्वे परागताः] जो पूर्वकालीन पितर परे चले गए हैं अर्थात् परलोकवासी हुए हैं और [ये अपरे पितरः] जो अर्वाचीन पितर परलोकवासी हुए हैं [तेभ्यः] उन प्राचीन व अर्वाचीन पितरोंके लिए [शतधारा व्युन्दती] सैकडों धाराओंवाली उमडती हुई [घृतस्य कुल्या] जलकी कुल्या कुल्या यानी [एतु] प्राप्त होवे। यह मंत्र भी उपरोक्त प्रथम मंत्रके भावकोही पुष्ट कर रहा है। पहिले मंत्रकी तरह यह मंत्रभी स्पष्ट है। कुल्याका अर्थ निघण्टुमें कृत्रिमा सरित् अर्थात् बनावटी नदी यानि नहर ऐसा किया है। पितरोंके जलसे तर्पण करनेके लिए नहर बहानी चाहिए ऐसा भाव इस मंत्रका मालूम पडता है। उपरोक्त दोनों मंत्रों के भावको ही पुष्ट करता हुआ तीसरा मंत्र इस प्रकार है—

> पुत्रं पौत्रमभितर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः। स्वधां
> पितृभ्यो अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु ॥
> अथर्व १८।४।३९

[पुत्रं पौत्रं अभि तर्पयन्तीः] पुत्रपौत्रादिकोंको पूर्णतया तृप्त करते हुए [इमाः मधुमतीः आपः] ये मधुर जल हैं। [पितृभ्यः स्वधां अमृतं दुहानाः] पितरोंके लिए स्वधा व अमृतका दोहन करते हुए [देवीः आपः] दिव्य जल [उभयान्] दोनों पुत्र पौत्रोंको [तर्पयन्तु] तृप्त करें।

उपरोक्त तीनों मंत्रोंमें जलद्वारा पितृतर्पण का उल्लेख है।

पितरोंको भी यज्ञद्वारा पितृतर्पण करना इन मंत्रोंके आधार पर है ।

किन पितरोंका यज्ञद्वारा तर्पण करना चाहिए यह अभीसे नहीं कहा जा सकता तथापि इतना जरूर पता लगता है कि यज्ञद्वारा पितृतर्पण करना चाहिए ।

> यद् वां पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः ।
> संदेश्यात् सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः ॥
> अथर्व ११।१।१७

[यद् वां पितृभ्यः ददतः ते नाम जगृहुः] यदि यज्ञमें पितरों के लिए दान करते हुए तेरा नाम शत्रुओंने लिया हो अर्थात् तेरे पर दोषारोपण किया हो तो [सर्वस्मात् संदेश्यात् पापात्] उस सब संदेश्य अर्थात् निन्दाके आक्षेपसे-कलङ्कसे फिर बचे पापसे [इमाः ओषधीः त्वा मुञ्चन्तु] ये औषधियां तुझे छुडावें । इस मंत्रमें पितरों के लिये यज्ञमें दान देने का उल्लेख है ।

५ पितरोंका भाग ।

> पितॄणां भागस्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त । प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥
> अथर्व १०।५।१२

इस मंत्रका आपः देवता है । हे जलो ! तुम [पितॄणां भागः स्थ] पितरोंका भाग-अंश हो । [देवीः आपः] हे दिव्य जलो ! [अपां शुक्रं वर्चः अस्मासु धत्त] जलोंका वीर्य व तेज हमारे धारण करो अर्थात् हमें दो । [अस्मै लोकाय] इस लोकके लिए, [प्रजापतेः धाम्ना वः सादये] प्रजापतिके तेजसे तुम्हें स्थापित करता हूं । इस मंत्रमें जलोंको पितरोंका भाग-अंश बतलाया है ।

> देवा भागो निहितो यः पुरा वो देवानां पितॄणां मर्त्यानाम् । तस्माद् भागादेव विभजामि तान् वो यो देवानां स इमां पारयाति ॥ अथर्व ११।१।५

[यः देवानां पितॄणां मर्त्यानां] तुम देवों पितरों व मनुष्योंका [वः भेदा भागः] जो तीन प्रकारका भाग [पुरा निहितः] पहिलेसे रखा है उसमेंसे अपने अपने [भागात्] भागोंसे भागोंका [भागोंको] आओ अर्थात् मनुष्य पितर व देवोंको तुम प्रकारका भाग हमने धर रखा है उसमेंसे अपने अपने भागको चाहते हुए आओ । [तान् विभजामि] उन भागोंको मैं बांटता हूं । [यः देवानां सः इमां] तुम देवोंका जो अंश है वह इस यजमान पालक पत्नीको [पारयाति] पार करावे अर्थात् जिस कार्यका इसने प्रारंभ किया है उसमें यह पार हो जावे । इस मंत्रमें देव मनुष्य व पितरोंके लिये अलग अलग भाग देनेका उल्लेख है ।

६ पितरोंके धामका विस्तार करना ।

> यत्र शूरासस्तन्वो वितन्वते प्रिया शर्म पितॄणाम् ।
> अध स्मा यच्छ तन्वे तने च छर्दिरचित्तं यावय द्वेषः ॥
> ऋ ६।४६।१२

[यत्र शूरासः तन्वः] जहांपर शूरवीर अर्थात् शूरवीर धन गंभीर [पितॄणां प्रिया शर्म वितन्वते] पितरोंके प्यारे घरोंका विस्तार करते हैं वहांपर [तन्वे तने च] अपने शरीरके लिये व हमारी संततिके लिये [अचित्तं छर्दिः यच्छ स्म] शत्रुओंसे अज्ञात घरको दे जिससे कि शत्रु हमारा व हमारे घरका विनाश न कर सकें [द्वेषः] द्वेष कर नेवालोंको भाव रखनेवालोंको [यावय] दूर कर । हम घर निर्भय व सुरक्षित हुए हुए रहें । शर्मका अर्थ निघण्टुमें सुख व घर इन दोनों अर्थोंमें आया है ।

> शर्म = गृह । निघण्टु ३।४
> शर्म = सुख । निघण्टु ३।६

'पितॄणां प्रिया शर्म' इस पदसमुदायका अभिप्राय पितरोंके देशसे है अर्थात् जहां पर चिरकालसे पितृगण निवास करते चले आ रहे हैं हम मातृभूमिके नामसे स्वदेशको पुकारते हैं इस प्रकार इस मंत्रमें स्वदेशके विस्तार करनेका निर्देश है । 'छर्दिः गृह ।' निघण्टु ३।४ 'अचित्तं छर्दिः' से यह बताया है कि गुप्त कोठे आदि हमारे घरमें भी रहने चाहिए, अन्यथा हमारा भेद कहीं निकल रहेगा ।

पितर और यज्ञ ।

इस विभागमें प्रायः वे मंत्र दिए जावेंगे जिनमें कि पितरोंके यज्ञमें आने जाने व हवि खाने आदि का वर्णन होगा । इस विभागसे हमें यह बात मुख्यतया पता लग सकेगी कि पितरोंके लिए यज्ञ किये जाने चाहिए, उन्हें हवि देना चाहिए और इस प्रकार करनेसे पितर हमारी आयु संतान आदिकी वृद्धि करते हैं तथा अन्य अभीष्ट पूर्ण करनेमें सहायक होते हैं ।

> उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।
> त आगमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥
> ऋ १०।१५।५ ॥ तथा यजु अ० १९।५७ ॥

यह मंत्र अथर्ववेदमें भी है। वहां प्रारंभमें थोडासा पाठभेद है। उपहूताः पितरः के स्थानपर उपहूता नः पितरः है। केवल नः और अधिक है शेष समान है। देखो अथर्व १८।३।४५॥

[बर्हिषेषु बर्हिष्येषु निधिषु] प्रतिदिनके यज्ञ संबन्धी निधि योंमें [सोम्यासः] सोम संपादन करनेवाले [पितरः] जो पितर [उपहूताः] बुलाए गए हैं [ते आगमन्तु] वे पितर आवें। [ते] वे पितर [इह] इस यज्ञमें [अभिश्रुवन्तु] हमारी प्रार्थनायें ध्यानपूर्वक सुनें और [अधि ब्रुवन्तु] हम उपदेश करें तथा वे अस्मान् अवन्तु हमारी रक्षा करें।

बर्हिष्य –बर्हिष् नाम है यज्ञका, उसमें होनेवाला बर्हिष्य अर्थात् यज्ञ संबन्धी। इसके अतिरिक्त सोम्यासः पद भी इसी अर्थकी पुष्टि करता है। व्याख्याताने निरुक्तमें सोम्यासः का अर्थ सोमका संपादन करनेवाले ऐसा किया है। और सोम यज्ञमें संपादन किया जाता है। प्रकरणसे भी यही अर्थ होता है क्योंकि इससे पूर्वके मन्त्रोंमें यज्ञ प्रकरणका वर्णन है।

निधिका अर्थ निरुक्तकारने अपने निरुक्त की भूमिकामें निम्न प्रकार किया है–

निधिः शेवधिरिति। शेवधिका अर्थ है सुखका भण्डार। निरु. अ. २। पा. १। खं. ४॥

इस प्रकार इस मंत्रमें पितरोंके यज्ञमें आने प्रार्थना सुनने उपदेश करने व रक्षा करनेका उल्लेख हमें मिलता है।

> आच्या जानु दक्षिणतो निषद्य इमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥ ऋ. १०।१५।६ तथा यजु. अ. १९।६२

यह मंत्र अथर्ववेदमें थोडेसे पाठभेदके साथ आता है

> आच्या जानु दक्षिणतो निषद्य इदं नो हविरभि गृणन्तु विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥ अथर्व १८।१।५२॥

(विश्वे) सब तुम पितरो! (जानु आच्य) घोंटे मोड कर (दक्षिणतः निषद्य) दाईं ओर बैठ कर (इमं यज्ञं) इस यज्ञको (अभिगृणीत) स्वीकार करो। (पितरः) हे पितरो (यद् वः आगः पुरुषता कराम) जो तुम्हारा अपराध पुरुषत्व अर्थात् मनुष्य होनेके कारण हम करते हैं। (केन चित्) उन किसी भी अपराधके कारण (मा हिंसिष्ट) हमें मत मारो। अर्थात् क्योंकि हम मनुष्य हैं और मनुष्य मात्र भूलका पात्र होता है अतः यदि अपराध हो भी जाए, तो भी क्षमा करो हमारी हिंसा मत करो।

जानु आच्य का अर्थ हमने दायां घुटना टेककर ऐसा किया है जो कि शतपथ ब्राह्मणके निम्न वाक्यके आधारपर है। अथैव पितरः। प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपसीदेयुः स्तावयति। इत्यादि ॥ शतपथ २।६।१।१२॥ इस वाक्यसे यह बात प्रतीत होता है कि दायां घुटना टेककर पितर यज्ञमें बैठते हैं। निम्न मन्त्रमें पितरोंके लिए मासिक यज्ञका विधान है।

> परा यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पूर्व्यैः। अधा मासि पुनरायात नो गृहान् हविरत्तुं सुप्रजसः सुवीराः ॥ अथर्व १८।४।६३

(सोम्यासः पितरः) हे सोम संपादक पितरो! (गम्भीरैः पूर्व्यैः पथिभिः) गम्भीर पूर्वज–मर्यादारूप (परा यात) वापस चले जाओ। जहांसे आए थे वहां पर और जाओ। (अधा पुनः) और फिर (सुप्रजसः सुवीराः) हे उत्तम प्रजावाले तथा सुवीर पितरो! (मासि) मासके अन्तमें यानि महीने महीनेके बाद (नः गृहान्) हमारे घरोंमें (हविः अत्तुं) हवि के खानेके लिए (आयात) आओ।

पूर्व्याः पुर पालयति पूर्व्याः। नगरका पालनेवाले रक्षकका नाम पूर्व्य है। प्रत्येक मासमें पितृयज्ञ करना चाहिए तथा उसमें देश देशान्तरमें स्थित पितरोंका आमन्त्रण करना चाहिए ऐसा इस मंत्रका भाव है।

> आग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः। अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥ ऋ. १०।१५।११

यह मंत्र यजुर्वेद व अथर्ववेदमें भी थोडेसे पाठभेदसे आता है। देखो– यजु. १९।५९। तथा अथर्व १८।३।४४ अथ इस प्रकार है

(अग्निष्वात्ताः सुप्रणीतयः पितरः) हे आत्मज्ञान व उत्तम नेता पितर! (इह) इस यज्ञमें (आ गच्छत) आओ। (सदः सदः सदत) घर घरमें स्थित होओ। (अथ) और (बर्हिषि प्रयतानि हवींषि अत्त) यज्ञमें रखे गए हविओंको खाओ। और हमें (सर्ववीरं रयिं दधातन) सब वीरोंसे युक्त धन धारण करो।

इस मंत्रमें पितरोंका यज्ञमें हवि खिलानेका व उनसे धीरता पूर्ण धन मांगनेका वर्णन है।

सहस्रधारं शतधारमुत्समक्षितं व्यच्यमानं सलिलस्य पृष्ठे।
ऊर्जं दुहानमनपस्फुरन्तमुपासते पितरः स्वधाभिः॥

अथर्व १८।४।३६

[शतधारं सहस्रधारं उत्सं] सैकड़ों व हजारों धाराओंवाले झरनेकी तरह या हजारों व सैकड़ों धाराओंसे युक्त है ऐसे और जो [अक्षितं पृष्ठे व्यच्यमानं] अन्तरिक्षके ऊपर व्याप्त है ऐसे [ऊर्जं दुहानं] अन्न व बलको देनेवाले [अनपस्फुरन्तं] कभी भी चलायमान न होनेवाले अर्थात् स्थिर हविको [पितरः] पितर [स्वधाभिः] स्वधाओंके साथ [उपासते] ग्रहण करते हैं।

यहांपर हवि शब्दका अध्याहार पूर्व मंत्रसे करना पड़ता है क्योंकि इसमें प्रयुक्त हुए विशेषणोंका कोई भी विशेष्य नहीं है।

पितृगण स्वधाके साथ हवि खाते हैं। इस कथनसे यह स्पष्ट होता है कि स्वधा और भिन्न वस्तु ही है। यहां पर भी पूर्व मंत्रकी तरह पितरोंके हवि सेवनका उल्लेख है।

पितरोंका यज्ञमें धनदान।

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात॥

ऋ १०।१५।७॥

यजु. अ. १९।६३॥ तथा अथर्व १८।३।४३॥

[अरुणीनां उपस्थे] यज्ञमें प्रदीप्त की गई अग्निकी लाल लाल चमकती हुई ज्वालाओंके समीपमें [आसीनासः] बैठे हुए पितरो! [दाशुषे मर्त्याय] दानी मनुष्यके लिए [रयिं धत्त] धनको दो। [तस्य] और उस दानी मनुष्यके लिए [रयिं धत्त] धनको दो। [तस्य] और उस मनुष्यके [पुत्रेभ्यः वस्वः प्रयच्छत] पुत्रोंके लिए भी धनको दो [ते] यथायोग्य धन दान करनेवाले तुम [इह] इस यज्ञमें [ऊर्जं] अन्नको धारण करो।

परा यात पितर आ च यातायं वो यज्ञो मधुना समक्तः।
दत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं दधात॥

अथर्व १८।४।१४॥

[पितरः] हे पितरो! [परायात] यज्ञ समाप्ति पर वापस जाओ। [च] और फिर [आयात] आओ। क्योंकि [अयं यज्ञः वः मधुना समक्तः] यह यज्ञ तुम्हारे लिए [मधुना समक्तः] मधुर आज्यसे सिंचित हुआ है। [इह] इस यज्ञमें [द्रविणा] धनोंको [दत्तो] दो। [भद्रं सर्ववीरं रयिं च] और कल्याणकारी तथा सर्व वीरतासे युक्त रयि अर्थात् सम्पत्ति समृद्धिसे [नः] हमें [दधात] युक्त करो। मधुका अर्थ है मधुरतापूर्ण आज्य। देखो ऐ. ब्रा. २।२। एतद् वै मधु दैव्यं यद् आज्यम्।

आपो अग्निं प्र हिणुत पितॄँरुपेमं यज्ञं पितरो मे जुषन्ताम्। आसीनामूर्जमुप ये सचन्ते ते नो रयिं सर्ववीरं नि यच्छान्॥

अथर्व १८।४।४०

[आपः] हे आप! तुम [अग्निं पितॄन् उपप्रहिणुत] अग्नि को पितरोंके पास भेजो। [मे पितरः] मेरे पितृगण [इमं यज्ञं जुषन्ताम्] इस यज्ञका सेवन करें। [ये] जो पितर [आसीनां ऊर्जं उपसचन्ते] उपस्थित अर्थात् हमारे से दिये गए अन्नका सेवन करते हैं [ते] वे पितर [नः] हमें सर्ववीर [रयिं] सब प्रकारकी वीरतासे युक्त धन-सम्पत्ति को [नियच्छान्] निरन्तर देते रहें।

इस मंत्रमें आप अर्थात् जलोंसे कहा गया है कि वे अग्निको पितरोंके पास ले जाएं, जिससे कि अग्नि में होम हुआ हवि पितरों तक पहुंच सके।

इन उपरोक्त मन्त्रोंके वचनोंसे हम इस परिणाम पर पहुंच सकते हैं कि पितृगण यज्ञमें आकर हवि का ग्रहण करते हैं तथा प्राणियोंको धन देते हैं। इसमें पितरोंका वर्णन सत्य प्रतीत होता है। पितरोंको यज्ञमें बुला या जाता है यहांपर उन्हें हवि दी जाती है जो कि हवि वे अग्नि द्वारा ग्रहण करते हैं। यह बात अथर्व १८।४।८ से स्पष्ट होती है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस रूपमें हवि होमा जाता है उस रूपमें पितर नहीं लेते, परन्तु अग्नि द्वारा सूक्ष्म अदृश्य रूपमें परिणत हुई हुई हवि लेते हैं अर्थात् यज्ञमें अग्निमें होमी हुई हवि पितरोंको पहुंचती है। इसलिए जिसको उत्तम सेवन धन सम्पत्ति चाहिये उसे यज्ञ करना चाहिये व पितरोंको हवि देनी चाहिये। इन उपरोक्त मंत्रोंसे हम इस प्रकारके सहज अनुमान कर सकते हैं।

स पितॄन्त्सह पितरः स्वान न स्योनं कृण्वन्त प्रात इन्द्र आयुः। तेभ्यः प्रथम हविषा यजामो ज्योगजीताः प्रतरं दधातु नः सुवीराः॥

अथर्व १८।३।२९

[इह] इस यज्ञमें [नः] हमारे [स्वाः पितरः] ज्ञातिके पितृगण [सोम्यं कृण्वन्तः] सुख उत्पन्न करते हुए [आ विशन्तु] प्रविष्ट होवें। और [आयुः प्रतिरन्तः] आयुष्यकी वृद्धि करें। और उत्तम स्वरूपमें [यजमानाः] यज्ञशील अर्थात् प्रशंसा कार्य तत्पर हम [ज्योग् पूर्वीः शरदः] निरन्तर बहुत से वर्षोंतक [जीवन्तः] जीवन धारण करते हुए [तेभ्यः] उन दीर्घ आयु देनेवाले पितरोंकी [हविषा] हविद्वारा [अहम] परिचर्याके लिये समर्थ बने रहें।

यह मंत्रभी उपरोक्त परिणामको पुष्ट कर रहा है। निम्न मंत्र विशेष विचारणीय है क्योंकि इसमें पितरोंके लिये मांस व मद्यके देनेका विधान मिलता है।

> वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैनान्वेत्थ निहितान् पराके। मेदसः कुल्या उपतान्त्स्रवन्तु सत्या एषामाशिषः सं नमन्तां स्वाहा ॥ यजु० अ० ३५।२

(जातवेदः) हे अग्नि! (पितृभ्यः वपां वह) पितरोंके लिये वपाको वहन कर (यत्र) जहां (पराके) दूरपर (निहितान्) स्थित (एतान् वेत्थ) इन पितरोंको तू जानता है। (मेदसः कुल्याः तान् उपस्रवन्तु) चरबीकी छोटी छोटी नदियां उनको प्राप्त होवें और (एषां सत्याः आशिषः) इनके सत्य आशीर्वाद (सं नमन्ताम्) हमें प्राप्त होवें। (स्वाहा) उपरोक्त कथन सत्य है।

यहांपर अग्निसे पितरोंके लिये चरबीकी नहरें पहुंचानेके लिये कहा गया है निम्न मंत्रमें पितरोंके लिये मांसवाले चरुके रखनेका विधान है-

> अपूपवान् मांसवांश्चरुरेह सीदतु। लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥
>
> अथर्व १८।४।२ ॥

अपूपों व मांसवाला चरु यहां वेदी पर आवे। (लोककृतः पथिकृतः) स्थानोंके बनानेवाले व मार्गोंके बनानेवालोंको (यजामहे) हम पूजते हैं। (ये) जो कि तुम (इह) यहां (देवानां हुतभागाः) देवोंमें दिये हुए भागको लेनेवाले हो।

चरुमें मांस शब्द मांसके लिये आया है। यास्काचार्यने इसके जो निर्वचन किये हैं वे इसी बातको सिद्ध कर रहे हैं। साथही जो उन्होंने मंत्र पेश किया है उसमें भी स्पष्ट शब्दोंमें चरुके मांस खानेका निषेध है। यास्काचार्यने मांसके निर्वचनमें निम्न लिखे हैं- देखो निरुक्त- ४।१।३।१

(१) मांसं मानसं- (मा+नसं) अर्थात् मांसभक्षणसे दीर्घायु प्राप्त नहीं होती।

(२) मानसं-मांस खानेसे मानसिक पाप पैदा होते हैं।

(३) मनोऽस्मिन्सीदति मांस खानेमें मन जाता है। मांसभक्षणको मन बहुत चाहता है।

इसके अतिरिक्त मनुने मनुस्मृतिमें मांसका जो निर्वचन किया है वह भी देखने लायक है। वह इस प्रकार है—

> मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्। एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ५।५५॥

अर्थात् जिस प्राणीका मांस मैं इस जन्ममें खाता हूं पर जन्ममें वह मुझे खायगा। यह मांसका मांसत्व है ऐसा विद्वान् लोगोंका कथन है।

इसी सूक्तके ४१ वें मंत्रमेंभी ऐसाही वर्णन है। वह मंत्र इस प्रकार है—

> यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते। ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः॥ अथर्व १८।४।४२॥

(ते) तेरे लिये (यं मन्थं) जिस मंथ अर्थात् सत्तूके विलोडनसे प्राप्त पदार्थ मक्खन आदिको और (यं ओदनं) जिस भातको (यत् मांसं) जिस मांसको (ते) तेरे लिये (निपृणामि) देता हूं। (ते) वे सब (स्वधावन्तः मधुमन्तः घृतश्चुतः) स्वधावाले मधुरतासे युक्त तथा घीसे परिपूर्ण (ते सन्तु) तेरे लिये होवें।

इस मंत्रमें मांसका विधान है। प्राचीन सूत्रकारों के सूत्रोंमें भी कई स्थानोंपर मांसविधान पाया जाता है।

> अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्। अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत
>
> यजु० अ० २।३१

(पितरः) हे पितरो! (अत्र) इस यज्ञमें [मादयध्वम्] प्रसन्न होओ और (यथाभागं) अपने अपने भागके अनुसार हवि लेते हुए [आवृषायध्वम्] वृष की तरह आचरण करो अर्थात् मस्त होकर खाओ। जिस प्रकार कि [अमी पितरः] ये पितर [यथाभागं] अपने अपने भागके अनुसार हवि लेकर [अमदन्त] प्रसन्न हुए और [आवृषायिषत] उन्होंने खूब खाया।

शतपथ ब्राह्मण यथाभागमावृषायध्वं का अर्थ किया है यथाभागं अश्नीतेति श० २।४।२।१९ ॥ पितरों के लिए

यज्ञ में साथ हवि का भाग करके रखा जाता है जिसे वा वर वे प्राप्त होते हैं। २६ इससे सूचित होता है। अतः यज्ञमें पितरोंके लिए भाग रखना चाहिए।

> यद् वो मुद्रं पितरः सोम्यं च तेनो सचध्वं स्वयशसो हि भूत। ते अर्वाणः कवय आ शृणोत सुविदत्रा विदथे हूयमानाः ॥ अथर्व० १८।३।१९

[पितरः] हे पितरो! [वः यद् मुद्रं सोम्यं च] तुम्हारा जो हर्षप्रद व सौम्य कर्म है [तेनो] उस द्वारा [सचध्वं] हमें सेवित करो अर्थात् युक्त करो। [हि] निश्चयसे तुम [स्वयशसः] अपने यशसे ही यशस्वी [भूत] होते हो। [अर्वाणः] गतिवाले अर्थात् निरालसी [कवयः] कान्तदर्शी तथा [सुविदत्राः] उत्तम धनवाले, [हूयमानाः] बुलाए गये [ते] वे तुम [विदथे] यज्ञमें हमारी अपराध प्रार्थनाओं [आशृणोत] आकर सुनो।

उपरकके मन्त्रोंसे हमने देखा कि पितरोंको यज्ञमें बुलाया जाता है और वहांपर उन्हें हवि देकर प्रसन्न किया जाता है। प्रसन्न हुए हुए वे आयु, धनादि की इच्छा पूर्ति करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि पितरोंसे कामपूर्ति करानेके लिए यज्ञ आवश्यक है।

पितरोंके लिए प्रत्येक मासमें दान।

> सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितरोऽघ्नत। सा मासि समभवत् ॥ अथर्व ८।१०।२ ॥
>
> तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददाति प्र पितृयाणं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ अथर्व ८।१०।४

(सा) वह विराट् (उद् अक्रामत्) ऊपरको उठकर और (सा) वह (पितॄन् अगच्छत्) पितरोंके पास गई। (तां) उसको (पितरः अघ्नत) पितरोंने प्राप्त किया। फिर (सा) वह विराट् (मासि) मासमें (समभवत्) संयुक्त हुई ॥ अथर्व ८।१०।२ ॥ (तस्मात्) इस लिए (पितृभ्यः मासि) पितरोंके लिए महीनेमें (ददाति) देते हैं। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता पितरोंको महीने में दिया जाता है ऐसा जानता है, वह (पितृयाणं पन्थां) पितृयान मार्गको [प्रजानाति] अच्छी प्रकार जानता है।

यहांपर जो कहा गया है उसका इतना परिणाम अवश्य निकलता है कि पितरोंके लिए प्रत्येक मासमें दान करना चाहिए, यथाशक्ति कुछ देना चाहिए।

पितरोंका आसन।

> ये॓ऽस्माकं पितरस्तेषां बर्हिरसि ॥ अथर्व १८।४।६८ ॥

[ये] जो [अस्माकं पितरः] हमारे पितर हैं [तेषां] उनका (बर्हिः) आसन [असि] है।

कुशाआसनका नाम बर्हि है। बर्हिसे संबोधन करके कहा गया है। यज्ञमें पितरोंके बैठनेके लिए कुशादिनिर्मित आसन होना चाहिए, ऐसा इसस पता चलता है।

अग्नि और पितर।

(१)

इस प्रकरणमें हम अग्नि व पितरोंका संबन्ध तथा पितरोंके प्रति अग्निके कार्योंको दर्शावेंगे। पाठक इस प्रकरणान्तर्गत मंत्रोंको ध्यानपूर्वक पढें व उनसे निकलते हुए परिणामों पर ध्यान दें।

यज्ञमें अग्निका पितरोंको लाना।

> ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः। आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ॥ ऋ० १०।१५।९

(देवत्रा जेहमाना) देवोंको प्राप्त होते हुए अर्थात् देव बनते हुए (होत्राविदः) यज्ञोंके जाननेवाले (स्तोम तष्टासः) स्तोमोंके बनानेवाले [ये] जो पितर [अर्कैः] पूजनीय स्तुतियोंसे [तातृषुः] अत्यन्त प्रसन्न हुए हैं ऐसे [सुविदत्रेभिः, सत्यैः, कव्यैः, घर्मसद्भिः पितृभिः] उत्तम धनवाले अर्थात् अमूक उत्तमवर्णी कवि अथवा कव्य नामवालेपितरोंके लिए दिए गये हव्य था। अतः यज्ञादि करनेवाले यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ [अग्ने] हे अग्ने तू [आयाहि] आ।

> ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः। आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ॥ ऋ० १०।१५।१०

[ये] जो पितर [सत्यासः] सत्यवक्ता [हविरदः] हविके खानेवाले [हविष्पाः] हविको रक्षा करनेवाले तथा [इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः] इन्द्र व देवोंके साथ एक ही रथपर चढ़ते हैं ऐसे [सहस्रं देववन्दैः] हजारों बार देवोंकी स्तुति किए गए (पूर्वैः परैः) प्राचीन व अर्वाचीन [घर्मसद्भिः पितृभिः] यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ (आ याहि) आ। इसपर विशेष देखो मेध एतद् भाग कर रहा है। इस संबन्धमें अवश्य पितरोंका आना कहा गया है।

कहा गया है। पितरोंके यज्ञादिमें साथ साथ अग्निका कार्य है यह इन मन्त्रोंसे स्पष्ट होता है। यह अग्नि कौन है इसका निर्णय मन्त्रोंसे स्वयं पाठक कर सकेंगे। इस अग्निका यज्ञ व हविसे विशेष संबन्ध है, यह आगे आनेवाले मन्त्रोंसे स्पष्ट स्पष्ट हो जायगा। सब मन्त्रोंको ध्यानमें रखते हुए ही अग्निके विषयमें निर्णय करना चाहिए। यह अग्निविषयक निर्णय पितरोंपर प्रकाश डाल सकेगा। ऐसा हमारा ध्यान है।

अग्निका पितरोंको हवि खानेके लिए ले आना।

उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि।
उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
ऋ० १०।१६।१२ तथा यजु० अ० १९।७० ॥
तथा अथर्व १८।१।५६॥

हे अग्ने! (उशन्तः) कामना करते हुए हम (त्वा निधीमहि) तेरी स्थापना करते हैं। और (उशन्तः समिधीमहि) कामना करते हम तुझे प्रदीप्त करते हैं। (उशन्) कामना करती हुई हे अग्नि तू (हविषे अत्तवे) हविके खानेके लिए (उशतः पितॄन्) कामना करते हुए पितरोंको (आ वह) ले आ। यहांपर अग्निसे हवि खानेके लिए पितरोंके ले आनेके लिए कहा गया है।

द्युमन्तस्त्वेधीमहि द्युमन्तः समिधीमहि।
द्युमान् द्युमत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
अथर्व १८।१।५७॥

हे अग्नि! (द्युमन्तः) दीप्तिमान होते हुए हम (त्वा इधीमहि) तुझे प्रज्वलित करें। (द्युमन्तः) और दीप्तिमान हम (समिधीमहि) तुझे भली प्रकार प्रदीप्त करें। (द्युमान्) दीप्त हुआ हुआ तू (द्युमतः पितॄन्) प्रकाशमान पितरोंको (हविषे अत्तवे) हवि भक्षणार्थ (आ वह) ले आ। उपरोक्त मन्त्रके भाव का ही यह मंत्र भी समर्थन कर रहा है।

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
अथर्व १८।२।३४॥

(अग्ने) हे अग्नि! (ये निखाताः) जो पितर जमीनमें गाडे गए हैं और (ये परोप्ताः) जो पितर दूर फेंक दिए गए हैं तथा (ये दग्धाः) जो पितर अग्निसे जलाए गए हैं (ये च) और जो पितर (उद्धिताः) जमीनके ऊपर रखे गए हैं, (तान् सर्वान्) उन सब पितरोंको तू (हविषे अत्तवे) हवि भक्षणार्थ (आ वह) ले आ।

इस मंत्रमें यह बतलाया है कि चार प्रकारसे अन्त्येष्टि संस्कार होता है। (१) गाडना (२) बहाना, (३) जलाना, (४) ऊपर रख छोडना। यहां पर इन चारों संस्कारोंसे संस्कृत पितरोंको हवि खानेके लिए अग्निको बुलानेके लिए कहा गया है। इस मंत्र पर विशेष प्रकाश 'प्रेत व अन्त्येष्टि संस्कार' शीर्षकके नीचे डालेंगे।

अग्निका पितरोंको हवि पहुंचाना।

ऊपर हमने देखा कि अग्नि पितरोंको हवि खानेके लिए अपने साथ ले आती है। अब हम देखेंगे कि वह पितरोंके पास हवि ले भी जाती है और वहां उन्हें देती है।

त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी। प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥ ऋ० १०।१५।१२ तथा
अथर्व १८।३।४२॥

यह मंत्र यजुर्वेदमें पाठभेद से निम्न प्रकार आया है—

त्वमग्न ईडितः कव्यवाहनावाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी। प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥ यजु० अ० १९।६६

(जातवेदः अग्ने!) हे जातवेदस् अग्नि! (ईळितः त्वं) स्तुति किया गया तू (हव्यानि) हव्योंको (सुरभीणि कृत्वी) सुगन्धित बनाकर (अवाट्) वहन कर। और फिर (पितृभ्यः प्रादाः) पितरों को दे। (ते) वे पितर (प्रयता हवींषि) दी गई हवियोंको (स्वधया अक्षन्) स्वधाके साथ खावें। [देव] हे प्रकाशमान अग्नि! [त्वं] तू भी [अद्धि] उन हवियोंको खा।

इस मन्त्रमें अग्निसे कहा गया है कि वह हवियोंको ले जाकर पितरोंको दे ताकि वे उन्हें खावें। यजुर्वेद में स्थित उपरोक्त मंत्रमें अग्निका विशेषण कव्यवाहन आया हुआ है। पितरोंके लिए दी गई हवि का नाम कव्य है। और क्यों कि अग्नि इस कव्यको पितरोंको पहुंचाती है अतः उसे कव्य वाहनके नामसे पुकारा गया है। हम आगे भी देखेंगे कि पितरोंके प्रति हविके ले जानेवाली अग्निको कव्यवाहनके नामसे कहा गया है।

[illegible] जातवेदः [illegible]

शुम्भिः। जातवेदाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं
देव प्रयता हवींषि ॥ अथर्व १८।४।६५

(त्वं अह) पार्थक्क और प्राप्त काल (शुम्भिः उप स्थाः) वीरों से वन्दना की जाती हुई (जातवेदाः) जातवेद अग्नि (प्रहित दूतः अभूत्) भेजा हुआ दूत है। क्यों कि तू भेजा हुआ दूत हुआ है (देव) प्रकाशमान अग्नि! (प्रयता हवींषि) हमारे से दी गई हवियोंको [पितृभ्यः प्रदाः] पितरोंके लिए दे जिससे कि (ते) वे पितर जिन्होंने कि तुझे दूत बनाकर भेजा है [स्वधया अक्षन्] स्वधाके साथ हमारे द्वारा दी गई हवियोंको खावें। [त्वं अद्धि] तू भी इन हवियोंको खा। इस मंत्र से हमें पता चलता है कि जिस अग्निकी वार्य व प्रार्थना वंदना की जाती है उस अग्निको पितर अपना दूत बनाकर हमारे पास भेजते हैं और वह अग्नि हमारे पास से हवियों को ले जाकर पितरोंको पहुंचाती है। हमारे से दी गई हवियोंको पितरों तक पहुंचानेके लिए अग्नि माध्यम है यह यहां पर स्पष्ट होता है।

उपरोक्त दोनों मंत्र इस बातको स्पष्ट कर रहे हैं कि अग्नि पितरोंके पास हवि पहुंचाती है और पितर उसे अपना दूत बनाकर हवि लानेके लिए भेजते हैं।

यो अग्निः क्रव्यवाहनः पितॄन् यक्षदृतावृधः।
प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ।
ऋ० १।१६।११ तथा यजु० १९।६५

[यः अग्निः] जो अग्नि [क्रव्यवाहनः] क्रव्य का अर्थात् पितरोंकी हविका वहन करनेवाली है और जो [ऋतावृधः पितॄन् यक्षत्] यज्ञ या सत्य से बढनेवाले पितरोंका यजन करती है वह अग्नि [देवेभ्यः पितृभ्यः च हव्यानि प्रवोचति] देवों और पितरों के लिये हव्यों को कहे अर्थात् देवों व पितरोंसे यो कि मैं तुम्हारे लिए हव्य ले जाई हूं।

इस मंत्रमें हम अभी देख आए हैं कि अग्नि पितरोंका दूत बनकर उनके लिए हवियोंको ले जाती है। हवि ले जानेपर पितरोंसे वह सूचित करती है कि तुम्हारे लिए मैं हवि ले जाई हूं इसी बातको इस मंत्रमें कहा गया है। यहांपर अग्निको क्रव्यवाहन कहा गया है। देवों व पितरों दोनों का ही अग्नि हवि पहुंचाती है यह भी इससे पता चलता है। निम्न मंत्रमें भी अग्निको कव्यवाहनके नामसे कहा गया है।

अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नमः। अथर्व. १८।४।७१

(कव्यवाहनाय अग्नये) कव्यका वहन करनेवाली अग्नि के लिए (स्वधा नमः) स्वधा और नमस्कार होवे।

पितरोंके लिए दी जाती हविका नाम कव्य है और देवोंके लिए दी जाती हविका नाम हव्य है।

अग्निका दूरगत पितरोंको जानना।

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम्। स वेद
निहितान् निधीन् पितॄन् परावतो गतान् ॥
अथर्व १८।४।४१

(अमर्त्यं) मरणधर्मसे रहित (घृतप्रियं) जिसको घी बहुत प्रिय है ऐसी (हव्यवाहं) हव्योंका वहन करनेवाली अग्निको पितृगण (समिन्धते) अच्छी प्रकार प्रदीप्त करते हैं। और (सः) वह अग्नि (निहितान् निधीन्) छिपे हुए खजानोंकी तरह (यहां लुप्तोपमा है) (परावतो गतान् पितॄन्) दूरगत पितरोंको (वेद) जानती है।

यहांपर यह बताया गया है कि छिपे हुए खजानों की तरह जो पितर सर्वथा आंखोंसे ओझल हैं अर्थात् सर्वथा अदृश्य हैं (चाहे वे दूर देशमें जानेसे अदृश्य हों या परलोकवासी होनेसे अदृश्य हों) उन्हें अग्नि जानती है। इसी लिए अग्निसे कहा गया है कि वह पितरोंको हवि पहुंचाए और इसी लिए वही पहुंचा सकती है।

ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म यां उ च न
प्रविद्म। त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं
सुकृतं जुषस्व ॥ ऋ० १०।१५।१३

(ये च इह पितरः) जो पितर यहांपर हैं, (ये च न इह) और जो यहांपर नहीं हैं (यान् च विद्म) तथा जिन पितरोंको हम जानते हैं (यान् उ च न प्रविद्म) तथा जिन पितरोंको हम नहीं जानते इस प्रकारके (यति ते) जितने भी वे पितर हैं उन सबको (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (त्वं वेत्थ) तू जानती है। (स्वधाभिः) स्वधाओंके साथ (सुकृतं यज्ञं) उत्तम प्रकारसे किए हुए यज्ञको (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक ग्रहण कर।

इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे ज्ञानका विद्यमान अविद्यमान ज्ञात अज्ञात आदि सब प्रकारके पितरोंका ज्ञानवान बताया गया है। निम्न मंत्रमें अग्निका पितरोंको पितृलोक में पहुंचानेका निर्देश है।

यद् वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयञ्जात
वेदाः। तद् व एतत् पुनरा प्याययामि साङ्गाः स्वर्गे
पितरो मादयध्वम्। अथर्व १८।४।६४

हे पितरो ! (वः यद् एक अङ्गं) तुम्हारे जिस अङ्ग को (पितृलोकं गमयन् जातवेदाः अग्निः) पितृलोकमें ले जाती हुई जातवेदस अग्निने (अजहात्) छोड दिया है (वः तद् एतद्) तुम्हारे उस इस अङ्गको मैं (पुनः) फिर (आप्यायामि) पूर्ण करता हूं । (साङ्गाः पितरः) अपने सब अङ्गोंसे युक्त हुए हुए पितरो ! (स्वर्गे मादयध्वम्) स्वर्गमें आनन्दित होओ ।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि अग्नि मरनेके अनन्तर पितरोंको पितृलोकमें ले जाती हुई उनके शरीरके किसी अङ्ग को यहांपर छोड जाती है ।

इसके सिवाय पितृयाण में हम निर्देश कर आए थे कि अग्नि पितृयाण मार्गको जानती है । यहां हमें पता चलता है कि अग्नि पितरोंको जानती है पितृलोक को जानती है । इतना ही नहीं अपितु पितृलोकमें जाकर पितरोंको हवि पहुंचाती है और वहांसे उनको हमारे यज्ञमें भी अपने साथ ले आती है । हमने पितृयाण में यह भी देखा है कि पितर सूर्य-किरणोंके साथ जाते हैं । इन मंत्रोंसे ऐसा पता चलता है कि पृथ्वी लोक की इहलोक पार्थिव अग्नि पितरोंको ले जाती है । तथा द्युलोकमें वही अग्नि सूर्यरूपमें परिणत होकर ले जाता है । इस प्रकार पुनरागमन आनेके पितृयाण मार्गका कुछ पता किया जा सकता है । अबतकके विवेचनसे इतना हमें ज्ञात हो जाता है कि पितरोंको अग्नि अपने साथ पितृलोकमें ले जाता है और वहांसे अपने साथ पुनः यज्ञादिमें हवि आदि खानेके लिए ले भी आता है ।

अग्निका मृत पुरुषको पितरोंके पास पहुंचाना ।

> पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः ।
> स त्वैतेभ्यः परिददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविद-
> त्रियेभ्यः ॥ ऋ १ । १ ॥
>
> तथा अथर्व १८ । २ । ५४

(अनष्टपशुः भुवनस्य गोपाः पूषा) हे मृत मनुष्य ! जिसके पशु नष्ट नहीं होते ऐसा संसारका रक्षक पूषा (विद्वान् त्वा इतः प्रच्यावयतु) जानता हुआ आपको रश्मियों द्वारा यहांसे यहां हटावे अर्थात् उच्च स्थान की ओर ले जावे । (स अग्निः) वह अग्नि (त्वा) तुझे (एतेभ्यः पितृभ्यः) इन पितरोंके लिए तथा (सुविदत्रियेभ्यः देवेभ्यः) उत्तम धनवाले देवोंके लिए (परिददत्) देवे ।

यह मंत्र भी उपरोक्त परिणामको स्पष्ट रूपसे पुष्ट कर रहा है । सायणाचार्यने पूषाका अर्थ आदित्य किया है । (निरु ७ । १ ।) तदनुसार सूर्य मृत पुरुषकी आत्माको अपनी रश्मियोंसे ले जाता है ऐसा प्रतीत होता है । पितृयाणमें जो मंत्र (ऋ. १।१ ९।७) हमने दिया है उसीकी यह मंत्र पुष्टि करता हुआ प्रतीत होता है ।

> मैनमग्ने विदहो माभि शोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो
> मा शरीरम् । यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्र
> हिणुतात् पितृभ्यः ॥ ऋ १ । १६ । १

यह मंत्र अथर्ववेदमें थोडेसे पाठभेदके साथ निम्न प्रकार आता है ।

> मैनमग्ने विदहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो
> मा शरीरम् । शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्र
> हिणुतात् पितृभ्य ॥
>
> अथर्व १८।२।४

(अग्ने) हे अग्नि ! (एनं मा विदहः) इस प्रेतको इस प्रकारसे मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट हो । (मा अभि शोचः) इसे शोकयुक्त मत कर । (अस्य त्वचं मा चिक्षिपः) इसकी चमडीको मत फेंक । (मा शरीरं) और इस प्रेतके शरीर कोभी मत फेंक अर्थात् इसकी त्वचा व शरीर पूर्णतया जला दे कोई भी भाग दग्धक्रियासे अवशिष्ट न रहे और (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (यदा शृतं कृणवः) जब तू इस प्रेतको परिपक्व करता है अर्थात् पूर्ण-तया जला दे (अथ) तब (एनं) इसको (पितृभ्यः प्रहिणुतात्) पितरोंके लिए भेज दे अर्थात् पितृलोकमें पितरों-के पास पहुंचा दे ।

यह मंत्र यद्यपि अन्त्येष्टि-संस्कार-विषयक है तथापि अग्निका पितरोंके लिए प्रेत जला देनेका कार्य दर्शाने लिए यहां दिया गया है । इस मंत्रके उत्तरार्धसे ऐसा पता चलता है कि जब-तक देह अपूर्ण रूपसे जल नहीं जाती तबतक आत्मा देहके आकर्षण में भटकती रहती है । इस परिणामानुसार जो आत्माको शीघ्र मुक्त करनेके लिए व उसके लिए निर्धारित स्थानपर भजनेके लिए शरीरका दहन करना अधिक उत्तम प्रकार होता है ।

शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परिदत्तात् पितृभ्यः।
यदागच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति॥
ऋ. १ ।१६।२॥

(जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (यदा शृतं करसि) जब इस प्रेतको पूर्णतया पक्व अर्थात् दग्ध कर दे (अथ ईम् पितृभ्यः परिदत्तात्) तब इसको पितरोंके लिए सौंपदे। (यदा) जब यह प्रेत (एतां असुनीतिं गच्छाति) इस प्राणोंके वशको प्राप्त होता है अर्थात् जब इसके प्राण निकल जाते हैं (अथ) तब प्राणोंके निकल जानेके बाद प्रेत (मृत शरीर) (देवानां वशनीः भवाति) देवोंके वश हो जाता है।

प्रेत देवोंके वश किस प्रकार होता है यह इसी मंत्रके बाद के मंत्र अर्थात् ऋ. १ ।१६।३ में दर्शाया है।

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः॥ ऋ. १ ।१६।३

हे प्रेत! तेरी (चक्षुः सूर्यं गच्छतु) आंख सूर्यको जावे। (आत्मा वातं) तेरी आत्मा (प्राण) वायुको जावे। और हे प्रेत! (धर्मणा) धर्मसे अर्थात् कर्म फलजन्य स्वर्गादि अथवा पार्थिवादि लोकोंके धर्मसे अर्थात् जो पार्थिव तत्त्व है वह पृथिवी में जावे इत्यादि रीतिसे (द्यां च पृथिवीं च गच्छ) द्यौ व पृथिवीको जा अर्थात् जो द्युलोक का तेरे में है वह द्युमें जावे व पृथिवीका है वह पृथिवीमें जावे। (वा) अथवा (अपो गच्छ) जलोंमें प्राप्त होवे (यदि तत्र ते हितं) यदि वहां का कोई भाग तेरेमें विद्यमान हो। और इसी प्रकार (ओषधीषु शरीरैः प्रतितिष्ठ) तू ओषधियोंमें शरीरावयवोंसे स्थित हो अर्थात् ओषधिरूप भाग ओषधियोंमें प्राप्त होवे।

यह ऋग्वेदके १ वें मण्डलका सम्पूर्ण १६ वां सूक्त इसी विषयपर विवरण है अतः हम इस सम्पूर्ण सूक्त पर आगे स्वतन्त्र विचार करेंगे। यहां पर हमें इतना ही देखना था, कि अग्नि इसको क्या करती है और तदनुसार हमने देखा कि केवल अग्नि पितृलोकमें पितरोंके पास पहुंचाती है।

मरनपर पितृलोकमें जाना।

जीवतामायुः प्रतिर त्वमग्ने पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः। सुगार्हपत्यो वितपन्नरातिमुषामुषां श्रेयसीमधेह्यस्मै॥ अथर्व १२।२।४५

(अग्ने) हे अग्नि! (त्वं जीवतामायुः प्रतिर) तू जीवितोंकी आयुको बढा और जब (ये मृताः) वे मर जावें तब (पितॄणां लोकं अपि गच्छन्तु) पितृलोकमें जावें अर्थात् जबतक वे जीवित हैं तबतक उनकी आयु वृद्धि करता रह और जब मरें तब पितृलोकमें पहुंचा दे (अरातिं वितपन्) न दान देनेवालेको विशेष रूपसे तपाता हुआ (सुगार्हपत्यः) उत्तम गार्हपत्य तू (अस्मै) इस जीवके लिए (उषाम् उषां श्रेयसीं) कल्याणकारिणी प्रत्येक उषाको (धेहि) धारण कर अर्थात् इसके लिए प्रत्येक उषा कल्याण करनेवाली हो। इस मंत्रमें अग्निसे उषा देनेकी प्रार्थना की गई है परन्तु उषा तो सूर्य देता है अतः यहां अग्नि सूर्यके लिए आया है ऐसा प्रतीत होता है। इसके सिवाय सूर्यसे भी दीर्घायुकी प्रार्थना करनेवाले मंत्र हैं तथा पहिले हम यह भी देख आए हैं कि सूर्य किरणोंसे पितर पितृलोकमें जाते हैं अतः अग्निसे यह सूर्यका ग्रहण है और सूर्यसे कहा गया है कि वह मृतको पितृलोकमें ले जावे। पितृलोककी अवधि पूर्ण होने पर अग्नि फिर वापिस मर्त्यलोकमें जीवात्माको लौटा लाती है यह निम्न मंत्र में दर्शा रहा है—

अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः। आयुर्वसान उपवेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः॥ ऋ. १ ।१६।५॥

यही मंत्र अथर्ववेदमें थोडेसे पाठ भेदके साथ निम्न प्रकार आया है—

अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधावान्। आयुर्वसान उपयातु शेषः सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः॥ अथर्व १८।२।१ ॥

(अग्ने) हे अग्नि! (यः) जो (ते आहुतः) तेरेमें अन्त्येष्टिके समय आहुत किया हुआ (स्वधाभिः चरति) स्वधाओंद्वारा अर्थात् स्वधाओंको खाता हुआ विचरण करता है उसको (पितृभ्यः) पितरोंसे (पुनः) फिर लाकर (अव सृज) यहां छोड जिससे कि (शेषः) वह पुनर्जन्म लिया हुआ बालक (आयुः वसानः) आयुको प्राप्त करे तथा (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (तन्वा संगच्छतां) वह शरीरसे युक्त होवे। [illegible] है। शेष [illegible] ऋ. १ ।१६।५ के समान इस मन्त्रका अर्थ निम्न प्रकार भी किया जा सकता है।

हे अग्ने ! जो पुरुष तेरेमें अन्त्येष्टिके समय आहुत किया हुआ स्वधाओंसे विचरण कर रहा है उसे पितरों के लिए दे अर्थात् उसे पितृलोक में पहुंचा । वहां शेष अर्थात् मृत पुरुष की सन्तान दीर्घ जीवन धारण करती हुई अपने घर आए । वह तेजयुक्त शरीरको प्राप्त होवे ।

इस अर्थके अनुसार इस मंत्रका भी विनियोग अन्त्येष्टि-संस्कार में किया जा सकता है । मंत्रके पूर्वार्धसे मृत पुरुषके लिए प्रार्थना की गई है तथा उत्तरार्ध से दाह संस्कार में आई हुई मृत पुरुषकी सन्तान के लिए दीर्घायु की प्रार्थना है ।

क्रव्याद् अग्नि ।

जिस अग्निका अन्त्येष्टि संस्कार में विनियोग किया जाता है उस अग्निका नाम क्रव्याद् अग्नि है । क्रव्याद् अग्निका अर्थ है मांसाहारी अग्नि अर्थात् जिसमें मांस होमा जाता है वह अग्नि । अन्त्येष्टि संस्कारमें मृत देहको होमा जाता है अतः इसका नाम क्रव्याद् अग्नि है । इसके सिवाय कइयोंका ऐसा भी मत है कि अन्यत्र पितृयज्ञादिमें भी मांस होमा जाता है और अतः उस अग्निका नाम क्रव्याद् अग्नि है । हम पीछे पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य इस शीर्षकके नीचे देख आए हैं कि वेदमें एक मंत्र हमें ऐसे भी मिले हैं जिनमें कि पितरोंके लिए वपा मांस आदि देनेका निर्देश मिलता है । आज अनेकों लोग पितरोंके लिए मांसका विधान मानते हैं परंतु मांस देनेके समय उसके स्थानपर माष (उड़द) देते हैं । परन्तु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि मृत शरीर होमा जानेके कारण ही वपा आदि मांसके होमने की कल्पना वेदमें की गई है क्यों कि मृत शरीरमें वपा और मांस तथा अन्न होते हैं । अस्तु अब हम देखते हैं कि क्रव्याद् अग्निके क्या कार्य हैं व पितरोंसे उसका क्या विशेष संबन्ध है ।

> क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः ।
> इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥
> ऋ० १०।१६।९॥ यजु० अ० ३५।१९॥
> अथर्व० १२।२।८॥

(क्रव्यादं अग्निं दूरं प्रहिणोमि) मांस भक्षक अग्निको दूर भिजवाता हूं । (रिप्रवाहः) पापका वहन करनेवाली वह अग्नि (यमराज्ञः गच्छतु) जहांका यम राजा है उस प्रदेशमें चली जाय । (इह) यहां पर (अयं इतरः जातवेदाः प्रजानन्) यह दूसरी क्रव्याद् अग्निसे भिन्न जातवेदस् अग्नि जानती हुई (देवेभ्यः हव्यं वहतु) देवोंके लिए हव्यों का वहन करे अर्थात् उन्हें पहुंचावे ।

इस मंत्रमें क्रव्याद् अग्नि को यमराज के देशमें भेजनेका निर्देश है और साथ ही क्रव्याद् अग्नि देवोंके हव्यके वहन करनेके लिए अनुपयुक्त है यह भी बताया गया है । इसका अभिप्राय यह है कि क्रव्याद् अग्निका संबन्ध यमलोकसे है जहां कि पितर रहते हैं ।

> यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश वो गृहमिमं पश्यन्नितरं
> जातवेदसम् । तं हरामि पितृयज्ञाय देवं स घर्ममि-
> न्वात् परमे सधस्थे ॥
> ऋ० १०।१६।१० ॥

यह मंत्र थोडेसे पाठान्तरसे अथर्ववेदमें निम्न प्रकार आया है ।

> यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश गृहमिमं पश्यन्नितरं
> जातवेदसम् । तं हरामि पितृयज्ञाय दूरं स घर्ममिन्वां
> परमे सधस्थे । अ० १२।२।७॥

(यः क्रव्यात् अग्निः) जो मांसाहारी अग्नि (इमं इतरं जातवेदसं पश्यन्) इस दूसरी जातवेदस् नामक अग्निको देख कर (वः गृहं प्रविवेश) तुम्हारे घर में घुस गई है । (तं देवं) उस दीप्यमान क्रव्याद् अग्निको (पितृयज्ञाय हरामि) पितृयज्ञके लिए हरता हूं । (सः) वह (परमे सधस्थे) परम सधस्थमें(घर्मं) यज्ञको (इन्वात्) प्राप्त होवे । यहांपर इस बातको स्पष्ट किया गया है कि क्रव्याद् अग्नि पितृयज्ञके लिए काम आती है । इसका यह मतलब प्रतीत होता है कि पितृयज्ञ में मांसकी आहुतियां हैं जिनके लिए यही अग्नि उपयुक्त है । इसी अग्नि में पितरोंके लिए मांस व वपाका होम (जैसा कि पूर्व देख आए हैं) होता होगा । इसके साथ हम यह भी देखते हैं कि क्रव्याद् अग्नि से भिन्न दूसरीको जातवेदस् के नामसे कहा गया है । क्रव्याद् अग्निको जातवेदस् के नहीं कहा गया। इसका मतलब यह है कि पितृयज्ञको छोडकर अन्यत्र सर्वत्र जातवेदस् अग्निका विनियोगमात्र होता है। अतः पितृयज्ञ या पितरोंके अन्य कार्योंके लिए जैसे शवदहनादिके लिए क्रव्याद् अग्निका प्रयोग होता है ।

> क्रव्यादमग्निमिषितो हरामि जनान् दृंहन्तं वज्रेण मृत्युम् ।
> नि तं शास्मि गार्हपत्येन विद्वान् पितॄणां लोकेऽपि भागो
> अस्तु ॥ अथर्व० १२।२।९

(प्रेषितः) प्रेरणा किया गया मैं (जनान् मृत्यु रक्षन्त) मनुष्योंको मृत्युसे रक्षा करती हुई अर्थात् मनुष्योंमें मृत्युव्यवस्था-को बचाती हुई (क्रव्यादं अग्निं) क्रव्याद् अग्निको (यज्ञेन) यज्ञद्वारा [हरामि] दूर भगाता हूं। [विद्वान्] ज्ञानी मैं [तं गार्हपत्येन विनाशिम] उस क्रव्याद् अग्निका गार्हपत्य द्वारा पृथक्करण बाधित करता हूं ताकि मृत्यु मनुष्योंमें रह न होने पावे। इस प्रकार क्रव्याद् अग्नि पर शासन करनेके कारण (पितृणां लोकेऽपि) पितरोंके लोकमें भी (भागः अस्तु) मेरा भाग हो।

क्रव्याद् अग्नि पर शासन करनेसे अर्थात् उसे वशमें कर-नेसे पितृलोकमें भाग मिलता है ऐसा इस मंत्रसे प्रतीत होता है अर्थात् पितृलोकमें यदि भाग चाहिए तो क्रव्याद अग्नि को वशमें करना चाहिए। क्रव्याद् अग्निके रहनेका स्थान मुख्यतया पितृलोक ही है ऐसा इस नीचेके मंत्रसे ज्ञात होता है।

> क्रव्यादमग्निं शशमानमुक्थ्यं प्रहिणोमि पथिभिः पितृयाणैः। मा देवयानैः पुनरागा अत्रैवैधि पितृषु जागृहि त्वम्॥
>
> अथर्व १२।२।९

(शशमानं उक्थ्यं क्रव्यादं अग्निं) शशमान प्रशंसाके योग्य, मांसभक्षक अग्निको (पितृयाणैः पथिभिः) पितृयाण मार्गों द्वारा (प्रहिणोमि) पितृलोकमें भगाता हूं। (देवयानैः पुनः मा अत्र आगाः) देवयान मार्गों द्वारा फिर यहां वापिस लौटकर मत आ। (एधि) वहीं पर वृद्धिको प्राप्त हो। (पितृषु एव त्वं जागृहि) पितरोंमें ही तू जागती रह अर्थात् उन्हींमें तू सावधानता पूर्वक रह।

क्रव्याद् अग्निका पितरोंसे कोई विशेष सम्बन्ध है अतएव उसे पितरों में ही रहनेके लिए तथा वापिस न आनेके लिए आदेश इस मन्त्रमें दिया गया है।

शशमान शब्दस्तुतौ से यह शब्द बना है। प्लुत गतिमें भी इसका प्रयोग आया है। यहां पर क्रव्याद् अग्निको शशमान विशेषण दिया है। इससे मतलब यह प्रतीत होता है कि क्रव्याद् अग्नि शावकके भांति चपल चल सकती है। यह चलनेसे देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो शशक उछल कर चल रही है इसी कारण सम्भव है इसे शशमानसे पुकारा गया है।

> अपावृत्य गार्हपत्यात् क्रव्यादा प्रेत दक्षिणा।
> प्रियं पितृभ्य आत्मने ब्रह्मभ्यः कृणुता प्रियम्॥
>
> अथर्व १२।२।३४

(गार्हपत्यात्) गार्हपत्य अग्निसे (अपावृत्य) हटकर अर्थात् गार्हपत्य अग्निको छोड़कर (क्रव्यादा) क्रव्याद् अग्नि के साथ (दक्षिणा प्रेत) दक्षिण दिशाको जाओ। (आत्मने पितृभ्यः प्रियं कृणुत) अपने लिए तथा पितरों के लिए प्रिय करो। (ब्रह्मभ्यः प्रियं) ब्रह्मज्ञानियोंके लिए प्रिय करो।

हमें वेदमंत्रों के देखनेसे पता चलता है कि पितरों की दक्षिण दिशा है। और उपरोक्त मन्त्रोंसे यह भी भली प्रकार ज्ञात हो चुका है कि क्रव्याद् अग्नि पितरोंमें रहती है। इन दो बातों को ध्यानमें रखते हुए इस मन्त्रको देखनेसे इसका भाव समझमें आ सकता है। यहांपर क्रव्याद् अग्निके साथ दक्षिण दिशामें जानेका आदेश है। इसके सिवाय यह भी हमें पता चलता है कि क्योंकि पितरोंकी दक्षिण दिशा है अतः पितृलोक दक्षिणमें है। क्रव्याद् अग्निके इतने विवेचनसे क्रव्याद् अग्निके कार्य क्या हैं व उसका पितरोंसे क्या सम्बन्ध है इत्यादि बातें पाठकोंके ध्यानमें आयी होंगी। अब अग्नि के अन्य कार्योंको दर्शानेवाले मन्त्रोंको दिया जाता है। निम्न मंत्रमें अग्नि का पितरोंमें प्रविष्ट हुए हुए दस्युओंका बलसे हटाना बतलाया गया है। मंत्र इस प्रकार है।

> ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति। परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टानस्मात् प्र धमाति यज्ञात्॥
>
> अथर्व १८।२।२८॥

(ज्ञातिमुखाः) ज्ञातियोंके समान मुखवाले अर्थात् जो सजातीय हैं और जो कि (अहुतादः) अहुत अर्थात् न दिए हुएको खानेवाले हैं यानि जबरदस्ती जो छीनकर खा जानेवाले हैं ऐसे (ये दस्यवः) जो उपद्रव करनेवाले (पितृषु प्रविष्टाः) पितरोंमें प्रविष्ट हुए हुए (चरन्ति) विच-रण करते हैं और (ये) जो (परापुरः) पुत्रोंको तथा (निपुरः) पौत्रोंको (भरन्ति) हरण करते हैं (तान्) उन दस्युओंको [अग्निः] अग्नि [अस्मात् यज्ञात्] इस यज्ञसे [प्र धमाति] दूर भगा रहा है यज्ञमें आने नहीं देता।

भरन्ति = हरन्ति (, हृग्रहोर्भश्छन्दसि) से ह को भ हो गया है।

इस मंत्रसे यह प्रतीत होता है कि अन्य ऋत्विगण जिनकी कि पितरोंमें गिनती नहीं है और जो हमारा व हमारी सन्ततिका चुपके चुपके नाश करते रहते हैं और जो हमारे न जानते हुए हवियों को जो कि पितरोंके उद्देश्यसे दी गई हैं खाते रहते हैं। पर जब यज्ञमें वे आकर ऐसा करते हैं तो अग्नि उन्हें यज्ञसे दूर भगा देती है उन्हें पितरों में बैठकर हवि खाने नहीं देती। इससे यह भी परिणाम निकल आ सकता है कि पितरोंके लिए जो भी कुछ देना हो वह अग्नि द्वारा अर्थात् यज्ञ करके ही देना चाहिए ताकि वह पितरोंको ही मिले। अग्नि ज्ञाति सुख औरोंको न लेने देगी।

अग्निके शरीरका पितरोंमें प्रवेश।

यस्ते देवेषु महिमा स्वर्गो या ते तनूः पितृष्वाविवेश।
पुष्टिर्या ते मनुष्येषु पप्रथेऽग्ने तया रयिमस्मासु धेहि॥
अथर्व १९।३।३॥

(अग्ने) हे अग्नि! (या ते महिमा) जो तेरी महिमा (देवेषु स्वर्गः) देवोंमें सुख पहुंचानेवाली है और (या ते तनूः) जो तेरा शरीर (पितृषु आविवेश) पितरोंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है तथा (या ते पुष्टिः) जो तेरी पोषकता (मनुष्येषु पप्रथे) मनुष्यों में फैली हुई है (तया) उससे (अस्मासु रयिं धेहि) हमारे अन्दर रयि को धनसम्पत्ति को स्थापित कर अर्थात् हमें धनसम्पत्ति दे।

यहां पर अग्नि अपने शरीरसे पितरोंमें प्रविष्ट हुई हुई है यह बात दिखाई गई है। अग्नि सदा पितरों में विद्यमान रहती है ऐसा इसका अभिप्राय मालूम पडता है। निम्न मंत्रमें पितरोंसे यह प्रार्थना की गई है कि न तो अग्नि हमसे द्वेष करे और नहीं हम अग्नि से द्वेष करें। मंत्र निम्न है—

यो नो अग्निः पितरो हृत्स्वन्तरा विवेशामृतो मर्त्येषु।
मय्यहं तं परि गृह्णामि देवं मा सो अस्मान् द्विक्षत मा वयं तम्॥ अथर्व १२।२।३३॥

(पितरः) हे पितरो! (यः अमृतः अग्निः) जो अमरणशील अग्नि (नः मर्त्येषु हृत्सु) हम मरणशीलोंके हृदयों में (आविवेश) प्रविष्ट हुई हुई है (तं देवं) उस प्रकाशमान अग्निको (अहं मयि परि गृह्णामि) मैं अपने अन्दर सब ओरसे ग्रहण करता हूं– स्थापित करता हूं। (सः) वह अग्नि (अस्मान् मा द्विक्षत) हम सबसे द्वेष मत करे और (वयं मा तं) हम उससे द्वेष मत करें। दोनों परस्पर द्वेष न करते हुए मिलकर रहें।

उपरोक्त मन्त्रमें पितरोंसे प्रार्थना की गई है कि अग्नि हमसे द्वेष न करे व हम अग्निसे द्वेष न करें। नीचे लिखे मंत्रमें अग्निसे प्रार्थना की गई है कि देव तथा पितर हमारे साथ जबरदस्ती न करें। मंत्र इस प्रकार है–

मो षू णो अत्र जुहुरन्त देवा मा पूर्वे अग्ने पितरः पदज्ञाः। पुराण्योः सद्मनोः केतुरन्तर्महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ ऋ० ३।५५।२॥

(अग्ने) हे अग्नि! (अत्र) यहांपर (देवाः मो षु जुहुरन्त) देवगण हमारे साथ जबरदस्ती मत करें। और (पूर्वे पदज्ञाः पितरः मा) पुरातन अर्थात् पूर्वकालीन स्थान जाननेवाले पितृगण जबरदस्ती मत करें। क्योंकि हे अग्नि! [केतुः] प्रकाशक तू [पुराण्योः सद्मनोः] पुरातन द्यावापृथिवीके [अन्तः] अन्दर सूर्यरूपसे प्रकाशित होती है [अथवा] और क्योंकि तू [देवानां एकं महत् असुरत्वं] देवोंका एक महान् प्राणदाता है।

यहांपर अग्निसे कहा गया है कि देव तथा पितर हमारे साथ जबरदस्तीका व्यवहार न करें। हमारी इच्छाके विरुद्ध हठ करके वे हमें किसी भी कार्यमें प्रवृत्त न करें। सूर्यके लिए यहां पर अग्नि शब्दको प्रयुक्त किया गया है ऐसा ज्ञात होता है क्योंकि द्यु तथा पृथिवी दोनोंपर सूर्य प्रकाशित होता है अग्नि नहीं। इसके अतिरिक्त 'महद्देवानामसुरत्वमेकं' से भी यही पता चलता है। सूर्यमें सब देवोंको प्राणशक्ति देनेका सामर्थ्य है जैसा कि असुरत्व बता रहा है।

असुरत्व असु नाम है प्राणका। प्राणो वा असुः' श० ६।६।२।६॥ असु प्राणं-राति ददातीति असुरः प्राणदाता आत्मा। असुरस्य भावः असुरत्वम्- आत्माकी प्राण देनेकी शक्ति। सूर्यको देवोंकी आत्मा कहा गया है। सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा। श० १४।३।२।९॥

जुहुरन्त– हृ कौटिल्ये धातुसे लङ् लकार का रूप है। प्रकरणवश इस का अर्थ होता है हठ पूर्वक जबरदस्तीसे कोई काम करना।

पितरोंकी रक्षार्थ अग्निकी उत्पत्ति।

होताजनिष्ट चेतनः पिता पितृभ्य ऊतये।
प्रयक्षञ्जेन्यं वसु शकेम वाजिनो यमम्॥ ऋ० २।५।१

(येभ्यः) जलधाराओं व अन्नको देनेवाला (पिता) पालक व रक्षक (होता) देने व देनेवाला (अग्निः) अग्नि (पितृ-भ्यः स्वधे) पितरों की रक्षाके लिए (अजनिष्ट) उत्पन्न हुआ है। उस अग्निकी सहायता से (वाजिनः) बलवान् या अन्न से युक्त हुए हुए हम (प्रयतः) अत्यन्त पूजनीय (धेनुं) मननशील बीजमें अपने (वसु) धनको (मन सक्षम) नियमन करनेमें समर्थ हों। अर्थात् इस प्रकारके मनको हम अपने पास स्थिर रखने में समर्थ हो सकें।

इस मन्त्रमें अग्निकी उत्पत्तिका प्रयोजन पितरोंकी रक्षा बतया गया है। हम ऊपर देख आए हैं कि अग्नि पितरोंकी पर्याप्त धारक है। उसके बिना पितरोंकी रक्षा सम्भव नहीं। इसीको यह मन्त्र प्रतिपादित कर रहा है।

वैश्वानर अग्निका पितरोंको धारण करना।

> वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतधारमुत्सम्।
> स बिभर्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति पिन्वमानः॥ अथर्व० १८।४।३५॥

(वैश्वानरे इदं हविः जुहोमि) वैश्वानर अग्निमें यह हवि डालता हूं जो कि हवि (शतधारं-साहस्रं उत्सं इव) सैकड़ों व हजारों धाराओंवाले झरनेके समान सैकड़ों व हजारों धाराओं-वाली है। (सः) वह वैश्वानर अग्नि (पिन्वमानः) उस हविसे पुष्ट हुआ हुआ (पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति) पिताका, पिता-महका तथा परदादाओंका धारण पोषण करता है।

यहां पर अग्निको वैश्वानरके नामसे कहा गया है। वैश्वानर का अर्थ है सब नरोंको लेजानेवाला। अग्नि सब मनुष्योंको ले जाती है। अन्त्येष्टिमें सब मनुष्योंको अग्निमें जलाया जाता है और फिर अग्नि उनको पितृलोकमें ले जाती है जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं। इस प्रकार अग्नि वैश्वानर है। इस मन्त्रमें उपरोक्त कल्पनाकी ही पुष्टि की गई है। पितरोंके लिए जो कुछ देना हो वह अग्नि में डालना चाहिए। वह उन्हें पहुंचाता है और इस प्रकार उनका धारण पोषण करती है।

(२)

अग्निष्वात्त पितर।

अग्निष्वात्त का क्या अर्थ है यह एक विचारणीय विषय है। क्योंकि भिन्न भिन्न भाष्यकर्ताओंने इसका भिन्न भिन्न अर्थ किया है। परन्तु वेदमन्त्रोंसे इसका क्या अर्थ निकलता है यह हमें देखना है। अग्निष्वात्तका शब्दार्थ इस प्रकार है अग्निना स्वात्ताः स्वादिताः ते अग्निष्वात्ताः। अर्थात् जिनका अग्निने स्वाद लिया है यानि जो अग्निमें जलाए गए हैं। इसी विग्रहकी तथा इस अर्थ की पुष्टि शतपथ ब्राह्मण कर रहा है— यानग्निरेव दहन्त्स्वदयति ते पितरो अग्निष्वात्ताः श० २।६।१।७ अर्थात् जिनको अग्नि ही जलाती हुई स्वाद लेती है वे पितर अग्निष्वात्त कहलाते हैं। इस विवे-चनसे अग्निष्वात्त पितरोंके विषयमें हमारे सामने यह परिणाम निकला कि जिनका अन्त्येष्टि संस्कार अग्निद्वारा होता है उन पितरोंका नाम अग्निष्वात्त पितर है। अब हम वेद मन्त्रोंपर दृष्टि डालेंगे और देखेंगे कि उनसे क्या पता चलता है।

> ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते। तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति॥ यजुः १९।६०॥

[ये] जो [अग्निष्वात्ताः] अग्निष्वात्त पितर और [ये] जो [अनग्निष्वात्ताः] अनग्निष्वात्त पितर [दिवः मध्ये स्वधया मादयन्ते] द्युलोकके बीचमें स्वधासे आनन्दित हो रहे हैं [तेभ्यः] उन पितरोंके लिए [स्वराट्] स्वयं प्रकाशमान अग्नि या यम [यथावशं] कामनाके अनुसार अर्थात् कर्मानुसार [एतां असुनीतिं तन्वं कल्पयाति] इस प्राणोंको ले जाने वाले शरीरको बनाता है।

असुनीतिका अर्थ है जो प्राणोंको ले जाय। ... ... प्राणोंके द्वारा ले जाया जाता है। ... ... आता है। इस मन्त्र से यह बात स्पष्ट है कि पितृलोकमें ... पितरोंका पुनर्जन्म होता है। उपरोक्त मन्त्र ठीक इसी रूपमें ऋग्वेदमें मिलता है। वहांपर जो पाठभेद है वही अग्निष्वात्तके अर्थ स्पष्ट निर्णय कर रहा है।

> ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते। तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति॥ ऋ० १०।१५।१४

अर्थ उपरोक्त मन्त्रानुसार ही है। इन दोनों मंत्रोंकी तुलना करके देखनेसे पाठकों को इस मंत्र में अग्निष्वात्त का अर्थ ज्ञात हो जाएगा। यजुर्वेदस्थ इस मन्त्र में जहां अग्निष्वात्त और अनग्निष्वात्त पद हैं वहां पर ऋग्वेदमें अग्निदग्धाः व अनग्निदग्धाः पद हैं। इस मन्त्र इसका प्रमाण है। इसका अभिप्राय यह है कि जो अर्थ अग्निष्वात्त का है वही अर्थ अग्निदग्ध का है। अग्निदग्ध का अर्थ स्पष्ट है। जो अग्नि

द्वारा चखाया गया हो। अतः अग्निष्वात्त का भी अर्थ हुआ कि जो अग्नि द्वारा चखाया गया हो। हम प्रारंभ में देख आए हैं कि शतपथ ब्राह्मणने भी यही अर्थ किया है जो कि वेदमंत्रों से पता चल रहा है। इस प्रकार वेद व ब्राह्मण अग्निष्वात्त के इसी अर्थ पर सहमत हैं कि जो अग्नि द्वारा चखाया गया हो। पाठक इसपर विचार करें क्यों कि इससे पितरों पर विशेष प्रकाश पडता है। अग्निष्वात्त का उपरोक्त अर्थ होने पर निश्चय से अग्निष्वात्त पितर मृत पितरही हैं यह सिद्ध होता है और उनसे जैसा कि आगे देखेंगे यज्ञमें बुलाकर रक्षा कर ने यज्ञादि स्थले यह हवि विनियोग संकेत है। इसका अभिप्राय स्पष्ट रूपसे यह है कि मृत पितरों के लिए कुछ न कुछ अवश्य करना चाहिए इसका अभिप्राय उन्नपर प्रकाश डाल न के बाद अब हम अग्निष्वात्त पितर के यज्ञादि में आने हमारी रक्षा करने आदि दर्शानेवाले मन्त्रोंको प्रस्तुत करते हैं।

> अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः। अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥ ऋ० १ ।१५।११

यह मंत्र थोडसे पाठभेदके साथ यजुर्वेद तथा अथर्ववेदमें भी आया है। देखो यजुः १९।५९ तथा अथर्व १८।३।४४॥ अर्थ इस प्रकार है--

हे उत्तम नेता अग्निष्वात्त पितरो ! इस यज्ञमें आओ। घर घरमें स्थित होओ और यज्ञमें दिए गए हवियोंको खाओ। हमें सब प्रकारकी वीरतासे पूर्ण धनको दो।

इस मंत्रमें अग्निष्वात्त पितरोंको यज्ञमें बुलाने हवि खिलाने तथा मांगनेका स्पष्ट रूपसे उल्लेख है।

> आयान्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ यजु. अ. १९।५८॥

(सोम्यासः) शान्त स्वभाव धारण करनेवाले [नः अग्निष्वात्ताः पितरः] हमारे अग्निष्वात्त पितर [देवयानैः पथिभिः] देव जाने वाले मार्गों द्वारा [अस्मिन् यज्ञे आयान्तु] इस यज्ञमें आवें। [स्वधया मदन्तः] स्वधासे तृप्त होकर आनन्दित होते हुए [अधिब्रुवन्तु] हमें उपदेश करें और [ते अस्मान् अवन्तु] वे हमारी रक्षा करें।

इस मंत्रमें भी पूर्व मन्त्रानुसार यज्ञमें पितरोंके आने स्वधासे तृप्त होने उपदेश देने व हमारी रक्षा करनेकी प्रार्थना है।

> अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराशंसे सोमपीथं य आशुः। ते नो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ यजु। अ. १९।६१॥

(ऋतुमतः) ऋतुओंवाले (अग्निष्वात्तान्) अग्निष्वात्त पितरोंको (हवामहे) हम बुलाते हैं, (ये) जो कि (नाराशंसे सोमपीथं आशुः) जिस में मनुष्य प्रशंसाको पाते हैं ऐसे यज्ञ में सोमपानको करते हैं (ते विप्रासः) वे मेधावी पितर (नः सुहवाः भवन्तु) हमारे लिए सुखपूर्वक बुलाने लायक होवें अर्थात् हमें उन्हें बुलानेमें कष्ट न हो बुलाते ही वे हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर आ जावें। (वयं) हम (रयीणां पतयः स्याम) धनोंके स्वामी होवें।

ऋतुमतः का अभिप्राय कुछ स्पष्ट नहीं होता। क्या ऋतु-यज्ञसे है क्या है।

इस मंत्रमें अग्निष्वात्त पितरोंको सोमपान करनेके लिए आमन्त्रित किया गया है। तथा प्रार्थना की गई है कि वे इनके हमारे आमंत्रण को स्वीकार करें। निम्न मंत्र में भिन्न भिन्न प्रकारके पितरोंके लिए भिन्न भिन्न प्रकारके पदार्थोंका उल्लेख है।

> धूम्रा बभ्रुनीकाशाः पितॄणां सोमवतां बभ्रवो धूम्रनीकाशाः पितॄणां बर्हिषदां कृष्णा बभ्रुनीकाशाः पितॄणामग्निष्वात्तानां कृष्णाः पृषन्तस्त्रैयम्बकाः ॥ यजु. २४।१८॥

(धूम्राः) धूएंके रंग जैसे तथा (बभ्रुनीकाशाः) भूरे रंग जैसे पशु या पदार्थ (सोमवतां पितॄणां) सोम रसपान करने-वाले पितरोंके हों। (बभ्रवः) भूरे तथा (धूम्रनीकाशाः) धूएं जैसे पशु या पदार्थ (बर्हिषदां पितॄणां) कुशा घास पर बैठनेवाले पितरों के हों। (कृष्णाः) काले तथा (बभ्रुनीकाशाः) भूरे रंग जैसे पशु या पदार्थ (अग्निष्वात्तानां पितॄणां) अग्नि-ष्वात्त पितरोंके हों। शेष कृष्णाः पृषन्तस्त्रैयम्बकाः इस मंत्र भागका कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता और नहीं अर्थ स्पष्ट होता है। इस प्रकार अग्निष्वात्त पितरोंका प्रकरण यहां पर समाप्त होता है। यह प्रकरण विशेष विचारणीय एवं महत्त्वपूर्ण है।

(३)

बर्हिषद् पितर।

> आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः। बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥ ऋ. १ ।१५।३॥ यजुः १९।५६॥ अथर्व १८।१।४५॥

(सुविदत्रान् पितॄन् अहं विन्दः आ अवित्सि) उत्तम ज्ञानवाले पितरोंको मैंने व्यापक परमात्मासे प्राप्त किया है । (न पातं विक्रमणं च) और न गिरानेवाले अर्थात् अनेक विक्रम करनेवाले पराक्रमको मैंने व्यापक परमात्मासे प्राप्त किया है । अतः (ये बर्हिषदः स्वधया सुतस्य पित्वः भजन्त) जो बर्हि अर्थात् कुश (दर्भ) पर बैठनेवाले पितर स्वधाके साथ निचोड कर रखे हुए सोमरूपी अन्नका सेवन करते हैं (ते) तुम पितरो ! (इह) इस यज्ञमें (आगमिष्ठाः) बार बार आओ ।

यहां पर बर्हिषद् पितरों को यज्ञमें बुलानेका निर्देश है ।

बर्हिषदः पितरः ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् । त आ गताऽवसा शंतमेनाथा नः शंयोररपो दधात ॥ ऋ १ ।१५।४॥ यजु अ १९।५५॥
अथर्व १८।१।५१

(बर्हिषदः पितरः) हे कुशासन पर बैठनेवाले पितरो ! (ऊती) रक्षा द्वारा (अर्वाक्) हमारी ओर होओ अर्थात् हमारी रक्षा करो । [वः] तुम्हारे लिए (इमा हव्या चकृम) ये हव्य हम करते हैं, (जुषध्वम्) इनका सेवन करो । (ते) वे तुम (शंतमेन अवसा) कल्याणकारी रक्षण के साथ (आ गत) आओ । (अथ) और (नः) हमें (शं) रोगों का शमन तथा (योः) भयोंका दूर भगाना और [अरपः] पाप रहित आचरण दो ।

यहां पर बर्हिषद् पितरों से रक्षण रोगों का शमन, भयों का दूरीकरण आदि करने की प्रार्थना है ।

इस प्रकार ये अग्नि व पितरों संबंधी विचार वेद में हमें मिलते हैं । इस प्रकरण में कई मननीय विचार हमें मिलते हैं जिनपर विशेष विचार करना नितान्त जरूरी है । जिन जिन वेदोंमें ये विचार मिलते हैं उन मन्त्रोंको उनके भावार्थसहित हमने पाठकों के सामने रख दिए हैं ।

प्रेत व अन्त्येष्टि ।

इस प्रकरण में हम शरीर से प्राण निकलने के समयसे अर्थात् प्रेत बननेके प्रारंभ से उसके अंतिम संस्कार दहन तक की उन क्रियाओं पर प्रकाश डालेंगे और जो उनमें उस प्रेतसंबंधी जो भावना है उसका शोध करेंगे ।

(१)

प्राण निकलने के कुछ समय पूर्व ।

मनुष्य देहसे प्राण के निकल जानेपर उसकी प्रेत संज्ञा होती है । जब प्राण निकल जानेको हों उस समय क्या करना चाहिए यह निम्न मंत्र दर्शा रहा है ।

इदं हिरण्यं बिभृहि यत्ते पिताबिभः पुरा ।
स्वर्गं यतः पितुर्हस्तं निर्मृड्ढि दक्षिणम् ॥
अथर्व १८।४।५६

हे मरणासन्न पुरुष ! [इदं हिरण्यं बिभृहि] इस सोने को धारण कर [यत्] जिस सोनेको कि [पुरा] पहिले [ते पिता अबिभः] तेरे पिताने धारण किया था । इस प्रकार हे मनुष्य ! [स्वर्गं यतः पितुः दक्षिणं हस्तं निर्मृड्ढि] स्वर्ग को जाते हुए पिताके दांये हाथको सुशोभित कर ।

निर्मृड्ढि– मृज शौचालङ्कारयोः से बना है । मृज् धातुका अर्थ शुद्ध करना व सुशोभित करना है ।

इस मंत्रमें दर्शाई गई क्रिया हम अनीतक कई हिंदुजातियों में पाते हैं । मरनेसे पूर्व मरणासन्न के दांये हाथमें सोनेकी अंगूठी पहनाई जाती है । सायणाचार्यने 'हिरण्यं' का अर्थ सोने की अंगूठी किया है, अतः संभव है उनके समय में यह रिवाज हिन्दुजाति में सर्वसाधारण होगा ।

इस मंत्र पर सायण भाष्य भी इसी बातका समर्थन कर रहा है ।

२ प्राण निकलनेपर प्रेतका जलस्नान ।

प्राण निकल जानेपर मृत देहको जलसे स्नान कराया जाता है । इस बातका निर्देश निम्न मंत्रमें मिलता है ।

येन मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनोन्दते ।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ।
अथर्व ५।१९।१४

* जैसा कि हमें ज्ञात हुआ है यह मृत को सुवर्णसे अलंकृत करनेका रिवाज गुजरात प्रांत पुजरात व महाराष्ट्रमें किसी न किसी रूपमें अभीतक विद्यमान है । संभव है पहले भारत में भी यह रिवाज प्रचलित होगा । कच्छ प्रांतकी [illegible] जाति में कोई कोई प्रेत के शरीर पर कुछच सुवर्ण अलंकार रहने देते हैं और मरनेके बाद भी गोबर से लीपी हुई जमीन पर प्रेतको सुलाकर मुखकी सुवर्णादि रख देते हैं । गुजरात में भी प्रेत को सुवर्ण देनेका रिवाज है । कोई कोई तो प्रेत के दांतों में सोने की छोटी कांटी उसके भी लगवाते हैं ताकि प्राण जाते हुए मुख सुवर्णहीन न रहे ।

हे [अग्ने] ज्ञानकी सहायवाले ! [येन मृत स्नपयन्ति] जिससे मृत पुरुषको स्नान कराते हैं [येन इमभूमि च कल्पते] जिससे दाढीमूछके बाल काटे करते हैं [तं च अपां मा ... न अम र म्] इन बालोंके साथका मलादि ... द्रवोंसे ... लिए धारित किया है। ऊपर मन्त्र द्वारा प्रेतका स्नान कराना स्पष्ट रूपसे निर्देश इसे मिलता है।

३ स्नानके बाद वस्त्र पहिनाना ।

स्नान करानेके बाद नवीन स्मशानोचित वस्त्रके पहिनानेका निम्न मन्त्रमें निर्देश है—

> एतत् त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूह यदिहाबिभः पुरा। इष्टापूर्तमनुसंक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु ॥ अथर्व १८।२।५७

हे मृत पुरुष ! [एतत् प्रथमं वासः] यह स्मशानोचित मुख्य वस्त्र [त्वा नु आ अगन्] तुम को प्राप्त हुआ है। [यत् इह पुरा अबिभः] जिस वस्त्रको पहले यहां तू धारण करता था [तत्] उस वस्त्रको [अप ऊह] दूर करो। [यत्र] जहां [ते बहुधा विबन्धुषु दत्तं] तेरा दान बिबन्धुओंमें भी हुआ है उसको [विद्वान्] जानता हुआ [इष्टापूर्तं]-अर्थात् तज्जन्य फलको [अनुसंक्राम] प्राप्त हो।

विबन्धु = जिसका बन्धु नहीं रहा है अर्थात् अनाथ गरीब आदि।

इस मन्त्रमें मरनेपर पुराने वस्त्रोंको त्याग कर उसको नवीन स्मशानोचित वस्त्र पहिनानेका उल्लेख है।

४ स्मशान भूमिकी तरफ प्रयाण ।

स्मशान का ग्रामसे बाहर होना ।

> अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परि ग्रामादितः। मृत्युर्यमस्यासीद्दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयां चकार ॥ अथर्व १८।२।२७

(जीवाः) प्राणधारी लोगोंने (इमं) इस प्रेतको (गृहेभ्यः) घरोंसे (अप अरुधन्) बाहर कर दिया है (तं) उसको तुम लोग (इतः ग्रामात्) इस ग्रामसे (परि निर्वहत) बाहर की ओर स्मशान भूमि ले जाओ। क्योंकि (यमस्य मृत्युः दूतः आसीत्) यमका मृत्यु दूत है और (प्रचेताः) प्रकृष्ट ज्ञानी मृत्यु इसके (असून्) प्राण (पितृभ्यः गमयां चकार) पितरोंके लिए ... (गमयां चकार) भेज दिए है। अतः क्योंकि यह निर्गतप्राण हो चुका है। इसलिए इसके शवको ग्रामसे बाहर दहनादि क्रियाके लिए ले जाओ।

इस मन्त्रमें यह दर्शाया है कि शरीरसे प्राण छूटने पर उसे घरसे बाहर कर देना चाहिए व तत्पश्चात् ग्रामसे बाहर ले जाना चाहिए। स्मशानभूमि ग्रामसे बाहर होनी चाहिए ऐसा इसका अभिप्राय है।

अब पूर्वोक्त शव् यानको आगे बाहर करता है। यहां पर मृत्युको यमका दूत बताया गया है।

शरीरसे प्राणोंके छूट जानेपर स्नान आदि कराकर शव वस्त्र पर उसे स्मशान भूमिमें ले जाने की तैयारी जाती है। हिन्दुलोग बांसकी अर्थी बनाकर उस पर शव रखकर कंधे पर चार आदमी कंधेपर रखकर स्मशानमें ले जाते हैं। मुसल्मान लोग भी इसी प्रकारसे ले जाते हैं। ईसाई लोग गाडीमें रख कर स्मशानभूमिमें ले जाते हैं। नीचे दिए गए तीन मन्त्रोंके साथ मालूम होता है कि स्मशानमें ले जाना चाहिये ऐसा पता चलता है।

> इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे। ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात् ॥ अथर्व १८।२।५६

हे मृतपुरुष ! (इमौ वह्नी) वहन करनेवाले इन दो बैलोंको (ते वोढवे) तेरे वहन करनेके लिए (युनज्मि) बैलगाडीमें जोतता हूं। किस लिये ? (असुनीताय) जिसमेंसे प्राण निकल गए हैं उस असुनीत अर्थात् शवपात देहके वहन करनेके लिए अथवा असुनीतम् अर्थ है जोकि मृतदेह न लेजाया जा सके। जिसके उठानेमें तकलीफ होती हो। (ताभ्यां) उन बैलोंसे (यमस्य सादनं इति) यह यमका घर है इस प्रकार (ते अव गच्छतात्) भली भांति जाव।

> एते पूर्वमपरं विवार्य तेनामं पूर्वे पितरः परेताः। पुरो गवा ये अभिशाचो अस्य ते त्वा वहन्ति सुकृतामु लोकम् ॥ अथर्व १८।४।४४

[इदं] यह सामने स्थित (पूर्वं) पुरातन तथा (अपरं) अर्वाचीन (विवार्य) बैलगाडी है। (येन) जिस पुरानी बैलगाडीसे (ते पूर्वे पितरः परेताः) तेरे पुरातन पितर चले गए हैं। (अस्य) इस शवकी बैलगाडीके (अभिशाचः) दोनों ओर बुजर्ग जाते हुए (अथवा व बैलगाडीमें जब दोनों भी पार्श्वों जुते हुए होते हैं) [पुरोगवाः] आगे जानेवाले

अर्थात् धुरामें जुते हुए जो बैल हैं (ते) वे बैल (त्वा) तुम्हें (सुकृतां लोके) पुण्यात्माओंके लोकमें (वहन्ति) प्राप्त करावें।

विमार्ग = वांछीव परामुख चान्ति अनेन प्रेत्य इति विमार्ग वाक्यम्। श्मशानमें पहुंचनेपर बैलोंका गाड़ीसे खोलना–

> आ प्रच्यवेथामप तन्मृजेथां यद् वामभिभा अत्रोचुः। अस्मादेतमघ्न्यौ तद् वशीयो दातुः पितृष्विह भोजनौ मम॥
>
> अथर्व १८।४।४९

हे भेदवाहक बैलो! (युवां) तुम दोनों (आ प्रच्यवेथाम्) बैलगाड़ीसे वियुक्त होओ। (तत्) उस (अपमार्ग) को आगे आने वाले निन्दारूप वाक्य से (अप मृजेथां) शुद्ध होओ। इस निन्दारूप वाक्य को जिससे कि अपर शुद्ध होनेको कहा गया है कहते हैं– (अभिभा) दोष देनेवाले पुरुषोंने (वां) तुम दोनोंको पुंगवो ठीक अपूर्ण अनिरीक्षणीय ऐसा कहना इत्यादि निन्दारूप (अत्र ऊचुः) जो वाक्य कहा है उससे शुद्ध होओ। (अघ्न्यौ) हे हिंसा करने के अयोग्य बैलो! (अस्मात्) इस निन्दा की कारणभूत पापी से [एतं] जो छूट जाना है (तत्) वह [वशीयः] श्रेष्ठ है। और तब [इह] इस पितृमेध में [पितृषु दातुः मम] पितरोंका सत्कार करके अग्नि को रखे हुए या हविको देते हुए मेरे [भोजनौ] पालना करनेवाले होओ।

इन मंत्रोंके अनुसार बैलगाड़ी द्वारा प्रेतका श्मशानमें ले जाना बैदिक प्रथा प्रतीत होती है।

५ श्मशानभूमिसे विघ्नकारियोंका भगाना।

जब श्मशान में प्रेतके पहुंच जानेपर उस स्थान पर प्रेतको दफनाया जा रहा है वह। दस्युओंके दूर करनेकी प्रार्थना का निम्न मंत्रोंमें उल्लेख है। तदनुसार प्रार्थना करके अपनी विधि करना चाहिए।

> अपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयवः। अस्य लोकः सुतावतः। द्युभिरहोभिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्ववसानमस्मै॥
>
> यजुः अ ३५।१॥

[देवपीयवः] देवोंसे द्वेष करनेवाले [असुम्नाः] दुःख देनेवाले [पणयः] दुष्ट व्यवहार करनेवाले लोग [इतः] इस स्थान से यहां से प्रेत को अन्त्येष्टि करनी है [अपयन्तु] दूर हट जावें। क्योंकि [लोकः] यह स्थान [अस्य सुताव-

तः] इस सोमाभिषव करनेवाले याज्ञिक का है। [अस्मै] इसके लिये [यमः] यम [द्युभिः अहोभिः] प्रकाशमान दिनों व (अक्तुभिः) रात्रियोंसे [व्यक्तं अवसानं] स्पष्ट समाप्ति [ददातु] देता है। अर्थात् इस जीवनमें अब इसके लिए दिन व रात्रिकी समाप्ति हो चुकी है। भावार्थ यह है कि यम ने उसका यह जीवन समाप्त कर दिया है अब उसके लिए दिन व रात्रि नहीं होतीं हैं। इस मन्त्रमें यह दर्शाया गया है कि हे दुष्टलोगो! इस स्थान से भाग जाओ यहां कि हमने इस प्रेतका अन्त्येष्टि संस्कार करना है जिससे कि संस्कारमें तुम विघ्न न डाल सको। इसी प्रकार निम्न मन्त्रमें भी ऐसी ही भावना है। मन्त्र इस प्रकार है–

> अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्। अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्ववसानमस्मै॥
>
> यजु १२।४५
>
> अथर्व १८।१।५५॥

हे दुष्टो! [अपेत] यहांसे चले जाओ। [वीत] भाग जाओ। [विसर्पतातः] सर्वथा दूर जाओ। क्योंकि [अस्मै] इस मृत पुरुषके लिये [पितरः एतं लोकं अक्रन्] पितरोंने यह स्थान [श्मशानभूमिका] किया है– चुना है– निर्धारित किया है। शेष पदार्थका अर्थ उपरोक्त मन्त्रानुसार ही है। केवल 'अद्भिः' पद विशेष है, जिसका पदार्थ है जलोंसे। परन्तु यह पेय पदार्थोंके लिए यहां आया है। मरनेपर सांसारिक पेय पदार्थोंकी भी समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार यह मंत्र भी उपरोक्त प्रयोजनके लिए ही है।

> अपेत वीत वि च सर्पतातो येऽत्र स्थ पुराणा ये च नूतनाः। अदाद् यमोऽवसानं पृथिव्या अक्रन्निमं पितरो लोकमस्मै॥
>
> यजु १२।४५

[ये] जो तुम [पुराणाः] पुरातन विघ्नकर्ता और [ये नूतनाः] जो तुम नवीन विघ्नकारी लोग [अत्र] यहां श्मशान-भूमिमें [स्थ] हो व तुम [अपेत] यहांसे चले जाओ। [वीत] भाग जाओ। [विसर्पतातः] सर्वथा दूर जाओ। क्योंकि (यमः) यमने (अस्मै) इस मृतके लिए (पृथिव्याः अवसानं अदात्) पृथिवीकी समाप्ति दी है यानि इसका पृथिवीपरका जीवन समाप्त कर दिया है इस तरह [पितरः] पितरोंने इसके लिए [इमं लोकं] यह श्मशानरूपी स्थान [अक्रन्] किया है अर्थात् चुना है जहां इसका यहां अन्त्येष्टि संस्कार होना है। इस प्रकार इन मंत्रोंमें श्मशानमें से भगाना।

जोकि मनाजेका चोतक है तदनुसार उसे भगाकर अनको विधि करनी चाहिये ऐसा इस मंत्रोक्त आशय है।

(५) प्रेतको जलाना, गाडना आदि ।

प्रेतके स्मशानभूमिपर पहुंच जानेके अनन्तर उसे गाडने जलाने अथवा या इसामें खुला छोडनेकी क्रिया की जाती है। नीचे लिखे मंत्रमें इन इन चारों क्रियाओंका उल्लेख पाया जाता है।

> ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः ।
> सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥
>
> अथर्व० १८।२।३४

(अग्ने) हे अग्नि ! (ये निखाताः) जो पितर जमीनमें गाडे गए हैं और (ये परोप्ताः) जो पितर दूर बहा दिए गए हैं तथा (ये दग्धाः) जो जला दिए गए हैं (च) और (ये उद्धिताः) जो पितर जमीनके ऊपर इसामें रखे गए हैं [तान् सर्वान्] उन सब पितरोंको तू [हविषे अत्तवे] हवि भक्षणार्थ (आ वह) ले आ।

यहांपर चार प्रकारके स्मशान-कर्म दर्शाए गए हैं। [१] गाडना [२] बहाना [३] जलाना और [४] इसामें जमीनपर खुला छोडना।

[१] गाडना—कुछ प्रेत जमीनमें गाडे जाते हैं जिनका कि अन्त्येष्टि संस्कार अग्नि द्वारा नहीं किया जाता। ये कौन हैं इस पर हमने थोडासा विचार करना है। जो मनुष्य संन्यासी होकर अपना देहत्याग करते हैं उनके देहको न जलानेके लिए स्मृतियोंमें कहा गया है क्योंकि संन्यासाश्रममें प्रवेश करते हुए पुरुषका सर्वमेध याग करना पडता है। इस यागमें वह अग्नि संबन्धी सर्व कर्मोंसे मुक्त हो जाता है। अतएव उसे मरनेपर अग्नि द्वारा नहीं जलाया जाता। संन्यासीके शरीरको जलाना चाहिए या नहीं इस विषयमें भगवान् इसे सुविचार निर्णय ज्ञात नहीं है पर स्मृति निषेध करती है। अतः निखात से संन्यासीका भी ग्रहण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समयमें विशेषतया मुसलमान व ईसाई लोग मुर्दोंको न जलाते हुए गाडते हैं। अतः उनके प्रेतोंका भी निखातसे ग्रहण किया जा सकता है जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं। मुर्देकी चार अवस्थाएं हो सकती हैं जिनमेंसे एक निखात है।

[२] जलाना या
[३] जलमें बहाना] ये दो अवस्थाएं विशेषतः हिन्दुओंमें पाई जाती हैं।

[४] जमीनपर खुला रखना यह चौथी अवस्था पारसियोंमें पाई जाती है।

इस प्रकार ये चारों अवस्थाएं वर्तमान समयमें हमें मिलती हैं। वेदमें पूर्वोक्त दो विभाग मिलते हैं [१] अग्निदग्ध अर्थात् जो अग्निमें जलाए जाते हैं तथा [२] अनग्निदग्ध अर्थात् जो अग्निमें नहीं जलाए जाते। अनग्निदग्धमें जलानेकी अवस्था को छोडकर शेष तीनों अवस्थाएं अन्तर्गत हो सकती हैं।

यदि हम सूक्ष्म रीतिसे हिन्दुओंके अन्त्येष्टि संस्कारका अवलोकन करें तो हम देखेंगे कि उपरोक्त चारों अवस्थाओंमें किसी रूपमें उनके अन्त्येष्टि संस्कारमें विद्यमान हैं। इससे यह अनुमान भी किया जा सकता है कि किसी न किसी समय ये चारों प्रथाएं हिन्दुओंमें प्रचलित होंगी। यद्यपि इस समय ये केवल रूपमें ही अवशिष्ट रह गई हैं। इस समयका हिन्दुओंका मृतसंस्कार इन चारोंसे सहित इस प्रकारसे होता है। इसे देखनेसे उपरोक्त परिणाम स्पष्ट प्रतीत होगा।

[१] प्रायः आजकल हिन्दुलोग मुर्दा अग्निमें जलाते हैं और जलानेके बाद तीसरे दिन [२] एक अश्म [पत्थर] लेकर उसको जमीनमें रख देते हैं। इसी प्रकार मुर्देकी अस्थियां चुनकर एक मिट्टीके बरतनमें रखते हैं अथवा इधर उधर फेंक देते हैं अथवा [३] बहुतसे लोग समीपस्थ नदी या समुद्रमें बहा देते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोग सीधा मुर्देको ही नदीमें बहा देते हैं। यदि इतनाभी न हो सके तो जलमें या आटेका पिण्ड बनाकर उसके ऊपर मृत पितरोंकी पूजा कर उसे पिण्डको बहा देते हैं। [४] मरनेके बादके दसवें दिन उपरोक्त कथनानुसार पिण्ड बनाकर घरके बाहर खुला रख देते हैं, ताकि उसे कौआ स्पर्श करें। जबतक कौआ स्पर्श नहीं करता, तबतक अन्त्येष्टि क्रिया पूर्ण नहीं हुई ऐसा समझा जाता है। यह संकेत इसामें मुर्देको पारसियोंकी तरह खुला छोडने का किया गया है।

इस प्रकार ये चारों विधियां केवल हिन्दुओंमें भी किसी रूपमें पाई जाती हैं यह हम देख सकते हैं। उपरोक्त मंत्रमें जो चार विधियां दर्शाई गई हैं वे ये ही हैं ऐसा हम कह सकते हैं। अतएव ये उद्धिताः अर्थात् जो ऊपर रख दिए हैं यानि जो इसामें जमीन के ऊपर रख दिए हैं यही प्रतीत होता है। इसी प्रकार ये परोप्ताः का अभिप्राय जो जलमें दूर बहा दिए हैं यही प्रतीत होता है। अस्तु इसमें कहीं गई अवस्थाओं पर इसके

है यथाशक्ति प्रकाश डालनेकी कोशिश की है। पाठक इसपर विशेष विचार कर उचित सिद्धान्त निकालें।

नीचे लिखे तीन मन्त्रोंमें प्रेतके भूमिमें गाडनेका उल्लेख है। मंत्र इस प्रकार हैं—

> अभि त्वोर्णोमि पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण भद्रया।
> जीवेषु भद्रं तन्मयि स्वधा पितृषु सा त्वयि ॥
>
> अ० १८।२।५२ ॥

हे प्रेत! [त्वा] तुझे [मातुः पृथिव्याः] माता पृथिवीके [भद्रया वस्त्रेण] कल्याणकारी वस्त्रसे [अभि ऊर्णोमि] आच्छादित करता हूं अर्थात् जमीनमें तुझे गाडता हूं। [जीवेषु भद्रं तत् मयि] जीवितोंमें जो कल्याण है वह मेरेमें हो अर्थात् मुझे प्राप्त हो और [पितृषु स्वधा] जो पितरोंमें स्वधा है [सा त्वयि] वह तेरेमें हो अर्थात् तुझे प्राप्त हो। यहांपर स्पष्ट शब्दोंमें प्रेतके गाडनेका निर्देश है।

> इदमिद् वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम्
> माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥
>
> अ० १८।३।५० ॥

हे प्रेत पुरुष (इदं इत् वा उ) यही है (न अपरं) दूसरा नहीं है। (दिवि सूर्यं पश्यसि) जो द्युलोकमें तू सूर्य देखता है। (यथा पुत्रं माता सिचा) जिस प्रकार पुत्रको माता अपने आंचलसे ढांपती है उस प्रकार हे (भूमे) पृथिवी तू (एनं) इस प्रेत पुरुषको (अभि ऊर्णुहि) चारों ओर से ढांप। इस मन्त्रके पूर्वार्धकी उत्तरार्धसे कैसे संगति है यह अभी तक कुछ स्पष्ट नहीं हुआ। उत्तरार्ध का भाव स्पष्ट है।

> अस्तौ वा इदं ते मनः ककुत्सलमिव जामयः। अभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ अथर्व १८।४।६६

(अस्तौ) हे प्रस्थान करनेवाले प्रेत! (इदं ते मनः) यही तेरा मन है। हे (भूमे) पृथिवी! (जामयः ककुत्सलं इव) जिस प्रकार स्त्रियां अपने बच्चेको कपडेसे ढांपती हैं या कुल स्त्रियां अपने सिरको ढांपती हैं उस प्रकार [एनं] इस प्रेतको [अभि ऊर्णुहि] भली प्रकार ढांप।

इन उपरोक्त मंत्रोंमें प्रेतके जमीनमें गाडने का उल्लेख है। इससे गाडनेकी प्रणाली वैदिक ही है यह पता लगता है। अब तक अन्त्येष्टिके मंत्रोंको देखनेसे हम कह सकते हैं कि हिन्दु, मुसल्मान, ईसाई, पारसी जातियोंमें जो मुर्दोंके जलाने गाडने आदिकी प्रथायें प्रचलित हैं वे सब वैदिक हैं। हम यू कह सकते हैं कि वे सब वेदोंसे उनको प्राप्त हुई हैं। उनका आदि स्रोत वेद ही है।

(७) अन्त्येष्टि-संस्कार।

चिता चयन करके उसपर प्रेत रखकर अग्नि प्रज्वलित की जाती है। अग्नि के प्रज्वलित हो जानेपर निम्न मंत्रोंसे अग्निसे प्रार्थना की जाती है। आवश्यक दो एक मंत्र हम यहां देते हैं।

> मैनमग्ने वि दहो माभि शोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्। यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृभ्यः ॥ ऋ० १०।१६।१

[अग्ने] हे अग्नि! [एनं मा विदहः] इस प्रेत को इस प्रकार से मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट हो। [मा अभिशोचः] इसे शोकाकुल मत कर। [अस्य त्वचं मा चिक्षिपः] इसकी त्वचा को मत बखेर। (मा शरीरं) इसके शरीर को भी मत बखेर। अर्थात् इसकी त्वचा व शरीर को पूर्णतया जला दे। कोई भी भाग जलने से अवशिष्ट न रह जावे। और [जातवेदः] हे जातवेदस् अग्नि! [यदा शृतं कृणवः] जब इसे पूर्णतया भस्म कर दे अर्थात् जलादे [अथ] तब [एनं] इसको [पितृभ्यः प्रहिणुतात्] पितरोंके लिए भेज दे यानी पितृलोकमें पितरों के पास पहुंचा दे।

यह मंत्र अथर्व वेद [१८।२।४] में भी आया है। इस मंत्र को हम पहिले अग्नि व पितर में दे आए हैं। वहां पर जो कुछ विशेष वक्तव्य इस मन्त्रपर था वह दे आए हैं। अतः यहां पुनः लिखना व्यर्थ है।

> शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परि दत्तात् पितृभ्यः।
> यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति
>
> ऋ० १०।१६।२

हे जातवेदस् अग्नि! जब इस प्रेत को पूर्णतया दग्ध कर दे तब इसे पितरों के लिए सौंप दे। जब इस प्रेत के प्राण निकल जाते हैं तब यह देवों के वशमें होता है।

यह मंत्र भी पूर्ण व्याख्यासहित उपरोक्त मन्त्रके साथ अग्नि व पितर में दे आए हैं। वहांपर देखने से यह मंत्र स्पष्ट हो जायगा।

> अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः। यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम् ॥ ऋ० १०।१६।४ ॥
>
> अथर्व १८।२।८ ॥

[अजः भागः] हे अग्नि इस प्रेत का जो अजभाग [आत्मा] है [तं] उसे तू [तपसा तपस्व] अपने तपसे तपा। [तं] उस अजभाग को [ते शोचिः] तेरी दीप्तिमान ज्वाला [तपतु] तपावे। [तं] उस अज भागको [ते अर्चिः] भास्मान ज्वाला [तपतु] तपावे। और फिर [जातवेद] हे जातवेदस् अग्नि! [याः ते शिवाः तन्वः] तेरे जो कल्याणकारी ज्वालारूपी तनू हैं [ताभिः] उन द्वारा इस अज भाग को [सुकृतां लोकं] सुकर्म करनेवालों के लोकमें [वह] प्राप्त करा।

इस मंत्र से भी वही परिणाम निकलता है जैसा कि हम पीछे दर्शा आए हैं। अर्थात् शरीर के जल जाने तक आत्मा शरीर के पास ही रहती है और शरीर दहन के अनन्तर अग्नि द्वारा अन्यत्र ले जाई जाती है। यह सम्पूर्ण सूक्त इसी भावके मंत्रोंवाला है जिससे कि नरमेध में विनियोग होता है। इस प्रकार प्रेतदहन के समय अग्नि से प्रार्थनायें करनी चाहिए, ऐसा इन मंत्रों का अभिप्राय है।

उपरोक्तानुसार अग्निसे प्रार्थनायें करके अंत्येष्टिपरक मंत्रों से अग्निमें आहुतियां देनी चाहिए। यजुर्वेद का ३९ वां अध्याय अंत्येष्टिपरक है। हम यहां वेही मंत्र देंगे जिनका कि हमारे प्रकरण से सम्बन्ध है अर्थात् जिन मंत्रों में यम या पितर विषयक किसी प्रकार का निर्देश है।

> यमाय स्वाहान्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा। ब्रह्मणे स्वाहा ब्रह्महत्यायै स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा ॥ यजुः ३९।१३ ॥

[यमाय स्वाहा] यम के लिए स्वाहा। [अन्तकाय स्वाहा] अन्तक के लिए स्वाहा। [मृत्यवे स्वाहा] मृत्युके लिए स्वाहा] [ब्रह्मणे स्वाहा] ब्रह्मके लिए स्वाहा। [ब्रह्महत्यायै स्वाहा] ब्रह्महत्या के लिए स्वाहा। [विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा] सब देवों के लिए स्वाहा। [द्यावा पृथिवीभ्यां स्वाहा] द्यु तथा पृथिवी के लिए स्वाहा।

इस मंत्रमें यम के लिए भी एक आहुतिका निर्देश है। इसी प्रकार के अन्य मंत्रों से आहुतियां देकर प्रेत से कहा जाता है कि हे प्रेत! -

> सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः ॥ ऋ० १०।१६।३
> अथर्व १८।२।७॥

तेरी आंख सूर्यको जावे। तेरे प्राण वायु को जावें। और हे प्रेत! तू धर्मानुकूल कर्म से द्यु या पार्थिवादि तत्वोंके धर्म से [पृथिवीम् च] पृथिवीमें जावे इस प्रकारसे] द्यु व पृथिवी को जा या जल तत्वके साथ जलमें मिल जावें। इसी प्रकार औषधियों में प्रवेश जावे यदि जलों का कोई अंश तेरे में स्थिर हो। इसी प्रकार औषधियोंमें शरीरांशोंसे स्थित हो। इस मंत्रार्थ से विशेष सम्बन्ध का यह हम पीछे दे आए हैं। इस प्रकार प्रेत का अन्तिम संस्कार हो जानेपर उसकी आत्मा से कहा जाता है कि—

> सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्।
> ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥
> ऋ० १०।१५४।५॥ अथर्व १८।२।१८॥

[सहस्रणीथाः कवयः] हजारों श्रीके ले जानेवाले अर्थात् हजारों के नायक, क्रान्तदर्शी [ये] जो कि [सूर्यं गोपायन्ति] सूर्यकी रक्षा करते हैं ऐसे [तपस्वतः] तपोयुक्त [तपोजान्] तपसे उत्पन्न [ऋषीन्] ऋषियों को [यम] हे नियमकर्ता! तू [गच्छतात्] प्राप्त हो अर्थात् इनमें जाकर तू जन्म ले।

८ प्रार्थनायें।

इस प्रकार प्रेतदहन की क्रिया समाप्त हो जानेपर उसके लिए पीछेसे की जानेवाली प्रार्थनाओंका उल्लेख निम्न मंत्रों में है।

> सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा।
> अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः ॥
> अथर्व २।१२।

[ते] तेरे [सप्त प्राणान्] सात प्राणोंको [अष्टौ मन्यः] आठों नाड़ियों को [ब्रह्मणा] मंत्र से [वृश्चामि] काटता हूं। तू [अग्निदूतः] अग्नि को दूत बनाकर [अरंकृतः] शीघ्रता करता हुआ [यमस्य] यमके [सादनं] घरको [अयाः] जा।

> सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
> हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥
> ऋ० १०।१४।८॥ अथर्व १८।३।५८

(परमे व्योमन्) उत्कृष्ट व्योममें अर्थात् स्वर्ग में (पितृभिः) पितरोंके साथ (संगच्छस्व) तू जा। (यमेन सं) और यमके साथ स्वर्ग में जा। (इष्टापूर्तेन) इष्टापूर्तके साथ स्वर्गमें जा। (अवद्यं हित्वाय) निन्द्य कर्मोंका त्याग करके (पुनः) फिर (अस्तं एहि) घरको आ अर्थात् पुनर्जन्म ले। और

(सुशर्मा) उत्तम रक्षणसे युक्त हुआ हुआ (तन्वा संपृच्यस्व) शरीर धारण करके दुनियामें विचरण कर।

भिन्न भिन्न अर्थमें बहुवचनान्त पितृशब्दका प्रयोग

पितृ शब्दवाले मंत्रोंको देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बहुवचनमें प्रयुक्त पितृशब्द खास अभिप्रायसे प्रयुक्त किया गया है। एकवचन व द्विवचनमें आया हुआ पितृ शब्द जन्मदाताका वाचक नहीं है यह बात आगे दिये जानेवाले मंत्रोंके उदाहरणसे पाठक सुगमतासे जान सकेंगे। अबतक आए हुए मंत्रोंके देखनेसे पाठकोंके मनमें यह बात अवश्यमेव आगई होगी कि इन मंत्रोंमें सर्वत्र बहुवचनान्त पितृशब्द ही प्रयुक्त है। इस प्रकरणमें हम उन थोडेसे मंत्रोंको देंगे कि जिनमें बहुवचनान्त पितृशब्दका प्रयोग उस अभिप्रायसे नहीं किया गया, जिस अभिप्रायसे कि अबतकके मंत्रोंमें किया गया है। परन्तु यह हमारे इस कथनका अनुभव स्वयमेव मंत्रोंके देखनेसे कर सकेंगे। यह प्रकरण अबतकके मंत्रोंमें विद्यमान पितृ शब्दके प्रयोगका अभिप्राय आगे आनेवाले मंत्रोंमें विद्यमान पितृ शब्दके अभिप्रायसे भिन्न है। यह दर्शाता हुआ हमें पूर्वोक्त मंत्रोंमें विद्यमान पितृ शब्दके अभिप्राय निर्णयमें पूर्ण सहायक होता देखा जाता है। इस प्रकार यह प्रकरण बहुवचनान्त पितृ शब्दके अभिप्राय-निर्णयमें महत्त्वशाली होगा यह पाठकोंको बराबर ध्यानमें रखना चाहिये।

१ हिंसा अर्थमें।

प्र नु वोचा सुतेषु वां वीर्या यानि चक्रथुः।
हतासो वां पितरो देवशत्रव इन्द्राग्नी
जीवथो युवम्॥ ऋ ६।५९।१॥

हे इन्द्राग्नी! (वां) तुम दोनों (सुतेषु यानि वीर्या चक्रथु) उत्पन्न पदार्थोंमें जो पराक्रम करते हो उनका (नु) निश्चय से (प्रवोचा) मैं प्रवचन करता हूं। अब प्रवचन का प्रकार बताते हैं—हे इन्द्राग्नी! (वां) तुम्हारे (पितरः) हिंसा करने वाले (देवशत्रवः) देवोंसे शत्रुता करनेवाले (हतासः) नष्ट होगए हैं। (युवं) तुम दोनों (जीवथ) जीवित हो।

पितरः—पीयति हिंसाकर्मा धातुसे पितर शब्द बनाया गया है क्योंकि देवशत्रुका यह विशेषण है। अतः यहां पितरका अर्थ हिंसा करनेवाले ही है। मंत्र अर्थ स्पष्ट बोधक है।

२ ज्ञानी लोक पितर

कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्युस्विदापः।
नोपस्पिजं वः पितरो वदामि पृच्छामि वः कवयो
विद्मने कम्॥ ऋ १०।८८।१८

(अग्नयः कति) अग्नियां कितनी हैं? (सूर्यासः कति) सूर्य कितने हैं? (उषासः कति) उषायें कितनी हैं? (आपः कतिस्वित्) भला आप कितने हैं? (कवयः पितरः) हे क्रान्तदर्शी ज्ञानी पितरो! (वः उपस्पिजं न वदामि) तुम्हारी स्पर्धा करता हुआ यानि परीक्षा लेनेके अभिप्रायसे उपरोक्त प्रश्न नहीं पूछता हूं अपितु मैं नहीं जानता अतः (विद्मने) जाननेके लिए (वः पृच्छामि) तुमसे पूछता हूं। मंत्र स्पष्ट है। ज्ञानी लोकोंको पितरका सम्बोधन किया गया है।

३ राज-सभाके सभासद पितर।

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ
संविदाने। येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु
वदानि पितरः संगतेषु॥ अ ७।१२।१

(संविदाने) परस्पर मेल रखनेवाली एक मतको प्राप्त हुई हुई (प्रजापतेः) प्रजापति राजाकी (दुहितरौ) दो दुहितायें (सभा च समितिः च) सभा और समिति (मा) मेरी (अवतां) रक्षा करें। (येन संगच्छै) जिस जिस सभासदसे मैं संगत होऊं यानि उसकी संमति लूं (सः) वह वह सभासद (मा उपशिक्षात्) मुझे शिक्षा दे। (पितरः) हे सभासदो! (संगतेषु) संमेलनोंमें मैं (चारु वदानि) ठीक बोलूं।

इस मंत्रमें राजाकी राजसभासदोंके प्रति प्रार्थना है। उनको पितरके नामसे कहा गया है।

४ सैनिक पितर।

स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो
गभीराः। चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा
उरवो व्रातसाहाः। ऋ ६।७५।९॥
यजु २९।४६॥

इस मंत्रकी देवता 'रथगोपाः' अर्थात् लडाईमें रथके रक्षक हैं। अर्थ इस प्रकार है—

(स्वादुषंसदः) शत्रुओंके बाण में बैठनेवाले या शत्रुभाग अवश्य प्राप्त करनेवाले (वयोधाः) अन्न देनेवाले (कृच्छ्रे श्रिताः) कठिनाइयोंमें भी स्थिर रहनेवाले (शक्तीवन्तः) शक्तिवाले या शक्ति नामक अस्त्रसे युक्त (गभीराः) गंभीर (चित्रसेनाः) दर्शनीय सेनावाले(इषुबलाः)बाण है बल जिनका अर्थात् बाणसे लडनेवाले (अमृध्राः)जिनकी शत्रुओंसे हिंसा नहीं हो सकती ऐसे (सतोवीराः) वीर्यवाले (उरवः) विशालकाय (व्रातसाहाः) शत्रुसमुदाय का पराजय करनेवाले (पितरः) रक्षा करनेवाले रक्षक होते हैं।

> ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवी अनेहसा। पूषा नः पातु दुरितादृतावृधो रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत ॥ ऋ० ६।७५।१०॥
> यजुः २९।४७

यह मंत्र ऊपरके मंत्रसे अगला मंत्र है। यह संपूर्ण सूक्त युद्ध विषयक है। इस मन्त्रका अर्थ इस प्रकार है-

[ब्राह्मणासः] हे ब्रह्मज्ञानी [सोम्यासः] सोम संपादन करनेवाले अर्थात् यज्ञादि कर्मोंके करनेवाले [ऋतावृधः] सत्यसे बढनेवाले या सत्यको बढानेवाले [पितरः] रक्षको ! [अनेहसा द्यावापृथिवी] अहिंसक द्यु तथा पृथिवी [नः शिवे] हमारे लिए कल्याण के करनेवाले हों। [पूषा] पोषक देवता पति [नः] हमारी [दुरितात्] पापसे [पातु] रक्षा करे और [माकिः अघशंसः नः ईशत] कोई भी पापी हमारे ऊपर शासन मत करे। [रक्षा] सबसे पूर्ण हमारी रक्षा करें।

इन मंत्रोंमें क्षत्रियोंको पितर कहा गया है क्योंकि वे हमारी रक्षा करते हैं।

५ प्राण—पितर

> यो अग्नो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः। इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्रवयाप वयेत्यासते तते ॥
> ऋ० १०।१३०।१॥

(यः यज्ञः) जो यह जीवनरूपी यज्ञ (विश्वतः तन्तुभिः) चारों ओरसे प्राण रूप माल या धागेसे तनुओंसे (ततः) शरीरमें विस्तृत है और (एकशतं देवकर्मेभिः) एकसौ एक देवकर्मोंसे अर्थात् सौ वर्षकी आयुसे (आयतः) शरीरमें फैला हुआ है उस यज्ञको (इमे पितरः) ये जीवनाधार प्राण पितर (वयन्ति) बुनते हैं। (ये आययुः) ये प्राण इस यज्ञ को प्राप्त हुए हैं व (तते आसते) इस विस्तृत जीवन-यज्ञमें बैठे हैं व कहते हैं कि (प्रवय अपवय) आगे बुनो पीछे और ऐसा ठीक बुनते जाओ।

इस मंत्रमें अपने पुत्रोंके अवतरणसे जीवनरूपी वस्त्र बुनते हैं। प्राण इस जीवनके रक्षक होनेसे पितर हैं।

> स्वाहा पूषे शरसे स्वाहा ग्रावभ्यः स्वाहा प्रतिरवेभ्यः। स्वाहा पितृभ्यः ऊर्ध्वबर्हिर्भ्यो घर्मपावभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः ॥
> यजु० अ० ३८।१५॥

इस संपूर्ण मंत्रका अर्थ हम यहां नहीं देते क्योंकि हमारा प्रयोजन सिर्फ स्वाहा पितृभ्यः ऊर्ध्वबर्हिर्भ्यः इतने से ही है। अतः इतने ही मंत्र भागका अर्थ हम देंगे।

(ऊर्ध्वबर्हिर्भ्यः पितृभ्यः स्वाहा) शरीरमें जिनकी ऊर्ध्व स्थिति है ऐसे प्राणोंके लिए स्वाहा। संपूर्ण मंत्रमें 'पूषे, शरसे' आदि प्राण के लिए हैं। अतः ऊर्ध्वबर्हि विशेषण प्राणों का है। यह मंत्र शतपथ में इसी प्रकार व्याख्यात है। देखो श० १४।२।२।१२॥

६ पालक-रक्षक आदि अर्थ में।

> यत्रामिन्द्र शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्। पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः ॥ ऋ० १।८९।९ यजुः २५।२२

(देवाः) हे देवो ! (नु) निश्चयसे (शतं इत्) सौ ही (शरदः) वर्ष (अन्ति) मनुष्यके पास हैं। (यत्र) जिन सौ वर्षोंमें आप देवगण (नः तनूनां जरसं चक्र) हमारे शरीरों में बुढापा लाते हो। (यत्र) और जिन सौ वर्षोंमें (पुत्रासः) पुत्रगण (पितरः) सन्तानोत्पत्ति के कारण होकर व अपनी सन्तान का पालन करनेके कारण होकर पितर बनते हैं। इन सौ वर्ष की (आयुः) आयुको (गन्तोः मध्ये) पूर्ण करके प्राप्त करने से पहिले ही बीचमें (नः) हमें (मा रीरिषत) मत नष्ट करो।

> त्राता नो बोधि ददृशान आपिरभिख्याता मर्डिता सोम्यानाम्। सखा पिता पितृतमः पितॄणां कर्तेमु लोकमुशते वयोधाः ॥ ऋ० ४।१७।१७॥

यह इन्द्र (नः) हमारा (त्राता) रक्षक (ददृशानः) हमारा देखनेवाला (अभिख्याता) उपदेश करनेवाला, (मर्डिता) सुख देनेवाला (सखा) मित्र (पिता) पालक (पितॄणां पितृतमः) श्रेष्ठ पितरों में श्रेष्ठ पितर (कर्ता) करनेवाला तथा (लोकं उशते) लोकों की कामना करनेवाले के लिए (वयोधाः) अन्न बल-आयु का देनेवाला है,

इस प्रकार हे उपासक! (बोधि) तू जान।

> ते हि द्यावापृथिवी मातरा मही देवी देवाञ्जन्मना यज्ञिये इतः। उभे बिभृत उभयं भरीमभिः पुरु रेतांसि पितृभिश्च सिञ्चतः॥ ऋ १।१५९।२॥

(मातरा) सब जगत् की निर्माण करनेवाली, (मही) बडी (देवी) दिव्य गुणोंवाली (यज्ञिये) पूजनीय (ते द्यावापृथिवी) वे द्यावापृथिवी (देवान्) देवोंको (जन्मना इतः) जन्मसे प्राप्त करती हैं अर्थात् उनको उत्पन्न करती हैं। (उभे) दोनों द्यु और पृथिवी (भरीमभिः) भरणपोषणसे (उभयं बिभृतः) दोनों मनुष्य व देवोंका धारण पोषण करती हैं। और (पितृभिः) पालक इन्द्रादि देवोंके साथ मिलकर (पुरु रेतांसि) बहुत जलोंसे [सिञ्चतः] सिञ्चन करती हैं अर्थात् प्रकार वृष्टि करती हैं।

७ इषु पितर।

> दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ अथर्व ३।२७।२॥

दक्षिण दिशाका इन्द्र अधिपति है। वह तिर्यक् गतिवालोंसे रक्षा करनेवाला है। उसके बाण पितर हैं अर्थात् रक्षक हैं। इत्यादि।

इस मंत्रमें बाणोंको पितर कहा गया है क्योंकि वे हमारी रक्षा करते हैं।

जनकपितर।

> वाताप्येव च ये सुभ्वो विभावानोऽग्नीनां न जिह्वा विरोकिणः। वर्मण्वन्तो न योधाः शिमीवन्तः पितॄणां न शंसाः सुरातयः॥ ऋ० १।१६८।१॥

[ये] जो मनुष्य [वाताः न] वायुओंकी तरह [सुभ्वः] पदार्थोंमें व्यापनेवाले हैं तथा जो [विभावानः] विभवाले [अग्नीनां जिह्वाः न] अग्नियों की ज्वालाओंके तरह [विरोकिणः] दीप्यमान हैं, और जो [वर्मण्वन्तः योधाः न] कवचधारी योद्धाओंकी तरह [शिमीवन्तः] युद्ध के कर्मोंके करनेवाले हैं व [पितॄणां शंसाः न] जनक पितरोंके यशोंकी तरह [सुरातयः] उत्तम दान देनेवाले हैं, ऐसे मनुष्य हमारी सर्वदा रक्षा किया करें।

> ध्रुवा एव वः पितरो युगे युगे क्षेमकामासः सदसो न युञ्जते। अजुर्यासो हरिषाचो हरिद्रव आ द्यां रवेण पृथिवीमशुश्रवुः॥ ऋ १०।९४।१२॥

(वः) तुम्हारे (पितरः) उत्पन्न करनेवाले (ध्रुवा एव) निश्चयसे स्थिर हैं। तुम (युगे युगे) युग युगमें (क्षेमकामासः) कल्याण करनेकी इच्छावाले हो इत्यादि। इस संपूर्ण सूक्तमें यज्ञमें सोमरूपा से सोम निकालने के लिए लाए हुए पत्थरोंका वर्णन है।'

८ पूर्वज पितर।

> चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे। पश्यन्मन्ये मनसा चक्षसा तान्य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे॥ ऋ १०।१३०।६॥

(पुराणे यज्ञे जाते) पुरातन यज्ञके हो जानेपर (तेन) उस यज्ञ द्वारा (ऋषयः) ऋषिगण, [मनुष्याः] अन्य मनुष्य समुदाय व [नः पितरः] हमारे पूर्वज [चाक्लृप्रे] उत्पन्न हुए। [ये पूर्वे इमं यज्ञं अयजन्त] जिन पूर्वज देवोंने इस सृष्ट्युत्पत्तिरूपी यज्ञको किया था [तान्] उन सबोंको [मनसा चक्षसा] मनरूपी आंखसे अथवा [चक्षसा मनसा] सूक्ष्म पदार्थोंके देखनेके साधनभूत मनसे [पश्यन्] देखता हुआ मैं [मन्ये] उन देवोंका मनन करता हूं।

यह सूक्त सृष्ट्युत्पत्तिपर कुछ कुछ प्रकाश डालता हुआ प्रतीत होता है। इस मंत्रमें आए हुए ऋषि पितर व मनुष्य क्रमशः ब्राह्मण क्षत्रिय व वैश्यके बोधक प्रतीत होते हैं जैसा कि पुरुषसूक्तमें सृष्ट्युत्पत्तिमें ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्यकी उत्पत्ति दर्शाई गई है। क्षत्रियोंके लिए पितरका प्रयोग वेदमें हुआ है जैसा कि अभी हम ऊपर दर्शा आए हैं।

ऋतुपितर।

> नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो मन्यवे नमो वः पितरः पितरो नमो वो गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मैतद्वः पितरो वास आधत्त॥ यजुः अ २।३२॥

इस मंत्रपर शतपथ ब्राह्मणने इसकी ही टिप्पणी चढाई है। कि इस मंत्रमें ६ बार नमस्कार है वह इसलिए है क्यों कि ६ ऋतुएं होती हैं। शतपथका वचन इस प्रकार है–

षडृतवो नमस्करोति षड्वा ऋतवः ऋतवः पितरः तस्मात् षडृतवो नमस्करोति श २।४।२।२४॥

इस प्रकार इस मन्त्रमें ऋतुओंको पितर कहा गया है ऐसा प्रतीत होता है। ब्राह्मणोंमें स्थान स्थानपर ऋतुओंको पितर कहा गया है। उदाहरणार्थ–

श २।६।१।४॥ कौ ५।७॥ गो उ १।२४॥
तथा ६।१५॥ श १।६।१।१२॥
तै १।७।१।४॥ तथा १।३।१।५॥

इत्यादि। इस स्थापनानुसार मन्त्रार्थ इस प्रकार है–

[पितरः] हे पितरो! [वः रसाय] तुम्हारी रसभूत वसंतके लिए [नमः] नमस्कार है। वसन्तऋतु में मधु आदि रसका बाहुल्य होता है अतः रससे यहां वसन्त ऋतु का उपलक्षण है। [पितरः वः शोषाय नमः] हे पितरो! तुम्हारी शोषक ग्रीष्मके लिए नमस्कार है। ग्रीष्ममें गरमी पड़नेसे सब रस सूख जाते हैं अतः शोषसे ग्रीष्मका यहां ग्रहण किया गया है। [पितरः वः जीवाय नमः] हे पितरो! तुम्हारी जीवनदात्री वर्षाके लिए नमस्कार है। जीवन नाम जलका है क्योंकि वह जीवन देता है। वर्षाऋतु जीवनदात्री है। [पितरः वः स्वधायै नमः] हे पितरो! तुम्हारी अन्न देनेवाली शरद् ऋतुके लिए नमस्कार है। स्वधा नाम अन्नका है। और शरद् ऋतुमें अन्न बहुत होता है। स्वधा शरद् ऋतुकी उपलक्षण है। [पितरः वः घोराय नमः] पितरो! तुम्हारी शीतयुक्त हेमन्तके लिए नमस्कार है। हेमन्तमें बड़ा घोर शीत पड़ता है अतः घोरसे हेमन्तका ग्रहण है। (पितरः वः मन्यवे नमः] हे पितरो! तुम्हारी मन्युभूत शिशिरके लिए नमस्कार है। शिशिरऋतुमें औषधियां जल जाती हैं अतः तद् कारणसे मन्यु शिशिरका उपलक्षण है। [पितरः] हे पितरो! [नः गृहान् दत्त] हमें घर दो अर्थात् हमारे घरोंको समृद्ध करो। [पितरः] हे पितरो! [वः] तुम्हारे लिए [सत देष्म] जो कुछ हमारे घरमें है हम देवें। हे पितरो! [वः एतद् वासः] तुम्हारा यह वस्त्र है अर्थात् यह आउन परिरक्षा साधन है सबके लो। अतएव ब्राह्मणने इस मंत्रका व्याख्यामें नमः का अर्थ यज्ञ किया है इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि इस प्रत्येक ऋतुमें यज्ञ करना चाहिये व उस उस ऋतुमें उत्पन्न पदार्थोंकी यज्ञमें हवि डालनी चाहिए।

गो-सखामक पितर।

न किल्बिषं निम्रिता मर्त्येषु येऽस्माकं पितरो गोषु योधाः।
इन्द्र एषां दृंहिता माहिनावानुद्गोत्राणि ससृजे दंसनावान्॥ ऋ ३।३९।४॥

(ये अस्माकं पितरः) ये जो हमारे पितर (गोषु योधाः) इन्द्रियोंसे लड़नेवाले हैं (एषां) इनका (मर्त्येषु) मनुष्योंमें (न किल्बिषं निम्रिता) कोई भी निन्दक नहीं है। (माहिनावान्) अत्यन्त पूजनीय या महिमावाला तथा (दंसनावान्) कर्मशील (इन्द्रः) आत्मा (एषां गोत्राणि) इनके इन्द्रियसमूहोंको (दृंहिता उत्ससृजे) दृढ बनाता है।

इस मंत्रमें गोशब्द इन्द्रियवाची है। इन्द्रियोंको वश करनेके लिए मनुष्यको उनके साथ युद्ध करना पड़ता है। जो योद्धा इन्द्रियोंपर विजय पा लेता है अर्थात् उन्हें अपने काबूमें कर लेता है उसका फिर दुनियामें कोई भी निन्दक नहीं रहता क्योंकि इन्द्रियां ही निन्दाकी जड़ है। इन्द्रिय–दमन करना वस्तुतः एक बड़ी भारी लड़ाई फतेह करना है। अतएव यहां इन्द्रियदमन करनेवाले पितरोंको योद्धाके नामसे पुकारा गया है। इन्द्रियदमन होनेपर आत्मा उन्हें दृढ बनाती है। संयमित इन्द्रियोंको पुरुषको सुख दुःख आदि द्वन्द्व कदापि सता नहीं सकते। उसका इन्द्रियसमूह इतना दृढ बन जाता है कि उसे सांसारिक कोई भी आपत्ति सता नहीं सकती। इस प्रकार इस मंत्रमें इन्द्रियदमनका महत्त्व दर्शाया है।

सोम और पितर।

त्वं सोम प्र चिकितो मनीषा त्वं रजिष्ठमनु नेषि पन्थाम्। तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः॥ ऋ १।९१।१॥
यजुः १९।५२॥

हे सोम! (त्वं मनीषा प्रचिकितः) तू अपने मन की शक्तिसे यानि अपनी बुद्धिसे सब उचित अनुचितको जानता है, इसलिए (त्वं) तू (रजिष्ठं पन्थाम् अनुनेषि) सरल व सुगम मार्गपर अपने पीछे पीछे ले जाता है। (इन्दो) हे इन्दु! (तव प्रणीती) तेरे बतलाए से (नः धीराः पितरः) हमारे धीर पितर (देवेषु रत्नं अभजन्त) देवोंमें रत्नको प्राप्त करते हैं अर्थात् देवोंमें शिरोमणि बन जाते हैं, या देवोंसे रत्न यानि संपत्ति प्राप्त करते हैं।

इन्दु- रसकी वर्षासे इन्दु शब्द बनता है। क्लेदनका अर्थ है गीला होना। अमृतसे गीला करनेवाला यानि अमृत देनेवाला। सोम्य गुणोंसे युक्त।

इस मंत्रमें सोमके अमृतत्व की महिमा दर्शाई है। पितर सोमके पीनेसे देवोंमें उच्च पदको प्राप्त करते हैं, ऐसा यहांसे पता चलता है।

> यो न इन्दुः पितरो हृत्सु पीतोऽमर्त्यो मर्त्यां
> आविवेश। तस्मै सोमाय हविषा विधेम
> मृळीके अस्य सुमतौ स्याम॥ ऋ ८।४८।१२

हे (पितरः) पितरो! (नः हृत्सु पीतः) जो हृदयोंमें पिया गया (अमर्त्यः इन्दुः) मरणरहित इन्दु (नः मर्त्यान्) हम मरणधर्मा मनुष्योंमें (आविवेश) प्रविष्ट हुआ हुआ है (तस्मै सोमाय) उस सोमके लिए (हविषा) हविद्वारा (विधेम) हम पूजा करते हैं। (अस्य) इस सोमके (मृळीके) सुखमें और (सुमतौ) सुमतिमें (स्याम) हम रहें।

इस मंत्रमें सोमको हवि देनेका व सुखेच्छुको सोमकी सुमतिमें रहनेका निर्देश है। यह सोम हमारेमें प्रविष्ट हुआ हुआ है, यह बात भी यहांसे पता चल रही है।

> त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ।
> तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो
> रयीणाम्॥ ऋ ८।४८।१३ यजु १९।५४

हे सोम! (त्वं) तू (पितृभिः संविदानः) पितरोंके साथ मिला हुआ (द्यावापृथिवी) द्युलोक व पृथिवी लोकको (अनु आ ततन्थ) अनुकूलतासे विस्तार करता है। (इन्दो) हे इन्दु! (तस्मै ते) उस तेरे लिए हम (हविषा विधेम) हवियोंसे पूजा करते हैं जिससे कि (वयं) हम (रयीणां पतयः स्याम) धनोंके स्वामी होवें। इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि सोम पितरोंके साथ मिलकर द्यु व पृथिवीका विस्तार करता है। उसे हवि देनेसे धनसंपत्ति मिलती है।

> त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः
> पवमान धीराः। वन्वन्नवातः परिधीँरपोर्णु
> वीरेभिरश्वैर्मघवा भवा नः॥ ऋ ९।९६।११
> यजु १९।५३

(पवमान सोम) हे पवित्र सोम! [त्वया हि] तेरेसे ही अर्थात् तेरी सहायता द्वारा ही (नः पूर्वे धीराः पितरः) हमारे धीर पूर्वज पितरोंने (कर्माणि चक्रुः) श्रेष्ठ कर्मोंको किया।

इस मन्त्रमें यह दर्शाया गया है कि सोमकी सहायता द्वारा हमारे पूर्वज पितर श्रेष्ठ कर्म करनेमें समर्थ हुए। सोम राक्षसोंका विनाश करता है। और अश्वोंवाला होकर सोमको साधक बननेके लिए कहा गया है।

पितृमान् सोम।

> अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते
> स्वाहा। अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषदः।
> यजु २।२९

कव्यका वहन करनेवाली अग्निके लिए स्वाहा हो। उत्तम पितावाले सोमके लिए स्वाहा हो। (वेदिषदः असुराः रक्षांसि) पृथिवीपर स्थित असुर व राक्षस (अपहताः) नष्ट हो जावें। यहां सोमको उत्तम पितावाला कहा गया है। अग्नि व सोम पृथिवीस्थ असुर व राक्षस नष्ट करते हैं ऐसा मंत्रकी संगति लगानेसे पता चलता है।

> सोमाय पितृमते स्वधा नमः॥
> अ १८।४।७२

श्रेष्ठ पितावाले सोमके लिए स्वधा और नमस्कार हो। यहां सोमके लिए स्वधा व नमः देनेका उल्लेख है।

> पितृभ्यः सोमवद्भ्यः स्वधा नमः।
> अथर्व १८।४।७३

सोमवान् पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो। इन मंत्रोंके देखनेसे इतना स्पष्ट होता है कि सोम व पितरोंका परस्पर विशेष सम्बन्ध है। यह सोम कौन है यह कहना कठिन है जबतक कि संपूर्ण सोमविषयक मंत्रोंका समन्वय न किया जासके।

अङ्गिरस् पितर

> प्र वो महे महि नमो भरध्वमाङ्गूष्यं शवसानाय
> साम। येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञा अर्चन्तो
> अङ्गिरसो गा अविन्दन्॥ ऋ १।६२।२
> यजु ३४।१७

हे मनुष्यो! (वः) तुम (महे शवसानाय) बडे भारी बलवान् इन्द्रके लिए (महि नमः) महान् नमस्कार तथा (आङ्गूष्यं साम) आङ्गूष्य नामके सामको (प्रभरध्वं) धारण

करके स्तुति करो (येन) जिस आङ्गूष्य सामद्वारा (अर्चन्तः) अर्चना करते हुए (नः) हमारे (पूर्वे पदज्ञाः अङ्गिरसः पितरः) पुरातन पदज्ञ अङ्गिरस् पितरोंने (गाः अविन्दन्) सूर्यकिरणोंको प्राप्त किया था।

हम पहिले भी देख आए हैं कि पितरोंके सूर्यकिरणोंके प्राप्त करनेका उल्लेख हमें मिलता है। यहांपर पुनः अङ्गिरस् पितरों द्वारा सूर्यकिरणकी उपलब्धिका जिक्र है। आङ्गूष्य सामकी महिमा यहां व्यक्त हो रही है। अङ्गिरस् पितर किन पितरोंका नाम है इसका विचार हम फिर करेंगे।

आङ्गूष्यं साम- आङ्गूषका अर्थ है स्तुतिसमूह अथवा आघोष। आघोषका अर्थ है जोर का शब्द-आवाज। देखो-निघण्टु आङ्गूषः स्तोमः आघोषः। नि अ १। पा १। खं ११। अ ४५। अतः आङ्गूष्यका अर्थ हुआ स्तुतिसमूहवाला या आघोषवाला यानि जो जोर जोरसे बोला गया है ऐसा। अतएव आङ्गूष्य सामका अर्थ हुआ कि जो सामस्तुति पूर्ण मंत्रोंसे युक्त है अथवा जो साम जोर जोरसे गाया गया है। क्योंकि सामसे युक्त ऋक् होते हैं अतः इसका नाम साम है। स्वस्ति ऋक्समन्वित गायन्ति येन तत् साम। पदज्ञ-परम पद (परमात्मा) को जाननेवाला। आत्मज्ञ। आत्मा वै पदं। कौ ५।२६।

गाः प्रथमार्थमें द्वितीयाका प्रयोग हुआ हुआ है। अथवा इसे कर्मरूप भी माना जा सकता है। गाः- सूर्यकिरणें।

उपरोक्त मंत्रके भावको ही निम्न लिखित मंत्र भी समर्थन कर रहा है।

> य उदाजन् पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन् परिवत्सरे वलम्। दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः॥ ऋ १०।६२।२॥

(हे पितर) जिन अङ्गिरस् पितरोंने (परिवत्सरे) वर्ष समाप्तिमें (वलं) मेघको (ऋतेन) यज्ञ या सत्यद्वारा (अभिन्दन्) विदारण किया और (गोमयं वसु) सूर्यकिरणरूपी धनको (उत् आजन्) प्राप्त किया करते हैं (सुमेधसः) उत्तम मेधावाले (अङ्गिरसः) अङ्गिरस् पितरो ! (वः) तुम्हारी (दीर्घायुत्वं अस्तु) दीर्घायु होवे। (मानवं प्रति गृभ्णीत) तुम मनुष्य जातिपर अनुग्रह करो।

इस मंत्रमें भी पूर्वोक्त मंत्रानुसार अङ्गिरस् पितरों द्वारा मेघभेदन करके सूर्यकिरणोंकी प्राप्तिका उल्लेख है। साथ ही ऐसे पितरोंकी दीर्घायुकी प्रार्थना की गई है व उनसे मनुष्यजातिपर कृपादृष्टि रखनेको कहा गया है।

> द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम्। अङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता॥ अथर्व २।१२।५॥

(द्यावापृथिवी) द्यु और पृथिवी (मा अनु दीधीथां) मेरे अनुकूल प्रकाशित होवें। (विश्वे देवासः) हे सब देवो ! (मा अनु रभध्वम्) मेरे अनुकूल कार्यका प्रारंभ करो। (अङ्गिरसः सोम्यासः पितरः) हे अङ्गिरस् तथा सोम संपादन करनेवाले पितरो ! (अपकामस्य कर्ता) बुरी कामनाओंका करनेवाला (पापं आ ऋच्छतु) पापको प्राप्त होवे।

इस मंत्रमें अङ्गिरस् पितरोंसे याचना की गई है कि वे पापकामनाओंके करनेवालेको पापके कुण्डमें डाल दें ताकि आगेसे वह पापकामनायें करना भूल जावे।

> अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः। तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥ ऋ १०।१४।६॥
>
> अ १८।१।५८॥ यजु १९।५०॥

(नः नवग्वाः अथर्वाणः भृगवः सोम्यासः अङ्गिरस पितरः) हमारे नवग्व अथर्वा भृगु, सोम संपादन करनेवाले अङ्गिरस् पितर हैं। (वयं) हम (तेषां) उन उपरोक्त विभिन्नविभिन्न पितरोंकी (सुमतौ) उत्तम मतमें और (भद्रे) कल्याणकारी (सौमनसे) उत्तम मनमें (स्याम) स्थित होवें।

इस मंत्रमें पितरोंकी शुभ मतमें तथा शुभ मनमें रहनेका निर्देश किया गया है।

अथर्व शब्दपर योगार्थ निर्देश हम कर आए हैं। इसपर विशेष विचार अपेक्षित है।

> अथर्वाणः— अथर्वाणोऽथर्वन्तः थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः॥ निरु ११।२।१८॥

अर्थात् अथर्वन् अथर्ववाले यानि स्थिर निश्चलबुद्धि होते हैं। धात्वर्थक अर्थ गतिसे अथर्व शब्द बना है। जो निश्चल है वह अथर्व।

भृगवः—आर्चीषि भृगुः संबभूव । भृगुः भृज्यमानः न देहे। नि ३।१७ ॥

अर्थात् भृगु ऋषि ज्वालाओंमें पैदा हुआ था। भृगुका अर्थ है जो आगमें भुना हुआ हो अतएव इसकी शरीरमें आस्था नहीं होती।

अङ्गिरा— यज्ञके योग्य-पूर्वा आग उत्पन्नादिके योग्य अथवा यज्ञमें बैठने वाला।

पितरोंकी उत्पत्ति।

अब आगे उन मंत्रोंका उल्लेख किया जायगा जो कि अबतक के विभागोंमें नहीं आ सके हैं। यद्यपि इन मंत्रोंमें पितृ शब्द मनुष्यवाच्य ही प्रयुक्त हुआ है तथा ये मन्त्र पहिले दिए गए मंत्रोंके सा ही महत्त्व भी रखते हैं परन्तु हमने जो मन्त्रों के विभाग बनाए हैं उनमेंसे किसीमें भी वे नहीं आसके हैं और अतएव ऐसे बचे हुए मंत्रोंको इकट्ठा कर उपरोक्त शीर्षकके नामसे प्रकाशित किया गया है।

निम्न लिखित मंत्रोंमें पितरोंकी उत्पत्तिसम्बन्धी निर्देश मिलता है।

षड्भिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीत्
यजु १४।२९ ॥

(षड्भिः अस्तुवत) छह प्राणोंसे प्रजापतिने स्तुति की जिससे (पितरः असृज्यन्त) पितर उत्पन्न हुए। [अदितिः अधिपत्नी आसीत्] प्रजापतिकी अखण्ड शक्ति पालन करने वाली थी।

इस मंत्रकी व्याख्या श० ८।४।३।७ में है। शतपथके अनुसार यह अध्याय सृष्टि-उत्पत्तिपर प्रकाश डाल रहा है ऐसा प्रतीत होता है। इस अध्यायकी व्याख्या प्रारंभ करते हुए शतपथ ब्राह्मणने लिखा है कि अथ सृष्टीरुपदधाति। एतद्वै प्रजापतिः एतानि भूतानि आप्त्वा मासोऽर्तुः अभवत् प्रजाः सृजेयेति इत्यादि।

षड्भिरस्तुवत की शतपथने निम्नलिखित व्याख्या की है— षड्भिरस्तुवतेति। षड् वै ऋतवः ऋतुभिस्तदस्तुवत।

इस मन्त्रसे ऐसा प्रतीत होता है कि ऋतु एवं चन्द्र आदि अन्योंकी तरह पितरोंकी भी आप ईश्वरसे उत्पत्ति होगी। क्योंकि सामान्य मनुष्यकी उत्पत्ति में पितरोंकी उत्पत्ति का समावेश हो सकता था, फिर भी इस मन्त्रमें विशिष्ट रूपसे पितरोंकी उत्पत्तिका उल्लेख किया गया है।

वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासत।
वशेदं सर्वमभवद् देवा मनुष्या असुराः
पितर ऋषयः॥ अथर्व १०।१०।२६ ॥

[वशां एव अमृत आहुः] वशाको ही अमृत कहते हैं और [वशां मृत्युं उपासते] वशाको ही मृत्यु मानते हुए उसकी उपासना करते हैं। [देवाः मनुष्याः असुराः पितरः ऋषयः] देव मनुष्य असुर पितर तथा ऋषिगण [इदं सर्वं] यह सब [वशा अभवत्] वशा ही हुई हुई है।

इस मन्त्रसे हमारा इतना ही अभिप्राय है कि पितर भी वशासे उत्पन्न होते हैं।

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥
अ० ११।७।२७ ॥

[देवाः पितरः मनुष्याः] देव पितर मनुष्य [ये च] और जो (गंधर्वाप्सरसः) गन्धर्व तथा अप्सरस् हैं वे तथा [दिवि श्रिताः] द्युलोक के आश्रयमें स्थित [देवाः] सूर्य चन्द्र आदि देवगण हैं [सर्वे] वे सब [उच्छिष्टात्] उच्छिष्ट से [जज्ञिरे] उत्पन्न हुए हैं।

उच्छिष्ट यह परमात्मा का नाम है क्योंकि परमात्मा सब अर्थात् सबको उल्लंघन करके भी शिष्ट अर्थात् शेष बच रहा है।

यहांपर उच्छिष्टसे पितरों की उत्पत्ति दर्शाई गई है।

इस प्रकार इन मंत्रोंमें पितरोंकी उत्पत्तिविषयक वर्णन मिलता है।

दक्षिणा व पितर।

इयमग्ने दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दत्ता सु
दुघा वयोधाः। यौवने जीवानुप पृञ्चती जरा
पितृभ्य उपसंपराणयादिमान्॥
अथर्व १८।४।५ ॥

[सुदुघा] उत्तम तथा कामनाओं को पूर्ण करने वाली [वयोधाः] आयुको देनेवाली [अनेन दत्ता] इससे दी हुई [इयं दक्षिणा] यह दक्षिणा [भद्रतः

मा आ आयन्] कल्याणकारी स्वामसे अथवा कल्याणकारी स्वरूपसे हमें प्राप्त हुई है। इससे हमारा अकल्याण नहीं होगा। [चौभ्ये जीवाम् उपपृञ्चती जरा इव] जिस प्रकार युवावस्था के चले जानेपर जीवोंको वृद्धावस्था अवश्य आती है उस प्रकार यह दक्षिणा [इमान्] इन जीवोंको [पितृभ्यः] पितरों के लिए भली प्रकार [उप सम्परानयात्] प्राप्त करावे अर्थात् पितरों के पास उत्तम रीतिसे पहुंचावे।

इस मंत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें दक्षिणाका माहात्म्य दर्शाया गया है। दक्षिणा देनेसे पितरों की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार युवावस्थाके चले जानेपर वृद्धावस्था अवश्यभाविनी है, उसी प्रकार दक्षिणा देनेवाले की पितरों की प्राप्ति भी अवश्यभाविनी है ऐसा इस मंत्रमें उपमाद्वारा स्पष्ट सूचित किया गया है। पाठक दक्षिणाके इस महत्वपर अवश्यमेव विचार करें।

मरने पर पितरों में गमन।

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामावेशयामि देवो नो धाता प्रतिरात्यायुः। परापरैता वसुविद् वो अस्त्वधा मृताः पितृषु सम्भवन्तु॥ अथर्व १८।४।४८॥

(पृथिवीं त्वा पृथिव्याम् आवेशयामि) मिट्टी से बने हुए हे मृतपुरुष! तुझको मिट्टी में मिला देता हूं अर्थात् तुझे पृथिवी में गाड़ता हूं। (धाता देवः नः आयुः प्रतिराति) धारक देव हमारी आयु को बढ़ावे। हे (परापरैता) क्रमशः हम से दूर चले गए पितरो! (वः) तुम्हारे लिए धाता देव (वसुविद् अस्तु) धन देनेवाला हो तुम्हारा आश्रय दाता हो। (अध) और (मृताः) मृत (पितृषु संभवन्तु) पितरों में अच्छी तरह होवें अर्थात् पितरों में जा मिलें।

इस मंत्र के पूर्वार्ध में मृत देहके गाड़ने का निर्देश मिलता है। यह मानव देह पार्थिव तत्वों के आधिक्य से बना हुआ है अतएव यहांपर मृत देहको पृथिवी (मिट्टी) के नाम से पुकारा गया है। इसी भावसे निम्न लिखित शेर में कहा गया है—

खाकका पुतला बना खाक की तसवीर है।
खाक में मिल जायगा खाक दामन गीर है॥

मंत्र के उत्तरार्धमें मृतों के पितरों में होनेका निर्देश है। इसका अभिप्राय यह है कि मरनेपर पितरों में मनुष्य जा मिलता है यानि मरने के बाद से उसकी पितृसंज्ञा हो जाती है।

अश्विनौ तथा पितर।

युवं भुज्युं भुरमाणं विभिर्गतं स्वयुक्तिभिर्निवहन्ता पितृभ्य आ। यासिष्टं वर्तिर्वृषणा विजेन्यं दिवोदासाय महि चेति वामवः॥ ऋ० १।११९।४॥

(वृषणा) हे कामनाओं की वर्षा करनेवाले अश्विनो! (युवं) तुम दोनों (भुरमाणं) पुष्टिकारक (भुज्युं) भोग्यपदार्थ और जो कि (विभिः गतं) घोड़ों द्वारा लाकर लाया जाता है, ऐसे पदार्थ को (स्वयुक्तिभिः) अपनी युक्तियों अर्थात् योजनाओं द्वारा (पितृभ्यः) पितरों के लिए (आ निः वहन्तौ) चारों ओर से लाकर पहुंचाते हो। इसलिए (विजेन्यं वर्तिः) दूरस्थ विजयशील पदार्थों के लाने के लिए (यासिष्टं) जाओ। (दिवोदासाय) दिवोदासके लिए (वां अवः) तुम्हारा संरक्षण (महि) महान् है यह सब को (चेति) मालूम है।

दिवोदासः प्रकाशक देनेवाला चाहे वह ज्ञान प्रकाश हो या अन्य कोई हो।

इस मंत्रमें पितरों के लिए भोग्य पदार्थ अश्विनौ पहुंचाते हैं ऐसा उल्लेख है।

सरस्वती और पितर।

सरस्वती या सरथं ययाथ स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती। आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयस्वानमीवा इष आ धेह्यस्मे॥ ऋ० १०।१७।८॥

यह मंत्र थोड़ेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें इस प्रकार आता है

सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती। सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥ अथर्व १८।१।४२॥

(सरस्वति देवि) हे सरस्वती देवी! (या) जो तू (पितृभिः स्वधाभिः मदन्ती) पितरोंके साथ मिलकर स्वधाओंसे आनन्दित होती हुई (सरथं) पितरोंके साथ समान रथपर आरोहण करती हुई (ययाथ) जाती है। वह (अस्मिन् बर्हिषि) इस यज्ञमें (आसद्य) बैठकर प्रसन्न हो। (अस्मे) हमें (अनमीवाः इषः) रोगरहित अन्नोंको अर्थात् जिनके खाने से किसी भी प्रकारका रोग न होवे ऐसे अन्नोंको (आ धेहि) दे।

अथर्ववेदमें जो पाठभेद है वह विशेष करके उत्तरार्धमें ही है। उस उत्तरार्धका अर्थ इस प्रकार है हे सरस्वती! तू [अत्र]

इस यज्ञमें [यजमानाय] यजमानके लिए [सहस्रार्घं इळः भागं] हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको और [रायस्पोषं] धनकी पुष्टिको [धेहि] दे। इस मंत्रमें सरस्वतीका पितरोंके साथ सम्बन्ध ऊपर बताया तथा उनका व यज्ञमें आना दर्शाया गया है।

सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः।
सहस्रार्घमिळो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानेषु धेहि॥
ऋ० १०।१७।९॥

अथर्ववेदमें यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ है—

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे॥
अथर्व १८।१।४२॥

[दक्षिणा] दक्षिण दिशासे आकर [यज्ञं अभिनक्षमाणाः पितरः] यज्ञको सब ओरसे प्राप्त करते हुए पितर [यां सरस्वतीं हवन्ते] जिस सरस्वतीको बुलाते हैं वही हे सरस्वती! तू [अत्र] यहां इस यज्ञमें [यजमानेषु] यजमानोंमें [सहस्रार्घं इळः भागं] हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको तथा [रायस्पोषं] धनकी पुष्टिको [धेहि] दे।

पितरोंकी दक्षिण दिशा है यह हमें अन्य वेदमंत्र दर्शाते हैं अतः इसके ऊपर दक्षिणाके साथ [आसद्य] आकर इतना अध्याहार करके अर्थ किया है। इस मंत्रमें पितर सरस्वतीको यज्ञमें बुलाते हैं यह दर्शाया गया है।

इदं ते हव्यं घृतवत् सरस्वतीदं पितॄणां हविरास्यं यत्।
इमानि त उदिता शंतमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम॥
अथर्व ७।६८।२॥

[सरस्वति] हे सरस्वती! [इदं ते घृतवत् हव्यं] यह तेरे लिए इसलिए यानि घीसे मिश्रित हव्य है। [यत् इदं हविः पितॄणां आस्यं] जो यह हवि पितरोंके लिए दिया जानेवाला है। [इमानि ते शंतमानि उदितानि] ये तेरे लिए कल्याण करनेवाले वचन हैं। [तेभिः] उनसे [वयं] हम [मधुमन्तः स्याम] मधुयुक्त बनें।

आस्य—मधु योग्यको ये कहा है। शब्दार्थ पैदा जानेवाला है पितरोंको दिया जानेवाला॥

इस मंत्रमें पितरोंके लिए जो हव्य दिया जाता है, वह सरस्वतीको भी दिया जाता है यह दर्शाया गया है और साथ ही में सरस्वतीको इत्यादि देनेका काम दर्शाया है।

इस प्रकार इन उपरोक्त मंत्रोंसे सरस्वती व पितरोंका सम्बन्ध घनिष्ठ है यह हमें यहां स्पष्ट पता चलता है।

गौ व पितर।

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति सातिरात्रमति द्रव॥
अथर्व १०।९।९॥

(देवाः पितरः मनुष्याः) देव पितर मनुष्य (ये च) और जो (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्व, तथा अप्सरस् हैं, (ते सर्वे) वे सब (त्वा गोप्स्यन्ति) तुझ गौकी रक्षा करेंगे (सः) वह तू (अतिरात्रं) अतिरात्र नामक यज्ञको (अतिद्रव) शीघ्रतासे प्राप्त कर।

यहांपर अतिरात्रमें जानेवाली गौ की पितर भी रक्षा करते हैं ऐसा दर्शाया है।

प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः।
शिवाः सतीरुप नो गोष्ठमाकस्तासां वयं प्रजया सं सदेम॥
ऋ० १०।१६९।४॥

[प्रजापतिः] प्रजापति [विश्वैः देवैः पितृभिः संविदानः] सब देवों व पितरोंके साथ मिला हुआ एक मतसे [मह्यं] मेरे लिए [एताः] ये गायें [रराणः] देता है। वह प्रजापति [शिवाः सतीः] कल्याणकारिणी होती हुई उन गौओंको [नः] हमारे [उप गोष्ठं आ अकः] गोष्ठके समीप करे अर्थात् हमारे गोष्ठमें वे गौवें स्थित होवें। और इस प्रकार उन गौओंके प्राप्त करनेपर [वयं] हम [तासां प्रजया सं सदेम] उन गौओंकी संतानसे संगत होवें अर्थात् उन गौओंकी संतान हमें प्राप्त होती रहे ताकि ऐसी गौओंका वंशोच्छेद न हो जावे।

गोष्ठ— जहांपर गौवें बांधी जाती हैं उस स्थानको गोष्ठ कहा जाता है।

इस मंत्रमें उत्तम गौवें पितरोंकी सम्मतिसे हमें मिलती हैं यह दर्शाया गया है।

इन्द्र व पितर।

स तु श्रुधीन्द्र नूतनस्य ब्रह्मण्यतो वीर कारु-
धायः। त्वं ह्यापिः प्रदिवि पितॄणां शश्वद्
बभूथ सुहव एष्टौ॥ ऋ. ६।२१।८॥

हे वीर इन्द्र! [सः] वह [कारुधायः] स्तोताओंको धारण करनेवाला तू [नूतनस्य ब्रह्मण्यतः] नवीन यज्ञको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवालेको अथवा

हमारे पितर हैं वे मधुरतादि रूप हैं। इस प्रकार परस्परके व्यतिहारसे पितरोंका देवत्वरूप होना बता दिया है। [यः अस्मि] जिसका मैं हूं उसका ही मैं हूं। अर्थात् एक ही पिताका हूं। क्योंकि स्त्रियां संभावित व्यभिचारिणी होती हैं अतः मैं निश्चयसे कहता हूं कि मैं अपने पिताका ही पुत्र हूं। अपने इस अभिप्राय की पुष्टिके लिए शबराचार्यने मीमांसा सूत्रका प्रमाण दिया है-

स्वपराणाद् कर्तुस्य पुत्रदर्शनात्।

अस्तु इस मंत्रका अभिप्राय हमें इतना दर्शाता है कि पितर देवत्वको प्राप्त होते हैं। इस मंत्रके अभिप्रायवाले और मंत्र पीछे आचुके हैं।

पितरोंके ऊर्ज, रस आदिके लिए नमस्कार।

नमो वः पितर ऊर्जे नमो वः पितरो रसाय ॥

अथर्व १८।४।८१

[पितरः] हे पितरो ! [वः ऊर्जे नमः] तुम्हारे अन्न या बलके लिए नमस्कार है। [पितरः] हे पितरो ! [वः रसाय नमः] तुम्हारे रस-आस्वाद [दुग्ध आदि] के लिए नमस्कार है।

नमो वः पितरो भामाय नमो वः पितरो मन्यवे ॥

अथर्व १८।४।८२॥

[पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारे [भामाय] क्रोध के लिए [नमः] नमस्कार हो। [पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारे [मन्यवे] मन्युके लिए [नमः] नमस्कार हो। भाम तथा मन्यु दोनों क्रोधके विशेष भेद हैं। भाम साधारण क्रोधका नाम है। मन्युको हम तात्त्विक क्रोध कह सकते हैं।

नमो वः पितरो यद् घोरं तस्मै नमो वः पितरो यत् क्रूरं तस्मै ॥ अथर्व १८।४।८३ ॥

[पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारा [यत् घोरं] जो, कर्म है [तस्मै] उसके लिए [नमः] नमस्कार है। [पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारा [यत् क्रूरं] जो क्रूर कर्म है [तस्मै] उसके लिए [नमः] नमस्कार है।

नमो वः पितरो यच्छिवं तस्मै नमो वः पितरो यत् स्योनं तस्मै ॥ अथर्व १८।४।८४ ॥

(पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत्) जो (शिवं) कल्याणमय कर्म है [तस्मै] उसके लिए [नमः] नमस्कार है। [पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारा [यत् स्योनं] जो सुखमय कर्म है [तस्मै नमः] उसके लिए नमस्कार है।

इस प्रकार इन मंत्रोंमें पितरोंके विविध कर्मोंके लिए नमस्कार किया गया है।

पितरोंका इष्टापूर्त।

अशीतिभिः तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः। इष्टापूर्तमवतु नः पितॄणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥ अथर्व १८।१२।४॥

[तिसृभिः अशीतिभिः] तीन अशीतियोंके साथ, [सामगेभिः] साम गायकोंके साथ [आदित्येभिः] आदित्योंके साथ [वसुभिः] वसुओंके साथ तथा [अङ्गिरोभिः] अङ्गिरसोंके साथ मिलकर [पितॄणां] पितरोंका [इष्टापूर्तं] इष्टापूर्त [नः अवतु] हमारी रक्षा करे। [दैव्येन हरसा] दिव्य तेजसे [अमुं] इस दुष्ट पुरुषको (आददे) प्राप्त करता हूं अर्थात् उसका नाश करता हूं।

इष्टापूर्तका लक्षण निम्न लिखित है-

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥ १ ॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

इस मंत्रमें पितरोंका इष्टापूर्त हमारा रक्षण करता है यह दर्शाया है। पुत्रोंको रक्षार्थ पितरोंको इष्टापूर्त करना चाहिए ऐसी प्रतिध्वनि यहांसे निकलती है।

यदीदं मातुर्यदि वा पितुर्नः परिभ्रातुः पुत्राच्चेतस एन आगन्। यावन्तो अस्मान् पितरः सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः ॥

अथर्व ६।११६।३॥

[यदि यत् इदं एनः] यदि यह जो पाप, [नः मातुः, पितुः भ्रातुः पुत्रात् चेतसः वा] हमारी माताके पापसे पिताके पापसे, भाईके पापसे पुत्रके पापसे अथवा मनके पापसे [यदि आगन्] प्राप्त हुआ है अर्थात् इनके कारण यह पाप आया है तो [यावन्तः पितरः अस्मान् सचन्ते] जितने भी पितर हमारे साथ संगत हुए हुए हैं [तेषां सर्वेषां] उन सबका (मन्युः) क्रोध (शिवः अस्तु) कल्याणकारी होवे। उससे हमारा नुकसान न होने पावे।

इस मंत्रमें यज्ञके द्वारा उत्तम पितरोंके लोकको प्राप्त करके उसे कल्याणकारी बनानेकी प्रार्थना है।

पितरोंसे मिलकर श्रेष्ठ होना।

ये अत्र पितरः पितरो येऽत्र यूयं स्थ युष्मांस्ते ऽनु
यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ ॥ अ १८।४।८६॥

(ये पितरः अत्र) ये जो अन्य पितर यहां हैं और (ये) जो (यूयं पितरः) तुम पितृगण [अत्र स्थ] यहांपर हो, [ते] वे अन्य पितर [युष्मान् अनु] तुम्हारे अनुकूल रहें और [यूयं] तुम [तेषां श्रेष्ठाः भूयास्थ] उनमें श्रेष्ठ होओ।

य इह पितरो जीवा इह वयं स्मः। अस्मांस्तेऽनु
वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म ॥ अ १८।४।८७॥

[ये] जो [पितरः] पितृगण [इह] यहां हैं उनके अनुग्रहसे [वयं] हम [इह] यहां [जीवाःस्मः] जीवित हैं (ते पितरः अस्मान् अनु) वे पितर हमारे अनुकूल बने रहें। (वयं) हम (तेषां श्रेष्ठाः भूयास्म) उनमें श्रेष्ठ होवें। अर्थात् वे हमारे अनुकूल हों और हम उनके। दोनों मिलकर परस्पर श्रेष्ठ होवें।

इन मंत्रोंमें पितरोंके साथ पारस्परिक अनुकूल व्यवहारोंसे श्रेष्ठ बननेका संकेत है।

पितरोंके लिए धन, बल व आयु।

दक्षम देवः सविता वोचको दधद् रत्नं दक्षं
पितृभ्यः आयूंषि। पिबात् सोमं ममदेनमिष्टे
परि ज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि ॥

अथर्व १८।१।३३॥

(दक्षः) दानशील (वोच्यः) अन्न स्वीकार करने योग्य (सविता देवः) सूर्य देव (पितृभ्यः) पितरोंके लिए (रत्नं) रत्नको (दक्षं) बलको और (आयूंषि) आयुको (दधत्) धारण करता हुआ (सोमं) सोमका (पिबात्) पीए। (एनं) इस न मता देवको (इष्टे) यज्ञमें सोमपान करके (ममदत्) मस्त करे। (अस्य धर्मणि) इस सविता सूर्यके धर्ममें स्थित हुई हुई (ज्मा) पृथिवी (चित्) भी (परि क्रमते) परिक्रमा करती है। इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि सूर्य पितरोंके लिए धन बल आयुको देता है। यहांपर इसमें "परि ज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि" से यह भी स्पष्ट पता चलता है कि पृथिवी सूर्यके चारों ओर परिक्रमा करती है। पृथिवीके सूर्यके चारों ओर घूमनेके भौगोलिक सिद्धान्तको यह मंत्र पुष्ट कर रहा है। ज्मा शब्द निघण्टुमें पृथिवीवाची नामोंमें पठित है।

पितर व तृतीय ज्योति।

एतद् वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं
ददाति। अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिँल्लोके
श्रद्दधानेन दत्तः ॥ अथर्व ९।५।११॥

(पितरः) हे पितरो! (वः) तुम्हारे लिए (एतद् तृतीयं ज्योतिः) यह तीसरी ज्योति परमात्मा (ब्रह्मणे) ब्रह्मप्राप्त्यर्थ (पञ्चौदनमजं) पंचौदनवाले अर्थात् ५ भूत से बने शरीर से युक्त जन्मरहित जीवात्माको (ददाति) देता है। (श्रद्दधानेन दत्तः) श्रद्धा रखने के कारण दिया हुआ (अजः) यह अज जीवात्मा (अस्मिन् लोके) इस लोक में (तमांसि) अज्ञानान्धकारोंको (अप हन्ति) नष्ट करता है, दूर करता है।

इस मंत्रमें यह दर्शाया कि श्रद्धा रखने के कारण परमात्मा पितरोंको ऐसी आत्मा देता है कि जो सारे अज्ञानान्धकारोंको दूर करके प्रकाशका मार्ग दर्शाती है। यहां श्रद्धाका माहात्म्य प्रकट हो रहा है।

पितरोंमें सुखद रस्ता बनाना।

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म
एषा। इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु
यः स्वर्गः ॥ अथर्व ११।१।२८॥

(इदं हिरण्यं) यह सोना (मे अमृतं ज्योतिः) मेरा अनश्वर प्रकाश है। (क्षेत्रात्) खेतसे उत्पन्न यह (पक्वं) पका हुआ अन्न (मे एषा कामदुघा) मेरी यह कामनाओंको पूर्ति करनेवाली गौ है। (इदं धनं ब्राह्मणेषु नि दधे) यह धन मैं ब्राह्मणोंमें स्थापित करता हूं अर्थात् उन्हें देता हूं। और इस प्रकार (पितृषु पन्थां कृण्वे) पितरोंमें रस्ता बनाता हूं (यः) जो कि रस्ता (स्वर्गः) स्वर्ग है सुखदायक है।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि ब्राह्मणोंको धन दान करनेसे पितरोंके बीचमें सुखप्रद मार्ग बनाया जा सकता है। पितरोंके बीचमें यदि सुखपूर्वक निवास करना हो तो ब्राह्मणोंको धन दान करना चाहिए। ऐसा इस मंत्रसे आशय प्रतीत होता है।

नवीन स्तोत्र करनेकी इच्छावाले भी (शुचि) प्रार्थनाके शुभ (हि) क्योंकि (मा दृशी) उच्चारण करनेपर अथवा सामगानके होनेपर (सः इमाः) मुझसे बुलाने योग्य (त्वं) तू (पितृणां प्रदिशि) पितरोंके प्रकृष्ट व्यवहारमें (समाप्त) सदा (आपिः) बन्धु समान रहनेवाला (अभूत) होता है।

इस मंत्रमें इन्द्रको पितरोंका बन्धु कहा गया है। क्योंकि यह पितरोंको उनके कार्योंमें बन्धुवत् सहायता करता है।

> जुष्टी नरो ब्रह्मणा वः पितृणामक्षमव्ययं न
> किला रिषाथ । यच्छक्वरीषु बृहता रवेणेन्द्रे
> शुष्ममदधाता वसिष्ठाः ॥ ऋ० ७।३३।४ ॥

(वसिष्ठाः) हे उत्तम वास करानेवालो ! (यत्) क्योंकि तुम (शक्वरीषु) ऋचाओंके अर्थात् ऋचाओंमें गानमें (बृहता रवेण) बडे भारी शब्दसे यानि ऋचाओंके ऊंचे स्वरमें गानेसे (इन्द्रे शुष्मं) इन्द्रमें बलको (अदधात) स्थापित करते हो अतः हे (नरः) नेताओ ! (जुष्टी) प्रसन्नता या सेवासे और [ब्रह्मणा] ज्ञानसे तुम [वः पितृणां] तुम्हारे पितरोंके [अक्षम् अव्ययं] न नाश होनेवाले धनको [किल] निश्चयसे [न रिषाथ] नष्ट होने नहीं देते। इस मंत्रमें वेदिकोंके लिए पितर आया है ऐसा प्रतीत होता है। यह मंत्र पूर्ण रूपसे स्पष्ट नहीं हुआ है।

नवग्व पितर।

> ते सु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासो
> अभि वाजयन्तः । नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठाम-
> द्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठम् ॥ ऋ० ६।२२।२ ॥
> अथर्व २०।३६।२ ॥

[सप्त विप्राः] सात ज्ञानवाले मेधावी तथा [नवग्वाः नः पूर्वे पितरः] नवग्व हमारे पुरातन पितर [तं] उस इन्द्रको [सु] निश्चयसे [अभिवाजयन्तः] चारों ओरसे बलवान् बनाते हुए, [नक्षद्दाभं] व्यापक शत्रु का दमन नाश करनेवाले [ततुरिं] तारक [पर्वतेष्ठां] पर्वतस्थ [अद्रोघवाचं] द्रोहरहित या अनतिक्रमणीय वाणीवाले [शविष्ठं] बलवत्तम इन्द्रकी [मतिभिः] मननीय स्तोत्रोंसे स्तुति करते हैं।

निरुक्तकार यास्काचार्यने ऋ० १।६२।४ की व्याख्या करते हुए नवग्व शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है— 'नव गतयो नवनीतगतयो वा'। अर्थात् नवगतियों वाले अथवा नवनीत यानि मक्खन जैसी गतिवाले नवग्व कहलाते हैं।

महर्षि स्वामी दयानन्दजीने 'नवीन गतिवाले' ऐसा अर्थ किया है।

सायणाचार्य निम्नलिखित अर्थ करते हैं—नवग्वाः नवमासैः सत्रमनुतिष्ठन्तः। अर्थात् जो नवमासवाले सत्र [यज्ञविशेष] को करनेवाले हैं।

इस मंत्रमें नवग्वका वर्णन व सप्त विप्रका है ५ प्राण, मन व बुद्धिका अभिप्राय है। और इस प्रकार मंत्रमें प्राणोंको पितरसे कहा गया जान पडता है।

काम और पितर।

> कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न
> मर्त्याः । ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै
> ते काम नम इत् कृणोमि ॥ अ० ९।२।१९ ॥

[कामः प्रथमः जज्ञे] काम प्रथम पैदा हुआ। [एनं] इसको [न देवाः आपुः न पितरः न मर्त्याः] न तो देवोंने ही पाया न पितरोंने और नहीं मनुष्योंने। (ततः) इस कारणसे हे काम ! तू (विश्वहा) सब प्रकारसे (ज्यायान्) बडा है। हे महान् काम ! (तस्मै ते) उस तेरे लिए (नमः इत् कृणोमि) मैं नमस्कार करता हूं।

यहांपर कामको जाननेमें पितरों की भी असमर्थता दर्शाई गई है।

मणि और पितर।

> यं देवाः पितरो मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा ।
> स मायमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः ॥
> अथर्व १०।६।३२ ॥

(देवाः पितरः मनुष्याः यं सर्वदा उपजीवन्ति) देव पितर व मनुष्य सदा जिस मणिके आश्रय से जीते हैं [सः अयं मणिः] वह यह मणि [श्रैष्ठ्याय] श्रेष्ठ पदकी प्राप्ति करनेके लिए [मां मूर्धतः अधिरोहतु] मेरे सिरपर स्थित होवे अर्थात् ऐसे मणि को मैं सिरपर धारण करता हूं।

इस मंत्र में यह बतलाया गया है कि देव पितर व मनुष्य मणिके आश्रयसे जीते हैं। यहां यह भी पता चलता है कि पितर व देव मनुष्यसे भिन्न हैं।

ब्रह्मौदन पाचक पितर।

उरुः प्रथस्व महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके। पितामहाः पितरः प्रजोपजाहं पक्ता पञ्चदशस्ते अस्मि॥ अथर्व ११।१।१९॥

हे ब्रह्मौदन! [सहस्रपृष्ठः] हजारों पीढ़ियोंवाला अर्थात् अनंत फैला हुआ तू [सुकृतस्य लोके] सुकृतके लोकमें [महता महिम्ना] अपनी बड़ी भारी महिमासे [उरुः] विस्तीर्ण होता हुआ [प्रथस्व] फैल। [पितामहाः पितरः प्रजा उपजा] पितामहोंका समूह पितर, संतति तथा संततिकी संतति और [पञ्चदशः अहं] पंचदश मैं [ते पक्ता अस्मि] तेरा पकानेवाला हूं।

पंचदश—पंद्रहवां अथवा ५ प्राण, ५ इन्द्रियां व ५ भूतोंसे बना हुआ।

इस मंत्रमें पितामह पितर आदियोंको ब्रह्मौदन पाचक कहा गया है। अर्थात् वे सब ब्रह्मौदन पकाते हैं।

ब्रह्मचारीके पितर।

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग् देवा अनु-
संयन्ति सर्वे। गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत्
त्रिशताः षट् सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा
पिपर्ति॥ अथर्व ११।५।२॥

[पितरः देवजनाः देवाः] पितर देवजन तथा देव [सर्वे] वे सब [पृथक्] अलग अर्थात् स्वतंत्र रूपसे [ब्रह्मचारिणं अनुसंयन्ति] ब्रह्मचारीकी रक्षार्थ अनुगमन करते हैं [गन्धर्वाः एनं अनुआयन्] गन्धर्वगण इस ब्रह्मचारीके पीछे पीछे चलते हैं। (षट् सहस्राः त्रिशताः त्रयस्त्रिंशत्)छै हजार तीन सौ तेंतीस (६३३३) (सर्वान् देवान्) इन सब देवोंको (सः) वह ब्रह्मचारी (तपसा पिपर्ति) अपने तप द्वारा पूर्ण करता है—प्रसन्न करता है।

इस मंत्रमें दर्शाया गया है कि पितर भी ब्रह्मचारीकी रक्षाके लिए उसके पीछे पीछे सदा फिरते रहते हैं ताकि ब्रह्मचारीको किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुंच सके।

पितरों की शक्ति का नियमन।

मा च्छेद्म रश्मीँरिति नाधमानाः पितॄणां
शक्तीरनुयच्छमानाः। इन्द्राग्निभ्यां कं वृषणो मदन्ति
ता ह्यद्री धिषणाया उपस्थे॥ ऋ० १।१०९।३॥

(रश्मीन् मा छेद्म इति नाधमानाः) सन्तितरूपी रश्मियोंको हम नष्ट न करें इस प्रकार याचना करते हुए तथा (पितॄणां शक्तीः अनुयच्छमानाः) पितरोंकी शक्तियोंको नियमित करते हुए और अतएव (वृषणः) सामर्थ्ययुक्त हुए हुए (धिषणायाः उपस्थे) बुद्धिके समीपमें अर्थात् बौद्धिक कार्योंमें (इन्द्राग्निभ्यां) इन्द्र व अग्नि से (कं मदन्ति) सुख प्राप्त करके प्रसन्न होते हैं। (हि) निश्चय से [ता] वे इन्द्राग्नी [अद्री] न नष्ट होनेवाले हैं।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि न तो सर्वथा संततिका उच्छेद ही करना चाहिए और नहीं सर्वथा संतति की वृद्धि ही करनी चाहिए। पितरोंकी शक्ति अर्थात् उत्पादक शक्तिका नियमन करना चाहिए जिससे बुद्धि की व बलकी वृद्धि होती है। यहां पितरों की शक्तिसे उत्पादक शक्ति का अभिप्राय है।

देवों के पितर।

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे
शृणुतेदमुक्तम्। सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं
स्वस्त्येनं जरसे वहाथ॥ अथर्व १।३०।२॥

[देवाः] हे देवो! [ये वः पितरः ये च पुत्राः] जो तुम्हारे पितर हैं और जो पुत्र हैं वे सब तुम [सचेतसः] सावधान हुए हुए (मे इदं उक्तं) मेरे इस कथनको (शृणुत) सुनो। (वः सर्वेभ्यः) तुम सबके लिए मैं (एतं) इस मनुष्यको (परिददामि) सौंपता हूं (एनं) इसे (स्वस्ति) कल्याणपूर्वक (जरसे वहाथ) वृद्धावस्थाके लिए पहुंचाओ अर्थात् यह वृद्धावस्था आनेके पूर्व ही मृत्युको न प्राप्त हो जावे।

परिददामि रक्षाके लिए सौंपता हूं। परिदपूर्वक दा धातुका अर्थ रक्षार्थ देना है। इस मंत्रमें देवोंके पितर व पुत्रोंका उल्लेख है।

देवाः पितरः पितरो देवाः। यो अस्मि सो
अस्मि। अथर्व ६।१२३।३॥

(देवाः पितरः) देवगण पितर हैं और (पितरः देवाः) पितर देव हैं। (यः अस्मि) जो मैं हूं (सः अस्मि) वह मैं हूं।

सायणाचार्यने इस मंत्रका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—जो देव वसुरुद्रादि रूप हैं वे हमारे पितर हैं और जो

हमारे पितर हैं वे वसुरूपादि रूप हैं । इस प्रकार परस्परके व्य तिहारसे पितरोंका ऐक्यरूप होना रख दिया है । [यः अस्मि] जिसका मैं हूं उसका ही मैं हूं । अर्थात् एक ही पिताका हूं । क्योंकि स्त्रियां संमादित व्यभिचार होती हैं अतः मैं निश्चयसे कहता हूं कि मैं अपने पिताका ही पुत्र हूं । अपने इस अभिप्राय की पुष्टिके लिए शाबरभाष्यमें मीमांसा सूत्रका प्रमाण दिया है—

'स्त्रीपराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनात्' ।

अस्तु इस मंत्रका अभिप्राय हमें इतना ही भाता है कि पितर देवत्वको प्राप्त होते हैं । इस मंत्रके अभिप्रायवाले और मंत्र पहिले आचुके हैं ।

पितरोंके ऊर्ज, रस आदिके लिए नमस्कार ।

नमो वः पितर ऊर्जे नमो वः पितरो रसाय ॥

अथर्व १८।४।८१॥

[पितरः] हे पितरो ! [वः ऊर्जे नमः] तुम्हारे अन्न या बलके लिए नमस्कार है । [पितरः] हे पितरो ! [वः रसाय नमः] तुम्हारे रस—आनन्द [दुग्ध आदि] के लिए नमस्कार है ।

नमो वः पितरो भामाय नमो वः पितरो मन्यवे ॥

अथर्व १८।४।८२॥

[पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारे [भामाय] क्रोध के लिए [नमः] नमस्कार हो । [पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारे [मन्यवे] मन्युके लिए [नमः] नमस्कार हो । भाम तथा मन्यु दोनों क्रोधके विशेष भेद हैं । भाम साधारण क्रोधका नाम है । मन्युको हम सात्विक क्रोध कह सकते हैं ।

नमो वः पितरो यद् घोरं तस्मै नमो वः पितरो यत् क्रूरं तस्मै ॥ अथर्व १८।४।८३ ॥

[पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारा [यत् घोरं] जो घोर कर्म है [तस्मै] उसके लिए [नमः] नमस्कार है । [पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारा [यत् क्रूरं] जो क्रूर कर्म है [तस्मै] उसके लिए [नमः] नमस्कार है ।

नमो वः पितरो यच्छिवं तस्मै नमो वः पितरो यत् स्योनं तस्मै ॥ अथर्व १८।४।८४॥

(पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत्) जो (शिवं) कल्याणमय कर्म है [तस्मै] उसके लिए [नमः] नमस्कार है । [पितरः] । हे पितरो ! [वः] तुम्हारा [यत् स्योनं] जो सुखमय कर्म है [तस्मै नमः] उसके लिए नमस्कार है ।

इस प्रकार इन मन्त्रोंमें पितरोंके विविध कर्मोंके लिए नमस्कार किया गया है ।

पितरोंका इष्टापूर्त ।

अजीतिभिः तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः । इष्टापूर्तं भवतु वः पितॄणामामुष्मै हरसा दैव्येन ॥ अथर्व २।१२।४॥

[तिसृभिः अशीतिभिः] तीन अशीतियोंके साथ [सामगेभिः] साम गायकोंके साथ [आदित्येभिः] आदित्योंके साथ [वसुभिः] वसुओंके साथ तथा [अङ्गिरोभिः] अङ्गिरसोंके साथ मिलकर [पितॄणां] पितरोंका [इष्टापूर्तं] इष्टापूर्त [वः अवतु] हमारी रक्षा करे । [दैव्येन हरसा] दिव्य तेजद्वारा [अमुं] इस दुष्ट पुरुषको (आदरे) प्राप्त करता हूं अर्थात् उसका नाश करता हूं ।

इष्टापूर्तका लक्षण निम्न लिखित है—

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम् ।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥ १ ॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

इस मंत्रमें पितरोंका इष्टापूर्त हमारा रक्षण करता है यह बतलाया है । इसीलिए रक्षार्थ पितरोंको इष्टापूर्त करना चाहिए ऐसी प्रतिध्वनि यहांसे निकलती है ।

यदीदं मातुर्यदि वा पितुर्नः परि भ्रातुः पुत्राच्चेतस एन आगन् । यावन्तो अस्मान् पितरः सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः ॥

अथर्व ६।११६।३॥

[यदि इदं एनः] यदि यह जो पाप [नः मातुः पितुः भ्रातुः पुत्रात् चेतसः वा] हमारी माताके पाससे पिताके पाससे, भाईके पाससे पुत्रके पाससे अथवा मनके पाससे [परि आगन्] प्राप्त हुआ है अर्थात् इनके कारण यह पाप आया है तो [यावन्तः पितरः अस्मान् सचन्ते] जितने भी पितर हमारे साथ संगत हुए हुए हैं [तेषां सर्वेषां] उन सबका (मन्युः) क्रोध (शिवः अस्तु) कल्याणकारी होवे । उससे हमारा नुकसान न होने पावे ।

इस मंत्रमें पकानेके बादमें उत्तम पितरोंको भोजनसे तृप्त करके उसे कल्याणकारी बनानेकी प्रार्थना है।

पितरोंसे मिलकर श्रेष्ठ होना।

ये अत्र पितरः पितरो येऽत्र यूयं स्थ युष्मांस्तेऽनु यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ॥ अ १८।४।८६॥

(ये पितरः अत्र) जो जो अन्य पितर यहां हैं और (ये) जो (यूयं पितरः) तुम पितृगण [अत्रस्थ] यहांपर हो, [ते] वे अन्य पितर [युष्मान् अनु] तुम्हारे अनुकूल होवें और [यूयं] तुम [तेषां श्रेष्ठाः भूयास्थ] उनमें श्रेष्ठ होवो।

य इह पितरो जीवा इह वयं स्मः। अस्मांस्तेऽनु वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म॥ अ १८।४।८७॥

[ये] जो [पितरः] पितृगण [इह] यहां हैं उनके अनुकूल [वयं] हम [इह] यहां [जीवाःस्मः] जीवित हैं (ते पितरः अस्मान् अनु) वे पितर हमारे अनुकूल बने रहें। (वयं) हम (तेषां श्रेष्ठाः भूयास्म) उनमें श्रेष्ठ होवें। अर्थात् वे हमारे अनुकूल हों और हम उनके। दोनों मिलकर परस्पर श्रेष्ठ होवें।

इस मंत्रमें पितरोंके साथ पारस्परिक अनुकूल व्यवहारोंसे श्रेष्ठ बननेका बोध है।

पितरोंके लिए धन, बल व आयु।

दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद् रत्नं दक्षं पितृभ्य आयूंषि। पिबात् सोमं ममददेनमिष्टे परिज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि॥

अथर्व ७।१४।४॥

(दमूनाः) दमनशील (वरेण्यः) श्रेष्ठ स्वीकार करने योग्य (सविता देवः) सूर्य देव (पितृभ्यः) पितरोंके लिए (रत्नं) रत्नको (दक्षं) बलको और (आयूंषि) आयुको (दधत्) धारण करता हुआ (सोमं) सोमरस (पिबात्) पीए। (एनं) इस सविता देवको (इष्टे) यज्ञमें सोमपान कराके (ममदत्) प्रसन्न करें। (अस्य धर्मणि) इस सविता सूर्यके धर्ममें स्थित हुई हुई (परिज्मा) पृथिवी (चित्) भी (परि क्रमते) परिक्रमा करती है। इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि सूर्य पितरोंके लिए धन बल आयुको देता है। यहांपर हमें 'परिज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि' से यह भी स्पष्ट पता चलता है कि पृथिवी सूर्यके चारों ओर परिक्रमा करती है। पृथिवीके सूर्यके चारों ओर घूमनेके वैज्ञानिक सिद्धान्तको यह मंत्र पुष्ट कर रहा है। ज्मा शब्द निघण्टुमें पृथिवीवाची नामोंमें पठित है।

पितर व तृतीय ज्योति।

एतद् वा ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति। अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिँल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः॥ अथर्व ९।५।११॥

(पितरः) हे पितरो! (वः) तुम्हारे लिए (एतत् तृतीयं ज्योतिः) यह तीसरी ज्योति परमात्मा (ब्रह्मणे) ब्रह्मज्ञानार्थ (पञ्चौदनमजं) पंचौदनवाले अर्थात् ५ भूत से बने शरीर से युक्त जन्मरहित जीवात्माको (ददाति) देता है। (श्रद्दधानेन दत्तः) श्रद्धा रखने के कारण दिया हुआ (अजः) यह अज जीवात्मा (अस्मिन् लोके) इस लोक में (तमांसि) अज्ञानान्धकारोंको (अप हन्ति) नष्ट करता है दूर करता है।

इस मन्त्रमें यह दर्शाया कि श्रद्धा रखने के कारण परमात्मा पितरोंको ऐसी आत्मा देता है कि जो सारे अज्ञानान्धकारोंको दूर करके प्रकाशका मार्ग दर्शाती है। यहां श्रद्धाका माहात्म्य प्रकट हो रहा है।

पितरोंमें सुखद रस्ता बनाना।

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा। इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः॥ अथर्व ११।१।२८॥

(इदं हिरण्यं) यह सोना (मे अमृतं ज्योतिः) मेरा अमरत्व प्रकाश है। (क्षेत्रात्) खेतसे उत्पन्न यह (पक्वं) पका हुआ अन्न (मे एषा कामदुघा) मेरी यह कामनाओंकी पूर्ति करनेवाली गौ है। (इदं धनं ब्राह्मणेषु निदधे) यह धन मैं ब्राह्मणोंमें स्थापित करता हूं अर्थात् उन्हें देता हूं। और इस प्रकार (पितृषु पन्थां कृण्वे) पितरोंमें रस्ता बनाता हूं (यः) जो कि रस्ता (स्वर्गः) स्वर्ग है सुखदायक है।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि ब्राह्मणको धन दान करनेसे पितरोंके बीचमें सुखमय मार्ग बनाया जा सकता है। पितरोंके बीचमें यदि सुखपूर्वक विचरण करना हो तो ब्राह्मणोंको धन दान करना चाहिए ऐसा इस मंत्रका आशय प्रतीत होता है।

ज्ञानसे उत्तम आमन्त्रणोंसे आमन्त्रित होओ । (पितरः) हे इन्द्रियगणो ! तुम (मनः इच्छत) मनके साथ संगत होनेकी इच्छा करो अर्थात् मनके साथ एकमत होओ ताकि मनस्तत्त्व का ज्ञान होसके । ' कण्वाः—कणं आत्मानं कनतीति कण्वाः । कमरः कांतयः । मेमवाः—जो स्वैरं च मनः प्रसन्न । जो स्थिरता धारण करे । तपुरो—तद् मना इच्छतीति तपुरो ।

मेधाके उपासक पितर ।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ।
यजु ३२।१४ ॥

(यां मेधां) जिस बुद्धिकी (देवगणा पितरः च) देवगण तथा पितृगण [उपासते] उपासना करते हैं हे अग्ने ! [तया मेधया] उस मेधासे [अद्य] आज [मां] मुझे [मेधाविनं] मेधावी [कुरु] कर । [स्वाहा] ।

इस मंत्रमें उस मेधाको मांगा गया है जिसकी कि पितर उपासना करते रहते हैं ।

पितरोंका देवत्व लाभ ।

महिम्न एषां पितरश्चन नेशिरे देवा देवेष्वदधुरपि क्रतुम् । सम विव्यचुरुत यान्यत्विषु रैषां तनूषु नि विविशुः पुनः ॥ ऋ १।५९।७ ॥

[एषां महिम्नः पितरः च न ईशिरे] इन देवोंकी महिमाके पितर भी स्वामी बने अर्थात् पितरोंने देवोंकी महिमाको प्राप्त किया मानो देव बन गए । और इस प्रकार [देवाः] देव हुए हुए [देवेषु अपि क्रतुं अदधुः] देवोंमें भी कर्म करने लगे ताकि देवत्वसे भी ऊंचे पदका लाभ हो । [उत] और (यानि अत्विषुः) जो तेज प्रकाशित हो रहे हैं वे (सम् विव्यचुः) एकत्रित हुए । तथा (पुनः) फिर [एषां] इन पितरोंके [तनूषु] शरीरोंमें (निविविशुः) पूर्णतया प्रविष्ट होगये । पितरोंके देवत्व लाभका इस मंत्रसे पता चलता है ।

यज्ञका पितरोंमें जाना ।

देवान् दिवमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु मनुष्यान् अन्तरिक्षमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु पितॄन् पृथिवीमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु यं कं च लोकमगन् यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत् ॥ यजु ८।६० ॥

(यज्ञः) यज्ञ (देवान् दिवं अगन्) देवोंको व द्युको गया है । (ततः) इस कारणसे (मा द्रविणं अष्टु) मुझे धनसे व्याप्त करे अर्थात् धन मिले ।

इसी प्रकार यज्ञ मनुष्य व अंतरिक्ष पितर व पृथिवी तथा जिस किसी लोकको गया हुआ है वहांसे मुझे धनशाली करे ।

पितरोंके लिए यज्ञ करनेसे धन लाभ होता है ऐसा यहां हमें मंत्रसे पता चल रहा है । इस मंत्रमें यज्ञके महत्त्वका वर्णन है ।

अनेक अर्थोंमें पितर ।

वैश्वा प्राणो अङ्गेऽङ्गे निदीध्यदैन्द्र उदानो अङ्गे निधीतः । देवत्वष्टर्भूरि ते संसमेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपं भवाति । देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु ॥ यजु। ६।२० ॥

(ऐन्द्रः प्राणः) आत्मासंबंधी प्राण (अङ्गे अङ्गे) प्रत्येक अङ्गोंमें (निदीध्यत्) प्रकाशित होवे । (उदानः अङ्गे निधीतः) उदान वायु प्रत्येक अङ्गमें स्थित होवे । (देव त्वष्टः) त्वष्टा देव (यत् सलक्ष्मा विषुरूपं भवाति) जो एकसा होते हुए भी विविध रूपवाला होगया है उसे (ते संसमेतु) भली प्रकार एकत्रित करे या एकसा बनावे । (अवसे) रक्षाके लिए (देवत्रा यंतं त्वा देवोंके प्रति जाते हुए तेरे (माता पितरः) माता पिता (अनु मदन्तु) प्रसन्न होवें ।

विषाणका ओषधि व पितर ।

क्षेत्रस्य मूलमस्यमृतस्य नाभिः । विषाणका नाम वा असि पितॄणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी ॥
अथर्व ६।४४।३ ॥

इस मंत्रमें विषाणका नामक ओषधिका वर्णन है । हे ओषधि ! तू (क्षेत्रस्य मूलं असि) भयंकर रुलानेवाले रोगको दूर करनेवाली है । अर्थात् तेरे सेवनसे भयंकर रोगका भी शमन होजाता है । तू (अमृतस्य नाभिः) अमरताकी केन्द्र है । तेरे सेवनसे अमरत्व प्राप्त हो सकता है । (विषाणका नाम असि) तू विषाणका नामवाली है । तू (पितॄणां मूलात् उत्थिता) पितरोंके मूलसे प्रकट हुई हुई है तथा तू (वातीकृत—नाशिनी) वायुसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंका नाश करनेवाली है ।

इस मंत्रमें विषाणका ओषधिको पितरोंके मूलसे उत्पन्न हुई हुई बताया गया है । पितरोंके मूलसे उत्पन्न होने का क्या अभिप्राय है तथा ये पितर कौन हैं जिनके कि मूलसे इस ओषधिकी उत्पत्ति होती है, इत्यादि वैद्योंके खोज करनेका

निश्चय है। संभव है वैद्यगण इसपर विशेष प्रकाश डाल सकें। वैद्यगण इस विषयमें सहायता करेंगे तो उत्तम होगा।

स्वर्गवर्णन ।

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः। अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥ अथर्व ६।१२०।३॥

[यत्र] जहांपर [सुहार्दः सुकृतः] उत्तम हृदयवाले श्रेष्ठ कर्म करनेवाले [स्वायाः तन्वः रोगं विहाय] अपने शरीरके रोगका त्याग करके अर्थात् रोगरहित शरीरसे युक्त हुए हुए [मदन्ति] आनन्द भोगते हैं [तत्र स्वर्गे] उस स्वर्गमें [अश्लोणाः] लंगडे न होते हुए [अङ्गैः अह्रुताः] शरीरके अवयवोंसे कुटिल गतिवाले न होते हुए अर्थात् अङ्गोंसे टेढे न होनेसे सुन्दर गति करते हुए [पितरौ] माता, पिता तथा (पुत्रान्) पुत्रोंको देखें।

इस मंत्रमें स्वर्गका वर्णन है। जहांपर नीरोगी होते हुए मनुष्य सुखी रहते हैं वह स्वर्ग है ऐसा मंत्रका आशय प्रतीत होता है।

पितरोंका धन आदि देना ।

यन्मा हुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः। यस्मान्मे मन उदिव रारजीत्यग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥ अथर्व ६।७१।२॥

(यत्) जो प्रथम मंत्रोक्त पात्र चोखा, सोना आदि धन [हुतं] दिया हुआ अथवा [अहुतं] किसीसे न दिया हुआ स्वयं प्राप्त हुआ और जो [पितृभिः दत्तं] पितरोंसे दिया हुआ जिसकी कि [मनुष्यैः अनुमतं] मनुष्योंने अनुमति दी है अर्थात् जो धार्मिक न्यायसे [मा] मुझे [आजगाम] प्राप्त हुआ है और [यस्मात्] जिस धनसे [मे मनः उत् इव रारजीति] मेरा मन उत्कर्षको प्राप्त हुआ हुआ अत्यंत देदीप्यमान हो रहा है [तत्] उस धनको [होता अग्निः] यज्ञ करनेवाला [सुहुतं] उत्तमतासे दिया हुआ बनावे। अर्थात् उसको मैं धर्मकार्यमें लगाऊं ऐसी मुझे सम्मति प्रदान करे।

व्रात्य व पिता, पितामह आदि ।

स सर्वानन्तर्देशाननुव्यचलत् ॥ अथर्व १५।६।२३॥

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्यचलन् ॥ अथर्व १५।६।२४।

प्रजापतेश्च वै स परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ अथर्व १५।६।२५॥

(सः) उस व्रात्यने (सर्वान् अन्तर्देशान्) सब भीतरी देशोंमें (अनुव्यचलत्) विचरण किया ॥ १५।६।२३॥ (तं) उस व्रात्यके (अनु) पीछे (प्रजापतिः च परमेष्ठी च पिता च पितामहः च) प्रजापति अर्थात् राजा परमेष्ठी यानि परमेश्वरका विद्वान् वा सन्यासी पिता तथा पितामह विचरण करें ॥ १५।६।२४॥ (यः) जो व्यक्ति (एवं) इस प्रकार अर्थात् द्वितीय मंत्र (१५।६।२४) में कहे अनुसार (वेद) जानता है वह प्रजापति परमेष्ठी पिता तथा पितामहका (प्रियं धाम) प्रिय घर बनता है अर्थात् उसीके घरमें वह पूजनीय वर्ग आता है दूसरेके घरमें नहीं।

व्रात्य अर्थात अतिथिका महत्त्व यहां दिखाया गया है। अतिथिके पीछे ये सब घूमते रहते हैं ताकि अतिथि इनके घरको अपने आगमनसे पवित्र करे।

स महिमा सद्रुर्भूत्वान्तं पृथिव्या अगच्छत् स समुद्रोऽभवत् ॥ अथर्व १५।७।१॥

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च श्रद्धा च वर्षं भूत्वानुव्यवर्तयन्त ॥ अथर्व १५।७।२॥

(सः) उस व्रात्यने (महिमा) अपनी महिमासे (सद्रुः भूत्वा) वेगवान् होकर (पृथिव्याः अन्तं अगच्छत्) पृथिवीके अन्तको प्राप्त किया। और (सः) वह व्रात्य (समुद्रः अभवत्) समुद्र हुआ ॥ १५।७।१॥ (तं) उस व्रात्यके (अनु) पीछे पीछे प्रजापति परमेष्ठी पिता पितामह, (आपः) जल कर्म (श्रद्धा च) और श्रद्धा (वर्षं भूत्वा) वर्षा बनकर (व्यवर्तयन्त) वर्तमान हुए या वर्ताव करने लगे। यहां धर्मी मनुष्यकी महिमा गाई गई है।

पितरोंकी स्थितिके विषयमें प्रमाण ।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम्। तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ अथर्व १८।२।४९॥

बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतद् वि मृड्ढ्याज्याय लोकं कृणुहि प्रविद्वान्। घृतेन गात्रानु सर्वा वि मृड्ढि कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः॥ अथर्व ११।१।३१॥

(अध्वर्यो) हे अध्वर्यु! (बभ्रेः) पोषण करनेवाले ब्रह्मौदन के (एतत् मुखं) इस मुखको अर्थात् उसके ऊपर के हिस्सेको (विमृड्ढि) विशेष रूपसे साफ कर। (प्रविद्वान्) हे ज्ञानवान्! (आज्याय लोकं कृणुहि) उस भाजनों में घी डालनेके लिए स्थान बना। (घृतेन सर्वाणि गात्राणि विमृड्ढि) घी द्वारा उस ओदनके सर्व अवयवोंको परिमार्जित कर। इस ओदन द्वारा मैं (पितृषु पन्थां कृण्वे) पितरों में मार्ग बनाता हूं (यः) जो कि मार्ग (स्वर्गः) सुखप्रापक है।

इस मंत्र में यह दर्शाया गया है कि यदि पितरोंमें सुख-पूर्वक विचरण करना हो तो इस घीमिश्रित चावलों (ब्रह्मौदन) का होम करना चाहिये।।

मृत पितरोंका अनुगमन निषेध।

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः।
इहैव भव मा नु गा मा पूर्वाननु गाः।
पितॄनसुं बध्नामि ते दृढम्॥ अथर्व ५।३०।१॥

(ते आवतः आवतः) तेरे समीपसे समीप और (ते परावतः) तेरे दूरसे भी (आवतः) दूर देशसे (ते असुं) तेरे प्राणको (दृढं बध्नामि) दृढता से बांधता हूं। (इह एव भव) तू यहां ही रह। (मा पूर्वान् अनुगाः) पूर्व मृत पुरुषोंके पीछे मत जा अर्थात् विनष्ट मत हो। और (मा पितॄन् अनुगाः) इसी प्रकार पूर्व मृत पितरोंके पीछे भी मत जा।

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्यः प्र मदो मानु गाः पितॄन्। विश्वे देवा अभि रक्षन्तु त्वेह॥
अथर्व ८।१।७॥

हे आयुको अवरुद्ध करनेवाले मनुष्य! (ते मनः) तेरा मन (तत्र मा गात्) वहां मृत्यु लोकमें मत जाए। (मा तिरः भूत्) और तेरा मन अन्तर्हित भी मत होवे। (मा जीवेभ्यः प्रमदः) जीवोंके लिए अर्थात् जीवित रहनेके लिए असावधान मत रह। (पितॄन् मा अनुगाः) मृत पितरोंके पीछे मत जा। (विश्वे देवाः) सब देवगण (त्वा इह अभिरक्षन्तु) तेरी यहां ही रक्षा करें अर्थात् वह सब तुझे यहांपर अमर रखें मरने न दें।

इन उपरोक्त मंत्रोंमें मृत पितरोंके अनुगमन करनेका अर्थात् मरनेके विषय में अनुगमन का निषेध किया गया है। और दीर्घायु प्राप्त करनेके लिए कहा गया है।

पितरोंमेंसे यक्ष्मा के दूर करने की प्रार्थना।

अङ्गादङ्गाद् वयमस्या अप यक्ष्मं नि दध्मसि।
तन्मा प्रापत् पृथिवीं मोत देवान् दिवं मा प्रापदुर्वन्तरिक्षम् अपो मा प्रापन्मलमेतदग्ने यमं मा प्रापत् पितॄंश्च सर्वान्॥ अथर्व १२।२।१४॥

(अस्या अङ्गात् अङ्गात्) इसके प्रत्येक अंगसे (वयं यक्ष्मं नि अप दध्मसि) हम यक्ष्मको बिलकुल बाहिर निकाल देते हैं। (तत् पृथिवीं मा प्रापत्) वह यक्ष्म पृथिवी को मत प्राप्त होवे। (उत देवान् मा) और देवोंको भी मत प्राप्त होवे। (दिवं मा) द्युलोक को भी मत प्राप्त होवे। (उरु अन्तरिक्षं मा) विशाल अंतरिक्षको भी मत प्राप्त होवे (एतत् मलं) यह यक्ष्मरूपी मैल (अपः मा प्रापत्) जलों को भी मत प्राप्त होवे। (अग्ने) हे अग्नि! (यमं मा प्रापत्) यमको भी मत प्राप्त होवे। (च) और (सर्वान् पितॄन्) सब पितरों को भी मत प्राप्त होवे।

इस मंत्रमें यक्ष्म रोगके दूर करनेकी तो प्रार्थना है ही पर यहां एक बात विशेष ध्यानमें रखने योग्य है और वह यह कि यम व पितरोंको यक्ष्मके न प्राप्त होनेकी प्रार्थना अग्नि से की गई है। इसका कारण स्पष्ट ही है। हम पहिले देख चुके हैं कि अग्नि यमलोकमें पितरोंके पास जाती है। अतः अग्नि द्वारा ही यक्ष्मरोगके वहां पहुंचने की संभावना है। अतएव अग्नि से कहा गया है कि यम व पितरोंको यक्ष्म प्राप्त मत होवे।

वधूदर्श पितर।

ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन्।
ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु॥
अथर्व १४।२।७३॥

[ये] जो [वधूदर्शाः] वधू को देखने की इच्छावाले [पितरः] पितृगण [इमं वहतुं] इस रथको [आगमन्] प्राप्त हुए हैं [ते] वे पितर [संपत्न्यै अस्यै वध्वै] उत्तम पत्नी इस वधू के लिए [प्रजावत् शर्म] संततिवाले सुखको [यच्छन्तु] देवें। अर्थात् इसे संततियुक्त सुख देवें।

जब कन्या विवाहके अनन्तर पतिगृहको जाने लगती है तब रथमें या अन्य वाहन में सवार होनेपर उसे जो पितर देखने

चाए हैं उनसे प्रार्थना की गई है कि इस वधू को उत्तम संतान पैदा हुआ करो ।

कन्याका सदा पितरों (श्वशुरकुल) में रहना ।

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम् ।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम् ॥
अथर्व १।१४।१

(स्रजम् वृक्ष इव) जिस प्रकार वृक्षसे फूलोंकी माला ग्रहण करते हैं उसी प्रकार मैं वर (अस्याः) इस कन्या का (वर्चः भगं) ऐश्वर्यशाली तेजको मैं (आदिषि) ग्रहण करता हूं अर्थात् इस कन्या को पत्नी रूपसे मैं स्वीकृत करता हूं। यह वधू (महाबुध्नः पर्वतः इव) बड़ मूलवाले पर्वत की तरह (ज्योक्) सदा (पितृषु आस्ताम्) पितरोंमें अर्थात् मेरे (कन्याके) श्वशुर कुलमें स्थिर रहे जिस प्रकार बड़ी मूलवाला पर्वत क्योंकि मूल जमीन के अन्दर गहरा जाने से निश्चल होता है उसी प्रकार यह निश्चल श्वशुरकुलमें रहे ।

एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि
ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः समोप्यात् ॥
अथर्व १।१४।२॥

इस मंत्रमें वरके श्वशुरकुल की वरके प्रति उक्ति है । कन्या का पिता कन्यादान करता हुआ वरसे कहता है कि- (राजन्) हे राजमान वर ! (एषा) यह वधू [ते कुलपा] तेरे कुलका रक्षण करनेवाली है [तां] इस प्रकारकी इस वधू को [ते परिदद्मसि] तुझे हम सौंपते हैं । यह कन्या [ज्योक्] सर्वदा [पितृषु आसाते] तेरे [वरके] पितरों में अर्थात् श्वशुरकुल में स्थित रहे । [आशीर्ष्णः सं वोप्यात्] सिरसे लेकर सब भागोंमें इसकी वृद्धि होती रहे अर्थात् श्वशुरकुलमें यह क्षीण न होने पावे पुष्टिको प्राप्त होती रहे ।

इस प्रकार इन मंत्रोंमें पितरोंका अभिप्राय श्वशुरकुल प्रतीत होता है ।

पूषाकी पितरोंको प्रेरणा ।

आ तत्ते दस्र मन्तुमः पूषन्नवो वृणीमहे ।
येन पितॄनचोदयः ॥ ऋ. १।४२।५॥

(दस्र) हे दर्शनीय या दुष्टोंके नाश करनेवाले (मंतुमः) ज्ञानवान् (पूषन्) पूषा ! (ते अवः वृणीमहे) हम तेरी उस रक्षाको चाहते हैं (येन) जिससे कि तू (पितॄन् अचोदयः) पितरों को प्रेरित करता है ।

पूषा पितरों को अपनी रक्षा द्वारा प्रेरित करता रहता है ऐसा यहांपर ज्ञात होता है ।

ब्रह्मगौके दूध पीने से पितरों में पाप ।

क्रूरमस्या आशसनं तृष्टं पिशितमस्यते
क्षीरं यदस्याः पीयते तद् वै पितृषु किल्बिषम् ॥
अथर्व ५।१८।५।

[अस्याः] इस ब्रह्मगौका [आशसनं] मारना [क्रूरं] क्रूरता का काम है । यदि [पिशितं अस्यते] उसका मांस खाया जावे तो यह [तृष्टं] प्यास बढ़ानेवाला होता है । [अस्याः यत् क्षीरं पीयते] इसका जो दूध पिया जाता है [तद्] वह दूध पीना (वै) निश्चय से (पितृषु किल्बिषं) पितरों में पाप पैदा करनेवाला होता है ।

सम्पूर्ण सूक्त देखने से ब्रह्म-गौका अर्थ ब्राह्मण की जमीन वाणी किंवा गाय प्रतीत होता है । यदि राजा ब्राह्मण की जमीन को छीन ले या उसपर कर लगावे अथवा अन्य किसी प्रकार का अत्याचार करे, तो उसे इससे क्या नुकसान होता है, इसका यहांपर वर्णन है । इसके अनुसार पितर शब्द से राजकर्म-चारियोंका ग्रहण है ।

पालक अर्थमें पितर ।

खण्वखाइ खैमखाइ मध्ये तदुरि ।
वर्षं वनुध्वं पितरो मरुतां मन इच्छत ॥
अथर्व ४।१५।१५

(खण्वखे, खैमखे तदुरि) हे खण्वखा खैमखा तथा तदुरी नामक जातियोंके मण्डूको ! (वर्षं मध्ये वनुध्वं) वर्षाके बीच में आनन्दित होओ । (पितरः) हे पालक जनो ! तुम (मरुतां मन इच्छत) वायुओंका (मनः) मनन करके बोधका ज्ञान प्राप्त करो । अर्थात् किस वायुसे कब व कैसी वृष्टि होती है इत्यादि वायुसंबन्धी ज्ञानके मनन करनेका प्रयत्न करो ।

इस मन्त्रका आध्यात्मिक अर्थमें पितर इंद्रियोंके लिए आया प्रतीत होता है । आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार है-

(खण्वखे) हे इच्छाशक्ति ! (खैमखे) हे क्रियाशक्ति ! (तदुरि) हे ब्रह्म तक पहुंचानेवाली शक्ति ! तथा (मध्ये) हे मध्यमें रहनेवाली सुषुम्ना शक्ति ! तुम (वर्षं वनुध्वं) आन-

ज्ञानसे उत्पन्न आनन्दवृत्तिसे आनन्दित होओ । (पितरः) हे रक्षक जनो ! तुम (मनः एकाग्र) मनके साथ एकाग्र होनेकी इच्छा करो अर्थात् मनके साथ एकाग्र होओ ताकि मनका ज्ञान प्राप्त होवे । ' सम्यक्षाः — सम्यक् आत्मानं [illegible] सम्यक्षाः । [illegible] । [illegible] — [illegible] । जो स्थिरता उत्पन्न करे । चतुरी — [illegible] चतुरी ।

मेधाके उपासक पितर ।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ।
यजु ३२।१४ ॥

(यां मेधां) जिस बुद्धिकी (देवगणाः पितरः च) देवगण तथा पितृगण [उपासते] उपासना करते हैं हे अग्ने ! [तया मेधया] उस मेधासे [अद्य] आज [मां] मुझे [मेधाविनं] मेधावी [कुरु] कर । [स्वाहा] ।

इस मंत्रमें उस मेधाकी मांग की गयी है जिसकी कि पितर उपासना करते रहते हैं ।

पितरोंका देवत्व लाभ ।

महिम्न एषां पितरश्चनेशिरे देवा देवेष्वदधुरपि क्रतुम् । समविव्यचुरुत यान्यत्विषुरैषां तनूषु नि विविशुः पुनः ॥
ऋ १०।५६।४ ॥

[एषां महिम्नः पितरः च न ईशिरे] इन देवोंकी महिमाके पितर भी स्वामी बने अर्थात् पितरोंने देवोंकी महिमाको प्राप्त किया यानि देव बन गए । और इस प्रकार [देवाः] देव हुए हुए [देवेषु अपि क्रतुं अदधुः] देवोंमें भी कर्म करने लगे ताकि देवोंसे भी ऊंचे पदका लाभ हो [उत] और (यानि अत्विषुः) जो तेज प्रकाशित हो रहे हैं वे (सम् अविव्यचुः) एकत्रित हुए । तथा (पुनः) फिर [एषां] इन पितरोंके [तनूषु] शरीरोंमें (नि विविशुः) पूर्णतया प्रविष्ट हो गये । पितरोंके देवत्व लाभका इस मंत्रसे पता चलता है ।

यज्ञका पितरोंमें जाना ।

दिवं गच्छ [illegible] मा [illegible] मनुष्यान् [illegible] मा [illegible] पितॄन् पृथिवीमगन् [illegible] मा [illegible] यं कं च लोकमगन् [illegible] मे भद्रमभूत् ॥ यजु ८।६० ॥

(यज्ञः) यज्ञ (देवान् दिवं अगन्) देवोंको व द्युलोकको गया है । (ततः) उस स्वर्गसे (मा द्रविणं अष्टु) मुझे धनकी प्राप्ति होवे अर्थात् धन मिले ।

इसी प्रकार यज्ञ मनुष्य व अंतरिक्ष पितर व पृथिवी तथा जिस किसी लोकको गया हुआ है वहांसे मुझे धनप्राप्ति करावे ।

पितरोंके लिए यज्ञ करनेसे धन लाभ होता है ऐसा यहां हमें मंत्रसे पता चल रहा है । इस मंत्रमें यज्ञके महत्त्वका वर्णन है ।

सबके अर्थमें पितर ।

प्रैतु प्राणो अङ्गेअङ्गे निदीध्यदैन्द्र उदानो अङ्गेअङ्गे निधीतः । देव त्वष्टर्भूरि ते संसमेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपं भवाति । देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु ॥ यजु ६।२० ॥

(ऐन्द्रः प्राणः) आत्मासंबंधी प्राण (अङ्गेअङ्गे) प्रत्येक अङ्गोंमें (निदीध्यत्) प्रकाशित होवें । (उदानः अङ्गे अङ्गे निधीतः) उदान वायु प्रत्येक अङ्गमें स्थित होवे । (देव त्वष्टः) त्वष्टा देव (यत् सलक्ष्मा विषुरूपं भवाति) जो एकसा होते हुए भी विविध रूपवाला होगया है उसे (सं समेतु) भली प्रकार एकत्रित करे या एकसा बनावे । (अवसे) रक्षाके लिए (देवत्रा यन्तं त्वा) देवोंके प्रति जाते हुए तेरे (माता पितरः) माता पिता (अनु मदन्तु) प्रसन्न होवें ।

विषाणका ओषधि व पितर ।

रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः । विषाणका नाम वा असि पितॄणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी ॥
अथर्व ६।४४।३ ॥

इस मंत्रमें विषाणका नामक ओषधिका वर्णन है । हे ओषधि ! तू (रुद्रस्य मूत्रं असि) भयंकर रुलानेवाले रोगको दूर करनेवाली है । अर्थात् तेरे सेवनसे भयंकर रोगका भी शमन हो जाता है । तू (अमृतस्य नाभिः) अमरत्वकी नाभी है । तेरे सेवनसे अमरत्व प्राप्त हो सकता है । (विषाणका नाम असि) तू विषाणका नामवाली है । तू (पितॄणां मूलात् उत्थिता) पितरोंके मूलसे प्रकट हुई हुई है तथा तू (वातीकृत-नाशिनी) वायुसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंका नाश करनेवाली है ।

इस मंत्रमें विषाणका ओषधिको पितरोंके मूलसे उत्पन्न हुई हुई बताया गया है । पितरोंके मूलसे उत्पन्न होनेका क्या अभिप्राय है तथा वे पितर कौन हैं जिनके कि मूलसे इस ओषधिकी उत्पत्ति होती है, इत्यादि वैद्योंके खोज करनेका

मिल है । संभव है वैद्यगण इसपर विशेष प्रकाश डाल सकें। वैद्यगण इस विषयमें सहायता करेंगे तो उत्तम होगा ।

स्वर्गवर्णन ।

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः । अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥ अथर्व० ६ । १२० । ३ ॥

[यत्र] जहांपर [सुहार्दः सुकृतः] साधु हृदयवाले श्रेष्ठ कर्मोंके करनेवाले [स्वायाः तन्वः रोगं विहाय] अपने शरीरके रोगका त्याग करके अर्थात् रोगरहित शरीरसे युक्त हुए हुए [मदन्ति] आनन्द भोगते हैं [तत्र स्वर्गे] वहांपर स्वर्गमें [अश्लोणाः] लंगडे न होते हुए [अङ्गैः अह्रुताः] शरीरावयवोंसे कुटिल गतिवाले न होते हुए अर्थात् अवयवोंसे ठीक न टेढेपनसे सुन्दर गति करते हुए [पितरौ] माता, पिता तथा (पुत्रान्) पुत्रोंको देखें ।

इस मंत्रमें स्वर्गका वर्णन है । जहांपर नीरोगी होते हुए मनुष्य सुखी रहते हैं वह स्वर्ग है ऐसा मंत्रका आशय प्रतीत होता है ।

पितरोंका धन आदि देना ।

यदन्नमद्म्यनृतेन देवा दास्यन्नदास्यन्नुत संगृणामि । वैश्वानरस्य महतो महिम्ना शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम् ॥ अथर्व ६ । ७१ । २ ॥

(यत्) जो भक्ष्य मैंने ग्रहण किया बीजा, खेत आदि धन [हुतं] दिया हुआ अथवा [अहुतं] किसीसे न दिया हुआ स्वयं प्राप्त हुआ और जो [पितृभिः दत्त] पितरोंसे दिया हुआ जिसकी कि [मनुष्यैः अनुमतं] मनुष्योंने अनुमति दी है अर्थात् जो धर्माधिकार न्यायसे [मा] मुझे [आजगाम] प्राप्त हुआ है और [यस्मात्] जिस धनसे [मे मनः उत् इव रारजीति] मेरा मन उत्सवको प्राप्त हुआ हुआ अर्थात् प्रसन्न हो रहा है [तत्] उस धनको [होता अग्निः] दाता अग्नि [सुहुतं] उत्तमतासे दिया हुआ बनावे । अर्थात् उससे मैं सत्कार्यमें लगाऊं ऐसी मुझे सन्मति प्रदान करे ।

माता व पिता, पितामह आदि ।

स सर्वानन्तर्देशाननुव्यचलत् ॥ अथर्व १५ । ६ । २७ ॥

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्यचलन् ॥ अथर्व १५ । ६ । २५ ।

प्रजापतेश्च वै स परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ अथर्व १५ । ६ । २६ ॥

(सः) उस मात्यने (सर्वान् अन्तर्देशान्) सब भीतरी देशोंमें (अनुव्यचलत्) विचरण किया ॥ १५।६।२७ ॥ (तं) उस मात्यके (अनु) पीछे (प्रजापतिः च परमेष्ठी च पिता च पितामहः च) प्रजापति अर्थात् राजा परमेष्ठी यानि श्रेष्ठ पदवाले विद्वान् वा संन्यासी पिता तथा पितामह विचरण करें ॥ १५ ।६। २५ ॥ (यः) जो व्यक्ति (एवं) इस प्रकार अर्थात् द्वितीय मंत्र (१५ ।६। २५) में कहे अनुसार (वेद) जानता है वह प्रजापति परमेष्ठी पिता तथा पितामहका (प्रियं धाम) प्रिय घर बनता है अर्थात् उसीके घरमें यह पूजनीय वर्ग आता है दूसरेके घरमें नहीं ।

मात्य अर्थात अतिथिका महत्त्व यहां दिखाया गया है । अतिथिके पीछे ये सब घूमते रहते हैं ताकि अतिथि इनके घरको अपने आगमनसे पवित्र करे ।

स महिमा सद्रुर्भूत्वान्तं पृथिव्या अगच्छत् स समुद्रोऽभवत् ॥ अथर्व १५ । ७ । १ ॥

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च श्रद्धा च वर्षं भूत्वानुव्यवर्तयन्त ॥ अथर्व १५ । ७ । २ ॥

(सः) उस मात्यने (महिमा) अपनी महिमासे (सद्रुः भूत्वा) वेगवान् होकर (पृथिव्याः अन्तं अगच्छत्) पृथिवीके अन्तको प्राप्त किया । और (सः) वह मात्य (समुद्रः अभवत्) समुद्र हुआ ॥ १५ ।७।१ ॥ (तं) उस मात्यके (अनु) पीछे पीछे प्रजापति परमेष्ठी पिता पितामह, (आपः) श्रेष्ठ कर्म (श्रद्धा च) और श्रद्धा (वर्षं भूत्वा) वर्षा बनकर (व्यवर्तयन्त) वर्तमान हुए या वर्तांव करने लगे । यहां मात्यकी महिमा गाई गई है ।

पितरोंका आत्मिक विषयमें अज्ञान ।

येनो पितुः पितरो मोद देवाः येनो अग्निर्भक्षयन्तो इमः । त्रिते स्वप्नमदधुराप्ये नर आदित्यासो वरुणेनानुशिष्टाः ॥ अथर्व १९ ।५६। ३ ॥

(येषां) जिन ३३ देवोंकी (धीतिः) दुःखप्रवाही कारण-भूत जो यह वाणी (इह अन्तर) इस जगत्के बीचमें (चरति) विचरण कर रही है, (एतां) इस वाणीको (न पितरः विदुः न उत देवाः) न तो पितर ही जानते हैं और नहीं देव। (मत्स्येन अनुशिष्टाः) मत्स्य द्वारा भली प्रकार उपदेश किए गए (अग्निष्वात्ताः नरः) आदित्य वर्णमें (स्वर्गे) स्वर्गमें (आप्त्ये मित्रे) आप्त्य मित्रमें (अवसुः) स्थापित किया।

इस मन्त्रसे महत्व विषयमें इतना ज्ञात होता है कि पितर परिपक्वे नहीं जानते।

नाराशंस पितर।

पितरो नाराशंसाः ॥ यजुः । ८ । ५ ॥

(नाराशंसाः) नर जिनकी प्रशंसा करते हैं वे (पितरः) पितर नाराशंस पितर कहलाते हैं।

पिता–पितामह आदि पितर।

जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः। वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे। ऋ० १०।४०।१० ॥

यह मंत्र थोड़ेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें है—

जीवं रुदन्ति वि नयन्त्यध्वरं दीर्घामनु प्रसितिं दीध्युर्नरः। वामं पितृभ्यो य इदं समीरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे ॥ अथर्व १४।१।४६ ॥

(नरः) जो नर (जीवं रुदन्ति) पत्नियोंके जीवनके उद्देश्य से रोते हैं अर्थात् जो स्त्रियोंकी बहुत परवाह करते हैं उनकी दुर्दशापर रोते हैं तथा जो (अध्वरे वि नयन्ते) यज्ञमें उन स्त्रियों को प्रविष्ट कराते हैं अर्थात् उनके साथ यज्ञ में बैठते हैं अथवा जो स्त्रियों की हिंसा नहीं करते, और जो (दीर्घां प्रसितिं) भुजाओंका लम्बा लम्बा आलिंगन स्त्रियोंको (अनुदीधियुः) देते हैं अर्थात् उनसे खूब प्रेम करते हैं और (ये) जो (पितृभ्यः) पितरोंके लिए (वामं) सुन्दर संतानको (समीरिरे) पैदा करते हैं ऐसे [पतिभ्यः] पतियोंके लिए [जनयः] पत्नियां [परिष्वजे] आलिंगन के लिए [मयः] सुख देती हैं अर्थात् ऐसे पतियोंको ही वास्तव में पत्नीसुख मिलता है।

इस मन्त्रमें पत्नीसुख अर्थात् गार्हस्थ्यसुख किसको मिलता है, यह उत्तमतया दर्शाया गया है। पितरोंके लिए संतानोत्पत्ति करने व यज्ञमें पत्नीके बैठनेका भी यहां निर्देश है।

(२) यम।

अबतक के प्रकरणों में पितरों का विषय था वह प्रायः समाप्त हुआ है। अब हम आगे के प्रकरणोंमें यम पर विचार करेंगे। यमविषयक मंत्रोंके हम दो विभाग करेंगे। प्रथम विभागमें उन मंत्रों का संग्रह होगा जिनमें यमको कोई खास विशेषण प्रयुक्त हुए हुए न होंगे द्वितीय विभागमें विशेषणविशिष्ट यम होगा। विशेषणविशिष्ट यमवाले मंत्र यमकी उत्पत्ति स्थिति आदि विषयोंमें कुछ प्रकाश डालने में सहायक हो सकेंगे। द्वितीय विभागके शीर्षक का नाम 'वैवस्वत यम' रखेंगे क्योंकि वैवस्वत विशेषण ही प्रायः यमके लिए प्रयुक्त हुआ हुआ मिलता है।

प्राणापहारी यम।

यम मृत्युकी अधिष्ठात्री देवता है। प्राणियों के जीवन के अपहरण का कार्य यम करता है। मृत्यु यमका ही दूत है यह हमें आगे पता चलेगा। प्राणियोंके मारनेका काम यम करता है यह निम्न मंत्रों से स्पष्ट हो रहा है।

> यदुलूको वदति मोघमेतद् यत्कपोतः पदमग्नौ कृणोति। यस्य दूतः प्रहित एष एतत् तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥ ऋ० १०।१६५।४॥

[उलूकः यत् वदति] उल्लू जो अशुभ बोलता है [एतत्] वह उसका बोलना हुआ [मोघं] निष्फल हो अर्थात् इस उल्लूने जिस आनेवाली आपत्तिकी सूचना दी है वह निष्फल होवे। [कपोतः] और कबूतर [अग्नौ यत् पदं कृणोति] अग्निमें जो पैर करता है अर्थात् पैरसे अग्नि छेड़ता है वह भी निष्फल हो। इस अपशकुन से सूचित आपत्ति का भी निराकरण हो। [एषः] यह उल्लू या कबूतर [यस्य प्रहितः दूतः] जिसका भेजा हुआ दूत है उस [मृत्यवे यमाय] मारनेवाले यम के लिए [नमः] नमस्कार [अस्तु] होवे।

इस मंत्र में उल्लू के बोलने या कबूतर के पैर से अग्नि छेड़ने आदि अपशकुन से उत्पन्न आपत्तिनिवारण की प्रार्थना है। अथर्ववेद सू० ६ मंत्र २७, २८ तथा २९ में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है। पाठक वहां देख सकते हैं। ऐसे अपशकुन मृत्यु की संभावना को सूचित करते हैं ऐसा माना जाता है। अतएव इन अपशकुनोंके करनेवालोंको यमका दूत कह कर पुकारा गया है। शकुन व अपशकुन संबन्धी वेदमंत्र हैं यह पाठकोंको ध्यानमें रखना चाहिए। अस्तु यहां यम उसी अर्थ में है जिस अर्थ में कि वह प्रसिद्ध है।

> यः प्रथमः प्रवतमाससाद बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानः। योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥ अथर्व ६।२८।३

[यः] जिस यमने [अनुपस्पशानः] खोज करते हुए [बहुभ्यः प्रथमः] बहुतोंसे पहिले होकर [प्रवतं पन्थां आससाद] उत्कृष्ट मार्गको प्राप्त किया तथा [यः] जो [अस्य द्विपदः] इस दो पैरोंवाले मनुष्यसमुदायका व [यः चतुष्पदः] इस चारपैरवाले पशुसमुदायका (ईशे) स्वामी है (तस्मै) उस [मृत्यवे यमाय] मृत्यु करनेवाले यमके लिए (नमः अस्तु) नमस्कार होवे।

यहां पर भी यम उसी अर्थ में है जिस अर्थमें कि पूर्व मंत्रमें प्रयुक्त हुआ हुआ है।

> नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयान् विचृता बन्धपाशान्। यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥ अथर्व ६।६३।२

हे (तिग्मतेज निर्ऋते) हे तेज नाश करनेवाली निर्ऋति! (ते नमः अस्तु) तेरे लिए नमस्कार है। [अयस्मयान् बन्धपाशान्] लोहेकी बनी हुई बेड़ियोंको (विचृत) खोलदे, काटदे। (यमः) यमने (त्वां) तुझे (मह्यं) मेरे लिए (पुनः इत्) फिर भी (ददाति) दिया है अर्थात् पुनः यमने मुझको तुझे सौंपा है। (तस्मै) उस (मृत्यवे यमाय) प्राणापहरण करनेवाले यमके लिए (नमः अस्तु) नमस्कार होवे।

तिग्मतेज— तिज धातु हिंसार्थ व छेदार्थ में तिग शब्द बनानेपर इसका अर्थ होगा कि जो तेजका नाश करे वह तिग्मतेज।

निर्ऋतिका अर्थ है कष्ट दुःख, अनिष्ट।

यम यहां पर भी उपरोक्त अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ हुआ है।

> एवोऽस्मान् निर्ऋते नेहा त्वमयस्मयान् विचृता बन्धपाशान्। यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥ अथर्व ६।८४।३॥

(निर्ऋते) हे निर्ऋति! (त्वं) तू (अनेहा) न मारनेवाली होती हुई (अस्मान्) हमारे (एवा) उसी पूर्वोक्त प्रकारसे (अयस्मयान्) लोहमय-धातुके बने हुए (बन्धपाशान्) बन्धनोंको (विचृत) खोलके छुडा दे। (यमः त्वा पुनः इत्) यमने तुझको फिर भी (मह्यं ददाति) मुझे सौंपा है। (तस्मै मृत्यवे यमाय) उस प्राणापहरण करनेवाले यमके लिए (नमः अस्तु) नमस्कार होवे।

> मा वो मृगो न यवसे जरिता भूदजोष्यः। पथा यमस्य गादुप॥ ऋ० १।३८।५॥

हे मरुतो! [यवसे मृगः न] जिस प्रकार पशु घास आदि भक्ष्य पदार्थोंसे पृथक् नहीं होता अर्थात् समीपमें रहते जैसे सदा घास आदि भक्ष्य पदार्थ स्वतंत्रतासे मिलते रहते हैं उसी प्रकार (वः जरिता) तुम्हारी स्तुति करनेवाला (अजोष्यः) अप्रीतिकर अथवा असेवनीय अर्थात् उपभोग-सामग्री की प्राप्ति से रहित (मा) मत होवे। उपासकको भी पशुकी तरह स्वतंत्रतासे उपभोगसामग्री प्राप्त होती रहे। और वह उपासक (यमस्य पथा) यमके मार्ग से (मा उपगात्) मत जावे यानि शीघ्र मृत्युको प्राप्त मत होवे।

इस मंत्र में भी स्पष्ट रूपसे प्राणापहरण करनेवाले यमका ही बोध है।

> देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृणीत। बृहस्पतिं यज्ञमकृण्वत ऋषिं प्रियां यमस्तन्वं प्रारिरेचीत्॥ ऋ० १०।१३।४॥

इस मंत्रका उत्तरार्ध थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेद में इस प्रकार से आया है—

> बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्वमा रिरेच॥ अथर्व १८।३।४१॥

[देवेभ्यः] देवोंके लिए [कं मृत्युं] किस मृत्युको (अवृणीत) स्वीकृत किया है अर्थात् देवोंके लिए मृत्यु कौनसी है? [प्रजायै] उत्पन्न होनेवाली मनुष्यादि प्रजाके लिए [किं अमृतं न अवृणीत] क्यों अमरता स्वीकृत नहीं की? अर्थात् प्रजाको अमर क्यों नहीं बनाया? मनुष्योंने [बृहस्पतिं ऋषिं] बृहस्पति ऋषिको अमरताप्राप्तिके लिए [यज्ञं अकृण्वत] यज्ञ बनाया होगी [यमः] यमने उसके [प्रियां तन्वं] प्रिय शरीरको क्षीण किया अर्थात् लोगों को अमरताका लाभ न हुआ। अथवा अथर्ववेदके पाठभेदानुसार इस मंत्रका अर्थ इस प्रकारसे हो सकता है-

(देवेभ्यः कं मृत्युं न अवृणीत) देवोंमेंसे कौन मरता न था? अर्थात् देवभी सब मरते थे। तब (बृहस्पतिः ऋषिः यज्ञं अतनुत) देवोंमेंसे बृहस्पति ऋषिने अमरताकी प्राप्तिके लिए यज्ञ किया और देवोंके लिए (अमृतं अवृणीत) अमरताको प्राप्त किया पर (प्रजायै) प्रजाके लिए (किं अपि अमृतं न) कोईभी अमरता न प्राप्त की अतएव (यमः) प्राणोंके अपहरण करनेवाला यम प्रजाओंके (प्रियां तन्वं) उनकी प्यारी देह (प्रारिरेचीत्) क्षीण करता है अर्थात् प्रजाकी मृत्यु होती है।

यहांपर आलंकारिक रूपसे देवोंकी अमरता व मनुष्योंकी मरणशीलताका वर्णन किया गया है।

> ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्। यममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि॥ अथर्व ४।४०।२॥

[जातवेदः] हे जातवेद! ये जो शत्रु [दक्षिणतः] दाहिनी ओरसे [जुह्वति] यज्ञ करके हम पर आक्रमण करते हैं और जो [दक्षिणायाः दिशः] दक्षिण दिशासे [अस्मान् अभिदासन्ति] हमें दास बनानेके लिए आक्रमण करते हैं [ते] वे शत्रु [यमं ऋत्वा] यमको प्राप्त करके [पराञ्चः] पीठ मोड कर भागते हुए [व्यथन्तां] व्यथित होवें अर्थात् उनका दुःखपूर्वक नाश होवे। [एनान्] इन शत्रुओंको मैं [प्रतिसरेण] प्रति सरके [हन्मि] मारता हूं।

प्रतिसर सायणाचार्यने इसका अर्थ किया है कि जिससे आभिचारिक कर्मका निवारण हो।

> यमो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृष्टीर्वोऽपि यमेन समजीगमत्॥ अथर्व ६।३२।२॥

[पिशाचाः] हे पिशाचो! [वः ग्रीवाः] तुम्हारी गर्दनोंको [यमः] यमने [अशरैत्] काट डाला है। [यातुधानाः] हे

पीड़ा देनेवाले ! [वः पृष्टीः अपि] तुम्हारी पसलियां भी यह यम (भनक्तु) भग्न करदे । [निऋत्याः नीलो नीलम् ।] सम्पूर्ण तथा नीलवर्ण पुच्छ आपत्ति ! [वः] तुम्हें [यमेन ते सगी समत्] यमके साथ अच्छी भांति संयुक्त करे अर्थात् मार डाले।

इस मन्त्रमें शत्रुविनाशार्थ गहरीनी औषधियोंके प्रयोग करनेका निर्देश है। यमका अर्थ यहां अत्यन्त स्पष्ट है।

> यमो मृत्युरघमारो निऋथो बभ्रुः शर्वोऽस्ता नीलशिखण्डः । देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परि वृञ्जन्तु वीरान् ॥ अथर्व ६।९३।१ ॥

(यमः) यम (मृत्युः) मृत्यु (अघमारः) पापसे या पापके कारण मारनेवाला (निऋथः) निरन्तर पीड़ा देनेवाला (बभ्रुः) पालक, (शर्वः) हिंसक (अस्ता) फेंककर फैंक देनेवाला (नीलशिखण्डः) नील शिखण्ड (ये) उपरोक्त (देवजनाः) तथा देवजन मिलकरके (सेनया उत्तस्थिवांसः) सेना द्वारा आक्रमण के लिए तैयार हुए हुए (अस्माकं वीरान्) हमारे वीर सैनिकों को (परिवृञ्जन्तु) छोड़ देवें अर्थात् हमारे वे हमारे सैनिकोंका विनाश न हों अपितु उपरोक्त सब शत्रु सैनिकोंका विनाश करें। यहांपर भी यमकी गिनती मारनेवालोंमें की गई है।

> ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परि पाह्येनम् । अत्येनं नेषद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ अथर्व ६।११०।२॥

(ज्येष्ठघ्न्यां जातः) ज्येष्ठघ्नीमें पैदा हुए हुए तथा (विचृतोः) विचृत में पैदा हुए हुए इस कुमारको (यमस्य मूलबर्हणात्) यमके मूलोच्छेदनसे हे अग्नि! (परि पाहि) रक्षा कर । इसे पार ले जा । (एनं) इस पुत्रको (विश्वानि दुरितानि) सर्व बुरे विघ्नोंको (अति) बचाकर (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ वर्षकी दीर्घायुके लिए (नेषत्) ले चल । इसे सौ वर्षकी पूर्ण दीर्घायु प्राप्त होवे ।

ज्येष्ठघ्नी—ज्येष्ठा नामक नक्षत्रमें उत्पन्न सन्तान ज्येष्ठका नाश करती है। इस विषयमें तैत्तिरीय ब्राह्मणका निम्न वचन है—

ज्येष्ठ एवं अर्धविपश्यैति तज्ज्येष्ठघ्नी ।

तै० ब्रा० १।५।२।८ ॥

विचृत—हिरण्यस्थानके मूल नक्षत्रका नाम है। इसमें पैदा हुई हुई सन्तान नष्ट हो जाती है। इसमें निम्न तै० ब्रा० का वचन है—

मूलं एषां अवृक्षामेति तन्मूलबर्हणी ॥

तै० ब्रा० १।५।२।८ ॥

यहांपर यमका जो उल्लेख मूलोच्छेदन अर्थात् जड़से नाश करता है, उससे बचानेकी प्रार्थना है। एवं यम यहांपर विनाश करनेके अर्थमें ही प्रयुक्त है।

> विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु । इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मो ष्वेषामसवो यमं गुः ॥ अथर्व १८।३।६२ ॥

(नः) हमें (विवस्वान् अमृतत्वे) विवस्वान् सूर्य अमरतामें (दधातु) स्थापित करे । (मृत्युः परा एतु) मृत्यु दूर भाग जाय । (अमृतं न एतु) हमें अमरत्व प्राप्त होवे । (इमान् पुरुषान्) इन पुरुषोंकी (विवस्वान्) सूर्य (जरिम्णः आरक्षतु) बुढ़ापे तक रक्षा करे । (एषां असवः मो यमं गुः) इनके प्राण यमको मत जावें ।

इस प्रकार इन मन्त्रोंके अवलोकनसे यम एक मारक शक्ति है जो प्राणियोंके प्राण हरण करनेवाला है । यह हमें स्पष्ट रूपसे पता चलता है। यम अन्य अर्थोंमें भी वेदोंमें प्रयुक्त है जैसा कि हम आगे चलकर दिखायेंगे पर इसके साथ साथ यम नाश करनेके अर्थमें भी प्रयुक्त है। इसीको हम यूं भी कह सकते हैं कि प्राणियोंके प्राण हरण करनेके महकमेके अधिकारीका नाम यम है। हम आगे चलकर देखेंगे कि यम इस महकमेका राजा है। इसकी शासनका प्रजा है इसका लोक है इसके दूत हैं,इत्यादि।

अश्विनौ च यम ।

श्रीकृष्णमभिरामुदेमभिर्या देवानां वा जूतिभिः शाशदाना ।
तद्रासभो नासत्या सहस्रमाजा यमस्य प्रधने जिगाय ॥
ऋ० १।११६।२॥

हे (शाशदाना) नीरोगकी करनेवाले (नासत्या) अश्विनौ (विड्वपत्मभिः) वायुसे गिरनेवाले अर्थात् शक्तियोंकी (आशु हेमभिः) शीघ्रगामी घोड़ोंसे (वा) अथवा (देवानां जूतिभिः) देवोंकी प्रेरणाओंसे (तत् रासभः) वह रासभ अर्थात् गर्दभने जो कि तुम्हारी अश्विनौकी (सवारी है) (यमस्य) यमके (प्रधने आजौ) जिसमें बहुत धनकी प्राप्ति होती है ऐसे संग्राम में (सहस्रं) हजारोंको जीत लिया।

इस मंत्रमें अश्विनौ व यमकी लड़ाईका आलंकारिक वर्णन है। यम मारनेवाला है और अश्विनौ देवोंके वैद्य होनेसे जिलाने वाले हैं। यहांपर यमका पराजय व अश्विनौके रासभकी उत्कृष्टता वर्णित है।

शाशदाना—शशद् धातुसे यह शब्द बना है। इसका अर्थ नीरोगी करनेवाला है।

उत्तम स्वर्गमें पहुंचा। यह अग्निहोत्रकी उपासना है ऐसो निरुक्त ११।१५॥

> अमुत्र भूयादध यद्यमस्य बृहस्पतेरभिशस्तेरमुञ्चः।
> प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद्देवानामग्ने भिषजा शचीभिः
> यजुः २७।९। अथर्व ७।५३।१॥

[बृहस्पते] हे बृहस्पति ! [यमस्य अमुत्र भूयात् अभिशस्तेः] इस परलोकमें यमके कष्टसे [अमुंचः] हमें छुडा अर्थात् यम हमें मारने न पावे। [अग्ने] हे अग्नि! [देवानां भिषजा अश्विना] देवोंके वैद्य अश्विनो [शचीभिः] अपनी शक्तियों से सामर्थ्योंसे [अस्मत् मृत्युं] हमारी मृत्युको [प्रत्यौहतां] दूर करें।

अश्विनी मृत्यु दूर करनेमें समर्थ हैं ऐसा यहां पर स्पष्ट होता है। यमकी हिंसासे बचानेके लिए प्रार्थना की गई है।

इस प्रकार अग्निहोत्र जिस यमके दुःखका पहला है वह भी यम यही है जो हम ऊपर दर्शा आए हैं। उपरोक्त यमकी ही पुष्टि इन मंत्रोंसे हो रही है।

विष्टारी ओदन व यम।

> विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदा चन। आस्ते यम उपयाति देवान्त्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः॥ अथर्व ४।३४।३

[ये] जो [विष्टारिणं ओदनं] विस्तारवाले अर्थात् फैले हुए भातको [पचन्ति] पकाते हैं [एनान्] उनको [अवर्तिः] दरिद्रता [कदाचन] कभी भी [न सचते] प्राप्त नहीं होती अर्थात् वे कभी भी मलिन नहीं होते। वह ओदन पाचक [यमे आस्ते] यममें स्थित होता है [देवान् उपयाति] देवों को प्राप्त होता है और [सोम्येभिः गन्धर्वैः] सोम्य गन्धर्वों के साथ [संमदते] आनन्दित होता है।

विष्टारी ओदनपाचक को यमसे हिंसा होती है ऐसा यहां दर्शाया गया है।

एक इस मंत्रमें विष्टारी ओदनको महत्वका वर्णन किया गया है। यहां यमका अर्थ गोपक अथवा नियामक प्रतीत होता है। परन्तु इससे अगले मंत्र अथर्व ४।३४।४ में यम उपरोक्त अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ हुआ प्रतीत होता है। वह मंत्र इस प्रकार है—

> विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान्यमः परि मुष्णाति रेतः। रथी ह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति॥ अथर्व ४।३४।४॥

(ये) जो (विष्टारिणं ओदनं पचन्ति) विस्तृत ओदन को पकाते हैं (एनान् रेतः यमः न परिमुष्णाति) उनका वीर्य-सामर्थ्य यम अपहरण नहीं करता। (ह) निश्चयसे वह ओदन पाचक (रथी भूत्वा) रथ पर सवार होकर (रथयाने) रथ से जाने योग्य अर्थात् उत्तम मार्ग में (ईयते) विचरण करता है। अर्थात् वह रथादि यानों से सफर हुआ हुआ सर्वत्र विचरण करता है। (पक्षी भूत्वा) पक्षसंयुक्त होकर अर्थात् विमानादि वायुयानोंमें सवार होकर (दिवः समेति) द्युलोक में विचरण करता है। वह आकाश, भूमि आदि सब स्थानों में अव्याहत गति से विचरण कर सकता है। इसके जानेके लिए कहीं भी रोक टोक नहीं।

यम जो सबका सामर्थ्य हरण कर लेता है वह भी इसका वीर्य नहीं हरता। इस प्रकार इन दोनों मंत्रों में विष्टारी ओदनकी महिमा गाई गई है। यमको भी इसके पाचकसे हार माननी पडती है ऐसा इस बारे का अभिप्राय प्रगट होता है।

विष्टारी ओदन- विष्टारीका अर्थ है विस्तारवाला अर्थात् जिसका परिमाण बडा विस्तृत है। ओदन शब्द यहांपर अन्न का उपलक्षण है। विष्टारी यज्ञ ओदन से किया जाता है। इस अन्नदानयज्ञकी महिमा इस सूक्त में दर्शाई गई है।

यमका कर्ता अग्नि।

> अयं यो होता किरु स यमस्य कमप्यूहे यत्समञ्जन्ति देवाः। अहरहर्जायते मासिमास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम्॥ ऋ १०।५२।३

(अयं यः होता) यह जो दान-आदान करनेवाला अग्नि है (सः) वह (यमस्य किरु) यमका कर्ता है। वह (कं अपि ऊहे) सबको भी वहन करता है (यत्) जिस अग्नि को (देवाः समञ्जन्ति) देव सींच जाते हैं। वह अग्नि (अहः अहः जायते) प्रतिदिन हवनके समय उत्पन्न होती है अर्थात् इसे प्रज्वलित किया जाता है। और वह (मासि मासि) प्रत्येक मासमें या प्रत्येक पक्षमें मासिक व पाक्षिक यज्ञमें प्रकट होती है। (अथ) और (देवाः) देवगण

(हव्यवाट्) हव्यका वहन करनेवाली इस अग्निको (दधिरे) स्थापित करते हैं।

इस मंत्रमें अग्नि को यम की करनेवाली बताया गया है। यहांपर यम का अर्थ वायु भी हो सकता है क्योंकि अग्नि वायु से वृद्ध करती है। प्रथम अग्नि के प्रदीप्त होनेपर हवा बड़े जोर से चलने लगती है। इसके अतिरिक्त इस मंत्रसे यह भी पता चलता है कि दैनिक पाक्षिक तथा मासिक यज्ञ करने चाहिये।

५= अब। मास = मास तथा पक्ष।

यमकी बेडी।

मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत।
अथो यमस्य पड्वीशात् सर्वस्माद्देवकिल्बिषात्॥
ऋ० १०।९७।१६॥ यजु० १२।९०॥
अथर्व० ६।९६।२॥ तथा ७।११२।२॥

(मा) मुझे औषधियां (शपथ्यात्) शाप देनेसे होनेवाले पापसे (मुञ्चन्तु) छुडावें। (अथ उत) और (वरुण्यात्) वरुण संबंधी किए गए पापसे छुडावें। [अथ] और [यमस्य] यमकी [पड्वीशात्] पैरोंकी बेडियोंसे छुडावें। [सर्वस्मात् देवकिल्बिषात्] सभी देवोंके संबन्धी पापोंसे औषधियां मुझे छुडावें। पड्वीश= पादबंधन, शृंखला = पैरों की बेडी।

यत् त्वासार्थे पञ्चशलादथो दशशलादुत।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात्॥
अथर्व० ८।७।२८॥

[त्वा] तुझे [पंचशलात्] पंचभूतसे होनेवाले पापसे [अथ उत] और [दशशलात्] दसों दिशाओंसे होनेवाले पापसे [अथ] और [यमस्य पड्वीशात्] यमकी पैरोंकी बेडियोंसे तथा [विश्वस्मात्] सारे [देवकिल्बिषात्] देवोंके प्रति किए गए पापोंसे [उत् आहार्षं] बचाकर ऊपर ले आया हूं।

इन मंत्रोंमें यमकी बेडियोंसे छूटनेकी प्रार्थना है। यहांपर भी यम मारनेवाला ही है यह स्पष्ट पता चल रहा है। आगे चलकर यमविषयक वर्णन जब हम देखेंगे तो यमकी यथार्थ वास्तविकता स्वयमेव ज्ञात हो जायगा।

वैवस्वत यम।

यत्ते मनो वैवस्वतं यमं जगाम दूरकम्।
तत्त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ ऋ० १०।५८।१॥

[ते] तेरा [यत् मनः] जो मन [दूरकं] बहुत दूर [वैवस्वतं यमं] विवस्वान् के पुत्र यमके पास [जगाम] चला गया है [ते तत्] तेरा वह मन पुनः [इह] इस लोकमें [क्षयाय] निवास करनेके लिए व [जीवसे] जीवन धारण करनेके लिए हम [आवर्तयामसि] लौटाते हैं।

यहांपर वैवस्वत यम के पास चले गए मनके प्रत्यावर्तनका उल्लेख है। यमको वैवस्वत विशेषण दिया गया है। वैवस्वत का अर्थ है विवस्वान की संतान। इससे यह पता चलता है कि मारनेवाला यम विवस्वान् का लड़का है। इसपर हम थोडासा प्रकाश आगे चलकर डालेंगे।

क्षयाय= निवास करनेके लिए, रहनेके लिये। 'क्षि निवासगत्योः'

यमादहं वैवस्वतात् सुबन्धोर्मन आभरम्।
जीवातवे न मर्तवेऽथो अरिष्टतातये॥
ऋ० १०।६०।१०

[अहं] मैं [वैवस्वतात् यमात्] विवस्वान् के पुत्र यमसे [सुबन्धोः मनः आभरम्] सुबन्धु अर्थात् उत्तम बन्धुका मन छीन करके ले आया हूं। किस लिए? [जीवातवे] इस लोकमें जीनेके लिए [मर्तवे न] मरनेके लिए नहीं। [अथ] और [अरिष्टतातये] सुखके विस्तारके लिए

इस मंत्रका भाव भी पूर्वके मंत्रसे मिलता है। यहांपरभी यमको विवस्वान् के पुत्रके नामसे कहा गया है। निम्न लिखित मंत्र हमारी ऊपरकी स्थापनाको स्पष्ट रूपसे पुष्ट कर रहा है। इसमें यमकी माता व विवस्वान् दोनोंका उल्लेख है। विवस्वान् कौन है यह भी पाठकोंको इससे स्पष्ट रूपमें पता चल जायगा। मंत्र इस प्रकार है—

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥
ऋ० १०।१७।१; अथर्व० १८।१।५३॥

(त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति) त्वष्टा अपनी पुत्री का विवाह रचता है (इति) इस कारण (इदं विश्वं भुवनं) यह सारा भुवन (समेति) इकट्ठा होता है। (परि उह्यमाना) ब्याही जाती हुई (यमस्य माता) यम की जननी व (महः विवस्वतः जाया) महान् विवस्वान् की पत्नी (ननाश) नष्ट हो जाती है।

इसी सूक्त के प्रथम मंत्रसे पता चलता है कि त्वष्टा की पुत्री का नाम सरण्यू है और उस का त्वष्टा विवस्वान् के साथ

विचार करता है। इस मंत्र से हमें यह पता चलता है कि त्वष्टा-की पुत्री सरण्यू यमकी माता है व विवस्वान्‌की पत्नी है अर्थात् विवस्वान् यमका पिता है। अब हमें यह देखना है कि यम-का पिता यह विवस्वान् कौन है।

यास्काचार्य इस मन्त्रके उत्तरार्धकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं, कि 'यमस्य माता पर्युह्यमाना महतो जाया विवस्वतो ननाश रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते।' अर्थात यमकी माता ब्याही जाती हुई थी कि महान् विवस्वान्‌की जाया है नष्ट हो गई। आगे जाया विवस्वतो ननाश का स्पष्टीकरण करते हैं कि रात्रि सूर्यकी जाया सूर्यके उदय होनेपर छिप जाती है।

इस प्रकार विवस्वान्‌का अर्थ हुआ आदित्य अर्थात् सूर्य। इस उपरोक्त विवेचनसे हम निम्न परिणाम पर पहुंचते हैं– यमकी माताका नाम सरण्यू है व पिताका नाम विवस्वान् अर्थात् सूर्य है। अर्थात् यम विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र है अतएव उसे वेदमंत्रोंमें 'वैवस्वत' के नामसे पुकारा गया है। वैवस्वत यमका ही सर्वत्र विशेषण है अन्यका नहीं अत एव वैवस्वतके साथ यम न भी प्रयुक्त हुआ हुआ हो तो भी यमका ग्रहण होता है।

निम्न लिखित मन्त्रोंमें अकेले वैवस्वत शब्दका ही प्रयोग है।

> भद्रं वै वरं वृणते भद्रं युञ्जन्ति दक्षिणम्। भद्रं वैवस्वते चक्षुर्बहुत्रा जीवतो मनः॥
>
> अ० ६ ।११०।२ ॥

इस मन्त्रमें दुःस्वप्नके नाश करनेकी प्रार्थना है। अर्थ इस प्रकार है–

सब लोग [वै] निश्चयसे [भद्रं वरं वृणते] कल्याणकारी वरका ही चाहते हैं। [दक्षिणं भद्रं] बढे हुए कल्याणको ही अथवा [युञ्जन्ति] योग रखना चाहते हैं [वैवस्वते भद्रं चक्षुः] विवस्वान् के पुत्रकी मैं कल्याणकारी चक्षुकी अर्थात् उसकी कृपादृष्टि को चाहता हूं, ताकि दुःस्वप्न हमें बाधा न पहुंचावें। क्योंकि [बहुत्रा] बहुतसे विषयोंमें [जीवतः] जीते हुए अर्थात् जगे हुए मेरा [मनः] मन उनमें विचरण करता रहता है अतः दुःस्वप्न आनेकी संभावना है।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि कल्याणकारी विचार व आचरण रहनेसे दुःस्वप्न नहीं आसकता। दुःस्वप्न न आनेके लिए वैवस्वतसे प्रार्थना की गई है। यह वैवस्वत यम ही है यह उपरोक्त विवेचनासे तो पुष्ट हो ही रहा है पर आगे चलकर 'यम व स्वप्न' इस प्रकरणमें हमें स्पष्ट रूपसे ज्ञात होगा कि स्वप्नका यमसे कितना संबन्ध है। दुःस्वप्न यमका शासन है अर्थात् दुःस्वप्नसे मृत्यु भी हो सकती है। अस्तु। यहांपर यह सब स्पष्ट रूपसे हम बतानेका प्रयत्न करेंगे।

> वैवस्वतः कृणवद् भागधेयं मधुभागो मधुना सं सृजाति। मातुर्यदेन इषितं न आगन् यद् वा पितापराद्धो जिहीडे॥ अथर्व ६।११६।२

(वैवस्वतः) विवस्वान्‌का पुत्र (भागधेयं कृणवत्) भागको करे अर्थात् बँटवारा करे। [मधुभागः] उत्तम भाग करनेवाला यह हमें (मधुना संसृजाति) हमें मधुसे युक्त करे। अर्थात् हम भी उत्तम बटवारा करनेवाले हों व धर्मशील बनें। (यत् एनः) जो पाप (मातुः नः आगन्) माताके हमें प्राप्त हुआ है अर्थात् माताका अपराध करनेसे यदि हमने कोई पाप किया है तो यह (यत् वा) अथवा जिस पापसे (पिता अपराद्धः) हमने पिताका अपराध किया है जिससे कि पिता (जिहीडे) क्रोधित हुआ है, वह सब उपरोक्त शांत होवे।

इस प्रकार इस प्रकरणमें हमें यमके संबन्धमें निम्न लिखित मुख्य बातोंका पता चलता है–

(१) यम नामक कोई प्राणियोंके जीवनोंका अपहरण करनेवाला है।

(२) उसके पिताका नाम विवस्वान् (सूर्य) है अतएव उसका दूसरा नाम वैवस्वत भी है।

(३) उसकी माताका नाम सरण्यू है जो कि त्वष्टाकी पुत्री है।

इतने यमसंबन्धी विवेचनके बाद हम यह देखेंगे कि यमका रहनेका कोई स्थान है या नहीं यह प्राणियोंको मारकर कहां पर लेजाता है इत्यादि।

यमलोक व यमराज्य।

इस प्रकरणमें हम यमके लोक व उसके राज्यके संबन्धमें विचार करेंगे अर्थात् यमलोक यदि है तो कहांपर है इत्यादि प्रश्नका उत्तर देनेका प्रयत्न करेंगे। निम्न लिखित मंत्र यह प्रतिपादन कर रहे हैं कि यमका एक खास लोक है–

> उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत् किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनु दत्तं न एतत्। ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधि रज्जुरायत्॥ अथर्व ६।११८।२

हे [उग्रंपश्ये] तीक्ष्णदृष्टिवाली तथा हे [राष्ट्रभृत्] राष्ट्र का भरण पोषण करनेवाली अप्सराओ ! [किल्बिषाणि] जो पाप व (यद् अक्षवृत्तं) जो पाप इन्द्रियों द्वारा किया है (एतत्) वह पाप (नः) हमें (अनुदत्तं) अनुकूलताके लिए दूर हो अर्थात् उस पापसे हमें हानि न पहुंचे इस प्रकारसे उस पापको दूर करो । और (ऋणात् ऋणं एर्त्समानः) ऋणसे ब्याज आदि द्वारा ऋणको बढाता हुआ स्वयं अर्थात् ऋण देनेवाला (यमस्य लोके) यमके लोकमें (अधिरज्जुः) हाथमें रस्सी लिए हुए (नः न आयात्) हमें प्राप्त न होवे अर्थात् हमें ऋणसे भी मुक्त कर दो ताकि यमलोकमें हम सुखपूर्वक रह सकें ।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि जबतक ऋण न चुकाया जावे तबतक मनुष्य उससे मुक्त नहीं हो सकता । मरनेवाला यदि ऋण बिना चुकाए मरेगा तो यमलोकमें भी उसे वह ऋण चुकाना पडेगा । उत्तमर्ण वहांपर भी अपना ऋण लेनेके लिए पीछा करता हुआ आ पहुंचेगा । ऋण देना कितना भयप्रद है यह इससे पता चलता है ।

यथायाद् यमसादनात् पापलोकान् परावतः ॥

अथर्व १२।५।६४॥

इस मंत्रका अर्थ स्पष्टीकरणके लिए पूर्व मंत्रको भी साथमें देना चाहिए । पूर्व मंत्र इस प्रकार है—

ब्रह्मज्यं देव्यघ्न्य आ मूलादनुसंदह ॥

अथर्व १२।५।६३॥

हे [अघ्न्ये] अहिंसा करनेके अयोग्य ! हे देवी शक्ति ! [ब्रह्मज्यं] ब्राह्मणकी हिंसा करनेवाले पापकर्मीको [आमूलात्] जडसे लेकर सम्पूर्ण [अनुसंदह] संपूर्ण जला दे ॥ १२।५।६३ ॥ [यथा] जिससे कि वह ब्रह्मघातक [यमस्य सादनात्] यमके सदनसे भी [परावतः] दूर स्थित (पापलोकान्) पापियोंके लोकको [अयात्] जावे ।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि घोर कर्म करनेवाले पापियोंको यमलोकमें स्थान नहीं मिलता वे तो यमलोकसे भी परे स्थित पापलोक में जाते हैं । इससे स्पष्ट यह भी ज्ञात होता है कि यमलोकमें जानेवाले पापियोंके अतिरिक्त जन हैं । अतः यमलोक निकृष्ट स्थान नहीं है ।

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते ।
इयमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः ॥

ऋ. १०।१३५।७ ॥

(इदं यमस्य सादनं) यह यमका घर है । (यत् देवमानं उच्यते) जो कि देवों द्वारा बनाया गया है इस प्रकार कहा जाता है । (अस्य इयं नाळीः) इस यमकी प्रीतिके लिए यह स्तुतिरूपी वाणी (धम्यते) उच्चारण की जाती है । (अयं) यह यम (गीर्भिः) स्तुतियुक्त वाणियोंसे (परिष्कृतः) सुशोभित होवे ।

इन मंत्रोंसे हमें स्पष्टतया इतना पता चलता है कि यमलोक करके कोई स्थान अवश्य है । निम्न लिखित मंत्रोंके देखनेसे ऐसा पता चलता है कि यमका उस लोकमें राज्य है अर्थात् यम वहांका राजा है । उस लोकका यम राजा होनेसे उसका नाम यमलोक पडा है । अतएव यह लोक उसके नामसे अर्थात् यमलोकके नामसे प्रसिद्ध है ।

पुमान् पुंसोऽधितिष्ठ चर्मेहि तत्र ह्वयस्व यतमा प्रिया ते । यावन्तावग्रे प्रथमं समेयथुस्तद् वां वयो यमराज्ये समानम् ॥ अथर्व १२।३।१ ॥

(पुमान् पुंसः अधितिष्ठ) हे पुरुष ! पुरुषोंका अधिष्ठाता बन अर्थात् उच्चाधिकार को प्राप्त कर । (चर्म) सुखको (इहि) प्राप्त कर । (तत्र) उस सुखमें (यतमा ते प्रिया) जो तेरी प्यारी है उसे (ह्वयस्व) बुला । (अग्रे) पहिले (यावन्तौ) जितने समर्थ हुए हुए तुम पतिपत्नी दोनों (प्रथमं) मरनेसे पूर्व की आयु में (समेयथुः) प्राप्त किया है (तत् वां वयः) वह तुम्हारा अब वा आयु (यमराज्ये) यमके राज्य में समान हो ।

इस मंत्रमें बडे महत्त्वका उपदेश है । पहले पूर्ण मनुष्य को उन्नति करनेके लिए कहा गया है । तदनन्तर सुख प्राप्त करके अपने अनुसार पत्नीके बुलानेके लिए कहा गया है । इसीसे स्पष्ट पता चलते हैं । इस प्रकारके विवाहके बाद दम्पती मिलजुलकर अपने भविष्यको उज्ज्वल बनानेका प्रयत्न करें । जितना व इस कालमें कम देंगे उतना यमलोकमें मिलेगा यह वो बात यमराज्ये समान से दर्शाया है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि स्त्री भी पतिके साथ यमलोकमें जाती है । अर्थात् जितना मृत पितरोंके प्रति हमारा कर्तव्य है उतना ही मृत माताओं इत्यादि स्त्रियोंके लिए भी है ।

समस्मिँल्लोके समु देवयाने सं स्मा समेतं यमराज्येषु । पूतौ पवित्रैरुप तद्ध्वयेथां यद्यद्रेतो अधि वां संबभूव ॥ अथर्व १२।३।२ ॥

(अस्मिन् लोके) इस लोकमें (स) अच्छी तरह या साथ साथ तुम पतिपत्नी (एतं) विचरण करो। (च) और (देवयाने) देवोंके मार्गमें (सं) मिलकर विचरण करो। (यमराज्येषु) यमराज्योंमें (स एतम्) साथ मिलकर विचरण करो। (यद् यद् रेतः) जो वीर्य (अधि अपि संबभूव) तुम दानोंमें उत्पन्न हुआ है (तत्) उस वीर्यको (पवित्रैः) पवित्राचरणों द्वारा (पूतौ) पवित्र हुए हुए तुम दोनों (उप-ह्वयेथां) अपने पास बुलाओ, अर्थात् पवित्र कार्योंमें ही वीर्यका उपयोग करो व्यर्थ नष्ट मत करो।

इस मन्त्रमें वीर्यके सदुपयोगके लिए गृहस्थ दम्पतीको उप देश दिया गया है। इसके सिवाय एक महत्त्वपूर्ण बात यह बताई गई है कि पतिपत्नी में इतना अधिक प्रेम होना चाहिये कि वे सर्वत्र साथ ही रहें। चाहे वे इस लोकमें हों चाहे यमलोकमें या अन्य किसी लोकमें। उन्हें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि वे किसी भी हालतमें जुदा न हो सकें। यह वैदिक आदर्श यहां स्पष्ट रूपसे दर्शाया गया है। इस प्रकार यह मन्त्र विशेष महत्त्वका है। इसका मनन करना चाहिए।

> सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रददुषे दुहे।
> अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम्॥
>
> अथर्व० १२।४।३६॥

(वशा) वशा गौ (यमराज्ये) यमके राज्य में (प्रददुषे) प्रदाताके दानके लिए (सर्वान् कामान्) सर्व प्रकार की कामना-ओंको (दुहे) पूर्ण करती है। (अथ) और (याचितां) मांगी हुई के (निरुन्धानस्य) रोकनेवालेको अर्थात् यदि कोई ब्राह्मण गौको मांगे और उसको यदि न दी जाय तो न देने-वालेको (नारकं) नरकवत् (लोकं) महादुःखप्रद (आहुः) कहते हैं अर्थात् न देनेवाले को नरक मिलता है।

इस मन्त्रमें वशा गौकी महिमाका वर्णन है। वशा गौको दान करनेवाले को यमराज्यमें किसी भी प्रकारका कष्ट नहीं होता। उसकी सर्व कामनायें पूर्ण होती हैं और इसके प्रतिकूल चलनेवालेको नरक मिलता है।

> एतत् ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे।
> तत् त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर॥
>
> अथर्व० १८।४।३१॥

(एतत्) (सविता देवः) [illegible] (ते) तेरे लिए (भर्तवे) धारण करनेके लिए (वासः) वस्त्र (ददाति) देता है। (तत् तार्प्यं) उस तृप्ति करनेवाले वस्त्रको (वसानः) पहिनकर (यमस्य राज्ये) यम के राज्यमें (चर) विचरण कर।

इस मंत्रमें मृत पुरुषको जो कि यमलोकमें पहुंच गया है उसको वस्त्र देनेका विधान है।

निम्न लिखित मन्त्रमें उस मृत पुरुषको तिलमिश्रित धान देनेका उल्लेख है तथा यमराजासे इनको उस पुरुषके देनेके लिए अनुमति मांगी गई है–

> यास्ते धानाः अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः।
> तास्ते सन्तूद्भ्वीःप्रभ्वीः तास्ते यमो राजानुमन्यताम्॥
>
> अथर्व० १८।४।२६॥

(ते) तेरे लिए (याः तिलमिश्राः स्वधावतीः धानाः) जिन तिलोंसे मिश्रित अर्थात् तिलमिले हुए स्वधायुक्त धानों को (अनुकिरामि) अनुकूलता से फैंकता हूं, (ताः) वे धान (ते) तेरे लिए (उद्भ्वीः) उदय करनेवाले व (प्रभ्वीः) प्रभूत मात्रा में यानि बहुत मात्रामें (सन्तु) होवें। (ताः) उन्हें (ते) तुझे देनेके लिए (यमः राजा) यम राजा (अनुमन्यतां) अनुमति देवे। यमके राज्यमें बिना यमकी अनुमतिके किसीको कुछ नहीं दिया जा सकता, अतः उसकी अनुमति मांगी है।

इस मन्त्रमें यमलोक में गए हुए के लिए अन्न एवं उसके लिए तिलमिश्रित धान देनेका वर्णन है। वे तिलमिश्रित धान यमराज्यमें जाकर किस रूपमें परिणत हो जाते हैं यह निम्न लिखित मंत्र बतला रहा है–

> धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत्।
> तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुपजीवति॥
>
> अथर्व० १८।४।३२॥

यमलोकमें जाकर उपरोक्त मंत्रानुसार दिए गए (धाना) धान (धेनुः) तृप्त करनेवाली गौ (अभवत्) बनता है। (अस्याः) और इस धानरूपी गौका (वत्सः) बछडा (तिलः) तिल (अभवत्) बनता है। (वै) निश्चयसे (यमस्य राज्ये) यमके राज्यमें वह (तां) उस कभी न घटनेवाली हुई कामधेनु ही (उप जीवति) आश्रित हुआ हुआ जीता है।

यहां पर धान तथा तिल यमराज्यमें जाकर किस स्वरूप में परिणत हो जाते हैं यह दर्शाया गया है। इस लोकमें [illegible] [illegible] तिल यम लोकमें [illegible] हुए के लिए देने चाहिए

क्योंकि उसके जीनेके वे एकमात्र आधार हैं।

इन मंत्रोंमें हमने देखा कि यमलोकमें यमका राज्य है। यमराज्यमें भी यमलोकका ही महत्व है। वहीं पर यम मृतोंको ले जाया करता है।

निम्न लिखित मंत्रमें यमका आए हुए मृत पुरुषको अपने राज्यमें स्थान देनेका उल्लेख है

इदमिन्द्रमा अवसानमेतद् ये पुण आगन् मम येदभूदिह। यमश्चिकित्वान् प्रत्येतदाह ममैष राय उप तिष्ठतामिह ॥ अथर्व १८।२।३७॥

(अग्ने) इस मृत पुरुषके लिए (एतद् अवसान) इस स्थानको (ददामि) मैं देता हूं। क्योंकि (एषः यः) जो यह (आगम्) यमलोकमें आया है और (इह) यहींपर आकर (मम येद्) मेरा ही (अभूत्) हो गया है अर्थात् क्योंकि यह यहां आकर मेरी ही प्रजा बन गया है, अतः मैं इसे स्थान देता हूं, अपने राज्यसे नहीं निकालता। इस पर ठीक प्रकारसे (चिकित्वान् यमः) ज्ञानवान् यम (एतद्) यह श्लोक 'इदमस्मै' इत्यादि वाक्य (प्रति आह) यमलोकमें आए हुए के प्रति कहता है। और यह भी कहता है कि (एषः) यह आगन्तुक (मम राये) मेरे धनके लिए (इह) यहां यमराज्यमें (उप तिष्ठताम्) उपस्थित होवे अर्थात् इसे भी इस मेरे धनका भाग मिले अथवा यह भी अन्य प्रजाकी तरह मेरे धनका भाग मिले अथवा यह भी अन्य प्रजाकी तरह मेरे लिए दिया जानेवाला उचित कर प्रदान करे।

इस प्रकार इस मंत्रमें यमकी यमराज्यमें आए हुए के प्रति उक्ति है। अवतक के मंत्रोंसे यह पता चला कि यमका यम लोकमें राज्य है अर्थात् वह वहां का राजा है। अब हम यह देखें कि यमलोक कहांपर है अथवा इसकी स्थिति कहां है।

यमकी दक्षिण दिशा।

एषः प्राङ् तिष्ठन् दक्षिणा तिष्ठन् यमः ॥

अथर्व १।७।१२ ॥

(एषः प्राङ् तिष्ठन्) यह पूर्व दिशामें स्थित हुआ हुआ है। और (एषः) यम (दक्षिणा तिष्ठन्) दक्षिण दिशामें रहता हुआ है।

इस मंत्रसे हमें इतना पता चलता है कि यम दक्षिण दिशामें रहता है यानि यमलोक दक्षिण दिशामें है।

द्युलोकमें यमलोक।

मरा या वंश पूषणमगोह्यमग्निं देवेद्धमभ्यर्चस गिरा। सूर्यामासाचन्द्रमसा यमं दिवि त्रितं वातमुषसमक्तुमश्विना ॥ ऋ० १।१६१।१४

(गिरा यश पूषण अगोह्य देवेद्धं अग्नि) यशके प्रशंसा करने योग्य पुष्टि करनेवाले सर्वसाधारणसे जानने योग्य तथा जिसको देवोंने प्रज्वलित किया है ऐसे अग्निकी (गिरा अभ्यर्चस) स्तुतियुक्त वाणियोंसे तू अभ्यर्चना करता है। (सूर्यामासा चन्द्रमसा) सूर्य तथा चन्द्रमा निर्माण करनेवाले चन्द्रमाको (दिवि यमं) द्युलोकमें विद्यमान यमको (त्रित वात) तीनों लोकोंमें विस्तृत वायुकी (उषस) उषाकी (अक्तुं) रात्रिको व (अश्विनौ) देवोंके वैद्य अश्विनौ की भी स्तुति कर।

यहां पर इतना बताया गया है कि यमकी द्युलोकमें स्थिति है। पूर्व मंत्रमें यह पता चला था कि यमकी दिशा दक्षिण है। इसका मतलब यह हुआ कि द्युमें दक्षिणकी ओर कहीं पर यमलोक है।

हमें पितृलोकके प्रकरणमें 'उदन्वती द्यौरवमा' इत्यादि मंत्रसे पता चला था कि तीन द्यु हैं। उनमेंसे प्रथममें जल रहता है, द्वितीयमें सूर्यादि नक्षत्रगण रहते हैं तथा तृतीयमें पितर रहते हैं।

अब हमने यह देखना है कि इन तीनोंमेंसे यमकी द्यु कौनसी है। इसके निर्णयके लिए हमें पितृलोकमें आया हुआ 'तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्था' इत्यादि मंत्र सहायता देता है। इस मंत्रमें यह कहा गया है कि तीन द्युलोक हैं, जिनमेंसे दो सूर्यके समीप हैं। वे दो सूर्यके समीपवाले द्यु जलवाली व नक्षत्रोंवाली हैं। तीसरेमें सूर्य है और उसके ऊपर नाकवाली द्यु है। आगे चलकर इसी मंत्रमें कहा है कि तीसरी जो द्यु है वह यमलोकमें है, जिसमें वीरजन निवास करते हैं। इसी द्युका वर्णन करते हुए वेदवत् यौवनमें कहा है कि इनाका सम्प्रति स्वर्ग। और नाकमें बसनेवाले रहते हैं और वह स्वर्ग यहीं यमलोकमें विद्यमान द्यु है। क्योंकि वहां पर विजयको प्राप्त हो रहा है। इस प्रकार इन दोनों मंत्रोंका अभिप्राय यह हुआ कि यमलोकमें जो द्यु है वह उदन्वती अर्थात् जिसमें जल रहता है वह भी नहीं है और जिसमें नक्षत्र रहते हैं वह भी नहीं है। पारिशेष न्यायसे वह वहीं

जब यहाँ यह यमलोकमें है, यह मानना पडेगा। तीसरी द्युमें पितर रहते हैं अतः पितर यमलोकमें रहते हैं यह भी इसका अभिप्राय हुआ। यमलोकका यम राजा है, अतः पितर उसकी प्रजा हुए। पितर यमराज्यमें रहते हैं इस परिणामकी निम्न मन्त्र पुष्टि कर रहा है—

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये।
तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम्॥
यजुः १९।४५॥

(यम-राज्ये) यमके राज्यमें (ये पितरः समानाः समनसः) जो पितर समान तथा समनस् अर्थात् एक संकल्पवाले हैं (तेषां) उन पितरोंके अर्थ दिए गए (लोकः स्वधा नमः यज्ञः) लोक स्वधा नमस्कार व यज्ञ (देवेषु कल्पताम्) देवोंमें समर्थ होवे अर्थात् निष्फल न हों।

इस मन्त्रमें पितर यमराज्यमें हैं यह दर्शाया है। पितरोंका स्थान तीसरी द्यु है। अतः यह द्यु यमके राज्यमें ही है यह इस मन्त्रसे स्पष्ट हो रहा है।

यमका राज्य तीसरी द्युमें है और उसमें जाके पुरुष अमर हो जाता है यह निम्नलिखित मन्त्र बता रहा है—

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः।
यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥
ऋ० ९।११३।८॥

(यत्र) जहांपर (वैवस्वतः राजा) विवस्वान्‌का पुत्र यम राजा है जहां कि (दिवः अवरोधनं) द्युलोककी समाप्ति है जहां तथा जहां (अमूः) वे (यह्वतीः आपः) बडे बडे जल हैं (तत्र) वहां (मां अमृतं कृधि) मुझे अमृत बना। (इन्दो) हे इन्दु! (इन्द्राय) ऐश्वर्यके लिए (परि स्रव) चारों ओरसे बह अर्थात् मुझे ऐश्वर्य दे।

इस उपरोक्त विवेचनसे हम निम्न लिखित परिणाम पर पहुंच सकते हैं— यमलोक जहां कि यमका राज्य है दक्षिण दिशाकी ओर स्थित तृतीय द्युमें है। वहां पितर रहते हैं। यम उनका राजा है व वे उसकी प्रजा हैं। यह बात पितर व यमके प्रकरणमें आगेके लेखोंमें और भी अधिक स्पष्ट हो जाएगी। निम्न मन्त्रमें अलंकार रूपमें उस विराट्‌का वर्णन प्रतीत होता है। उस विराट्‌को बैलकी उपमा करके उसका वर्णन किया गया है।

प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो।
अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम्॥ अथर्व ९।७।१॥

उस विराट् बैलके (प्रजापतिः च परमेष्ठी च) प्रजापति व परमेष्ठी ये दोनों (शृङ्गे) दो सींग हैं यानि शृङ्गस्थानीय हैं। (इन्द्रः शिरः) इन्द्र उसका सिर है अर्थात् इन्द्र सिरःस्थानीय है। (अग्निः ललाटं) अग्नि उसका ललाट (माथा) है और (यमः) यम उसकी (कृकाटं) गर्दनका भाग है।

यमको विराट्‌की रचनामें गर्दनमें स्थान मिलता है अर्थात् यमकी स्थिति उसके शरीरमें गर्दनस्थानीय है।

इस प्रकरणसे हमें यमलोक यमराज्य तथा उसकी स्थिति का पता लगता है। अब अगले प्रकरणमें हम यमराजके दूतोंपर विचार करेंगे।

यमके दूत।

इस प्रकरणमें यमके दूतोंका अस्तित्व स्वरूप तथा कार्य दर्शाया जायगा। निम्न लिखित मंत्रोंमें यमके दूत होनेके विषयमें उल्लेख है—

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति।
वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान्॥
अथर्व ८।२।११॥

(ते) तेरे (प्राणापानौ) प्राण और अपानको (कृणोमि) स्थिर करता हूं। और (दीर्घं आयुः) दीर्घ आयुको तथा (स्वस्ति) कल्याणको भी तेरे लिए स्थिर करता हूं। (जरां मृत्युं) बुढापे व मृत्युको दूर भगाता हूं। (वैवस्वतेन प्रहितान् चरतः सर्वान् यमदूतान्) विवस्वान्‌के पुत्र यमसे भेजे हुए संसारमें विचरण करते हुए सब यमके दूतोंको (अप सेधामि) दूर भगा देता हूं।

इस मन्त्रमें यमदूतोंका उल्लेख है। यम उन्हें प्राणियोंको लानेके लिए संसारमें भेजता है। उन दूतोंको दूर भगानेका निर्देश यहां है।

यमदूता अमूनुत मृत्युदूता अपोम्भत। परः
सहस्रा हन्यन्तां तृणेढ्वेनान् मत्यं भवस्य॥
अथर्व ८।८।११॥

(मृत्युदूताः) हे मृत्युके दूतो! (अमून्) इन शत्रुओंको (नयत) ले जाओ। हे (यमदूताः) यमके दूतो! (अप उम्भत) इन्हें पकडकर बांध लो ताकि छूट कर भाग न सकें। (परः सहस्राः) हजारोंकी संख्याओंसे भी अधिक (हन्यन्ताम्) मारे जावें। (एनान्) इन शत्रुओंको (मत्यं

कर्ण) अथवा मुखी अर्थात् पूँछ (दुम्बे) चूर चूर कर सके।

इस मंत्रमें शत्रुओंके विनाशके लिए यमदूतोंको कहा गया है। परन्तु यमदूतोंका अर्थ है, वह यहां पर स्पष्ट हो रहा है। इस प्रकार इन मंत्रोंमें यमदूतोंका परिचय व कार्य दर्शाया गया है। अब हम देखेंगे कि वे यमदूत कौन हैं व इनका स्वरूप क्या है।

यमदूत—श्वान (कुत्ते)

अतिद्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा। अथा पितॄन्त्सुविदत्रां उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति॥ ऋ० १०।१४।१०॥

यही मंत्र अथर्ववेदमें थोड़ेसे पाठभेदके साथ इस प्रकार है—

अति द्रव श्वानौ सारमेयौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा। अधा पितॄन्त्सुविदत्रां अपीहि यमेन ये सध मादं मदन्ति॥ अथर्व १८।२।११॥

(सारमेयौ) सारमेय (चतुरक्षौ) चार आंखोंवाले (शबलौ) चित्रविचित्र रंगबिरंगी (श्वानौ) दो कुत्तों से (अति) बचकर (साधुना पथा) उत्तम मार्गसे (द्रव) जा। (अथ) और (सुविदत्रान् पितॄन्) उत्तम ज्ञान या धन से युक्त—युक्त पितरोंके (उप इहि) समीप जा। (ये) जो कि पितर (यमेन सधमादं मदन्ति) यमके साथ आनन्द आनन्दित हो रहे हैं।

सारमेयौ—सायणाचार्यने इसका अर्थ किया है कि सरमा नामकी देवोंकी कुत्ती है उसके बच्चे। सरमा शब्द सृ गतौ धातुसे बाहुलकसे अम करने पर बनता है। जिसका अर्थ है शीघ्र दौड़नेवाली। उसका पुत्र सारमेय। बोलचाल भाषामें सारमेयका अर्थ कुत्ता प्रचलित है। अस्तु। तथापि इस सारमेय का अर्थ बहुत दौड़नेवाला ऐसा कर सकते हैं।

इस मंत्र में प्रेतको कहा गया है कि यमके दोनों कुत्तोंसे जो कि रंगबिरंगे हैं उनसे बचकर उत्तम मार्गसे पितरोंके पास जा जो कि पितर यमके साथ आनन्दित हो रहे हैं। यद्यपि इस मंत्रमें यमके कुत्तोंको यमदूतके नामसे नहीं कहा गया है तथापि आगे आनेवाले मंत्रोंमें उन्हें यमदूतके नामसे कहा गया है व उनमेंसे प्रत्येकके रंग आदिका वर्णन है। यहां पर उन्हें शबल कहा है जिससे कि स्पष्टीकरण यहां है।

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ। ताभ्यामेनं परि देहि राजन् स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि॥ ऋ० १०।१४।११ अथर्व १८।२।१२

(यम) हे यम! (ते यौ) तेरे जो (रक्षितारौ) रक्षा करनेवाले (चतुरक्षौ) चार आंखोंवाले (पथिरक्षी) मार्ग में आनेके रस्ते की रक्षा करनेवाले तथा (नृचक्षसौ) मनुष्यों के देखनेवाले (श्वानौ) दो कुत्ते हैं हे राजन्! (ताभ्यां) उन दोनों कुत्तों द्वारा (एनं) इसको (स्वस्ति) कल्याण (देहि) दे अर्थात वे कुत्ते इसे हानि न पहुंचावें ऐसा कर। (च) और (अस्मै अनमीवं धेहि) इसके लिए नीरोगिता—रोगरहितता दे। इसे कभी रोग न सतावें।

इस मंत्रमें यमसे कहा गया है कि वह अपने कुत्तोंसे किसी भी प्रकारका अकल्याण न होने देवे सर्वदा कल्याण व आरोग्य देता रहे।

उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु। तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्॥ ऋ० १०।१४।१२

अथर्व १८।२।१३

(उरूणसौ) लम्बी नाकवाले (असुतृपौ) प्राणों के भक्षणसे तृप्त होनेवाले (उदुम्बलौ) विस्तृत बलवाले अर्थात् अत्यन्त बलवान् (यमस्य दूतौ) यमके दूत उपरोक्त दोनों कुत्ते (जनाँ अनुचरतः) मनुष्यों के पीछे पीछे विचरण करते रहते हैं। ताकि अवसर मिलते ही उनके प्राणोंसे अपनी तृप्ति करें। (तौ) ऐसे वे यमदूत कुत्ते (अस्मभ्यं) हमारे लिए (सूर्याय दृशये) सूर्य के दर्शनार्थ अर्थात् इस लोकमें जीनेके लिए (अद्य) आज (इह) यहां (भद्रं असुं) कल्याणकारी प्राणको (पुनः) फिर (दाताम्) देवें। वे हमारे प्राणोंको छीन कर हमें मार न डालें अपितु उल्टा प्राणों को देवें ताकि हम यहां जीवित रह सकें।

इस मंत्रमें पूर्व मंत्रोक्त यमदूत कुत्तोंके स्वरूप का वर्णन है। वे लम्बी लम्बी नाकवाले अत्यन्त बलवान् व प्राणोंके भक्षण से तृप्त होनेवाले हैं। उनसे प्राणोंकी भिक्षा इस लोक में मांगी गई है।

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ। अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ् मनाः॥ अथर्व ८।१।९

(श्यामः) काला (च) और (शबलः) चितकबरा ऐसे रक्षिरूपी (यौ) जो दो (यमस्य) यमके (पथिरक्षी) यमलोकके मार्गकी रक्षा करनेवाले (श्वानौ) कुत्ते हैं वे (त्वा) तुझे (मा प्रेषितौ) मत बाधा पहुंचावें। (अर्वाङ् एहि) हमारे सम्मुख आ। (मा विदीध्यः) विरुद्ध मत हो अर्थात् हमें छोडकर अन्य लोकमें शोभित मत कर। (अत्र) यहां इस संसारमें (पराङ्मनाः) विक्षिप्तचित्त हुआ हुआ (मा तिष्ठः) मत स्थित हो। उदासीन वृत्ति धारण मत कर।

इस मंत्रसे ऐसा पता लगता है कि यमके भी दो कुत्ते हैं उनमेंसे एक तो काले रंगका है तथा दूसरा काले सफेद आदि रंगोंसे मिश्रित चितकबरा है। इस मंत्रमें जो काला व चितकबरा। इनके यमके दूत कुत्तोंका वर्णन है वह आलंकारिक रूपसे रात व दिनका वर्णन प्रतीत होता है। काला कुत्ता रात है और सफेद कुत्ता दिन है। ये दिनरात मनुष्योंके पीछे प्राण हरण करनेके लिये लगे हुए हैं। ज्यों ज्यों दिन व रात गुजरते जाते हैं त्यों त्यों मनुष्यकी आयु क्षीण होती जाती है। अतः संभव है ये दिन व रात वास्तवमें यमके दूत हों और उनका यमके श्वान (कुत्ते) करके वर्णन किया हो। यहां पर एक और भी शंका उठ सकती है और वह यह कि श्वान शब्दसे ही क्यों यमके इन दूतोंका उल्लेख किया गया ? कुत्तेके लिए दूसरे अनेक शब्द विद्यमान हैं ही। परन्तु पाठकोंको ध्यानमें रखना चाहिए कि श्वान शब्द हमारी ऊपर की कल्पनाको और भी दृढ करता है। श्वान शब्दके अर्थपर विचार करनेसे उपरोक्त शंका स्वयमेव शांत हो जाती है और इस श्वान द्वारा किए गए आलंकारिक वर्णनका महत्त्व अर्थात होने लगता है। श्वानका अर्थ है (श्वा = श्व = कल न = नहीं) जो आने वाली कलमें न रहे अर्थात् जो आज तो है पर कल न रहेगा। जो दिन व रात एक बार निकल गए, वे फिर दुबारा लौटकर नहीं आते। अब पाठक श्वान शब्द के महत्त्वको समझ गए होंगे कि क्यों यमके इन दोनों श्वानके नामसे कहा गया है और उनसे किससे किस प्रकार दिन व रातका वर्णन किया गया है। परन्तु जबतक इस विषयमें पूर्ण खोज न की जाये तबतक निश्चयसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता। पाठक इस पर विचार करेंगे ऐसी आशा है। उपरोक्त मंत्रके उत्तरार्धके आशयको आगे लिखे मंत्रमें अधिक स्पष्ट किया गया है

इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह।
दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि॥

अथर्व ८।१।७॥

हे पुरुष ! (सर्वेण मनसा सह) संपूर्ण मनके साथ अर्थात् मन लगाकर (इह) यहां इस संसारमें रहता हुआ (एधि) वृद्धिको प्राप्त कर। (यमस्य दूतौ) उपरोक्त यमके दोनों दूतोंके [मा अनुगाः] पीछे मत जा अर्थात् यमलोकमें मत जा। [जीवपुराः] जीवोंके पुरोंको अर्थात् शरीरोंको [अधि इहि] प्राप्त कर शरीर को छोडकर यमलोकमें मत जा।

उपरोक्त मंत्रके उत्तरार्धका इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे पल्लवन किया गया है। यमके दूतों का अनुसरण करने अर्थात् मरनेका निषेध करते हुए देह धारण कर मन लगाकर संसारमें रहनेका उपदेश है।

इन उपरोक्त मंत्रोंसे निम्न बातें निकलती हैं

(१) यमके दूत दो कुत्ते हैं।

(२) वे दोनों कुत्ते क्रमशः काले व चार आंखोंवाले हैं।

(३) उनमेंसे एक कुत्ता काला व एक चितकबरा है।

(४) उनकी तृप्ति प्राणोंके भक्षण से होती है। वे मनुष्यों के पीछे सर्वदा प्राणापहरण के लिए लगे रहते हैं। यमलोकमें जानेके मार्गकी वे सर्वदा रक्षा करते रहते हैं।

यमका दूत ‘ मृत्यु ’।

अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परि ग्रामादितः।
मृत्युर्यमस्यासीद्दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयां
चकार॥ अथर्व १८।२।२७॥

प्राणधारी जनोंने इस जनको घरोंसे बाहर कर दिया है। उसको तुम लोग इस ग्रामसे बाहर अन्त्येष्टि संस्कारके लिए श्मशानभूमिमें ले जाओ। यमका दूत जो मृत्यु है उसने इसके प्राणोंको पितरोंके पास यमलोकमें भेज दिया है। अतः क्योंकि यह निष्प्राण हो चुका है इस वास्ते इसको ग्रामसे बाहर दाहादि क्रियाके लिए ले जाओ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि मृत्यु यमका दूत है जो मृतके प्राणोंको पितरोंके पास पहुंचाता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मरनेपर जीव पितृलोकमें जाता है।

यह मंत्र भी पूर्वोक्त निम्न लिखित परिणामों को पुष्ट करता है।

(१) यम प्राणोंका अपहरण करनेवाला है क्योंकि मृत्यु उसका ही दूत है।

(२) पितृलोक यमके राज्यमें है; क्योंकि मृत के प्राणोंको पितरों के पास पितृलोकमें यमका दूत मृत्यु पहुंचाता है।

पाठकगण यमके दूतों संबन्धी इस उपरोक्त विवेचनसे यह कदापि न समझें कि यमके ये तीन (दो कुत्ते व तीसरा मृत्यु) ही दूत हैं। और भी अनेक दूत हैं। पर ये उनमें से प्रधान-मुख्य हैं अतः इनका विशद रूपसे वर्णन किया गया है। हम इस प्रकरणके प्रारंभमें ही एक ऐसा मंत्र देख आए हैं जिससे सहज पता चलता है कि यमके अनेक दूत हैं। उनका निर्देश मात्र है। विशदों का मात्र विस्तार वर्णन है। उस यमके अनेक दूत बतानेवाले मंत्रको मूल रूपसे हम पुनः यहां दिग्दर्शन कराते हैं–

> [illegible] मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत। परः सहस्रा हन्यन्तां तृणेढ्वेनान् मत्यं भवस्य॥
>
> अथर्व० ८।८।११॥

इसके अतिरिक्त अन्य भी ऐसे मंत्र हैं जिनमें यमके अनेक दूतोंका उल्लेख है।

यमका पितृयाणमार्ग जानना।

> यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ। यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः॥
>
> ऋ० १०।१४।२॥
>
> अथर्व १८।१।५०॥

(प्रथमः यमः) वह प्रसिद्ध यम (नः गातुं विवेद) हमारे मार्ग को जानता है। (एषा गव्यूतिः) यह मार्ग किसीसे भी (अपभर्तवै उ) अपहरण नहीं किया जा सकता। (यत्र) जिस मार्ग से (नः पूर्वे पितरः) हमारे पुरातन पितर (परेयुः) चले गए हैं। (एना) इस मार्गसे (जज्ञानाः) उत्पन्न प्राणी गण (स्वाः पथ्याः) अपने अपने पथ्यों के अनुसार (अनु) चलते हैं।

यहांपर यम उस मार्गको (पितृयाणको) जानता है जिससे कि पितर जाते हैं व अन्य उनका अनुगमन करते हैं यह दर्शाया है।

यमकी स्वर्गमें पहुंचानेके लिए सहमति।

> नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम्। यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाके अधि रोहयेमम्॥
>
> यजुः १२।६३

हे [निर्ऋते] निर्ऋति! [ते नमः] तेरे लिए नमस्कार है। [तिग्मतेजः] तीक्ष्ण तेजवाली तू [अयस्मयं एतं बन्धं] लोहेके इस बन्धनको [विचृत] काट डाल। [त्वं] तू [यमेन यम्या संविदाना] यम व यमीके साथ मिलकर [इमं] इसको [उत्तमे नाके] उत्तम स्वर्गमें [अधिरोहय] पहुंचा।

इस मंत्रमें निर्ऋतिका यमके साथ एकमत होकर स्वर्गमें पहुंचानेका उल्लेख है। अर्थात् स्वर्गमें जानेके लिए यमकी भी सहमति चाहिए।

यमका दीर्घायु देना।

> कर्मो मायो न इमं जजानास्माकामाधिपत्यं जगाम। तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात्॥
>
> अथर्व १८।४।५४॥

[यः] जिस [कर्मः मायः] प्रजाके निर्माण करनेवालेने [इमं] इस भवको [जजान] पैदा किया है और जो [अस्मा] अस्मा होनेसे [यमराज्यं आधिपत्यं] अर्थात् आधिपत्यको प्राप्त हुआ है ऐसे [तं] उसकी हे [विश्वमित्राः] सबके मित्रो! [हविर्भिः] हविर्योंद्वारा [अर्चत] पूजा करो। [सः] वह [यमः] यम [नः] हमें [प्रतरं जीवसे धात्] बहुत जीनेके लिए धारण करे अर्थात् दीर्घायु देवे।

यमकी मनुष्योंसे रक्षा।

> सूर्यो माह्नः पात्वग्निः पृथिव्या वायुरन्तरिक्षाद् यमो मनुष्येभ्यः सरस्वती पार्थिवेभ्यः॥
>
> अथर्व १६।४।४॥

[सूर्यः] सूर्य [अह्नः] दिनसे अर्थात् दिन में होनेवाले कष्टोंसे [मा पातु] मेरी रक्षा करे। [अग्निः] अग्नि [पृथिव्याः] पृथिवीसे [वायुः अन्तरिक्षात्] वायु अन्तरिक्षसे [यमः मनुष्येभ्यः] यम मनुष्यों से तथा [सरस्वती पार्थिवेभ्यः] सरस्वती पार्थिव पदार्थोंसे मेरी रक्षा करे।

यमकी मृत्युसे रक्षा।

> अपाम्बुपा चैत्रेण वप अभिरक्षसी पाता अविता बृहस्पतिः। सोमो राजा वरुणो अश्विना यमः पूषास्मान् परिपातु मृत्योः॥ अथर्व १६।२।११॥

[यं चैत्रेण वर्षं] जिस पुरुषार्थकी रक्षक अर्थात् पुरुष के मूलको पशुओंने [अपाम्बुपाः] मिलकर किया है वह यम व वरुण देनेवाली [मृत्योः] मृत्युसे [हमको]

इन्द्र और अग्नि [धाता] धारण करनेवाला [सविता] प्रेरणा करनेवाला [बृहस्पतिः] ऋषियोंका अधिपति, [सोमः राजा] सोम्य स्वभाववाला राजा [वरुणः] वरुण [अश्विना] देवों के वैद्य अश्विनौ [यमः] यम तथा [पूषा] पोषक देव [अस्मान्] हमारी [परि पान्तु] रक्षा करें।

मन्त्रमें प्रत्येक देवतासे पुरुष की हिंसा से रक्षा करने की प्रार्थना की गई है। उनके साथ यम से भी मृत्युसे रक्षा कर देने के लिये कहा गया है। यम के अनेक कार्य हैं जैसा कि पाठकोंको यमके प्रकरणसे पता चलेगा। यहां पर सिर्फ मौतसे मन्त्रों का विवरण कि अन्यत्र समावेश नहीं हो सका है दर्शाए गए हैं।

यमके प्रति हमारे कार्य।

यमके लिए हवि।

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्। वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य॥ ऋ १।१४।१

[प्रवतः] प्रकृष्ट उत्तम तथा निकृष्ट नीच प्रवृत्तियोंका [अनु] अनुसरण करके [महीः परेयिवांसं] पृथिवीपर आए हुए तथा [बहुभ्यः] बहुतोंके लिए [पन्थां] यमलोकके मार्ग को [अनुपस्पशानं] दर्शाते हुए [जनानां संगमनं] जिसमें मनुष्य जमा होते हैं ऐसे [वैवस्वतं] विवस्वान् के पुत्र [यमं राजानं] यम राजा की [हविषा दुवस्य] हवि देकर पूजा कर।

हमने पहिले देखा है कि यम के दूत मनुष्योंके पीछे पड़े हुए हैं। यहांपर इसी भाव को भिन्न रूपसे दर्शाया है। यम सबके पीछे लगा हुआ है। जिस किसकी अवधि पूर्ण हुई कि उसे यमलोक का मार्ग वह दर्शाता है।

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः॥ ऋ १।१४।१३

यह मंत्र थोड़ेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें है—

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः॥ अथर्व १८।२।१

[यमाय सोमं सुनुत] यमके लिये यज्ञमें सोम को निचोड़ो। [यमाय हविः जुहुत] यमके लिये यज्ञ में हवि दो। [ह] निश्चयसे [अरंकृतः अग्निदूतः यज्ञः यमं गच्छति] शोभित करता हुआ अग्नि जिसका दूत है ऐसा यज्ञ यमके पास जाता है।

इस मंत्रमें यमके लिए सोम व हवि देनेका उल्लेख है। यमके लिए किया गया यज्ञ उसे प्राप्त होता है यह भी साथ दर्शाया गया है।

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत।
स नो देवेष्वा यमद्दीर्घमायुः प्रजीवसे॥ ऋ १।१४।१४

अथर्ववेदमें थोड़ेसे पाठभेदके साथ यह मंत्र इस प्रकार है—

यमाय घृतवत् पयो राज्ञे हविर्जुहोतन।
स नो जीवेष्वा यमेद् दीर्घमायुः प्रजीवसे॥ अथर्व १८।२।३

(यमाय) यमके लिये (घृतवत् हविः) घीसे परिपूर्ण हविको (जुहोत) दो। और इस प्रकार (प्रतिष्ठत) प्रतिष्ठित होओ। (सः) वह यम (नः) हमें (प्रजीवसे) उत्तम प्रकारसे जीनेके लिए (देवेषु) देवोंमें (नः) हमें (दीर्घमायुः आयमत्) दीर्घायुष्यको देवे।

इस मन्त्रमें यमके लिये घीसे परिपूर्ण हविसे देनेकी व दीर्घायु देनेकी प्रार्थनाका उल्लेख है।

यमके लिये अन्नकी हवि

यद् यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया। वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम्॥ अथर्व ६।११६।१

(अग्रे) पहिले (निखनन्तः) भूमि खोदते हुए अर्थात् कृषि करते हुए (अन्नविदः) अन्नको पानेवालेके समान अन्न की प्राप्ति किस प्रकारसे होती है इस बातके जाननेवाले अन्नकी प्राप्ति करनेवाले (कार्षीवणाः) किसानोंने (न विद्यया) अज्ञानके कारण (यद् यामं चक्रुः) जो यमसंबंधी अपराध किया अथवा [अन्नविदः न] अन्नोंको प्राप्त करनेवालोंकी तरह [यद् यामं चक्रुः] जो हविसंबन्धी नियमभङ्ग बनाया [तत्] वह अपराध आदिको [वैवस्वते राजनि] वैवस्वत राजा यमके [जुहोमि] देता हूं [अथ] और तब [नः] हमारा [यज्ञियं अन्नं मधुमत् अस्तु] यज्ञके योग्य जो अन्न है वह मधुरतावाला होवे।

इस मंत्रमें यमोंके उत्पन्न करनेका अथवा यमके लिये इनका निर्देश है।

यमकी पूजा।

उ ति द्यावापृथिवी भूरिरेतसा नराशंसश्चतुरङ्गो यमोऽदितिः। देवस्त्वष्टा द्रविणोदा ऋभुक्षणः प्र रोदसी मरुतो विष्णुरर्हिरे ॥ ऋ १।१२२।११॥

(हे भूरिरेतसा द्यावापृथिवी) हे बहुत बलवाली पृ और द्युलोक, (यमः) यम (अदितिः) अदिति (त्वष्टा देवः) त्वष्टा देव (द्रविणोदाः) अग्नि (ऋभुक्षणः) ज्ञानी या कारीगर गण (रोदसी) रुद्रकी पत्नी (मरुतः) देवगण तथा (विष्णुः) विष्णु ये सब (नराशंसः चतुरङ्गः) नराशंस चतुरङ्ग (अर्हिरे) पूजे जाते हैं। यहां अन्योंके साथ यमकी भी पूजाका संकेत है।

यमके लिये घर बनाना।

यथा यमाय हर्म्यमवपन् पंचमानवाः।
एवा वपामि हर्म्यं यथा मे भूरयोऽसत ॥
अथर्व १८।४।५५॥

(यथा) जिस प्रकार (पंचमानवाः) पांचमानवोंने (यमाय) यमके लिए (हर्म्यं) घरको (अवपन्) बनाया है (एव) उसी प्रकार मैं भी (हर्म्यं वपामि) घर बनाता हूं (यथा) जिससे कि (मे) मेरे (भूरयः) बहुतसे घर (असत) हो जायें।

पंचमानवाः—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण व पांचवा निषाद। अथवा देवमनुष्यादि पूजन जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मणमें कहा है— सर्वेषां वा एतत् पंचजनानां उक्थं देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां पितॄणां च। एतेषां वा एतद् पंचजनानां उक्थम् इति। ऐ. ब्रा ३।३१॥

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि जिसको अपने बहोत घरोंकी इच्छा हो वह यमके लिए घर बनावे। पंच मानव यमके लिए घर बनाते हैं।

यमके लिये स्वधा-नम।

यमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ अथर्व १८।४।७४॥

(पितृमते यमाय) उत्कृष्ट पिताके पुत्र यमके लिए स्वधा और नमस्कार है। यहां यमके लिए स्वधाका निर्देश है।

इस प्रकार इस विभागमें संक्षेपसे यमके लिए हमें क्या करना चाहिए यह दर्शाया गया है।

यम और स्वप्न।

इस प्रकरणमें यमके साथ स्वप्नका क्या संबन्ध है उसकी उत्पत्ति कैसे होती है इत्यादि बातोंकी चर्चा होगी।

स्वप्नका पिता यम।

यो न जीवोऽसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि
स्वप्न। वरुणानी ते माता यमः पिताररुर्नामासि ॥
अथर्व ६।४६।१॥

हे स्वप्न! (यः) जो तू (न जीवः असि न मृतः) न तो जीवित ही है और नहीं मरा हुआ ही है वह तू (देवानां अमृतगर्भः असि) देवोंका अमृत गर्भ है अर्थात् देवोंमें गर्भरूप रहनेवाला है। (ते) तेरी (वरुणानी माता) वरुणानी माता है और (यमः पिता) यम पिता है। (अररुः नाम असि) तू अररु नामवाला है।

देवानां—यहां देवानां का अर्थ इन्द्रियोंका है। स्वप्न इन्द्रियोंमें अमृत रूपसे बना हुआ है। क्योंकि जाग्रत अवस्थामें इन्द्रियोंके अनुभवोंसे उत्पन्न वासनाओंसे वह उत्पन्न होता है। हमारे अन्दर वासनायें स्थायी हैं अतः स्वप्न उन वासनाओंसे उत्पन्न होनेसे अमृत है, अतएव उसे यहां अमृतगर्भसे कहा गया है।

अररु— पीडा देनेवाला हिंसक। ऋगतिहिंसयोः से बना है। तै ब्रा ३।२।९।७ के अनुसार अररु नामवाला असुर।

वरुणानी—वरुण अर्थात् अंधकार की पत्नी।

इस प्रकार इस मंत्रमें यमको स्वप्नका पिता क। गया है। अर्थात् स्वप्न यमका पुत्र है। अतएव कई बार स्वप्नसे मृत्यु भी हो जाता है।

यमस्य लोकादध्या बभूविथ प्रमदा मर्त्यान्
प्रयुनक्षि धीरः। एकाकिना सरथं यासि विद्वान्
स्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ ॥
अथर्व १९।५६।१॥

हे स्वप्न! तू (यमस्य लोकात्) यमके लोकसे (अधि आ बभूविथ) प्रकट हुआ हुआ है। (धीरः) धीठ तू (प्रमदा) बडे आनन्दसे (मर्त्यान्) मनुष्योंको (प्रयुनक्षि) अपने साथ संयुक्त करता है अर्थात् अपने

समावसे मनमें प्रविष्ट हो जाता है अतएव मनुष्योंको स्वप्न आता है। (विद्वान्) जानता हुआ अर्थात् जानबूझकर तू (मधुरस्य योषो) मासमाके उत्पत्तिके स्थान हृदय में (स्वप्नं मिमानः) स्वप्नको उत्पन्न करता हुआ (एकाकिना) अकेले स्वप्नदर्शी पुरुष या मृत्युके साथ [वरुण] समान वाहनपर सवार हुआ हुआ [यासि] विचरण करता है।

पूर्व मंत्र में यमको स्वप्नोंका पिता दर्शाया गया है। इस मंत्र में उसीकी पुष्टिके रूपमें बताया गया है कि स्वप्न यमलोकमें उत्पन्न होकर यहांपर संसार में आकर मनुष्योंमें प्राप्त हुआ हुआ है।

स्वप्न, यम का करण।

> विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि
> यमस्य करणः। अन्तकोऽसि मृत्युरसि। तं
> त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्
> ष्वप्न्यात् पाहि ॥ अथर्व ६।४६।२ ॥

हे स्वप्न ! [ते जनित्रं विद्म] तेरी उत्पत्तिको हम जानते हैं। तू [देवजामीनां पुत्रोऽसि] देवोंकी पत्नियोंका पुत्र है और [यमस्य करणः] यमके कार्योंका साधक है। तू [अन्तकः असि] अन्त करनेवाला है। [मृत्युः असि] तू मारनेवाला है। हे स्वप्न ! (तं त्वा) उस तुझको [तथा] वैसा यथार्थ जैसा [सं विद्म] हम जानते हैं। [सः] वह तू स्वप्न ! [नः दुष्ष्वप्न्यात्] बुरे स्वप्न से हमारी [पाहि] रक्षा कर।

इस मंत्र में स्वप्नको देवपत्नियोंका पुत्र कहा गया है। पूर्व मंत्रकी टिप्पणीमें हमने स्वप्नकी उत्पत्ति दर्शाते हुए यह बताया था कि वह अव्यक्त इन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न वासनाओंसे स्वप्नकी उत्पत्ति होती है। उसी कथनकी पुष्टि इस मंत्र में देवजामीनां पुत्रः असि से की गई है। देवों अर्थात् इन्द्रियोंकी पत्नियां इन्द्रियविषयजन्य वासनायें हैं। स्वप्न उनका पुत्र है। यहां पर विशेष बात कही गई वह यह कि स्वप्नको यमका करण बताया गया है। पाणिनि मुनिने करणका लक्षण अष्टाध्यायी में किया है कि— साधकतमं (अष्टा १।४।४२) अर्थात् जो कार्यसाधनमें सर्वोत्तम साधन है वह करण है। कार्यसाधक सब साधनों में जो साधन अधिक आवश्यक है वह करण कहलाता है। इस लक्षणानुसार यमका करण है इसका अभिप्राय यह हुआ कि यमके मारने के कार्यमें स्वप्न सब से अधिक आवश्यक साधन है पाठक स्वप्नके इस विवेचन से उसकी भयंकरताका अनुमान सहज कर सकते हैं।

इसी मंत्र के भावको ही नीचे लिखे मंत्रमें दूसरे शब्दोंसे कहा गया है—

> देवानां पत्नीनां गर्भ यमस्य कर यो भद्रः स्वप्न।
> स मम यः पापस्तद् द्विषते प्र हिण्मः।
> मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेर्मुखम् ॥ अथर्व १९।५७।३॥

हे (देवानां पत्नीनां गर्भ) देवोंकी पत्नियों के गर्भरूप तथा (यमस्य कर) यमके हाथ स्वप्न ! (यो भद्रः) जो कल्याणकारी तेरा अंश है (सः) वह अंश (मम) मेरा होवे। (यः पापः) और जो तेरा पापी—अनिष्टकारी अंश है [तद्] उस अंशको [द्विषते] द्वेष करनेवालेके प्रति [प्रहिण्मः] हम भेजते हैं। [तृष्टानां] तृषितों-लोभियों-दुष्टोंके और [कृष्णशकुनेः] काले पक्षीके [कौएके] [मुखं] मुखकी तरह तू [मा असि] हमारे लिए बाधक मत हो, अर्थात् जिस प्रकार लोभियोंको या दूसरों के लिए कौए का मुख अनिष्टकारी होता है उस प्रकार तू हमारे लिए अनिष्टकारी मत हो।

> विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य
> करणः ॥ अथर्व १६।५।१ ॥

हे स्वप्न ! [ते जनित्रं विद्म] तेरी उत्पत्तिको हम जानते हैं। तू [ग्राह्याः पुत्रः असि] ग्राही का पुत्र है और [यमस्य करणः] यम के कार्योंका साधक है।

इस मंत्र में स्वप्नको ग्राही का बेटा कहा गया है। बढ़िया आदि शरीरको जकड़नेवाले रोग ग्राही कहलाते हैं। इन रोगोंके कारण शरीर में पीड़ा बनी रहती है, जिससे निद्रा नहीं आती और यदि आई भी तो स्वप्नोंकी अवस्था बनी रहती है। अतएव स्वप्नको ग्राहीका पुत्र कहा गया है। यमका करण की व्याख्या ऊपर कर आए हैं।

> अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥ अथर्व १६।५।१;
> १६।५।५

हे स्वप्न ! तू (अन्तकः असि) प्राणान्त करनेवाला है। तू (मृत्युः असि) मारनेवाला है।

निद्रा बराबर न आनेसे व रोज स्वप्न आनेसे स्वास्थ्य बिगड़कर अन्तमें मृत्यु हो जाती है अतएव स्वप्नको यहां अन्तक व मृत्युके नामसे कहा गया है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्ऋत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तकोऽसि मृत्युरसि । तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुःष्वप्न्यात् पाहि ॥

अथर्व १६।५।४॥

मंत्रका अर्थ हम ऊपर दे आए हैं । यहां पर ऐसा ही मंत्र आया है । इस मंत्र में स्वप्न को निर्ऋतिका पुत्र कहा गया है । निर्ऋति से स्वप्न की उत्पत्तिका अभिप्राय यह है कि निर्ऋति अर्थात् कष्ट, दुःख आदि से मनुष्य को निद्रा नहीं आती । स्वप्न वह अवस्था है जिस अवस्था में कि गाढ निद्रा का अभाव होता है । और कष्टादि की दशामें मनुष्य को गाढ निद्रा नहीं आती । इसी अभिप्राय से स्वप्नको निर्ऋति का पुत्र कहा है । शेष मन्त्रकी व्याख्या पूर्ववत् ही है ।

विद्म ते स्वप्न जनित्रमभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तकोऽसि इत्यादि अथर्व १६।५।४ वत्॥

अथर्व १६।५।५॥

अर्थ पूर्ववत् । इस मंत्रमें स्वप्नको अभूति अर्थात् ऐश्वर्य रहित का पुत्र कहा है । दरिद्रता के परितापसे भी मनुष्य को निद्रा नहीं आती । इस प्रकार दरिद्री से भी स्वप्न (वास्तविक निद्रा के न आने) की उत्पत्ति है । शेष व्याख्या पूर्ववत् ही समझनी चाहिए ।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तकोऽसि० । इत्यादि पूर्ववत् ॥

अथर्व १६।५।६ ॥

अर्थ पूर्ववत् । इस मंत्रमें स्वप्न को निर्भूति का पुत्र कहा गया है । निर्भूतिका अर्थ है ऐश्वर्य-सम्पत्ति का विनष्ट हो जाना । ऐश्वर्यशाली की सम्पत्ति नष्ट हो जानेसे उसे भी निद्रा नहीं आती । वह सुखकी निद्रा से नहीं सो सकता । इस प्रकार सम्पत्तिविनाश का भी स्वप्न पुत्र है ।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तकोऽसि । इत्यादि ॥

अथर्व १६।५।७॥

अर्थ पूर्ववत् । इस मंत्र में स्वप्न को पराभूतिका पुत्र कहा गया है । पराभूतिका अर्थ है पराभव अर्थात् हार जाना, तिरस्कार को प्राप्त होना । पराभवसे वा तिरस्कारसे मनुष्य का इतना मानसिक कष्ट होता है कि, उसके लिये निद्रा हराम हो जाती है । और इस प्रकार पराभूति से स्वप्न की उत्पत्ति होती है ।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥

अथर्व १६।५।८॥

हे स्वप्न ! तेरी उत्पत्तिको हम जानते हैं, तू देवोंकी पत्नियों का पुत्र है और यमके कार्योंका साधक है । इस मंत्रका भाव हम पूर्व दर्शा आए हैं । देवपत्नियों का पुत्र स्वप्न किस प्रकार है यह वहां विस्तररूपसे दर्शा आए हैं ।

इस प्रकार यह अथर्ववेदके १६ वें काण्डका ५ वां सूक्त संपूर्ण यम व स्वप्नविषयक है जो कि हमने ऊपर दिया है । इस सूक्तसे व इससे व दिए गए पहिले के मन्त्रोंसे यम व स्वप्नका संबन्ध स्पष्ट होता है । स्वप्न यमलोकमें रहता है वहांसे मनुष्योंमें प्रविष्ट हुआ है उसका पिता यम है अप्सरा उसकी माता है । वह अपने पिता यमके कार्योंका विस्तृततम साधक है । इसके अतिरिक्त स्वप्न अर्थात् वास्तविक निद्राका अभाव भिन्न भिन्न कारणोंसे होता है तथा उससे क्या दुष्परिणाम होते हैं स्वप्न यमका करण किस प्रकार है इत्यादि बातोंका उल्लेख इस सूक्तमें स्पष्ट रूपसे हमें देखने को मिलता है । इस प्रकार यह सूक्त तथा स्वप्नविषयक अन्य मन्त्र भी यमके स्वरूप दर्शानेमें पर्याप्त सहायक हैं । यमविषयक भी यमके स्वरूप दर्शानेमें ये मन्त्र भी पुष्ट कर रहे हैं यह पाठक विवेच पूर्ण स्थापना को समझ सके होंगे ।

अब यहां यम विषयक वे मन्त्र दिए जायेंगे जो कि निर्धारित प्रकरणोंमें से किसी में भी शामिल नहीं किए जा सके हैं । इस प्रकरण में दिए गए मन्त्र भी अबतक आए हुए यमसे ही सब सम्बन्ध रखते हैं यह बात पाठकों का भूलनी नहीं चाहिए । और यह न समझना चाहिए कि इस प्रकरणान्तर्गत मन्त्रोंमें आकर यह यम अन्य अर्थोंवाला हो । अन्य अर्थोंमें प्रयुक्त यम इस ग्रन्थमें यम अन्य अर्थोंवाला हो । अन्तमें भिन्न भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त यम नामक संग्रहमें देंगे ।

यम कौन है ?

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम् । वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥

अथर्व १८।३।१३

(यः) जो (मर्त्यानां प्रथमः ममार) मनुष्योंमें सबसे प्रथम मरा और (यः) जो (एतं लोकं प्रथमः प्र इयाय) इस लोक-यमलोक का सबसे पहिले गया उस (जनानां संगमनं) सब लोगों के संगमन (वैवस्वतं यमं राजानं) विवस्वान्‌के पुत्र यमराजको (हविषा सपर्यत) हवि द्वारा पूजा करो ।

इस मंत्रसे ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्योंमेंसे सबसे प्रथम मनुष्य विवस्वान् का पुत्र, सबसे पहिले इस लोकमें आकर मरा और फिर सबसे पहिले उस लोकमें गया अतः उस लोक का नाम उसके नामसे यमलोक ऐसा पड़ा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो मनुष्य सबसे प्रथम मरता है वह इस अर्थमें यम कहलाता है।

यमसदन अर्थ है जिसमें प्राणी जाकर जमा होते हैं। यमराजाकी हवि द्वारा पूजा करनेका भी यहां निर्देश है। अर्थात् यम का भी हवि हमें चाहिये।

यम व विवस्वान्।

यमः परोऽवरो विवस्वान् ततः परं नातिपश्यामि किंचन।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान॥
अथर्व १८।२।३२

(यमः परः) यम परे है अर्थात् दूर है और (विवस्वान्) सूर्य उससे (अवरः) समीप है। (ततः परं) उस यम के पर मैं (किंचन न अति पश्यामि) कुछ भी दूर स्थित हुआ हुआ नहीं देखता हूं या नहीं समझता हूं। (यमे मे अध्वरः अधिनिविष्टः) यमके अन्दर मेरा अध्वर अर्थात् हिंसारहित कर्म स्थित है। (विवस्वान् भुवः अनु आततान) सूर्यने भूलोक को अपने प्रकाशसे फैला रखा है।

इस मंत्र में दिया हुआ यम व विवस्वान् की स्थान की दृष्टिसे तुलना की गई है। यम का स्थान सूर्यके परे है और उससे पर कोई नहीं है। हमने यमलोक नामक प्रकरणमें देखा था कि तीन प्रकारकी द्युओंमें दो सूर्यके समीप हैं तथा तीसरी यमके राज्यमें है। उसको दृष्टिमें रखते हुए इस मंत्रके यम विवस्वान्से परे हैं इस कथनका अभिप्राय यह हुआ कि यम जिस द्युमें है वह सबसे परे है अर्थात् वह द्युलोककी अन्तिम है। उसके आगे द्युलोक समाप्त हो जाता है। हमारी इस अर्थमें यहां पर स्थान की दृष्टिसे तुलना है। परन्तु अर्थ रहस्य भी हो सकता है और अतः यह अर्थ अधम भी हो सकता है [illegible] देखा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मंत्रका भाव कठिन है। [illegible] अर्थ है।

इषुमान् यम।

दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये
रक्षित्रे यमायेषुमते। एतं परिदद्मस्तं
नो गोपायतास्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र जरसे
नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन
सह सं भवेम॥ अथर्व १८।३।५५॥

[दक्षिणायै दिशे अधिपतये] दक्षिण दिशाके स्वामी के लिए [तिरश्चिराजये रक्षित्रे] और पशुपक्षियोंसे विरुद्ध कर्म करनेवालोंसे रक्षा करनेवाले [इषुमते इन्द्राय यमाय] बाणधारक ऐश्वर्यवाले यमके लिए [एतं त्वा] इस तुमको [परिदद्मः] सौंपते हैं। [अस्माकं ऐतोः] हमारे आनेतक [तं] उसकी तथा [नः] हमारी [गोपायत] रक्षा कर। (दिष्टं नः अत्र जरसे नि नेषत्) हमारे पूर्वजन्मके कर्म अर्थात् भाग्य हमें यहां बुढ़ापे तक पहुंचावें। (नः) हमें (जरा) बुढ़ापा (मृत्यवे परि ददातु) मृत्युको देवे अर्थात् बुढ़ापेसे पूर्व हमारी मृत्यु न हो। (अथ) मरनेके बाद (पक्वेन सह संभवेम) पक्व परिपूर्ण परमात्मासे जा मिलें।

यम और ऋण।

अपमित्यमप्रतीत्तं यदस्मि यमस्य येन बलिना
चरामि। इदं तदग्ने अनृणो भवामि त्वं पाशान्
विचृतं वेत्थ सर्वान्॥ अथर्व ६।११७।१॥

(यत्) जिसको मैं (अपमित्यं) जो देना है उस कर्ज (अप्रतीत्तं) नहीं दिया है ऐसा ऋणी हूं अर्थात् मेरे पर जो ऋण है। (यमस्य येन बलिना) यमके जिस बलवान् बन्धनमें बंधा हुआ हुआ (चरामि) विचरण कर रहा हूं [हे] हे अग्नि! [तत्] यह इसलोक को ऋण है उससे मैं तेरे द्वारा (अनृणः) ऋणरहित होऊं। क्योंकि (त्वं) तू [सर्वान् पाशान्] सब पाशोंको [विचृतं वेत्थ] खोलना व तोड़ना जानती है।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि अग्निसे ऋणसे यमके बंधन मुक्त हुआ जा सकता है अतः ऋण मनुष्यको चुकाना चाहिये है।

यमका अग्निको स्थिर करना।

इषीकां जरतीमिष्ट्वा तिल्पिञ्जं दण्डनं नडम्।
तमिन्द्र इध्मं कृत्वा यमस्याग्निं निरादधौ॥

अथर्व १२।२।५४॥

[इन्द्रः] इन्द्रने [जरतीं इषीकां] जरती इषीकाको [इष्ट्वा] यज्ञ करके और [तिल्पिञ्जं] तिल्पिञ्ज, [दण्डनं] दण्डन व [नडं] नडको [इध्मं] समिधा बना करके [यमस्य] यमकी [तं अग्निं] उस अग्निको [निरादधौ] निश्चयसे स्थापित किया।

जरती इषीका = सूखे अर्थात् सूखे हुए घास।

तिल्पिञ्ज– तिलोंके गुच्छे। दण्डन यह भी एक प्रकारकी घासकी जातकी वनस्पति है। नडसे चिटकी बनती है।

इस मन्त्र में यह दर्शाया गया है कि यमकी अग्निमें इन वस्तुओंको डाल करना चाहिए जिससे कि यमकी अग्नि स्थिर बनी रहे।

यमके भाग बनो।

यमस्य भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो
अस्मासु धत्त। प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय
सादये॥ अथर्व १०।५।१२॥

हे जलो! तुम [यमस्य भाग स्थ] यमके भाग हो। [देवीः आपः] हे दिव्य जलो! [अपां शुक्रं वर्चः अस्मासु धत्त] जलोंका शुद्ध तेज हमारेमें स्थापित करो। [वः] तुम्हें [प्रजापतेः धाम्ना] प्रजापतिके तेजसे [अस्मै लोकाय सादये] इस लोकके लिए स्थिर करता हूं।

इस मन्त्रमें जलोंको यमका अंश बताया गया है। उनसे तेज बलोंकी प्रार्थना की गई है।

यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भ्यः
स्वाहा॥ यजु॰ ९।३५॥

(यमनेत्रेभ्यः) यम जिनका नेता है ऐसे (दक्षिणासद्भ्यः) दक्षिण दिशा में बैठनेवाले (देवेभ्यः स्वाहा) देवोंके लिए यह आहुति है।

ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासद स्तेभ्यः
स्वाहा॥ यजु॰ ९।३६॥

(ये देवाः यमनेत्राः) जो देव यमनेत्र अर्थात् यम जिनका नेता है ऐसे तथा (दक्षिणसदः) दक्षिण दिशा में बैठने— वाले हैं (तेभ्यः) उनके लिए (स्वाहा) स्वाहापूर्वक यह आहुति हो।

इन मन्त्रोंसे दक्षिण दिशावालोंका यम नेता है, ऐसा पता चलता है।

यमस्य लोकोऽसि॥ यजु॰ २५।७॥

यमकी त्रयोदशी है।

यमाय कृष्णः॥ यजु॰ २४।१३॥

यमके लिए काला पशु होवे। यजुर्वेदके इस मंत्रमें भिन्न भिन्नके लिए भिन्न भिन्न पशुओंका विधान है। परन्तु इस विधानका क्या रहस्य है यह एक विचारणीय समस्या है।

तस्या यमो राजा वत्स आसीद्
रजतपात्रं पात्रम्॥

[तस्याः] उस विराड्रूपी गौका [यमः राजा] यम राजा [वत्सः आसीत्] बछड़ा था व दूध दोहने के लिए [पात्रं] बरतन [रजतपात्रं] चान्दीका बरतन था।

यहांपर आलंकारिक वर्णन प्रतीत होता है पर यह अलंकार किसका किस प्रकार है यह एक विचारणीय बात है। यहां दिए हुए कई मंत्र खास करके जिनके विशेष विचारणीय हैं क्योंकि इनका अभिप्राय बराबर व्यक्त नहीं हो रहा है।

यम व पितरोंका संबंध।

यम व पितर विषयक के अवतरण व विवेचनसे पाठकगण पितर व यमके पारस्परिक संबन्धसे कुछ न कुछ अवश्य परिचित हो गए होंगे। यमके तथा पितरों के अलग अलग दिए गए विवरणोंसे यम क्या है व पितर क्या हैं यह भी पाठकोंके ध्यानमें स्पष्ट आ गया होगा। यम व पितरों के संबन्ध का साथ साथ स्थानोंपर इसने निर्देश भी किया है। यह निर्देश जो बातें हमें पता चली हैं उनसे यह स्पष्ट है कि यम पितरों का राजा है व पितर उसकी प्रजा हैं। पितर यमलोक में रहते हैं। इसीका नाम पितृलोक भी है।

इन्हीं उपरोक्त परिणामों की पुष्टि निम्न मंत्र स्पष्ट रूपसे करते हुए दिखाई दे रहे हैं।

यम पितरोंका अधिपति।

यमः पितृणामधिपतिः स मावतु। अस्मिन्
ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठा-

यामस्यां चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां
देवहूत्यां स्वाहा ॥ अथर्व ५।२४।१४॥

(स। पितृणां अधिपतिः) वह पितरोंका स्वामी [राजा] [यमः] यम [मा अवतु] निम्न लिखित कर्मोंमें मेरी रक्षा करे। (अस्मिन् ब्रह्मन्) इस ब्रह्मज्ञान की प्राप्तिमें। (अस्मिन् कर्मणि] इस श्रेष्ठ कर्ममें। [अस्यां पुरोधायां] इस पुरोहितादिके काम में। (अस्यां प्रतिष्ठायां) इस प्रतिष्ठाके कार्य में। [अस्यां चित्त्यां] इस चित्तसंयुक्त कार्योंमें। [अस्यां आकूत्यां] इस संकल्पमें। [अस्यां आशिषि] इस आशीर्वादके कार्यमें। [अस्यां देवहूत्यां] इस देवोंके आवाहनके कार्योंमें।

इस मन्त्रमें यमको पितरोंका स्वामी कहा गया है। पितरोंके ऊपर यमके अधिकारका यहां पर स्पष्ट किया गया है। यह अधिकार किस रूपमें है अर्थात् यम पितरोंका किस तरह स्वामी है यह नीचेके मंत्रमें स्पष्ट हो रहा है–

स यत् पितॄननुप्राव्रजद् यमो राजा भूत्वा
पितॄननुव्यचलत् स्वधाकारं अन्नाद्यं कृत्वा ॥
अथर्व १५।१४।१२॥

(सः) वह मानव (यत्) जब [पितॄन् अनुप्राव्रजत्] पितरोंका लक्ष्य करके चला अर्थात् पितरोंमें आया तब [यमः राजा भूत्वा] यम पितरों का राजा बनकरके तथा पितरों के लिए [स्वधाकारं अन्नाद्यं कृत्वा] स्वधा करके दिए हुए को जीवनयात्रा का साधनभूत अन्न बनाता हुआ (अनुव्यचलत्] इस मानवके पीछे पीछे पितरों में आया।

मानव यम बनता था है। यहांपर यम पितरोंका राजा बनकर उनमें रहता है यह दर्शाया गया है।

पितरोंका यम राजा है इस बातको निम्न मंत्रभी पुष्टि कर रहे हैं।

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥
अथर्व १८।३।१३॥

[यः प्रथमः] जो पहला श्रेष्ठ] पुरुष उस अर्थात् सबसे पहला मरा था उसके अनुसार इस बात पर मरनेवालोंका उदाहरण है। (दूसरी यही पृथिवी का] और दिव लोक की बिजली पृथ्वीको भी इस बात का अनुसार [यमराजको पितॄनां सौर्य] जो समस्त राजा है हम उसकी सेवा करके हविसे सेवा करके [हविषा] वृद्धिको प्राप्त हो।

इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे यमका पितरोंके राजा होनेको दर्शाया गया है। पितर यमकी प्रजा हैं। यमराज्यमें ही पितर रहते हैं इसका यहांपर स्पष्ट रूपसे उल्लेख है। यह मन्त्र वेदके लक्ष्य करके कहा गया है। इसी प्रकार निम्न मन्त्रमें भी उपरोक्त मंत्रके भावका पुष्ट किया गया है।

प्राणो अपानो व्यान आयुश्चक्षुर्दृशये सूर्याय।
अपरिपरेण पथा यमराज्ञः पितॄन् गच्छ ॥
अथर्व १८।२।४६॥

(प्राणः) प्राण (अपानः) अपान (व्यानः) व्यान (आयुः) आयु और (चक्षुः) आंख (सूर्याय दृशये) सूर्यके दर्शनके लिए अर्थात् इस संसारमें जीवन धारण करनेके लिए होवें। और आयुके पूर्ण होनेपर देहका त्याग करनेपर हे प्रेत! तू [अपरिपरेण पथा] अकुटिल मार्ग द्वारा [यमराज्ञः पितॄन्] यम जिनका राजा है ऐसे पितरोंको (गच्छ) जा, प्राप्त हो।

अपरिपरः परि परितः सर्वतः परः परभाव कुटिलभाव अथवा शत्रुः न विद्यते यस्मिन् सः अपरिपरः–अर्थात् जिसमें सर्वथा कुटिलता या शत्रु आदि नहीं है वह अपरिपर।

इस मंत्र में भी पितरों का जो विशेषण दिया गया है वह यम का पितरोंके राजा होनेको ही सिद्ध कर रहा है।

यम–श्रेष्ठ पितर।

अङ्गिरसाम् अयं इदं भूमोऽयो देवीः प्रजापतिम्।
पितॄन् यमश्रेष्ठान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥
अथर्व ११।६।१३॥

[अङ्ग आगीन] आत ऋषियोंका [इदं ब्रूमः] यह कहते हैं। (देवीः आपः) दिव्य जलोंका हम कहते हैं। [प्रजापतिं] प्रजापतिको हम कहते हैं और [यमश्रेष्ठान् पितॄन्] यमके समान जो श्रेष्ठ हैं उन पितरोंको हम [ब्रूमः] कहते हैं कि [ते] उपरोक्त सब [नः] हमें [अंहसः मुञ्चन्तु] पापसे छुडावें।

यहांपर पितरोंको यमश्रेष्ठ कहा गया है। यहांपर यमका अर्थ लोकमें यह यद अहिंसा सत्य आदि भी हो सकता है। जो इन यम नियमोंके पालनेमें श्रेष्ठ हुए हैं। वे यमश्रेष्ठ ऐसा भी इसका अर्थ हो सकता है। अथवा यम जिनमें श्रेष्ठ है ऐसा भी होगा

सतु । उपरोक्त विवरणसे यह पता चला कि यम पितरोंका राजा है व पितर उसकी प्रजा हैं ।

यम व पितरोंके सहकार्य ।

इसमें यह दिखाया जायगा कि कौन कौनसे कार्य यम तथा पितर मिलकर करते हैं ।

यमके साथ हवि खाना ।

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः । तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ऋ १ ।१५।८॥ यजु १९। ५१ ॥

(ये पूर्वे सोम्यासः वसिष्ठाः पितरः) हमारे जिन पुरातन सोम संपादन करनेवाले तथा उत्तमधनवाले पितरोंने यज्ञमें (सोमपीथं) सोमपानको (अनु ऊहिरे) किया था (तेभिः) उन (उशद्भिः) यमके साथ सोमपानकी कामना करते हुए पितरोंके साथ (उशन् यमः) पितरोंके साथ सोमपानकी इच्छा करता हुआ यम (संरराणः) पितरोंके साथ रमण करता हुआ (हवींषि) हवियोंको (प्रतिकामं) यथेच्छ (अत्तु) खावे ।

इस मन्त्रमें पितरोंके साथ हवि खानेकी इच्छा करता हुआ यम उनके साथ हवि खाता है यह दर्शाया गया है ।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा अनूजहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः । तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ अथर्व १८।३।४६ ॥

इस मंत्रका उत्तरार्ध उपरोक्त ऋ १ ।१५।८ के साथ ऐक्य मिलता है ।

(नः ये पितुः पितरः ये पितामहाः) हमारे जिन पिताके पितरोंने और उनके भी जिन पितामहोंने जो कि उत्तम धन-वान थे (सोमपीथं) यज्ञमें सोमपान (अनूजहिरे) स्वीकार किया था अर्थात् सोमपान किया था उन पितरोंके साथ इत्यादि पूर्ववत् ॥

इस मंत्रमें भी प्रथम मन्त्रोक्त बातकी ही पुनः कहा गया है । इस प्रकार यमका पितरोंके साथ हवि खानेका कार्य ये मंत्र बता रहे हैं ।

यम व पितरोंके साथ आना ।

इमानि ते मनसा मन इहेमान् गृहाँ उपजुजुषाण एहि । सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योनास्त्वा वाता उपवान्तु शग्माः ॥

अथर्व १८।२।२१ ॥

(ते मनः मनसा ह्वयामि) तेरे मनको मन द्वारा बुलाता हूं । (इह) यहां (इमान् गृहान्) इन घरोंमें (उपजुजुषाणः एहि) प्रीति करता हुआ अन्दर आ । तू (पितृभिः) पितरोंके साथ [सं गच्छस्व] विचरण कर । (यमेन च) यमके साथ विचरण कर । [स्योनाः] सुखदायक [शग्माः] शक्तिदायी [वाताः] वायु [त्वा उपवान्तु] तेरे लिए बहें ।

यहांपर यम व पितरोंके साथ जानेको कहा गया है उसका अभिप्राय यह हुआ कि यम व पितर साथ साथ विचरण करते हैं ।

पितर व यमका मिलकर सुख देना ।

दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत् । तस्मिन् वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाय शर्म बहुलं नियच्छात् ॥

अथर्व १२।३।८ ॥

[दक्षिणां दिशं] दक्षिण दिशाकी [अभिनक्षमाणौ] ओर जाते हुए तुम दोनों [एतत् पात्रं अभि] इस पात्रकी ओर [परि आवर्तेथाम्] लौट आओ । [तस्मिन्] उस पात्रमें [पितृभिः संविदानः यमः) पितरोंके साथ मिला हुआ यम (पक्वाय) पक्व होनेके लिए अर्थात् पूर्ण आयु देनेके लिए (वां) तुम दोनों को (बहुलं शर्म) बहुत सुख (नि-यच्छात्) देवे ।

इस मन्त्रमें यह दर्शाया गया है कि यम पितरों के साथ मिलजुलकर सुख देता है । यहां पात्र शब्दसे विशेष अभिप्राय है यह स्पष्ट नहीं होता ।

यम व पितरोंकी सहमतिसे स्वर्गप्राप्ति ।

अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् । यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥

अथर्व ६।६३।३ ॥
६।८४।३ ॥

(इह) यहां [अभिहितः] बन्धन स्थित हुए हुए हे निर्ऋति ! तू (ये सहस्रं) जो हजारों हैं ऐसे (मृत्युभिः) मृत्युके पाशोंसे (अयस्मये द्रुपदे) लोहमयी लकडीकी बनी हुई बेडीमें (बेधिष) बांधती है । (त्वं) तू [यमेन पितृभिः संविदानः] यम और पितरोंके साथ मिलकर इसको सहमतिसे

[इम] इसको [उत्तमं नाकं अधिरोहय] उत्तम स्वर्गमें पहुंचा।

निर्ऋतिसे यहां प्रार्थना की गई है कि वह यम व पितरोंसे मिलकर स्वर्गमें पहुंचावे। परन्तु इसका क्या अभिप्राय है अर्थात् निर्ऋति किस प्रकार स्वर्गको पहुंचाती है अथवा इससे क्या तात्पर्य है यह विचारणीय है।

पितरोंका स्थूणा धारण करना व यमका स्थान देना।

उत् ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत् परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्। एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु॥ ऋ० १०।१८।१३

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें भी आया है।

उत् ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत् परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्। एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु ते तत्र यमः सादना ते कृणोतु॥ अथर्व० १८।३।५२

(ते) तेरे लिये (पृथिवीं) पृथिवीको (उत् स्तभ्नामि) ऊपरको उठाकर रखता हूं। फिर (त्वत् परि) तेरे पर इस (लोगं) मिट्टीके ढेलोंको जो कि उठा रखा है (निदधत्) रखता हुआ (मो अहं रिषम्) मैं मत नष्ट होऊं। (एतां स्थूणां) इस खंभेको तेरे लिये (पितरः धारयन्तु) पितर धारण करें। (अत्र) और उस आधारस्तंभपर (ते) तेरे लिये (यमः) यम (सादना) घरोंको (मिनोतु) बनावे।

अङ्गिरस् पितर व यम।

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिरृक्वभिर्वावृधानः। यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति॥ ऋ० १०।१४।३

यह मंत्र पाठभेदसे अथर्ववेदमें है—

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिरृक्वभिर्वावृधानः। यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवांस्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ अथर्व० १८।१।४७

(मातली) इन्द्र (कव्यैः) कव्य नामवाले पितरोंसे (यमः) यम (अङ्गिरोभिः) अङ्गिरस् पितरोंसे तथा (बृहस्पतिः) बृहस्पति (ऋक्वभिः) ऋचाओंसे (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्त होता है। (यान् च देवाः वावृधुः) जिनको देव बढाते हैं (ये च) और जो (देवान्) देवोंको बढाते हैं (अन्ये) उनमेंसे अन्य मातली यम और बृहस्पति तो (स्वाहा मदन्ति) स्वाहाकारसे दी हुई हविसे प्रसन्न होते हैं और (अन्ये) इनसे भिन्न दूसरे कव्य अङ्गिरस् आदि (स्वधया) स्वधाकारसे प्रसन्न होते हैं।

अथर्ववेदमें जो चतुर्थ पाठभेद है वह इस मंत्रके अर्थको अधिक स्पष्ट करता है। उसके अनुसार मंत्रार्थ इस प्रकार है—

इन्द्र कव्य पितरोंसे यम अङ्गिरस् पितरोंसे तथा बृहस्पति ऋचाओंसे स्तुति करनेवाले पितरोंसे बढता है। जिन पितरोंको ये उपरोक्त देव बढाते हैं तथा जिन देवोंको ये उपरोक्त पितर बढाते हैं ऐसे वे पितर बुलाए जानेपर हमारी रक्षा करें।

इस प्रकार इस मंत्रमें यह बताया गया है कि यम अङ्गिरस् पितरोंसे बढता है मानो बलवान् होता है।

इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः। आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन् हविषा मादयस्व॥ ऋ० १०।१४।४

अथर्व० १८।१।६०

हे यम! (अङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः) अङ्गिरस् पितरोंसे मिला हुआ तू (इमं प्रस्तरं) इस फैलाए हुए आसन पर (आसीद) बैठ। (त्वा कविशस्ताः मंत्राः) तुझे कवि प्रशस्त मंत्र (आ वहन्तु) बुलावें। (एना) इस (हविषा) हविद्वारा (मादयस्व) प्रसन्न हो।

कविशस्त मंत्र— कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी ज्ञानी लोगोंसे जिनकी प्रशंसा की गई है ऐसे मंत्र प्रशंसनीय मंत्र। इस मंत्रमें प्रशंसात्मक मंत्रोंद्वारा यमको अङ्गिरस् पितरोंके साथ बुलाकर यज्ञमें विस्तृत आसन पर बैठानेका उल्लेख है।

यमका अंगिरस् पितरोंके साथ आना।

अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व। विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्य॥ ऋ० १०।१४।५

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें भी है—

अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरा गहीह यम वैरूपैरिह मादयस्व। विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् बर्हिष्या निषद्य॥ अथर्व० १८।१।५९

हे यम! (वैरूपैः) विविधरूपवाले (यज्ञियेभिः) पूजनीय यज्ञके योग्य (अङ्गिरोभिः) अङ्गिरस् पितरोंके साथ (इह आगहि) इस यज्ञमें आ। और (मादयस्व) प्रसन्न हो। (विवस्वन्तं हुवे)

मैं विवस्वान् को भी बुलाता हूं (यः) जो कि विवस्वान् (ते पिता) तेरा पिता है। वह तेरा पिता (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञमें (बर्हिषि आ निषद्य) आसनपर बैठकर यजमान को आनन्दित करे।

इस मंत्रमें यमको अंगिरस पितरोंके साथ यज्ञमें बुलाया गया है। इसके अतिरिक्त यह मंत्र यमका पिता विवस्वान् है इस पूर्वोक्त परिणाम का समर्थन कर रहा है। विवस्वान् को भी यज्ञमें बुलानेका यहां निर्देश है।

ऋग्वेद के इन मंत्रोंसे अंगिरस पितर व यमके सम्बन्धका व सहायताके व्यवहारोंका हमें पता चलता है। ये सब मंत्र यमका पितरोंसे विशेष संबन्ध है यह स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन कर रहे हैं। यम बहुतसे काम पितरोंसे मिलकर ही करता है। इससे व्यापकरूपसे पितरोंकी स्थितिपर भी थोडासा प्रकाश अवश्य पडता है।

इस प्रकार विविध अर्थोंमें प्रयुक्त यम सम्बन्धी मंत्र समाप्त होते हैं। पाठक इन पर गंभीरतापूर्वक विचार करें तथा जो उचित हो वह ग्रहण करें। अब हम यमके प्रकरणमें उन मंत्रों पर विचार करेंगे जिनमें कि यम इस अर्थके अतिरिक्त अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ है।

१ नियमन अर्थ में यम।

इस विषयमें उन मंत्रोंका उल्लेख होगा जिनमें कि यम नियम या नियामक आदि इन्हीं के सदृश अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ है।

> एता ते अग्न उचथानि वेधो जुष्टानि सन्तु
> मनसे हृदे च। शकेम रायः सुधुरो यमं तेऽधि
> श्रवो देवभक्तं दधानाः ॥ ऋ० ४।१०।३ ॥

(वेधः अग्ने) हे मेधावी अग्नि ! (एता उचथानि) ये वैदिक स्तोत्र (ते मनसे हृदे च) तेरे मन व हृदय के लिए (जुष्टानि सन्तु) प्रीति उत्पन्न करनेवाले हों। (देवभक्तं श्रवः दधानाः) देवोंसे सेवित अन्न या यश को धारण करते हुए हम (ते सुधुरः रायः यमं शकेम) तेरे उत्तम तथा धारण करने योग्य अश्वों को उत्तम प्रकारसे दरिद्रता नाश करनेवाले धनका नियमन कर सकें। अथर्वा। निघण्टुः-२।७ अथर्वा यम। निरु० ११।

> यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा
> वेन आजनि। आ गा आजदुशना काव्यः सचा
> यमस्य जातममृतं यजामहे ॥ ऋ० १।८३।५ ॥

(अथर्वा) स्थिरप्रकृति विद्वान् ने (प्रथमः) सबसे पहिले (यज्ञैः) यज्ञोंद्वारा (पथः तते) मार्ग का विस्तार किया। (ततः) तब (व्रतपाः वेनः सूर्यः) व्रतरक्षक कमनीय सूर्य (आजनि) उत्पन्न हुआ। और फिर (उशनाः काव्यः सचा) कामना करते हुए कविके पुत्रके साथ मिलकर सूर्यने (गाः आ आजत्) किरणोंको फेंका अर्थात् सर्वत्र प्रकाश किया। (यमस्य जातं अमृतं) नियमन के लिए उत्पन्न अमृत का हम (यजामहे) यजन करते हैं—उसकी पूजा करते हैं। यहां सूर्योदयका वर्णन है। यम—संयम। निरु० ४।२०

> यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो
> अध्यतिष्ठत्। गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात्
> सूरादश्वं वसवो निरतष्ट ॥ ऋ० १।१६३।२ ॥
> यजु० २९।१३ ॥

इस मन्त्रका देवता अश्व है। (वसवः सूरात् अश्वं निरतष्ट) वसुओंने सूर्य से घोडे को बनाया यानि उत्पन्न किया। फिर (यमेन दत्तं) नियामक अग्निसे दिए हुए इस घोडेको (त्रितः) तीनों स्थानोंमें विस्तृत वायुने (आयुनक्) रथादिमें जोडा (इन्द्रः एणं प्रथमः अध्यतिष्ठत्) इन्द्र इसपर सबसे पहिले सवार हुआ। (गन्धर्वः अस्य रशनां अगृभ्णात्) गन्धर्वने उस घोडेकी लगाम पकडी। रशना = घोडे बांधनेके रस्सी।

२ जीवात्मा अर्थ में यम।

> यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
> अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति ॥
> ऋ० १०।१३५।१ ॥

(यस्मिन् सुपलाशे वृक्षे) जिस उत्तम पत्तोंवाले अर्थात् हरेभरे भोगसामग्री से परिपूर्ण संसाररूपी वृक्षपर (यमः) इन्द्रियोंका संयमन करनेवाला जीवात्मा (देवैः) दिव्य गुणोंयुक्त इन्द्रियोंके साथ (संपिबते) सांसारिक वस्तुओं का उपयोग करता है (अत्र) इस संसाररूपी वृक्षपर [विश्पतिः] मनुष्य प्रजाका रक्षक [पिता] उत्पादक परमात्मा (पुराणान् नः) पुरातन समयसे भक्ति करते आए हुए हमारी (अनुवेनति) अनुकूलताकी कामना करता है।

३ ज्ञानेन्द्रियाँ—यम।

> इदं सवितर्वि जानीहि षड् यमा एक एकजः।
> तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते य एषामेक एकजः ॥
> अथर्व० १०।८।५ ॥

हे (सवितः) सविता ! (इदं विजानीहि) इस बातको तू भली प्रकार समझ कि (षट् यमाः) पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा एक मन ये मिलकर छः यम हैं। तथा (एकः एकजः) एक जीवात्मा अकेला ही जन्म लेनेवाला है। और (एषां या एकः एकजः) इनमें जो एक अकेला उत्पन्न होनेवाला है (तस्मिन्) उस जीवात्मामें ये छः यमसहित ज्ञानेन्द्रियां (हु) निश्चयसे (आपि-त्वं) बन्धुत्व को (इच्छन्ते) चाहती हैं।

४ आचार्य यम।

> मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय। तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि॥ अथर्व ६।१३३।३॥

(यत्) क्योंकि (अहं) मैं (मृत्योः ब्रह्मचारी) मृत्यु का ब्रह्मचारी (शिष्य) हूं, अतः (भूतात् पुरुषं) प्राणीमात्रमें से पुरुषको (यमाय) यम के लिए अर्थात् आचार्यके लिये (निर्याचन्) मांगता हुआ आता हूं। (तं एनं) उस इस पुरुषको (अहं) मैं (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञान (तपसा) तपद्वारा श्रमेण श्रमद्वारा तथा(अनया मेखलया) इस मेखलाद्वारा (सिनामि) बांधता हूं।

५ वायु यम।

> यमाय त्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहा। स्वाहा घर्माय। स्वाहा घर्मः पित्रे॥ य० १४।५॥

इस मन्त्रकी शतपथ १४।२।२।११ में व्याख्या है। वहां पर मन्त्रका अर्थ निम्नानुसार किया गया है "यमाय त्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहेति। अयं वै यमो योऽयं पवते तस्मा एवैनं जुहोति" शतपथ। यम यमेन जगरस्वते पितृमत इति॥ तदनुसार इस मन्त्रका अर्थ इस प्रकार हुआ (त्वा पितृमते अङ्गिरस्वते यमाय स्वाहा) पितृमान् अंगिरस्वत् वायुके लिए तुझे स्वाहा कर के दी गई आहुति हो। (घर्माय स्वाहा) यज्ञके लिए स्वाहा। (घर्मः पित्रे) यज्ञ रक्षकके लिए स्वाहा।

६ सूर्य-यम।

> यमाय त्वा मखाय त्वा सूर्यस्य त्वा तपसे। देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु पृथिव्याः संस्पृशस्पाहि। अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि॥ यजु० १७।११॥

इस मंत्रकी व्याख्या करते हुए शतपथ ब्राह्मणने इस मंत्रमें आए हुए यमका अर्थ सूर्य किया है। शतपथ ब्राह्मणका वचन इस प्रकार है-'स प्रोक्षति यमाय त्वेत्येष वै यमो य एष तपत्येष हीदं सर्वं यमयत्येतेनेदं सर्वं यतमेष उ मखस्तस्यैतमेवैतद् रसं प्रीणाति तस्मादाह यमाय त्वेति' श० १४।१।३।४। शतपथके इस कथनानुसार इस मंत्रका अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है-(यमाय त्वा) सूर्यके लिए तुझे (मखाय त्वा) यज्ञके लिए तुझे, (सूर्यस्य तपसे त्वा) सूर्यके तपके लिए तुझे (सविता देवः त्वा) सविता देव तुझे (मध्वा अनक्तु) मधुसे युक्त करे। तू (पृथिव्याः संस्पृशः पाहि) पृथिवीके संस्पृश् अर्थात् उसका स्पर्श करनेवालोंसे रक्षा कर। तू (अर्चिः) दीप्यमान(अग्नि)है। (शोचिः असि) दुष्टोंको शोक करानेवाला है। (तपः असि) दुष्टोंको तपानेवाला है।

इस प्रकार यहांपर यमवाले मंत्र तथा बहुवचनान्त पितृ शब्दवाले मंत्र समाप्त होते हैं। यम व पितर विषयक जो जो भी सिद्धान्त स्थापित किए जा सकते हैं वे सब इनमें आ चुके हैं। यम व पितृविषयक अर्वाचीन सिद्धान्त अब आगे संभवतः देखनेको नहीं मिलेंगे इससे आगे हम जैसा कि अन्यत्र निर्देश भी कर आए हैं यम व पितर संबन्धी संपूर्ण सूक्तोंपर विचार करेंगे, जिससे कि यदि कोई महत्त्वपूर्ण मंत्र जिसमें कि यम या पितृ शब्द न होनेसे छूट गया होगा तो वह भी पाठकोंके सामने आ सकेगा। सम्पूर्ण सूक्तोंपर विचार करने से प्रकृत विषयपर विचार करनेके लिए व विशेष निर्णयपर पहुंचनेके लिए पर्याप्त सहायता मिलनेकी संभावना है।

———

यम और पितरोंके ऋग्वेद सूक्त।

अब हम यम और पितरोंसे संबन्ध रखनेवाले सूक्तों पर अर्थात् जिन सूक्तोंका देवता यम अथवा पितर है उनपर सूक्तके क्रमसे विचार करेंगे। यद्यपि इन सूक्तोंमें आए हुए बहुतसे मंत्रों पर पहले विचार किया जा चुका है, तथापि यहांपर पूर्वापर प्रकरणके साथ उनपर विचार करनेसे उनका भाव अधिक स्पष्ट होगा। साथ ही पाठकोंके ध्यानमें यह बात भी आ सकेगी कि उनके जो पहिले अर्थ दे आए हैं वे कहांतक सत्य हैं और उनसे निकला हुआ परिणाम कहांतक ठीक है। संपूर्ण सूक्तके भावके साथ यदि तो उन मन्त्रोंकी संगति लग सकती है तो उन मंत्रोंका अर्थ ठीक है अन्यथा अवश्यमेव अर्थमें खींचातानी की गई है यह स्पष्ट हो जायगा। और इसीलिए पाठकोंसे भी निवेदन है कि वे भी यदि किसी मंत्रके अर्थ या भावसे असहमत हों तो वे प्रथम उस मंत्रके सूक्तके भावके साथ उस मंत्रकी संगति देखें और फिर अर्थपर विचार करें। संपूर्ण सूक्तके साथ समन्वय करते हुए मंत्रका अर्थ करना अधिक पूर्ण व स्पष्ट होगा। यद्यपि उनके उन मंत्रोंके अर्थोंकी कसौटीके लिए हम यहां सबका उपस्थित नहीं कर सकते तथापि जिन सूक्तोंपर यहां विचार करना है उनमें वे प्रायः सभी मंत्र आ जाते हैं कि प्रकृत विषयमें एक बड़ा भारी महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं अर्थात् जिनके आधारपर यम व पितर विषयक परिणाम निकाले गए हैं। पहिले ऋग्वेदके सूक्तोंपर क्रमशः विचार करेंगे। ऋग्वेदमें ५ सूक्त ऐसे हैं जो कि प्रकृत विषयसे संबन्ध रखते हैं। पहिले तीन सूक्त अर्थात् १४ १५ और १६ क्रमशः इसी विषयसे संबन्ध रखनेवाले हैं।

१ ऋग्वेद म० १० । सू० १४

१ ११ यम ऋषिः। देवताः-१-५, १३-१६ यमः। ६ लिङ्गोक्ताः। ७-९ लिङ्गोक्ताः पितरो वा। १०-१२ श्वानौ।

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य॥
ऋ० १।१४।१

(प्रवतः) श्रेष्ठ कर्म करनेवालोंको उत्तम कर्म करनेवालोंको तथा निकृष्ट कर्म करनेवालोंको (महीः) भूमिप्रदेशोंको (अनुपरेयिवांसं) प्राप्त कराते हुए तथा (बहुभ्यः पन्थां अनुपस्पशानं) बहुतोंके लिये मार्गको दिखाते हुए और (जनानां संगमनं) जिसमें मनुष्य जाते हैं ऐसे (वैवस्वतं) विवस्वानके पुत्र (यमं राजानं) यम राजाकी (हविषा दुवस्य) हविदानपूर्वक पूजा कर। 'प्रवतः महीः अनुपरेयिवांसं' इसका अभिप्राय यह है कि यमके उनके कर्मानुसार भिन्न-भिन्न स्थानपर जन्म देता है। जैसे कोई भारतवर्षमें जन्म लेता है तो कोई अन्यत्र। भारतवर्षमें भी जीव स्वकर्मानुसार भिन्न भिन्न प्रान्तमें जन्म लेता है। इस जन्मस्थानकी व्यवस्था यम करता है ऐसा इसका भाव प्रतीत होता है। अथवा इस मंत्रभागका अर्थ यूं भी किया जा सकता है- (प्रवतः अनु महीः परेयिवांसं) अधम उत्तम तथा निकृष्ट योनिस्थ जीवोंकि उद्देश्यसे पृथिवी पर आए हुए यमको इत्यादि। इसका अभिप्राय यह है कि अन्तमें नाना योनिस्थ जीवोंको यमने यमलोकमें ले जाना है अतः वह पृथिवीपर आया हुआ है और उसका यह अर्थ है इसकी पुष्टि आगे 'जनानां संगमनं' पद कर रहा है।

"बहुभ्यः पन्थां अनुपस्पशानम्" इसका अभिप्राय यह है कि नाना योनिस्थ जीवोंमेंसे जिस जिसकी आयु संपूर्ण होती है तब उसको यह यमलोकका रास्ता दिखाता जाता है। इस प्रकार इन कर्मोंके करनेवाले यम राजाको हवि देकर उसकी पूजा करनी चाहिए यह मंत्रका आशय है।

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ। यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः॥ ऋ० १।१४।२

(यमः नः गातुं प्रथमः विवेद) यमने हमारा मार्ग सबसे पहिले जाना। (एषा गव्यूतिः न अपभर्तवै) वह मार्ग भर दूसरोंके लिए नहीं है अर्थात् इस मार्गसे पुरस्कार जाया नहीं जा सकता। वह मार्ग कौनसा है यह मंत्रके उत्तरार्धसे दर्शाते हैं- (यत्र नः पूर्वे पितरः परेयुः) जहांपर हमारे पूर्वज पितर गए हुए हैं और (एना) इस मार्गसे (जज्ञानाः) जात प्राणीमात्र (स्वाः पथ्याः अनु) अपने अपने कर्मोंके अनुसार जाते हैं।

इस मन्त्रको प्रथम मन्त्रोक्त 'जनानां संगमनं यमं राजानं'का स्पष्टीकरण कहा जा सकता है। अतः वे यमलोकमें सब प्राणी लोकि जानेके लिए जो मार्ग है उसका यहां निर्देश है। यम हमारा यमलोकमें जानेका मार्ग सबसे पहिले जानता है क्योंकि

यह उस मार्गका अभिप्राय है। इस मार्गसे सुरक्षता पाना कठिन है क्योंकि जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य मरेगा ही। इसी भावको और भी अधिक स्पष्ट भावसे उत्तरार्धसे करते हुए कहा गया है कि उस मार्गमेंसे हमारे पूर्वज गए और जात प्राणीमात्र भी अपने कर्मानुसार जायगा।

इस प्रकार इस मंत्रमें यमलोकके जानेके मार्गका वर्णन है। उस मार्गसे सबको जाना होगा। कोई भी इससे बच नहीं सकता। अतएव यमको पूर्व मंत्रमें 'जनानां संगमनं' कहा है। यह मंत्र अथर्ववेदमें (१८।१।५) भी है।

इसके तृतीय मंत्रसे छठे मंत्र तक नया प्रकरण शुरू होता हुआ प्रतीत होता है। इन चार मंत्रोंमें यम व आङ्गिरस् पितरोंकी चर्चा है।

> मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः। यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति ॥ ऋ० १०।१४।३

(मातली) इन्द्र (कव्यैः) कव्योंसे (यमः अङ्गिरोभिः) यम अङ्गिरसोंसे और (बृहस्पतिः ऋक्वभिः) बृहस्पति ऋचाओंसे अर्थात् ऋचासम्बन्धी ज्ञान रखनेवालोंसे (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्त होता है। (यान् देवाः वावृधुः) जिनको देवोंने बढाया है तथा (ये देवान्) जो देवोंको बढाते हैं उनमें से (अन्ये) अन्य अर्थात् मातली यम तथा बृहस्पति (स्वाहा) स्वाहाकार से दी गई हविद्वारा (मदन्ति) प्रसन्न होते हैं और अन्ये दूसरे कव्य आङ्गिरस् तथा ऋक्व (स्वधया) स्वधाकार से दी गई हविद्वारा प्रसन्न होते हैं। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।१।४७) में है। वहां पर जो चतुर्थ पाद है वह इस मंत्रके चतुर्थ पादसे भिन्न है। अथर्ववेदके पाठानुसार कव्य आङ्गिरस् कौन है यह स्पष्ट हो जाता है। अथर्ववेद में आए हुए इस मंत्रका चौथा पाद इस प्रकार है- ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु। अर्थात् मंत्रोक्त कव्य आङ्गिरस् आदि जो पितर हैं वे हमारी आह्वान करनेपर रक्षा करें।

कव्य— पितरोंका प्रायः बहुतसे मंत्रोंमें कविके नामसे कहा गया है। और अतएव उन्हें जो हवि दी जाती है उसका नाम कव्य है। क्योंकि देवोंको दी जानेवाली हवि हव्य के नामसे कही जाती है। दोनों हवियोंका भेद करनेके लिए पितरोंकी हविका कव्य नामसे कहा गया है तथापि कई स्थानोंपर पितरोंके लिये हवि शब्दसे भी इसका विधान है ही। यहां पर कव्य शब्दसे कव्य खानेवाले पितरोंका ग्रहण है।

> इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः। आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषा मादयस्व ॥ ऋ० १०।१४।४

(अङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः) अङ्गिरस् पितरोंके साथ एकमत हुआ हुआ हे यम! तू (इमं प्रस्तरं) इस बिछाए हुए आसनपर (आसीद) बैठ। (त्वा) तुझे (कविशस्ताः मंत्राः) कव्यखानेवालों द्वारा स्तुति किए गए मंत्र (आ वहन्तु) बुलावें। (एना) इस (हविषा) हविद्वारा (मादयस्व) प्रसन्न हो।

इस मंत्रमें यमका अङ्गिरस् पितरोंके साथ यज्ञ में बिछाए आसनपर बैठनेका वर्णन है। उसकी मन्त्रों द्वारा स्तुति कर के उसे यज्ञमें हवि दी जाती है। ये आङ्गिरस् पितर कौन हैं इस पर स्वतंत्र विचार करेंगे। इन तीन चार मन्त्रोंसे उनका व यमका सम्बन्ध दिखाया गया है। उपरोक्त मंत्रके भावको अगले मंत्रमें और भी अधिक स्पष्ट किया गया है-

> अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व। विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्य ॥ ऋ० १०।१४।५

हे यम! [वैरूपैः] विविध स्वरूपवाले, [यज्ञियेभिः] यज्ञके योग्य पूजनीय [अङ्गिरोभिः] आङ्गिरस् पितरोंके साथ [इह आ गहि] इस हमारे यज्ञमें आ। यज्ञमें आकर दी गई हविको खाकर [मादयस्व] आनन्दित हो। [विवस्वन्तं हुवे] विवस्वान्(सूर्य)को मैं बुलाता हूं [यः] जो कि विवस्वान [ते पिता] तेरा पिता है। वह विवस्वान [अस्मिन् यज्ञे बर्हिषि आ निषद्य] इस यज्ञमें आकर आसनपर बैठकर दी हुई हविको खाकर आनन्दित होवे।

यज्ञमें यम व आङ्गिरस् पितरोंको बुलाकर उन्हें हवि दी जाती है व यमका पिता विवस्वान् [सूर्य] है उसे भी साथ में यज्ञमें बुलाया जाता है व हवि खानेके लिये दी जाती है। आङ्गिरस् पितर नाना रूपवाले हैं अर्थात् उनके स्वरूप भिन्न भिन्न हैं। इन भिन्न भिन्न स्वरूपका अगले मंत्रमें स्पष्टीकरण किया गया है। यह मंत्र थोडेसे पाठान्तरके साथ अथर्ववेद [१८।१।५९] में भी आया है।

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः। तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥ ऋ १।१४।६

(नः नवग्वाः अथर्वाणः भृगवः सोम्यासः अङ्गिरसः पितरः) हमारे नवग्व अथर्वा भृगु सोमरसपान करनेवाले अङ्गिरस् पितर हैं। (तेषां यज्ञियानां) उन यज्ञार्ह आंगिरस् पितरोंकी (सुमतौ) उत्तम मतियोंमें तथा (भद्रे सौमनसे) शुभमनस्कतामें (स्याम) होवें।

वेदमें नवग्व तथा दशग्व शब्द कई स्थानोंपर आते हैं। निरुक्तकार यास्काचार्यने इस मंत्रमें आए हुए नवग्व शब्दोंके विवेचन निम्न लिखित किए हैं—

नवग्व—नवगतयो नवनीतगतयो वा।

नि ११।१८॥

अर्थात् नव प्रकार की गतिवाले अथवा नवनीत अर्थात् मक्खन की तरह गतिवाले। सायणाचार्य अपने भाष्यमें इस शब्दका अर्थ इस प्रकार करते हैं— नवगताः नवमासैः सत्रम अनुतिष्ठन्तः। अर्थात् नव मासका सत्र यज्ञ करने से इनका यह नाम है।

अथर्वा— अथर्वाणोऽथर्वण्वन्तः। थर्वतिश्चरतिकर्मा तत् प्रतिषेधः।

निरु ११।२।१८॥

अथर्व स्थिर अर्थात् निश्चल प्रकृतिवाला होता है। चल-नार्थक थर्व धातुसे थर्वन् शब्द बनता है। जिसका अर्थ है। अस्थिर चलायमान। इससे उल्टा अथर्वा-निश्चल।

भृगु— अर्चिषि भृगुः संबभूव। भृगुः भृज्यमानः, न देहे। नि० ३।१७॥ भृगु अग्निकी ज्वालाओंमें पैदा हुआ था भृगुका अर्थ है जो आगमें भुना हुआ हो जिसकी शरीरमें आस्था न हो। सोम्यासः —सोमसम्पादिनः। निरु ॥ जो यज्ञमें सोमरस लेकर आते हैं वे सोम्य कहलाते हैं।

इस प्रकार इन विशेषणोंसे पूर्व मन्त्रोक्त 'देवैर्वैरिह मादयस्व' के अङ्गिरस् पितरोंको जो वैरूप कहा था उसका इस मन्त्रमें स्पष्ट करके दिखाया है कि अङ्गिरस् पितर वैरूप किस प्रकार हैं। यमके दरबारमें उनकी नेक सलाहमें रहने का उपदेश है। यह मन्त्र अथर्व (१८।१।५८)में तथा यजुर्वेद (१९।५)में भी आया हुआ है। यहांपर तीसरे मन्त्र से अङ्गिरस् पितरका जो प्रकरण आरम्भ हुआ था वह समाप्त होता है।

अब अगले दो मन्त्रोंमें अर्थात् ७ वें व आठवें में पुनः उसी प्रकरणका निर्देश करते हुए मृत पुरुषकी आत्माको यमलोकमें जहां कि पूर्व पितर गए हुए हैं वहां यम व वरुणके दर्शन करनेके लिए कहा गया है।

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः। उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्॥ ऋ १।१४।७॥

हे मृत पुरुष! (यत्र) जिस लोकमें (नः पूर्वे पितरः) हमारे पूर्वज पितर (परेयुः) गए हुए हैं उस लोकमें (पूर्व्येभिः पथिभिः) पहिलेके मार्गोंद्वारा (प्रेहि प्रेहि) अवश्य जा। उस लोकमें जाकर (स्वधया मदन्तौ) स्वधासे आनन्दित होते हुए अथवा तृप्त होते हुए (उभा राजाना) दोनों राजा (यमं वरुणं देवं च) यम तथा वरुण देव को (पश्यासि) देख।

इस मंत्रमें प्रथम दो मन्त्रोंके भावको बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है। सबसे प्रथम यहां यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है कि जिस लोकमें हमारे पितर गए हुए हैं वह लोक यमलोक है अथवा उस लोक में यमका राज्य है क्योंकि यम उस लोक का राजा है ऐसा उत्तरार्ध में कहा है। दूसरी बात यम भी स्वधासे तृप्त होता है यह यहांपर स्पष्ट होती है। तीसरी बात यमके साथ ही वरुण भी रहता है। चौथी बात यमलोकमें जानेके मार्ग पितृयाण कहलाते हैं। इस प्रकार प्रथम दो मंत्रोंके भावको किस प्रकार अधिक स्पष्ट किया गया है यह पाठक स्वयं देख सकते हैं। यह मंत्र व कुछ पाठान्तर के साथ अथर्ववेद (१८।१।५४) में भी है।

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्। हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः॥

ऋ १।१४।८॥

हे मृत पुरुष! (परमे व्योमन्) उत्कृष्ट स्थानमें अर्थात् स्वर्गमें (पितृभिः सं गच्छस्व) पितरोंके साथ जा। (यमेन सं) यमके साथ जा। (इष्टापूर्तेन) इष्टापूर्तके साथ अर्थात् अपने उपार्जित कर्मोंके साथ जा। (अवद्यं हित्वाय) निन्दित कर्मोंको छोडकर के अर्थात् शुभकर्मोंके साथ (पुनः) फिर (अस्तं एहि) अपने घरको वापस आ अर्थात् पुनर्जन्म लेकर आ और तब (सुवर्चाः) उत्तम तेज—ब्रह्मतेज युक्त हुआ हुआ तू (तन्वा सं गच्छस्व) शरीरको प्राप्त करके

संसारमें विचरण कर ।

इस मन्त्रसे हमें कई बातें पता चलती हैं। सबसे प्रथम ये दोनों मंत्र अर्थात् सातवां व आठवां मृत पुरुषको संबोधन करके कहे गए हैं। मन्त्रका उत्तरार्ध इस बातकी पूर्णरूपसे पुष्टि कर रहा है। दूसरी बात स्वर्गमें जानेके लिए पितर तथा यम मृत पुरुष की आत्मा को पृथिवीपर लेने आते हैं। तीसरी बात परमे व्योमन् से यमलोक समझा जाता है। उसमें अच्छे कर्म करनेवाले जाते हैं। अथवा यमलोकमें कई विभाग हैं और उनमें कर्मानुसार जीव जाता है। इष्टापूर्तेन साथ आयेगा। कथन इसी बात की पुष्टि कर रहा है। इष्टापूर्तका लक्षण निम्न लिखित है—

> अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम् ।
> आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥ १ ॥
> वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च ।
> अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

अथर्ववेद (१८।३।५८) में भी यह मंत्र आया हुआ है।

> अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् । अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै ॥ ऋ १ ।१४।९ ॥

(अप इत) हे विघ्नकारी जनो ! यहांसे चले जाओ। (वीत) भाग जाओ। (वि सर्पतातः) सर्वथा यह स्थान छोड़कर हट जाओ। (अस्मै) इस प्रेतके लिए (पितरः) पितरोंने (एतं लोकं अक्रन्) यह स्थान किया है। (अस्मै) इस मृतके लिए (यमः) यमने (अहोभिः) दिनोंसे व (अद्भिः) पेय जलोंसे तथा (अक्तुभिः) रात्रियोंसे [व्यक्तं अवसानं] स्पष्ट समाप्ति [ददातु] दी है।

इस मंत्रमें यमको अन्त्येष्टि क्रिया के लिए स्थान जो पितर निर्धारित करते हैं ऐसा उल्लेख है। यहां शरीरसे प्राणोंके निकल जानेका वर्णन है। उत्तरार्धमें यह स्पष्ट कहा है कि इसके लिए अब दिन रात आदि की समाप्ति हो चुकी है अर्थात् यह मर गया है। अब पूर्वार्धानुसार मरने पर पितर इसके लिए स्थान बनाते हैं इसके दो ही अभिप्राय हो सकते हैं— [१] या तो जो पितर स्थान बनाते हैं वह श्मशान भूमिका हो सकता है अथवा [२] वह यमलोकका हो सकता है। यदि दूसरा विकल्प माना जाए तो इससे यमलोकपर प्रकाश अवश्य पड़ सकता है और वह यह कि जैसा उत्तरार्धमें स्पष्ट है यमलोकमें दिन व रात नहीं होते और वहां जल भी नहीं है।

अवसान = समाप्ति। यह मंत्र अथर्ववेद [१८।१।५५] में भी है।

अब यमके दूत जो श्वानोंका वर्णन आगे तीन मंत्रोंमें अर्थात् मंत्र १ से लेकर १२ तक में है।

> अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा । अथा पितॄन्त्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥ ऋ १ ।१४।१ ॥

हे पितृलोकमें जाते हुए जीव ! [सारमेयौ चतुरक्षौ] सरमाके चार आंखोंवाले [शबलौ] चितकबरे [श्वानौ] दो कुत्तोंसे [अति] बचकरके [साधुना पथा] कल्याणकारी उत्तम मार्गसे [द्रव] जा। [अथ] तब [सुविदत्रान् पितॄन्] उत्तम धन या ज्ञानसे युक्त पितरोंको [उप इहि] प्राप्त हो। [ये] जो कि पितर [यमेन सधमादं मदन्ति] यमके साथ आनन्दित होते हुए तृप्त रहते हैं।

सारमेय— सायणाचार्यने सारमेयका अर्थ किया है कि सरमा नामकी देवोंकी कुत्ती है। उसका बच्चा सारमेय। सरमा शब्द सृ गतौ धातुसे अच् करनेपर बनता है जिसका अर्थ है बहुत दौड़नेवाली। उसका पुत्र सारमेय। सारमेयका अर्थ हुआ बहुत दौड़नेवाली का पुत्र। लौकिक साहित्यमें सारमेय का अर्थ कुत्ता प्रचलित है। यमके कुत्तोंका वर्णन इस मंत्रमें किया गया है। उनकी चार आंखें हैं, तथा चितकबरे रंग हैं। इस मंत्रमें यम व पितरोंका सम्बन्ध भी व्यक्त हो रहा है। अगले मंत्रमें यमसे कहा गया है कि वे इस जीवको उन कुत्तोंसे कल्याण तथा आरोग्य प्रदान करे।

> यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ । ताभ्यामेनं परि देहि राजन्त्स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि ॥ ऋ १ ।१४।११ ॥

हे यम ! [ते] तेरे [यौ] जो [रक्षितारौ] रक्षा करनेवाले [चतुरक्षौ] चार आंखोंवाले [पथिरक्षी] यमलोकमें जानेके मार्गकी रक्षा करनेवाले तथा [नृचक्षसौ] मनुष्योंके देखनेवाले [श्वानौ] दो कुत्ते हैं, हे राजन् ! [ताभ्यां] उन दोनों कुत्तों द्वारा [एनं] इस जीवको [स्वस्ति] कल्याण [परि देहि] प्रदान कर। [च] और [अस्मै] इस जीवके लिए [अनमीवं] रोगरहितता अर्थात् आरोग्य [धेहि] धारण कर। इसे नीरोगी बना।

इस मंत्रमें जीवित पुरुषके लिए यमके कुत्तोंसे कल्याण व आरोग्य मांगा गया है। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।२।१२) में है।

उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्॥

ऋ० १०।१४।१२

(उरूणसौ) लम्बी नाकवाले, (असुतृपौ) प्राणोंको खाकेसे तृप्त होनेवाले (उदुम्बलौ) विस्तृत बलवाले अर्थात् अत्यन्त बलवान (यमस्य दूतौ) यमके दूत उपरोक्त दोनों कुत्ते (जनाँ अनु चरतः) मनुष्योंके पीछे पीछे विचरण करते हैं। (तौ) इस प्रकारके वे यमदूत कुत्ते (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (सूर्याय दृशये) सूर्यके दर्शनार्थ अर्थात् इस लोकमें जीवन धारण करनेके लिए (अद्य) आज (इह) इस संसारमें (भद्रम् असुं) कल्याणके देनेवाले प्राणको (पुनः) फिर (दाताम्) देवें।

इस मंत्रमें यमके कुत्तोंका खोजपूर्ण और मार्मिक वर्णन हमें मिलता है। वे लम्बी नाकवाले प्राणोंको खाकर तृप्त होनेवाले अतीव बलशाली हैं। वे सर्वदा मनुष्योंके पीछे लगे रहते हैं। इसी सूक्तके आठवें मंत्रमें हम देख आए हैं कि यहां पुनर्जन्मका वर्णन मिलता है। इस मंत्रका उत्तरार्ध भी पुनर्जन्म विषयक निर्देश कर रहा है। 'सूर्याय दृशये' से ऐसा पता चलता है कि संभवतः इस लोकमें रहकर ही सूर्यदर्शन हो सकता है अन्यत्र नहीं। यह मंत्र भी अथर्ववेद (१८।२।११) में है। यमके कुत्तों पर अधिक प्रकाश डालनेके लिए हम प्रसंगवश अथर्व ८।१।९ को उद्धृत करते हैं जिससे कि यमके श्याम शबल कल्पनाको जो कि हम आगे देनेवाले हैं, समझनेमें पाठकोंको सहायता मिलेगी।

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ। अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः॥

अथर्व० ८।१।९

(श्यामः) काला (च) और (शबलः) चितकबरा एवं (यौ) जो दो (यमस्य) यमके (पथिरक्षी) यमलोकके मार्गकी रक्षा करनेवाले (श्वानौ) कुत्ते हैं वे (त्वा) तुझ (मा) मत दुःख पहुंचावें। (अर्वाङ् एहि) तू हमारे सम्मुख आ। (मा वि दीध्यः) चिन्ता मत हो अर्थात् हमें छोड़कर चले जानेके संकल्प मत कर। (अत्र) यहां इस संसारमें (पराङ्मनाः) विमुख चित्तवाला होकर (मा तिष्ठः) मत स्थिर हो। अर्थात् संसारसे उदासीन वृत्ति धारण मत कर।

इस मंत्रके पूर्वार्धमें यमके कुत्तोंका स्वरूप दर्शाया है। उनमेंसे एक काला है व दूसरा चितकबरा है। इस प्रकार ९ वें मंत्रसे १२ वें मंत्रतकमें तथा इस अथर्ववेदके मंत्रमें भी यमके श्वानोंके लिए जो विशेषण प्रयुक्त किए गए हैं उनसे ऐसा पता चलता है कि आलंकारिक रूपसे दिन व रात का वर्णन इन मन्त्रोंमें है। यमके दोनों कुत्ते दिन व रात हैं। काला कुत्ता रात है व चितकबरा कुत्ता दिन है।

इस कल्पनाका आधार इन मन्त्रोंमें कुत्तोंके लिए प्रयुक्त हुए हुए विशेषण हैं। हम खास खास विशेषणोंके आधार पर पाठकोंको उपर्युक्त कल्पनाका दिग्दर्शन करायेंगे। यमके श्वानोंके लिए कहा है कि (जनान् अनुचरतः) अर्थात् वे मनुष्योंके पीछे पीछे प्राणापहरणके लिए लगे हुए विचरण कर रहे हैं। ज्यों ज्यों रात व दिन गुजरते जाते हैं त्यों त्यों मनुष्यकी आयु क्षीण होती जाती है। और एक दिन व रात आती है जब मनुष्यका प्राणान्त हो जाता है। दिन वह रात शबल भी हैं, क्योंकि जल्दी जल्दी आकर चले जाते हैं। वे शबल अर्थात् चितकबरे भी हैं। दिन सफेद है व रात काली है इस प्रकार दोनों मिलकर शबल हैं। वे उरुणस अर्थात् मनुष्योंको देखने वाले भी हैं। वे असुतृप अर्थात् प्राणोंको खाकर तृप्त होनेवाले हैं। जबतक शरीरसे प्राण नहीं छूटता तबतक मनुष्यके साथ दिन रात लगे ही हुए हैं। प्राण छूटे कि दिन रात उसके लिए समाप्त हुए। उसके प्राणोंके लिए ही मानो दिन रात पीछे पीछे लगे हुए थे व प्राण मिले कि उस मनुष्यको दिन रातका पीछा छूटा। यहां पर एक और भी प्रश्न उठ सकता है कि और यह कि श्वान शब्दसे ही क्यों यमके इन कुत्तोंका उल्लेख किया गया। क्या कुत्तेके वाचक अन्य शब्द नहीं हैं? परंतु पाठकोंको यहां पर ध्यानमें रखना चाहिए कि यह श्वान शब्द हमारी उपरोक्त कल्पनाका विशेष रूप करता है। श्व न शब्दके अर्थ पर विचार करनेसे उपरोक्त प्रश्नका तो उत्तर मिल ही जाता है पर दिन रातका यमके श्वान होनेका रहस्य भी पूर्ण रूपसे खुल जाता है। श्वानका अर्थ है-(श्वा = श्वः = कल न-नहीं) जो आनेवाली कलमें नहीं रहेगा अर्थात् जो आज तो है पर कल न रहेगा। पाठक देख सकते हैं कि यह अर्थ पूर्ण रूपसे दिन व रात पर घट रहा है। जो दिन व रात आज है वे ही फिर दुबारा लौटकर कल नहीं आवेंगे। इस प्रकार आलंकारिक वर्णनसे यमके दूत श्वान दिन और रात हैं।

यहांपर यमके स्वरूपविषयक प्रकरण समाप्त होता है। अब आगेके तीन मन्त्रोंमें अर्थात् १३ से १५ तकमें यमके लिए हवि देने का वर्णन आदिका वर्णन है।

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः॥

ऋ० १०।१४।१३॥

(यमाय सोमं सुनुत) यमके लिए यज्ञमें सोमको निचोडो। (यमाय हविः जुहुत) यमके लिए हवि प्रदान करो। (अरंकृतः) नाना प्रकारके द्रव्योंसे साधनोंसे भी अलंकृत किया हुआ (अग्निदूतः अग्निको अपना दूत बना करके (ह) निश्चयसे (यज्ञः) यज्ञ (यमं गच्छति) यमको प्राप्त होता है।

यमके लिए सोम, हवि आदि यज्ञमें देने चाहिए। यज्ञ यमको निश्चयसे प्राप्त होता है।

यह मंत्र थोडेसे पाठान्तरके साथ अथर्ववेद [१८।२।१] में है।

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत।
स नो देवेष्वा यमद् दीर्घमायुः प्रजीवसे॥

ऋ० १०।१४।१४॥

[यमाय] यमके लिए [घृतवत् हविः] घीवाली हवि [जुहोत] प्रदान करो। और हवि देकर [प्रतिष्ठत] प्रतिष्ठाको प्राप्त करो अथवा दीर्घ जीवनको प्राप्त करो। [सः] वह यम [प्रजीवसे] अच्छी प्रकारसे जीनेके लिए [देवेषु] देवोंमें [नः] हमें [दीर्घायुः] लम्बी आयुष्य [आ यमत्] देवे।

यमके लिए घीसे मिश्रित हवि देकर प्रतिष्ठा या दीर्घ जीवन प्राप्त करो। यमको हवि देनेसे वह देवोंमें दीर्घायु देता है। यह मंत्र भी अथर्व [१८।२।३] में कुछ पाठभेदके साथ आया है।

[टिप्पणी— प्रतिष्ठत — ऐसा प्रतीत होता है कि यमके लिए घीवाली हवि देनेसे मनुष्यकी सांसारिक व पारलौकिक स्थिति उत्तम हो सकती है।]

यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पथिकृद्भ्यः॥

ऋ० १०।१४।१५

[यमाय राज्ञे] यम राजाके लिए [मधुमत्तमं हव्यं] अत्यन्त मधुर हव्यको [जुहोतन] प्रदान करो। [पथिकृद्भ्यः] रास्ता बनानेवाले मार्ग दर्शक [पूर्वजेभ्यः] जो सब से पूर्व उत्पन्न हुए हैं व [पूर्वेभ्यः] सबसे पहलेके हैं ऐसे [ऋषिभ्यः] ऋषियोंके लिए [इदं नमः] यह नमस्कार है।

इस मंत्रमें यम राजाके लिए मधुरतम हवि देनेका व प्राचीन ऋषियोंके लिए नमस्कार का विधान है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण सूक्तमें यमका वर्णन करनेके बाद अन्तिम मंत्रमें उपसंहार करते हैं। इस उपसंहारके मंत्रमें उस यम [सर्वनियन्ता परमात्मा] का वर्णन है।

त्रिकद्रुकेभिः पतति षळुर्वीरेकमिद् बृहत्।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता॥

ऋ० १०।१४।१६॥

[एकं इत् बृहत्] अकेला ही वह सर्वनियन्ता महान् यम [त्रिकद्रुकेभिः] तीन कद्रुकोंसे [षट् उर्वीः] छहों उर्वियों को [पतति] प्राप्त होता है अर्थात् व्याप्त करके स्थित है। [त्रिष्टुप् गायत्री] त्रिष्टुप् गायत्री आदि [ता सर्वा छन्दांसि] वे सब छन्द [यमे] उस नियन्ता परमात्मामें [आहिता] स्थित हैं।

षट् उर्वीः— द्यु पृथिवी आप ओषधी दिन व रात ये छः उर्वियां हैं। सायणाचार्यने त्रिकद्रुक अर्थ यागविशेष करके किया है। छहों उर्वियोंमें यह यम व्याप्त है इसका आशय पता चलता है। त्रिष्टुप् गायत्री आदि सब छन्द यम [नियामक परमात्मा] में स्थित हैं।

संसारमें हम देख रहे हैं कि परमात्माकी भिन्न भिन्न शक्तियां अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती हुई कार्य कर रही हैं। सूर्य चन्द्र अग्नि विद्युत आदि शक्तियां यद्यपि अन्तमें परमात्मामें ही समाविष्ट होती हैं तथापि इनकी अपनी स्वतंत्र सत्ताका इनकार नहीं किया जा सकता। अर्थात् वे परमात्माकी शक्तियां होती हुई भी अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती हुई संसार में कार्य कर रही हैं। ये सब परमात्माकी ही भिन्न शक्तियां हैं अर्थात् इनके नामसे परमात्माकी ही सत्ता व महत्ताका बोध होता है जैसा कि हमें ऋ० १।१६४ मंत्र यह बता रहा है

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋ० १।१६४।४६॥

परन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि इन्द्र मित्रादि की सत्ता ही नहीं। इनकी स्वतंत्र सत्ता से इनकार करना परमात्माकी भिन्न भिन्न सत्ताओंसे इनकार करना है। उपरोक्त मंत्रमें दिखाई गई परमात्माकी भिन्न भिन्न सत्ताओंमें यम भी एक है। यमका स्वतंत्र अर्थ वायु करनेसे यह मंत्र विरोध करता है। इस प्रकार इस सूक्तमें जो यमका वर्णन है वह

परमात्मा की विनाशक शक्ति व मरनेके बाद जीवों की व्यवस्था करनेवाली शक्ति का वर्णन है। यह शक्ति अग्नि वायु आदिकी तरह अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती है। जिस प्रकार वायु आदि की स्वतन्त्र सत्तासे इनकार नहीं किया जा सकता उसी प्रकार यमकी भी स्वतन्त्र सत्तासे इनकार नहीं किया जा सकता। परमात्मा की भिन्न शक्तियों में से एक यम नामक शक्ति है जिसका कि यम व पितरमें उल्लेख किया गया है। कोई यह न समझ ले कि यम परमात्मा की शक्तियोंसे भिन्न कोई अलग ही शक्ति है अतः इस सूक्तके अन्तमें इस भ्रम के निवारणार्थ इस मंत्रसे उपसंहार करते हुए ऋ० १। १६४।४६ मंत्र के आशय को दर्शाया गया है। इस अंतिम मंत्रका यह प्रयोजन है कि अन्तिम यम तो वही एक परमात्मा है पर जो सूक्तमें यमका वर्णन है वह उसकी एकदेशीय शक्ति का वर्णन है। हमारे व्याख्यामें इसी प्रकार इस मंत्रकी सूक्तके साथ संगति है। यम यह एक स्वतन्त्र सत्तावाली परमात्माकी शक्ति है जो वायु अग्नि आदिसे भिन्न है सूज्ञ पाठक इस विवेचन पर और भी अधिक विचार कर निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

सम्पूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश।

प्रथम मंत्र।

१ कर्मानुसार जन्मस्थानका निर्णय यम करता है।
२ यम विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र है।
३ यम को सब जन प्राप्त होते हैं।

द्वितीय मंत्र।

४ यम ने यमलोक में आने के मार्ग को सबसे प्रथम जाना।
५ यमलोक के मार्गसे कोई भी बच नहीं सकता। अर्थात् प्रत्येक को यम लोक में अवश्य जाना पडता है।
६ यमलोकमें हमारे पूर्व पितर गए हुए हैं।

तृतीय मंत्र।

७ यम अङ्गिरस् पितरों से बढता है।

चतुर्थ व पञ्चम मंत्र।

८ यम का अङ्गिरस् पितरोंके साथ यज्ञमें बुलाया जाता है।
९ अङ्गिरस् पितर यमका सत्कार करते हैं।

१ यमके पिता विवस्वान् को भी यज्ञमें बुलाया जाता है।

षष्ठ मंत्र।

११ अङ्गिरस् पितरोंके मान्य रूप नवग्व, अथर्वन्, भृगु आदि हैं।

सप्तम मंत्र।

१२ प्रेत पितृलोक (यमलोक) में भेजा जाता है।
१३ यमलोकमें यम व वरुण राजा है।
१४ यम व वरुण स्वधासे आनन्दित होते हैं।

अष्टम मंत्र।

१५ प्रेत का यम व पितर कैसे स्वागत करते हैं। वह अपने इष्टापूर्त को साथ लेकर उनके साथ यमलोक में जाता है।
१६ प्रेत यमलोकसे पुनः वापिस लौटता है।

नवम मंत्र।

१७ श्मशानभूमिसे विघ्नकारियों को भगाया जाता है।
१८ यमलोकमें दिन रात नहीं होते।

दशम मंत्र।

१९ यमके दो कुत्ते हैं जिनकी चार आंखें हैं तथा वे स्वर्ण चितकबरे हैं।
२ मृत आत्मा पितरोंको प्राप्त होती है।
२१ पितर यमके साथ आनन्दित होते हैं।

एकादश मंत्र।

२२ यमके श्वान यमलोकके मार्गकी रक्षा करते हैं।
२३ वे मनुष्योंको सर्वदा देखते रहते हैं।

द्वादश मंत्र।

२४ यमके श्वान लम्बी नाकवाले हैं।
२५ प्राणको खाकर तृप्त होनेवाले हैं।
२६ वे श्वान यमके दूत हैं।
२७ वे मनुष्योंके सर्वदा पीछे पीछे फिरते रहते हैं।
२८ यमके दोनों श्वानोंमेंसे एक श्याम व दूसरा चित कबरा है।
२९ वैसवतः वे यमके दोनों श्वान दिन व रात हैं।

त्रयोदश मंत्र।

३ यमके लिए यज्ञमें सोम निचोडा जाता है व हवि दी जाती है।

११ अग्निको अपना दूत बनाकर वह यमके पास पहुंचता है।

चतुर्दश मंत्र।

१२ यमके लिए घीमिश्रित हवि दी जाती है जिस से कि उत्कृष्ट स्थिति उपलब्ध होती है।

१३ यम देवोंमें जीनेके लिए हविर्दाता को दीर्घायु देता है।

पंचदश मंत्र।

१४ यमराजाके लिए अतीव मधुरतम हव्य देना चाहिये।

१५ पूर्वज सब ऋषियोंका सत्कार करना चाहिए।

षोडश मंत्र।

१६ छहों उर्वियोंको अकेले ही इस महान् यमने व्याप्त कर रखा है।

१७ त्रिष्टुप् आदि सब छंद भी उसी यम (सर्व नियामक-परमात्मा) में स्थित हैं- यमके अन्तर्गत हैं।

२ ऋग्वेद मं० १० सू० १५

इस सूक्तमें जीवित तथा मृत दोनों पितरोंको यज्ञमें बुलाने आदिका वर्णन है। किस मंत्रमें जीवित पितरोंके प्रति कथन है व किसमें मृत पितरोंके प्रति यह निर्णय प्रत्येक मंत्र स्वयं करता है।

> उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
> असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥
> ऋ० १०।१५।१॥

हे (सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (अवरे) निकृष्ट (उत् परासः) और उत्कृष्ट (उत्) तथा (मध्यमाः) मध्यम (पितरः) पितरो! [उदीरताम्] उन्नतिको प्राप्त होओ। [ये अवृकाः] जिन हिंसा न करनेवाले पितरोंने [असुं ईयुः] प्राण को प्राप्त किया है अर्थात् जो प्राणधारी पितर हैं [ते] वे [ऋतज्ञाः] सत्य व यज्ञको जाननेवाले [पितरः] पितर [हवेषु] बुलाए जानेपर [नः] हमारी [अवन्तु] रक्षा करें।

विवरण

सोम्यासः—सोम संपादन करनेवाले।

अवृकाः—अहिंसकाः—हिंसारहित।

उदीरताम् उत् ईरताम्। उत् उपसर्गपूर्वक ईर गती धातु। ऊपर गति करना अर्थात् उन्नति करना।

सब प्रकारके उत्तम मध्यम तथा निकृष्ट पितर अपनी उन्नति करें। हमारे बुलानेपर आकर हमारी रक्षा करें।

असुं य ईयुः पदसे यह ज्ञात होता है कि इस में जीवित पितरों से प्रार्थना की गई है। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।१।४४) में तथा यजुर्वेद (१९।४९) में भी आया है।

> इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः। ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु॥
> ऋ० १०।१५।२।

[अद्य] आज [पितृभ्यः] पितरोंके लिए [इदं नमः अस्तु] यह नमस्कार हो। जिन पितरों के लिए? [ये] जो कि [पूर्वासः] पूर्वकालीन पितर [ईयुः] स्वर्गको गए हुए हैं और [ये] जो कि [उपरासः] अर्वाचीन कालके पितर स्वर्गको गए हुए हैं और [ये] जो कि पितर [पार्थिवे रजसि] पार्थिव रजस् पर अर्थात् पृथिवीपर [आ निषत्ताः] स्थित हैं [वा] अथवा [ये] जो कि [नूनं] निश्चय से [सुवृजनासु विक्षु] उत्तम बल वा धनयुक्त प्रजाओंमें स्थित हैं।

पुरातन कालके अर्वाचीन कालके जो पितर हैं और जो इस समय पृथिवीपर विद्यमान हैं अथवा उत्तम धनधान्य संपन्न प्रजाओंमें विद्यमान हैं उन सब पितरोंके लिए नमस्कार है।

विश् शब्द निघण्टुमें मनुष्यवाची नामोंमें पठित है। देखो निघण्टु २।३ वृजनका अर्थ निघण्टुमें बल देखा किया गया है। निघण्टु २।९॥ इस मंत्रमें सर्व प्रकारके पितरोंका अर्थात् प्राचीन अर्वाचीन जीवित,मृत सबके लिए नमस्कार का निर्देश है। पूर्वासः अर्थात् प्राचीन कालके पितर इस समय मृत ही हैं। जो पार्थिव लोकपर विद्यमान हैं वे ही जीवितोंमें गिने जा सकते हैं। अतः इनके सिवाय शेष दोनों अर्वाचीन व प्राचीन पितर निस्संदेह मृत पितर ही हैं। इससे यह स्पष्ट हुआ कि मृत पितरोंको भी नमस्कार करना चाहिए।

यह मंत्र अथर्ववेद (१८।१।४५) तथा यजुर्वेद (१९।५८) में भी आया हुआ है।

> आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः। बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः॥ ऋ १ ।१५।३॥

(सुविदत्रान् पितॄन्) उत्तम धनवाले पितरोंको (आ अवित्सि) अच्छी प्रकार प्राप्त करता हूं। (विष्णोः नपातं विक्रमणं च) और सर्वव्यापक परमात्माके न गिरानेवाले अर्थात् उन्नति करानेवाले बीर्यको प्राप्त करता हूं। (बर्हिषदः पितरः) कुशासन पर बैठनेवाले पितर जो कि (स्वधया) अपने अन्न (सुतस्य पित्वः) उत्पादित अर्थात् तैयार किए हुए अन्नका (भजन्त) सेवन करते हैं यानि खाते हैं (ते) वे पितर (इह) इस यज्ञमें (आगमिष्ठाः) आवें।

धनधान्ययुक्त पितरोंको व व्यापक परमात्माके वीर्यको मैं प्राप्त करता हूं। अपने साथ अन्न आदि को खानेवाले पितरो! इस यज्ञमें आओ।

सुविदत्र:— सुविदत्रः कल्याणविद्यः। निरु अ ६। पा ३। खं १४। सुविदत्रका अर्थ निघण्टुमें धन भी है। निघ २।१॥ पित्वः = पितु+अस् = पित्वः = अन्नका। नपात = न पातयति = जो न गिरावे।

अर्थ सुविदत्रान् पितॄन् अवित्सि से जीवित पितर प्रतीत होते हैं। क्योंकि सुविदत्र पितरोंको तभी प्राप्त किया जा सकता है जब कि उनके यहां उनसे जन्म लिया जावे। और अन्न जीवित पितरों से ही मिलता है। यह मंत्र अथर्ववेद [१८।१।४५] में तथा यजुर्वेद [१९।५६] में आया है।

> बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्। त आ गतावसा शंतमेनाथा नः शं योररपो दधात॥ ऋ १ ।१५।४॥

(बर्हिषदः पितरः) हे बर्हिषद् पितरो! (अर्वाक्) हमारे आगे (ऊती) रक्षार्थ आओ। (वः) तुम्हारे लिए (इमा) इन्हें ही (चकृम) करते हैं उनका (जुषध्वम्) प्रीति पूर्वक सेवन करो। (ते) वे तुम (शंतमेन अवसा) कल्याणकारी रक्षण के साथ (आगत) आओ। (अथ) और तब (नः) हमें (अरपः) पापरहित आचरण, (शं) कल्याण और (योः) दुःखवियोग (दधात) दो।

बर्हिषद् पितर हमारा रक्षण करें और उसके बदलेमें हम उनका हव्यादि प्रदान द्वारा सत्कार करें। वे हमारे रोग तथा भयोंको दूर करते हुए हमारा संरक्षण करें।

बर्हिषदः— बर्हिष् में अथवा बर्हिष् पर बैठनेवाले। निघण्टु में बर्हिष् शब्द अन्तरिक्ष एवं जलवाची है। अन्तरिक्षमें जल रहता है अतः जलका भी नाम बर्हिष् पड गया ऐसा प्रतीत होता है। बर्हिष् = अन्तरिक्ष। निघण्टु १।३॥ बर्हिष् = जल। निघण्टु– १।१२॥ अंतरिक्ष में पितर रहते ऐसा हमें वेदमंत्रोंसे (जैसा कि हम पूर्व बता आए हैं) पता चलता है। तदनुसार 'बर्हिषदः' का अर्थ हुआ अन्तरिक्षस्थ पितर। निघण्टु–३।३। में बर्हिष् महत् वाची नामों में भी पठित है। तदनुसार महान् पितर ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है। बर्हिष् कुशा घास का भी नाम है। तदनुसार इसका अर्थ कुशासन के आसनपर बैठनेवाले ऐसा भी हो सकता है। वेदमें बर्हिष् यज्ञ के लिए भी प्रयुक्त हुआ हुआ है अतः यज्ञ में बैठनेवाले ऐसा अर्थ भी हम कर सकते हैं। प्रकरणानुसार उचित अर्थ लेना चाहिए। बर्हिषद् पितरोंके विषयमें विशद विवरण हम अन्यत्र प्रकाशित करेंगे।

शंयोः— शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्॥ निरुक्त ४।३।२१॥ अरपः—रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः॥ निरुक्त ४।३।२१॥ न रपः = अरपः— पापरहित। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।५५) में तथा अथर्ववेद (१८।१।५१) में भी है।

> उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु। त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ ऋ १ ।१५।५॥

(ते) वे (सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (पितरः) पितर (प्रियेषु बर्हिष्येषु) प्रीतिकारक यज्ञसम्बन्धी निधियोंमें (उपहूताः) बुलाए गए हैं (ते) वे पितर (इह) इस यज्ञमें (आगमन्तु) आवें। (ते अधिब्रुवन्तु) वे पितर हमारी प्रार्थनायें ध्यान देकर सुनें (अधिब्रुवन्तु) हमें उपदेश करें तथा (अस्मान् ते अवन्तु) हमारी वे रक्षा करें।

याज्ञिक कार्योंमें पितर हमारे बुलाए जानेपर आवें। आकर हमें उपदेश दें, हमारी प्रार्थनायें सुनें तथा हमारी रक्षा करें।

बर्हिष्य— बर्हिष् नाम यज्ञका है। उसमें होनेवाला बर्हिष्य अर्थात् यज्ञसम्बन्धी। सोम्यासः— भाष्यकारोंने निरुक्तमें सोम्यासः का अर्थ सोम का संपादन करनेवाले ऐसा किया

है। मिथिः – मिथिः मेधाविरिति । निरु अ ५। पा ११ ख ४। अर्थात् बुध का सत्कार।

यह मंत्र यजुर्वेद (१९।५७) में तथा अथर्ववेद (१८।१।७५) में है।

> आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥ ऋ १ ।१५।६६

(विश्वे) तुम सब पितरो ! (जानु आच्य) बांया घुटना टेककर (दक्षिणतः निषद्य) दाईं ओर बैठकर (इमं यज्ञं) इस यज्ञ का (अभि गृणीत) स्वीकार करो। (पितरः) हे पितरो ! (यत् वः आगः) जो तुम्हारा अपराध (पुरुषता कराम) पुरुषत्व के कारण अर्थात् मनुष्यत्व के कारण हम करते हैं ऐसे (केन चित्) किसी भी अपराध के कारण (मा हिंसिष्ट) हमारी हिंसा मत करो।

हे पितरो ! दाईं ओर बांया घुटना टेककर इस यज्ञमें बैठो। यदि हम मनुष्यों से किसी प्रकारका अपराध अनजाने हो जाए तो उसके कारण हमारा विनाश मत करो।

जानु आच्य– इसका अर्थ हमने बांया घुटना टेककर ऐसा किया है जिसका आधारभूत शतपथ ब्राह्मण का निम्न वचन है— अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीत् इत्यादि। शतपथ २।४।२।१ ॥

इस मंत्रमें जिन पितरों का उल्लेख है वे जीवित पितर हैं ऐसा आच्याजानु से प्रतीत होता है। मृत पितर देहरहित होनेसे यज्ञमें घुटना टेककर नहीं बैठ सकते। देहधारी पितरोंके लिए ही यह करना संभव है और देहधारी पितर जीवित पितर ही हो सकते हैं मृत पितर नहीं। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।६२) में तथा अथर्ववेद (१८।१।५२) में है।

> आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय। पुत्रेभ्य पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात ॥ ऋ १ ।१५।७ ॥

(अरुणीनां उपस्थे आसीनासः) यज्ञ में प्रदीप्त की गई अग्निकी लाल लाल ज्वालाओंके समीपमें बैठे हुए अर्थात् यज्ञमें उपस्थित हुए हुए पितरो ! (दाशुषे मर्त्याय) दानी मनुष्यके लिए (रयिं धत्त) धनका दो। (तस्य) उस दानीके (पुत्रेभ्यः वस्वः प्रयच्छत) पुत्रोंके लिए धनका दान करो। (ते) व तुम (इह) यहांपर उस दानी व दानीके पुत्रोंके लिए (ऊर्ज) अन्नसे (दधात) पुष्ट करो।

हे पितरो ! यज्ञमें बैठकर जो दान करनेवाला है उसके लिए तथा उसके पुत्रोंके लिए धन व अन्नका दान करके उन्हें पुष्ट करो।

अरुणी– यद्यपि निघण्टु १।१५ में उषार्थ किरण ऐसा अर्थ है, तथापि यहांपर प्रकृत प्रकरणमें यज्ञका वर्णन होनेसे यज्ञकी रक्तवर्ण ज्वालाओंसे ही अभिप्राय है। ऊर्ज— अन्न। निघण्टु २।७॥

यह मंत्र अथर्ववेद (१८ । ३ । ४३) में तथा यजुर्वेद (१९।६३) में आया है।

> ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः। तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ऋ १ ।१५।८ ॥

(ये) जिन (नः) हमारे (पूर्वे सोम्यासः वसिष्ठाः पितरः) पुरातन सोम संपादन करनेवाले वसिष्ठ अर्थात् उत्तम धनवाले पितरों ने (सोमपीथं) सोमपान को यज्ञमें (अनु ऊहिरे) प्राप्त किया था (तेभिः) उन (उशद्भिः) यमके साथ सोमपान करने या हवि खाने की कामना करते हुए वसिष्ठ पितरोंके साथ (उशन्) सोमपान करने या हवि खानेकी कामना करता हुआ (संरराणः) पितरोंके साथ रमण करता हुआ अर्थात् आनन्दित होता हुआ (यमः) यम (हवींषि) हवियोंको (प्रतिकामं) इच्छानुसार (अत्तु) खावे।

हमारे जिन पुरातन पितरोंने यज्ञमें बैठकर सोमपान किया था उन पितरोंके साथ मिलकर यम हमारे द्वारा दी गई हवियोंको खावे। हमें यम व पितरोंके लिए यज्ञमें पर्याप्त मात्रामें हवि देनी चाहिए।

वसिष्ठके विषयमें निम्न लिखित मन्त्रोंके वचन हैं—

(१) यद्दे नु अद्य देव वसिष्ठो अग्ने महस्तमो वदसि देवो एव वसिष्ठः ॥ ऋ ८।१।१।६ (२) देव वे श्रेष्ठा देव वसिष्ठाः॥ गो ष २।९ (३) एष (प्रजापतिः) वै वसिष्ठः ॥ श ११ ४।४।१ (४) प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः ॥ श ८।१।१।६ (५) यो ह वा अथमन (हे प्राण !) यद्वा अहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति ॥ श १४।९।२।१४ (६) आयमें देवानां वसिष्ठ ॥ ए १।२८ यह वचन ऋ २।९।१ पर है। ( ) यायमें वसिष्ठा ॥ श १४।९।२।२०

इस वचनानुसार कविक्रतु का अर्थ उत्तम कार्य करनेवाला अर्थात् उत्तम कामवाला ऐसा अर्थभी किया जा सकता है। क्रतु नाम यज्ञ भी है। तदनुसार उत्तम यज्ञवाले ऐसा अर्थ भी हो सकता है।

इस मंत्रके वर्णन से यहां मृत पितरोंका ग्रहण है। यम के साथ हवि खानेवाले पितर जीवित नहीं हो सकते।

इस मंत्रसे लेकर इस सूक्तकी समाप्तितकका मृत पितरोंके वर्णनमें निर्देश है। यह मंत्र यजुर्वेद (१९ । ६१) में आया है।

निम्न दो मंत्रों (९।१०) में अग्निको पितरोंके साथ यज्ञ में बुलाया गया है—

> ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः। आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिर्घर्मसद्भिः॥ ऋ० १०।१५।९॥

(देवत्रा जेहमानाः) देवोंको प्राप्त होते हुए अर्थात् देवत्व प्राप्त हुए (होत्राविदः) यज्ञोंके जाननेवाले (स्तोमतष्टासः) स्तोत्रोंसे स्तुति करनेवाले (ये) जो पितर (अर्कैः) अर्चनीय स्तोत्रोंसे (तातृषुः) इस प्यासरूपतासे सर्वथा तर गए हैं ऐसे (सुविदत्रैः, सत्यैः, कव्यैः घर्मसद्भिः पितृभिः) उत्तम धनवाले अथवा उत्तम धनी विद्यावान अर्थात् उत्तम ज्ञानी (सत्यैः) सत्यवचनी (कव्यैः) कव्यनाम है पितरोंके उद्देशसे दी गई हविका उसको खानेवाले तथा यज्ञमें आकर बैठनेवाले पितरोंके साथ (अर्वाङ्) हमारी ओर (आग्ने) हे अग्नि! तू (आयाहि) यज्ञमें आ।

इसमें प्राप्त हुए हुए पितरोंको अग्निके साथ यज्ञमें बुलाया गया है व अग्नि उन पितरोंके साथ यज्ञमें आती है अर्थात् पितर अग्निके साथ हमारे यज्ञमें आते हैं।

घर्म—यज्ञ। निघण्टु ३।१७॥

अर्क— इस शब्द। इसके अनेक अर्थ हैं — अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति। अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति। अर्कं अन्नं भवति अर्चति भूतानि। अर्को वृक्षो भवति संवृतः कटुकिम्ना। निरुक्त ५।४॥ सुविदत्राः— सुविदत्रः धनवान्। निरुक्त ७।९।१४॥ इसका अर्थ धन भी है। ...

इस मंत्रमें "देवत्रा जेहमानाः" के कारण मृत पितरोंका ग्रहण स्पष्ट होता है। उसमें भी अग्नि द्वारा स्वर्गमें जा पहुंचना ही मरकर दिखा गया है।

> ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः। आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः॥ ऋ० १०।१५।१०॥

(ये) जो पितर (सत्यासः) सत्यवचनी (हविरदः) हविके खानेवाले, (हविष्पाः) हविकी रक्षा करनेवाले तथा (इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः) जो इन्द्र व देवोंके साथ समान रथपर आरूढ होते हैं ऐसे (सहस्रं देववन्दैः) हजारों बार देवोंसे स्तुति किए गए (परैः पूर्वैः) पुरातन तथा अर्वाचीन (घर्मसद्भिः पितृभिः) यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ (आग्ने) हे अग्नि! तू (आयाहि) आ।

देवोंके साथ एकरथारूढ अर्थात् देवोंके साथ विचरण कर लेनेवाले पितरोंको यज्ञमें अग्नि लाती है।

यह मंत्र पूर्व मंत्रकी आशय को स्पष्ट कर रहा है। स्वर्गस्थ पितर तथा देवोंमें विचरण करनेवाले पितर जीवित पितर नहीं हो सकते। इसके सिवाय यहां एक और भी महत्वपूर्ण बातका पता चलता है और वह यह कि मरनेके बाद जीव एकदम पुनर्जन्म नहीं लेता, कमसे कम बहुतसे जीव तो एकदम नहीं ले लेते। दूसरे शब्दोंमें इसे यूं भी कह सकते हैं कि परलोकवासी जीवोंका इस लोकवासी जीवोंसे सम्बन्ध बना रहता है। वे इस लोकमें आकर यहांके जीवोंके यज्ञोंमें हिस्सा लेते रहते हैं व समय समयपर रक्षा आदिके कार्य भी करते हैं। उनको हमारे यज्ञमें पहुंचानेवाली अग्नि है। अतः जीवित पितरोंकी तरह उनका भी समय समयपर सत्कार करना चाहिए, ऐसा इसका अभिप्राय हुआ। इस विषयमें विशेष प्रकाश व समर्थन मन्त्रोंसे मृत लेखमें वर्णन किया जा चुका है। यह महत्वपूर्ण विशेष विचार करना जरूरी है।

> अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः। अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन॥ ऋ० १०।१५।११॥

हे [सुप्रणीतयः] उत्तम प्रकारसे ले जानेवाले [अग्निष्वात्ताः पितरः] अग्निसे स्वाद लिए गए पितरो! [इह] इस यज्ञमें [आगच्छत] आओ। [सदः सदः सदत] घर घरमें स्थित होओ। [अथ] और [बर्हिषि प्रयतानि हवींषि अत्त] यज्ञमें दी गई हविको खाओ और हमें [सर्ववीरं रयिं दधातन] सब प्रकार के वीरोंसे युक्त धन दो ...

हे अग्निष्वात्ताः! ... इस यज्ञमें तुम्हारे

उद्देश्यसे दी गई हवियोंको खाओ तथा उसके बदलेमें वीर संतति का प्रदान करो।

सुरभीणि– जिसकी प्रीति उत्तम है अर्थात् जो उत्तम गन्धयुक्त है। यह मंत्र यजुर्वेद [१९।५९] में तथा अथर्ववेद [१८।३।४२] में भी आया हुआ है।

> त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी। प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥ ऋ० १०।१५।१२॥

हे [जातवेदः अग्ने] ज्ञानवान् अग्नि! [ईळितः त्वं] स्तुति किया गया तू [हव्यानि] हव्योंको [सुरभीणि कृत्वी] सुगंधित बनाकर [अवाट्] वहन कर [पितृभ्यः] उन हव्योंको पितरोंके लिए [प्रादाः] दे। [ते] वे पितर [स्वधया अक्षन्] अन्न हव्योंको स्वधाके साथ खावें। [देव] हे प्रकाशमान अग्नि! [त्वं] तू भी [प्रयता हवींषि] दी गई हवियोंको [अद्धि] खा।

अग्निकी स्तुति करनेपर वह पितरोंके लिए हविको सुगंधित बनाकर ले जाती है। और ले जाकर पितरोंको देती है ताकि वे खावें।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि परस्थ पितरोंके पास हवि पहुंचानेका साधन अग्नि है। अतः अग्निद्वारा परस्थ पितरोंको हवि पहुंचाना चाहिए।

जीवित पितरोंको अग्निद्वारा हवि देनेसे तृप्ति नहीं हो सकती अतः अग्निद्वारा हवि मृत पितरोंको ही दी जा सकती है और उसीके द्वारा वे तृप्त हो सकते हैं। स्थूल रूपमें विद्यमान हवि जीवितोंके लिए उपयोगी है और अग्निद्वारा सूक्ष्म रूपमें की गई हवि मृतोंके लिए उपयोगी है। इसमें हेतु यह है कि जीवित पितरोंका भौतिक देह अब अग्निद्वारा दी गई सूक्ष्मरूप हविसे तृप्त नहीं हो सकता यह बात निर्विवाद ही है। इसके प्रतिकूल मृत पितरोंका भौतिक देह नहीं है अर्थात् उनके पास स्थूल हविके ग्रहण करनेका एक मात्र साधन स्थूल शरीर नहीं है अतः उनके लिए स्थूल हवि निरुपयोगी है पर सूक्ष्म शरीरके अवशिष्ट होनेसे उसके संरक्षणके लिए उन्हें सूक्ष्म रूपमें हवि चाहिए, जो कि अग्नि द्वारा उन्हें मिल सकती है और उससे वे तृप्त हो सकते हैं। जीवित दशामें स्थूल शरीर होते हुए भी सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहता है व स्थूल शरीरके साथ साथ पुष्ट होता रहता है। स्थूल शरीरको खोराकसे सूक्ष्म शरीरको भोजन बहुत अंश मिलता रहता है, पर स्थूल देहके अलग हो जानेपर सूक्ष्म देहको स्थूल शरीरके द्वारा जो खोराक उपलब्ध होती थी वह बंद हो जाती है। भोजनके बिना देहकी स्थिति नहीं रह सकती अतएव अग्निद्वारा सूक्ष्म देहको खोराक पहुंचाई जाती है। और यही कारण प्रतीत होता है कि अग्निको सर्वत्र कहा गया है कि वह मृत पितरोंके पास हविको ले जाए उनको हवि खानेके लिये दे आए, इत्यादि। इसी समयमें अग्नि द्वारा मृत पितरोंको हवि पहुंचानेका कारण यही है कि उनके सूक्ष्म शरीरको अन्न मिलता रहे। मृत पितरोंको स्वसूक्ष्म देह धारणार्थ हविकी आवश्यकता रहती है और अतएव वेदमें ऐसे मंत्र हमें उपलब्ध होते हैं। इसके अनुसार इस मंत्रमें मृत पितरोंके उद्देश्यसे हवि देनाका उल्लेख है ऐसा हम मान सकते हैं। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।३।७२)में तथा यजुर्वेद(१९।६७)में भी आया हुआ है।

> ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म यां उ च न प्रविद्म। त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व॥ ऋ० १०।१५।१३॥

(ये च इह पितरः) जो पितर यहांपर विद्यमान हैं (ये च न इह) और जो पितर यहांपर विद्यमान नहीं हैं (यान् च विद्म) और जिन पितरोंको हम जानते हैं, (यान् च न प्रविद्म) और जिन पितरोंको हम नहीं जानते इस प्रकारके (यति ते) जितने भी वे पितर हैं उन सबको (त्वं) तू (वेत्थ) जानती है। (स्वधाभिः) स्वधाओंके साथ (सुकृतं यज्ञं) उत्तम प्रकारसे किए हुए यज्ञको तू (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक सेवन कर।

जो पितर इस संसारमें विद्यमान हैं और जो नहीं हैं तथा जिनको हम जानते हैं और जिनको हम नहीं जानते अर्थात् जो हमारे जन्मसे भी पहिले इस लोकसे चले गए हैं, उन सब पितरोंको अग्नि जानती है।

पूर्व मन्त्रमें मृत पितरोंको हविकी आवश्यकता क्यों है यह दर्शाते हुए हमने यह भी दर्शाया था कि अग्नि द्वारा उन्हें हवि पहुंचाने में हेतु क्या है। इस मन्त्रमें अग्नि द्वारा हवि पहुंचानेका दूसरा हेतु दर्शाया गया है और वह यह कि अग्नि सब प्रकार के पितरोंके विषयमें परिचय रखती है। अतएव वही एक ऐसी है कि जो पितरोंके पास चाहे वे कहीं पर भी हों हवि पहुंचा सकती है। यह दूसरा हेतु है जिसके कि

साथ अग्नि द्वारा हवि पहुंचानेका वेदमंत्रोंमें निर्देश है। अग्निसंबन्धी विशेष विवेचन हम पहिले अग्नि व पितरमें कर चुके हैं, वहांसे पाठक देख सकते हैं। यह मंत्र यजुर्वेद (१९। ६०) में है।

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः
स्वधया मादयन्ते। तेभिः स्वराळसुनीतिमेतां
यथावशं तन्वं कल्पयस्व॥ ऋ० १०।१५।१४

(ये) जो पितर (अग्निदग्धाः) अग्नि द्वारा जलाए गए हैं (ये) और जो (अनग्निदग्धाः) अग्नि द्वारा नहीं जलाए गए हैं ऐसे जो दोनों प्रकार के पितर (दिवः मध्ये स्वधया मादयन्ते) द्युलोकके बीचमें स्वधासे आनन्दित हो रहे हैं (तेभ्यः) उन दोनों प्रकारके पितरोंके लिए (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान अग्नि वा यम (यथावशं) कामनाके अनुसार (एतां असुनीतिं तन्वं कल्पयस्व) इस प्राणों द्वारा ले जानेवाले शरीरको बना।

जिनका अन्त्येष्टिसंस्कार अग्निद्वारा किया गया है व जिनका अग्निद्वारा नहीं किया गया ऐसे द्युलोकमें रहनेवाले पितरों का प्रकरण होता है।

असुनीति— जो प्राणोंद्वारा ले जाया जावे। अर्थात् जिसका संचालन प्राणों द्वारा होता है। वह शरीर असुनीति है, क्यों कि प्राण निकल जानेपर इसका संचालन बन्द हो जाता है।

अग्निदग्ध और अनग्निदग्ध।

[ये निखाता ये परोप्ताः इत्यादि अथर्व १८।२।३४ में जो मृतके अन्त्येष्टिसंस्कारके चार प्रकार दर्शाए हैं उनमेंसे दग्ध को छोडकर शेष तीन संस्कार अर्थात् निखाता परोप्ता और उद्धिता इन तीनोंसे जिन मृतोंका अन्त्येष्टिसंस्कार हुआ है वे अनग्निदग्ध हैं तथा जिनकी देहें अग्निसे दग्ध हुई हैं वे अग्निदग्ध हैं।

अग्निष्वात्त व अनग्निष्वात्त।

प्रसंगवश थोडासा यहांपर अग्निष्वात्त व अनग्निष्वात्तके विषयमें लिखना उचित है। उपरोक्त मंत्र (ऋ० १०।१५।१४) और यजुर्वेद (१९।६०) में आया हुआ है। यहांपर जो थोडासा पाठभेद है वह अग्निष्वात्त व अनग्निष्वात्तके अर्थ-निर्णयको स्पष्ट कर देता है। ऋग्वेदका पाठ ऊपर हम दे चुके हैं। यजुर्वेदका पाठ इस प्रकार है—

ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः
स्वधया मादयन्ते। तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां
यथावशं तन्वं कल्पयाति॥ यजुः १९।६०॥

इन दोनों मंत्रोंकी तुलना करनेसे पाठकोंको दोनों मंत्रोंमें कितना व क्या पाठभेद है यह बात सुगमतासे पता चल सकती है। ऋग्वेदस्थ मन्त्रमें जहां 'अग्निदग्धाः' पद है वहां पर यजुर्वेदस्थ मन्त्र में 'अग्निष्वात्ताः' ऐसा पद है। और इसी प्रकार ऋग्वेदके मन्त्र में जहां अनग्निदग्धाः है, वहां पर यजुर्वेदके मंत्रमें 'अनग्निष्वात्ताः' ऐसा आया है। शेष भाग दोनों वेदोंके मंत्रमें सर्वथा समान है। थोडासा अन्तर व पुरुषभेद अंतिम पदमें है और वह यह कि यजुर्वेदस्थ मंत्रमें कल्पयाति है और उसके स्थानमें ऋग्वेदमें कल्पयस्व है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि—

अग्निदग्धाः = अग्निष्वात्ताः और अनग्निदग्धाः = अनग्निष्वात्ताः अर्थात् जो अग्निदग्धका अर्थ है वही अग्निष्वात्तका अर्थ है और जो अनग्निदग्धका अर्थ है वही अनग्निष्वात्तका। अग्निदग्धका अर्थ स्पष्ट ही है कि जो अग्निसे जला हुआ हो। अतः अग्निष्वात्तका भी अर्थ हुआ कि जो अग्निसे जला हुआ हो। इसी प्रकार अनग्निदग्धका अर्थ है कि जो अग्निसे न जला हुआ हो। अतः अनग्निष्वात्तका भी अर्थ हुआ कि जो अग्निसे न जला हुआ हो।

अग्निष्वात्ताः का विग्रह इस प्रकार है— अग्निना आत्ताः स्वदिताः ते अग्निष्वात्ताः। अर्थात् जिनका अग्निने स्वाद लिया है जिनको अग्निने खाया है अर्थात् जिनको अग्निने जलाया है। इस प्रकार व्याकरणशास्त्र भी उपरोक्त कथन का ही पोषक है। अग्निष्वात्तके अर्थके विषयमें शतपथ का निम्न लिखित वचन है—

यानग्निरेव दहन्स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ताः।
श० २।६।१।७॥

अर्थात् जिनको अग्नि ही जलाती हुई स्वाद लेती है वे पितर अग्निष्वात्त कहलाते हैं। इसका यह अभिप्राय हुआ कि जिनका अन्त्येष्टि-संस्कार अग्निद्वारा होता है वे अग्निष्वात्त पितर हैं। अन्त्येष्टि संस्कार के बिना अग्नि को पितरों के जलाने का अन्य कोई अवसर ही नहीं। इस प्रकार शतपथ व व्याकरणानुसार भी उपरोक्त विवेचन की पुष्टि होती है। अतः अग्निष्वात्तका अर्थ हुआ कि जिनका अन्त्येष्टिसंस्कार अग्नि से हुआ है और

अनग्निष्वात्तका अर्थ हुआ जिसका अंत्येष्टिसंस्कार अग्निसे नहीं हुआ है। अग्निष्वात्त व अग्निदग्ध के इस विवेचनानुसार उपरोक्त मंत्रमें मृत पितरोंका ही उल्लेख है यह साबित होता है।

संपूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश।

मंत्र १

१ जीवित पितर संग्राममें अथवा रक्षार्थ बुलाए जानेपर हमारी रक्षा करते हैं।

मंत्र २

२ प्राचीन अर्वाचीन पृथिवीस्थ आदि पितरों के लिए नमस्कार करना चाहिए।

मंत्र ३

३ बर्हिषद् पितरों को यज्ञ में बुलाना चाहिए।

मंत्र ४

४ बर्हिषद् पितरों को हवि देनी चाहिए।

५ बर्हिषद् पितर हमारे रोग भयादि को दूर करते हैं।

मंत्र ५

६ पितर यज्ञमें आकर हमारी प्रार्थनाओंको सुनते हैं हमें उपदेश देते हैं तथा हमारी रक्षा करते हैं।

मंत्र ६

७ पितर यज्ञ में घुटना झुका देकर बैठते हैं व यज्ञ का स्वीकार करते हैं।

मंत्र ७

८ पितर यज्ञ में बैठकर दानी मनुष्य को व उसके पुत्रोंको धन देते हैं। उन्हें धनादि देकर पुष्ट करते हैं।

मंत्र ८

९ सोमपान करनेवाले पुरातन मृत पितरोंके साथ यम हविको खाता है।

मंत्र ९

१० अग्नि देवत्वको प्राप्त किए हुए यज्ञादि में बैठनेवाले पितरोंके साथ यज्ञमें आती है।

मंत्र १०

११ पितर इन्द्र तथा देवोंके साथ समान रथपर आरूढ होकर विचरण करते हैं।

मंत्र ११

१२ अग्निष्वात्त पितर बुलानेपर घरघरमें आते हैं हविर्या खाते हैं व सर्ववीरयुक्तधनयुक्त संतति देते हैं।

मंत्र १२

१३ अग्नि हव्योंको सुगंधित बनाकर ले जाती है व वे लाकर पितरोंको खानेके लिए देती है।

मंत्र १३

१४ जो पितर यहां हैं व जो यहां नहीं हैं जिन पितरों को हम जानते हैं व जिनको हम नहीं जानते इसादि सर्व प्रकारके पितरोंका अग्नि जानती है।

मंत्र १४

१५ द्युलोकके मध्यमें स्वधासे तृप्त होनेवाले पितर चाहे अग्निदग्ध हों चाहे अनग्निदग्ध हों, उनका पुनर्जन्म होता है।

३ ऋग्वेद मं० १० सू० १६

इस सूक्तमें विशेषतः अंत्येष्टि संस्कार संबन्धी मंत्रोंका उल्लेख है। इस सूक्तकी देवता अग्नि है।

> मैनमग्ने वि दहो माभि शोचो मास्य त्वचं
> चिक्षिपो मा शरीरम्। यदा शृतं कृणवो
> जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृभ्यः॥
>
> ऋ० १०।१६।१

(अग्ने) हे अग्ने! (एनं मा विदह) इस प्रेतको इस प्रकारसे मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट प्रतीत हो। (मा अभि शोचः) इसे शोकयुक्त मत कर। (अस्य त्वचं मा चिक्षिपः) इसकी त्वचा अर्थात् चमडीको मत फेंक। इसके शरीरमें विद्यमान त्वचा मांस आदि को इस प्रकारसे जला दे कि कोई भी भाग अवशिष्ट न रहने पावे। (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (यदा शृतं कृणवः) जब तू इस प्रेत को परिपक्व बना दे अर्थात् पूर्णतया जला दे (अथ) तब (एनं) इस प्रेतकी आत्माको (पितृभ्यः प्रहिणुतात्) पितरोंके पास भेज दे अर्थात् पितृलोकमें इस प्रेतकी आत्मा चली जाय।

प्रेतदहनके समय अग्निसे किस प्रकारकी प्रार्थना करनी

चाहिए इस बातका इस मंत्रमें उल्लेख है। इस मंत्रके उत्तरार्धसे एक महत्त्वपूर्ण बातका निर्देश मिलता है और वह यह है कि जबतक देह संपूर्णतया जल नहीं जाती अथवा संपूर्णतया नष्ट नहीं हो जाती तबतक आत्मा उस देहको छोडकर स्थानान्तरमें नहीं जाती। उस देहके आसपासही मण्डराती रहती है। उस देहका मोह उसे खींचे रखता है। इस निर्देशानुसार आत्माको देहसे शीघ्र मुक्त करानेके लिए व उसके लिए निर्धारित अगले स्थानपर शीघ्रतासे पहुंचानेके लिए शरीरका शीघ्र दहन करना ही उचित उपाय है क्योंकि अग्निदहनके सिवाय शरीरको संपूर्णतया शीघ्र नष्ट करनेका अन्य कोई सुगम उपाय नहीं है।

मंत्रके चतुर्थ पादसे यह भी पता चल रहा है कि मृतात्मा शरीरसे पृथक् होकर पितृलोकमें जाती है। अग्नि आत्माको पितृलोकमें भेजती है। इस मंत्रसे जो महत्त्वपूर्ण निर्देश मिलते हैं वे विशेष विचारणीय हैं। यह मंत्र अथर्ववेदमें थोडेसे पाठभेदके साथ है। (अथर्व १८।२।४)

> शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परि दत्तात् पितृभ्यः।
> यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति॥
> ऋ १०।१६।२॥

(जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (यदा शृतं करसि) जब तू इस प्रेतको पूर्णतया पक्व अर्थात् तप्त कर दे (अथ) तब (एनं पितृभ्यः परि दत्तात्) इसको पितरोंके लिए सौंप दे। (यदा) जब यह प्रेत (एतां असुनीतिं गच्छाति) इस प्राणोंके नयनसे युक्त होता है अर्थात् जब इसके प्राण निकल जाते हैं (अथ) तब प्राणोंके निकल जानेपर प्रेत (मृतशरीर), (देवानां वशनीः भवाति) देवोंके वश हो जाता है।

अग्नि शरीरको पूर्णतया तप्त करके आत्माको पितृलोकमें भेज देती है। अग्निद्वारा पृथक् पृथक् हुए हुए शरीरके तत्त्व अपने अपने स्थानमें चले जाते हैं।

यह मंत्र अथर्ववेद (१८।२।५) में भी आया है। इस मंत्रका तृतीय चरण प्रथम मंत्रके उत्तरार्धके समान है। आत्माके हुए शरीरसे जिस समय आत्मा शरीरसे पृथक् होती है उसे हि हम लौकिक भाषामें मरना कहते हैं। शरीर व आत्मा इस प्रकार दो विभाग हो जाते हैं। इन दो विभागोंका आगे चलकर क्या होता है अर्थात् वे कहां कहां जाते हैं यह बात इस मंत्रमें दर्शाई गई है। मंत्रके पूर्वार्धमें आत्माका क्या होता है, यह दर्शाया गया है तथा उत्तरार्धमें शरीरका क्या होता है यह दर्शाया गया है। पूर्वार्ध स्पष्ट है। उत्तरार्धमें कही गई बातका स्पष्टीकरण अगला तीसरा मंत्र स्वयं स्पष्ट कर रहा है। यहांपर सिर्फ इतना ही कहा गया है कि जब प्राण निकल जाते हैं तब यह मृत देह देवोंके वश हो जाता है। यह मृत देह देवोंके वश किस प्रकार हो जाता है इसका स्पष्टीकरण इस प्रकारसे है-

> सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं
> च धर्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमो
> षधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः॥ ऋ १०।१६।३॥

हे प्रेत! तेरी (चक्षुः सूर्यं गच्छतु) आंख सूर्यको जावे। (आत्मा वातं) तेरी आत्मा (प्राण) वायुको जावे। और हे प्रेत! (धर्मणा) धर्मसे अर्थात् यथायोग्य धर्मसे अथवा पार्थिवादि तत्त्वोंके धर्मसे अर्थात् जो पार्थिव तत्त्व हैं वे पृथिवीमें जा मिलें जो जलीय हैं वे जलमें जा मिलें इत्यादि प्रकारसे (द्यां च पृथिवीं च) द्यु व पृथिवी लोकको जा अर्थात् पार्थिव तत्त्व पृथिवीमें जा मिलें और जो द्युलोकका अंश हो वह द्युलोकमें जा मिले। जहां जहांसे जो जो अंश तेरे शरीरमें आया हो, वहां वहां वह वह अंश चला जाय। (वा) अथवा (अपः गच्छ) जलोंमें जलीय अंश जावे। (यदि तत्र ते हितं) यदि वहांका कोई अंश तेरेमें विद्यमान हो। और इसी प्रकार ओषधियोंमें शरीरांशोंसे स्थित हो अर्थात् ओषधिका अंश ओषधिमें चला जावे।

मरनेपर शरीरमें विद्यमान तत्त्व अपने अपने स्थानपर जहांसे आए हुए होते हैं वहां चले जाते हैं। सूक्ष्म इन्द्रियोंके अंश उन उनमें शामिल चले जाते हैं। हरेक देव अपना अपना अंश शरीरसे खींच लेता है। इस प्रकार इस मंत्रमें द्वितीय मंत्रके चतुर्थ पाद 'अथा देवानां वशनीर्भवाति' का स्पष्टीकरण किया गया है। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।२।७) में भी आया हुआ है।

> अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं
> ते अर्चिः। यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं
> सुकृतामु लोकम्॥
> ऋ १०।१६।४॥

हे अग्ने! इस प्रेतका जो (अजः भागः) अज अंश

न जलने योग्य भाग (आत्मा) है (तं) उसको तू (तपसा तपस्व) अपने तपसे तपा। (तं) उस अज भागको (ते शोचिः) तेरी दीप्तिमान ज्वाला (तपतु) तपावे। (त) उस अज भागको (ते अर्चिः) भास्वान तेरी ज्वाला (तपतु) तपावे। और फिर (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (याः ते शिवाः तन्वः) जो तेरे कल्याणकारी ज्वालाओंमें रूपी तनू अर्थात् शरीर हैं (ताभिः) उन शरीरों द्वारा इस अज भागको (सुकृतां लोकं) सुकर्म करनेवालोंके लोकमें (वह) प्राप्त कर।

हे अग्नि! तू इस शरीरके अज भाग आत्माको अपनी नानागुणविशिष्ट ज्वालाओंसे शुद्ध करके पुण्यलोकमें ले जा।

जैसा कि हम ऊपर दर्शा आए हैं कि मरनेपर शरीर दो विभागोंमें विभक्त हो जाता है, जिसमेंसे एक भाग तो मृत शरीर तथा दूसरा भाग अज आत्मा है। मृत शरीरका क्या करना चाहिए तथा अग्निदाहके अनन्तर वह किस किस रूपमें कहां कहां जाता है, यह तृतीय मंत्रमें स्पष्ट रूपसे दर्शाया जा चुका है। द्वितीय मंत्रमें संक्षिप्तरूपसे अज भाग आत्माके लिए भी निर्देश किया जा चुका है। इस मंत्रमें उसीका विस्तृतपन वर्णन वा स्पष्टीकरण है। वस्तुतस्तु तृतीय व चतुर्थ मंत्र द्वितीय मंत्रके ही स्पष्टीकरण हैं। इस मन्त्रसे भी यही पता चलता है कि अग्नि ही मृतात्माको सुकृतोंके लोकमें ले जाती है। यह मंत्र भी अथर्ववेदमें (१८।२।८) में पाया जाता है।

> अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः।
> आयुर्वसान उप वेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः॥
> ऋ० १०।१६।५॥

(अग्ने) हे अग्नि! (यः) जो (ते आहुतः) तेरेमें अन्त्येष्टिके समय आहुत किया हुआ (स्वधाभिः चरति) स्वधाओंसे विचरण करता है उसको (पुनः) फिर (पितृभ्यः) पितरोंके लिए लाकर प्राप्त करा दे अथवा यह पुनर्जन्म ले। अथवा पितृभ्यः को पंचमी मानकर भी अर्थ कर सकते हैं और वह इस प्रकार कि फिर पितृलोकमें विद्यमान पितरोंसे लाकर इस संसारमें छोड़। दोनों प्रकारके अर्थोंका भाव एक ही है। दोनों प्रकारके अर्थोंमें विरोध नहीं है। इस प्रकार वह पुनर्जन्म लिया हुआ (शेषः) अवशिष्ट संतान (उप वेतु) दीर्घायुको प्राप्त करे तथा (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (तन्वा सं गच्छतां) वह उत्तम शरीरसे अच्छी भांति युक्त होवे अर्थात् उत्तम शरीरसंपत्तिसे संपन्न बने।

अथवा इस मंत्रका अर्थ निम्न लिखित प्रकारसे भी किया जा सकता है।

हे अग्नि! जो मृत पुरुष तेरेमें अन्त्येष्टिके समय आहुत किया हुआ स्वधाओंसे विचरण कर रहा है उसे पितरोंके लिए दे अर्थात् उसे पितृलोकमें विद्यमान पितरोंके पास लेजाकर छोड़। क्योंकि इस भावके अन्य मंत्र मिलते हैं जिनमें कि अग्निका मृत को पितृलोकमें पहुंचानेका उल्लेख है अतः यह अर्थ भी हो सकता है। यहां शेष अर्थात् पीछे शेष रह गई उसकी संतान दीर्घायुको प्राप्त हुई हुई चारों ओर व्याप्त जाए। वह संतान सुंदर शरीरको प्राप्त करे। इस अर्थानुसार मंत्रके पूर्वार्धमें मृत पुरुषके लिए प्रार्थना की गई है व उत्तरार्धमें उस पुरुषकी जीवित संततिके लिए दीर्घायु आदि की प्रार्थनाका उल्लेख है। शेष नाम संतानका है। 'शेष इत्यपत्यनाम शिष्यते इति'। निरुक्त ३।२।४ इस मंत्रसे अग्निसे एक और विशेष कार्यका पता चलता है और वह यह कि पुनर्जन्मके लिए जीवात्माको पितरोंके पाससे पहुंचानेका कार्य भी अग्निका ही है। यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेद (१८।३।११) में भी आया हुआ है।

> यत्ते कृष्णः शकुन आतुतोद पिपीलः सर्प उत वा
> श्वापदः। अग्निष्टद्विश्वादगदं कृणोतु सोमश्च यो
> ब्राह्मणाँ आविवेश॥ ऋ० १०।१६।६

हे प्रेत! (ते) तेरे (यत्) जिस अंगको (कृष्णः शकुनः) काले मांसाहारी पक्षीने (आतुतोद) पीड़ा पहुंचाई है, (उत वा) अथवा (पिपीलः सर्पः श्वापदः) चींटी की जातिके जन्तुओंने या, सर्पने या जंगली हिंसक पशुने तुझे पीड़ा पहुंचाई है तो (अग्निः) अग्नि (विश्वात्) इस उपरोक्त सबसे (तत्) उस तेरे अंगको (अगदं कृणोतु) रोगरहित करे। (सोमः च) और सोम भी तेरे उस अंगको नीरोग करे। (यः) जो कि सोम (ब्राह्मणान् आविवेश) ब्राह्मणोंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है।

काले मांसाहारी पक्षी या चींटी मकोड़े आदि जन्तु सर्पादि विषयुक्त प्राणवी व जंगली जानवरोंसे पहुंचाए गए कष्टको अग्नि व सोम दूर करें। जिनकी मृत्यु सर्पादि जन्तुओं के काटनेसे होती है उनकी अन्त्येष्टिमें इस मंत्रका विनियोग होता है ऐसा इस मंत्रका अभिप्राय प्रतीत होता है,

मंत्रके सम्पूर्ण स्पष्ट है। इस प्राणियोंसे फाड़े गए अंगोंको अग्नि नीरोग करती है इसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि यह अग्नि प्राणियोंके विषयुक्त उस अंगको ऐसा बना देती है कि फिरसे वह रोग औरोंमें नहीं जा सकता। उस शवकी भस्ममें इन प्राणियोंके विषके जन्तु किसीभी अवस्थामें बचने नहीं पाते। इस मंत्रमें कर्पूरादि मिलेके प्राणी व जन्तु हिंसक प्राणियोंसे आक्रान्त देह सोमसे भी नीरोग की जा सकती है ऐसा कहा गया है।

> अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च। नेत्त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग् विधक्ष्यन् पर्यङ्खयाते ॥ ऋ. १०।१६।७ ॥

हे प्रेत! (गोभिः) घृतसे उत्पन्न हुई हुई (अग्नेः वर्म) अग्निकी ज्वालारूपी कवचसे (परि व्ययस्व) अपनेको चारों ओरसे ढक ले। अर्थात् अग्निकी ज्वालाओंके बीचमें तू हो जा जिससे कि तेरा पूर्ण रूपसे दहन हो सके। (सं) वह तू (पीवसा मेदसा) अपने अन्दर विद्यमान स्थूल चर्बीसे (प्रोर्णुष्व) अपने मांसको आच्छादित कर। इस प्रकार करनेसे (हरसा धृष्णुः) अपने तेजसे धर्षण करनेवाला, (दधृक्) प्रगल्भ (जर्हृषाणः) अत्यन्त प्रसन्न हुआ हुआ अग्नि (विधक्ष्यन्) तुझ प्रेतको विविधरूपसे जलाता हुआ अग्नि (त्वा) तुझे (नेत्) नहीं (पर्यङ्खयाते) इधर उधर बखेरेगा अर्थात् पूर्णरूपसे जलाकर भस्मावशेष कर सकेगा।

मुर्देको जलाते हुए घी पर्याप्त मात्रामें डालना चाहिए ताकि अग्नि खूब जोरसे प्रज्वलित होकर उसे जला डाले। उसका कोई भी भाग जले बिना रहने न पावे।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें अग्निसे कहा गया है कि हे अग्नि! तू 'मैनं दहो माभि शोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्' अर्थात् इस प्रेतकी त्वचा तथा शरीरको बिना जलाए हुए इधर उधर मत बखेर, बल्कि पूर्णतया जला डाल। यहां पर उसी मंत्रके आशयको सामने रखते हुए मुर्देसे कहा गया है कि तू अग्निकी ज्वालारूपी कवचको पहिनले व अपने अन्दर विद्यमान चर्बीसे अपनेको आच्छादित कर ले, जिससे कि अग्नि तुझे पूर्णतया जला दे। मंत्रका अभिप्राय यह है कि प्रेतका पूर्ण रूपसे दहन होना चाहिए व इसके लिए पर्याप्त घृतका उपयोग करना चाहिए। गो = घी।

वेदमें गौसे उत्पन्न पदार्थोंके वाचकभी गो शब्दसे कहे गये हैं। देखो निरुक्तमें गो शब्दकी व्याख्या। नि. अ. २। पा. ५॥

> इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम्। एष यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा अमृता मादयन्ते ॥ ऋ. १०।१६।८ ॥

(अग्ने) हे अग्नि! (इमं चमसं) इस शरीररूपी चमसको (मा वि जिह्वरः) मत विचलित कर। क्योंकि यह चमस (देवानां उत सोम्यानां) देवों और सोम पान करनेवालोंका (प्रियः) प्यारा है। (एषः) यह (यः) जो (चमसः) चमस है वह (देवपानः) देवपान है अर्थात् इसमें देवपान करके सोम इसमेंसे पीते हैं। (तस्मिन्) उस चमसमें (अमृताः देवाः) अमरणशील देव (मादयन्ते) पान करके प्रसन्न होते हैं।

यह शरीर देवोंके पान करनेका चमस है। यह देवोंका प्रिय है। इसमें देव पान करते हैं अतः हे अग्नि! इस शरीरकी दुर्दशा मत कर।

चमस— चमचा। यज्ञमें जिस पात्रमें सोमरस डालकर पान किया जाता है उसका नाम चमस है।

हम इसी सूक्तके दूसरे व तीसरे मंत्रमें देख आए हैं कि इस शरीरका किस प्रकार देवोंसे संबन्ध है। इसके अतिरिक्त स्थान स्थानपर वेदोंमें ऐसा वर्णन है। अथर्ववेद १ काण्ड सू. २ में भी ऐसा ही वर्णन है।

अगलेके मंत्रोंमें अंत्येष्टिसंबंधी वर्णन किया गया है। अगले तीन मंत्रोंमें क्रव्याद् अग्निको उपलक्ष्य करके कहा गया है। इस अन्त्येष्टि-संस्कारमें प्रयुक्त अग्निका नाम क्रव्याद् अग्नि है। क्रव्याद् अग्निका अर्थ है मांसभक्षक अग्नि। अतः यह मांसभक्षक अग्नि शवदहनद्वारा अग्निको करना पड़ता है। जैसा कि अगलेके मंत्रों द्वारा स्पष्ट है। इस प्रकार शवके जलानेसे मांसभक्षक (क्रव्याद् अग्नि) इस आत्माका क्या करना चाहिए इस विषयमें अगले तीन मंत्र प्रकाश डाल रहे हैं।

> क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः। इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥
>
> ऋ. १०।१६।९

(क्रव्यादं अग्निं दूरं प्रहिणोमि) मांसभक्षक अग्निको दूर भेजता हूं। (रिप्रवाहः) पाप का वहन करनेवाला वह अग्नि (यमराज्ञः गच्छतु) यमराजाके पास जाय है उस (

लोकमें चली जावे। (इह) यहांपर (अयं इतरः जातवेदाः प्रजानन्) यह दूसरा क्रव्याद् अग्निसे भिन्न जातवेदस् अग्नि सब कर्मोंको यथावत् जानती हुई (देवेभ्यः हव्यं वहतु) देवोंके लिए हव्योंका वहन करे अर्थात् उन्हें पहुंचावे।

यह शव दहन करनेवाली अतएव मांसभक्षक (क्रव्यात्) अग्नि फिर लौटकर हमारे घरोंमें वापिस न आ जावे अतः मैं इसे दूर भेज देता हूं वह यमलोकमें चली जावे। यहांके कर्म संपादन करनेके लिए जातवेदस् अग्नि है। यही देवोंके लिए हव्योंका वहन करती रहे।

इस मन्त्रमें क्रव्याद् अग्निको यमराजके देशोंमें भेजनेका उल्लेख है। इससे ऐसा पता चलता है कि शवदहनानन्तर वह क्रव्याद् नाम पाई हुई अग्नि पृथिवीलोकसे यमलोकमें जाती है। प्रथम द्वितीय व चतुर्थ मन्त्रोंके साथ इस मंत्रपर विचार करनेसे यह परिणाम निकलता है कि शवदाहके अनन्तर वह क्रव्याद् अग्नि आत्माको यमलोकरूप पितृलोकमें ले जाती है। एकवार जिस अग्निसे शवदहन किया जा चुका वह अग्नि फिर देवोंके लिए हव्य देने वहनके लिए अर्थात् यज्ञादि कर्मके लिए उपयुक्त नहीं रहती यह बात भी इस मन्त्रसे स्पष्ट होती है। क्रव्याद्-क्रव्य=मांस तस्य भक्षक क्रव्याद्। निरुक्त अ ६। पा १। खं १२ ॥ रिप्रवाहः- रिप्रं पापं तस्य वोढा। निरुक्त अ ४। पा ३। खं २१ ॥ यह मंत्र यजुर्वेद (३५। १९) में तथा अथर्ववेद (१२। २। ८) में भी आया हुआ है।

यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश वो गृहमिमं पश्यन्नितरं
जातवेदसम्। तं हरामि पितृयज्ञाय देवं स घर्ममि-
न्वात् परमे सधस्थे ॥ ऋ १०।१६।१० ॥

(यः क्रव्यात् अग्निः) जो मांसाहारी अग्नि (इमं इतरं जातवेदसम् पश्यन्) इस दूसरी जातवेदस् नामक अग्निको देखकर (वः गृहं प्रविवेश) तुम्हारे घरमें घुस गई है (तं) उस (देवं) देदीप्यमान-अत्यन्त प्रकाशमान क्रव्याद् अग्निको (पितृयज्ञाय हरामि) पितृयज्ञके लिए हरता हूं हटाता हूं। (सः) वह क्रव्याद् अग्नि (परमे सधस्थे) परम सधस्थमें (घर्मं) यज्ञको (इन्वात्) प्राप्त करे।

तुम्हारे घरोंमें जातवेदस् अग्निके रहते हुए भी जो क्रव्याद् अग्नि घुस गई है उसे मैं दूर करता हूं ताकि तुम पितृयज्ञ कर सको। यह अग्नि परम लोकमें यज्ञको प्राप्त करती रहे।

इस मंत्रसे पूर्वके मन्त्रमें क्रव्याद् अग्निको दूर भगाकर यमलोकमें भेजनेका निर्देश है। उस मंत्रके साथ इस मंत्रकी संगति लगानेके लिए व सरलता लानेके लिए इस मंत्रके 'तं हरामि पितृयज्ञाय देवं' इस तृतीय पादका अर्थ ऐसा करना चाहिए कि 'पितृयज्ञ करनेके लिए उस क्रव्याद् अग्निको हटाता हूं'। अर्थात् वह क्रव्याद् अग्नि पितृयज्ञके लिए अनुपयुक्त है। वह तो परम सधस्थ जो यमलोक है उसमें चली जावे और वहीं पर अपने कामको प्राप्त करती रहे। इस प्रकार इस मन्त्रका अर्थ पूर्व मंत्रके भावको ध्यानमें रखते हुए करनेसे दोनों मंत्रोंकी संगति भी लग सकती है। क्रव्याद् अग्निका घरोंमेंसे निकालनेका व उसे यमलोकमें भेजनेका अभिप्राय अथवा घरोंमेंसे मृत्यु दूर करनेका अभिप्राय प्रतीत होता है। सधस्थ — वह ऐसा स्थान जिसमें सब इकट्ठे रहते हैं। यहां पर पूर्व मन्त्रके साहचर्यसे यमलोक ऐसा अर्थ है। वैसे तो यमलोक भी परम सधस्थ है ही। यह मंत्र कुछ पाठभेदके साथ अथर्ववेद (१२।२।७) में आया है।

इस प्रकार यहांपर क्रव्याद् अग्निका विषय समाप्त हो जाता है। अब आगेके मन्त्रोंमें अग्निके प्रति सामान्य कथनका उल्लेख है।

यो अग्निः कव्यवाहनः पितॄन् यक्षदृतावृधः।
प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ ॥
ऋ १०।१६।११ ॥

(यः अग्निः) जो अग्नि (कव्यवाहनः) कव्यका अर्थात् पितरोंकी हविका वहन करनेवाली है और जो (ऋतावृधः) यज्ञ या सत्यसे बढनेवाले (पितॄन्) पितरोंका यजन करती है वह अग्नि (देवेभ्यः पितृभ्यः च हव्यानि प्रवोचति) देवों और पितरोंके लिए हव्योंका प्रवचन करे अर्थात् वह देवों व पितरोंको कहे कि मैं तुम्हारे लिए यह हवि ले आई हूं।

अग्नि पितरोंका कव्यसे सत्कार करती है व उनके लिए तथा देवोंके लिए मनुष्यों द्वारा दी गई हवियोंका वहन करती है।

कव्य—उस हव्यका नाम है जो कि पितरोंके उद्देश्यसे दिया जाता है। ऋतावृधः-ऋत नाम है यज्ञ व सत्यका। जो यज्ञ व सत्यके बढानेवाले अथवा जो सत्य व यज्ञसे बढनेवाले हों। यह मन्त्र यजुर्वेद (१९।६५) में भी है।

उशन्तस्त्वा नि धीमह्युशन्तः समिधीमहि।
उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥
ऋ १०।१६।१२ ॥

हे अग्नि! (उशन्तः) तेरी कामना करते हुए हम (त्वा) तेरी (निधीमहि) स्थापना करते हैं। और (उशन्तः) तेरी कामना करते हुए हम (समिधीमहि) तुझे प्रदीप्त करते हैं। [उशन्] हमारी कामना करती हुई हे अग्नि! तू [हविषे अत्तवे] हविके खानेके लिए [उशतः पितॄन्] कामना करते हुए पितरोंको [आवह] प्राप्त करा—ले आ।

हे अग्नि! हम यज्ञादिमें तेरी कामना करते हुए तेरी स्थापना करें व तुझे प्रज्वलित करें। तू हमारे यज्ञोंमें पितरोंको हवि खानेके लिए ले आया कर।

इस मंत्रमें अग्नि पितरोंको यज्ञादिमें हवि भक्षणार्थ ले आती है ऐसा हमें निर्देश मिलता है। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।७०) में व अथर्ववेद [१८।१।५६] में भी आया हुआ है। अगले दो मंत्रोंमें स्मशानभूमिका उस स्थानका वर्णन प्रतीत होता है जहां कि मुरदा जलाया गया हो।

> यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः।
> कियाम्ब्वत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा॥

ऋ० १०।१६।१३॥

(अग्ने) हे अग्नि! (यं) जिस प्रेतको तूने (समदहः) जलाया है (तं उ) उसे (पुनः) फिर सम्पूर्णतया दहन हो चुकने पर (निर्वापय) बुझा डाल। (अत्र) इस मुरदेके जलनेके स्थानपर (कियाम्बु) कितना जल छिड़कना चाहिए कि जिससे (व्यल्कशा) विविध शाखाओंवाली (पाकदूर्वा) परिपक्व दूर्वा घास [रोहतु] उगे।

प्रेतके सम्पूर्णतया दहन हो चुकनेपर आगको बुझा डालना चाहिए व वहांपर इतना पानी छिड़कना चाहिए कि जिससे फिरसे वहांपर दूर्वा घास निकल आवे।

स्मशानभूमिको इतना पानी डालकर बुझाना चाहिए कि उस आगसे जो जमीनपर परिताप हुआ है वह दूर हो जावे और उसपर पुनः नाना शाखाओंवाली दूर्वाघास उग सके और जमीन पहले जैसी ही फिरसे हरीभरी हो जाय। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि, जिस स्थानपर एक शवको जलाया गया हो वहांपर पुनः दूसरा शव नहीं जलाना चाहिए। इस मंत्रसे स्मशानभूमिसंबन्धी वैदिक कल्पना भी आ सकती है और उसमें आजकलके अनुसार वर्तमान समयकी स्मशानभूमियोंके विषयमें पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं व स्मशानभूमिके बारेमें वैदिक स्वरूपको समझ सकते हैं। इसके बाद यह मंत्र अगले दिनको समाप्ति किस प्रकारसे हो इस बातपर विशेष प्रकाश डाल रहा है।

> शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति।
> मण्डूक्या सु सं गम इमं स्वग्निं हर्षय॥

ऋ० १०।१६।१४॥

(शीतिके) हे शैत्ययुक्त! [शीतिकावति] हे शैत्ययुक्त औषधियोंवाली! (ह्लादिके) हे हर्षित करनेवाली (ह्लादिकावति) तथा हे आनन्दित करनेवाले फलपुष्पयुक्त घासोंवाली पृथिवी! [मण्डूक्या] मेंढकीके साथ [सु संगम] अच्छी तरह संगत हो। अर्थात् तेरे में इतना अधिक पानी हो कि मेंढक आनन्दसे तेरे अन्दर रह सकें। मेंढक पानीवाली जमीनमें रहता है। अतः मेंढकीके साथ संगत होनेका अभिप्राय यह है कि जमीन अत्यन्त जलवाली हो। [इमं अग्निं सुहर्षय] इस अग्निको आनन्दित कर अर्थात् यह पूर्ण रूपसे तेरेपर प्रज्वलित हो सके।

पूर्व मंत्रके कथनानुसार जल छिड़कनेसे पृथिवी का कैसा स्वरूप हो जायगा वह इस मंत्रमें दर्शाया गया है। इस प्रकार यह सूक्त यहांपर समाप्त होता है। सामान्यतया इस सूक्तमें जिन विषयोंपर विचार किया गया है वह पाठक स्वयं जान सकें इसलिए

सम्पूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश।

मंत्र १

१ अग्नि मृत देहको सम्पूर्णतया जला देनेपर आत्माको पितृलोक में ले जाती है।

२ इसका अभिप्राय यह हुआ कि जबतक मृत देह रहती है तबतक उसकी आत्मा भी वहीं रहती है।

मंत्र २ व ३

३ शरीरके पूर्ण रूपसे जल जानेपर देहके घटक अपने अपने स्थानपर चले जाते हैं अर्थात् हरेक देव अपना अपना अंश वापिस ले लेता है। आंख सूर्यमें चली जाती है प्राण वायुमें जा मिलते हैं इत्यादि।

मंत्र ४

४ शरीरका जो अज भाग आत्मा है उसे अग्नि अपनी कल्याणमय अर्चियोंसे शुद्ध करके पुण्यों के लोकमें ले जाती है।

मंत्र ५

५ अग्नि फिर लोकान्तरमें पितृलोकसे वापस लौटा लाती है व शरीर दिलाकर शरीरसे जोड़ती है अर्थात् पुनर्जन्म देती है।

मंत्र ६

६ इसके पश्चात् औषधियोंसे अग्नि और और जन्तुओंसे उपस्थित तथा यमकी हिंसक जानवरों से पहुंचाए गए कष्टोंका अग्नि निवारण करती है।

७ सोम भी यही कर्म करता है।

मंत्र ७

८ शवके पूर्ण दहनके लिए घृतकी पर्याप्त मात्रा डालनी चाहिए जिससे कि अग्निकी लपटें उठ जाएं जिससे कि शवको शीघ्र ही भस्मसात् कर सकें।

मंत्र ८

९ यह शरीर सूर्यादि देवोंका स्थापना करनेका साधन है। इसीमें ये देव अपने अपने अंशसे आकर बसते हैं।

मंत्र ९

१० कव्याद् अग्नि शवका दहन करनेवाली है। उसका वासस्थान यमलोक है।

११ यह यज्ञादि कर्मोंके लिए अनुपयुक्त है।

मंत्र १०

१२ कव्याद अग्निको घरमें प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिये। उसे घरोंमेंसे निकाल डालना चाहिये।

मंत्र ११

१३ अग्नि पितरोंके निमित्तसे दी गई हविका वहन करती है। यह देवों व पितरोंकी हविद्वारा पूजा करती है।

मंत्र १२

१४ अग्नि पितरोंकी हवि खानेके निमित्त ले जाती है।

मंत्र १३

१५ शवके पूर्ण दहनके अनन्तर अग्निको बुझा डालना चाहिये।

१६ वहांपर इतना अधिक पानी डालना चाहिए कि जल-स्थानोंवाली दूर्वाघास उग जावे।

१७ और इसके लिए वहांपर एक बार दहन किया गया हो वहांपर दूसरेका नहीं करना चाहिए, अन्यथा पानी डालनेसे अग्निका प्रभाव दूर न हो सकेगा न उस स्थान पर घास न उग सकेगी।

मंत्र १४

१८ समीप पानीसे इतनी तरबतर होनी चाहिए कि इसके पत्तेके अंदर मण्डूक निवास कर सकें।

---

४ ऋग्वेद मं० १० सू० १३५

इस सम्पूर्ण सूक्तकी देवता यम है। यमका अर्थ इस सूक्तमें क्या है यह एक विचारणीय विषय है। सायणाचार्यने निरुक्तमें इस मंत्रमें आए हुए यमका अर्थ आदित्य किया है। (निरुक्त १२।२९) परन्तु इस व्याख्याके अनुसार सम्पूर्ण सूक्त लगाना पर्याप्त कठिन है। यहां सायणाचार्यके मतानुसार अर्थ किया है।

यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति॥

ऋ० १०।१३५।१॥

(वृक्ष) यह उपलक्षण है। इसी तरह (सुपलाश) शोभन पत्तोंसे युक्त अथवा सुन्दर पत्तोंवाले स्थानमें। इस प्रकार इसका मूल जिस प्रकार पानी आदिसे दूर करनेसे सुन्दर होता है उस प्रकार सुन्दर जिस स्थानमें (देवैः) परिजनभूत देवोंके साथ (यमः) विवस्वान् (विवस्वान् का पुत्र) (संपिबते) पान करता है। (विश्पतिः) प्रजाओंका अधिपति (नः पिता) मुझे नचिकेताका जनक पालक वसु (अत्र) इस यमके स्थानमें (पुराणान्) पहले चिर कालसे निवास करते हुए पितरोंके (अनु) समीप जाने की वेना रहे इस प्रकारकी मेरे लिए कामना करता है। नः यहांपर व्यत्ययसे बहुवचन हुआ है। नचिकेता नामके कुमारको वाजश्रवस् पिताने यमलोक भेज दिया था। वहांपर वह यमको प्रसन्न करके फिर इस लोकमें वापिस लौट आया था। यह बात इस मंत्रोंमें प्रतिपादन की जा रही है। अथवा कुमार नामवाला नचिकेताके भिन्न दूसरा कोई व्यक्ति था। इसने यम (यच्छतीति यमः आदित्यः) अर्थात् आदित्य की इस सूक्त-द्वारा स्तुति की — जिस प्रकार पत्तोंवाले वृक्षकी तरह सुन्दर स्थानमें

(यमः) आदित्य (देवैः संपिबते) रश्मियोंके साथ गमन करता है। उपसर्गके साथ आनेसे 'पिबति' यहाँपर गत्यर्थक है। स्वरूपसे आलमें पड़ हुआ हुआ है। (अत्र) इस स्थानमें स्थित [विश्पतिः] प्रजाओंका प्रकाश वर्षा आदि देनेसे पालक और प्राणरूपसे रक्षक यह आदित्य (पुराणान्) पुरातन स्तुति करनेवाले हम लोगोंकी (अनुवेनति) अनुग्रहपूर्वक कामना करता है। अथवा इस स्थानमें स्थित हमारे पूर्व पुरुषोंकी [अनुवेनति] अनुक्रमसे कामना करता है।

पुनः = यहाँपर कि ये मृत आत्माएँ कर्मोंकी पश्चात्‌को रा करनेके लिए विश्रान्ति लेती हैं।

पिता = यम।

पुराणाँ अनुवेनन्तं चरन्तं पापयामुया।
असूयन्नभ्यचाकशं तस्मा अस्पृहयं पुनः ॥

ऋ० १०।१३५।२ ॥

(पुराणान् अनुवेनन्तं) पुरातन पितरोंके प्रति मेरे अनुगमन करनेकी कामना करते हुए अर्थात् मैं पुरातन मृत पितरोंका अनुगमन करूँ यानि यमलोकमें जाऊँ इस प्रकारकी इच्छा करते हुए (अमुया पापया चरन्तं) इस पापपूर्ण निन्द्य बुद्धिके साथ सर्वप्रथम पिता यमभगवान्को (सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए मुझको पिताने 'मृत्युके पास जा' इस प्रकार कहा था) (असूयन्) मानसिक दुःखसे दुःखित हुए हुए मैंने (अभ्यचाकशं) सबसे पहिले देखा। अर्थात् जब मैं सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहा था ऐसी हालत में जब पिताने मुझ पर कहा कि 'मृत्युके पास जा' तो मैंने बड़ी दुःखभरी निगाहसे उनकी ओर देखा और फिर (तस्मै अस्पृहयम्) पिताकी आज्ञानुसार उस मृत्युको प्राप्त करनेकी इच्छा की। [आदित्यके पक्षमें] अथवा [पुराणान्] पुरातन स्तुति करनेवाले पितरों की अनुक्रमसे कामना करते हुए [चरंतं] उदय और अस्त के रूपमें द्युलोकमें परिभ्रमण करते हुए आदित्य की ओर [अमुया पापया] इस निन्द्य बुद्धिद्वारा [असूयन्] निन्दा करता हुआ कि यह आदित्य अल्पायुकी वजह है इस प्रकारसे [अभ्यचाकशं] मैंने दृष्टिपात किया। अमूर्तगुणोंमें दोषारोपण करता। [पुनः] अब फिर उस आदित्यकी महिमा को जानता हुआ [तस्मै अस्पृहयं] उस आदित्य को स्तुतियोंद्वारा व परिचर्यादि कर्मों द्वारा प्राप्त करने की इच्छा करता हूँ।

यं कुमार नवं रथमचक्रं मनसाकृणोः।
एकेषं विश्वतः प्राञ्चमपश्यन्नधि तिष्ठसि ॥

ऋ० १०।१३५।३ ॥

नचिकेता नामवाले कुमार को यम इस प्रकारसे व अपनी कृपासे कल्याणका प्रयत्न करता है— हे कुमार ! [नवं] बिलकुल नया जिसको कि इससे पहिले तूने कभी नहीं देखा और जो [अचक्रं] पहियोंसे रहित व [एकेषं] एकेष है तो भी [विश्वतः प्राञ्चं] सर्वत्र प्रकर्ष रूपसे गति करता है ऐसे [यं रथं] मेरे पास आनेके लिए अध्यवसाय रूपी जिस रथको तूने [मनसा अकृणोः] मन से बनाया और बनाकर [अपश्यन्] कर्तव्य अकर्तव्य विभाग को न जानता हुआ उस रथपर तू [अधितिष्ठसि] सवार हुआ हुआ है। आदित्यके पक्षमें-अथवा स्तुति करनेवाले कुमार नामक ऋषिसे आदित्य प्रसन्न हुआ हुआ देह व आत्मा के विवेकको बतला रहा है—हे कुमार ऋषि! चक्रसे रहित (एकेषं) एक प्राण ईषारूपमात्र है जिसका ऐसे इस अभिनव सर्व ओर गति करनेवाले शरीररूपी जिस रथको अन्तःकरण द्वारा तूने किया है उस शरीररूपी रथको मेरा स्वरूप न जानने के कारण न जानता हुआ भोगायतन के स्वरूपमें स्वीकार करता है अर्थात् शरीर से भोग भोगता है।

मनद्वारा शरीर का निर्माण इस प्रकार से होता है पंचभूतात्मक मनसे काम अर्थात् इच्छा उत्पन्न होती है। कामना उत्पन्न होनेपर शुभात्मक वा अशुभात्मक कर्म किया जाता है। और उन कर्मद्वारा भोग देनेके लिए इस शरीरका आरम्भ होता है। इस प्रकार परंपरारूपसे मन का शरीरनिर्माणकारण है।

एकेषं—एक है ईषा जिसकी। ईषा—धुरा।

इस मन्त्रमें कुमारके प्रति यमकी उक्ति है ऐसा भी निश्चित का कथन है।

यं कुमार प्रावर्तयो रथं विप्रेभ्यस्परि।
तं सामानु प्रावर्तत समितो नाव्याहितम् ॥

ऋ० १०।१३५।४ ॥

हे कुमार नचिकेता ! [यं रथं] जिस पूर्वोक्त अभिनीत रथको जिसमें कि तू सवार होकर आया है (विप्रेभ्यः परि) मेधावी-ज्ञानी लोगों के पास से अर्थात् अन्तरिक्ष में से मेरे पास (प्रावर्तयः) ले आया है (तं) उस रथको जो कि रथ [नावि इव आ हितं] नौका की तरह तारनेवाली बुद्धिमें स्थित है उसका [साम] पिताद्वारा की गई सान्त्वनासे (अनु

प्रावर्तत) अनुगमन किया है । अर्थात् जब तू मृत्युलोकसे सत्कर्म रूपी रथमें चढकर आया तब तेरी रक्षार्थ तेरा अनुकरण पिता की सान्त्वनासे किया ।

आदित्य के पक्षमें -अथवा हे कुमार ऋषि ! तूने जिस शरीररूपी रथ को उसपर सवार होकर संसार में प्रवृत्त किया है उस रथके पीछे पीछे मेधावियोंके बीचमें साम अर्थात् ऋक् सामादि साध्य स्तोत्र व [नावि] नौका की तरह तारक वेदरूपी वाणीमें स्थित कर्म इस लोकसे प्रवृत्त होते हैं उसका अनुकरण करते हैं ।

कः कुमारमजनयद्रथं को निरवर्तयत् ।
कः स्वित्तदद्य नो ब्रूयादनुदेयी यथाभवत् ॥

ऋ० १०।१३५।५ ॥

[कः कुमारं अजनयत्] किस पुरुषने इस कुमार को उत्पन्न किया ? किन्तु अर्थमें कि शब्द है । इस प्रकारके बालक को यमके पास भेजनेवाला पिता कैसे अच्छा हो सकता है ? अच्छा यह बात जान लो । [कः] किस पुरुषने इस बालक-को यमके पास जानेके लिए (रथं) रथको [निरवर्तयत्] प्रवृत्त किया ? वह भी मूर्ख था, यह प्रकरण अभिप्राय है । [यथा] जिस प्रकारसे यह कुमार [अनुदेयी अभवत्] अनुदेयी होता है [तत्] इस बातके प्रकारको [अद्य] इस कालमें [नः] हमें [कः स्वित् ब्रूयात्] भला कौन कहेगा ? पहिले यमके पास जाकर फिर वहांसे उसके छूटनेका उपाय बताता हुआ भी बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता यह इसका अर्थ है । [आदित्यके पक्षमें] अथवा कुमार नामक ऋषि अपने सर्वात्मभावको जानता हुआ अपने अतिरिक्त दूसरेकी सत्ताको असंभवता को दिखलाता कि शब्दसे दिखलाता है-मुझ कुमारको किस पिताने पैदा किया ? किसीने भी नहीं । क्योंकि नित्यः शाश्वतः इति श्रुतिप्रमाण मैं हूं । और किसने शरीरात्मक रथका संचालन किया ? मेरे सिवाय दूसरा कोई कर्ता नहीं है और वैसेही जन्मनिवर्तन (संचालन करने योग्य) का होना भी असंभव है । इस समय सर्वात्मानुभव दशामें उस प्रकारको कौन भला हमें कह सकता है जिस प्रकार से कि अनुदान करने योग्य मेरेसे भिन्न अन्य पदार्थ की सत्ता होवे ? यह प्रकार भी दुर्वचनीय है ऐसा इसका अर्थ है ।

यथा भवदनुदेयी ततो अग्रमजायत । पुरस्ताद्बुध्न आततः पश्चान्निरयणं कृतम् ॥ ऋ० १०।१३५।६ ॥

(अनुदेयी) पिताके पीछेसे पुनः वापिस देने योग्य (यथा) जिस प्रकारसे यह कुमार होवे ऐसा (ततः) उस बालकरूप पितासे [अग्रं] यमके पास जा इस प्रकारके वचनके बाले वर्तमान वचन कि नचिकेताको यमके साथ जानना चाहिए ' तं वै प्रवर्तयं मृत्यवे त्वा ददामीति ' इत्यादि [तै० ब्रा० ३।११।८] ब्राह्मणमें कहा गया वचन उत्पन्न हुआ । (पुरस्तात्) उससे पहिले (बुध्नः) उस कामका मूलभूत यमके घरको जा यह वचन अति विस्तृत हुआ हुआ था । अतः उसका परिहार नहीं हो सकता था, इस वास्ते पीछेसे क्रोधको छोडकर (निर-यणं कृतं) उस यमसे बचकर निकल जानेके उपायको पिताने किया । (आदित्यपक्षमें) अथवा [अनुदेयी] अपनेको अनुदातव्य आत्मस्वरूपसे भिन्न अन्य पदार्थकी सत्ता जिस प्रकारसे है उसके गुणानुसार (ततः) उस मायाविशिष्ट आत्माका [अग्र] ब्रह्माण्डविस्तारका आद्य महत्तत्त्व उत्तम करनेकी इच्छाका कारण उत्पन्न हुआ । [पुरस्तात्] सृष्टिसे पहिली अवस्थामें [बुध्नः] मूल अव्याकृत मायात्मक कारण ही विस्तृत था । [पश्चात्] जगत् की उत्पत्तिके बाद [निरयणं] उद्गत अर्थात् उस कारणसे निर्गमन अर्थात् नामरूपादिभेदसे स्वरूपका आविर्भाव मायाने किया । अर्थात् कारण-जगत्को कार्य जगत् के रूपमें लाया । तथा मिट्टीका विकार घटादि मिट्टीसे भिन्न नहीं होता उसी प्रकार आदित्य के अनुभवसे ब्रह्मात्मको प्राप्त मेरा विकार यह प्रपंच मेरेसे भिन्न नहीं है । इस प्रकारसे व्यतिरिक्त मितादिका पूर्वोक्त आक्षेप का समर्थन किया है ।

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते ।
इयमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः ॥

ऋ० १०।१३५।७ ॥

यह [यमस्य] नियन्ता आदित्यका या विवस्वान् के पुत्रका [सादनं] स्थान है । जो कि सदन [देवमानं उच्यते] देवों द्वारा बनाया गया है ऐसा कहा जाता है । अथवा देव अर्थात् रश्मियों का निर्माण-धारण कहा जाता है । इस यमकी प्रीत्यर्थ [इयं नाळीः] यह नाडीविशेष वेणु-बजाया जाता है । अथवा नाली यह वाणीका नाम है । यह स्तुतिरूप वाणी इसकी प्रीत्यर्थ उच्चारण की जाती है । इस प्रकार होनेपर यह यम स्तुतियोंसे परिष्कृत अर्थात् शोभायमान होता है । "परिष्कृतः संस्कृतैः" इसमें इससे मुडागम होता है । "परिनिविभ्यः" इत्यादिसे षत्व हुआ है । "परिनिवेः" इत्यादिसे षत्विका प्रतिषेध है ।

—•—

५ ऋग्वेद मं० १० सू० १५४

यह सूक्त मरनेके पश्चात्‌के संस्कार विषयक है। इसमें प्रेत से कहा गया है कि तू किन किनको प्राप्त हो जैसा कि मंत्रोंको देखनेसे पाठकोंको स्वयं स्पष्ट हो जायगा। इस सूक्तका ऋषि विवस्वान् की दुहिता यमी है। पितृयाण यज्ञयागादिकोंका वर्णन इसमें प्रतिपादित किया जायगा, अतः ये इस सूक्तके देवता हैं।

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते।
येभ्यो मधु प्रधावति ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥

ऋ० १०।१५४।१॥

[एकेभ्यः] कईयोंके लिए [सोमः पवते] सोम रस बहता है। और [एके] कई [घृतं उपासते] आज्यका उपभोग करते हैं। इसके व [येभ्यः मधु प्रधावति] जिनके लिए मधु धाराके रूपसे बहता है, [तान् चित् अपि] हे प्रेत! उनको भी तू [गच्छतात्] प्राप्त हो।

जिनके लिए सोमरस बहता रहता है व जो घृतका उपभोग करते रहते हैं तथा जिनके लिए मधुकी कुल्यायें बहती रहती हैं, ऐसे यज्ञकर्ताओंको हे प्रेत! तू प्राप्त हो।

स्वर्गगामि अग्निदग्धक्रिया प्रेतकी आत्माके प्रति इस सूक्तकी ऋचाओंके अनुसार उसके संबंधी आदिकोंका कथन है।

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥

ऋ० १०।१५४।२॥

(ये) जो लोग (तपसा) कृच्छ्रचान्द्रायणादि नानाविध तपके कारणसे (अनाधृष्याः) किसी भी प्रकारसे क्रोधसे नहीं पहुंचाए जा सकते, जिनको पाप नहीं दबा सकते व (ये) जो लोग (तपसा) तपके कारणसे (स्वः ययुः) स्वर्गको गए हुए हैं, और (ये) जिन्होंने (महः तपः चक्रिरे) महान् तप किया है हे प्रेत! तू (तान् चित् अपि गच्छतात्) उन तपस्वियोंको भी तू जाकर प्राप्त हो अर्थात् उनके जैसी स्थिति होय।

हे प्रेत! जो तपके कारण किसीभी प्रकार पराभूत नहीं हो सके, व जो तप ही के कारण स्वर्गको प्राप्त हुए हुए हैं तथा जिन्होंने महान् तप किया है उनको तू वहांसे जाकर प्राप्त हो।

प्रथम मंत्रमें यज्ञादि कर्मकाण्डका माहात्म्य दर्शा कर प्रेतको उनमें करनेवालोंमें जानेको कहा है व इस मंत्रमें तपःप्रभाव दिखलाकर तपस्वियोंमें जानेका निर्देश किया गया है।

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥

ऋ० १०।१५४।३॥

हे प्रेत! (ये शूरासः) जो शूरवीर जन (प्रधनेषु) संग्रामोंमें (युध्यन्ते) युद्ध करते हैं और (ये) जो उन संग्रामों में (तनूत्यजः) शरीरोंका त्याग करते हैं अर्थात् अपने प्राण दे देते हैं (वा) अथवा (ये) जो लोग (सहस्रदक्षिणाः) हजारों दान करते हैं (तान् चित् अपि) उनको भी तू (गच्छतात्) प्राप्त हो।

जो शूर वीर जन युद्धोंमें अपने प्राण देकर वीरगतिको प्राप्त हुए हुए हैं, वा जो अनेक नाना तरह के दानोंको देकर अपने को संसारमें अमर कर गए हैं ऐसे लोगोंको हे मृतात्मा! तू प्राप्त हो- तेरी ऐसी सद्गति होय।

इस मंत्रसे यह स्पष्ट होता है कि दानी व शूरवीर जन भी मृत्युके पश्चात् सद्गति को प्राप्त करते हैं। गीतामें "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं" आदि युद्ध में मरनेसे सद्गति होती है ऐसे द्योतक वाक्योंकी यह वेदमंत्र पुष्टि करता है। शूरवीरोंके युद्धमें शरीर त्याग करनेवाले को परलोक में सुख मिलता है यह भाव लोगोंमें बड़ा पुराना दृढ विश्वास चला आता है, उस विश्वास के मूलभूत ऐसे ऐसे वेदमंत्र ही हैं।

ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः।
पितॄन्तपस्वतो यम ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥

ऋ० १०।१५४।४॥

[ये चित्] और जो [पूर्वे] पूर्व पुरुष [ऋतसापः] सत्यका व यज्ञ करनेके अथवा यज्ञके नियम नियमपूर्वक करनेवाले [ऋतावानः] सत्य या यज्ञसे युक्त और इसीलिये [ऋतावृधः] सत्य व यज्ञ के वर्धक थे, तथा [तपस्वतः] तपसे युक्त [पितॄन्] पूर्व पितरोंको [तान् चित् अपि] इन सब को भी हे [यम] नियमवान् प्रेतात्मा! तू प्राप्त हो।

जो पितर सत्यके रक्षक हैं यज्ञादि नित्य नैमित्तिक करनेवाले हैं तथा तपस्वी हैं ऐसे पितरोंको हे मृतात्मा! तू परलोकमें जाकर प्राप्त हो।

सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् ।
ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥
ऋ० १०।१५४।५ ॥

(ये) जो (कवयः) क्रांतदर्शी ज्ञानी लोग (सहस्रणीथाः) हजारों प्रकारोंकी नीतियोंवाले हैं और जो (सूर्यं गोपायन्ति) इस सूर्यका रक्षण करते हैं ऐसे (तपस्वतः ऋषीन्) तपसे युक्त ऋषीयोंको जो कि (तपोजान्) तपसे ही उत्पन्न हुए हुए हैं ऐसों को भी हे नियममें स्थित प्रेतात्मा ! तू जाकर प्राप्त हो ।

जो क्रान्तदर्शी ऋषिगण नाना प्रकारके विज्ञानोंसे परिपूर्ण हैं व जो तपस्वी तथा तपसे उत्पन्न हुए हुए हैं ऐसोंको हे प्रेतात्मा ! तू इस लोकसे जाकर प्राप्त हो उनमें जाकर तू स्थित हो । निकृष्ट लोकोंमें मत जा ।

इस सूक्तके मनोहर दृष्टिपात करनेसे साधारणतया हमें पता चलता है कि इस संसारमें रहकर कैसे अर्थात् किस प्रकारके कर्मोंको करनेसे मृत्युके अनन्तर उत्तम गति उत्तम लोक या उत्तम स्थान स्वर्ग प्राप्त होता है। इस सूक्तमें ५ मंत्र हैं। पांचों मन्त्रोंमें भिन्न भिन्न कर्म करनेवाले लोगोंको गिनाया गया है और प्रेतात्मासे कहा गया है कि इन इनको तू इस लोकसे जाकर प्राप्त कर । अर्थात् इन ५ प्रकारके कर्मोंमेंसे ही किसीको तू जाकर प्राप्त हो । इनसे भिन्न इतरोंको प्राप्त मत हो । ये पांच प्रकारके जन इस लोकके नहीं अपितु परलोकके हैं ऐसा मंत्रों से पता चलता है । अतः ' तान् चित् अपि गच्छतात् ' का अर्थ यह नहीं किया जा सकता कि इन ५ प्रकारके इन लोगोंमें फिर जन्मोंमें जाकरके तू पुनर्जन्म ले । सद्गतिकी प्राप्तिके लिए इस सूक्तमें यज्ञादि करना तप करना, युद्धमें पराक्रमसे अपना शरीर त्याग करना सहस्रोंका दान करना ऋतपालन इत्यादि साधन बताए गए हैं । यह संपूर्ण सूक्त अथर्ववेद (काण्ड १८ सूक्त २ मंत्र १४ से १८) में ऐसा का ऐसा है ।

सम्पूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश ।

मंत्र १

१—यज्ञ करनेसे सद्गति उत्तम लोक प्राप्त होता है ।

मंत्र २

२ तप करनेसे पराभव नहीं होता व तपस्वीको स्वर्ग मिलता है ।

मंत्र ३

३—जो संग्रामोंमें युद्धकर शरीर छोडते हैं, उन्हें भी स्वर्ग उपलब्ध होता है ।

४—जो सहस्रों दानी हैं वे भी स्वर्गको प्राप्त करते हैं ।

मंत्र ४

५—तपस्वी ऋतरक्षक उत्तम गतिको प्राप्त करते हैं ।

मंत्र ५

६ हजारों प्रकारकी नीतियोंवाले व सूर्यरक्षक ऋषिगण स्वर्गको प्राप्त करते हैं ।

उपसंहार ।

पितृलोक ।

इस प्रकरण का आदिसे अन्ततक निरीक्षण करनेसे पता चलता है कि ५ पितृलोक हैं जिनमें कि पितर रहते हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं [१] पृथिवी [२] अन्तरिक्ष [३] द्युलोक [४] पितरोंका पृथ या घर [५] पितरोंका देश अर्थात् जिस देशमें प्राचीन कालसे हमारे पूर्व पितर रहते चले आए हैं वह देश । इन सब लोकोंमें हमारे पितर निवास करते हैं ऐसा इसे इस प्रकरण से स्पष्ट ज्ञात होता है ।

पितृयाण ।

पितर जिस मार्गसे जाते हैं उस मार्गका नाम पितृयाण है । इस मार्गसे एक तो अग्नि जाता है [देखो ऋ० १।१८।७] और दूसरा वह मनुष्य जो कि अतिथि आदियोंके सत्कारमें सर्वदा तत्पर रहता है । जो मनुष्य स्वार्थिक है वह कभी भी पितृयाणमार्गको प्राप्त नहीं करता । यह पितृयाणमार्ग ' सूर्य-किरणें ' भी हैं ऐसा ऋ० १।१९।१० से पता चलता है । अर्थात् अन्तरिक्ष व पृथिवीमें रहनेवाले पितर इस मार्गसे जाते हैं ऐसा इससे जान पड़ता है । ऊपर जो ५ पितृलोक दर्शा आए हैं उनमेंसे इन दो अंतरिक्ष व पृथ्वी जानेका मार्ग सूर्यकिरणें होनी चाहिए। इसमें ऊपर देखा है कि अग्नि भी पितृयाणमार्गसे जाती है । हम आगे चलकर यह भी देखेंगे कि अग्नि सर्व प्रकारके पितरोंको चाहे वे हमारे सामने हों या अदृश्य हों किसीको कहीं पर भी हों जानती है, उनके लिए हवि पहुंचाती है । इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि पृथिवीसे अन्तरिक्ष व द्युलोकस्थ पितरोंके पास जानेका जो पितृयाणमार्ग है, वह

पृथिवीकी हद तक हो गये। अग्नि जानेका मार्ग है वह है और जाने को पूर्वजोंके जाने का है वह है।

पितरों के कार्य।

पितरों के अनेक कार्य हैं जिनमें से मुख्य मुख्य कार्य ये हैं-[१] पशुओंसे, सर्पादि कुटिल जन्तुओं से तथा अन्य आकस्मिक आपत्तियोंसे रक्षा करना, [२] सूर्यप्रकाश देना [३] पापसे छुडाना, [४] सुख देना व कल्याण करना, [५]धर्म धारण करना [६]मनके प्रत्यावर्तन व पुनर्जन्ममें सहायता करना [७] नाना प्रकारके स्तोत्र बनाना [८] दीर्घायु देना [९] मृतका पुनरुज्जीवित करना [देखो अथर्व १८।२।२६] इत्यादि।

पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य।

हमें पितरोंके लिए क्या करना चाहिए अर्थात् हमारे पितरों-के प्रति जो कर्तव्य हैं वे इस प्रकार हैं- [१] नित्य प्रति पितरोंको श्रद्धापूर्वक नमस्कार करना चाहिए। [२] उनको स्वधा देनी चाहिए। [३] पितरोंका जलद्वारा तर्पण करना चाहिए। जिन पितरोंका जलद्वारा तर्पण करना चाहिए, इस विषयमें अथर्ववेद काण्ड १८ सू. ४ मन्त्र ५७ स्वयं निर्णय करता है। मंत्र इस प्रकार है-

ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः।

तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दती ॥

अर्थ स्पष्ट है। यहांपर सर्व प्रकारके पितरोंका जलद्वारा तर्पण करनेका उल्लेख है। [४] पितरोंके धर्म का विस्तार करना। हमें चाहिए कि हम हमारी जन्मभूमि के निरन्तर विस्तार करने के धर्ममें लगे रहें। पराधीन होकर न रहें। इत्यादि और भी अनेक कार्य हैं।

पितर और यज्ञ।

ऋग्वेदपर पितर यज्ञमें आते हैं और सोमका सुख्य देवकर चखते हैं। वे हमारी प्रार्थनायें सुनते हैं हमारी कामनायें पूर्ण करते हैं व सर्वदा हमारी रक्षा करते हैं। पितरोंके लिए मासिक यज्ञ करना चाहिए। यज्ञमें 'अग्निष्वात्त पितर भी आते हैं। स्वधाके साथ हविका भक्षण करके हमें वीरतायुक्त धनादि देते हैं। यजु. अ. १९।५८ तथा अथर्व १८।४।२ तथा अ. १८।४।४२ ये तीनों मंत्र विचारणीय हैं, क्योंकि इनमें पितरोंके लिए सब व अर्धमासके यज्ञ देनेका विधान पाया जाता है। अस्तु। तथापि इस प्रकरणसे इतना पता अवश्यमेव लगता है कि सर्व प्रकारके पितरोंके लिए यज्ञ करना चाहिए व उनको हविसे तृप्त करना चाहिए। इसके सिवाय प्रत्येक मासमें पितरोंके लिए दान करना चाहिए जैसा कि अथर्व ८।१२।१ व ४ से पता चलता है।

अग्नि और पितर।

इस प्रकरणको देखनेसे हमें निम्न बातोंका स्पष्ट पता चलता है-[१] अग्नि यज्ञमें पितरोंको हविभक्षणार्थ ले आती है। [२] अग्नि पितरोंको हवि पहुंचाती है और अत एव अग्निका नाम कव्यवाहन भी है। पितरोंके निमित्तसे दी गई हवि कव्य कहलाती है। [३] अग्नि इधरउधर छिपे हुए पितरोंको जानती है इतना ही नहीं अपितु जो यहां हैं व जो यहां नहीं हैं और जिनको हम जानते हैं या नहीं जानते उन सबको अग्नि जानती है। [४] अग्नि पितरोंको पितृलोकमें भिजवाती है। [५] अग्नि प्रेतात्माओंको पितरोंके पास पहुंचाती है। [देखो ऋ. १।१०।१ और १।१६।१) [६] अग्नि यश देती है, जीवितोंकी आयु बढाती है और मरे हुए पितरोंके साथमें जाते हैं। [अथर्व ११।२।४५][७] अग्नि पितरोंमें प्रविष्ट ज्ञातिशुक्त दस्युओंको पकड़के भगाती है। [८] अग्नि अपने शरीरसे पितरोंमें प्रवेश करती है।

क्रव्याद् अग्नि।

प्रेतदाह जिस अग्निका अन्त्येष्टिमें विनियोग होता है उस अग्निका नाम क्रव्याद् अग्नि है। इस प्रकरण से निम्नलिखित बातोंका पता चलता है—

क्रव्याद् अग्निको यमके राज्यमें भेज दिया जाता है क्योंकि वह देवोंकी हविके वहन करनेके लिए अनुपयुक्त है। क्रव्याद् अग्निका ईंधन यम-लोकसे है। उसका धनदहन जैसे कार्योंमें प्रयोग होता है। क्रव्याद् अग्निपर शयन करनेसे पितृलोकमें भाग मिलता है। पितर क्रव्याद् अग्निके पथ दक्षिण दिशामें जाते हैं। पितरोंके रहनेको दक्षिण दिया है।

अग्निष्वात्त पितर।

अग्निष्वात्त पितर व पितर हैं जिनका कि अन्त्यदि संस्कार अग्निद्वारा होता है जैसा कि हमें ऋग्वेद म. मन्त्र २।६।१।७४ पता चलता है। इसी बातको यजु. अ. १९।६० व ऋ. १।१५।१४ भी पुष्ट करते हैं। अग्निष्वात्त पितरोंको यज्ञमें बुला या जाता है हवि खिलाई जाती है व उनसे धन मांगा जाता है। अग्निष्वात्त पितर यज्ञमें आकर स्वधासे तृप्त होते हैं व उन

रक्षा करते हैं। उनको वरमें कामकाज करनेके लिए बुलाया जाता है।

प्रेत व आत्मा।

इस प्रकरणमें हमें निम्न बातें मिलती हैं – (१) मरनेसे पूर्व मरनेवालेके हाथमें सुवर्णका आभूषण अंगूठी आदि कुछ पहिनाया जाता है। (२) प्राण निकलनेपर उसको स्नान कराया जाता है। (३) उसके बाद श्मशानोचित वस्त्र पहिनाया जाता है। (४) श्मशान मानवबस्तीसे बाहर होना चाहिए। (५) शवको बैलगाडीसे ले जाया जाता है। (६) श्मशान—भूमि विघ्न-बाधाओंसे रहित होनी चाहिए। (७) प्रेतको जलाया जाता है। (८) प्रेतको जलमें बहाया जाता है। (९) प्रेतको जमीनमें गाडा जाता है। (१०) इसमें पुष्प [illegible] किया जाता है। (११) आत्माकी भी [illegible] प्रार्थना की जाती है।

भिन्न भिन्न अर्थमें पितर।

रक्षा करनेके अर्थके अतिरिक्त अन्य भिन्न भिन्न अर्थोंमें भी वेदमें पितृ शब्दका प्रयोग देखनेमें पाया जाता है– (१) पिता अर्थमें, (२) ज्ञानी अर्थमें (३) राजसभाके सभासद के अर्थमें (४) पालक अर्थमें (५) प्राण अर्थमें (६) बालक रक्षक आदि अर्थोंमें (७) ऋतु अर्थमें (८) [illegible] अर्थमें।

यम।

इस प्रकरणमें [illegible] हमें यमके स्वरूपमें निम्न लिखित [illegible] है। (१) यम मृत्युकी अधिष्ठात्री देवता है अर्थात् [illegible] यम करता है। ( ) [illegible] यम [illegible] भी [illegible] नहीं [illegible]। (३) [illegible] है। [illegible] (४) यम [illegible] है। (५) यमको [illegible] है। ([illegible] १ । १ । १)

यमलोक व यमराज।

[illegible] (१) [illegible] है। (२) [illegible] (३) [illegible]

प्रकारका कष्ट नहीं होगा। (४) यमअधिकारके लिए घृत, तिलमिश्रित धान आदि देना चाहिए ऐसा अथर्व १८।४।४३ व १८।४।४६ से पता चलता है। (५) यम अपने राज्यमें आए हुए को स्थान देता है। (६) पितरोंकी तरह यमको भी दक्षिण दिया है।

द्युलोकमें यमलोक।

यमलोक कहांपर है इस बातपर यह प्रकरण प्रकाश डालता है। (१) अथर्व १८।७।२ में जो यह कहा है कि यमको दक्षिण दिया है उससे इतना पता चलता है कि यमलोक दक्षिण दिशामें है। (२) यमराज द्युलोकमें [illegible] है। [३] पितर यमराज्यमें रहते हैं अर्थात् यम पितरोंका राजा है। (४) पितृलोक यमके राज्यमें है। [५] यमलोक पृथ्वी और द्युलोकके बीच ऊपर है।

यमदूत।

यमके अनेक दूत हैं जिनमेंसे दो कुत्ते मुख्य हैं। ये दोनों कुत्ते सरमा [illegible] चार आंखोंवाले तथा [illegible] हैं। इनमेंसे एक कुत्ता श्याम है व दूसरा चितकबरा। ये दोनों निरन्तर मनुष्यके पीछे लगे हुए हैं। ये [illegible] गुप्त होनेवाले हैं। सम्भवतः इस प्रकारके ये दोनों कुत्ते दिन व रात हैं। आलङ्कारिक भाषासे दिन व रातका ही वर्णन है। यमके कुत्तोंके [illegible] दिन व रातमें पाए जाते हैं। (देखो अथर्व ८।१।९) मृत्यु भी यमका दूत है ऐसा इस प्रकरणमें आए हुए अथर्व १८।२।२७ से पता चलता है।

यमके कार्य।

यमका मुख्य काम तो प्राणियोंके प्राणोंका हरण करना ही है पर इसके अतिरिक्त और भी कई सारे कार्योंका उल्लेख पाया जाता है। यम पितरोंका राजा है व पितृलोक यमलोकमें है यह हम ऊपर देख आए हैं। यहांपर हमें एक नई बात ज्ञात होती है कि यम पितृलोकवास [illegible] जानता है जिससे कि पितर [illegible] हैं। इनमेंसे उनके लिए यमकी अनुमति लेनी पड़ती है। यम हमें दीर्घायु देता है और मन [illegible] पाता है। यम [illegible] भी [illegible] करता है।

यमके प्रति हमारा भाव।

यमके लिए हवि देना चाहिए। यमको [illegible] करना चाहिए। यमके लिए [illegible] करना चाहिए। यमके लिए [illegible] यमके साथ [illegible] है।

(ऋ० १०।१४।१४) यमके लिए घृतवाली हवि देनेसे वह हमें देवोंमें जानेके लिए दीर्घायु प्रदान करता है। एवं मानव यमके लिए घर बनाते हैं और जो अपने घर बनानेकी इच्छा रखता हो उसे यमके लिए घर बनवाने चाहिए। (अथर्व० १८।४।५५) इसके सिवाय यमके लिए स्वधा और नमः देने चाहिए।

यम और स्वप्न।

इस प्रकरणको पढनेसे हमें यह पता चलता है कि यमका स्वप्नके साथ क्या संबन्ध है स्वप्नकी उत्पत्ति कैसी होती है इत्यादि। इस प्रकरणकी निम्न लिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

(१) स्वप्नका पिता यम है अर्थात् यमसे स्वप्नकी उत्पत्ति होनेसे वह यमका पुत्र है। अतएव बुरे भयानक स्वप्नोंसे मृत्यु हो जानेकी संभावना बनी रहती है।

(२) स्वप्न यमलोकमें उत्पन्न होकर वहांसे इस लोकमें आकर मनुष्योंमें प्रविष्ट हो गया है।

(३) स्वप्न यमका करण अर्थात् मारनेके कार्यका साधक है। (अथर्व० ६।४६।२)

(४) स्वप्न प्राणान्त कर देनेवाला है, मार डालनेवाला है।

(५) बुरी भावनायें व भयंकर रोग जो कि किसीको नहीं जाने देते वे सब स्वप्नकी जननी रूप हैं।

यम कौन है?

मनुष्योंमेंसे सबसे प्रथम मनुष्य यम नामवाला जो कि विवस्वान् का पुत्र था वह इस भूमिमें जन्म लेकर सबसे प्रथम मरा और फिर वहांसे मृत्युलोकमें गया और वहांका राजा बन गया। (देखो अथर्व० १८।३।१३)

यम व पितरोंका संबन्ध

हम पहिले भी इस विषय पर थोडीसी नजर डाल आए हैं। यहांपर हमें जो कुछ मालूम हुआ है उसकी इस प्रकरणमें विशेष रूपसे पुष्टि की गई है-

(१) यम पितरोंका अधिपति है। (२) पितरोंपर यमका आधिपत्य राजाके रूपमें है। पितर यमकी प्रजा हैं व यह उनका राजा है।

यमके राज्यमें पितरोंका अलग स्थान है ऐसा हमें यम व पितरोंके सहधर्मद्योतक मंत्र दर्शाते हैं। उनसे हमें पता चलता है कि पितर यमके साथ हवि खाते हैं उसके साथही यत्र तत्र विचरण करते हैं। यम पितरोंकी सहमतिसे स्वर्ग निभाता है इत्यादि।

भिन्न भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त यम।

उपरोक्त यमके अर्थको छोडकर निम्न-लिखित अन्य अर्थोंमें भी यम शब्द वेदोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ है- [१] युगल अर्थमें। [२] नियम अर्थमें। [३] जीवात्मा अर्थमें। [४] ज्ञानेन्द्रियोंके अर्थमें। [५] आचार्य अर्थमें। [६] वायु अर्थमें और [७] सूर्य अर्थमें।

॥ समाप्त ॥

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

अष्टादश काण्डकी विषयसूची ।

